श्री नगीनचन्द सहगल
एम० ए० (हिन्दी तथा अंग्रेजी)
हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

रीगल बुक डिपो, दिल्ली-6

प्रकाशक :
श्री रामचन्द्र गुप्त
रीगल बुक डिपो
नई सड़क, दिल्ली

मूल्य दस रुपये

मुद्रक :
इण्डियन रिपब्लिक प्रेस,
धर्मपुरा, दिल्ली

समर्पण

जिन्होंने मुझे जीवन भी दिया
और महत्वाकांक्षाएँ भी
उन्हीं
ममतामयी 'भाबो'
की पावन स्मृति में

—'भीलो भैया'

श्रीराम 124082

श्री नगेन्द्रजी ने 'साकेत' पर
इतना लिखने का कष्ट किया है।
इसके लिए मैं उनका आभार मानता हूँ।
जब उनसे मेरा परिचय हुआ तब
पुस्तक छपनी आरम्भ हो गई थी।
उसके अर्थों के विषय में कभी कभी
चर्चा होती थी, यद्यपि मेरी रुग्णता से
उसमें बाधा पड़ती थी। तथापि मुझे
यह देख कर सन्तोष है कि उन्होंने मेरे
भाव समझने का पूरा प्रयत्न किया है
और वे अपने कार्य में अधिकतर सफल
हुए।

मैथिलीशरण

भूमिका

भारतीय साहित्य में भाष्य अथवा टीका की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इतिहास साक्षी है कि अनेक भाष्य मूल ग्रन्थों से अधिक मौलिक एवं महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। व्याकरण-शास्त्र के क्षेत्र में पतंजलि का महत्व पाणिनी की अपेक्षा और काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में अभिनवगुप्त का महत्व भरत अथवा आनन्दवर्धन की अपेक्षा किसी तरह कम नहीं है। काव्य के क्षेत्र में भी जब मल्लिनाथ यह गर्वोक्ति करते हैं कि कालिदास की भारती मृतप्राय पड़ी हुई थी, मैंने ही उसको संजीवनी प्रदान की है तो हम इसे मिथ्या अहंकार नहीं मान सकते। टीका की यह परम्परा संस्कृत में अक्षुण्ण रही। हिन्दी मे गद्य के अभाव के कारण इसका लुप्त हो जाना अस्वाभाविक नहीं था किन्तु, फिर भी, उत्तर-मध्य-युग के कवि-पंडित अपने अत्यन्त सीमित साधनों से इसका पोषण करते रहे; 'रामचरितमानस' तथा 'बिहारी सतसई' की अनेक टीकाये इसका प्रमाण हैं। द्विवेदी-युग में आकर हिन्दी गद्य के विकास के साथ टीका की परम्परा का भी पुनरुत्थान हुआ और लाला भगवानदीन, पंडित पद्मसिंह शर्मा, कविवर रत्नाकर, पंडित रामेश्वर भट्ट तथा श्री वियोगी हरि जैसे समर्थ साहित्यकारों ने अपनी व्याख्याओं द्वारा केशव, बिहारी और तुलसी आदि के काव्य-मर्म का अत्यन्त सहृदयतापूर्वक उद्‍घाटन किया।

इसके उपरान्त पाश्चात्य प्रभाव के कारण हिन्दी में आलोचना की ऐसी बाढ़-सी आ गयी कि टीका की क्षीण धारा, जो कि शताब्दियों से लुकती-छिपती किसी न किसी रूप में बहती आयी थी, अचानक तिरोहित हो गयी। मैं यहाँ आलोचना का तिरस्कार नहीं कर रहा किन्तु टीका-साहित्य के अभाव को निश्चय ही हिन्दी का दुर्भाग्य मानता हूँ। इसके दुष्परिणाम सर्वथा स्पष्ट हैं और सबसे अधिक क्षति हुई है आधुनिक काव्य की। आज लगभग पच्चीस-तीस वर्ष से आधुनिक काव्य का उच्च स्तर पर अध्ययन-अध्यापन हो रहा है किन्तु मैं अपने विद्यार्थी-जीवन और अध्यापक-जीवन, दोनों के अनुभव के आधार पर अत्यन्त दृढ़ता से यह कह सकता हूँ कि इस प्रसंग में स्थिति वास्तव में दयनीय है। मुझे स्मरण है कि मेरे विद्यार्थी-काल में 'प्रसाद' और मैथिलीशरण गुप्त आदि की प्रसिद्ध रचनाओं को भी व्याख्यातीत मान कर छोड़ दिया जाता था। यह परम्परा अभी तक चल रही है। विद्यार्थी अपने अध्यापक से इसे ग्रहण करता है और स्वयं अध्यापक बन कर अपने विद्यार्थियों में इसका प्रवर्त्तन कर देता है। किसी समर्थ भाषा और साहित्य के लिए यह लज्जा की बात है कि उसके अमर काव्यों की भी प्रामाणिक व्याख्या न हो।

मैं इस क्षति को केवल शैक्षिक जगत् तक ही सीमित नहीं करना चाहता, हिन्दी का व्यापक सहृदय-समाज भी इसका भोक्ता है। पाश्चात्य अथवा भारतीय किसी भी काव्य-शास्त्र के अनुसार वाच्यार्थ-ग्रहण की अनिवार्यता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसी दृष्टि से परम रसज्ञ आचार्य भट्ट नायक ने रस की भुक्ति में अभिधा को पहला सोपान माना है। मुझे विश्वास है कि हिन्दी के अधिकांश विद्वान् इस विषय में मुझसे सहमत हैं और इस अभाव का प्रायः इतनी ही उत्कटता से अनुभव करने लगे हैं; डा० वासुदेवशरण के सत्प्रयत्न मेरे इस विश्वास के पोषक हैं। उनकी 'पद्मावत' [illegible] से इस दिशा में एक असीम क्षेत्र का उद्घाटन होता है और इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि केवल काव्य-शास्त्र की दृष्टि से ही नहीं वरन् इतिहास, राजनीति, समाज-शास्त्र आदि की दृष्टि से भी टीका-साहित्य की सम्भावनाएं अनन्त हैं।

मुझे सन्तोष है कि हमारे विभाग के अध्यवसायी पूर्वछात्र श्री नगीनचन्द ने 'साकेत' की व्याख्या करके अपनी शक्ति और साधन के अनुसार इस रिक्ति की पूर्ति करने का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त भूमिका बाँध कर मैं उनको भारतीय भाष्यकारों की अमर परम्परा में स्थान देने का दुष्प्रयास नहीं कर रहा, किन्तु यह घोषणा मैं सर्वथा आश्वस्त भाव से कर सकता हूँ कि 'साकेत' का आस्वादयिता प्रस्तुत टीका को पढ़ कर निराश नहीं होगा। मैं यह बात अपने को ही प्रमाण मान कर कह रहा हूँ। 'साकेत' मेरा अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ रहा है और अपने विद्यार्थी-जीवन से लेकर अब तक मैं निरन्तर उसका रसास्वादन करता रहा हूँ। मैंने अनेक उलझे प्रसंगों को सामने रख कर नगीनचन्द की व्याख्या की परीक्षा ली है और मुझे प्रायः सर्वत्र ही सन्तोष हुआ है। मैं समझता हूँ 'साकेत' के प्रति आग्रहशील मेरा मन इससे बड़ा प्रमाण-पत्र उनको नहीं दे सकता और अपनी शुभ कामनाओं सहित 'साकेत-सौरभ' को काव्य-रसिकों के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

मैं क्या कहूँ ?

[illegible] में 'साकेत'-[illegible] विशिष्ट सौरभ विकीर्ण कर रहा है। [illegible]साहित्य-प्रेमियों और [illegible] को निरन्तर आह्लादित करता आ रहा है। उसके सौरभ से उत्फुल्ल इस लोभी हृदय ने उसका संचय आरम्भ किया, विभिन्न अवसरों पर तथा विभिन्न मनःस्थितियों मे रह कर। आज अत्यन्त संकोच-पूर्वक उसे पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ। 'साकेत-सौरभ' मे कितना सौरभ-संचय सम्भव हुआ है, यह बताना मेरे वश की बात नहीं, जितना बड़ा पात्र होगा [illegible] तो उतना समेट [illegible]!

'साकेत' के काव्य-सौरभ का अनेक काव्य-रसिकों ने आस्वादन किया और अपनी अनुभूतियों का अंकन किया है। भविष्य मे भी और लिखा जाएगा। 'साकेत-सौरभ' उसी विशाल श्रृङ्खला की एक कड़ी है। यह कड़ी पिछली कड़ियों के सहारे टिकी है, यह स्वीकार करने मे मुझे सकोच न होकर गर्व ही है, किन्तु आगे आने वाली कड़ियों को यह सहारा दे सकेगी या नहीं, यह तो स्वय मेरे लिए भी एक प्रश्न ही है।

श्री राम के प्रति अनन्य निष्ठा होने से जो 'राम कथा कहि सुनि न अघाई' उन पूज्य दद्दा (गुप्त जी) ने अपना बहुमूल्य समय देकर 'साकेत-सौरभ' के अनेक अंशों को सुना है, मेरी अनेक भ्रान्तियों का निवारण और भूलों का निराकरण किया है। इससे मुझे इस सौरभ संचय मे अपार लाभ हुआ है और 'साकेत-सौरभ' की भी श्रीवृद्धि हुई है।

दिल्ली-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष, श्रद्धेय डा० नगेन्द्र जी तो आरम्भ से अब तक प्रस्तुत कार्य में मुझे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रेरणा प्रदान करते रहे हैं। वस्तुतः उन्हीं ने मेरे हृदय में गुप्त जी के काव्य के गम्भीर अनुशीलन की अदम्य आकाँक्षा जागृत की और उन्ही के निर्देशन में इस कार्य का समारम्भ भी हुआ। मेरा बाल-प्रयास उन्हे भाया है, इसमे अधिक गौरव की बात क्या हो सकती है मेरे लिए!

अपने अन्य अनेक हितचिन्तकों एवं सहयोगियों से भी मुझे इस कार्य मे उल्लेखनीय सहायता प्राप्त हुई है किन्तु क्या धन्यवाद मात्र से उनके स्नेह तथा [illegible] का मूल्य चुका सकूँगा!

३५०८, कूँचा लालमन
दिल्ली गेट, दिल्ली
दीपावली, सं० २०१२ वि०

—नगीन चन्द

रामस्य नाम रूपं च लीलाधाम परात्परम् ।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्द विग्रहम् ॥

—वशिष्ठ संहिता

भरणः पोषणाधारः शरण्यः सर्वव्यापकः ।
करुणः षड्गुणैःपूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम् ॥

—महारामायण

पूजहिं प्रभुहि देव बहु बेखा ।
राम रूप दूसर नहिं देखा ॥

—गोस्वामी तुलसीदास

धनुर्बाण वा वेणु लो श्याम-रूप के संग,
मुझ पर चढ़ने से रहा राम ! दूसरा रंग ।

—श्री मैथिलीशरण गुप्त

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे ?
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे ?

मेरे राम,

तुम स्वयं ही उत्तर दो—क्या तुम ईश्वर नहीं हो ? क्या लोगों का यह कथन सत्य है कि तुम सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी न होकर केवल मानव हो—एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व मात्र !

किन्तु मेरे विश्वदेव,

यदि तुम ईश्वर नहीं हो तो मैं किसी अन्य ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने से इन्कार करता हूँ। मुझे निरीश्वर – नास्तिक—बनना स्वीकार है, यह लांछन शिरोधार्य है, किन्तु तुम्हारे अतिरिक्त किसी और को ईश्वर मानना स्वीकार नहीं—कदाचित् यह मेरे वश की बात ही नहीं। यदि संसार की दृष्टि में कोई और ईश्वर है तो वह कृपया मेरी इस धृष्टता (अथवा परवशता) के लिए मुझे क्षमा करे।

मेरे आराध्य,

यदि तुम मानव हो और एक विशेष देश-काल की सीमाओं में आबद्ध होने के कारण सर्वदा तथा सर्वत्र व्याप्त नहीं हो सकते अथवा मेरे मन में रमण नहीं कर सकते तो न सही, किन्तु मुझे यह वरदान तो दे दो कि मेरा यह मन अनन्य भाव से निरन्तर तुममें – केवल तुम्हीं में—रमा रहे।

'साकेत'-सौरभ

कविता के साथ ही साथ राम-भक्ति भी श्री मैथिलीशरण गुप्त को अपने पिता से वरदान के ही रूप में प्राप्त हुई। कवि, जीवन के उतार-चढ़ाव में सामने आते और सामने से जाते, दुख-सुख तो भूलता रहा किन्तु शैशव में पिता के श्री मुख से सुने ये छन्द न भुला सका :

"हम चाकर रघुबीर के, पटौ लिखौ दरबार ;
अब तुलसी का होहिंगे नर के मनसबदार ?
तुलसी अपने राम कों रीझ भजो कै खीज ,
उलटो-सूधो ऊगि है खेत परे कौ बीज ।
बनें सो रघुवर सों बनें, कै बिगरै भरपूर ;
तुलसी बनें जो और सों, ता बनिबे में धूर ।
चातक सुतहिं सिखावहीं, आन धर्म जिन लेहु ,
*मेरे कुल की बानि है स्वाँति बूँद सों नेहु ।"**

गुप्त जी ने अपने 'कुल की बानि' को श्रद्धा-सहित निबाहा और श्री राम उनके जीवन के साथ-साथ उनके काव्य में भी रम गये । एक के उपरान्त दूसरा काव्य-ग्रन्थ लिखा जाता रहा और कवि अपनी प्रत्येक रचना के आरम्भ में अपने आराध्य के श्री चरणों पर श्रद्धा-पुष्प चढ़ाता रहा। भक्त-कवि का हृदय इतने से ही तृप्त न हो सका। गुप्त जी राम-कथा के आधार पर एक महाकाव्य की रचना करना चाहते थे। वह इसे ही तो 'निज कवि-धन' मान सकते थे। पन्द्रह-सोलह वर्ष की साधना के उपरान्त कवि का स्वप्न सत्य हुआ। कवि की भावना के अनुसार "आज भी अधूरा" होने पर भी गुप्तजी का राम-काव्य, 'साकेत' पूर्ण हुआ।

अन्य काव्य-कृतियों के आरम्भ में गुप्तजी श्री राम की वन्दना करते आये थे। प्रश्न था कि अपने इस राम-काव्य के आरम्भ में वह किस देवता की वन्दना करें ? प्रश्न नया न था, अन्य राम-भक्त कवियों के सम्मुख भी यह समस्या उपस्थित हो चुकी थी। उन्होंने श्री गणेश, शिव-पार्वती तथा वाणी की देवी 'सरस्वती' आदि की वन्दना करके महाकाव्य के लिए अनिवार्य नियम "आदौ नमस्क्रियाऽऽशीर्वा" का पालन किया था। उदाहरणार्थ गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस'

* 'साकेत'— समर्पण

का आरम्भ श्री गणेश और सरस्वती जी की वन्दना से किया :

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी-विनायकौ ॥

(अक्षरों, अर्थ-समूहों, रसों, छन्दों और मंगलों की करने वाली, सरस्वती जी और गणेश जी की मैं वन्दना करता हूँ)*

साकेतकार ने इन शब्दों में मंगलाचरण किया :

मंगलाचरण

माता पार्वती के प्रति कही गयी कुमार कार्तिकेय की यह अभियोग-वाणी विजयिनी हो, जिसे सुनकर अपने गणों के सहित कैलाशपति शिवजी भी प्रसन्न हो जाते हैं :

"हे माता, देखो यह हेरम्ब (गणेश जी) मानसरोवर के किनारे बैठे अपनी बड़ी तोंद और भारी शरीर से ऊधम मचा रहे हैं। इनकी गोद लड्डुओं से भरी है। सूँड की सहायता से उन्हें ऊपर उठा कर यह ऐसा भाव प्रकट करते हैं मानों मुझे लड्डू दे रहे हैं परन्तु जब मैं लेना चाहता हूं तो देते नहीं। यह तो उन्हें गेंद की भाँति उछालते हैं और ऊपर ही ऊपर लपक कर स्वयं खा लेते हैं।"

'साकेत' के मंगलाचरण में संस्कृत-नाटकीय शैली के 'नान्दी' का आभास है।

प्रथम सर्ग

प्रथम सर्ग का आरम्भ वाणी की देवी, सरस्वती, की वन्दना से होता है :

अयि दयामयि देवि ···· ···· ···· ···· ···· वरद-पाणि पसार दे ।

"सुख देने वाली हे दयामयी देवि शारदे, कृपा करके मेरी ओर भी अपना वरद हस्त फैला दे।

कवि के इन शब्दों में राम-कथा की प्राचीनता का आभास है। हमारा कवि यह जानता और स्वीकार करता है कि उससे पूर्व भी माँ शारदा अनेक उपासकों पर कृपा कर चुकी हैं अथवा राम-कथा के अनेक गायकों को सरस्वती का वरदान प्राप्त हो चुका है। 'इधर भी' द्वारा कवि का यह भाव स्पष्ट है। 'साकेत' का कवि तो इस प्रकार नम्रतापूर्वक अपने को उस भक्त-समुदाय में सम्मिलित कर लेता है जिस पर सरस्वती की कृपा होती रही है अथवा हो सकती है।

अभीष्ट-दाता होने के कारण सरस्वती के पाणि को 'वरद-पाणि' कहा गया है।

* रामचरितमानस, बालकांड, १

दास की यह ···· ···· ···· ···· ···· नई झंकार दे ।

अपने को देवि के चरणों पर अर्पित करके कवि कहता है :

"इस दास की शरीर-रूपी वीणा को साध दे (मेरी देह-वीणा को स्वर-साधना के लिए स्वीकार कर ले) और रोम-रूपी इन तारों में एक नवीन झंकार भरदे ।

'वीणापाणि' के लिए 'वीणा' से अधिक उपयुक्त भेंट और क्या हो सकती है ? अतः कवि अपनी देह-तन्त्री प्रस्तुत करता है । 'देह' और 'तन्त्री' में एक महत्वपूर्ण समानता भी है । देह पर रोम हैं और तन्त्री पर तार । स्वर-साधना इन्हीं तारों द्वारा सम्पन्न होती है ।

एक बात अवश्य है । आज कवि अपने रोम-तारों में एक 'नई झंकार' चाहता है । क्यों ? कारण स्पष्ट है । अब तक हमारे कवि ने प्रायः इतिहास, पुराण, और सामयिक परिस्थितियां आदि के आधार पर ही अपने काव्यों की रचना की थी । अब उसे राम-कथा के माध्यम द्वारा उपेक्षिता ऊर्मिला का मौलिक चित्र आँकना है । अस्तु, 'साकेत' गुप्त जी की काव्य-वीणा की 'नई झंकार' ही तो है ।

बैठ, आ, मानस ···· ··· ···· ···· ···· सनाथ हो ।

कवि अनुभव करता है कि उसकी आराध्या ने उसकी विनय स्वीकार कर ली; उल्लास भरे स्वर में वह कहता है :

"आकर मेरे मानस-हंस पर बैठ जा, तभी तो वह सनाथ होगा । अपने साथ भार वहन करने वाला, केकी-कंठ भी लाना ।

सरस्वती का वाहन है 'हंस' । कवि अपना मानस-हंस प्रस्तुत करता है, वाहन के रूप में । स्वामिनी का वाहन होकर ही तो वह 'सनाथ' हो सकेगा !

स्वरों का भार-वहन करने के लिए मधुर कंठ अनिवार्य है । काव्य और मधुर कंठ का संयोग मणि-कांचन-योग है । 'साकेत' का कवि अपने काव्य में संगीत-तत्त्व को उचित महत्त्व देना चाहता है, 'साकेत' के प्रसंगानुकूल परिवर्तित होने वाले छंद इसके प्रमाण हैं ।

'केकी-कंठ' का प्रयोग अन्य कवियों ने भी किया है ।

उदाहरणार्थ :

केकि कंठ, दुति स्यामल अंगा ।
तड़ित विनिंदक वसन सुरंगा ॥†

तथा

केकीकंठाभनीलं सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं ......‡

---

†, ‡ गोस्वामी तुलसीदास

चल अयोध्या के लिए .... आज तू ।

वाणी की देवी को सर्वथा अनुकूल पा कर कवि अनुरोध भरे स्वर में कहता है—

"तू अपना सब साज सजाकर अयोध्या चलने के लिए तैयार हो जा । मां, मेरी यह इच्छा पूर्ण करके मुझे कृतकृत्य कर दे ।"

सरस्वती और कवि, माँ और पुत्र, के बीच अब कोई अन्तर शेष नहीं । अब पुत्र अपने हृदय की बात स्पष्टतः कह देता है : "माँ, अपने सब साज सजा ले और मेरे साथ अयोध्या चलकर मुझे कृतार्थ कर दे" (यहाँ 'साज' द्वारा काव्य के विभिन्न उपकरणों—गुण, रस, अलंकार आदि की ओर संकेत है । 'साकेत' में इन सब को यथोचित स्थान प्राप्त है ।) 'साकेत' की रचना गुप्त जी के जीवन की महानतम साध बन गयी थी । उन्होंने स्वयं कहा है, "मैं चाहता था कि मेरे साहित्यिक जीवन के साथ ही 'साकेत' की समाप्ति हो" और "इच्छा थी कि सबके अन्त में अपने सहृदय पाठकों और साहित्यिक बन्धुओं के सम्मुख 'साकेत' उपस्थित करके अपनी धृष्टता और चपलताओं के लिए क्षमा-याचना-पूर्वक विदा लूँगा"—(साकेत, निवेदन) । अतः यहाँ 'कृतकृत्य' शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है । 'कृतकृत्य' का अर्थ है 'सफल मनोरथ' (जिसका काम पूरा हो चुका हो) ।

स्वर्ग से भी आज .... अवतार है ।

(मां सरस्वती को साथ लेकर कवि साकेत नगरी में पहुंचता है ।)

आज पृथ्वी का महत्व तो स्वर्ग से भी अधिक है । इसका सौभाग्य-सूर्य उदयगिरि पर चढ़ गया है (अपनी चरम सीमा पर है) क्योंकि त्रिगुणातीत (सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से परे) निराकार ब्रह्म पृथ्वी पर सगुण और साकार हो गया है । सारे संसार के स्वामी ने आज पृथ्वी पर अवतार ले लिया है ।

उदयगिरि : पुराणानुसार पूर्वदिशा में स्थित एक पर्वत जहाँ से सूर्य निकलता है ।

ले लिया अखिलेश ने अवतार है : राम मनुष्य हैं या देवता, इस सम्बन्ध में राम-कथा के विभिन्न गायकों का दृष्टिकोण भिन्न रहा है । महर्षि वाल्मीकि के राम देवता न होकर महापुरुष ही हैं । आदि-काव्य के आरम्भ में महर्षि वाल्मीकि देवर्षि नारद से प्रश्न करते हैं :—

कोन्वस्मिन्सांप्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥

(हे भगवन्, इस लोक में सम्प्रति सबसे उत्तम गुणों वाला तथा शस्त्र-अस्त्रादि बल-सम्पन्न, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी और आपत्काल में भी सदाचार का परित्याग न करने वाला कौन है ?)ॐ

देवर्षि का उत्तर है :

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
नियतात्मामहावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्वशी ॥

(इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न एक महापुरुष रामचन्द्र है जो जितेन्द्रिय, महावीर्य, कान्तिमान, धैर्य-सम्पन्न और आकर्षणशील है ।)φ

आदि-कवि ने अपने राम के लिए 'नरोत्तम'†, 'नरश्रेष्ठ'‡, 'नर-शार्दूल'¶, आदि विशेषणों का ही प्रयोग किया है, "अतः 'वाल्मीकि रामायण' में विष्णु और राम का कोई सम्बन्ध नहीं है और न राम अवतार-रूप में ही हैं । वे केवल मनुष्य हैं, महात्मा हैं ।"§

ईसा से कोई २०० वर्ष पूर्व बौद्ध-धर्म का विकास होने के कारण बुद्ध में ईश्वरत्व के अनेक गुणों की कल्पना की जाने लगी थी । तभी कदाचित् राम को भी मानवता के जनपद से ऊपर उठा कर देवत्व के उच्च शिखर पर आसीन कर दिया गया । 'वायु-पुराण' में राम ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित हैं । 'मानव-धर्म-शास्त्र' (२०० ई०) में राम की गणना विष्णु के ६ अवतारों में की गयी है ।

४०० ई० के लगभग 'विष्णु पुराण' की रचना हुई । इसके अनुसार "दशरथ से भगवान् पद्मनाभ ने राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न, इन चार अंशों में जन्म ग्रहण किया ।"$

'राम पूर्व तापनीय उपनिषद्' और 'राम उत्तर तापनीय उपनिषद्' (लगभग ६०० ई०) में राम को ब्रह्म का अवतार कहा गया है । 'राम पूर्व तापनीय उपनिषद्' के अनुसार "यथार्थ बात तो यह है कि उस अनन्त, नित्यानन्द स्वरूप, चिन्मय ब्रह्म में योगीजन रमण करते हैं, इसलिए वह परब्रह्म परमात्मा ही 'राम' पद के द्वारा प्रतिपादित होता है ।"||

ॐ वाल्मीकि रामायण, बालकांड, सर्ग १, श्लोक २ ।

φ वही, श्लोक ८ ।

† वाल्मीकि रामायण, बालकांड, सर्ग १०, श्लोक १० ।

‡ वही, सर्ग १७, श्लोक ६ ।

¶ वही, श्लोक ७ ।

§ डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ३४१ ।

$ विष्णु पुराण, अंश ४, अध्याय ४, श्लोक ४० ।

|| 'कल्याण', उपनिषद् अंक, पृ० ५३१ ।

'राम उत्तर तापनीय उपनिषद्' में स्वयं ब्रह्मा जी ने "सम्पूर्ण विश्व के आधार और महा-विष्णु-रूप, रोग-शोक से रहित नारायण, परिपूर्ण आनन्द विज्ञान के आश्रय, परम प्रकाश-रूप, परमेश्वर श्री राम का मन ही मन स्तवन करते हुए उनकी स्तुति की है :

ओ३म् यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्दात्मा यत् परं ब्रह्म भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः" आदि आदि ।†

'अध्यात्म रामायण' में राम देवत्व के सर्वोच्च शिखर पर आसीन हैं : "जो विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि के एकमात्र कारण हैं, माया के आश्रय हो कर भी मायातीत हैं, अचिन्त्य-स्वरूप हैं, आनन्दघन हैं, उपाधिकृत दोषों से रहित हैं तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं, उन तत्ववेत्ता श्री सीतापति को मैं नमस्कार करता हूँ ।"‡

ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में राम की महिमा का प्रचार 'भागवत पुराण' द्वारा हुआ । लगभग इसी समय राम-भक्ति-सम्प्रदाय की नींव पड़ी । चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में स्वामी रामानन्द ने इसी मत का प्रचार किया । इसका प्रभाव कबीर और गोस्वामी तुलसीदास, दोनों पर पड़ा । कबीर के राम ने तो निर्गुण निराकार का रूप धारण कर लिया परन्तु गोस्वामी जी की रचनाओं द्वारा सगुण राम सदा-सदा के लिए जीवन और साहित्य के अभिन्न अंग बन गये :

एक अनीह अरूप अनामा ।
अज सच्चिदानन्द परधामा ॥
व्यापक विस्व रूप भगवाना ।
तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥
सो केवल भगतन हित लागी ।
परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥
जेहि जन पर ममता अति छोहू ।
जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू ॥
गई बहोर गरीब नेवाजू ।
सरल सबल साहिब रघुराजू ॥ आदि¶

† कल्याण, उपनिषद् अंक, पृ० ५४६ ।

‡ अध्यात्म रामायण, बालकांड, सर्ग १, श्लोक २ ।

¶ रामचरितमानस, बालकांड ।

गुप्त जी ने गोस्वामी जी की परम्परा का ही पालन किया है। इसीलिए तो उन्हें यह स्वीकार नहीं कि राम ईश्वर न हो कर मानव हैं। उनकी तो स्पष्ट घोषणा है :

राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सब कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे;
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।†

अस्तु, गुप्तजी के राम लोकेश हैं, अखिलेश के अवतार हैं।

किस लिए यह खेल प्रभु ने .... लीलाधाम है।

(अब प्रश्न यह है कि) लोकेश्वर प्रभु ने यह खेल (मानव-रूप में विविध लीलाएँ) क्यों किया? उन्होंने मनुष्य बनकर (पुत्र-रूप में) मानवी का दूध क्यों पिया? (उत्तर है कि) इसी का नाम तो भक्त-वत्सलता है और फिर वह लोकेश तो लीलाधाम प्रसिद्ध ही है।

पथ दिखाने के लिए संसार को .... सृष्टियाँ?

(अवतार के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कवि कहता है) :

संसार का पथ-प्रदर्शन करने, पृथ्वी पर पड़े (दुराचार आदि के) भार को दूर करने और साकार-रूप में दर्शन देकर अपने भक्तों की दृष्टि सफल करने के लिए वह (अखिलेश) अनेक प्रकार की सृष्टियां क्यों न करता (भांति-भांति की लीलाएं क्यों न करता?)

'गीता' में भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(हे भारत, जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ क्योंकि साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं युग युग में प्रकट होता हूँ।)‡

असुर शासन शिशिरमय हेमन्त है .... अनन्त है।

राक्षसों का शासन शिशिरमय हेमन्त के समान है किन्तु राम-राज्य-रूपी

† साकेत।

‡ गीता, अध्याय ४, श्लोक ७–८।

वसन्त में अधिक विलम्ब नहीं। पृथ्वी पर आदि और अन्त-रहित परमात्मा का अवतार हो गया है अतः अब पापियों का अन्त ही समझना चाहिए।

हेमन्त ऋतु अगहन और पूस में होती है और शिशिर, माघ और फागुन में। हेमन्त में सरदी अपने चढ़ाव पर होती है और शिशिर में उतार पर। राक्षसों का शासन 'शिशिरमय हेमन्त' कहा गया है। आशय यही है कि उस शासन में कुछ समय के लिए चढ़ाव भले ही आ जाए परन्तु उसके उतार में विलम्ब नहीं; शीघ्र ही राम-राज्य-रूपी वसन्त आने पर उसकी सर्वथा समाप्ति हो जाएगी।

राम-सीता धन्य धीराम्बर ··· ···· ···· ···· शत्रुघ्नप्रिया।

अपने महाकाव्य के प्रमुख पात्रों का परिचय साकेतकार ने इस प्रकार कराया है :

शान्त और गम्भीर आकाश के समान श्री रामचन्द्र जी और पृथ्वी के समान सीता जी धन्य हैं। लक्ष्मण और ऊर्मिला का सम्बन्ध 'शूरवीरता' और 'सम्पत्ति' के सम्बन्ध जैसा है। भरत यदि 'कर्त्ता' हैं तो मांडवी उनकी 'क्रिया'; और शत्रुघ्न की पत्नी, श्रुतकीर्ति, अपने पति की 'कीर्ति' के समान है।

प्रस्तुत प्रसंग में राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, ऊर्मिला, मांडवी और श्रुतकीर्ति के लिए प्रयुक्त उपमान अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। इन उपमानों में 'साकेत' के इन पात्रों के चरित्र, बीज-रूप में, विद्यमान हैं। यही बीज परिस्थिति, कार्य-व्यापार और कथोपकथन आदि उपकरणों द्वारा पल्लवित होते हैं। उदाहरणार्थ अखिलेश, श्री राम के लिए 'अम्बर' उपमान रूप में प्रयुक्त किया गया है। राम तथा 'अम्बर' में वर्ण-साम्य भी है। जगज्जननी जानकी जी के लिए 'इला' (पृथ्वी) से अधिक उपयुक्त उपमान और क्या हो सकता था? इसी भाव का निर्वाह सम्पूर्ण 'साकेत' में अत्यन्त कुशलता-पूर्वक किया गया है :

आर्य, आर्या हैं तनिक कैसे झुके,
आज मानों लोक - भार उठा चुके!—सर्ग १

o o

जगत् संसार मानों क्रोड़गत था।—सर्ग ३

o o

मिले भरत से राम क्षितिज में सिन्धु गगन सम।—सर्ग १२

लक्ष्मण और ऊर्मिला को क्रमशः 'शौर्य' और 'सम्पत्ति' सम कहा गया है। लक्ष्मण का शौर्य 'साकेत' का प्राण है। 'साकेत' के तृतीय, चतुर्थ, अष्टम, दशम और द्वादश सर्ग इसके प्रमाण हैं। दशरथ, राम, भरत, शत्रुघ्न, ऊर्मिला, सुमित्रा तथा

मेघनाद सब ने ही उनके शौर्य को स्वीकार किया है :

दशरथ : तदपि सत्पुत्र तुम हो शूर मेरे।

राम : क्षत्रियत्व कर रहा प्रतीक्षा तात तुम्हारी।

भरत : हय उड़ा कर उड़ल आप समक्ष,
प्रथम लक्ष्मण ने धरा ध्वज लक्ष।

शत्रुघ्न : तुम यहाँ थे हाय, सोदरवर्य !
और यह होता रहा आश्चर्य !
वे तुम्हारे भुज भुजंग विशाल,
क्या यहाँ कीलित हुए उस काल ?

ऊर्मिला : माना तूने मुझे है तरुण विहारिणी,
वीर के साथ ब्याही।

मेघनाद : तूने निज नर-नाट्य किया प्राणों के प्रण से,
इस पौरुष के पड़े अमरपुर में भी लाले। आदि

—और ऊर्मिला :

यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,
आप विधि के हाथ से ढाली गई।—सर्ग १

० ०

कहला कर दिव्य सम्पदा।
हम चारों सुख से पलीं सदा॥—सर्ग १०

भरत 'कर्त्ता' हैं और मांडवी उनकी 'क्रिया' :

"स्वामी, निज कर्त्तव्य करो तुम निश्चित मन से,
रहो कहीं भी, दूर नहीं होगे इस जन से।"—सर्ग १२

और शत्रुघ्नप्रिया ? वह तो अपने पति की कीर्ति है :

"जाओ स्वामी, यही माँगती मेरी मति है,
जो जीजी की उचित वही मेरी भी गति है।
जिनसे दुगुना हुआ यहाँ वह भाग्य हमारा,
हम दोनों की मिले उन्हीं में जीवनधारा।—सर्ग १२

ब्रह्म की हैं चार जैसी पूर्तियाँ ··· ··· ··· ··· भारतवर्ष है।

राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न जैसे (चतुरानन) ब्रह्म की चार पूर्तियों के समान हैं, ठीक उसी प्रकार सीता, ऊर्मिला, माँडवी तथा श्रुतकीर्ति माया की चार विभिन्न मूर्तियों (रूपों) जैसी हैं। महाराज दशरथ और विदेह जनक का बढ़ा हुआ पुण्य धन्य है, देवताओं की लीलाभूमि, भारतवर्ष, भी धन्य है।

यहाँ 'दशरथ-जनक-पुण्योत्कर्ष' में राम-सीता आदि के विवाह द्वारा जुड़े दशरथ और जनक के अनुपम सम्बन्ध का उल्लेख है और 'धन्य भगवद्भूमि भारतवर्ष' में राष्ट्र-कवि की स्वदेश-वन्दना है।

देख लो साकेत नगरी है .... जुड़ रहे।

प्रमुख पात्रों के परिचय के उपरान्त 'साकेत' में साकेत-नगरी का वर्णन है। रामचरितमानस में अयोध्या नरेश और अयोध्या का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है :

अवधपुरी रघुकुल मनि राऊ।
वेदविदित तेहि दशरथ नाँऊ॥†

महर्षि वाल्मीकि ने अयोध्या नगरी का विस्तृत वर्णन किया है‡। उन्होंने अयोध्यावासियों के गुणशील पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस वर्णन से महाराज दशरथ के गौरव की भी वृद्धि हुई है। गुप्तजी ने साकेत नगरी का वर्णन इस प्रकार किया है :

देख लो, यही वह साकेतनगरी है जो स्वर्ग से मिलने की इच्छा से आकाश की ओर जा रही है। (ऊँचे स्थानों पर फहराती) पताकाएँ अंचल की भाँति उड़ रही हैं। (मन्दिरों आदि पर बने) स्वर्ण-कलशों पर तो देवताओं की भी आंखें लगी हैं।

यहाँ साकेत-नगरी की तुलना बहुत तेज़ी से ऊपर की ओर उड़ती हुई स्त्री से की गयी है। तीव्रता पूर्वक उड़ने के कारण केतु-पट के रूप में मानों उस स्त्री का अंचल उड़ रहा है। इस प्रकार कनक-कलश रूपी कुच (कुचों को कवियों ने कनक कलश, कनक कटोरा, कनक कमल, कनक संभु आदि कहा है; उदाहरणार्थ—"एके तनु गोरा कनक कटोरा अतनु कांचला उपाम"—विद्यापति) प्रकट हो रहे हैं। इस सौन्दर्य (वैभव) को देवता भी सतृष्ण नेत्रों से देख रहे हैं।

साकेत-नगरी का वर्णन करते समय आचार्य केशवदास का ध्यान भी सबसे पहले ऊँचे ऊँचे भवनों पर फहराती हुई पताकाओं की ओर ही गया था :—

ऊँचे अवास, बहु ध्वज प्रकास।
सोभा विलास, सौभै प्रकाश॥
अति सुन्दर अति साधु।
थिर न रहत पल आधु॥
परम तपोवन मानि।
दंड धारिणी जानि॥¶

---

† रामचरितमानस, बालकांड।

‡ बाल्मीकि रामायण, बालकांड, सर्ग ६।

¶ रामचन्द्रिका, पहला प्रकाश, छन्द ३७, ३८।

सोहती हैं विविध शालाएं ··· ·· ··· ··· उन पर पड़ी।

अयोध्या में अनेक प्रकार की शालाएं (घर आदि) शोभायमान हैं। इनकी चित्रित दीवारों ने छतों को अपने ऊपर उठाया हुआ है। इन दीवारों पर अंकित चित्र मानों उन भवनों के निवासियों के पवित्र चरित्रों के प्रतिबिम्ब हैं (उनके सद् विचारों एवं भव्य भावों के प्रतीक हैं।)

विविध शालाएं : अतिथिशाला, यज्ञशाला, गोशाला आदि।

घर में रहने वाले अथवा गृहस्थियों के लिए 'गेही' शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है। 'चारु चरितों' में अनुप्रास भी अनायास आ गया है। 'लड़ी' द्वारा चरितों की एकरूपता की ओर संकेत है।

स्वच्छ, सुन्दर और विस्तृत ···· ··· ···· ··· करना चाहते।

सब भवन स्वच्छ, सुन्दर और बड़े बड़े हैं। इनके द्वारों पर इन्द्र-धनुष जैसी बन्दनवार तनी है। देव-दम्पति इन सुन्दर अट्टालिकाओं को देखकर इनकी प्रशंसा करते हैं। उनकी हार्दिक इच्छा है कि वे भी (पृथ्वी पर उतर कर कुछ समय तक) इन अट्टालिकाओं में विश्राम कर सकें।

'सुन्दर' और 'विस्तृत' द्वारा तत्कालीन भवनों का चित्र प्रस्तुत किया गया है और 'स्वच्छ' द्वारा गृहदेवियों की गृह-कार्य-दक्षता पर प्रकाश पड़ता है। वे अपने घरों को स्वच्छ रखने में सतत प्रयत्नशील हैं। दरवाज़ों पर तने बन्दनवार मंगल सूचक हैं।

देव-लोक में रहने वाले देवता धरती (साकेत) पर होने वाली घटनाओं से असम्बद्ध नहीं। 'साकेत' में अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख है; प्रथम सर्ग में "कनक कलशों पर अमर दृग जुड़ रहे"। आगे चल कर, महाराज दशरथ की मृत्यु होने पर :

ऊपर सुरांगनाएं रोईं। भू पर पुरांगनाएं रोईं॥—सर्ग ६

और अष्टम सर्ग में :—

हँस पड़े देव केकयी कथन यह सुनकर। आदि

पाठक देखेंगे कि "कनक कलशों" पर "अमर दृग" जुड़े हैं, दशरथ की मृत्यु पर "सुरांगनाएं" रोई हैं, केकयी का कथन सुनकर "देवता" हँसते हैं परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में—

"देव दम्पति" अट्ट देख सराहते

लिखा गया है, अकेले देवता अथवा देवियाँ ये अट्ट नहीं देखतीं। दाम्पत्य-जीवन के इन आदर्श केन्द्रों को तो "देव-दम्पति" देखते हैं। देखते ही नहीं, सराहते हैं, सराहते ही नहीं, कुछ समय के लिए यहाँ आकर विश्राम करना चाहते हैं। साकेत के इन

घरों में देवताओं के निवास-स्थानों से भी अधिक सुख-शान्ति है। तभी तो देव-दम्पति यहाँ रहकर विश्राम करने (अपने जीवन की श्रान्ति मिटाने) के लिए आतुर हैं।

फूल फलकर फैलकर ... ... भूप पर।

बड़े-बड़े छज्जों पर अनेक प्रकार की बेलें चढ़ी हैं जो फूल-फल कर दूर दूर तक फैल गयी हैं। नगर की कन्याएं इन्हीं छज्जों पर फूलों के ढेर लगा कर अपने महाराज पर पुष्प-वर्षा करती हैं।

फूल फलकर सब ओर छा जाने वाली भाँति-भाँति की बेलें पुर-वासियों के प्रकृति-प्रेम की परिचायिका होने के साथ ही साथ उनकी सम्पन्नता (फूले-फले घर) की भी प्रतीक हैं। प्रजा-वत्सल महाराज दशरथ प्रजा को हित-कामना से समय-समय पर नगर में आते रहते हैं। उन अवसरों पर पुर-कन्याएं इन्हीं छज्जों पर से पुष्प-वर्षा करके उनके प्रति प्रजा का आदर-भाव अभिव्यक्त करती हैं। इन पंक्तियों द्वारा तत्कालीन राजा-प्रजा-सम्बन्ध पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। 'प्रसून-स्तूप' से कवि का आशय फूलों के अत्यधिक परिमाण की ओर लक्ष्य करना जान पड़ता है। 'स्तूप' और 'छज्जों' का संयोग भी सर्वथा समीचीन है।

फूल पत्ते हैं गवाक्षों में .... है कभी।

इन अट्टालिकाओं की खिड़कियों में अनेक प्रकार के फूल पत्ते अंकित हैं। (वे इतने सुन्दर और सजीव हैं) मानो स्वयं प्रकृति ने ही उनकी रचना की हो। इन (चित्रित फूल पत्तों) पर कभी बिजली चमकती है और कभी चन्द्रिका अपनी आभा बिखेरती है।

इन पंक्तियों द्वारा पुरवासियों के कला-प्रेम की कुशल अभिव्यक्ति की गयी है।

'साकेत-संत' में भी :—

भीति के चित्र सजीव समान,
दे रहे थे नव जीवन दान;
रत्नमय विहग मंत्र से बोल,
रहे थे मानव - हृदय टटोल॥†

सर्वदा स्वच्छन्द छज्जों के तले .... अयोध्या है लिखी।

सब प्रकार से स्वच्छन्द छज्जों के नीचे प्रेम के आदर्श परेवा पक्षी सदा पले रहते हैं। मोर (शिखी) केश रचना में सहायता देते हैं। सम्पूर्ण अयोध्या चित्र-लिखित सी जान पड़ रही है।

कुछ समय पूर्व हमारे कवि ने इन छज्जों को 'दीर्घ' कहा था। ये दीर्घ छज्जे

† साकेत-संत, रचयिता डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, सर्ग १, पृष्ठ १६।

स्वच्छन्द भी हैं। इनके नीचे सहारे के लिए कोई गर्डर अथवा पत्थर आदि नहीं लगाया गया। इस प्रकार 'स्वच्छन्द छज्जों' में तत्कालीन वास्तु-कला की पूर्णता का उल्लेख है। अट्टालिकाओं में रहने वाले दम्पति आपस में प्यार और सहयोग का जीवन व्यतीत करते हैं, छज्जों के नीचे पले, प्रेम के आदर्श, परेवा पक्षी, इसके प्रमाण हैं।

परेवा को प्रेम का आदर्श माना जाता है। बिहारी लाल ने भी कहा है :

पटु पांखैं भखु कांकरैं सपर परेई संग।
सुखी परेवा पुहुमि मैं एकै तुहीं बिहंग॥†

मोर के लिए प्रस्तुत प्रसंग में 'शिखी' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'शिखी' का अर्थ है 'शिखा (कलगी) धारण करने वाला'। केश-रचना में सहायक होने वाले मोर के लिए 'शिखी' शब्द का प्रयोग कितना सार्थक है!

दृष्टि में वैभव भरा रहता ... ... रसना-क्षुधा।

अयोध्या में दृष्टि में सदा ऐश्वर्य भरा रहता है, नासिका में आमोद बहा करता है, चारों ओर सुनाई देने वाले मधुर शब्द कानों में अमृत ढालते हैं और जीभ की भूख यहाँ के स्वादों की तो गिनती भी नहीं कर सकती।

अयोध्या नगरी केवल नेत्रों को ही नहीं, अन्य इन्द्रियों को भी तृप्त करती है। यहाँ इतना ऐश्वर्य है कि जिधर भी दृष्टि जाती है, धनवैभव ही दिखाई देता है, नासिका को सर्वत्र अनुकूल और आमोदकारी सुगन्ध ही प्राप्त होती है। अयोध्या में अनर्गल प्रलाप कहीं नहीं सुनाई देता, यहाँ तो जब जो भी शब्द कान में आता है वह मानो अमृत वर्षा करता है (अयोध्यावासियों का वाक्-संयम यहाँ स्पष्ट है) और इस नगरी में स्वाद तो असंख्य हैं।

भौतिक सुख-सम्पन्न साकेत-नगरी का यह अत्यन्त हृदयग्राही चित्र है।

कामरूपी वारिदों के चित्र .... आदर्श हैं।

इच्छानुसार भांति-भांति के रूप धारण करने वाले मायावी बादलों के चित्र के समान और इन्द्रपुरी के मित्र के समान बहुत ऊँचे महाराज दशरथ के महल आकाश को छू रहे हैं। ये महल वास्तु-कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

यहाँ बादलों के लिए 'वारिद' (जल प्रदान करने वाले) का प्रयोग किया गया है और नीर भरे इन बादलों को 'कामरूपी' माना गया है। इन शब्दों का पूरा आनन्द तो उसी समय प्राप्त किया जा सकता है जब पाठक के सम्मुख आकाश में नीर भरे बादल उमड़-घुमड़ कर आ रहे हों। उस समय यदि इन बादलों की ओर एकटक

---

† बिहारी सतसई, दोहा ६१६।

देखा जाए तो हम उन्हें भाँति-भाँति का स्वरूप धारण करता पायेंगे। कभी उनका रूप पर्वत के समान होगा, कभी किसी विशालकाय जन्तु अथवा गगनचुम्बी दुर्ग की प्राचीर के समान; प्रत्येक क्षण उनके स्वरूप में परिवर्तन होता दिखाई देगा। इस प्रकार पल-पल पर तो मायावी ही अपना रूप बदल सकते हैं!

अब प्रश्न यह रहा कि महाराज दशरथ के महलों को कामरूपी वारिदों के समान क्यों कहा गया? कवि के अवचेतन मन पर इस समय साकेत की प्रभातकालीन शोभा का ही प्रभाव है ('भाग्य-भास्कर उदयगिरि पर चढ़ गया' और 'वेष भूषा साज ऊषा आ गई') अस्तु, कवि उषा-काल के इन क्षणों में, जबकि रात्रि का अन्धकार पूर्णतया दूर नहीं हुआ है और प्रभात का प्रकाश पूरी तरह फैला नहीं है, दूरस्थित राज महलों को देखता है तो भाँति-भाँति के कंगूरों आदि से सुशोभित राजमहल उसे भाँति-भाँति के रूप धारण करते दिखाई देते हैं, ठीक कामरूपी वारिदों की भाँति। इस सत्य का अनुभव आज भी अन्धकार और प्रकाश के धूमिल क्षणों में किसी दूरस्थित दुर्ग को देख कर किया जा सकता है।

महाराज दशरथ और देवराज इन्द्र की मित्रता का प्रदर्शन 'सौध' (पुल्लिङ्ग) और 'अमरावती' (स्त्रीलिङ्ग) की मित्रता का उल्लेख करके किया गया है। 'अमरावती' से मिलने के लिए ही 'नृप सौध' आतुरतावश गगन-स्पर्श कर रहे हैं। 'गगन-स्पर्श' द्वारा महलों की ऊँचाई की ओर भी संकेत है।

कोट-कलशों पर प्रणीत ··· ··· ··· ···· तान देती है उन्हें।

दुर्ग पर बने कलशों पर पक्षियों के चित्र अंकित हैं। सर्वथा स्वाभाविक रंग रूप में चित्रित इन पक्षियों को मानों वायु की गति गान और वंशी का सा मधुर स्वर प्रदान कर रही है।

कलशों पर अंकित पक्षियों के चित्र सर्वथा सजीव एवं प्राणवान् हैं। प्राकृतिक रंग-रूप वाले इन पक्षियों के चित्रों में मानों वायु ने प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है।

ठौर ठौर अनेक ···· ···· ···· ···· दानवों का दम्भ हैं।

स्थान-स्थान पर अनेक यज्ञ-स्तम्भ बने हैं जो सुसंवत् (सुकाल) के निदर्शक हैं (जिन पर विशेष घटनाओं, तिथियों तथा संवत् आदि का विवरण है) जान पड़ता है कि यज्ञ-वेदियों के साथ निर्मित ये स्तम्भ राघवों और इन्द्र (देवताओं) की मित्रता के प्रमाण बने खड़े हैं। अनेक स्थानों पर बड़े-बड़े कीर्ति-स्तम्भ भी हैं। इन पर तरह-तरह की आकृतियों तथा उनके विवरण के साथ ऐतिहासिक घटनाओं का अंकन किया गया है। ये कीर्ति-स्तम्भ राक्षसों का अभिमान नष्ट करते हैं।

"उक्त विवरण में कवि की संस्कृति-पूजा ने सचेत होकर गत गौरव का भव्य चित्र उपस्थित किया है। यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सुन्दर उदाहरण है।"†

स्वर्ग की तुलना उचित ···· ··· ··· ··· जीवितों को तारती।

साकेत नगरी की तुलना स्वर्ग से करना उचित ही है परन्तु कहां देवनदी (गंगा) और कहां सरयू? (सरयू की बराबरी भला गंगा किस प्रकार कर सकती है।) वह (गंगा) तो केवल मरे हुए प्राणियों को (जन्म-मरण के बन्धन से) मुक्त करती है (पार उतारती है) किन्तु यह (सरयू) यहीं जीवित प्राणियों को पार उतार देती है। (इसके लिए मरने की आवश्यकता नहीं।)

यहाँ एक भ्रम का निवारण आवश्यक है। कवि ने प्रस्तुत प्रसंग में व्यतिरेक द्वारा सरयू को गंगा से ऊँचा तो उठा दिया है परन्तु इसका आशय यह नहीं कि वह गंगा को सरयू की तुलना में हलका बता कर गंगा का महत्त्व कम कर रहा है अथवा कवि के हृदय में गंगा के प्रति कम श्रद्धा है। अपने आराध्य, श्री राम, के शब्दों में स्वयं कवि ने 'साकेत' में गंगा की वन्दना की है:

"जय गंगे आनन्द तरंगे..........." आदि

यहाँ तो कवि केवल यह स्पष्ट करना चाहता है कि—

स्वर्ग से भी आज भूतल बढ़ गया

क्योंकि यहाँ—

ले लिया अखिलेश ने अवतार है।

अंगराग पुरांगनाओं के धुले ··· ··· ···· भंग हैं।

स्नान करते समय नगर की सुन्दरियों के शरीर पर से धुल जाने वाले अंगराग अपना रंग सरयू के जल को देकर स्वयं भी उसमें घुल गये हैं। इन रंगों के कारण सरयू की तरंगें भी अनोखी (रंग-विरंगी) हो गयी हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों इन लहरों में करोड़ों इन्द्र-धनुष टूट रहे हों।

'अंगराग' में शृंगार के इन उपकरणों का समावेश किया जाता है:

माँग में सिन्दूर, माथे पर रोली, गाल पर तिल की रचना, केसर का लेप, हाथ-पैर में मेंहदी या महावर।

नगर की स्त्रियाँ सरयू में स्नान कर रही हैं, उनके अंगों पर लगे अंगराग अपने विविध रंग सरयू की लहरों को दे कर मानों उन्हीं में घुल मिल गये हैं। उन्हीं विविध रंगों के सम्मिलन के कारण सरयू के जल में अनेक इन्द्र-धनुष टूटते से जान पड़ते हैं। 'कोटि शक्र-शरास होते भंग हैं' में इस बात की व्यंजना भी है।

† डा० नगेन्द्र, साकेत: एक अध्ययन, पृ० १५६।

कि सरयू की इन रंगबिरंगी लहरों के सामने करोड़ों इन्द्र-धनुषों का सौन्दर्य भी तुच्छ है।

मर्यादा की रक्षा के कारण यहाँ गुप्त जी ने यद्यपि विद्यापति आदि कवियों की सद्यःस्नाता को लाकर खड़ा नहीं किया है तथापि इन पंक्तियों द्वारा स्नान करती हुई पुरांगनाओं का सौन्दर्य-चित्र भली भाँति पाठक के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। गुप्त जी में प्रसंग के अनुकूल सद्यःस्नाता का सौन्दर्य-वर्णन करने की भी क्षमता है, इसका प्रमाण शची के इस चित्र से मिल जाएगा :

निकली नई सी वह वारि से वसुन्धरा।

o o

अपनी तरंगों पर झूलती सी निकली,
दो दो करी कुम्भी यहाँ हूलती सी निकली।

o o

आह! कैसी तेजस्विनी आभिजात्य अमला,
निकली सुनीर से यों क्षीर से ज्यों कमला।
एक और पत्त सा त्वचा का आर्द्र पट था,
फूट फट रूप दूने वेग से प्रकट था।
तो भी ढके अंग घने दीर्घ कच भार से,
सूक्ष्म थी झलक किन्तु तीक्ष्ण असि-धार से।

o o

देह धुली उसकी वा गंगाजल ही धुला,
चाँदी घुलती थी जहाँ सोना भी वहाँ घुला।
मुक्ता तुल्य बूँदें टपकीं जो बड़े बालों से,
चू रहा था विष वा अमृत वह व्यालों से...।†

है बनी साकेत नगरी नागरी ···· ···· ··· ···· कह रही।

इस समय साकेत नगरी 'नागरी' बन गयी है। उधर सरयू में सात्विक भावों का उदय हो रहा है। पुण्य की प्रत्यक्ष धारा के समान बहती हुई सरयू कल-कल स्वर में कानों को मधुर लगने वाली कोई कथा सी कह रही है।

सात्विक भाव : सतोगुण से उत्पन्न होने वाले निसर्गजात अंगविकार; ये आठ प्रकार के होते हैं : स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय अथवा प्रलाप।

---

† जयभारत, रचयिता श्री मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ६, ७।

'कर्ण-कोमल कल-कथा-सी कह रही' में अनुप्रास की मनोरम छटा है।

तीर पर हैं .... कर क्यारियाँ।

सरयू के तट पर अनेक देवालय शोभायमान हैं। भावुकों के भाव मन को मोहित कर रहे हैं। देव-मन्दिरों के आस-पास फुलवारियां लगी हैं, जिनमें पुष्पवती क्यारियां खिलखिला कर हँस रही हैं।

'हँस रही हैं खिलखिला कर क्यारियाँ' में ध्वननशील शब्दों द्वारा विकसित क्यारियों का चित्र उतारा गया है।

है अयोध्या अवनि की अमरावती ... . आराम हैं।

(सत्य तो यह है कि) अयोध्या पृथ्वी की इन्द्रपुरी है और प्रसिद्ध वीरव्रती महाराज दशरथ यहां के इन्द्र हैं। उनके भवन इन्द्रपुरी के विशाल भवनों के ही समान हैं और अयोध्या के उपवन इन्द्रपुरी के नन्दन-वन हैं।

महाराज दशरथ को इन्द्र, अयोध्या को इन्द्रपुरी, अयोध्या के राज-भवनों को इन्द्रपुरी के विशाल महल और यहाँ के उपवनों को नन्दन-वन कह कर गुप्तजी ने यह रूपक पूर्ण कर दिया है।

स्वर्ग और अयोध्या की परस्पर तुलना करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने भी कहा है :

तेन सत्याभिसंधेन त्रिवर्गमनुतिष्ठता।
पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्द्रेणेवामरावती॥

(सत्य-सन्ध तथा धर्म, अर्थ और काम के लिए अनुष्ठानादि करने वाले महाराज दशरथ अयोध्यापुरी का पालन उसी प्रकार करते थे, जैसे इन्द्र अपनी अमरावती का करते हैं)।†

और —

पुरीमयोध्यां नृसहस्रसंकुलां शशास वै शक्रसमो महीपतिः।

(अयोध्यापुरी में, जिसमें हज़ारों धनी मनुष्य वास करते थे, महाराज दशरथ इन्द्र की तरह राज्य करते थे)।‡

एक तरु के विविध ... ... परस्पर हैं मिले।

एक ही वृक्ष पर खिले अनेक पुष्पों की भांति अयोध्यावासी आपस में हिल-मिल कर रहते हैं।

अयोध्यावासियों को एक ही वृक्ष पर खिलने वाले 'विविध सुमन' कहा गया

† वाल्मीकि रामायण, बालकांड, सर्ग ६, श्लोक ५।

‡ वही, श्लोक २८।

है। एक ही वृक्ष पर खिलने वाले विविध पुष्पों को स्वतन्त्र विकास का पूरा-पूरा अवसर मिलता है। इसके साथ ही वे एक विशाल संगठन, वृक्ष, के अंग भी होते हैं। इस दृष्टि से उनकी कुछ सीमाएँ अथवा मर्यादाएँ भी हैं और दायित्व भी। ठीक इसी प्रकार अयोध्यावासी व्यक्तिगत विकास के लिए पूर्णतः स्वाधीन हैं परन्तु वे सामाजिक उत्थान और सार्वजनिक हित के लिए एक अनिवार्य अनुशासन में भी बँधे हैं। उनका स्वतन्त्र व्यक्तिगत विकास भी एकांगी नहीं है। उसमें विविधता है। 'विविध' शब्द इसका द्योतक है। पुष्प का पर्यायवाची 'सुमन' पौरजन के निर्मल मन का भी सूचक है। "समाज का आदर्श है परिवार-सदृश होना और परिवार का आदर्श है समाज के समान होना। 'साकेत' का समाज ऐसा ही है। विभिन्न व्यक्तियों से बना हुआ यह परिवार एक सम्पूर्ण समष्टि है।"

स्वस्थ शिक्षित .... आन्तरिक योगी सभी।

स्वस्थ, शिक्षित, सदाचारी और परिश्रमी, अयोध्या के नागरिक बाह्य रूप से संसार के सब भोगों में लीन दिखाई देते हुए भी आंतरिक रूप से उन सबसे उदासीन हैं।

योग की परिभाषा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था :

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(हे धनंजय, आसक्ति को त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्मों को कर। यह समत्वभाव ही योग नाम से पुकारा जाता है†)।

मैथिलीशरण जी ने भी अन्यत्र लिखा है :

निज इष्ट-साधन के लिए संसार धारा में बहे,
पर नीर से नीरज सदृश उससे अलिप्त बना रहे।‡

और—

तन से सब भोगों का भोग,
मन से महा अलौकिक योग।
पहले संग्रह का संयोग,
स्वयं त्याग का फिर उद्योग।
अद्भुत है तेरा उद्देश,
मेरे भारत! मेरे देश!¶

† श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ४८।
‡ श्री मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ वध, पृष्ठ ५५।
¶ श्री मैथिलीशरण गुप्त, स्वदेश संगीत, पृष्ठ १५।

'बाह्य भोगी' और 'आन्तरिक योगी' अयोध्यावासी इसी आदर्श के साकार रूप हैं।

व्याधि की बाधा ··· ··· ··· ··· ··· प्राप्त जीवन के लिए।

अयोध्यावासियों के शरीर व्याधि (अथवा शारीरिक रोगों) की बाधा से मुक्त हैं, मन आधि (अथवा मानसिक क्लेश) की शंका से रहित हैं और धन के लिए चोर की चिन्ता नहीं। इस प्रकार अयोध्यावासियों को जीवन के समस्त सुख प्राप्त हैं।

यहाँ व्याधि के साथ 'बाधा', आधि के साथ 'शंका' और चोर के साथ 'चिन्ता' का प्रयोग किया गया है। शरीर रोगी हो तो प्रत्येक काम में बाधा पड़ जाती है। आधि की शंका या संभावना ही नहीं अतः उसकी उपस्थिति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। चोर की चिन्ता नहीं है। तन, मन और धन सब प्रकार से सुरक्षित होने के कारण अयोध्यावासियों को जीवन के समस्त सुख पूर्णतः प्राप्त हैं।

एक भी आंगन नहीं ऐसा ··· ··· ··· ··· ··· गोशाला न हो?

अयोध्या में एक भी आंगन ऐसा नहीं, जहां शिशुओं की मनोहर बाललीला न होती हो। ऐसा भाग्यहीन घर कौन सा है (कोई नहीं है), जिसके साथ घोड़े और गाय के लिए स्थान न बना हो?

"उपर्युक्त उद्धरण में 'शिशु न करते हों कलित क्रीड़ा जहाँ" और 'साथ जिसके अश्व-गोशाला न हो', इन बातों ने गृहस्थ का बाह्य-चित्र पूर्ण कर दिया है।"†

"साकेत का वर्णन एक अत्यन्त समृद्धिशाली नगरी का वर्णन है, जिसमें प्रत्येक आँगन में शिशुओं की अनिवार्य कलित क्रीड़ा और आधि-व्याधि की पूर्ण शान्ति से आदर्श की गन्ध आ गयी है।"‡

धान्य-धन परिपूर्ण ··· ··· ··· ··· आनन्द लोकोत्तर भला?

सबके घर धन-धान्य से परिपूर्ण हैं। घरों की सजावट रंगशाला के समान है। इन घरों में निवास करने वालों की योग्यता और नयी-नयी कलाएँ उन्हें अलौकिक आनन्द क्यों न दें?

घरों की सजावट रंगशाला के समान बतायी गयी है। रंगशाला में योग्य पात्र अभिनय सम्बन्धी नयी-नयी कलाओं द्वारा लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करते हैं। घरों में नागरिकों की सुपात्रता और नयी-नयी कलाओं में उनकी प्रवीणता उसी प्रकार लोकोत्तर आनन्द का सृजन कर रही है।

---

† डा० नगेन्द्र, साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ २४।

‡ श्री विश्वम्भर 'मानव', खड़ी बोली के गौरव ग्रंथ, पृष्ठ १७६।

ठाठ है सर्वत्र घर .... बाहर नाट्य हैं।

घर हो या घाट, सब ओर ठाठ ही ठाठ है। जान पड़ता है, मानो यहाँ तो सांसारिक ऐश्वर्य की देवी ने एक अनोखी हाट लगा रखी हो। मार्ग जल से सिंचे हुए, मधुर झङ्कार से झंकृत और अकाट्य हैं। अयोध्यावासियों के घर मानों नेपथ्य हैं और बाहर का भाग नाट्यशाला है।

नेपथ्य नाट्य-गृह का वह भाग होता है, जहाँ पात्र अपने अभिनय के अनुरूप अपने को सजाते हैं। सजकर वे अभिनय के लिए रंग-मंच अथवा नाट्यशाला पर आते हैं। साकेतकार ने अयोध्या के घरों को 'नेपथ्य' कहा है। इन्हीं घरों में रहकर तो अयोध्यावासी भाँति-भाँति के गुणों का अर्जन करके अपने को संसार की नाट्यशाला के उपयुक्त बनाते हैं। घर का बाहर का भाग 'नाट्यशाला' है, जहाँ वे घर में अर्जित गुणों का प्रदर्शन करते हैं। घर का यह कितना हृदयग्राही रूप है! इसीलिए तो यह घर सुघर हैं, सुन्दर और सुखमय हैं।

अलग रहती हैं सदा ही ... ... प्रीतियाँ।

(कृषि-सम्बन्धी) सूखा आदि उपद्रव सदा अयोध्या से दूर ही रहते हैं। भांति-भांति के भय भी अयोध्या में कोई स्थान न पा सकने के कारण शून्य में ही भटकते रहते हैं। यहां रीतियां और नीतियां अन्योन्याश्रिता हैं (नीतियों का पालन उचित रीति से ही होता है और रीतियों का नीतिपूर्वक) और राजा और प्रजा का पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध सर्वथा पूर्ण है।

ईतियां—खेती को हानि पहुँचाने वाले उपद्रव। ये छः प्रकार के हैं-अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी पड़ना, चूहे लगना, पक्षियों की अधिकता, दूसरे राजा की चढ़ाई।

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। इस दृष्टि से देखने पर 'अलग रहती हैं सदा ही ईतियाँ' का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। 'पूर्ण है राजा-प्रजा की प्रीतियाँ' द्वारा तत्कालीन राजा-प्रजा-संबंध का निरूपण किया गया है।

गोस्वामी जी ने भी लिखा है :

दसरथ राज न ईतिभय, नहिं दुख दुरित दुकाल।
प्रमुदित प्रजा प्रसन्न सब, सब सुख सदा सुकाल॥

पुत्र रूपी चार फल ... ... अभिषेक हो।

महाराज दशरथ ने चार पुत्रों के रूप में चारों फल (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) प्राप्त कर लिये। अतः अब उन्हें कुछ और पाना शेष नहीं रहा। अब तो एक यही संकल्प पूरा होना बाकी है कि श्री रामचन्द्र का अभिषेक शीघ्र

सम्पन्न हो जाए।

महाकवि कालिदास ने भी राम-बन्धुओं की तुलना धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के साथ की है :

स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवांगभाक् ॥†

"'साकेत' का आरम्भ राम-चरित के अयोध्याकांड से किया गया है, जब विवाह के उपरान्त रामचन्द्र के अभिषेक की तैयारी की जाने लगी है। बालकांड की कथा का त्याग कर देने की उपयोगिता यह है कि उसके कुछ रसमय अंश वियोगिनी ऊर्मिला के विरह-वर्णन में उद्दीपन बनाये गये हैं। दूसरी ओर प्रधान उपयोगिता यह है कि कवि का आशय आरम्भ से ही प्रकट हो जाता है कि वह रामायण की बाल-लीलाओं को छोड़कर काव्य में ऊर्मिला और लक्ष्मण के चरित्रों को प्रमुखता देना चाहता है। आरम्भ से ही यह संकेत मिलने लगता है कि 'साकेत' महाकाव्य के आवरण में प्रेम-काव्य बनना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही राम-चरित का सम्पूर्ण बालकांड निकाल कर प्रेम-कथा का श्रीगणेश किया गया है। बालकांड के अभाव से 'साकेत' की प्रेम-कथा शिथिल न हो कर संक्षिप्त और प्रभावशालिनी हो गयी है। बालकांड के निराकरण से 'साकेत' के कवि का यह आशय प्रकट है कि वह काव्य को घटना-प्रधान नहीं बनाना चाहता, वर्णन-प्रधान बनाना चाहता है। संक्षेप में, कवि का आशय वर्णन-प्रधान प्रेम-काव्य लिखने का स्पष्ट है परन्तु इसके साथ ही वह पूरे राम-चरित का आनुषंगिक वर्णन भी करना चाहता है। इन दोनों लक्ष्यों का समन्वय करने में कवि को सफलता नहीं मिल सकी है।"‡

सूर्य का यद्यपि नहीं ··· ···· ···· ···· ··· ढीले पड़ चले ।

यद्यपि अभी पूर्णतया सूर्य का उदय तो नहीं हुआ है तथापि रात को तो समाप्तप्राय ही समझना चाहिए। कारण स्पष्ट है : रात के अंग पीले पड़ने लगे हैं (उसकी शक्ति नष्टप्राय हो गयी है) और उसके सुन्दर रत्नाभरण (तारे) भी ढीले पड़ चले हैं।

सूर्योदय में अभी विलम्ब है परन्तु रात की कालिमा विलीन होती जा रही है। एक हलका सा पीलापन उसका स्थान ले रहा है। कवि की कल्पना है कि इसका कारण रात्रि का निर्जीव होना है (निर्जीव प्राणी पीला पड़ जाता है)। टिमटिमाते हुए तारों में भी अब वह ज्योति दिखाई नहीं देती।

---

† रघुवंश, सर्ग १०, श्लोक ८४।

‡ श्री नन्द दुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ ४२, ४३।

रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहरों में तारों को ध्यान से देखने पर 'रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले' की यथार्थता का अनुभव भली प्रकार किया जा सकता है।

"उपर्युक्त अवतरण में रात्रि के अंगों का पीला पड़ना और उसके रम्य रत्नाभरणों (तारों) का ढीला पड़ना, नींद के पैरों का काँपना, दीपक की ज्योति का एक घेरे में घिरी हुई रह जाना—सभी बातें कवि के सूक्ष्म अन्वीक्षण और चित्रमयी कल्पना की साक्षी हैं परन्तु चित्र में एकता नहीं है। उसकी गठन में बड़े भद्दे जोड़ हैं, जो 'आना हुआ', 'जाना हुआ' 'क्योंकि' आदि शब्दों से स्पष्ट हैं।†

एक राज्य न हो ··· ···· ··· ··· ···· जब, तब मिटा।

एक संयुक्त राज्य के अभाव में (बहुत-से छोटे छोटे राज्य होने पर) राष्ट्र की शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। जब तक बहुत से तारे थे, उस समय तक (उनका प्रकाश असंख्य खंडों में बँटा होने के कारण) अँधेरा न मिट सका था परन्तु (पुंजीभूत प्रकाश) सूर्य के आगमन के साथ ही साथ अन्धकार नष्ट हो गया।

राष्ट्रकवि ने यहाँ प्रकृति के माध्यम द्वारा राष्ट्र की शक्ति के मूल-स्रोत—राष्ट्र की एकता पर प्रभावोत्पादक ढंग से प्रकाश डाला है।

नींद के भी पैर हैं ··· ··· ···· ··· ··· मुस्कराहट छा गई।

नींद के पैर काँपने लगे। उसके कुमुद रूपी नेत्र झँपने लगे। उषा सब शृङ्गार करके आ गयी। उसके कमल रूपी मुख पर मुस्कराहट छा रही है।

'नींद के पैर कंपने लगे' में नींद पर मानवीय गुणों का आरोप है। रात्रि का अन्त होते-होते कुमुद (एक प्रकार का श्वेत फूल, जो रात में खिलता है) बन्द हो जाते हैं। अभी पूर्णतः प्रभात नहीं हुआ है अतः कुमुद न तो पूर्णतः बन्द हैं और न खुले हैं, वे झँप रहे हैं। प्रातःकाल होने पर कमल खिल जाते हैं, सजी संवरी उषा को देखकर किसका मुख प्रसन्नता से नहीं खिल उठता?

पक्षियों की चहचहाहट ··· ···· ···· ···· ···· खुल उठे।

पक्षी चहचहाने लगे। जागरण के अधिकाधिक लक्षण प्रकट होने लगे। स्वप्नों के रङ्ग घुलने लगे और प्राणियों के नेत्र कुछ-कुछ खुलने लगे।

'साकेत' के प्रभात-वर्णन में एक विशेष क्रम दृष्टिगोचर होता है। 'रात के अंग पीले पड़ना' तथा उसके 'रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ना', सूर्य का आगमन सुनकर 'नींद के पैर काँपना', 'लोचन कुमुद का झंपना', 'वेष भूषा सजाकर उषा का आना'

† साकेत—एक अध्ययन, पृ० १६०

और 'मुख कमल पर मुस्कराहट छा जाना', यह सब कुछ एक विशेष क्रम के अनुसार ही हुआ है, जो सर्वथा प्राकृतिक है।

अब जागरण की ओर अगले पग हैं—पक्षियों का चहचहाना, पहले से ही परोक्ष रूप से अपना कार्य करने वाली चेतना की आहट अधिक होना और स्वप्नों के रंग घुलना, वे स्वप्न मानो अब विलीन हो गये। तन्द्रा की अवस्था समाप्त हुई और प्राणियों के नेत्र कुछ-कुछ खुलने लगे।

दीप-कुल की ···· ···· ···· ··· ··· गुरुजन-निकट संकोच है।

दीपकों का प्रकाश क्षीण हो चला। वह प्रकाश एक घेरे में सिमट कर रह गया है। सूर्य आ रहा है न, किन्तु चिन्ता की क्या बात है? गुरु-जन के निकट संकोच उचित ही है।

उषा-काल में दीपकों के प्रकाश का क्षीण हो जाना और उस प्रकाश का एक घेरे में सिमट जाना कवि के सूक्ष्म पर्यवेक्षण और भावमयी कल्पना का प्रमाण है। इतना ही नहीं, गुप्तजी तो इसका कारण खोजने का भी प्रयत्न करते हैं। सूर्य आ रहा है। अपने गुरुजन का आगमन सुनकर संकोचवश दीपक का प्रकाश सिमट कर एक घेरे में आ गया है। हिन्दू संस्कृति के अनन्य उपासक की लेखनी से चित्रित यह शब्द-चित्र कितना भावपूर्ण है!

हिम-कणों ने है ···· ···· ··· ··· ···· सर्वांग में मलने लगा।

जिसे हिम-कणों ने शीतलता दी है और सुगन्धि ने जिसे नवीन शक्ति प्रदान की है, वही पवन प्रेम के कारण पागल होकर चलने लगा है और अपने सारे शरीर में पुष्प-पराग मल रहा है।

प्रातःकालीन पवन में शीतलता होती है, एक नवीन शक्ति होती है, चंचलता होती है। ये पवन के प्राकृतिक गुण हैं। यह चंचल पवन परिमल-युक्त भी होता है। कवि की कल्पना है कि प्रेम में पागल होने के कारण ही पवन अपने शरीर पर धूल मल लेता है (यहाँ 'रज' श्लिष्ट शब्द है। इसका अर्थ है 'पुष्प-पराग' और 'धूल') पागल के लिए निरुद्देश्य भाव से घूमना और सारे शरीर पर धूल मलना स्वाभाविक ही है।

प्यार से अंचल पसार हरा-भरा ··· ··· ··· ···· ···· रोष के।

प्यार से अपना हरा-भरा अंचल फैला कर पृथ्वी (ओस बिन्दुओं के रूप में आकाश से) तारे खींच लायी है। अपने कोष के रत्न इस प्रकार छिन जाने के कारण आकाश क्रोध के शून्य रंग दिखा रहा है।

आकाश का रंग कुछ मटियाला है। कवि की कल्पना है कि अपनी सम्पत्ति

छिन जाने पर आकाश इस प्रकार शून्य अथवा अभाव के से भाव व्यक्त कर रहा है।

ठौर ठौर प्रभातियाँ ... ... पीते हैं जिसे ?

स्थान-स्थान पर प्रभातियां गायी जा रही हैं। इस प्रकार आलस्य-जन्य ग्लानि समाप्त हो रही है। इस मनमोहक राग को 'भैरव' राग कौन कहता है जिसे प्राण कानों के प्यालों द्वारा पी रहे हैं ?

प्रभाती प्रायः 'भैरव राग' में गायी जाती है। प्रभात के सुरम्य वातावरण में मोहक स्वरों में गाये जाने वाले इस राग को भैरव (भयंकर) क्यों कहा जाता है ? यहाँ कवि व्यंग्य द्वारा यह स्पष्ट कर रहा है कि 'भयंकर' नाम होने पर भी इस राग में भयंकरता नहीं है। प्रसंगवश 'भैरव' नाम के अनौचित्य की ओर भी संकेत कर दिया गया है। ('भैरव' यहाँ दो अर्थों का द्योतक श्लिष्ट शब्द है; अर्थ हैं — 'भयंकर' और 'भैरव राग'।)

दीखते थे रंग जो धूमिल ... ... लिप-पुत गये।

जो रङ्ग अब तक धुंधले से दिखाई देते थे, वे सब स्पष्ट हो गये हैं। सारथि अरुण से युक्त सूर्य के रथ में लाल घोड़े जुत गये हैं (सूर्योदय हो गया है)। ऐसा जान पड़ता है मानो (सब ओर सूर्य का प्रकाश फैलने के कारण) सारे संसार के घर-बार लिप-पुत गये हों (उन पर सफेदी-सी हो गयी हो)।

सजग जन-जीवन उठा ... ... सब कहीं।

थकान खोकर सब जाग गये। जन-जीवन की इस सजगता के सामने मृत्यु तो जड़-सी जान पड़ती है। स्थान-स्थान पर दही विलोयी जा रही है और स्वाध्याय तथा शास्त्र-मंथन हो रहा है। सब के तन और मन पुलकित और तृप्त हैं।

सूर्योदय के साथ ही साथ जन-जीवन सजग हो गया। मनुष्य ही नहीं जगे, जीवन जाग उठा। 'विश्रान्त' शब्द भी साभिप्राय है। 'विश्रान्त' का अर्थ है 'जो थकान उतार चुका हो'। 'अलसता की ग्लानि' पूर्णतया धुल चुकी है। अतः जन-जीवन विश्रान्त हो गया है; इसी जीवन के सामने तो मरण जड़-सा जान पड़ता है।

एक ओर दधि-विलोड़न हो रहा है और दूसरी ओर शास्त्र-मंथन। प्रथम शरीर की तृप्ति के लिए अनिवार्य है और द्वितीय मन की संतुष्टि के लिए। फलतः दूध, दही, मक्खन आदि से शरीर स्वस्थ एवं पुलकित हैं और शास्त्र-मंथन द्वारा प्राप्त नवनीत से मन तृप्त हैं।

खुल गया प्राची दिशा का ... ... सुहाग है।

पूर्व-दिशा का द्वार खुल गया है। क्या आकाश सागर में ज्वार उठ रहा

है ? यह पूर्व के ही भाग्य का एक अंश है अथवा नयति का राग भरा सौभाग्य !

प्राची (पूर्व) का वर्णन करते-करते राष्ट्र कवि का हृदय भाव-विभोर हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग इसका एक उदाहरण है । 'वैतालिक' में तो स्थान-स्थान पर ऐसे उदाहरण मिलते हैं :

प्राची का है काम यही, कि वह जागरित करे मही,
निद्रा का अवसान करे, ज्योति जगत को दान करे।†

o o

यह सोने की मूर्ति उषा, नव स्फूर्ति की पूर्ति उषा.
जगा रही है, जगो जगो, कर्त्तव्यों में लगो लगो !
वह ललाट-सिन्दूर अहा, देखो कैसा दमक रहा,
नभस्थली सौभाग्यवती, देख रही है बाट सती !‡

अरुण किरण लेखाएं ये, पूर्व-भाग्य-रेखाएं ये,
सुवर्णार्थ पात्राएं ये, गूढ़ाक्षर मात्राएं ये !
छन्दो रचनाएं रवि की, कविताएं अनन्त कवि की,
आहुतियाँ अनादि हवि की, छुटी छटाएं हैं छवि की !¶ आदि

अरुण-पट पहने ... ... कर रहीं ।

(सुख, समृद्धि और सौन्दर्य के रम्य-लोक—साकेत में उषा का उदय होता है और इसी उषा-काल में अवध के राज-प्रासाद में अरुण पट पहने खड़ी हुई एक बाला के दर्शन होते हैं।)

अरुण वस्त्र धारण किए प्रसन्न मुद्रा में यह कौन बालिका राजमहल में खड़ी है ? कहीं इस बालिका के रूप में स्वयं उषा ही तो प्रकट नहीं हो गयी है ? (इसके शरीर में से प्रस्फुटित होने वाली) सौन्दर्य की (प्रकाश) किरणें चारों ओर प्रकाश बिखेर रही हैं ।

सौभाग्यवती ऊर्मिला के वस्त्र लाल रंग के हैं। 'अरुण-पट' द्वारा उषा के साथ ऊर्मिला का साम्य भी प्रकट किया गया है । आह्लाद का रंग भी अरुण माना जाता है । 'आह्लाद में' द्वारा ऊर्मिला की जीवन के सन्तोष एवं तृप्ति से

† श्री मैथिलीशरण गुप्त, वैतालिक, पृ० ४ ।
‡ वही, पृ० ८, ९ ।
¶ वही, पृ० १४ ।

उत्पन्न प्रसन्नता अभिव्यक्त की गयी है, 'बाला' द्वारा उसकी नव वय का निरूपण है।

यह सजीव सुवर्ण की ··· ··· ···· ···· ··· कल्प-शिल्पी की कला !

जान पड़ता है कि स्वर्ण की सजीव एवं नवीन इस मूर्ति का निर्माण विधाता ने अपने हाथ से ही किया है। स्वर्ण-लतिका के समान (सुन्दरी) होकर भी यह कमल के समान कोमला है। (इस मूर्ति का निर्माण करने वाले) कल्प-शिल्पी (विधाता) की कला धन्य है !

अतीव सुन्दरी होने के कारण ऊर्मिला को 'स्वर्ण-प्रतिमा' कहा गया है। ('सुवर्ण' में श्लेष है। अर्थ है अच्छा रंग और सोना)। प्रतिमा में जड़ता का भाव न रहे इसी उद्देश्य से विशेषण रूप में 'सजीव' का प्रयोग है। इस प्रतिमा का निर्माण विधाता ने अपने आप अत्यन्त चाव से किया है। इतना ही नहीं, इस कृति से तो उस कल्प-शिल्पी की कला भी धन्य हो गयी है।

जान पड़ता नेत्र देख ··· ···· ···· ···· ···· हैं घने।

इसके बड़े-बड़े नेत्र देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो हीरों में गोल नीलम जड़े हों। इसके लाल होंठ मानो माणिक से निर्मित हैं और इसके दांतों का निर्माण मोतियों से किया गया है।

नेत्र देख बड़े बड़े : बड़े नेत्र सुन्दर माने जाते हैं :

लोचन बिसाल, देखि मोहे गिरधरलाल,
आज तुही बाल तीनि लोक में रसाल है। —सेनापति

ऊर्मिला की पलकों का निर्माण (सफेद) हीरक से, पुतली का गोल नीलम से, लाल होंठों का लाल पद्मराग से और दाँतों का निर्माण स्वच्छ एवं धवल मोतियों से किया गया है।

और इसका हृदय ··· ···· ···· ···· ···· वित्त से ?

और इसका हृदय किस वस्तु से बना है ? उसका निर्माण तो हृदय से ही हुआ है। प्रेम परिपूर्ण उस सरस और कोमल हृदय की तुलना और किस मूल्यवान् पदार्थ से की जा सकती है !

ऊर्मिला के अंग-प्रत्यंग की तुलना के साधन तो कवि ने जुटा लिये परन्तु उसके हृदय की समानता किससे बतायी जाए ? वह हृदय तो अनुपम है। उसकी समता किसी भी मूल्यवान् पदार्थ के साथ नहीं की जा सकती।

शाण पर सब अंग ··· ··· ··· ··· ··· आरुण्य है।

इसके शरीर के प्रत्येक अंग की सुडौलता देख कर ऐसा जान पड़ता है, मानो ये सब अंग शाण पर चढ़ चुके हैं और भली प्रकार गढ़े जाने के उपरान्त

ही इनमें प्राण-प्रतिष्ठा की गयी है। अभी (वयः सन्धि के कारण शैशव में) यौवन झलकता आ रहा है, फलतः इसके नैसर्गिक गौर-वर्ण में (यौवन की) अरुणिमा आकर मिल गयी है।

'शाण पर सब अंग मानो चढ़ चुके' द्वारा ऊर्मिला के अंगों की सुडौलता और तीखापन (Sharpness) अभिव्यक्त किया गया है। कल्प-शिल्पी ने अपनी रचना से पूर्णतः सन्तुष्ट होकर और उसे 'शाण पर चढ़ा कर' ही मानो उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की है।

यौवन के प्रवेश-द्वार पर खड़ी इस बाला की नैसर्गिक गुराई में तो वही आरुण्य झलक रहा है जिसकी ओर संकेत करते हुए अन्यत्र बिहारीलाल ने कहा था :

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग,
दीपति देह दुहून मिलि, दिपति ताफता रंग।†

लोल कुंडल मंडलाकृति ···· ···· ··· ••• ··· द्युति-भरी।

इसके कानों में पड़े चंचल कर्णभूषण (कुण्डल) घेरे के समान गोल आकार वाले हैं। केश बादलों के समूह के समान और गाल कुंकुम वर्ण के हैं। यह सुन्दरी बालिका जिस ओर भी देख लेती है, उसी ओर चमक से भरी बिजली सी कौंध जाती है।

हैं करों में भूरि भूरि ···· ···· ···· ···· ···· बन गई।

इसके हाथों में असंख्य भलाइयां हैं, अन्यथा (कोमल होने के कारण) क्या इसकी कलाइयां लचक न जातीं? मणियों से जड़ी चूड़ियों के लिए इसके शरीर की शोभा ही शुद्ध स्वर्ण बन गयी है।

'भूरि भूरि भलाइयाँ' द्वारा भलाइयों की असंख्यता का स्पष्ट निर्देश है। इन्हीं भलाइयों की शक्ति (भार) ने कलाइयों को लचक जाने से बचा लिया है। इस प्रकार एक ओर तो कलाइयों की कोमलता व्यक्त की गयी है और दूसरी ओर शारीरिक कोमलता (सौन्दर्य) के साथ ही साथ मानसिक एवं चारित्रिक सौन्दर्य (भलाइयाँ) का भी सफलतापूर्वक प्रतिपादन हो गया है। तभी तो ऊर्मिला के अंग की आभा शुद्ध स्वर्ण बन गयी है; मणिमयी चूड़ियों में से उसकी कलाइयों की आभा कुन्दन की भाँति दमक रही है।

† बिहारी सतसई, दोहा ७०

एक ओर विशाल दर्पण .... इसकी कला ?

उधर एक बहुत बड़ा दर्पण है जिसमें एक ओर से प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। देवालय में बैठी यह कौन देवी है ? इसकी कला किस पुण्यात्मा के लिए है ?

'मन्दिरस्था कौन यह देवी भला ?' इसी 'देवी' शब्द को लेकर आगे चलकर ऊर्मिला और लक्ष्मण में पर्याप्त नोक-झोंक होती है :

ऊर्मिला : *देव होकर तुम सदा मेरे रहो,*
और देवी ही मुझे रक्खो अहो !

लक्ष्मण : *तुम रहो मेरी हृदय-देवी सदा*
मैं तुम्हारा हूं प्रणय सेवी सदा।† आदि

'किस कृती के अर्थ है इसकी कला' में भाव यह है कि कोई पुण्यात्मा ही इस नारी-रत्न का उपभोग कर सकता है। तभी तो आगे चलकर स्वयं लक्ष्मण ने स्वीकार किया है :

धन्य जो इस योग्यता के पास हूं।‡

स्वर्ग का यह सुमन धरती पर ... ... ला रही।

स्वर्ग का यह पुष्प धरती पर खिला है। इसका 'ऊर्मिला' (तरंगित होने वाली) नाम सर्वथा सार्थक एवं उचित ही है। इस पुष्प में से सदाचार रूपी सुगन्ध की लहरें आ रही हैं जो इस संसार-सागर में दिव्य भावों की सृष्टि कर रही हैं।

स्वर्ग के इस सुमन की ओर से राम-कथा के अन्य गायक उदासीन रहे हैं 'साकेत' के कवि ने अपने महाकाव्य में इसी के शील-सौन्दर्य का अत्यन्त विशद वर्णन किया है। "उषा काल में अरुण पट पहने हुए उषा सी कमनीय ऊर्मिला का सौन्दर्य अपूर्व है। इस कनकवर्णी तरुणी के हीरकों में जड़े गोल नीलम से बड़े बड़े नेत्र, पद्मराग से अधर, मोतियों से दाँत, घन-पटल से केश तथा कांत कपोल उसके रूप को अनिंद्य बना रहे हैं। वह ललित कलाओं, चित्र, गान, नृत्य में दक्ष तथा शिष्ट साहित्यिक व्यंग्यपूर्ण परिहास करने में पटु है। उसके शरीर में यौवन की उमंग है और मन में प्रेम का आवेग। ऊर्मिला एक साथ ही मानमयी, प्रेममयी, विनोदमयी तथा भक्तिमयी है।"¶

† साकेत, सर्ग १।
‡ वही।
¶ श्री विश्वम्भर 'मानव', खड़ी बोली के गौरव ग्रन्थ, पृ० १७३–७४।

सौधसिंहद्वार पर अब भी वही ···· ···· ···· ··· शरीर है ।

राज–महल के मुख्य द्वार पर अब भी उसी मधुर स्वर में बांसुरी बज रही है। पिंजरे में बैठा, अत्यन्त सुन्दर शरीर वाला तोता उसी स्वर की नकल कर रहा है।

'वही' शब्द द्वारा कदाचित् बाँसुरी के उस स्वर की ओर संकेत है जिसका उल्लेख कवि इससे पूर्व कर चुका है :—

वायु की गति गान देती है उन्हें,
बांसुरी की तान देती है उन्हें।†

ऊर्मिला ने कीर सम्मुख दृष्टि ··· ··· ···· ··· ···· सृष्टि की ।

ऊर्मिला ने तोते की ओर दृष्टि घुमाई मानों उसने वहां दो खंजनों की ही सृष्टि कर दी हो।

मौन होकर कीर तब ··· ···· ··· ···· ··· स्थित हुआ ।

(ऊर्मिला का सौन्दर्य देख कर अथवा उसके नेत्रों के रूप में दो खजन पक्षियों को अकस्मात् वहां देख कर) तोता भी मौन होकर आश्चर्यचकित हो गया और वह एक टक उसकी ओर देखता का देखता रह गया।

खंजन एक पक्षी होता है जिसका आकार नेत्रों के समान होता है । इसीलिए प्रस्तुत प्रसंग में ऊर्मिला के नेत्रों को खंजन कहा गया है। अकस्मात् खंजन पक्षियों को देखकर तोते का मौन रह जाना, ऊर्मिला का उससे प्रश्न करना और उत्तर देने के लिए लक्ष्मण का वहाँ उपस्थित हो जाना कथा-प्रवाह को सम्यक् गति प्रदान करता है।

प्रेम से उस प्रेयसी ··· ··· ···· ··· ··· हो रहा ?

प्रेममयी ऊर्मिला ने प्यार भरे स्वर में तोते से कहा, "हे मधुर भाषी, तुम बोलते-बोलते चुप क्यों हो गये ?

मधुर-भाषी तोते के लिए 'सुभाषी' विशेषण कितना उपयुक्त है !

पार्श्व से सौमित्रि आ पहुँचे ··· ···· ··· ··· ··· कौन है ।'

उसी समय समीप से निकल कर लक्ष्मण वहां आ उपस्थित हुए और (तोते से पूछे गये ऊर्मिला के प्रश्न का उत्तर देते हुए) कहने लगे, "सुनो, इस प्रश्न का उत्तर मैं तुम्हें अभी देता हूं। तुम्हारे (अरुण) अधरों की आभा नाक में पहने हुए मोती तक फैल रही है। तोता तुम्हारी नाक के मोती को अनार का

† साकेत, सर्ग १

बीज (और तुम्हारी नाक को अन्य तोते की चोंच) समझ कर चुप हो गया है और सोच रहा है कि यह दूसरा तोता कहां से आ गया ?"

सौमित्रि 'पार्श्व' से ही आ पहुँचे, मानो वह पहले ही से अत्यन्त समीप ही उपस्थित थे और छिपे-छिपे ऊर्मिला की रूप-छटा निहारते हुए प्रकट होने के उचित अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। 'बता दूँ मैं अभी' से भी इसकी पुष्टि होती है। लक्ष्मण ने मानो ऊर्मिला के सामने आने से पहले ही उसके प्रश्न का उत्तर भी सोच लिया था।

अनार का दाना कुछ लाली लिए सफेद होता है, अरुण होठों की कान्ति से प्रभावित धवल मोती में तोते को अनार के दाने की भ्रान्ति हो रही है।

कवि प्रायः सुन्दर नाक की तुलना तोते की चोंच से करते हैं ("भौंह भ्रमर नासापुट सुन्दर से देखि कीर लजाई"—विद्यापति) ऊर्मिला की नाक में पड़ा मोती ऐसा जान पड़ता है मानो किसी तोते ने अपनी चोंच में अनार का दाना पकड़ा हुआ हो। इसी 'अन्य शुक' को देखकर तोता मौन हो गया है।

यों वचन कहकर सहास्य ··· ··· ·· ··· ··· स्थिर चाल से।

प्रसन्नता और विनोद से भरा यह उत्तर देकर और अपने ही मन के उल्लास से मुग्ध होकर लक्ष्मण स्थिर चाल से आगे बढ़े और ऊर्मिला के पास आकर इस प्रकार खड़े हो गये जैसे कमलिनी के पास पहुँच कर हंस ठहर जाता है।

सौमित्रि को मन के मोद से 'मुग्ध' कहा गया है और मराल को 'मत्त'। प्रतिक्रिया लगभग एक ही (मराल का पद्मिनी के पास जाना और लक्ष्मण का ऊर्मिला के पास आना) होने पर भी मूल कारण का यह भेद लक्ष्मण के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा देता है। यहाँ लक्ष्मण 'मत्त' नहीं केवल 'मुग्ध' हैं। आगे चलकर एक स्थान पर लक्ष्मण कहते हैं :

क्यों न मैं भी मत्त गज सा झूम लूँ,
कर-कमल लाओ तुम्हारा चूम लूँ।

तभी ऊर्मिला कहती है :

मत्त गज बन कर विवेक न छोड़ना।†

अस्तु, प्रस्तुत प्रसंग में 'मुग्ध' और 'मत्त' का यह भेद सकारण है। 'स्थिर चाल से' में तो कवि ने मन के मोद से मुग्ध नायक का सम्पूर्ण चित्र ही प्रस्तुत कर दिया है।

†—साकेत, सर्ग १।

चारु-चित्रित भित्तियाँ भी वे ··· ···· ···· ···· ···· आँखों में खिला।

सुरुचिपूर्ण चित्रों से सजी महल की वे बड़ी-बड़ी दीवारें भी मानों खड़ी होकर एक टक देखती ही रह गईं, ऐसा जान पड़ता था कि ऊर्मिला और लक्ष्मण के रूप में प्रीति और आवेग का मिलन हो रहा था। फलस्वरूप दोनों के नेत्रों में हार्दिक उल्लास खिल रहा था।

'चारु चित्रित' में केवल अलंकार-योजना ही नहीं है। 'चारु' सुरुचि की प्रधानता का भी द्योतक है, चित्रों के चुनाव में सुरुचि एवं औचित्य का पूर्णतः ध्यान रखा गया है।

'देखती ही रह गईं मानो खड़ी' में हेतु उत्प्रेक्षा है।

प्रीति (स्त्रीलिंग) और आवेग (पुल्लिंग) का मिलन भी ध्यान देने योग्य है। कुछ समय पूर्व लक्ष्मण स्थिर चाल से चलते हुए ऊर्मिला के पास आये थे। वहाँ 'स्थिरता' में धैर्य का भाव था, यहाँ 'प्रीति' को सम्मुख पाकर धैर्य के स्थान पर 'आवेग' है, उमंग है, आतुरता है, पूर्ण तन्मयता है। यहाँ विलम्ब, पल भर के विलम्ब के लिए भी कोई स्थान नहीं क्योंकि—

A moment's thought is passion's passing-bell.

—*Keats*

एक पल का चिन्तन भी भावोद्रेक की समाप्ति का सूचक है—*कीट्स।*

'मुग्ध हो सौमित्रि मन के मोद से' में 'मुग्धता' का चित्र आँका गया है और 'हार्दिक हास आँखों में खिला' में वही मोद मानो खिल उठा है। प्रथम अवतरण का 'मन' दूसरे अवतरण में 'हृदय' बन जाता है, प्रथम का 'मोद' दूसरे के 'हास' में परिवर्तित हो जाता है। फलस्वरूप प्रथम का 'मुग्ध' दूसरे में 'खिला' का रूप धारण कर लेता है। स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि यदि भावनाओं के वैज्ञानिक अनुसन्धान में समर्थ है तो उसकी लेखनी में उस सूक्ष्म निरीक्षण को लिपि-बद्ध करने की अपूर्व क्षमता भी है।

मुस्करा कर अमृत ···· ··· ··· ···· ··· कब से लग गये ?"

मुस्कान के रूप में अमृत-वर्षा करके और सरसता में अधिक मधुर रस का संचार करती हुई ऊर्मिला बोली, "अजी तुम जग गये ? स्वप्न-निधि से तुम्हारी आंखें कब से लग गयीं ?"

आँखों में खिलने वाला हार्दिक हास ऊर्मिला के अधरों पर उतर कर मुसकान का रूप धारण कर लेता है। इस मुसकान में एक मधुर तीखापन है जो मानो

वाग्विनोद के लिए कटिबद्ध हो गया है। उसके मुख से निकलने वाला प्रथम शब्द 'अजी' इसका प्रमाण है। 'तुम जग गये' में केवल जागने का भाव न होकर हलका सा व्यंग्य भी है। लक्ष्मण के नेत्र तो 'स्वप्न-निधि' से लगे हुए थे न। इस दृष्टि से भी 'जग गये' का प्रयोग सप्रयोजन है।

"उनके (ऊर्मिला और लक्ष्मण के) मधुर वाग्विनोद से हमें ऊर्मिला के प्रेम, उसकी वाक्चातुरी एवं कलात्मक प्रकृति का परिचय मिलता है। उसके शब्दों में विदग्ध विनोद की मधुरता है। ऊर्मिला के चरित्र का यह रूप इस युग की एक विशेषता की ओर संकेत करता है। प्राचीन काव्य-नायिकाओं में हमें सर्वत्र एक गांभीर्य मिलता है। सीता, शकुन्तला, महाश्वेता आदि देवियाँ सभी गम्भीर प्रणय-प्रतिमाएँ है। उनके दाम्पत्य-जीवन में विनोद का स्थान न रहा हो, यह बात नहीं। परन्तु न जाने भारतीय शील के पुराने आदर्श के अनुसार अथवा किसी अन्य कारण से उनका विनोद 'केयमपरा' से आगे नहीं बढ़ा। इस युग में आकर शिक्षा और संस्कृति में बड़ा परिवर्तन हो गया है। वाक्चातुर्य आधुनिक समाज के शिष्टाचार का एक स्पृहणीय गुण है। अतः हमें ऊर्मिला में आधुनिक युग के प्रभाव की झलक मिलती है। ऊर्मिला की प्रतिभा में वाग्वैभव और कला दोनों का बड़ा सुन्दर समावेश है।"

—डा० नगेन्द्र

मोहिनी ने मन्त्र पढ़ जब से ··· ··· ··· ···· ···· जब से हुआ।"

लक्ष्मण ने उत्तर दिया, "जब से मोहिनी ने मन्त्र पढ़ कर छुआ और तुम्हें जागरण रुचिकर हो गया।"

जादूगरनियाँ मन्त्र पढ़कर जिस व्यक्ति को छू देती हैं वह सुप्तप्राय अथवा संज्ञाहीन हो जाता है। लक्ष्मण कहते हैं कि उनके नेत्र स्वप्न-निधि से नहीं लगे हैं अपितु मोहिनी (ऊर्मिला) के जादू के कारण ही उनकी यह दशा हो गयी है।

यह तो हुआ शंका-निवारण, परन्तु चोट पर चोट होना भी तो आवश्यक है। लक्ष्मण चोट करते हैं:

जागरण रुचिकर तुम्हें जबसे हुआ।

'जागरण' पुल्लिंग शब्द है, यह ऊर्मिला द्वारा प्रयुक्त 'स्वप्न-निधि' (स्त्री लिंग) शब्द की होड़ पर प्रयुक्त किया गया है।

गत हुई संलाप में बहु रात ·· ···· ···· ·· ···· बात थी।

प्रेम-संलाप में निमग्न होने के कारण पिछली रात को वे बहुत देर तक जागते रहे थे। इस समय आपस में, पहले सोकर उठने के विषय को लेकर ही बातचीत चल रही थी।

"जागरण है स्वप्न से अच्छा ··· ···· ··· ··· मुझे रक्खो अहो।"

ऊर्मिला—जागरण स्वप्न से कहीं अच्छा है!

लक्ष्मण—प्रेम में कुछ भी बुरा नहीं होता।

ऊर्मिला—प्रेम की इस अनोखी रुचि की सराहना ही करनी चाहिए परन्तु क्या योग्यता की कुछ आवश्यकता नहीं?

लक्ष्मण—प्रिये, तुम्हारी योग्यता, तुम्हारी मोहित करने वाली छवि, तुम्हारी सुन्दरता और मनोहरता सब धन्य हैं। इस योग्यता के समीप होने के कारण मैं भी धन्य हूं, परन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास ही हूं।

ऊर्मिला—तुम दास बनने का बहाना क्यों कर रहे हो? क्या स्वयं 'दास' बनकर मुझे 'दासी' कहाना चाहते हो? तुम तो सदा मेरे 'देव' ही बने रहो और मुझे 'देवी' ही बनाए रक्खो।

मानगर्विता ऊर्मिला के इन शब्दों में एक मधुर गर्व—प्रेम दर्प—निहित है।

ऊर्मिला यह कह तनिक चुप हो रही ···· ···· ··· प्रणय सेवी सदा।"

ऊर्मिला यह कह कर कुछ क्षण के लिए (उत्तर की प्रतीक्षा में) चुप हो गयी। तब लक्ष्मण ने कहा, "अच्छा यही सही, तुम सदा मेरी हृदय-देवी (आराध्या) बनी रहो और मैं सदा तुम्हारा प्रणय-सेवी (भक्त) बना रहूं।"

ऊर्मिला ने लक्ष्मण को 'देव' बना कर स्वयं 'देवी' बनने की इच्छा प्रकट की थी। लक्ष्मण ने ऊर्मिला को 'देवी' बना लिया और अपने को 'भक्त'! परस्पर एक दूसरे के महत्व की प्रतिष्ठा दाम्पत्य-सुख का रहस्य है। इसी सत्य का यहाँ सफल प्रतिपादन है।

फिर कहा, "वरदान भी ··· ··· ···· ···· मान भी दोगी मुझे?"

लक्ष्मण ने फिर कहा, "परन्तु तुम देवी बन कर मुझे वरदान भी दोगी? मानिनी, मुझे तुमसे कुछ मान भी प्राप्त हो सकेगा?"

ऊर्मिला बोली कि यह क्या ···· ···· ··· ···· कर्म है!"

ऊर्मिला बोली, "क्या यह धर्म है? कर्म तो निष्काम भाव से ही किया जाना चाहिए।"

ऊर्मिला के हृदय में लक्ष्मण के प्रति अगाध श्रद्धा और असीम प्रेम है परन्तु यह कोई कहने की बात तो नहीं है। इसीलिए तो लक्ष्मण के प्रश्न के उत्तर में वह अपनी श्रद्धा-निधि का प्रदर्शन करने के स्थान पर एक सर्वथा नवीन स्थिति

उत्पन्न कर देती है :

कामना को छोड़ कर ही कर्म है।

इस प्रकार लक्ष्मण मानो अपने बिछाए जाल में स्वयं ही फँस जाते हैं।

"किन्तु मेरी कामना छोटी-बड़ी ···· ··· ··· ··· आश्रितवत्सले !"

लक्ष्मण ने कहा, "परन्तु मेरी तो छोटी-बड़ी (सब) कामनाएँ तुम्हारे चरण-कमलों में ही पड़ी हैं। हे आश्रितवत्सले, तुम चाहो तो उन्हें स्वीकार कर लो अथवा अस्वीकार।"

लक्ष्मण का हृदय निष्काम है, यह बात नहीं है परन्तु उनकी सब कामनाएँ ऊर्मिला के चरणों पर अर्पित हैं। पत्नी-व्रत-व्रती लक्ष्मण का यह चित्र अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।

'आश्रितवत्सले' शब्द भी साभिप्राय है। 'आश्रितवत्सला' का अर्थ है 'शरणागत पर अनुग्रह करने वाली'। इसी 'आश्रित' शब्द के आधार पर वाग्विनोद की यह धारा, आगे चलकर, अत्यन्त हृदयग्राही स्वरूप धारण करती है।

"शस्त्रधारी हो न तुम ··· ···· ···· ···· ···· शिरोरुह तब धरो !"

ऊर्मिला ने कहा, "तुम शस्त्रधारी भी हो और विष के बुझे भी। फिर भला मुझे इस प्रकार काँटों में क्यों न घसीटोगे ? मैं तो सर्वथा असहाय और बलहीन हूं। तुम जो चाहे करो किन्तु अपनी कामनाओं को मेरे पैरों के बदले मेरे केशों (मस्तक) पर ही आसीन करो।"

ऊर्मिला 'हृदय-देवी' बनने को तो तैयार है किन्तु 'आश्रितवत्सला' बनने को प्रस्तुत नहीं। उसके देव की कामनाएं उसके चरणों पर नहीं, उसके मस्तक पर ही स्थान पाने की अधिकारिणी हैं। तभी तो यह अनुचित बात सुनकर वह कुछ तीखेपन से कहती है :

शस्त्रधारी हो न तुम विष के बुझे !

(शेषनाग का अवतार होने के कारण ही लक्ष्मण को 'विष के बुझे' कहा गया है)।

अस्तु, इस प्रकार काँटों में घसीटा जाना ऊर्मिला को स्वीकार नहीं। उस ओर जाने की शक्ति उसमें नहीं। वह अवश अबला है, आश्रितवत्सला न हो कर स्वयं आश्रिता है।

"साँप पकड़ाओ न मुझको निर्दये ·· ··· ··· ··· जो हरा।

लक्ष्मण ने कहा, "हे निर्दये, मुझे इस प्रकार साँप न पकड़ाओ जिन्हें देख कर ही विष चढ़ जाए। पल्लव-सम कोमल, तुम्हारे अधर-पात्रों में अमृत भरा

हुआ है जो नीरस हृदय को भी हरा (सरस) बना सकता है (अतः विष के स्थान पर मुझे अमृत ही प्रदान करो)।

ऊर्मिला ने कहा था : "किन्तु पैर नहीं शिरोरुह तब धरो।" ऊर्मिला ने 'शिरोरुह' का प्रयोग 'मस्तक' के अर्थ में किया था परन्तु 'शिरोरुह' का अर्थ 'केश-समूह' है और 'केश-समूह' की तुलना प्रायः काले साँपों से की जाती है ('साँप खिलाती थीं अलकें'—'साकेत') तभी तो लक्ष्मण कहते हैं :

साँप पकड़ाओ न मुझको निर्दये !

परन्तु यहाँ केवल विष ही नहीं, अमृत भी है। ऊर्मिला के केश यदि विष (साँपों) के प्रतीक हैं तो उसके पल्लव-पुटों में अमृत भी भरा है जो विरस मन को भी हरा बना सकता है।

'अवश-अबला' तुम ? सकल बल वीरता ··· ···· ···· ··· सृष्टि भर !

"तुम अपने को असहाय और बलहीन कैसे कहती हो ? (सत्य तो यह है कि) सारे संसार का बल, समस्त विश्व की वीरता, गम्भीरता और ध्रुव-धीरता (दृढ़ता) तुम्हारी एक तिरछी दृष्टि पर निछावर है। तुम्हारी (प्रेम अथवा क्रोध-भरी) दृष्टि पर तो सारा विश्व जी अथवा मर रहा है।"

नारी के इसी महत्त्व का प्रतिपादन भगवान् बुद्ध ने इन शब्दों में किया था :

दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से ।†

और स्वयं यशोधरा के शब्दों में—

तुच्छ न समझो मुझको नाथ,
अमृत तुम्हारी अंजलि में तो भाजन मेरे हाथ।
तुल्य दृष्टि यदि तुमने पाई,
तो हममें ही सृष्टि समाई,
स्वयं स्वजनता में वह आई,
देकर हम स्वजनों का साथ,
तुच्छ न समझो मुझको नाथ !‡

भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त्त भी ···· ··· ··· ··· स्वर्ग से ?

"धरती के खोखले स्थान, गुफायें, पर्वत, गढ़े, आकाश का सूनापन, पानी के

† श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृ० १४५।

‡ वही, पृ० १२८।

भँवर आदि किसके स्वाभाविक संसर्ग से (दुःख एवं भयप्रद होकर भी) प्राणियों को स्वर्ग के समान (सुखप्रद) जान पड़ते हैं (भाव यही है कि ऐसे भयानक स्थान भी नारी के संसर्ग के कारण पुरुष को स्वर्ग-से जान पड़ते हैं)।

लक्ष्मण के इन शब्दों में स्त्रीत्व के चरम महत्व की व्याख्या है, पत्नी के गौरव की परिभाषा है। कवि पंत के शब्दों में :

तुम्हीं हो स्पृहा, अश्रु औ' हास,
सृष्टि के उर की साँस
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान,
तुम्हीं स्वर्गिक आभास
तुम्हारी सेवा में अनजान
हृदय है मेरा अंतर्धान !
देवि ! मा ! सहचरि प्राण !!†

श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने स्त्री को सम्बोधित करके कहा है :

"स्त्री ! तुमने हमें जन्म दिया, प्राण दिया, तुमने हमें सुख दिया और दिया अपना प्रेम। तुम्हारे स्नेह से स्वर्ग का वह द्वार खुल गया, जिसे हम रुकावट की दीवार समझे थे, तुम्हारे स्नेह से अन्धों को दीखने लगा—आँखें खुल गईं और आँख वाले अन्धे हो गये।

तुम्हारे स्नेह ने हमारी समझ को माँजा, उसे चमकीला बनाया, हमारे मनोभावों को सुकोमल और बारीक से बारीक किया, और प्रेम-पथ के ईमानदार पुजारियों की सुख के वैभव से गोदें भर दीं।

किन्तु स्त्री !—तुम जो यह महान शक्ति अपने में रखे हुए हो, क्या तुम भी अपने जीवन-पथ में, आँखें मूँद कर ही चली जा रही हो ?

तुम जानो देवि, यह पहले, सबसे पहले जानो, कि क्यों प्रेम की अवतारणा प्रभु ने तुम में की है ? किस मतलब, किस उद्देश्य से ! क्यों तुम्हें यह वरदान प्राप्त है ?......

पुत्रि ! ओ स्त्री के अभिनव संस्करण ! ओ प्रेम के मधुरतर और कटुतम स्वाद, तुम अनुभव करो और जानो कि तुम्हारी हस्त-रेखाओं पर आकर्षण-शीला भूमि का स्वभाव, उसकी शक्ति, उसका स्नेह, उसका हरियाना, और सहनशक्ति और सब से अधिक उसका प्रजनन ठहरा हुआ है। यह जानो, क्योंकि

† श्री सुमित्रानंदन पन्त, पल्लविनी पृ० ६७।

इसे जान कर ही, तुम जान पाओगी कि तुम्हारे स्वयं के अस्तित्व का वरदान क्या है ?—वह है कल का जगत्, फिर नया कल,—और समय का बिना छोरवाला अमर होना ।"†

जन्म-भूमि-ममत्व कृपया छोड़कर ··· ··· ···· ···· फलती हुई ।"

"पुरुषों पर कृपा करके तुम जन्मभूमि की ममता छोड़कर और मनोहर चिन्तामणि से होड़ लगा कर कल्प-वल्ली की भाँति बढ़ती हो और फलने पर दिव्य फल प्रदान करती हो।"

पितृकुल में पली बालिका मानवता पर कृपा करके ही पितृकुल का ममत्व छोड़ती है। मानवता पर नारी का यह बहुत बड़ा ऋण है, 'कृपया' शब्द इसी भाव का द्योतक है। 'चिन्तामणि' एक कल्पित रत्न है जो तुरन्त प्रत्येक अभिलाषा पूर्ण कर देता है। पितृकुल से पतिकुल की ओर जाती नारी चिन्तामणि की भाँति जाती है, विश्व की समस्त इच्छाएं पूर्ण करने के उद्देश्य से। 'कल्प-वल्ली' अभिलषित फल देने वाली एक देव-लतिका है। नारी भी मानो पुरुष की सब अभिलाषाओं की पूर्ति है, 'कल्प-वल्ली' दिव्य फल प्रदान करती है और नारी सत्पुत्र ; इसीलिए तो—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।

खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम ···· ··· ···· ··· यों हलका करें ।

ऊर्मिला ने उत्तर दिया, "परन्तु हम तो आश्रय-मात्र ही खोजती हैं। हमें तो बस तुम्हारे जैसे एक पात्र को प्राप्त करने की ही लगन लगी होती है जिसे अपने हृदय के सब सुख-दुख सौंप सकें और इस प्रकार अपना सांसारिक भार हलका कर सकें।

लक्ष्मण ने नारी की महिमा का उल्लेख करते हुए जो कुछ कहा वह तो मानो ऊर्मिला ने सुना ही नहीं। उसका ध्यान तो 'वल्ली' शब्द पर आकर अटक गया। बेल के विकास के लिए वृक्ष का सहारा अनिवार्य है। नारी की भी तो यही स्थिति है। परन्तु इस परवशता में दीनता न होकर महानता है, गरिमा है ; नारी तो मानो स्वेच्छा से ही अपने स्वत्व को पुरुष के व्यक्तित्व में विलीन कर देती है, उसमें समा जाती है। यह उसका अपूर्व त्याग ही तो है।

डा० नगेन्द्र के शब्दों में यहाँ "ऊर्मिला दम्पति-विज्ञान का कितना मधुर व्याख्यान करती है ! स्त्री और पुरुष का यह सम्बन्ध अनादि काल से अटूट इसी लिये रहा है कि जीवन में दोनों को एक ऐसे साथी की आवश्यकता का अनुभव

† श्री माखन लाल चतुर्वेदी, साहित्य देवता, पृष्ठ १५१–५२।

होता है जिससे वे अपने सुख-दुःख कह-सुन सकें। स्त्री में हृदय का प्राधान्य होने के कारण उसको ऐसे पात्र की आवश्यकता अधिक रहती है जिसमें वह अपने तन-मन की भावुकता उड़ेल सके। यह आवश्यकता मानसिक से अधिक शारीरिक है। भावों का व्यक्तीकरण शरीर के स्वास्थ्य के लिये भी तो जरूरी है। अन्यथा जीवन भार हो जाये! इसीलिए तो उर्मिला कहती है—

और निज भव-भार यों हलका करें।"†

तदपि तुम-यह कीर क्या ··· ··· ··· ··· तुझको भला?"

"तथापि यह तोता क्या कह रहा था? अरे बोल, तुझे क्या चाहिए?"

कीर के मौन हो जाने का प्रसंग लेकर पति-पत्नी का प्रेम-संवाद कहाँ से कहाँ पहुँच गया था। 'निज भव-भार यों हलका करें' द्वारा मानो ऊर्मिला के हृदय का समस्त भार भी हलका हो गया था। तभी उसे तोते का ध्यान आया और उसने तोते से पूछा, "अरे तुझे क्या चाहिए?"

"जनकपुर की राज-कुंज-विहारिका ··· ··· ··· ··· सलौनी सारिका!"

तोते ने उत्तर दिया, "मुझे तो जनकपुरी की राज-वाटिका में भ्रमण करने वाली एक सुकुमारी और सलौनी सारिका चाहिए।"

लक्ष्मण का शिष्य तोता मानो अपने गुरु के ही हृदय की बात कहता है।

देख निज शिक्षा सफल ··· ··· ··· ··· खंजन से फँसे।

तोते को दी गयी अपनी शिक्षा सफल देखकर लक्ष्मण हँस पड़े। ऊर्मिला के खंजन जैसे नेत्र (अपने आप में ही) उलझ कर रह गये (तोते का अप्रत्याशित उत्तर सुनकर वह सकपका-सी गयी)।

"तोड़ना होगा ··· ··· ··· ··· उसके लिए।

तोते को सम्बोधित करके ऊर्मिला ने कहा, "जनकपुर की सारिका प्राप्त करने के लिए तुम्हें धनुष तोड़ना पड़ेगा।"

भाव यह है कि उसके लिए तुम्हें अपने को योग्य सिद्ध करना होगा।

"तोड़ डाला है उसे प्रभु ने ··· ··· ··· ··· अयोध्या में धरे!"

उत्तर लक्ष्मण ने दिया, "हे प्रिये, यह धनुष तो प्रभु ने पहले ही तोड़ दिया है। हे सुन्दरी, टूटी हुई वस्तु का भला क्या तोड़ना? और फिर तोते का काम तो (धनुष तोड़ना न होकर) अनार का वह दाना फोड़ना है जो मिथिला या अयोध्या में पैदा होकर तुम्हारे दाँतों से होड़ लगा सके।

† साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ २६।

'प्रभु' शब्द शक्ति का द्योतक है, भाव यह भी है कि प्रभु के इस प्रयत्न का फल आश्रितों को प्रयत्न किए बिना भी मिल सकता है।

ललित ग्रीवा भंग दिखलाकर अहा ··· ··· ··· ··· पढ़ाये हैं अभी ?"

आकर्षक मुद्रा में कुछ तिरछी घूम कर ऊर्मिला ने अपने पति को संबोधित करके कहा, "तुमने तोते पढ़ाने के अतिरिक्त कभी कुछ और भी किया है ?"

ऊर्मिला ने तोते को सम्बोधित करके कहा था। उत्तर लक्ष्मण ने दिया। तभी तो ऊर्मिला को तिरछी घूम कर लक्ष्मण की बात का उत्तर देना पड़ा। 'ललित ग्रीवा भंग दिखला कर अहा' इस बात का प्रमाण भी है कि "गुप्त जी ने अपने पात्रों के हृदयस्थित भावों की अभिव्यक्ति के लिए उनकी मुद्राओं एवं अंगभंगियों का सफलतापूर्वक चित्रण किया है।"

"बस तुम्हें पाकर अभी ··· ··· ··· ···· फिर भी विनोदामृत बहा।

लक्ष्मण ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "बस, तुम्हें पाकर, अभी तो यही सीख सका हूं।"

"देख लूँगी", ऊर्मिला ने इतना ही कहा, और फिर वे अनेक प्रकार हास-परिहास करते रहे।

हार जाते पति कभी, पत्नी कभी ··· ···· ··· ··· परस्पर जीत है !

कभी पति की हार होती कभी पत्नी की परन्तु वे हार कर विजय से भी अधिक प्रसन्नता का अनुभव करते। प्रेमियों के प्रेम का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। यहाँ तो हार में भी परस्पर जीत ही है।

"कल प्रिये निज आर्य का ···· ··· ··· ···· शीघ्र ही।"

लक्ष्मण ने ऊर्मिला को राम-राज्याभिषेक की सूचना देते हुए कहा, "प्रिये, कल अपने आर्य का अभिषेक है। देखो, सब ओर कितना उल्लास है ! राम-राज्य की व्यवस्था होने वाली है और स्वयं पवित्र होकर दूसरों को भी पवित्र करने वाले एक नवीन युग का आरम्भ हो रहा है। अब आर्य एक नवीन एवं श्रेष्ठ वेष-भूषा से सुसज्जित होंगे और क्षत्रिय कुल का कार्य (प्रजा-पालन) सम्पन्न होगा। शीघ्र ही हमारे नेत्र वह दृश्य देख कर सफल होंगे और (इस जन्म तथा पूर्व जन्म में किये गये) पुण्य कार्यों का फल हमें प्राप्त होगा।"

'निज आर्य' में गर्वपूर्ण आत्मीयता है। 'विधान' में राम-राज्याभिषेक की वैधानिकता का स्पष्ट निर्देश है।

मंथरा-कैकेयी संवाद से पूर्व राम-राज्याभिषेक संबंधी घटनाओं का वर्णन महर्षि वाल्मीकि ने ६ सर्गों† में और गोस्वामी तुलसीदास ने ४४ दोहे-चौपाइयों में किया है।‡ 'साकेत' की कथा-वस्तु से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने के कारण साकेतकार ने इनका उल्लेख अत्यन्त कौशल से किया है । लक्ष्मण, ऊर्मिला को राम-राज्याभिषेक का शुभ समाचार सुनाने आते हैं । ऊर्मिला पहले से ही इस सुखद समाचार से परिचित है । इतना ही नहीं, उसने तो राम-राज्याभिषेक का एक चित्र भी अंकित कर लिया है । एक बार फिर 'साकेत' के कवि ने, चित्र की इस मौलिक उद्भावना द्वारा, गौण घटनाओं के संक्षिप्त वर्णन के साथ ही साथ अपने नायक-नायिका के पारस्परिक प्रेम-प्रदर्शन का अपूर्व अवसर खोज ही निकाला ।

"ठीक है, पर कुछ मुझे ···· ··· ···· ···· सामने लादूँ सभी ।"

ऊर्मिला ने कहा, "ठीक है, परन्तु यदि तुम सेंत-मेंत (बिना कुछ त्याग अथवा खर्च किए ही) वह दृश्य न देखो और (पुरस्कार के रूप में मुझे) कुछ देने का वचन दो तो मैं तुम्हें इसी समय अभिषेक दिखा दूँ और उसका दृश्य तुम्हारे सामने ला दूँ ।"

लक्ष्मण ने *कल* होने वाले राज्याभिषेक की सूचना दी थी, ऊर्मिला लक्ष्मण को *अभी* राज्याभिषेक दिखाने के लिए प्रस्तुत है । तभी तो वह लक्ष्मण के कथन को अनसुना-सा करके कहती है, "ठीक है" । 'साकेत' के लक्ष्मण और ऊर्मिला में तो सदैव एक होड़ सी लगी रहती है । वे सदा एक दूसरे को छकाने का अवसर ढूँढा करते हैं ।

'सेंत-मेंत' में कितना माधुर्य है ! लक्ष्मण ने कहा था "दृग सफल होंगे हमारे शीघ्र ही ।" ऊर्मिला लगभग इसी भाषा का प्रयोग करती है : "सेंत-मेंत न दृष्टि फल लेना कहो ।" 'सुफल' और 'दृष्टि फल' एक ही बात तो हैं ।

"चित्र क्या तुमने बनाया है ··· ···· ···· ···· दूँगा यहाँ !"

लक्ष्मण ने आग्रह और प्रसन्नता भरे स्वर में कहा, "क्या तुमने राम-राज्याभिषेक का चित्र अंकित किया है ? (यदि यह सत्य है) तो जरा उसे लाओ तो । वह है कहाँ ? मुझे दिखाओ, मैं तुम्हें 'कुछ' ही नहीं 'बहुत कुछ' दूँगा ।

'साग्रह' में लक्ष्मण की आतुरता की सफल अभिव्यक्ति है ।

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग १ से ६ ।
‡ रामचरित मानस, अयोध्या कांड ।

उर्मिला ने मूर्ति बनकर प्रेम की .... सम्मुख किया।

उर्मिला ने प्रेम की (साकार) मूर्त्ति बन कर एक रत्न-जटित मचिया (छोटी कुरसी) वहाँ लाकर रखी। उसने स्वयं अपने प्रियतम को उस पर बिठाया और चित्रपट लाकर उनके सामने रख दिया।

'मणि-खचित मचिया' में रत्न-जटित मचिया का शब्द-चित्र है। 'खचित' मणियों की अधिकता का द्योतक है। लक्ष्मण तो उस वातावरण में इतने तन्मय हो गये थे कि उन्हें बैठने की भी सुध न थी। तभी तो ऊर्मिला ने 'अपने आप' उन्हें बिठाया।

चित्र भी था चित्र और विचित्र .... हुई उत्कर्णता !

चित्र चित्र होकर भी अद्भुत था, उसे देख कर लक्ष्मण भी चित्रलिखित से रह गये। कुशल चित्रकार के भावों की उदारता और चित्र में रंगों का उचित प्रयोग देखकर लक्ष्मण के हृदय में वाक्य सुनने की तीव्र उत्कंठा उत्पन्न हुई (चित्र मानों सजीव भी था, सवाक् भी)।

तूलिका सर्वत्र मानों थी .... माया थी लिए !

तूलिका मानों सब ओर तुली हुई थी (तूलिका का प्रयोग सर्वत्र ही अत्यन्त सधे हाथ से किया गया था) ऐसा जान पड़ता था मानों चित्रपट-रूपी आकाश पर भाँति-भाँति के रंगों का भँडार ही खुल गया हो अथवा चित्र के बहाने से नेत्र-रूपी पक्षियों को फंसाने के लिए स्वयं माया ही मोहन-जाल (मोहित करने वाला या पक्षियों को फँसाने वाला जाल) लिए खड़ी हो।

सुध न अपनी भी रही .... क्षेम से।

चित्र देख कर लक्ष्मण को अपनी भी सुध न रही और वह बहुत देर तक उसे देखते रहे। अन्त में उन्होंने अत्यन्त प्रेम-पूर्वक कहा, "प्रिये, तुम कुशलता-पूर्वक जीती रहो।"

दुर्ग-सम्मुख दृष्टिरोध न हो .... शालयाम हैं !

"दुर्ग के सामने, जहाँ दृष्टि के लिए कोई रुकावट नहीं, बहुत बड़ा सभा-मंडप बना है। झालरों में सुन्दर मोती पिरोये गये हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे वे माँग में गूँथे जाते हैं। वैदूर्य (मणियों) के बड़े-बड़े खम्भे बने हैं और ध्वजाओं पर कुल-गुरु, सूर्य, के चिन्ह अङ्कित हैं। द्वार पर विजय और हर्ष के प्रतीक, नगाड़े बज रहे हैं और सब पहरेदार प्रसन्न-मुद्रा में खड़े हैं। छतों में क्षौम (सन आदि के रेशों से बुना हुआ वस्त्र) के गुच्छे लटक रहे हैं जिनके सामने चंवर

भी तुच्छ हैं। पद्म-गुच्छों जैसे पटासन पड़े हैं और शेर तथा बाघों की खाल के पायदान हैं। सभा मंडप में बीचों-बीच रत्न-जटित सिंहासन है जिस पर छत्र और चँदोवा तना है। आर्य और आर्या (श्री रामचन्द्र जी और सीता जी) उस पर शोभायमान हैं। उन्हें देख कर ऐसा जान पड़ता है मानों साक्षात् शालग्राम और तुलसी ही प्रकट हो गये हैं।

'साकेत' का, राम-राज्याभिषेक का यह चित्र अत्यन्त मौलिक है। राम-कथा के किसी भी अन्य गायक ने राम-राज्याभिषेक का इतना सजीव एवं विशद वर्णन नहीं किया। 'वाल्मीकि रामायण' (युद्ध कांड), 'अध्यात्म रामायण' (युद्ध कांड) तथा 'रामचरितमानस' (उत्तर कांड) में राम-राज्याभिषेक का उल्लेख अवश्य है परन्तु वह अत्यन्त संक्षिप्त है, 'वैदूर्य के खंभे', छत में लटकते 'क्षौम गुच्छ' तथा 'बाघंबरों के पाँवड़े' जैसी बारीकियों के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं।

सब सभासद् शिष्ट हैं .... उठा चुके।

"सब सभासद् सभ्य और नीतिनिपुण हैं। कुलगुरु वसिष्ठ अभिषेक का जल छोड़ रहे हैं। आर्य और आर्या कैसे झुक रहे हैं मानों आज उन्होंने (सहर्ष) समस्त संसार का भार उठा लिया है।

राम-दरबार के सभासदों के लिए 'शिष्ट' और 'नयनिष्ठ' विशेषण कितने उपयुक्त हैं! नम्रतावश राम और सीता के झुकने का कारण लक्ष्मण के शब्दों में यह है कि "आज मानो लोक-भार उठा चुके।" स्वयं राम के शब्दों में :

"राज्य है प्रिये, भोग या भार?"‡

बरसती है खचित मणियों की .... कैसे हैं खड़े!

"स्थान-स्थान पर जड़ी हुई मणियों की दीप्ति से तीव्र प्रकाश हो रहा है। सारी सभा इस आभा में निमग्न-सी जान पड़ती है। देवताओं का सभा-भवन तो मानों इसी का बड़ा-सा प्रतिबिम्ब है जो आकाश-रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित हो रहा है।

"पंच, प्रजाजन, मन्त्री, सब अत्यन्त प्रसन्न हैं। वीर मांडलिक नरेश (मंडल या प्रान्त के शासक) कैसे प्रसन्न दिखाई दे रहे हैं!

हाथ में राजोपहार लिए हुए .... पारस्परिकता ही प्रिये!

"देश-देश के नरेश अनोखे वेश धारण किये हुए तथा अपने हाथ में अनेक प्रकार के राजोचित उपहार लिये खड़े हैं। समयाभाव के कारण हम अपने

‡ साकेत, सर्ग २।

समस्त मित्र नरेशों को नहीं बुला सके हैं। हम तो इस अवसर पर भरत को भी न बुला सके। तुम्हारे चित्र में भरत भी उपस्थित हैं। यह वास्तव में तुम्हारी भावना का ही स्फुरण है क्योंकि अपूर्ण की पूर्त्ति ही तो कला का वास्तविक उद्देश्य है। संसार में यत्र-तत्र जो कुछ हो रहा है यदि हम केवल उतना ही (यथार्थ मात्र) कह दें तो उस कथन का महत्व ही क्या ? कला तो यह स्पष्ट करती है कि कब और कहाँ क्या होना चाहिए और क्या नहीं। जो लोग 'कला को कला के लिए' ही मानते हैं वे उसे व्यर्थ ही स्वार्थिनी बनाते हैं। कला वास्तव में हमारे (संसार के) लिए है और हम कला के लिए; इस विषय में पारस्परिकता ही उचित है।

ऊर्मिला द्वारा अंकित चित्र में भरत भी उपस्थित हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि साकेत' के प्रत्येक पात्र को इस समय भरत का अभाव बहुत खल रहा है। प्रसंगवश यहाँ कवि ने काव्य-कला के प्रयोजन और उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट कर दिये हैं। गुप्त जी मूलतः उपयोगितावादी कवि हैं, उनका विश्वास है कि—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।‡

'हिन्दू' की भूमिका में उन्होंने अपने तत्सम्बन्धी विचार अधिक विस्तार के साथ अभिव्यक्त किये हैं :

"............ कला में उपयोगिता के पक्षपातियों से कहा जाता है कि सच्चे सौन्दर्य का विकास होने पर अशोभन के लिए अवकाश ही नहीं रहता, उसकी अनुभूति से मन में जो आनन्द की उत्पत्ति होती है उसमें विकार कहाँ ? अपवाद तो सभी विषयों में पाये जाते हैं परन्तु फूलों में स्वभावतः सुगन्ध ही होती है, दुर्गन्ध नहीं। ठीक है, परन्तु सब "फूल सूँघ कर" ही नहीं जी सकते और यह भी तो परीक्षित हो जाना चाहिये कि कहीं फूलों में तक्षक नाग तो नहीं छिपा बैठा है। अनन्त सौन्दर्य के आधार श्री राधाकृष्ण की सौन्दर्य-सुमन-राशि में भी जब, हमारे प्रमाद से, उसका प्रवेश सम्भव हो गया तब औरों की बात ही क्या ?......

"..........सो पाठक, कवित्व भले ही स्वर्गीय होकर स्वर्ग के सौन्दर्य का आनन्द लूटे परन्तु जब तक यह संसार स्वर्ग नहीं हो जाता तब तक हम साँसारिक ही रहेंगे। चाहते तो हम भी वही हैं, पर हमारे चाहने से ही क्या होगा......

‡ भारत भारती, पृ० १७१।

"भोजन का उद्देश्य क्षुधा-निवृत्ति और शरीर पोषण है। उसमें रसना को भी आनन्द मिलता है। परन्तु हमारी रसना लोलुपता इतनी बढ़ गई है कि हम भोजन में बहुधा उसी का ध्यान रखते हैं। फल उल्टा होता है। शरीर का पोषण न होकर उलटा उसका शोषण होता है, क्योंकि पथ्य प्रायः रुचिकर नहीं होता। शरीर के समान ही मन की भी दशा समझिये। मन-महाराज तो पथ्य की ओर दृष्टि नहीं डालना चाहते। लाख उपदेश दीजिए, जब तक पथ्य मधुर किंवा रुचिकर नहीं होता तब तक वे उसे छूने के नहीं। कवित्व ही उनके पथ्य को मधुर बना कर परोस सकता है........

"परन्तु हमारे कवित्व का ध्यान इस समय दूसरी ओर चला गया है। इस संसार को छोड़ कर वह स्वर्ग की सीमा में प्रवेश कर रहा है। क्या अच्छा होता कि वह हमें भी साथ लेकर चलता! परन्तु हमारा इतना पुण्य नहीं। कवित्व इन्द्र-धनुष लेकर अपना लक्ष्य भेदन कर सकता है परन्तु हम पार्थिव प्राणियों को पार्थिव साधनों का ही सहारा लेना पड़ेगा और इसके लिए न तो किसी दूसरे पर ईर्ष्या करनी पड़ेगी न अपने ऊपर घृणा। जो साधन भगवान् ने दया करके हमें प्रदान किए हैं, उन्हीं को बहुत समझ कर स्वीकार करना होगा। परन्तु लज्जा तो यही है कि हम उन्हीं का यथोचित उपयोग नहीं कर सकते।

"कवित्व स्वच्छन्दतापूर्वक स्वर्ग के छाया-पथ पर आनन्द से गुनगुनाता हुआ विचरण करे अथवा वह स्वर्गंगा के निर्मल प्रवाह में निमग्न होकर अपने पृथ्वीतल के पापों का प्रक्षालन करे। लेखक उसे आयन्त करने की चेष्टा नहीं करता। उसकी तुच्छ तुकबन्दी सीधे मार्ग से चलती हुई राष्ट्र किंवा जाति-गङ्गा में ही एक डुबकी लगा कर 'हर-गङ्गा' गा सके तो वह इतने से ही कृतकृत्य हो जाएगा। कहीं उसमें कुछ बातों का उल्लेख भी हो जाय तो फिर कहना ही क्या! जो लोग बलपूर्वक, ठोक-पीट कर कविराज बनाने के समान उसे कवियों की श्रेणी में खींच उसी भाव से उसका विचार करते हैं, वे उस पर दया करते हैं परन्तु न्याय नहीं करते। वह स्वर्गीय कवित्व की साधना का अधिकारी नहीं...........

"कवित्व के उपासकों से उसकी यही प्रार्थना है कि वे उसकी सीमा इतनी संकुचित न कर दें कि नवीन दृष्टि से विचार करने पर पुरानी रचनाएँ तुकबन्दियों के सिवाय और कुछ न रह जाएँ.......

"कवित्व से उसे इतना ही कहना है कि ऊपर केवल स्वर्गंगा और स्वर्ग ही नहीं, वैतरणी और नरक भी हैं। स्वर्ग और नरक उल्टे होकर ही ३६ के अङ्कों के

समान पास ही पास रहते हैं, अतः सावधान ! अपने रूप को न भूलना। तुम स्वयं असाधारण हो—

केवल भावमयी कला, ध्वनिमय है संगीत ;
भाव और ध्वनिमय उभय, जय कवित्व नयनीत ।"‡

मंजरी सी अंगुलियों में यह कला .... चूम लूँ ।"

(प्रेम-मग्न लक्ष्मण ने ऊर्मिला से कहा) "तुम्हारी मजरी जैसी अंगुलियों में यह कला देख कर मैं भला सुधबुध कैसे न भूलूँ ? (इस समय प्रेम और उल्लास के आवेग में) मैं क्यों न मस्त हाथी की तरह झूमता हुआ तुम्हारा कमल जैसा हाथ चूम लूँ ?"

मत्त गज बनकर विवेक ... ... तोड़ना ।

कमल जैसा खिला हुआ अपना हाथ आगे बढ़ा कर ऊर्मिला ने मुस्कराते हुए कहा, "मस्त हाथी बन कर विवेक न खो बैठना और (हाथी की तरह) मेरा हाथ (कमल समझ कर) तोड़ न डालना।"

वचन सुन सौमित्रि लज्जित .... आप मैं दूँगी वही ।

ऊर्मिला की यह बात सुन कर लक्ष्मण लजा गये और वह प्रेम के अनन्त सागर में निमग्न हो गये। उन्होंने आतुरतापूर्वक प्रियतमा का वही हाथ पकड़ कर, उसे बार-बार चूमते हुए कहा, "प्रिये, तुम्हें तो एक भी उपमा नहीं भाती और यह सत्य भी है कि कोई वस्तु पूर्णतः तुम्हारी समानता कर भी नहीं पाती। अतः अब मैं इस विषय में सावधान रहा करूँगा और तुम्हें 'अनुपमा' कहा करूँगा। परन्तु निरुपमे, यह तो बताओ कि मेरा चित्र कहाँ है ?"

ऊर्मिला—प्रिय, यहाँ (राम-राज्याभिषेक में) तुम्हारा कौनसा स्थान है ?

लक्ष्मण—प्राणवल्लभे, मैं अपने ऊपर और किस काम का दायित्व लूँ। मैं तो श्री राम का एक सैनिक मात्र हूं।

ऊर्मिला—परन्तु ऊर्मिला तो सीता की बहिन है। यह उलटा योग (पति महाराज का सैनिक और पत्नी महारानी की बहिन) अच्छा रहा ! तथापि यदि तुम कुछ देने के लिए तैयार हो तो मैं इसी समय तुम्हारा चित्र अङ्कित कर सकती हूं।

लक्ष्मण—और जो न हो सका ?

ऊर्मिला—तो वही वस्तु मैं दूँगी।

‡ श्री मैथिलीशरण गुप्त, हिन्दू, भूमिका।

होड़ कर यों ऊर्मिला ··· ···· ··· ···· घट पर जा रही !

इस प्रकार शर्त लगाकर ऊर्मिला चित्र-रचना में तल्लीन हो गयी। लक्ष्मण के सम्मुख एक ज्योति सी जग रही थी। चित्रपट पर ऊर्मिला की लेखनी (तूलिका) चलने लगी। उसने लक्ष्मण के शरीर के विभिन्न अङ्गों की गठन भली प्रकार चित्रित की। ऐसा जान पड़ता था मानो निर्मल जल पर अनेक कमल खिल उठे हों। इसके साथ ही साथ ऊर्मिला के हृदय में सात्विक-भाव-रूपी पुष्प भी खिलने लगे और उसके हाथों में कम्प होने लगा। (पुष्पों पर झलकते) मकरंद की भाँति ऊर्मिला के माथे पर पसीना झलक आया और चित्रकला में उसकी निपुणता पूर्ण होकर भी उस समय कुछ मन्द सी हो गयी। लक्ष्मण की ठोढ़ी का चित्रण करते समय उसकी उमङ्ग न रुक सकी। रङ्ग फैल गया, लेखिनी (तूलिका) आगे की ओर झुक गयी, रङ्ग की एक पीली तरङ्ग, रेखा सी बनाती हुई बह गयी और अभिषेक-घट पर जा गिरी।

ऊर्मिला को अपनी कला पर पूर्ण विश्वास था परन्तु सात्विक भावों का उदय होने के कारण 'पूर्ण-पाटव' भी कुछ 'मन्द-सा' हो गया और 'पीत-तरंग-रेखा अभिषेक-घट पर जा गिरी।' "यहाँ रंग की पीत रेखा का बह कर अभिषेक-घट पर जाना साधारण-सी बात है। रंग बह गया और वह कहीं भी फैल सकता था। चित्र में लक्ष्मण अभिषेक-घट के पास ही थे। अतः वह रेखा उसी तक जा पहुँची। ऊर्मिला और लक्ष्मण पर भी इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा परन्तु पाठक को इसका अर्थ कुछ देर बाद ही दूसरे सर्ग में पता चल जाता है। वह प्रत्यक्ष ही अभिषेक के प्रसंग को नष्ट-भ्रष्ट हुआ देख कर इस विशेष रहस्य को पा लेता है।"‡

हँस पड़े सौमित्रि ··· ··· ··· ···· कुछ का कुछ न हो।

भाव भरे लक्ष्मण यह देख कर हँस पड़े, ऊर्मिला के मुख से एक ही शब्द निकल सका, "अरे !"

"देखा, रङ्ग घट में ही गया", लक्ष्मण ने ऊर्मिला से कहा, "क्यों ? तुम तो ठोढ़ी की रचना करने चली थीं न ? क्यों नहीं ?"

ऊर्मिला यह सुन कर लजा कर हँस पड़ी, उसकी वह हँसी तो मोतियों की लड़ी जैसी थी। उसने कहा, "आज तो बन पड़ी है जो चाहो कहो। क्या करूँ, मेरा मन ही बस में न रहा। बताओ, तुम हार कर मुझे क्या देते ? मैं तुम्हें वही दूँगी; परन्तु देखो, कुछ का कुछ न माँग बैठना।"

‡ साकेत—एक अध्ययन, पृ० १५४।

'कुछ का कुछ' में कितना विनोदपूर्ण माधुर्य है !

हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त ... ... प्राप्य अपना ले लिया !

लक्ष्मण ने उसी समय अपने दोनों हाथ बढ़ा दिये और कहा, "प्रिये, एक आलिंगन।"

प्रिय की प्रिया सहसा लज्जा से सिमिट-सी गयी और उसने तिरछी चितवन से प्रियतम की ओर देखा। प्रिय ने उसे अपनी भुजाओं में जकड़ कर स्वयं ही अपना प्राप्य ले लिया।

बीत जाता एक युग .... सुरावट सज उठे।

उस समय तो वहाँ एक युग की लम्बी अवधि भी एक पल की भाँति बीत जाती। परन्तु उसी समय उनके कानों में कुछ मधुर-ध्वनियाँ गूँजने लगीं। द्वार पर यश-गान हो रहा था जिससे सारा आकाश अचानक गूँज-सा गया था। चारण, भाट और बन्दी-जनों ने यश-गान आरम्भ कर दिया था और वे अनेक नवीन छन्द और प्रबन्धों की रचना कर रहे थे। मुरज, वीणा, वेणु आदि वाद्य-यन्त्र बज रहे थे और योग्य भाट उत्तम ध्वनियों में कीर्तिगान कर रहे थे।

दम्पती चौंके पवन मंडल ... ... छिटक छूटी ऊर्मिला।

(इस प्रकार प्रभात हो जाने के लक्षण देख-सुन कर) पति-पत्नी चौंक गये। पवन-मंडल हिला और ऊर्मिला बिजली की तरह अपने पति की भुजाओं से छिटक कर अलग हो गयी।

दम्पती का चौंकना, चौंकने के कारण पवनमण्डल का हिलना और ऊर्मिला का चञ्चला की भाँति छिटक छूटना कवि की पैनी और सूक्ष्म दृष्टि का प्रमाद है।

तब कहा सौमित्रि ने ... ... कब मुझे ?

सौमित्रि ने कहा, "अब मुझे जाना होगा, परन्तु याद रखना, मैं भी बदला लेकर ही रहूंगा। अपने वंश का विकास देखने के लिए कुलदेव, सूर्य भी तेज़ी से पाताल से निकल आये हैं। दिन निकल आया, इस समय तो मुझे विदा दो। देखो, फिर कब अवकाश मिलता है ?"

इतने लम्बे वाग्विनोद के बाद भी पति और पत्नी मानो तृप्त न हुए थे। 'याद रखना किन्तु जो बदला न लूँ' से यह स्पष्ट है। 'फिर मिले अवकाश देखूँ कब मुझे' में राम-राज्याभिषेक सम्बन्धी कामों में लक्ष्मण की व्यस्तता का चित्रण है।

ऊर्मिला कहने चली कुछ ... . मग्ना हुई।

ऊर्मिला कुछ कहना चाहती थी परन्तु रुक गयी और वह अपना आँचल

पकड़ कर झुक गयी । साक्षात् भक्ति के समान पृथ्वी तक झुक कर वह पति-रूप में अपने परमात्मा के प्रेम में निमग्न हो गयी ।

चूमता था भूमि तल को ···· ··· ···· ··· सनाथ ।

उर्मिला का मस्तक अर्द्ध-चन्द्र की भाँति पृथ्वी को चूम रहा था और उसके बाल, प्रेम के इन्द्रजाल बन कर, बिखर रहे थे । उसके मस्तक पर प्राणपति का हाथ छत्र की भाँति उठा था । उस समय प्रकृति स्वयं ही पूर्णतः सनाथ हो रही थी ।

'साकेत' की रंगशाला का यह अत्यन्त प्रसिद्ध मानव-चित्र है । यह स्थिति-चित्र एकान्त पूर्ण है । डा० सत्येन्द्र ने इसे नाटक के टेब्लों के समान कहा है । यह समानता सर्वथा उचित है ।

इसके आगे ? बिदा विशेष ···· ··· ···· ··· विरह वियोग ?

इसके उपरान्त एक विशेष प्रकार से विदा हुई । विदा होने से पूर्व पति-पत्नी कुछ समय तक एक दूसरे की ओर एकटक देखते रहे । जहाँ हृदयों का मिलन है वहाँ विरह अथवा विछोह कैसा ?

द्वितीय सर्ग

लेखनी अब किस लिए ... ... दिन की रात !

लेखनी, अब विलम्ब किस लिए ? सरस्वती देवी और जगदम्बा की जय बोल और उसी दिन की रात में होने वाली घटनाओं का निरीक्षण कर जिसका प्रभात इस (सर्ग १ में वर्णित) प्रकार हुआ।

कवि काव्य रचना में तल्लीन हो गया है। अब उसे पल भर का विलम्ब भी सह्य नहीं, वह वाणी की देवी, सरस्वती, की पुनः वन्दना करता है। इसके साथ ही वह जगत् की माता के चरणों में भी शीश नवाता है। प्रस्तुत सर्ग में वह जिस प्रसंग का उल्लेख करने वाला है, उसमें माँ का ममत्व ही तो प्रधान है, इसी ममत्व पर होने वाले प्रहार और उसकी प्रतिक्रिया की ही तो कहानी है !

अपने प्रबन्धकाव्य के विभिन्न सर्गों को आपस में जोड़ने के अभिप्राय से ही कवि समय-समय पर पूर्व वर्णित घटनाओं का संकेत और आगामी घटनाओं का आभास देता जाता है। जिस दिन का प्रभात 'यों' हुआ उसकी रात अब देखनी है। 'यों' में प्रथम सर्ग का समस्त मनोहर और मधुर वातावरण निहित है और 'देख अब तू' में भावी अमंगल की क्षीण झलक के साथ ही साथ एक ही दिन के प्रभात और रात्रि में होने वाले परिस्थितियों के वैषम्य की भी पूर्ण अभिव्यक्ति है।

धरा पर धर्मादर्श निकेत .... होगा अभिषेक।

पृथ्वी पर धर्म के आदर्श का निवास स्थान और स्वर्ग के समान साकेत धन्य है।

आज अयोध्या में हर्ष की अधिकता क्यों न हो ? कल राम का राज्याभिषेक जो होगा !

महाराज दशरथ ने राम को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया है। प्रजा ने हृदय से राम को अपना सम्राट् बनाया है। मनचाहा नरेश पाकर प्रजा-जन के हृदय में अपार हर्ष क्यों न हो ?

दशों दिक्पालों के गुण-केन्द्र ... ... मही-महेन्द्र।

दशों दिक्पालों के गुण-केन्द्र, पृथ्वी पर इन्द्र के समान महाराज दशरथ धन्य हैं।

दश दिक्पाल : १. पूर्व के इन्द्र, २. अग्निकोण के वह्नि, ३. दक्षिण के

यम, ४. नैऋ'त कोण के नैऋ'त, ५. पश्चिम के वरुण, ६. वायुकोण के मरुत्, ७. उत्तर के कुबेर, ८. ईशानकोण के ईश, ९. ऊर्द्ध दिशा के ब्रह्मा, १०. अधोदिशा के अनन्त ।

त्रिवेणी तुल्य रानियाँ तीन ··· ··· ··· ···· प्रवाह नवीन ।

त्रिवेणी की भाँति तीनों रानियाँ सुख का नवीन प्रवाह बहाती हैं ।

यह सत्य है कि महाराज दशरथ की तीन रानियाँ हैं परन्तु इससे अधिक स्मरणीय सत्य यह है कि उन तीनों में परस्पर कोई अन्तर, कोई परायापन नाम मात्र को भी नहीं । वे गंगा, यमुना और सरस्वती की भाँति भिन्न-भिन्न न होकर 'त्रिवेणी'—तीनों का संगम—हैं । परवर्त्ती घटनाओं का अध्ययन करते समय इस सत्य की पल भर के लिए भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए ।

मोद का आज न ओर न छोर ··· ··· ···· ··· मन्थरा-नेत्र ।

अयोध्या में आज प्रसन्नता का कोई ओर-छोर ही नहीं, सब ओर आम्रवन सा फूल रहा है; परन्तु हा ! सुमन-क्षेत्र फल न सका, मन्थरा के नेत्र कीट बन गये ।

प्रसन्नता की सीमाहीनता का वर्णन कवि ने बौर से लदे आम्रवन का चित्र प्रस्तुत करके किया है । जिन्होंने बौर से लदा आम्रवन देखा है वे इस कथन की प्रभावोत्पादकता का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं ।

परन्तु सुमन-क्षेत्र फल न सका । फूल, फल में परिवर्तित न हो सके; 'सुमन' सफल न हो सके ; अच्छे मन सफल मनोरथ न हो सके ; सदाशयों के लिए भय का कारण उपस्थित हो गया । मन्थरा के नेत्र, कीट बनकर उन 'सुमनों' पर पड़ गये । छोटा सा कीट फूल को नष्ट कर देता है, कुटिल मन्थरा के नेत्र-कीट असीम उत्साह में निमग्न अयोध्या को नष्टप्राय कर देने में प्रवृत्त हो गये ।

राम के राज्याभिषेक के समाचार से प्रसन्न अयोध्या को देख कर मन्थरा के हृदय में होने वाली प्रतिक्रिया का वर्णन 'वाल्मीकि रामायण' में १२ श्लोकों†, 'अध्यात्म रामायण' में ५ श्लोकों‡ और 'राम-चरित मानस' में ६ दोहे चौपाइयों में¶ किया गया है । गुप्तजी ने केवल उपर्युक्त २४ शब्दों में वह समस्त चित्र प्रस्तुत कर दिया है ।

'वाल्मीकि रामायण' में मन्थरा की मति फिरने का कोई विशेष कारण नहीं

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७, श्लोक १—१२ ।
‡ अध्यात्मक रामायण, अयोध्या काण्ड, सर्ग २, श्लोक ४४—४८ ।
¶ रामचरित मानस, अयोध्या कांड ।

दिया गया, 'अध्यात्म रामायण'† और 'रामचरितमानस'‡ में इसका कारण है देवताओं (सरस्वती) की प्रेरणा। गुप्त जी ने मन्थरा के इस द्वेष का, नारी सुलभ द्वेष के अतिरिक्त, कोई अन्य कारण खोज निकालने की आवश्यकता नहीं समझी।

देख कर कैकेयी यह हाल ... ... कल होगा युवराज ?

कैकेयी ने मन्थरा की यह दशा देखकर तुरन्त उससे पूछा, "अरी तू उदास क्यों है ? क्या तू यह नहीं जानती कि कल हमारे पुत्र का राज्याभिषेक होगा ?"

'वाल्मीकि रामायण' में मन्थरा शैयास्थिता कैकेयी के समीप पहुँच कर तुरन्त कहती है :

उत्तिष्ठ मूढ़े किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते ।
उपप्लुतमघौघेन नात्मनाभवबुध्यसे ॥

(हे मूढ़े, उठ, पड़ी-पड़ी क्या सोती है ? तेरे लिए तो बड़ा भारी भय आ उपस्थित हुआ है। क्या तू अपने दुःख को भी नहीं समझती ?)¶

इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि की मंथरा एक दासी मात्र न रहकर आरम्भ से ही अपनी स्वामिनी की स्वामिनी बन जाती है। वह कथनीय और अकथनीय सब कुछ, निर्भय होकर, कहती है और तीखे व्यंग्य भरे शब्दों में कैकेयी को महाराज दशरथ के राज्याभिषेक सम्बन्धी निश्चय का समाचार सुनाती है।

'रामचरितमानस' में मन्थरा बिलखती हुई कैकेयी के समीप आती है। कैकेयी उसके अनमनेपन का कारण पूछती है :

भरत मातु पहिं गइ बिलखानी ।
का अनमनि हसि कह हँसि रानी ॥$

और इस प्रकार गोस्वामी जी की मन्थरा को भी कुछ अधिक विषवमन करने का अवसर मिल जाता है।

'साकेत' की कैकेयी मन्थरा के आगमन से पूर्व ही राम-राज्याभिषेक के सम्बन्ध में जानती है। इतना ही नहीं, राम को अपना ही पुत्र समझने के कारण

† अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग २, श्लोक ४४—४६।
‡ रामचरित मानस, अयोध्या कांड।
¶ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७, श्लोक १४।
$ रामचरित मानस, अयोध्या कांड।

वह तो इस अवसर पर अत्यन्त प्रसन्न भी है । उसका हृदय सर्वथा निर्मल है, इसीलिए उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि उसके 'वत्स' के युवराज होने के अवसर पर, प्रसन्न होने के बदले, मन्थरा उदास क्यों है ! वह उसकी उदासी का कारण तुरन्त जानना चाहती है ।

मन्थरा बोली निःसंकोच ··· ···· ···· ··· है कुछ सोच ?

मन्थरा ने संकोच त्याग कर कहा, "आपको भी तो कुछ चिन्ता है ?"

मन्थरा कैकेयी की दासी होकर भी केवल दासी न थी, कैकेयी समय-समय पर हृदय की बात उससे कहती थी, उससे मन्त्रणा भी कर लेती थी ; तभी तो मन्थरा निस्संकोच होकर कहती है—"आपको भी तो कुछ चिन्ता है ?" इस प्रकार 'साकेत' की मन्थरा अपने हृदय की बात कहने से पूर्व कैकेयी की मनः स्थिति का अनुमान लगा लेना चाहती है ।

हँसी रानी सुनकर यह बात ··· ···· ··· ··· यह सुख सृष्टि !

(मन्थरा की यह बात सुनकर) रानी हँस पड़ी । उसके चारों ओर एक अद्भुत दीप्ति सी बिखर गयी, उसने कहा—"वास्तव में मुझे यह चिन्ता है कि आज भरत मामा के घर होने के कारण यह सुख-संसार बनता न देख सका और अपनी निर्मल दृष्टि सफल न कर सका !"

मन्थरा के प्रश्न ने रानी को आत्म-विश्लेषण के लिए विवश कर दिया । वह सोचने लगी कि क्या उसे वास्तव में कोई चिन्ता है ? उसे सब ओर सन्तोष, तृप्ति और प्रसन्नता का ही अनुभव हुआ। केवल एक ही अभाव था । भरत, मामा के घर होने के कारण, राम-राज्याभिषेक का दृश्य देखकर अपनी दृष्टि सफल न कर सका। वह हँस कर अपना यह भाव, अथवा अभाव, मन्थरा के सम्मुख प्रकट कर देती है । हँसी क्यों ? इस हँसी में मन्थरा के प्रति कैकेयी की कृतज्ञता का प्रकाशन है । मन्थरा ने उसके अभाव का अनुभव तो किया, हँसी का एक दूसरा कारण भी हो सकता है । कदाचित् अभी तक कैकेयी उस 'सोच' को हँसी मात्र से अधिक महत्व नहीं देती । भरत होते तो बहुत ही अच्छा था, भरत नहीं है तो भी चिन्ता का कोई विशेष कारण नहीं । यही हँसी कैकेयी के चरित्र को 'एक अनुपम आभा अवदात' प्रदान कर देती है ।

ठोक कर अपना क्रूर-कपाल ··· ···· ···· ···· भोलेपन का अन्त !

अपना कठोर माथा ठोक कर और इस प्रकार दुर्भाग्य का भाव प्रकट करके दासी ने उसी समय कहा, "भोलेपन की हद हो गयी !"

भरत का अयोध्या में होना न होना कैकेयी के लिए हँसी की सी बात भले

ही हो परन्तु मन्थरा तो इसी हँसी के आधार पर गृह-कलह का बीज-वपन करना चाहती है। कैकेयी के हृदय के इसी 'सोच' को वह अपनी भावी योजना का आधार बनाती है। इसीलिए वह इस प्रसंग में कैकेयी की उदासीनता के उत्तर में अपना क्रूर कपाल ठोकती है। 'क्रूर' इसलिए कि वह इस प्रकार निर्मल हृदया कैकेयी की बुद्धि भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती है। कपाल यह दिखाने के लिए ठोकती है कि कैकेयी का और उसके साथ स्वयं मन्थरा का भी भाग्य फूट गया।

'किंकरी' शब्द भी विशेष महत्त्व रखता है। आधार ग्रन्थों में *दासी* मन्थरा, क्रमशः कैकेयी की 'सखी', 'स्वामिनी' और 'पथ-प्रदर्शिका' बनती है, 'साकेत' में वह *सखी* के पावन पद से गिरते-गिरते क्रमशः 'किंकरी', 'कुदासी', 'दासी', 'निर्बोध', द्विजिह्वा', 'अनुदार' और 'नीच' हो जाती है। अस्तु, किंकरी ने तुरन्त कहा। 'तुरन्त' इसलिए कि कोई अन्य भाव बीच में आकर कैकेयी की मनः स्थिति में परिवर्तन न कर दे। वह कैकेयी का ध्यान अब केवल भरत की अनुपस्थिति की ओर केन्द्रित रखना चाहती है। मन्थरा को आरम्भ में ही यह जान कर सन्तोष होता है कि कैकेयी को भरत की अनुपस्थिति का 'सोच' है। अब तो उसे केवल यह करना है कि भरत की अनुपस्थिति का कोई दुष्टतापूर्ण कारण खोज निकाले और 'भरत की माँ' को यह विश्वास दिला दे कि 'सौत के पुत्र', राम, के राज्याभिषेक के अवसर पर भरत की अनुपस्थिति सकारण है। कपाल ठोक कर उसने कहा, "भोलेपन का अन्त हो गया" आशय यही कि इतनी स्पष्ट बात, इतना स्पष्ट कारण भी कैकेयी न समझ सकी!

न समझी कैकेयी वह बात ... ... मेरा बेटा राम ?

कैकेयी मन्थरा की बात न समझी। उसने कहा, "यह कैसा उपद्रव है ? तू यह उलटी बात क्यों कह रही है ? क्या राम मेरा बेटा नहीं ?"

कैकेयी मन्थरा की बात न समझ सकी। मन्थरा कुछ नयी बात कह रही थी, सर्वथा अकल्पनीय ! कैकेयी वह कैसे समझती ? 'साकेत' की कैकेयी को मन्थरा की इस बात में कोई उत्पात छिपा जान पड़ता है। मन्थरा कुछ उलटी बात कह रही थी। कैकेयी यह कैसे माने कि राम उसका बेटा नहीं है ?

और वे औरस भरत कुमार ? ... ... कर फटकार।

दुष्टा दासी ने हाथ फटकार कर कहा, "और तुम्हारे अपने पुत्र भरत ?"

कैकेयी मन्थरा से पूछती है, "क्या राम मेरा पुत्र नहीं ?"

मन्थरा उत्तर में प्रश्न करती है : "क्या भरत तुम्हारे अपने पुत्र नहीं ?"

'साकेत' की मन्थरा जानती है कि वह राम और कैकेयी के पारस्परिक सम्बन्धों में कहीं भी कोई ऐसी बात नहीं खोज सकती जिससे उनके 'जननी-जात सम्बन्ध में' कोई त्रुटि सिद्ध की जा सके। इसीलिए वह कैकेयी के प्रश्न का उत्तर न दे कर कैकेयी के सम्मुख एक नवीन प्रश्न रखती है : "क्या भरत तुम्हारे पुत्र नहीं ?"

कहा रानी ने पाकर खेद ••• ··· ···· ··· है क्या भेद ?

रानी ने दुखी होकर कहा, "भला दोनों में भेद ही क्या है ?"

मन्थरा का प्रश्न विकट है। कैकेयी कैसे माने कि राम उसका पुत्र नहीं, वह कैसे कहे कि भरत उसका पुत्र नहीं ? इस प्रश्न ने ही उसे दुखी कर दिया। उसे तो राम और भरत में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता।

"भेद ? दासी ने कहा सतर्क ···· ··· ··· ···· देखेंगी अभिषेक !"

दासी ने सावधान होकर कहा, "कल प्रातःकाल उदय होने वाला सूर्य यह अन्तर स्पष्ट कर देगा। उस समय एक (राम की एक माता, कौसल्या) राजमाता होंगी और दूसरी (कैकेयी) अभिषेक देखेंगी !"

कैकेयी को राम और भरत में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। दासी सावधान होकर राम और भरत में भेद सिद्ध करने के लिए तत्पर होती है। भूत अथवा वर्तमान काल में कोई समयोपयोगी सामग्री न पाकर वह भविष्य का मनमाना चित्र प्रस्तुत करती है। कल होने वाला अभिषेक कौसल्या को राजमाता और कैकेयी को अभिषेक की एक तटस्थ दर्शिका-मात्र सिद्ध करके राम और भरत में अन्तर स्पष्ट कर देगा।

मन्थरा द्वारा भरत और राम तथा कैकेयी और कौशल्या के बीच अन्तर डालने के प्रयत्नों का वर्णन 'वाल्मीकि रामायण' में सम्पूर्ण २ सर्गों† और 'रामचरित मानस' में १३ दोहे-चौपाइयों‡ में किया गया है। साकेतकार ने इस कार्य के लिए केवल ६ शब्दों का प्रयोग किया है :

एक राजमाता होंगी,
दूसरी अभिषेक देखेंगी।

रोक कर कैकेयी ने रोष ···· ··· ··· ··· मुझे न लोक समाज ?

कैकेयी ने क्रोध रोक कर कहा, "तू किसे दोष दे रही है ? क्या आज और कल भी समस्त संसार मुझे राम की माँ न कहेगा ?"

मन्थरा द्वारा राम-राज्याभिषेक के पश्चात् अपने और भरत के अन्धकारपूर्ण

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ८, ९।

‡ रामचरित मानस, अयोध्या कांड।

भविष्य की बात सुनकर 'वाल्मीकि रामायण' की कैकेयी मन्थरा से कोई ऐसा उपाय पूछती है जिससे राम का राज्याभिषेक न हो :

इदं त्विदानीं संपश्य केनोपायेन साधये।
भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथंचन॥

(हे मन्थरे, अब इस समय कोई ऐसा उपाय सोच जिससे भरत को ही राज्य मिले और राम को किसी प्रकार न मिले।)†

'अवध साढ़साती' की कठोर, विनाशकारी वाणी सुनकर 'रामचरित-मानस' की कैकेयी :

कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी।

और—

तन पसेउ कदली जिमि काँपी।

'रामचरितमानस' की कैकेयी के हृदय में तो मन्थरा के इस कथन की सत्यता के प्रति विश्वास भी हो जाता है, क्योंकि—

दिन प्रति देखउँ राति कुसपने।
कहउँ न तोहि मोहबस अपने॥‡

परन्तु इसी परिस्थिति में 'साकेत' की कैकेयी अपना रोष रोकती है तथा मन्थरा को फटकार कर कहती है, "तू किसे दोष दे रही है? क्या आज अथवा कल भी सारा संसार मुझे राम की माँ न कहेगा?" 'साकेत' की कैकेयी के हृदय में राम और कौसल्या के प्रति जो प्रेम और विश्वास भरा है उसे, उसके हृदय से निकालने के लिए 'साकेत' की मन्थरा को, आधार ग्रन्थों की अपेक्षा, अधिक प्रयत्न करना पड़ता है।

कहा दासी ने धीरज त्याग ··· ···· ··· ···· सब साज?

दासी ने धैर्य त्याग कर कहा, "मेरे मुँह में आग लग जाए। मुझे क्या? मैं होती ही कौन हूँ? फिर भी न जाने मुझ से चुप क्यों नहीं रहा जाता? सत्य तो यह है कि स्वामी का अहित होता देखकर कुछ न कुछ बात मुँह से निकल ही जाती है। दूसरी ओर आप जितनी भोली हैं सबको भी उतना ही भोला समझती हैं नहीं तो यहाँ इतना सीधा और स्वतन्त्र षड्यन्त्र किस प्रकार

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ६, श्लोक ३।
‡ रामचरित मानस, अयोध्या कांड।

रच लिया जाता ? (यदि तुम इतनी सीधी न होतीं तो क्या महारानी कौसल्या इतनी सरलता से अपना सब कार्य सिद्ध कर लेतीं ?)

अपने दुष्कार्य में सफलता न पा सकने के कारण दासी का धैर्य नष्ट हो गया परन्तु वह एक बार फिर सम्पूर्ण दुष्टता को पुंजीभूत करके पहले तो आत्म-तिरस्कार द्वारा आत्म-प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न करती है और फिर एक सच्ची हितैषिणी का सा अभिनय करके कैकेयी के भोलेपन पर बल देती हुई कौशल्या द्वारा रचे गये *षड्यन्त्र का उद्घाटन* करती है। 'साकेत' की मन्थरा की यह सबसे लम्बी तथा अधिकतम विषपूर्ण उक्ति है। यह सर्वथा प्रभावहीन भी सिद्ध नहीं होती तथापि 'साकेत' की कैकेयी दासी के कथन से अंशतः प्रभावित, उद्भ्रान्त होते पर भी, दासी को अपनी इस दुर्बलता का आभास नहीं होने देती।

कहा रानी ने क्या षड्यन्त्र ? ··· ··· ··· ··· सब वृत्तान्त !

रानी ने कहा, "षड्यन्त्र कैसा ? तेरे शब्द माया का जाल सा बिछा रहे हैं। मैं कुछ भी नहीं समझ पा रही हूं। तू समझाकर सारी बात कह।"

रघुकुल में 'षड्यन्त्र' की बात सुनकर कैकेयी का उद्भ्रान्त हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है। वह सत्य-असत्य का निर्णय कैसे करे ? मन्थरा के शब्द उसे 'मायिक मन्त्र' से जान पड़ते हैं। वह मन्थरा के विचार, अधिक स्पष्ट शब्दों में सुनने के लिए आतुर हो जाती है।

"मन्थरा ने फिर ठोका भाल ··· ·· ···· ··· उन्हें जो गेह !"

मन्थरा ने एक बार फिर अपना माथा ठोका और कहा, "क्या अभी कुछ और कहना बाकी है ? ऐसी सरलता भी किस काम की जो अपना हित-अहित भी न समझ सके ? भरत को घर से निकाल कर महाराज दशरथ राम को राज्य दे रहे हैं। भरत जैसे पुत्र पर भी उन्हें सन्देह है, तभी तो उन्हें इस अवसर पर घर बुलाया तक नहीं।"

सर्वथा अनुकूल वातावरण पा कर 'साकेत' की मन्थरा निर्भय तथा निस्संकोच होकर एक बार फिर अपना माथा ठोकती है और कैकेयी की सरलता को उसकी मूर्खता ठहरा कर इस 'रहस्य' का उद्घाटन करती है कि महाराज ने जानबूझ कर ही भरत को इस अवसर पर अयोध्या से दूर रखा है।

कहा कैकेयी ने सक्रोध ··· ··· ··· ··· समझे तू अनुदार ?

कैकेयी ने क्रोध में भर कर कहा. "अरी मूर्खे, तू इसी समय मेरे सामने से हट जा, अधिक न बोल, अरी द्विजिह्वे (सर्पिणी) तू रस (आनन्द) में विष (कलह) न घोल। तू हमारे घर में कीचड़ उछालना चाहती है ! नीच वास्तव में

नीच ही रहते हैं। उदारता का अभाव होने के कारण तू हमारे आपस के व्यवहार भला किस प्रकार समझ सकती है ?"

मन्थरा के मन की बात कैकेयी के सामने प्रकट हो गयी। मन्थरा का विश्वास था कि कैकेयी यह सुनकर उसके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करेगी, उससे परामर्श माँगेगी और इस प्रकार दासी स्वामिनी पर पूर्णतः अधिकार कर लेगी। आधार-ग्रन्थों में यही हुआ भी है। परन्तु 'साकेत' में तो मन्थरा के मुख से यह अप्रत्याशित बात सुनकर कैकेयी के क्रोध की सीमा नहीं रहती। वह गृह-कलह के इस विष-बीज को इतनी सरलता से जड़ पकड़ने नहीं देती, 'निर्बोध' दासी के सामने आत्म-समर्पण करने का तो यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। वह इस नीच दासी को उसी समय सामने से हट कर जीवन-रक्षा का अवकाश दे देती है। उसे यह सह्य नहीं कि यह चुगलखोर दासी, यह द्विजिह्वा, कौसल्या और कैकेयी के रस (आनन्द) में विष घोले। उस नीच को प्रोत्साहन देकर वह कभी घर में कीच नहीं उछलने देगी। महारानियों के पारस्परिक व्यवहार को समझने की योग्यता और शक्ति अनुदार मन्थरा में नहीं। अतः उसे उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर टीका-टिप्पणी करने का भी कोई अधिकार नहीं।

हुआ भ्रू-कुंचित भाल विशाल ···· ··· ··· ···· लाली भरे कपोल।

क्रोध के कारण कैकेयी के विशाल मस्तक पर भवें तिरछी हो गयीं और उसके बाल गालों पर लटक कर हिलने लगे। जान पड़ता था मानो राजनीति (दण्डनीति) मूर्तिमान् हो गयी हो। मन्थरा (वह रौद्र-रूप देख कर) भयभीत हो गयी। कैकेयी के तीखे नेत्र स्थिर होकर मन्थरा पर गड़े थे और उसके गाल क्रोध से लाल हो रहे थे।

कैकेयी का यह रौद्र-रूप साकेतकार की महत्वपूर्ण मौलिकता है। 'साकेत' की कैकेयी एक अदम्य पाषाण शिला की भाँति मन्थरा-रूपी कुटिल सरिता की संहारकारिणी लहरों की चोट सहने में ही समर्थ नहीं होती अपितु वह उन लहरों को खील-खील करने में भी पूर्णतः विजयिनी होती है। वह अपनी दासी के सम्मुख दीनता स्वीकार नहीं करती। सर्वथा विषम वातावरण में भी मानसिक संतुलन की रक्षा करने में जिस शक्ति एवं आत्म-बल की आवश्यकता होती है वह शक्ति 'साकेत' की कैकेयी की अपनी ही वस्तु है, परम्परा से प्राप्त नहीं।

न दासी देख सकी उस ओर ···· ··· ··· ··· चली गई अविराम।

दासी उस समय कैकेयी की ओर न देख सकी। उसे भय था कि कहीं स्वामिनी का कठोर क्रोध उसे भस्म ही न कर दे, परन्तु वह वहाँ से हटी भी

नहीं। वह चुपचाप नम्रता पूर्वक खड़ी रही। अन्त में बहुत सोच-समझ कर बोली, "मेरा यह अपराध क्षमा कर दीजिए। स्वामी के सामने तो सेवक सदा (अपराधी होने अथवा न होने पर) अपराधी ही सिद्ध होते हैं। आपके पास शक्ति है आप जो चाहें दण्ड दें परन्तु मैंने स्वार्थवश तो कुछ कहा ही नहीं है। अपनी बुद्धि के अनुसार मैं जो रहस्य समझ सकी, आपके सामने उसका प्रकाशन मेरा धर्म था। यह कोई मेरा अपना काम तो था नहीं। यह अवश्य सत्य है कि स्वामी स्वामी ही रहते हैं और सेवक सेवक ही।"

दासी मन्थरा ने पृथ्वी तक झुक कर प्रणाम किया, यद्यपि इस अभिवादन में भी अविवेक भरा था (शिष्टाचार अथवा आदर का सर्वथा अभाव था) और वह बिना अधिक समय ठहरे वहाँ से चली गयी।

'साकेत' की मन्थरा में इतनी शक्ति शेष नहीं कि रौद्र-स्वरूपिणी कैकेयी के सम्मुख अधिक समय तक ठहर सके। उसे वहाँ ठहरने में भय ही भय दिखाई दिया परन्तु वह अपने आप वहाँ से जा भी न सकी। वह निश्चय न कर सकी कि क्या करे? ठहरने में भय था और चले जाने का साहस न था। 'हटी न अपने आप' में अविनय की भी झलक है। उसे अपना अपराध मान लेने और क्षमा-याचना करने के अतिरिक्त कोई मार्ग न दिखाई दिया। क्षमा-याचना के लिए भी उसे स्वर साधना पड़ा, कहीं इस अवसर पर भी कोई अनुचित बात ज़बान से न निकल जाए और लेने के देने न पड़ जाएं। परास्त दासी को अन्त में यह स्वीकार करना पड़ता है कि "सेवक सेवक ही हैं और स्वामी स्वामी ही।"

गई दासी पर उसकी बात ··· ··· ··· ··· उन्हें जो गेह!'

दासी तो चली गयी परन्तु उसकी बात से कैकेयी को कुछ चोट सी पहुँची। महाराज ने भरत जैसे पुत्र पर भी संदेह किया जो उसे इस अवसर पर भी न बुलाया! जान पड़ता था मानों पवन भी पुकार-पुकार कर कह रहा था, "महाराज ने भरत जैसे पुत्र पर भी सन्देह किया जो उन्हें इस अवसर भी न बुलाया" रानी के कानों में एक ही आवाज गूंज रही थी और वह तान तीर की भाँति चुभ रही थी—"महाराज ने भरत जैसे पुत्र पर भी सन्देह किया और उन्हें इस अवसर पर भी घर न बुलाया।"

मन्थरा चली तो गयी परन्तु अपना काम पूरा कर गयी। उसके इन शब्दों ने कैकेयी का मानसिक-संतुलन छिन्न-भिन्न कर दिया: "महाराज ने भरत जैसे पुत्र पर भी सन्देह किया जो उन्हें इस अवसर पर घर भी न बुलाया।" भरत से सुत पर भी सन्देह! वही भरत जो राम के लिए सहर्ष सर्वस्व न्योछावर करने के लिए

सदैव प्रस्तुत है। उसी भरत पर सन्देह ! सन्देह के कारण ही तो महाराज ने इस अवसर पर भी उन्हें घर बुलाया तक नहीं ! रानी के कानों में चारों ओर से यही आवाज़ आने लगी परन्तु अभी यह आवाज़ 'शून्य में होने वाली पुकार के समान' ही है। रानी ने इस विचार को अभी अपने हृदय में स्थायी स्थान नहीं दिया है। अभी तो उसे वह तान 'तीर जैसी' लग रही है। यदि वह किसी प्रकार इस तान से दूर रह सके, बच सके तो उसे सन्तोष ही हो......परन्तु रानी के संकल्प-विकल्पों को चीरता हुआ यह वाक्य बार-बार उसके सामने आकर खड़ा हो जाता है। कैकेयी के मस्तिष्क में उलझे इस वाक्य की पुनरावृत्ति द्वारा कवि ने भावों के आरोह-अवरोह का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है।

मूर्ति-सी बनी हुई उस ठौर ··· ··· ··· ···· करने लगी विचार ।

अब कैकेयी अधिक समय तक मूर्ति-सी बन कर वहाँ खड़ी न रह सकी। अतः उसी समय अपने शयन-कक्ष की ओर चली। उस समय उसकी चाल एक गम्भीर सरिता के समान थी। जान पड़ता था कि उसमें अपने शरीर का भार सहन करने की शक्ति भी नहीं रही। अतः वह लेट कर सम्पूर्ण स्थिति पर विचार करने लगी।

रानी कुछ समय तक तो मूर्ति-सी बनी शून्य में होने वाली पुकार सुनती रही परन्तु अधिक समय तक यह भी सम्भव न हो सका। कुछ देर तक वह उस स्थान से हिल भी न सकी परन्तु यह स्थिति असह्य हो जाने पर वह तत्काल शयन-कक्ष की ओर चली। 'तत्काल' जाने पर भी वह तेज़ी के साथ आगे न बढ़ सकी। उसकी चाल तो एक 'गभीरा सरिता' के समान थी। भावों में डूबी कैकेयी की मनः स्थिति का कितना सफल चित्रण है !

शयन-कक्ष में पहुँच कर तो मानो वह अपने शरीर का भार भी न सह सकी और लेटकर विचार करने लगी। 'साकेत' की कैकेयी अपने हृदय में उत्पन्न इस नवीन भावना को तुरन्त स्वीकार नहीं कर लेती। वह तो इसे स्वीकार करने से पूर्व भली प्रकार इसकी परख कर लेना चाहती है।

कहा तब उसने "हे भगवान् ··· ··· ··· ··· संशय के नाग ?

उसने कहा, "हे भगवान् ! मेरे कान आज यह क्या सुन रहे हैं ? मेरे मन-मन्दिर की शान्ति आज मरण (की शान्ति) का रूप क्यों धारण करती जा रही है ? किसने यह आग लगा दी ? संशय का यह नाग कहाँ छिपा था ?

कैकेयी ने जो कुछ सुना वह उसे सर्वथा अरुचिकर है। उन शब्दों में छिपे

विनाश से वह पूर्णतः परिचित है। इसीलिए तो उसका हृदय बेचैन हो हो जाता है। आज तक उसका हृदय, मन्दिर की भाँति पवित्र और शान्त था। आज वही शान्ति मरण (अन्त) की ओर उन्मुख हो रही है। वह निश्चय नहीं कर पाती कि किसी अज्ञात दिशा से आकर संशय का यह नाग उसे पराभूत क्यों करता जा रहा है ?

नाथ, कैकेयी के वर-वित्त .... सुत के साथ ?

"हे नाथ ! हे कैकेयी के श्रेष्ठ धन ! तुम स्वयं उसका (अर्थात् मेरा) हृदय चीर कर देख लो। वहाँ तुम्हें स्वार्थ का लेश-मात्र भी नहीं मिलेगा। वहाँ तो केवल तुम्हारा ही निवास है। तुम भी, अब से पहले, सदा ही, अत्यन्त उदार थे। आज अचानक यह विकार क्यों उत्पन्न हो गया ? तुमने भरत जैसे पुत्र पर भी सन्देह किया और इस अवसर पर उसे घर बुलाया तक नहीं ? यदि तुम्हें इस अवसर पर भरत की और मेरी उपस्थिति अरुचिकर थी, तो क्या उसके लिये रास्ता खुला न था ? तुमने भरत के साथ मुझे भी भाई के घर क्यों न भेज दिया ?"

'साकेत' की कैकेयी का हृदय सर्वप्रथम आत्म-विश्लेषण में ही प्रवृत्त होता है। वह किसी अन्य व्यक्ति पर दोषारोपण करने से पूर्व अपने चरित्र एवं व्यवहार की पूर्णतः परीक्षा कर लेना चाहती है। अपने को सर्वथा निर्दोष पाकर वह कातर वाणी में केवल इतना ही कहती है : "हे नाथ, हे कैकेयी के श्रेष्ठ धन..."

'कैकेयी के वर वित्त' कह कर कैकेयी ने अपने समस्त ऐश्वर्य और सुख को महाराज दशरथ में केन्द्रित कर दिया है। वह अपने स्वामी से अनुरोध करती है कि वह कृपया अपनी कैकेयी अथवा अपने भरत पर किसी प्रकार का सन्देह करने से पूर्व एक बार उसका हृदय तो चीर कर देख लें। ऐसा करने पर उन्हें विश्वास हो जाएगा कि कैकेयी के हृदय में तिल-मात्र भी स्वार्थ नहीं। उसके हृदय में तो केवल अपने पति का ही निवास है।

कैकेयी भली प्रकार जानती है कि महाराज दशरथ सदा ही उसके प्रति अत्यधिक उदार रहे हैं। वह कृतज्ञता भरे स्वर में इस सत्य को स्वीकार भी करती है परन्तु दशरथ के हृदय में अनायास उत्पन्न होने वाले इस 'विकार' का कारण समझने में वह सर्वथा असमर्थ है।

विकार ? महाराज के सतत पवित्र हृदय में भरत के प्रति सन्देह का भाव विकार ही तो है; और सन्देह किस पर ? भरत-से सुत पर ! यह तो और भी आश्चर्य तथा खेद की बात है। 'सहसा' दशरथ के व्यवहार में होने वाले आकस्मिक और अकारण परिवर्तन का द्योतक है।

... और यदि यह सत्य है कि महाराज इस अवसर पर जान बूझ कर भरत को अयोध्या से दूर रखना चाहते थे तो उन्होंने 'भरत की माँ, को भी सुत के साथ अयोध्या से दूर क्यों न भेज दिया ? कैकेयी और भरत अब माँ-बेटे हैं । कैकेयी अपने भाग्य को भरत से भिन्न नहीं देख सकती । उसका हृदय अभी राम से दूर तो नहीं हटा है किन्तु भरत के निकटतर अवश्य आ गया है ।

राज्य का अधिकारी है ज्येष्ठ ··· ···· ··· ···· बनता वीभत्स ?

"राज्य पर तो बड़े बेटे का ही अधिकार होता है और फिर राम में तो सब (आवश्यक) सद्गुण भी हैं । क्या फिर भी मेरा पुत्र शान्त रस में वीभत्स बनता ?"

राम दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र हैं । कैकेयी जानती तथा स्वीकार करती है कि ज्येष्ठ होने के नाते वही राज्य के अधिकारी हैं । वह तो यह कल्पना भी नहीं कर पाती कि उसका वत्स, भरत, महाराज के इस निश्चय का कभी विरोध करता । 'मेरा वत्स' कैकेयी को भरत के और समीप ले आया है ।

काव्याचार्यों ने शान्त और वीभत्स को परस्पर-विरोधी रस माना है ।

तुम्हारा अनुज भरत हे राम ··· ··· ··· ··· जानता अन्य ।

"हे राम, तुम्हारा छोटा भाई भरत क्या बिलकुल निःस्वार्थ नहीं है ? हे कुलश्रेष्ठ, जितना तुम भरत को जानते हो उतना क्या कोई और जानता है ?

'मेरा वत्स' कह कर कैकेयी भरत के कुछ समीप तो अवश्य आ जाती है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह अथवा उसका भरत राम से दूर हट गया है । 'तुम्हारा अनुज' इसका प्रमाण है । भरत के हृदय की निष्कामता की साक्षी वह स्वयं नहीं देना चाहती । 'वह यह कार्य तो कुलधन्य राम' को ही सौंपती है । राम के प्रति कैकेयी का विश्वास अभी अक्षुण्ण है ।

भरत रे भरत शील-समुदाय ··· ···· ··· ··· मेरा यह गात्र !

"हे शील-सम्पन्न भरत, यदि मेरे गर्भ में आकर तू भी संशय का पात्र बना तो यही अच्छा है कि मेरा यह शरीर ही भस्म हो जाए ।

कैकेयी अपने पुत्र के शील-स्वभाव से पूर्णतः परिचित है । उसे इस पर उचित गर्व भी है । वह किसी दशा में भी यह गर्व खोना नहीं चाहती । उसकी यही इच्छा है कि यदि उसके गर्भ में आ कर भरत जैसा पुत्र भी संशय का पात्र बना तो इस अपमान से तो यही अच्छा है कि उसका वह शरीर ही जल कर भस्म हो जाए जिसने भरत को जन्म दिया ।

चली जा पृथिवी तू पाताल ···· ··· ···· ···· ···· पहले करता वास ।

(पृथ्वी को सम्बोधित करके कैकेयी कहती है कि) हे पृथ्वी, तू रसातल में चली जा, व्यर्थ ही अपने आप को संशय में न डाल । (तुझ पर अब कहीं भी विश्वास का अस्तित्व ही नहीं रहा ।) यदि तुझ पर कहीं भी विश्वास का अस्तित्व होता तो भरत सर्वप्रथम उस विश्वास का अधिकारी बनता ।

अरे विश्वास, विश्व-विख्यात ···· ··· ··· ···· हा घातक दुर्दैव !

कैकेयी कहती है, "अरे संसार-प्रसिद्ध विश्वास, तेरा नाश किसने किया है ? भरत ने ? नहीं, वह तो तेरी मूर्ति है । राम ने ? नहीं, वह प्राणों की स्फूर्ति है । महाराज ने ? नहीं, वह तो सदा से ही दयालु हैं । दैव ने ? हा सर्वनाशी दुर्दैव !

कैकेयी यह निश्चय नहीं कर पाती कि इस विश्वास का नाश करने में मूल कारण कौन है । भरत, राम अथवा महाराज दशरथ की ओर से उसका हृदय अभी निःशंक है । अवश्य ही दुर्दैव कुछ अनिष्ट करना चाहता है ।

आधार ग्रन्थों में जो दैव आरम्भ से ही समस्त घटनाचक्र को नियन्त्रित कर रहा था वह 'साकेत' में, असीम मानसिक वेदना की अवस्था में ही, अत्यन्त स्वाभाविक रूप में, उपस्थित होता है ।

तुझे क्या हे अदृष्ट ··· ···· ··· ··· वीर रखते हैं उसे अधीन ।

"हे विधाता, क्या तू सूर्यकुल का अमङ्गल ही चाहता है ? परन्तु भाग्य का बन्धन राघवों को कैसे बाँध सकता है । भाग्य के अधीन तो दीन ही रहते हैं । वीर तो उसे अपने ही अधिकार में रखते हैं ।

'साकेत' की कैकेयी तो दैव के समक्ष भी सहसा आत्म-समर्पण नहीं करती । उसका विश्वास है कि रघुकुल के वीरों पर भाग्य भी विजय प्राप्त नहीं कर सकता । उसे रघुकुल पर असीम गर्व एवं अखंड विश्वास है और यह सर्वथा उचित भी है ।

हाय, तब तूने अरे अदृष्ट ··· ··· ···· ···· उसे जो गेह !

"अरे भाग्य, तब क्या तूने जीजी को अपनी ओर आकर्षित कर लिया है ? क्या तूने उन्हें अबला और सरला जानकर उन पर अपना जाल बिछा दिया है ? यह भी कैसी सरलता है जो इस प्रकार काँटा बन कर दुःख देती है ? भरत जैसे पुत्र पर भी सन्देह किया गया और उसे इस अवसर पर घर भी न बुलाया गया ।

कैकेयी द्वारा कौसल्या के प्रति प्रयुक्त दोनों विशेषण, 'अबला' और 'सरला',

अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। 'साकेत' की कैकेयी के हृदय में अभी कौशल्या के प्रति कोई क्रोध अथवा द्वेष नहीं। अभी तो उसके हृदय में कौशल्या के प्रति हार्दिक सहानुभूति ही है।

बहन कौसल्ये कह दो सत्य .... यह परिणाम ?

"बहन कौसल्ये, तुम सत्य-सत्य कह दो, क्या भरत कभी मेरा पुत्र था और क्या राम कभी तुम्हारा पुत्र था ? हाय, फिर भी यह परिणाम सामने आया ?

राम ने सदा कैकेयी को माँ माना और भरत ने कौसल्या को। कैकेयी ने सदा राम को अपना पुत्र माना और कौसल्या ने भरत को। कैकेयी और कौसल्या के पारस्परिक सम्बन्ध 'बहन कौसल्ये' से स्पष्ट हैं। तभी तो कैकेयी प्रस्तुत परिणाम देख कर व्याकुल हो जाती है। यदि सम्भव होता तो वह अवश्य प्राणपण से यह परिणाम रोक लेती परन्तु कैकेयी, गभीरा सरिता, इस समय अपने भाव-प्रवाह से परे हट कर दूसरों के सामने अपनी शंकाएँ और अपने विश्वास प्रकट करने में सर्वथा असमर्थ है।

किन्तु चाहे जो कुछ हो जाय .... भूले जो प्रतिशोध।

"परन्तु चाहे कुछ भी हो जाय मैं यह अन्याय कभी न सहूंगी और इसका बदला लूँगी। चाहे इस प्रकार सारा संसार ही क्यों न पलट जाय। कैकेयी इतनी मूर्खा नहीं है कि पुत्र का बदला लेना भूल जाए।

स्वयं अपने और भरत के हृदय की भली भाँति जाँच-पड़ताल करते हुए कैकेयी की विचार-सरिता क्रमशः महाराज दशरथ, राम और कौसल्या पर से बहती हुई एक स्थान पर जा कर ठहर जाती है—*अन्याय*। उसे निश्चय हो जाता है कि भरत के साथ अन्याय हो रहा है और वह सारे संसार की बलि चढ़ा कर भी इस अन्याय का प्रतिकार करने का संकल्प करती है। यह संकल्प करने से पूर्व कैकेयी ने सम्पूर्ण वस्तु-स्थिति को अनेक दृष्टिकोणों से देखा-परखा है। इस निश्चय तक पहुँचने में उसे बहुत समय लगा है, इसीलिए अब उसका निर्णय भी अन्तिम है। वीर सम्राणी अन्याय नहीं सह सकती, नहीं सह सकती 'पलट जाए चाहे संसार'।

कहें सब मुझको लोभासक्त ... ... तू न विरक्त।"

"सारा संसार चाहे मुझे लोभलिप्ता कहे परन्तु पुत्र भरत, तू मुझ से अलग (असहमत अथवा विरुद्ध) न हूजो।"

'साकेत' की कैकेयी के इस कथन से स्पष्ट है कि उसने किसी लोभवश राम के अभिषेक का विरोध करने का निश्चय नहीं किया। वह यह भी जानती है कि इस

पर भी संसार उसे लोभासक्त कहेगा। उसे इसकी चिन्ता नहीं। पुत्र के प्रति होने वाले अन्याय का प्रतिकार करने के लिए माँ सब कुछ सहने के लिए तैयार है। इस दृढ़ निश्चय को अपने संकल्प की सफलता पर भी पूर्ण विश्वास है। उसे भय है तो केवल यही कि 'सुत, हूजो तू न विरक्त'। 'भरत सा सुत' उसका साथ भी देगा या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर तो भविष्य के गर्भ में छिपा है।

भरत की माँ हो गई अधीर ··· ··· ··· ··· अब भी हो परितोष।

भरत की माँ बेचैन हो गयी। क्रोध के कारण उसका शरीर जलने लगा। जलन से भरा सौतिया डाह तो केवल विष की धारा ही बहाता है। मानिनी कैकेयी का क्रोध बुद्धि का नाश करने लगा। अब वह शान्त न रह सकी और भ्रमित सी हो कर आँधी की भाँति उठी। उसके बाल खुल कर एड़ियों तक आ गिरे और देवी ने दुर्गा का रूप धारण कर लिया। उस समय तो जिस वस्तु पर भी उसका हाथ पड़ा उसे उसने नष्ट-भ्रष्ट करके ही छोड़ा। उसने अब अपने समस्त शृङ्गार (आभूषण आदि) तोड़ कर फेंक दिये मानों वे मोतियों के हार भी आँसुओं से भरे थे (रो रहे थे)। फूलों को दलती मस्त हथिनी की तरह वह बेसुध सी हो कर इधर-उधर घूमने लगी। उसने (दीवारों आदि पर लगे) सुन्दर चित्र तोड़ डाले। आज वे उसे शत्रु जान पड़ते थे। उसके गरम साँस बाहर आ-आ कर उसके हृदय में बढ़ती हुई जलन की आग की सूचना दे रहे थे। चोट खा-खा कर गिरते समय पात्र हा-हाकार करके कहते थे, "दोष किसी का है, क्रोध किसी पर आ रहा है परन्तु यदि इससे भी शान्ति हो जाए तो कुशल है।"

आधार-ग्रन्थों में मन्थरा कैकेयी को कोप-भवन में जाने और कोप का अभिनय करने के सम्बन्ध में आवश्यक शिक्षा देती है।

क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते।
शेष्वानन्तर्हितायां त्वं भूमौ मलिनवासिनी॥
मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः।
रुदती चापि तं दृष्ट्वा जगत्यां शोकलालसा॥

(हे अश्वपति की बेटी, तू अभी मैले कपड़े पहिनकर, बिना बिछौने बिछाए और कोप-भवन में जा कर, क्रुद्ध हो ज़मीन पर लेट जा। जब महाराज दशरथ आएं तब तू न तो उनकी ओर देखना और न कुछ बातचीत करना केवल शोकातुर हो रोती हुई, जमीन पर लोटा करना।†)

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ९, श्लोक २२, २३।

'अध्यात्म रामायण' की मन्थरा का उपदेश है :—

अतः शीघ्रं प्रविश्याद्य क्रोधागारं रुषान्विता।
विमुच्य सर्वाभरणं सर्वतो विनिकीर्य च॥
भूमावेव शयाना त्वं तूष्णीमातिष्ठ भामिनि!
यावत्सत्यं प्रतिज्ञाय राजाभीष्टं करोति ते॥

(अतः हे भामिनी, अब तुम शीघ्र ही रोष-पूर्वक कोप-भवन में जाओ और अपने समस्त आभूषण उतार कर इधर-उधर बखेर दो तथा जब तक सत्य प्रतिज्ञा पूर्वक राजा तुम्हारा अभीष्ट कार्य करने को तत्पर न हों तब तक चुपचाप पृथ्वी पर पड़ी रहो।)*

'रामचरितमानस' में कैकेयी—

कोप समाजु साजि सबु सोई†

'साकेत' की कैकेयी कोप का '*अभिनय*' नहीं करती। यहाँ तो परिस्थिति का भली प्रकार अध्ययन करने और उसके सम्बन्ध में आवश्यक निश्चय करने के उपरान्त स्वयमेव ही, स्वाभाविक रूप से, 'भरत की माँ' अधीर हो जाती है। कैकेयी की भावनाओं का परिवर्त्तन 'भरत की माँ' से स्पष्ट है। भरत और कैकेयी अब माँ-बेटे हैं। बेटे के साथ अन्याय हो रहा है। क्रोध के कारण माँ का शरीर जलने लगता है और दाह से भरा सौतिया डाह विष-प्रवाह बहाना आरम्भ कर देता है। मानिनी कैकेयी का क्रोध धीरे-धीरे उसकी बुद्धि का विलोप करने लगता है...

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है, अविवेक से स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान-शक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य अपने श्रेय-साधन से गिर जाता है।)‡

फलतः कैकेयी बवंडर की भाँति उठकर तोड़-फोड़ में लग जाती है। कैकेयी का यह दुर्गा-रूप 'साकेत' की अपनी वस्तु है।

'अश्रुमय से थे मुक्ताहार' : 'आँसू' और 'मोती' पानी की बूँद के ही तो दो भिन्न रूप हैं।

---

* अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग २, श्लोक ७४, ७५।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

‡ श्रीमद्भगवद् गीता, अध्याय २, श्लोक ६३।

'चूर कर डाले सुन्दर चित्र' : ये चित्र कैकेयी के उस बीते जीवन से सम्बन्ध रखते तथा उसकी याद दिलाते हैं जिससे आज उसे घृणा है । तभी तो उसकी दृष्टि में ये चित्र 'अमित्र' हो गये हैं ।

इसी क्षण कौसल्या अन्यत्र ··· ···· ···· ···· असि की धार ?

इसी समय दूसरे भवन में कौसल्या सब प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करके सीता को युवराज्ञी के योग्य मनोहर उपदेश दे रही थीं । कैकेयी, इधर, अपने सामने उनका अपवित्र चित्र ही खींच रही थी । द्वेष अथवा क्रोध में मनुष्य दूसरे के गुणों की उपेक्षा करके केवल दोष ही देखता है । कैकेयी को ऐसा लग रहा था मानों कौसल्या साक्षात् राजमाता होकर बार-बार उसकी ओर देखकर हँस रही हैं । वह हँसी तलवार की धार के समान तीखी थी ।

कवि ने कहा है कि द्वेष अथवा क्रोध में मनुष्य, गुणों की उपेक्षा करके, दूसरों के दोष ही देखता है । कैकेयी कुछ समय पहले कौसल्या को 'बहन कौसल्ये', 'जीजी', 'अबला', 'सरला' आदि कह चुकी है । उस समय तक उसे विश्वास था कि—

राम की माँ क्या कल या आज ,
कहेगा मुझे न लोक समाज ?

किन्तु इस समय परिस्थिति भिन्न है । कैकेयी के नेत्रों पर द्वेष का आवरण पड़ चुका है । क्रोध एवं प्रतिहिंसा की भावनाएं उसके हृदय में जागृत हैं । इस समय तो उसके सामने कौसल्या का वही चित्र बार-बार आ रहा है जिसकी ओर संकेत करते हुए मन्थरा ने कहा था—

राजमाता होंगी जब एक
दूसरी देखेंगी अभिषेक ।

उठी तत्क्षण कैकेयी काँप ···· ···· ···· ···· फणिनी-सी फुंकार !

कैकेयी उसी समय काँप उठी । उसने होंठ काटे और हाथ फटकारे । बार-बार पृथ्वी पर पैर पटक-पटक कर वह अपना वैर प्रकट करने लगी । अन्त में वह समस्त अङ्ग समेट कर वहीं पृथ्वी पर लेट गयी और बार-बार इस प्रकार हुंकार भरने लगी मानो चोट खाई हुई सर्पिणी फुंकारें मार रही हो ।

कौसल्या को राजमाता के रूप में देखकर कैकेयी काँप उठी । उसके क्रोध की सीमा न रही । उसने होंठ काटे, हाथ फटकारे, पैर पटके और इस प्रकार अपना क्रोध व्यक्त किया । अन्त में वह अपने अंग समेट कर पृथ्वी पर लेट गयी । बार-बार

हुँकार भरती हुई कैकेयी की तुलना, 'साकेत' के कवि ने, चोट खाई हुई सर्पिणी से की है जो सर्वथा उपयुक्त है।

इधर यों हुआ रंग में भंग ··· ···· ··· ···· भरत-भाव की पूर्ति।

इस ओर इस प्रकार रंग में भंग हो गया। उधर ऊर्मिला और लक्ष्मण भरत के सम्बन्ध में बातचीत कर रहे थे। ऊर्मिला लक्ष्मण का उत्तर ध्यानपूर्वक सुन रही थी।

भरत की अनुपस्थिति के कारण पर प्रकाश डालते हुए लक्ष्मण कह रहे थे, "हमें भी भरत की अनुपस्थिति का बहुत दुःख है, परन्तु समय इतना कम था कि वे शुभ-संकल्प आ नहीं सकते थे। इसके बाद ऐसा अच्छा कोई मुहूर्त न था और पिताजी शीघ्रातिशीघ्र यह कार्य सम्पन्न करना चाहते थे। इस विषय में चिन्ता व्यर्थ है। आर्य (राम) शुभ-संकल्प (भरत) से भिन्न नहीं। वही भरत-भाव की भी पूर्ति कर देंगे।"

आधार-ग्रन्थों में भरत की अनुपस्थिति का कोई विशेष कारण स्पष्टतः वर्णित नहीं है। 'साकेत' के प्रत्येक पात्र को यही अभाव सबसे अधिक खटकता है। राम-राज्याभिषेक के चित्र में ऊर्मिला भरत को उपस्थित करके पहले ही इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयास कर चुकी है। अब वह फिर भरत-विषयक वार्तालाप छेड़कर चुपचाप लक्ष्मण का उत्तर सुन रही है। लक्ष्मण का यह उत्तर ऊर्मिला को सन्तुष्ट कर देता है :

चलो अविभिन्न आर्य की मूर्ति,
करेगी भरत - भाव की पूर्ति।

इस समय क्या करते थे राम ···· ···· ···· ···· उनके सब अंग।

राम इस समय क्या कर रहे थे? वह तो अपने हृदय की भावनाओं से ही जूझ रहे थे। उच्च हिमालय से भी अधिक धैर्यशाली राम इस समय सागर के समान गम्भीर थे। शीघ्र ही प्राप्त होने वाला अपार अधिकार उन्हें भार-सा जान पड़ रहा था। पिता का वनवास समीप देख कर वह उदास हो रहे थे। पितृवत्सलता का सुख और उसके साथ मिला अपना बाल्य-भाव, दोनों को एक साथ ही समाप्त होता देख कर उनके सब अङ्ग शिथिल से हो रहे थे।

महाराज ने राम को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया है। महाराज दशरथ के विशाल साम्राज्य का 'अपार अधिकार' राम को 'भार' सा लग रहा है। एक ओर कर्तव्यों का यह भार और दूसरी ओर पिता का वनवास। दोनों ने राम के हृदय में एक आन्दोलन सा उठा दिया है। धैर्य-मूर्ति राम इस समय गम्भीर हैं, चिन्तामग्न हैं।

कहा वैदेही ने "हे नाथ, ... यह अधिकार ?"

वैदेही ने कहा, "हे नाथ ! अब तक चारों भाई एक साथ ही बराबर समस्त सुख भोग करते थे। व्यवस्था (कुल-धर्म) के कारण आज यह संयोग नष्ट हो रहा है ! महाराज तुम्हें अन्य भाइयों से अलग-सा करके राज्य दे रहे हैं। क्या तुम्हें यह अधिकार अच्छा लगता है ?"

यहाँ सीता को 'वैदेही' कहा गया है। उनका कथन उनकी विदेहता का प्रमाण है।

कुल-गुरु के मुख से राज्याभिषेक का समाचार सुनकर 'रामचरितमानस' में :

राम हृदयँ अस बिसमउ भयऊ ॥
जनमे एक संग सब भाई ।
भोजन सयन केलि लरिकाई ॥
करनबेध उपबीत बिआहा ।
संग संग सब भए उछाहा ॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू ।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥

गोस्वामीजी ने यह प्रसंग कैकेयी-कूबरी-भेंट से पूर्व रखा है। 'साकेत' में इसे मन्थरा-कैकेयी-संवाद के उपरान्त स्थान दिया गया है और ये भाव राम के शब्दों में व्यक्त न करा कर सीता द्वारा अभिव्यक्त कराये गये हैं। 'साकेत' में राम, सीता के हृदय में उठने वाली, इस शंका का समाधान करते हैं।

"राज्य है प्रिये भोग या भार ... ... दायित्व-हेतु है राम ।"

राम ने उत्तर दिया, "प्रिये, राज्य भोग नहीं है, भार है। अत: बड़े को बड़ा ही दण्ड दिया गया है। राज्य तो प्रजा की धरोहर है। यह अक्षुण्ण रहे। तथापि तुम चिन्ता न करो। यहाँ राहित्य न होकर साहित्य ही है (मैं भरत आदि भाइयों से 'रहित होकर' राज्य नहीं करूंगा अपितु उनके 'सहित' राज्य करूंगा)। मेरी राज्य-व्यवस्था में साधु भरत का परामर्श रहेगा, मनस्वी लक्ष्मण की शक्ति होगी और घर-धाम पर तुम्हारे छोटे देवर, शत्रुघ्न, का अधिकार होगा। मैं तो केवल उत्तरदायित्व ही संभालूंगा।"

"राज्य भोग नहीं है, भार है" राम के इन शब्दों में प्रत्येक देश-काल के शासक-वर्ग के लिए साकेतकार का यह स्पष्ट आदेश है। राम बड़े हैं अतः उन्हें उत्तरदायित्व के रूप में बड़ा ही दंड भी दिया गया है। राम के राज्य में कोई तानाशाही न होगी। वहाँ तो साधु भरत की मन्त्रणा होगी और मनस्वी लक्ष्मण की शक्ति। राम ने यहाँ भरत के लिए 'साधु' और लक्ष्मण के लिए 'मनस्वी'

विशेषण का प्रयोग किया है। राम-कथा के ज्ञाता भली प्रकार जानते हैं कि भरत के लिए 'साधु' से अधिक उपयुक्त विशेषण नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त मन्त्रणा देने का वास्तविक अधिकारी भी 'साधु' से अधिक कोई नहीं हो सकता। निरपेक्ष भाव से स्वतन्त्र और सही सम्मति वीतराग साधु से ही प्राप्त हो सकती है।

बल-तन्त्र के अधिकारी लक्ष्मण 'मनस्वी' हैं। 'मनस्वी' में वीरता और बुद्धि का सम्मिश्रण है। राम-राज्य में पशु-बल की आवश्यकता नहीं, यहाँ उसके लिए कोई स्थान ही नहीं। यहाँ तो वीरता के साथ बुद्धि, बल-प्रदर्शन के लिए न्यायोचित कारण की आवश्यकता है। क्योंकि यहाँ—

*नीतियों के साथ रहती रीतियाँ।**

साधु का मन्त्र और मनस्वी का बल-तन्त्र पाकर राजा तो 'मात्र दायित्व हेतु' ही रह जाता है।

"नाथ यह राज-नियुक्ति पुनीत ... . सस्नेह।"

सीता ने संतुष्ट होकर कहा, "नाथ! तब तो यह राज नियुक्ति सब प्रकार पवित्र है, परन्तु इसमें सबसे छोटे देवर (शत्रुघ्न) की ही सबसे अधिक जीत है जिनके अधीन मन्त्री और सेनापति के साथ स्वयं नृप का निवास-स्थान भी रहेगा।"

राम का उत्तर सीता को सन्तुष्ट कर देता है। अब उनके हृदय में कोई शंका शेष नहीं। यह राज-नियुक्ति अब सब प्रकार से पवित्र है। इस व्यवस्था में जहाँ बड़े के लिए बड़ा ही दंड है वहाँ 'लघु देवर की जीत' भी है। विश्व के शासन-विधान में अन्यत्र ऐसा उदाहरण दुर्लभ है।

कोपना कैकेयी की बात ... ... होता है प्रतिपल!

क्रुद्धा कैकेयी की बात अभी तक किसी को भी ज्ञात न थी। न जाने पृथ्वी पर गुप्त रूप से कहाँ क्या निश्चय होता रहता है।

भूप क्या करते थे इस काल? ... ... छिड़ा प्रसंग।

महाराज दशरथ इस समय क्या कर रहे थे? लेखनी, उनका भी हाल लिख। महाराज कुलगुरु के पास बैठे थे और भरत के सम्बन्ध में ही बातचीत हो रही थी।

'साकेत' के दशरथ और वसिष्ठ भी भरत की अनुपस्थिति के कारण ही चिन्तित हैं।

कहा कुल-गुरु ने "निस्सन्देह, ... चिन्ता-मुक्त।"

कुलगुरु ने कहा, "वास्तव में यह दुःख की बात है कि भरत इस समय

---

* साकेत, सर्ग १।

अयोध्या में नहीं हैं, परन्तु यह अवसर इतना अच्छा था कि तुम्हारे लिए चिन्ता-मुक्त हो जाना ही ठीक था।"

भूप बोले "हाँ, मेरा चित्त ··· ··· ···· ··· कल नहीं शरीर।

राजा ने कहा, "हाँ, मेरा हृदय अपने भविष्य के सम्बन्ध में चिन्तित था। शरीर का क्या भरोसा? आज है तो कल नहीं। यही सोच कर मैं बेचैन हो रहा था।"

मार कर धोखे में मुनि-बाल ··· ··· ··· ··· निष्क्रान्ति!"

"मैंने एक बार धोखे से एक मुनि के बालक को मार दिया था। मुनि ने मुझे कठोर शाप दिया कि "तुम्हारे लिए भी पुत्र का वियोग प्राण-लेने वाला रोग सिद्ध होगा।" इसीलिए यह वियोग सुगम ही है। यह दुःखदायी होकर भी वांछित है। इसी बहाने यदि मुझे स्थायी शान्ति मिल जाए तो समझूँगा कि उस शाप से बहुत सुगमता से छुटकारा मिल गया।"

महाराज दशरथ को एक पुरानी घटना स्मरण हो आती है। पितृभक्त श्रवण अपने अन्धे माता-पिता को अनेक तीर्थों की यात्रा कराता हुआ अयोध्या पहुँचा। प्यासे माता-पिता के लिए जल लाने के विचार से वह सरयू नदी की ओर गया। उसने जल भरने के लिए जल का पात्र नदी में डुबोया। सरयू के दूसरे तट पर आखेट की प्रतीक्षा में बैठे महाराज दशरथ ने समझा कि दूसरे पार कोई हरिण सरयू का पानी पी रहा है। उन्होंने शब्द-वेधी बाण चलाया। श्रवण घायल होकर गिर पड़ा। मनुष्य का स्वर सुनकर महाराज दशरथ वहाँ पहुँचे। प्यासे माता-पिता को पानी पिलाने का भार महाराज दशरथ पर छोड़कर श्रवण सदा के लिए सो गया। दशरथ के मुख से सब वृत्तान्त सुनकर श्रवण के माता-पिता ने शाप दिया कि उन्हीं की भाँति दशरथ की मृत्यु भी पुत्र-वियोग में हो।

इसी घटना का स्मरण हो आने के कारण दशरथ, प्रस्तुत भरत-वियोग को 'दुःखमय होने पर भी इष्ट' मानते हैं। उनका विश्वास है कि पुत्र के इस अस्थायी वियोग से ही यदि उन्हें उस शाप से छुटकारा मिल जाए तो यह उनके लिए सौभाग्य की ही बात होगी।

दिया नृप को वसिष्ठ ने धैर्य ··· ···· ·· ···· सब व्यापार।"

वसिष्ठ मुनि ने महाराज को धैर्य बँधाया और कहा, "इस प्रकार अस्थिर होना ठीक नहीं। संसार के सब काम भाग्य के संकेतों के अनुसार ही होते हैं।"

"ठीक है" इतना कहकर भूप ···· ··· ···· ···· भीतर इस ओर।

"ठीक है" इतना कह कर महाराज दशरथ मौन हो गये। उस समय उनका रूप शान्त और मंगलमय था। संध्या हो रही थी, पवन भी मानों

कुछ थक गया था (अतः धीरे-धीरे चल रहा था)। कुलगुरु वसिष्ठ और आदि-देव, सूर्य, महाराज दशरथ से, प्रणाम के रूप में, समस्त पूजा-सामग्री प्राप्त करके जिधर जाना था उस ओर चले गये (अस्त हो गये) तब महाराज दशरथ भी भीतर महल की ओर चले।

अरुण सन्ध्या को आगे ठेल ··· ··· ···· ··· तत्काल।

रात्रि अपने मस्तक पर चन्द्रमा की बिन्दी सजा कर कुछ नया खेल देखने के लिए अरुण संध्या को आगे धकेल कर उसी समय वहाँ आ पहुँची।

यहाँ 'यामिनी' को नायिका के रूप में देखा गया है। नूतन खेल देखने की इच्छा से कुतूहलवश पीछे के दर्शक आगे खड़े हुए दर्शकों को प्रायः धक्का देकर आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं। इन पंक्तियों द्वारा कवि मानों पाठक को भी आगामी महत्वपूर्ण घटनाओं के लिए सचेत सा कर देता है।

सामने कैकेयी का गेह ···· ···· ··· ··· ज्वालामुखी पहाड़।

महाराज दशरथ ने स्नेह-भरे नेत्रों से सामने की ओर कैकेयी का शान्त महल देखा परन्तु मन्थरा ताड़ गयी थी कि वह शान्त दिखाई देने वाला महल वास्तव में ज्वालामुखी पहाड़ है।

कुल-गुरु से विदा लेने के उपरान्त महाराज दशरथ का ध्यान सबसे पहले रानी कैकेयी की ओर ही आकृष्ट होता है। महाराज अभी कुल-गुरु के सम्मुख भरत की अनुपस्थिति पर खेद प्रकट कर चुके हैं। कदाचित् 'भरत मातु' के हृदय में भी यही खेद हो। ऐसी दशा में कैकेयी की ओर ही सबसे पहले ध्यान देना आवश्यक भी है और स्वाभाविक भी। कैकेयी के प्रति वैसे भी महाराज का प्रेम कुछ अधिक ही है।

अस्तु, कैकेयी के भवन में महाराज के लिए विशेष आकर्षण है। वह स्नेह-भरे नेत्रों से उस ओर देखते हैं। महाराज को वह भवन सर्वथा शान्त दिखाई देता है। दूसरी ओर मन्थरा जानती है कि जिस महल को महाराज शान्त समझ रहे हैं वही कुछ क्षण के उपरान्त ज्वालामुखी पहाड़ सिद्ध होने वाला है।

काव्य में इस स्थान पर मन्थरा का प्रवेश सकारण है। मन्थरा ने कैकेयी को एक विशेष दिशा की ओर ले जाने का प्रयत्न किया था। उसे अपने उद्देश्य में तुरन्त सफलता प्राप्त न हो सकी थी और क्षमा-याचना करके कैकेयी के नेत्रों के सामने से हट जाना पड़ा था। अपमानिता दासी गुप्त रूप से स्वामिनी पर पड़ने

वाले प्रभावों और उनकी प्रतिक्रिया का निरीक्षण कर रही थी । अपने कुचक्र का परिणाम देखने के लिए ही मन्थरा इस समय कैकेयी के भवन की ओर जाते महाराज दशरथ की ओर दृष्टि गड़ाए बैठी थी । इस प्रकार यहाँ मन्थरा की उपस्थिति की सूचना उपयुक्त भी है और अनिवार्य भी ।

पधारे जब भीतर भूपाल ... . "हाय !"

महाराज ने कैकेयी के भवन में प्रवेश किया । वहाँ जाकर उन्होंने जो दशा देखी उससे वह निर्जीव होकर खड़े रह गये और उनके हृदय में भय और आश्चर्य का संचार होने लगा । ऐसा जान पड़ता था मानो कैकेयी के रूप में कोई शेरनी ही शिकार न पाकर सो-सी रही हो । उसका यह बढ़ा हुआ क्रोध क्या प्राण लेकर भी शान्त हो सकेगा ? यदि ऐसा हो जाय तो भी कुशल ही होगी । यह अप्रत्याशित दशा देख कर महाराज के मुख से केवल एक ही शब्द निकल सका "हाय !"

'वाल्मीकि रामायण'* तथा 'अध्यात्म रामायण'† में महाराज को प्रतिहारिन से यह समाचार मिलता है कि कैकेयी कोपभवन में हैं; गोस्वामी जी ने भी—

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ

लिख कर यही आशय प्रकट किया है; गुप्तजी के पास इतने विस्तार का अवकाश न था । अतः 'साकेत' में प्रसन्न दशरथ प्रतिहारी अथवा महारानी की दासियों से, उसके सम्बन्ध में पूछताछ करने में समय नष्ट नहीं करते । वह स्वयं, एक पल का भी विलम्ब किए बिना, कैकेयी के भवन में जा पहुँचते हैं । वहाँ की दशा देखकर वह भय और विस्मय की अधिकता के कारण निर्जीव से हो जाते हैं । कैकेयी इस प्रकार आँखें मूंदे पड़ी थी जिस प्रकार शिकार न पाने पर सिंहनी सविकार सोती है । 'सविकार' शब्द का आशय यही है कि ऐसी दशा में सिंहनी सोने का सा भाव ही प्रदर्शित करती है, सोती नहीं । वह तो इस प्रकार शिकार की ताक लगाती है । कैकेयी की दशा देखते ही महाराज दशरथ ने उसके एकान्त क्रोध की अगाधता का अनुभव करके यह निश्चय कर लिया कि कैकेयी का क्रोध उनके प्राण लेकर भी शान्त न होगा । इस अकल्पनीय स्थिति में छिपे सर्वनाश का चित्र सामने देखकर वह "हाय" शब्द का ही उच्चारण कर सके ।

टूट कर यह तारा इस रात ... ... अचानक काँप !

महाराज दशरथ यह निश्चय न कर सके कि यह तारा टूट कर इस

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग १०, श्लोक २१ ।

† अध्यात्म रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ३, श्लोक ५ ।

रात न जाने क्या उत्पात करेगा। भयंकर बिजली जैसी कैकेयी काले बादलों के समान काले वस्त्र लपेटे पड़ी थी। ये काले साँप छेड़ने की शक्ति किसमें है? महाराज दशरथ अचानक काँप उठे।

तारा टूटना (उल्कापात) अमंगल सूचक माना जाता है; भयंकर बिजली और काले साँप भी अनिष्ट के द्योतक हैं।

किन्तु करते क्या धीरज धार ···· ··· ···· ··· पितर पुनीत।

परन्तु महाराज दशरथ करते क्या? धैर्य धारण करके वह पहली बार (महाराज के लिए पृथ्वी पर बैठने का यह पहला ही अवसर था) पृथ्वी पर बैठ गये और कैकेयी के बिखरे बालों के रूप में फैले बड़े-बड़े साँपों से खेल-सा करते हुए नम्रतापूर्वक बोले, "प्रिये, आज यह क्रोध क्यों? मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आता। यह तो सत्य है कि मान तुम्हारा धन है परन्तु मैं तो वैसे ही तुम्हारे अधीन हूँ। यह हँसी तो जान नहीं पड़ती। आज जब सब प्रसन्न हैं और सुख-साज सजाये जा रहे हैं, उस समय तुम्हें क्या दुःख है? वह समय तो समाप्त हो गया, जब हमें प्रणय-कलह खट्टा होकर भी मधुर लगता था (ठीक उसी प्रकार जैसे आम की हल्की-सी खटास उसे अधिक स्वादिष्ट बना देती है)। अब तो हम राग-द्वेष से परे हैं और प्रेमी-मात्र के धरातल से उठ कर पवित्र पितर बन गये हैं।

महर्षि वाल्मीकि के दशरथ का कैकेयी से प्रथम प्रश्न है :

न ते ऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम्।
देवि केनाभियुक्तासि केन वासि विमानिता॥

(हमें यह भी नहीं मालूम हुआ कि तुम हमारे ऊपर क्यों क्रुद्ध हो रही हो? क्या किसी ने तुम्हारी कुछ निन्दा की है या किसी ने तुम्हारा कुछ अपमान किया है? ज़रा बतलाओ तो।)*

'अध्यात्म रामायण' के दशरथ सर्वप्रथम यह जानना चाहते हैं :

किं शेषे वसुधापृष्ठे पर्यंकादीन् विहाय च।
मां त्वं खेदयसे भीरु यतो मां नावभाषसे॥
अलंकारं परित्यज्य भूमौ मलिनवाससा।
किमर्थं ब्रूहि सकलं विधास्ये तव वांछितम्॥

(अयि भीरु, आज पलंग आदि को छोड़ कर इस प्रकार पृथ्वी पर क्यों पड़ी

---

* वाल्मीकि रामायण, 'अयोध्या कांड, सर्ग १०, श्लोक २८।

हो ? तुम हमसे कुछ बोलती नहीं हो, इससे हमें बड़ा खेद हो रहा है । समस्त आभूषण छोड़कर तुम मलिन वस्त्र पहने हुए पृथ्वी पर क्यों पड़ी हो ? तुम्हारी जो इच्छा हो सो कहो, मैं सब पूर्ण करूँगा ।)※

और 'रामचरितमानस' में :

जाइ निकट नृपु कह मृदु बानी।
प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी॥†

'साकेत' के दशरथ इस आकस्मिक परिस्थिति से काँप कर भी इसका सामना ही करने का प्रयत्न करते हैं। वह धैर्य के साथ कैकेयी से, उसके आकस्मिक क्रोध का कारण पूछते हैं। महाराज दशरथ तो आरम्भ में कैकेयी के क्रोध का कारण मान ही ठहराते हैं (गोस्वामी जी के दशरथ ने इसे काम-कौतुक समझा था : "तुलसी नृपति भवितव्यता बस काम कौतुक लेखई")। 'साकेत' के दशरथ का ध्यान 'मान' से हट कर क्रमशः 'विनोद' और 'प्रणय-कलह' की ओर जाता है। परन्तु प्रणय-कलह तो इस आयु में शोभा नहीं देता ! अब तो वे प्रेमी-मात्र न रह कर पितर बन गये हैं—राग-द्वेष से दूर, पवित्र विराग के समकक्ष।

भरत की अनुपस्थिति का खेद .... रखना है प्रेम।

"क्या तुम्हें भरत की अनुपस्थिति का दुःख है ? परन्तु इसमें एक ऐसा रहस्य है जिसमें मेरा मङ्गल छिपा है। प्रिये ! प्रेम में विश्वास का वास है।"

आधारग्रन्थों में महाराज दशरथ को यह ध्यान ही नहीं आता कि कैकेयी का क्रोध भरत की अनुपस्थिति के कारण भी हो सकता है। 'साकेत' के दशरथ को यहाँ फिर इस अभाव का भान होता है तथापि महाराज द्वारा किया गया स्पष्टीकरण सन्तोषजनक नहीं है। महाराज का उत्तर सत्य होकर भी अस्पष्ट अतः असन्तोषजनक है। कैकेयी के हृदय में सन्देह बनाए रखने के लिए यह अनिवार्य ही था।

हुआ तो यदि कुछ रोग-विकार ... ... समझो निज अधिकार।

महाराज दशरथ ने कैकेयी से कहा, "यदि तुम किसी रोग से पीड़ित हो तो मैं वैद्य को बुला कर उसका तुरन्त इलाज कराने को प्रस्तुत हूँ। मेरे लिए तो अमृत की प्राप्ति भी कठिन नहीं, क्योंकि मैं देवताओं की सभा का सदस्य हूँ। यदि किसी ने कोई ऐसा अपराध किया है जिसके कारण तुम क्रुद्ध हो तो उस अपराधी का नाम बता दो और समझ लो कि भाग्य उस

※ अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ३, श्लोक ७, ८।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

के विरुद्ध है। हे प्रिये! तुम अपनी इच्छित वस्तु का सुमधुर नाम तो बताओ। जहाँ तक सूर्य की किरणों की पहुँच है, वहाँ तक तुम अपना अधिकार समझो।"

'वाल्मीकि रामायण'*, 'अध्यात्म रामायण'† और 'रामचरितमानस'‡ के दशरथ भी कैकेयी के शारीरिक तापों को दूर करने के लिए बड़े से बड़ा वैद्य बुलाने, कैकेयी के अपराधी को बड़े से बड़ा दंड देने तथा असम्भव को भी सम्भव कर दिखाने के लिए प्रस्तुत हैं परन्तु गुप्त जी ने इस बात का ध्यान रखा है कि महाराज दशरथ के इस कथन में अभिमान की प्रधानता न होकर प्रेम की ही प्रधानता रहे। महाराज दशरथ के कथन को अभिमान से सर्वथा मुक्त करने के लिए ही साकेतकार ने अन्त में 'निज अधिकार' का प्रयोग किया है।

किसी को करना हो कुछ दान ··· ···· ···· ···· किसी प्रकार ?

"यदि तुम आज किसी को कुछ दान देना चाहती हो तो अपनी इच्छा से भी दुगना दान दो। रत्नाकर (समुद्र) की भाँति भरा-पूरा तुम्हारा यह कोप क्या किसी प्रकार समाप्त हो सकता है ?"

माँगना हो तुमको जो आज ··· ··· ···· ···· अब प्राण ?"

"यदि तुम आज कुछ माँगना चाहती हो तो क्रोध और संकोच त्याग कर प्रसन्नतापूर्वक माँग लो। तुमने तो अभी पहले दो वरदान भी नहीं लिये हैं फिर इस मान का कारण क्या है ? क्या तुम्हें वह देवासुर-संग्राम याद है जब मुझे, घायल होकर भी, विजय प्राप्त हुई थी। उस समय मेरे प्राणों की रक्षा किसने की थी ? फिर उन्हीं प्राणों को इस प्रकार विकल क्यों कर रही हो ?"

आधार-ग्रन्थों की कैकेयी को पहले से ही देवासुर-संग्राम में दिये गये दो वरदानों का स्मरण है अतः उसमें यह तक कहने का साहस है :

माँगु माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु।
देन कहेहु वरदान दुइ, तेउ पावत संदेहु ॥‡

किन्तु 'साकेत' की कैकेयी को अभी उन वरदानों की बात याद नहीं। स्वयं महाराज उसे उन वरदानों का स्मरण कराते हैं। इस प्रकार 'साकेत' का कवि महाराज

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग १०, श्लोक २९—३८।

† अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ३ श्लोक ६—१३।

‡ रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

दशरथ के चरित्र को अपेक्षाकृत उच्चतर धरातल तक ला सकने में सफल हुआ है। इसीलिए 'साकेत' के दशरथ को कैकेयी से क्षमा माँगते हुए यह नहीं कहना पड़ता :

थाती राखि न माँगिहु काऊ।
*बिसरि गयउ मोहि भोर सुभाऊ॥**

हुआ सचमुच यह प्रिय संवाद ··· ···· ···· ···· दो वरदान ?"

यह बात कैकेयी को वास्तव में अत्यन्त प्रिय लगी और उसे बीती बात याद आ गयी। फिर भी आँखें खोले बिना ही वह कटु शब्दों के रूप में महाराज पर बेत-सी चलाती हुई बोली, "चलो, इस झूठे प्रेम को रहने दो। मैं इस राजनीति से भली प्रकार परिचित हूँ। तुमने (उस समय भी) मुझे क्या मान दिया, केवल दो वरदानों का वचन ही तो दिया था न (उनकी पूर्ति तो न की ?)"

महाराज के मुख से देवासुर-संग्राम और दो वरदानों की बात सुनकर कैकेयी का हर्षित होना स्वाभाविक है। अब उसे अपनी योजना में शत-प्रतिशत सफलता दिखाई देती है। तथापि 'साकेत' की कैकेयी अभी अपने नेत्र नहीं खोलती। वह तो बन्द नेत्रों द्वारा महाराज के कथन के प्रति उदासीनता और उपेक्षा का भाव प्रकट करती हुई शब्द-बाण चलाती है। महाराज के प्रेम को झूठा कह कर और उनके व्यवहार और आश्वासन को राजनीति की चाल मात्र ठहरा कर वह अपना पक्ष और भी दृढ़ कर लेना चाहती है और उपयुक्त अवसर पाकर ही दोनों वरदान माँगने के लिए तत्पर होती है।

भूप ने कहा "न मारो बोल ··· ···· ···· ···· दान नहीं, उपहार ?"

महाराज दशरथ ने कहा, "इस प्रकार कठोर शब्द न कहो। क्या मैं तुम्हें अपना हृदय खोलकर दिखा दूँ ? तुमने मुझसे माँगा ही क्या है ? फिर इस प्रकार झूठा दोष क्यों लगा रही हो ? तुम इस बार कुछ माँग कर देखो तो सही, मैं तुम्हें तुम्हारी इच्छित वस्तु दान के रूप में न देकर भेंट के रूप में ही दूँगा।"

महाराज दशरथ का हृदय सर्वथा पवित्र है। उन्होंने कभी दिए हुए वचन वापिस लौटाने अथवा उनकी पूर्ति में विलम्ब करने का प्रयत्न नहीं किया। उन्हें यह मिथ्या दोषारोपण सह्य नहीं। वह तो सदा वे दोनों वरदान देने के लिए भी तत्पर रहे हैं; आज भी प्रस्तुत हैं। इतना ही नहीं, आज तो वह वे वरदान दान के बदले उपहार स्वरूप ही देना चाहते हैं।

---

* रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

मानिनी बोल निज अनुरूप ··· ··· ···· ··· वर भी भूप !"

गर्विणी कैकेयी ने अपने अनुसार ही कहा, "महाराज! आप वे दो वरदान भी न देंगे?"

कैकेयी, महाराज दशरथ को, पूर्णतया अपने जाल में फँसा लेना चाहती है। वह अपने अनुरूप, अपने उस अभिनय के अनुरूप, महाराज के कथन पर अविश्वास प्रकट करती हुई कहती है, "आप से वे दो वरदान भी न दिये जायेंगे?"

कहा नृप ने लेकर निःश्वास ···· ··· ···· ···· सब वार।"

महाराज दशरथ ने एक आह भर कर कहा, "मैं तुम्हें किस प्रकार विश्वास दिलाऊँ? हे सुन्दरी! तुम परीक्षा करके देख लो। हे देवताओं! तुम भी भी सुन लो। तुम सब मेरी साक्षी रहना। सारा संसार सत्य पर ही ठहरा हुआ है। सत्य ही समस्त धर्मों का सार है। केवल राज्य ही नहीं, मैं तो सत्य पर अपने प्राण और परिवार को भी न्योछावर कर देने के लिए तैयार हूँ।"

'अध्यात्म रामायण'* तथा 'रामचरितमानस'† की कैकेयी राम की सौगन्ध खाकर, महाराज के प्रतिज्ञाबद्ध हो जाने पर वरदान माँगती है किन्तु 'वाल्मीकि रामायण'‡ के दशरथ इस अवसर पर अनेक देवी-देवताओं को साक्षी के लिए बुलाते हैं। गुप्त जी ने भी यहाँ 'वाल्मीकि रामायण' का ही अनुकरण किया है।

सरल नृप को छल कर इस भाँति ··· ···· ···· ···· राम वनवास!"

सरल नृप को इस प्रकार छल कर भरत जैसे पुत्र-रत्न की माँ प्रसन्न हो कर इस प्रकार अभय वरदान माँगने चली जैसे सर्पिणी ज़हर उगलती है:

"हे नाथ! मुझे एक वर तो यह दो कि राम के बदले भरत का राज्याभिषेक हो और दूसरा वरदान यह माँगती हूँ (तुम उदास न हो) कि राम को चौदह वर्ष का वनवास मिले।"

कैकेयी को 'भरत सुत-मणि की माँ' कहा गया है। भरत वास्तव में पुत्र-रत्न हैं और मणि? उसका सम्बन्ध तो यहाँ 'सुत' के साथ होने के अतिरिक्त 'उरगी' के साथ भी है, वही उरगी जो मणि-धारिणी होकर भी इस समय विष-वमन कर रही है।

---

* अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ३, श्लोक १४ १५।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

‡ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ११।

गरल उगले उरगी जिस भाँति :

'संशय के नाग' ने कैकेयी को पराभूत कर दिया। फलस्वरूप वह प्रतिशोध के लिए तैयार होकर 'छुटीली फणिनी' की भाँति फुँकारें मारने लगी। अभी तक उसके सामने कोई न था जिस पर क्रोध प्रकट करती। महाराज दशरथ ने कैकेयी को इस रूप में देखा था : 'पड़ी थी बिजली सी विकराल, लपेटे थे घन जैसे बाल'। इन काले साँपों से खेलना सहज न था। महाराज उन 'विशाल व्यालों' से खेलने का प्रयत्न अवश्य करते हैं परन्तु अन्त में सरल नृप को छल कर 'सर्पिणी' विष-वमन करके रस में विष घोल ही देती है।

वचन सुन ऐसे क्रूर-कराल .... शरीर-सा छूट !

ऐसे भयंकर और कठोर वचन सुन कर महाराज दशरथ देखते ही रह गये। उन पर मानो वज्र-सा टूट पड़ा और उनका शरीर छूट-सा गया (मृत-तुल्य हो गया)।

कैकेयी के कठोर वचन सुनकर 'वाल्मीकि रामायण' के दशरथ सोचते हैं :

किंनु मेऽयं दिवास्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम।
अनुभूतोपसर्गो वा मनसो वाप्युपद्रवः॥

(क्या हम यह दिन में ही स्वप्न देख रहे हैं या हमारे चित्त को मोह प्राप्त हो गया है या भूत-प्रेत की बाधा है अथवा किसी दुष्ट ग्रह की पीड़ा है अथवा आधि-व्याधि जनित यह कोई उपद्रव है।)*

'अध्यात्म रामायण' के दशरथ :

निपपात महीपालो वज्राहत इवाचलः।

(महाराज दशरथ वज्राहत पर्वत के समान गिर पड़े।)†

'रामचरितमानस' के दशरथ :

सुनि मृदु बचन भूप हियँ सोकू।
ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू॥
गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।
जनु सचान बन झपटेउ लावा॥
बिबरन भयउ निपट नरपालू।
दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥‡

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग १२, श्लोक २।
† अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ३, श्लोक २३।
‡ रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

और 'आचार्य केशवदास' के शब्दों में:

यह बात लगी उर वज्र तूल।
*हिय फाट्यो ज्यों जीरन दुकूल ॥**

गुप्त जी ने केवल चार पंक्तियों में यह सब कह दिया है:

वचन सुन ऐसे क्रूर-कराल, देखते ही रह गये नृपाल!
वज्र-सा पड़ा अचानक टूट, गया उनका शरीर-सा छूट!
उन्हें यों हत-ज्ञान सा देख ···· ···· ···· ···· हाँ या न!

महाराज दशरथ के हतज्ञान (जिसकी सोचने की शक्ति नष्ट हो गयी हो) सा देखकर छाती में कील-सी ठोंकती हुई कैकेयी ही फिर भवें तान कर बोली, "चुप क्यों हो गये? हाँ या न, कुछ तो कहो?"

भूप फिर भी न सके कुछ बोल ··· ···· ···· ··· उसकी ओर?

महाराज इस पर भी कुछ न बोल सके और वह बिना हिले-डुले, एक मूर्ति की तरह बैठे रह गये। उन्होंने तो अपनी करुणा-कठोर दृष्टि ही कैकेयी की ओर डाली।

'रामचरितमानस' की कैकेयी ने भी कहा था:

देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं।

और यह सुन कर—

धरम धुरंधर धीर धरि नयन उघारे राय।
सिरु धुनि लीन्हि उसास असि मारेसि मोहि कुठायँ ॥†

'साकेत' में:

भूप फिर भी न सके कुछ बोल, मूर्ति से बैठे रहे अडोल।
दृष्टि ही अपनी करुणा-कठोर, उन्होंने डाली उसकी ओर।

महाराज की दृष्टि 'करुणा-कठोर' थी; उसमें कठोरता थी—कैकेयी के छल से उत्पन्न होने वाले क्रोध और तिरस्कार के कारण—उसमें करुणा थी, उस छल के परिणाम स्वरूप होने वाले भय के कारण। 'कठोर' में यदि एक दृढ़-प्रतिज्ञ नरेश का चित्र है तो 'करुणा' में वात्सल्य भरे एक पिता का।

कहा फिर उसने देकर क्लेश ··· ··· ··· ··· तीन वरदान!"

कैकेयी ने फिर महाराज को क्लेश पहुँचाते हुए कहा, "महाराज! क्या

* रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, प्रकाश ९, छन्द ५।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

यही तुम्हारा सत्य-पालन है ? तुम अपनी बात उलट दो । मैं आत्म-हत्या करके मर जाऊँगी ।"

यह सुन कर महाराज दशरथ ने किसी प्रकार अत्यन्त कठिनता से कहा, "तुम भला क्यों मरोगी ? तुम तो अधिकार भोगो । अगति (बुरी गति वाला) के समान मरना तो मुझे है (यहाँ पुत्र के वियोग में होने वाली अकाल-मृत्यु की ओर संकेत है) इस प्रकार तुम्हें तीन वरदान मिलेंगे ।"

आधार-ग्रन्थों में भी कैकेयी आत्म-हत्या करने की धमकी देती है,* किन्तु वहाँ महाराज दशरथ इस धमकी का उत्तर देने में असमर्थ हैं । 'साकेत' के दशरथ के पास इसका मुँहतोड़ उत्तर है :

मरो तुम क्यों भोगो अधिकार !
मरूँगा तो मैं अगति-समान,
मिलेंगे तुम्हें तीन वरदान !

देख ऊपर को अपने आप ··· ··· ··· ··· नर-नारी की प्रीति ?

फिर ऊपर को देख कर नृप अपने आप ही इस प्रकार पश्चात्ताप करने लगे, "दैव ! यह स्वप्न है या सत्य (विश्वास) ? क्या यही स्त्री-पुरुष का प्रेम है ?"

आधार-ग्रन्थों में भी महाराज दशरथ यह निश्चय नहीं कर पाते कि यह सब स्वप्न है या सत्य ।†

किसी को न दें कभी वर देव ··· ··· ··· किसका विश्वास ?

"देवता कभी भी वरदान न दें और नरेश भी वचन देना छोड़ दें । क्योंकि दान का दुरुपयोग हो सकता है । भला किसका विश्वास किया जाए ?"

जिसे चिन्तामणि ··· ··· ··· वह हा हन्त !

"जिस (कैकेयी) को चिन्तामणि-माला समझ कर हृदय पर मुख्य स्थान दिया था, वही अन्त में इस प्रकार विष-दन्त लेकर नागिन सिद्ध हुई ?"

'प्रधान स्थान' : कैकेयी महाराज दशरथ की प्रियतमा पत्नी थीं ।

---

*वा० रा०, अयो० सर्ग १२, श्लोक ४७; अ० रा०, अयो० सर्ग ३, श्लोक ३१; रामचरितमानस, अयोध्या कांड ।

† वा० रा०, अयो० सर्ग १२, श्लोक २; अ० रा०, अयो० सर्ग ३, श्लोक २४ आदि ।

राज्य का ही न तुझे था लोभ ··· ··· ··· ···· क्या मेरा पुत्र ?

"तुझे राज्य का ही लोभ न था, राम पर भी इतना क्रोध था ? क्या निःस्वार्थ राम तेरा पुत्र न था (क्या वह तुझे अपनी माता न मानता था ?) और क्या भरत मेरा पुत्र न था ?"

एक समय कैकेयी ने स्वयं कहा था :

नहीं क्या मेरा बेटा राम ?

इस समय परिस्थिति भिन्न है। कैकेयी अब 'भरत की माँ' है। तभी तो उससे पूछा जा रहा है :

न था वह निस्पृह तेरा पुत्र ?

राम-से सुत को भी वनवास ··· ··· ···· हत्यापाश !"

"राम जैसे पुत्र को वनवास ! यह सत्य है अथवा हँसी की जा रही है ? यदि यह सत्य है तो सत्यानाश अवश्यम्भावी है और हँसी है तो प्राण-नाशक है।"

प्रतिध्वनि मिष ऊँचा प्रासाद ···· ··· ···· ···· करता था अनुनाद।

प्रतिध्वनि के बहाने वह ऊँचा महल भी बार-बार महाराज दशरथ के शब्द ही दोहरा रहा था।

पुनः बोले मुँह फेर महीप ···· ···· ···· ··· कुल-दीप !"

महाराज फिर मुँह फेर कर कहने लगे, "राम, हा राम, वत्स, कुल-दीप !"

कैकेयी के दुष्कृत्य का परिणाम समझ कर महाराज दशरथ ने तिरस्कारवश उसकी ओर से मुख फेर लिया और उनका ध्यान केवल राम में केन्द्रित हो गया।

हो गये गद्गद वे इस बार ··· ··· ··· ··· प्रज्वलित समीप !

राम का ध्यान करते हुए इस बार महाराज आत्म-विभोर-से हो गये। यह सारा संसार उन्हें अन्धकारपूर्ण जान पड़ा। भवन में प्रवेश करती हुई चाँदनी उन्हें अपने भावी शव-परिधान (कफ़न) के समान जान पड़ी। राज-महल श्मशान बन गया। कैकेयी साक्षात् मृत्यु जैसी दिखाई दी। समीप ही जलते हुए दीपक चिता के अंगारों जैसे लग रहे थे।

रूपक के आधार पर चित्रित यह कितना वीभत्स चित्र है !

महर्षि वाल्मीकि के दशरथ शोक की अवस्था में भी राम के गुणों का वर्णन करते-करते एक व्याख्यान-सा दे डालते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें तो यह भी चिन्ता

होती है कि यदि उन्होंने राम को वनवास दे दिया तो पहले दिन की राज्याभिषेक वाली बात असत्य हो जाएगी और अनेक गुणवान् वृद्ध जब राम को पूछेंगे तब वह क्या कहेंगे।* गोस्वामीजी के दशरथ वनवास में भी राम के ऐश्वर्य में वृद्धि होने की कल्पना करते हैं।† 'साकेत' के दशरथ के समक्ष ये प्रश्न ही नहीं। राम उनके प्राण हैं और उनके लिए राम-वनवास का अर्थ है जीवन का अन्त। महाराज दशरथ का यह करुण चित्र 'साकेत' के कवि की एक अनुपम देन है।

"हाय! कल क्या होगा?" ···· ···· ··· ··· छिपाते थे मानों नरराज!

"हाय! कल क्या होगा?" कह कर दशरथ काँप उठे। उन्होंने अपना मुँह घुटनों में छिपा लिया, मानो आज महाराज दशरथ अपने आपसे ही अपने को छिपा रहे थे।

वचन पलटें कि भेजें राम को ···· ···· ··· ··· अर्द्ध मृत-से वे।

वचन पलट दें या राम को वन में भेजें; दोनों दशाओं में अपनी मृत्यु निश्चित जानकर महाराज दशरथ जीवन और मरण के बीच में स्थिर से हो गये (वह तो मानो उस समय अर्द्ध-जीवित और अर्द्ध-मृत से थे—न पूरी तरह जीवित थे, न मृत)।

इसी दशा में रात कटी ···· ···· ···· ··· ज्ञात हुआ!

रात इसी दशा में कटी। सवेरा होने पर छाती की तरह पौ फटी। अरुण सूर्य का उदय हुआ परन्तु वह महाराज दशरथ को विरूपाक्ष (प्रलयंकर शिव) के समान जान पड़ा।

मनःस्थिति के अनुरूप ही प्रकृति भी सुखप्रद अथवा दुखप्रद, भयंकर अथवा मनोहर जान पड़ती है। प्रथम सर्ग में हमारे कवि ने सूर्योदय का विस्तृत वर्णन किया था, यहाँ परिस्थिति भिन्न है। यहाँ संक्षेप में ही कवि-कौशल निहित है। संक्षेप में कोई बात कहने के लिए अत्यन्त शक्तिशाली एवं अर्थपूर्ण शब्दों की आवश्यकता होती है। 'छाती सी पौ प्रात फटी' और 'विरूपाक्ष-सा ज्ञात हुआ' ऐसी ही शक्ति-शालिनी उक्तियाँ हैं।

'विरूपाक्ष' द्वारा शिव के उस तीसरे नेत्र की ओर संकेत किया गया है, जिसे वह संसार का सर्वनाश करने के लिए ही खोलते हैं। अतः वस्तुस्थिति के अनुरूप, इस समय प्रभातकालीन सूर्य उदय और विकास का सूचक न होकर सर्वनाश (प्रलय) का ही प्रतीक जान पड़ रहा है।

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग १२, श्लोक ८ से ३६।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

तृतीय सर्ग

जहाँ अभिषेक-अम्बुद छा रहे थे ···· ··· ···· ··· खड़े ज्यों।

जिस अयोध्यानगरी में सब ओर अभिषेक के बादल छा रहे थे, जिन के कारण अयोध्या-वासी मोरों की भाँति प्रसन्न हो रहे थे, वहीं परिणाम में पत्थर पड़ गये और सब खड़े-के-खड़े रह गये।

राम-राज्याभिषेक की सूचना पाकर मानो अयोध्या में हर्ष और उल्लास की एक अन्तहीन धारा-सी बह निकली थी। सब स्थानों पर अभिषेक की तैयारियाँ हो रही थीं, मानो सब ओर अभिषेक के बादल छा गये हों। घिरे हुए बादल देख कर मयूर प्रसन्नता से फूले नहीं समाते। ठीक इसी प्रकार अभिषेक के इन बादलों के कारण अयोध्या-वासी फूले नहीं समा रहे थे परन्तु इन बादलों ने जल न बरसाया, इन्होंने तो पत्थरों की वर्षा की। कैकेयी के कोप ने रंग में भंग कर दिया। राज्य के उत्तराधिकारी को वनवास दिला दिया। सब खड़े-के-खड़े रह गये, मूक, निर्जीव, किंकर्तव्यविमूढ़।

करें कब क्या इसे बस ··· ··· ···· ···· गीत गाकर।

राम किस समय क्या करना चाहते हैं, इसे वह स्वयं ही जानते हैं। उनके अलौकिक कामों का रहस्य भी उनके अतिरिक्त कोई नहीं जानता।

कल्पने! तू कहाँ है, तनिक आकर देख और यह गीत गाकर स्वयं ही सत्य हो।

विदा होकर प्रिया से वीर लक्ष्मण ··· ··· ···· ··· साम्राज्य पाया।"

वीर लक्ष्मण प्रियतमा ऊर्मिला से विदा होकर तुरन्त राम के सामने नत-मस्तक हो गये। राम ने उन्हें हृदय से लगाते हुए कहा, "मुझे तो यह प्रत्यक्ष साम्राज्य प्राप्त हो गया।"

इससे पूर्व ऊर्मिला और लक्ष्मण के बीच राम-राज्याभिषेक का प्रश्न लेकर एक मधुर वार्तालाप हो चुका है। ऊर्मिला से विदा होकर लक्ष्मण तुरन्त (एक पल का भी विलम्ब किये बिना) अभिषेक-सम्बन्धी कार्यों में अपना योग देने के लिए भावी अयोध्या-नरेश, श्रीरामचन्द्र के सम्मुख आकर नत-मस्तक हो जाते हैं। यहाँ लक्ष्मण के लिए 'वीर' विशेषण का प्रयोग किया गया है। 'वीर' में कार्य-तत्पर, पराक्रमी और आवश्यकता पड़ने पर विरोधियों का डट कर सामना करने वाले एक

दृढ़ प्रतिज्ञ राज-भक्त का चित्र है। इस पुञ्जीभूत पराक्रम को अपने सम्मुख नत-मस्तक देखकर राम ने उन्हें तुरन्त हृदय से लगा लिया और बोले, "मुझे तो प्रत्यक्ष साम्राज्य मिल गया।"

राम के इन शब्दों में उनके हृदय की विशालता तथा अनन्य भ्रातृ-स्नेह का सफल अंकन है।

हुआ सौमित्रि को संकोच सुन के ... ... हृदय से।

राम का कथन सुनकर लक्ष्मण को संकोच हुआ और उनके नेत्र तुरन्त ही नीचे झुक गये। विरोध के भय से वह कुछ कह न सके परन्तु वह हृदय से इसे अपना अहोभाग्य ही समझते थे।

कहा आनन्दपूर्वक राम ने तब .... भाग्य जागे।

फिर राम ने आनन्दपूर्वक लक्ष्मण से कहा, "चलो, अब पितृ-वन्दना करने चलें।" यह कह कर राम आगे-आगे चले और लक्ष्मण पीछे-पीछे। वे इस प्रकार चले तो मानो पृथ्वी के भी भाग्य जाग गये।

आधार-ग्रन्थों में प्रातःकाल होने पर, महाराज दशरथ के, भवन से बाहर न आने पर, सुमन्त्र वस्तुस्थिति जानने के लिए महल में जाते हैं और कैकेयी तथा दशरथ की आज्ञा पाकर वह राम को वहाँ बुला लाते हैं :

प्रतिबुध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत्।
राममानय सूतेति यदस्यभिहितोऽनया॥

(महाराज ने जाग कर यह कहा, "जैसा कि तुमसे इस कैकेयी ने कहा है, तुम जाकर पहले राम को लिवा लाओ।") †

राममानय शीघ्रं त्वं राजा द्रष्टुमिहेच्छति।

(महाराज राम को यहाँ देखना चाहते हैं, इसलिए तुम शीघ्र ही उन्हें लिवा लाओ। —कैकेयी)‡

आनहु रामहि बेगि बोलाई।
समाचार तब पूँछेहु आई॥ —कैकेयी ¶

'साकेत' के राम बुलाने पर नहीं, नित्य कर्तव्य के ही रूप में प्रातःकाल होने पर स्वयं पितृवन्दना करने जाते हैं। इस प्रकार 'साकेत' के कवि ने एक ओर तो

---

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग १५, श्लोक २६।

‡ अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ३, श्लोक ४५।

¶ रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

अनावश्यक प्रसंग से अपने काव्य की रक्षा करली है और दूसरी ओर राम की पितृ-भक्ति को और भी अधिक व्यंजित कर दिया है। 'साकेत' में लक्ष्मण भी राम के साथ हैं। राम का यह मूक अनुचर आगे चल कर घटना-प्रवाह में महत्वपूर्ण योग देता है।

अयोध्या के अजिर को ... ... विमाता के महल में।

अयोध्या के राजमहल का आँगन मानो आकाश है और उसमें राम, लक्ष्मण के रूप में दोनों अश्विनीकुमार उदय हो गये हैं। इस प्रकार पृथ्वी पर कमल की पंखड़ियाँ-सी बिछाते हुए वे दोनों विमाता के महल की ओर चले।

'सुर वैद्य' : त्वष्टा की पुत्री प्रभा नामक स्त्री से उत्पन्न सूर्य के दो पुत्र, अश्विनीकुमार, जो देवताओं के वैद्य माने जाते हैं। हरिवंश पुराण के अनुसार इन की उत्पत्ति अश्व-रूपी सूर्य के औरस तथा अश्व-रूप-धारिणी संज्ञा के गर्भ से हुई थी।

प्रस्तुत अवतरण में कैकेयी के लिए 'विमाता' शब्द का प्रयोग किया गया है। कैकेयी ने राम के प्रति जो व्यवहार किया है, वह *विमाता-का-सा ही है तथापि राम* के पास कैकेयी को विमाता मानने का अभी कोई कारण नहीं है। कैकेयी-दशरथ-संवाद अभी कैकेयी और दशरथ के ही बीच की बात है। अतः यहाँ 'विमाता' शब्द का प्रयोग राम की ओर से न माना जाकर स्वयं कवि की ओर से माना जाना चाहिए।

पिता ने उस समय ही .... राम त्यों ही।

महाराज दशरथ ने उसी समय होश में आकर कहा, "राम, हा पुत्र, हा गुणी! इस प्रकार करुण स्वर में अपना नाम सुन कर राम तुरन्त आश्चर्य-चकित होकर उस ओर बढ़े।

अनुजयुत हो उठे व्याकुल ... . कैकेयी थी।

अनुज, लक्ष्मण के साथ श्रीराम पिता की यह दशा देखकर बहुत बेचैन हो गये और वे पिता के सामने जाकर खड़े हो गये। उस समय महाराज दशरथ की दशा बहुत ही चिन्ताजनक थी। वहीं पास ही नियति की भाँति कैकेयी बैठी थी।

'रामचरितमानस' में भी :

जाइ दीख रघुबंसमनि नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु॥
सूखहिं अधर जरइ सबु अंगू।
मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू॥

सरुष समीप दीखि कैकेई ।
मानहुँ मीचु घरीं गनि लेई ॥

अनैसर्गिक घटा-सी छा रही थी ... ... कह कर ।

वहाँ का वातावरण सर्वथा अस्वाभाविक था। जान पड़ता था मानो प्रलय की घड़ी सामने आ गयी हो। कुछ देर स्वप्न में डूबे हुए व्यक्ति की भाँति चुप रह कर महाराज दशरथ "हा राम !" कह कर चिल्ला उठे।

'वाल्मीकि रामायण' में भी :

रामेत्युक्त्वा च वचनं वाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम् ॥

(श्री रामचन्द्र को देख महाराज दशरथ केवल 'राम' ही कह सके क्योंकि फिर दुखी महाराज के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी और उनका कंठ गद्गद् हो गया। फिर वे न तो कुछ देख ही सके और न कुछ बोल ही सके ।)*

कहा तब राम ने ... ... निज नेत्र खोलो ।"

राम ने पूछा, "हे तात ! क्या बात है ? मैं तो तुम्हारे समीप ही खड़ा हूँ। तुम फिर चुप क्यों हो गये ? कुछ तो कहो, उठो और मुझे इच्छानुसार आज्ञा दो ? तुम अपने नेत्र तो खोलो।"

वचन सुन कर फिरा फिर बोध .... न बोले ।

राम के वचन सुन कर महाराज दशरथ की संज्ञा पुनः लौट आयी परन्तु उनका हृदय रुँध गया। उन्होंने सूजी हुई पलकों वाले नेत्र खोले परन्तु वह एकटक देखते ही रहे, कुछ बोल न सके।

पिता की देख कर ऐसी अवस्था ... . निज वेग रोका ।

भँवर में पड़ी हुई नौका के समान, पिता की दशा देखकर राम और लक्ष्मण, दोनों ने पृथ्वी की ओर देखा और अत्यन्त कष्ट से अपने हृदय का वेग रोका।

'अवनि की ओर दोनों ने विलोका' : चिन्ताग्रस्त मनुष्य के नेत्र प्रायः झुक कर पृथ्वी की ओर ही देखते हैं अतः यहाँ राम-लक्ष्मण का पृथ्वी की ओर देखना स्वाभाविक ही है परन्तु इसमें एक विशेषता और भी है। राम, लक्ष्मण ने 'भँवर में पोत की जैसी अवस्था' में पड़े पिता को देखकर 'अवनि की ओर विलोका' है। भँवर में पड़े पोत की रक्षा अवनि, धरती, ही तो कर सकती है। अस्तु 'अवनि की

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग १८, श्लोक ३।

ओर दोनों ने विलोक:' में उस चिन्ताजनक अवस्था से पिता की रक्षा करने का भाव भी निहित है।

बढ़ाई राम ने फिर दृष्टि-रेखा ... ... कंटक चुनूँ मैं।"

तब राम ने अपनी दृष्टि विमाता कैकेयी की ओर बढ़ाई और कहा, "देवि! यह सब क्या है? कुछ मैं भी तो सुनूँ ताकि मैं भी कुसुम के समान पिता के काँटे चुन सकूँ।"

कवि ने यहाँ फिर 'विमाता' शब्द का प्रयोग किया है। कैकेयी के प्रति राम के सम्बोधन 'देवि!' में भी कुछ दूरी का-सा भाव है।

'वाल्मीकि रामायण' में :

स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः।
कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत्॥
कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वं चैवैनं प्रसादय॥
अप्रसन्नमनाः किंतु सदा मां प्रति वत्सलः।
विवर्णवदनो दीनो न हि मामभिभाषते।
शारीरो मानसो वाऽपि कच्चिदेनं न बाधते॥
सन्तापो वाऽभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम्।
कच्चिन्न किंचिद्भरते कुमारे प्रियदर्शने॥
शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातॄणां वा ममाशुभम्।
अतोषयन्महाराजमकुर्वन्वा पितुर्वचः॥
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे।
यतोमूलं नरः पश्येत्प्रादुर्भावमिहात्मनः॥
कथं तस्मिन्न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते।
कच्चित्ते परुषं किंचिद्भिमानात्पिता मम॥
उक्तो भवत्या कोपेन यत्रास्य लुलितं मनः।
एतदाचक्ष्व मे देवि तत्त्वेन परिपृच्छतः॥
किंनिमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे।

(महाराज दशरथ क्यों दीनों की तरह शोक से आर्त, उदास और हीनद्युति हो रहे हैं? इस प्रकार सोचते हुए जब श्रीराम स्वयं इसका कारण निश्चित न कर सके, तब कैकेयी को प्रणाम कर कहने लगे, "यदि मुझसे अनजाने कोई अपराध

हो गया हो, जिससे कुपित हो पिताजी मुझसे नहीं बोलते तो मेरी ओर से आप ही इनको प्रसन्न कर दीजिए। अप्रसन्न मन होने पर भी पिताजी की मुझ पर सदा कृपा रहती थी किन्तु आज मैं देखता हूँ कि उनके चेहरे का रङ्ग उतर गया है और वे दीन-हीन भाव से बैठे हैं तथा मुझसे बोलते भी नहीं। क्या पिताजी को कोई शारीरिक या मानसिक कष्ट तो नहीं दुःखी कर रहा है क्योंकि मनुष्य का सदा सुखी रहना दुर्लभ है अथवा प्रियदर्शन कुमार भरत में वा महापराक्रमी शत्रुघ्न में अथवा हमारी माताओं अथवा मुझ में तो महाराज ने कोई बुराई नहीं देखी? महाराज का कहना न मान कर, उनको असंतुष्ट एवं कुपित कर मैं एक मुहूर्त भी जीना नहीं चाहता क्योंकि जिन माता-पिता से मनुष्य की उत्पत्ति होती है, उन प्रत्यक्ष देवताओं की आज्ञा क्यों न मानी जाए? कहीं तुमने तो अभिमान से कोई कठोर वचन महाराज से नहीं कह दिया, जिसको सुन, क्रुद्ध होने के कारण महाराज का मन बिगड़ गया हो? हे देवि! मैं जो तुमसे पूछता हूँ, उसको मुझसे तू ठीक-ठीक समझा कर कह। महाराज के मन में इस अपूर्व विकार के उत्पन्न होने का कारण क्या है?)*"

'साकेत' के राम के पास इतना समय नहीं है कि वे यह सब कुछ सोच अथवा कह सकें। वे तुरन्त पिता के दुःख का कारण जानना चाहते हैं। इसीलिए उनका प्रश्न अत्यन्त संक्षिप्त है। 'रामचरितमानस' के राम का प्रश्न, इस दिशा में, 'साकेत' के राम के प्रश्न के अधिक निकट है :

मोहि कहु मातु तात दुख कारन।
करिअ जतन जेहिं होइ निवारन॥†

"सुनो, हे राम! कंटक आप हूँ मैं ··· ··· ··· ··· चुपचाप हूँ मैं।"

कैकेयी ने कहा, "हे राम! सुनो, वह काँटा स्वयं मैं ही हूँ। इसके अतिरिक्त और मैं क्या कहूँ? इसलिए कुछ अधिक न कह कर मैं मौन ही रहना उचित समझती हूँ।"

राम के प्रश्न के उत्तर में 'वाल्मीकि रामायण' की कैकेयी कहती है :

"हे राम! न तो राजा तुम पर अप्रसन्न हैं और न उनके शरीर में कोई पीड़ा है किन्तु उनके मन में तुम्हारे विषय में एक बात है, जिसे तुम्हारे डर से वे कहते नहीं। तुम इनके बड़े प्यारे हो अतः तुमसे अप्रिय वचन कहने को इनकी

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग १८, श्लोक १०—१८।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

वाणी नहीं खुलती पर तुमको उसके अनुसार, जिसकी इन्होंने मुझसे प्रतिज्ञा कर रखी है, कार्य करना उचित है। पहले इन्होंने आदरपूर्वक मुझे वर दिया था और उसके लिए अब गँवारों की तरह संताप कर रहे हैं। "मैं वर दूँगा" ऐसी प्रतिज्ञा करके पीछे उसका बचाव सोचना वैसा ही है, जैसा कि पानी बह जाने पर उसको रोकने के लिए बाँध बाँधना। हे राम ! कहीं ऐसा न हो कि महाराज क्रोध के कारण सत्य को त्याग दें क्योंकि महात्माओं का कथन है कि सत्य ही धर्म की जड़ है। अगर तुम यह बात स्वीकार करते हो कि महाराज उचित अथवा अनुचित जो कुछ कहें, उसे तुम करोगे तो मैं तुम्हें सब हाल बता दूँ अथवा यदि महाराज तुमसे स्वयं न कहें तो मैं इनकी ओर से जो कुछ कहूँ, उसे तुम मानो तो मैं कहने को तैयार हूँ क्योंकि यह तो तुमसे कहेंगे नहीं।" *

'रामचरितमानस' की कैकेयी का उत्तर है :

सुनहु राम सबु कारनु एहू । राजहिं तुम्ह पर बहुत सनेहू ॥
देन कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना । माँगेउँ जो कछु मोहि सोहाना ॥
सो सुनि भयउ भूप उर सोचू । छाड़ि न सकहिं तुम्हार संकोचू ॥
सुत सनेहु इत बचनु उत, संकट परेउ नरेसु ।
सकहु त आयसु धरहु सिर, मेटहु कठिन कलेसु ॥†

'साकेत' की कैकेयी इतना ही कहती है :

सुनो हे राम, कंटक आप हूँ मैं,
कहूँ क्या और, बस, चुपचाप हूँ मैं ।

संक्षिप्त होने के कारण यह उत्तर कुछ अधिक तीव्र एवं कुतूहलजनक हो गया है।

हुई चुप कैकेयी यह बात कहकर ··· ··· ··· ···· भार्गव तुल्य जानो ।"

कैकेयी यह कह कर चुप हो गयी। राम भी यह चोट सह कर चुप रहे परन्तु लक्ष्मण ने कहा, "माँ ! चुप क्यों हो गयीं ? इस तरह कलेजे में सूई-सी क्यों चुभा रही हो ? पिता के लिए कोई काँटा न हो इसके लिए तो मानो हम पितृ-भक्त परशुराम के समान हैं (जिन्होंने पिता की आज्ञा पाकर अपनी माता का वध कर दिया था)।

'वाल्मीकि रामायण' के लक्ष्मण इस अवसर पर सर्वथा मूक हैं। वह सब

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग १८, श्लोक २०—२६ ।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड ।

कुछ देखते हैं, सुनते हैं परन्तु बोलते कुछ नहीं। अन्त में जब राम वन जाने के लिए प्रस्तुत होकर कैकेयी के भवन से निकलते हैं तो नेत्रों में आँसू भरे और क्रुद्ध लक्ष्मण भी उनके पीछे-पीछे बाहर चले आते हैं।* 'साकेत' के लक्ष्मण तटस्थ दर्शक मात्र नहीं हैं। वह भला कैसे चुप रहते ? यदि माता ही पिता के लिए काँटा है तो वह पितृ-भक्त भार्गव के समान हैं।

अन्तर कथा : परशुराम जमदग्नि और रेणुका के पुत्र थे। एक दिन रेणुका स्नान करने के लिए नदी पर गयी। वहाँ उसने राजा चित्ररथ को अपनी पत्नी के साथ जल-क्रीड़ा करते देखा और काम-वासना से उद्विग्न होकर फिर घर आयी। जमदग्नि उसकी यह दशा देख कर बहुत कुपित हुए और उन्होंने एक-एक करके, अपने चार पुत्रों को रेणुका के वध की आज्ञा दी। स्नेह-वश किसी से ऐसा न हो सका। इतने में परशुराम आये। उन्होंने आज्ञा पाते ही माता का सिर काट डाला।

इसी क्षण भूप ने कुछ शक्ति ··· ···· ··· ··· लटपटाये !

इसी समय महाराज दशरथ के शरीर में तनिक शक्ति आयी। वह पुत्र की दृढ़ भक्ति पाकर उन्हें कलेजे से लगा लेने के लिए भुजायें बढ़ाकर छटपटाने लगे। उन्होंने उठने का प्रयत्न किया परन्तु उनके पैर लड़खड़ा गये।

शोक-ग्रस्त तथा धर्म-विवश महाराज दशरथ का यह अत्यन्त करुण चित्र है।

चढ़ा कर मौन-रोदन-रत्न-माला ··· ···· ···· विश्वास ने मुझको ठगाया।

चुपचाप आँसुओं के रूप में रत्नों की माला पिता के चरणों पर चढ़ा कर राम-लक्ष्मण ने महाराज दशरथ को सम्हाला। पिता ने भी (नेत्रों के जल से) राम का अभिषेक कर दिया। मानों (ऐसा करके) उन्होंने सत्य की टेक भी न रखी। महाराज ने उन्हें हृदय से लगा लिया और बोले, "मैं तो विश्वास से ठगा गया।"

पिता की यह दशा देख कर राम-लक्ष्मण का सन्तप्त हृदय आँसू बन कर बह निकला। पिता ने भी मानो आँसू के जल से ही उनका अभिषेक कर दिया। वचन-बद्ध महाराज दशरथ राम को अभिषेक-जल से अभिषिक्त नहीं कर सकते तो क्या, अपने नेत्र-जल से तो अभिषिक्त कर सकते हैं; प्रण-बद्ध अयोध्या-नरेश यदि अपने उत्तराधिकारी को अयोध्या के राज-सिंहासन पर नहीं बिठा सकते तो हृदयासन पर तो आसीन कर ही सकते हैं।

एक लम्बे मौन के उपरान्त पितृ-भक्त पुत्रों को अपने अत्यन्त समीप पा कर पिता के मुख से चार ही शब्द निकले :

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग १९, श्लोक ३०।

"विश्वास ने मुझको ठगाया"

अत्यन्त संक्षिप्त होकर भी यह उत्तर कितना पूर्ण है !

निरखती कैकेयी थी भौंह तानें ···· ···· ··· ··· दो दो कमानें !

कैकेयी टेढ़ी भवों के रूप में दो-दो धनुष तान कर (पति और पुत्रों की ओर) देख रही थी।

पकड़ कर राम की ठोड़ी ··· ··· ··· ··· बस पायगी तू !"

राम की ठोड़ी पकड़ कर, कुछ पल ठहर कर और राम का मुख कैकेयी की ओर करके धैर्य खोकर महाराज दशरथ ने कहा, "देख तो सही, तू आज क्या अनर्थ करने चली है ! अभागिन ! देख कोई (संसार) क्या कहेगा ? यही राम चौदह वर्ष वन में रहेगा ! तू साँसारिक ऐश्वर्य के लिए अपने मङ्गल (वास्तविक हित) का त्याग कर रही है और भरत और राम का जोड़ा खण्डित कर रही है। इस प्रकार तो भरत भी राज न कर सकेगा और प्रजा की क्रोधाग्नि में घृत बन जाएगा। मैं मर जाऊँगा, तू बाद में पछताएगी। अन्त में तुझे बस यही फल मिलेगा।"

इन पंक्तियों में दशरथ की कातरता, राम की सुकुमारता और कैकेयी की कठोरता एक साथ ही मूर्तिमती हो गयी है।

हुए आवेग से भूपाल गद्गद ··· ···· ··· ···· सर्व घटना।

भावावेग के कारण दशरथ गद्गद् हो गये। दूसरे ही क्षण वहाँ शोक की धारा प्रवाहित होने लगी। महाराज फिर राम को ही रटना करने लगे। राम ने भी सब कुछ समझ लिया।

आधार-ग्रन्थों में कैकेयी राम के सामने घटना-स्थिति का वर्णन करती है। 'साकेत' में वह सब कुछ *कहा* नहीं जाता, *समझ लिया* जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अधिक उपयुक्त है।

विमाता बन गई आँधी भयावह ···· ···· ··· ··· वर वाक्य जल-सा।

विमाता कैकेयी भयानक आँधी बन गयी किन्तु वह श्याम घन (राम) इस पर भी चञ्चल (अस्थिर) न हुआ। भूमि-तल के समान पिता को दुःख के कारण तपता देख कर श्रेष्ठ वाक्य रूपी जल के समान वह इस प्रकार बरसने लगा।

श्याम-वर्ण राम को 'श्याम घन' कहा गया है। विनाशकारिणी होने के कारण 'साकेत' के कवि ने कैकेयी को आँधी माना है। आँधी से बादल छिन्नभिन्न नहीं होते।

राम पर भी इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तप्त वसुन्धरा की तपन बुझाने के लिए श्याम घन शीतल जल के रूप में अवश्य बरस पड़ते हैं। राम के वाक्यों ने भी संतप्त पिता को शान्त करने का प्रयत्न किया। अस्तु, यहाँ "साधर्म्य के बल पर प्रचुर अलंकार-सामग्री का योग हुआ है। विमाता आँधी, राम श्याम घन, पिता तप्त भूमितल, राम के वाक्य जल। उधर प्रभाव की दृष्टि से भी कैकेयी के क्रोध के उपरान्त राम के विनम्र वचन दशरथ के लिए ठीक वैसे ही हैं जैसा तूफ़ान के बाद मेघवृष्टि का होना, भूमि के लिए। रूपक सांगोपांग है—उसमें पूर्ण स्वाभाविकता है।"

"अरे यह बात है, तो खेद क्या है ··· ···· ··· ··· भला मैं ?"

राम ने कहा, "अरे ! यह बात है तो इसमें खेद क्यों ? भरत और मुझ में अंतर ही क्या है ? प्रिय भरत यहाँ अपने कर्म का पालन करें, मैं वन में अपने धर्म का पालन करूँगा। पिता ! इसी बात के लिए आप इतने संतप्त हैं और माता पर इस प्रकार दोषारोपण कर रहे हैं ? यहाँ किसी और की राज-सत्ता तो नहीं होगी। इस प्रकार तो हमारी ही महानता प्रकट होगी और दोनों तरह लोक-रञ्जन होगा। यहाँ भरत द्वारा प्रजा का भय नष्ट होगा, वहाँ मैं वन में मुनियों के (यज्ञ-कार्य में पड़ने वाले) विघ्नों का नाश करूँगा। मैं तो स्वयं ही बाहर घूमना और पृथ्वी का धर्म-भय दूर करना चाहता था। तुम धैर्यपूर्वक अपने घर आदि की रक्षा करो। मैं क्या आपकी आज्ञा की रक्षा (पालन) भी न करूँगा ? मुझे तो यह वनवास पसन्द है, तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करो। तुम्हारी आज्ञा पाकर तो मैं आग में भी कूद सकता हूँ। तात ! मेरे तो परम पूज्य तुम्हीं हो। अब तो मैं सुख से अपने सब धर्मों का पालन कर सकूँगा। मैं अभी सबसे बिदा लेकर चला जाऊँगा। शुभ कार्य में भला क्यों देर करूँ ?"

कैकेयी के मुख से अपने वनवास का समाचार सुनकर 'रामचरितमानस' के राम ने कहा था :

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर ॥

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ॥
जौं न जाउँ बन ऐसेउ काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा ॥

सेवहिं अरंडु कलपतरु त्यागी । परिहरि अमृत लेहिं बिषु मागी ॥
तेउ न पाइ अस समउ चुकाहीं । देखु बिचारि मातु मन माँही ॥

राम ने पिता से कहा था :

अति लघु बात लागि दुखु पावा । काहुँ न मोहि कहि प्रथम जनावा ॥
देखि गोसायँहि पूँछिउँ माता । सुनि प्रसंगु भए सीतल गाता ॥
मंगल समय सहे जस, सोच परिहरिअ तात ।
आयसु देइअ हरिष हियँ, कहि पुलके प्रभु गात ॥
धन्य जनमु जगतीतल तासू । पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू ॥
चारि पदारथ करतल ताकें । प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें ॥
आयसु पालि जनम फलु पाई । ऐहउँ बेगिहिं होउ रजाई ॥
बिदा मातु सन आवहुँ माँगी । चलिहउँ वनहि बहुरि पग लागी ॥

हुए प्रभु मौन आज्ञा के लिए ···· ··· ···· ···· सह सके वे ।

यह कह कर प्रभु पिता की आज्ञा की प्रतीक्षा में कुछ समय के लिए मौन हो गये। विवश होने के कारण दशरथ भी डाँवाडोल से हो गये। उन्होंने कहा, "हे राम ! तुम मेरे पुत्र क्यों हुए ? क्या यही पिता के काम हैं ? विधाता······" वह अधिक कुछ न कह सके और दुःख का वेग न सह सकने के कारण बेहोश हो गये।

धसकने सी लगी नीचे धरा ···· ···· ··· ···· पाषाणी जरा भी ।

उस समय पृथ्वी भी नीचे धसकने लगी परन्तु पाषाणी कैकेयी तनिक भी न पसीजी ।

पति की इतनी दयनीय दशा देखकर भी अप्रभावित रहने के कारण कैकेयी को 'पाषाणी' कहा गया है। (पाहन पतित बान नहि बेंधत रीतो करत निषंग—सूरदास)

निरखते स्वप्न थे सौमित्र मानों ··· ···· ··· ··· ठीक है यह ?"

लक्ष्मण अब तक मानो स्वप्न-सा देख रहे थे। अब तक वह अपने ही चित्र के समान गतिहीन से खड़े थे। वह समझते थे कि यह रीति (प्रथा) ठीक नहीं। उन्होंने कैकेयी से इतना ही कहा, "माँ ! क्या यह ठीक है ?"

कहा तब कैकेयी ने ···· ··· ··· ···· यहाँ तो मैं बताती ।"

कैकेयी ने लक्ष्मण के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा, "मैं क्या कहूँ ? कुछ कहूँ तो मुझे भी रेणुका (परशुराम की माता) बन कर रहना पड़ेगा। मैं सामने खड़ी हूँ, तुम अपनी माता का वध करके मातृघाती बनो। भरत यहाँ होता तो मैं तुम्हें बताती।"

लक्ष्मण पहले कह चुके हैं :

न हो कंटक पिता के तुल्य मानों,
हमें पितृभक्त भार्गव तुल्य जानों।

कैकेयी उसी के आधार पर कहती है : 'कहूँ तो रेणुका बन कर रहूँ मैं' और 'बनो तुम मातृघाती'। 'भरत होता यहाँ तो मैं बताती'—कहकर कैकेयी मातृत्व-गर्व का ही सहारा लेती है। "यहीं समन्वय की भावना नष्ट हो जाती है और कैकेयी और लक्ष्मण के वाद-विवाद में हमें आधुनिक परिवारों का गृह-कलह का जीता जागता चित्र मिलता है। विमाता और सपत्नी-पुत्र की खुली गाली गलौज होती है··· जो महाकाव्य के गौरव के सर्वथा अनुपयुक्त है।"

गई लग आग सी प्रलय-घन-तुल्य ···· ···· ··· ··· कड़के!

कैकेयी का उत्तर सुनकर लक्ष्मण भड़क उठे। उनके तन-बदन में आग-सी लग गई। क्रोध के कारण उनके होंठ फड़कने लगे और उन्होंने प्रलय कर देने वाले बादल के समान कड़क कर कहा :—

"अरे, मातृत्व तू अब भी जताती ··· ··· ···· ··· ···· फल आज देखें।"

"अरे! तू अब भी मातृत्व जता रही है (कैकेयी ने कहा था, "बनो तुम मातृघाती" 'मातृत्व' द्वारा इसी ओर संकेत है)। तू भरत की ठसक किसे दिखा रही है? (मुझमें इतना बल है कि) मैं भरत को भी मार डालूँ और तुझे भी। (स्वर्ग की तो बात ही क्या) तुझे तो नरक में भी स्थान न पाने दूँ। अत्याचारी युधाजित् (कैकेयी का भाई) को भी न छोड़ूँ और इस प्रकार बहन के साथ भाई को भी समाप्त कर दूँ। तू शीघ्र ही अपने वे सब हिमायती बुला ले, जिनके तू झूठे सपने देख रही है। आज सब लक्ष्मण की शक्ति देख लें और षड्यंत्र करने वाले अपने कुचक्र का फल भी प्राप्त कर लें।"

भरत को सानती है आप में क्यों ···· ···· ···· ··· दिन समझते!

"तू भरत को अपने साथ क्यों मिलाती है? सूर्यवंशी भला पाप में क्यों पड़ेंगे? साधु भरत तो तेरे पुत्र इसी प्रकार हो गये हैं जैसे कीचड़ में कमल उत्पन्न हो जाता है। भरत आज यहाँ होते तो क्या कर लेते? वह तो यह देख कर स्वयं ही शर्म के कारण डूब मरते, तुझे अपने पुत्रों को खाने वाली सर्पिणी समझते और रात को भी दिन समझ कर रात-दिन लज्जा के कारण मुँह छिपाये रहते।"

क्रोध के आवेश में लक्ष्मण ने कह दिया था, 'भरत को मार डालूँ और तुमको।" शीघ्र ही उन्हें अपनी भूल का आभास होता है। साधु भरत, सूर्यवंशी भरत भला इस पाप-कर्म में कैकेयी का साथ क्यों देंगे ?

सुत-भक्षिणी साँपिन : सर्पिणी अपने ही बच्चों को खा जाती है।

भला वे कौन हैं जो राज्य लेवें ··· ··· ···· ··· पाता हमारा।"

"भरत राज्य लेने वाले कौन होते हैं और पिता को भी राज्य देने का क्या अधिकार है ? सारा साम्राज्य तो प्रजा के लिए है। हमारे वंश में मुकुट तो ज्येष्ठ भ्राता ही पाता रहा है।"

वंश-परम्परा के अनुसार ज्येष्ठ भ्राता ही राज्य का अधिकारी होता है। कैकेयी ने भी कहा था : "राज्य का अधिकारी है ज्येष्ठ।" लक्ष्मण वंश-परम्परा का खंडन होता नहीं देख सकते।

वचन सुन कैकेयी कुछ भी न बोली ··· ···· ··· ··· रह गई वह।

लक्ष्मण के वचन सुन कर कैकेयी कुछ न बोली। उसने अपने होठों पर विष की गाँठ न खोली (हृदय में विष होने पर भी उसने उस समय शब्दों द्वारा उसका प्रकाशन उपयुक्त न समझा)। वह लाचार थी, इसीलिए उसने लक्ष्मण के कटु वाक्य सह लिये और बस अपने होंठ काट कर ही रह गयी।

अनुज की ओर तब अवलोक करके ···· ··· ···· ··· बह रहे हो!"

तब छोटे भाई लक्ष्मण की ओर देख कर राम ने उन्हें रोक कर कहा, "लक्ष्मण! अपने को रोको, तुम यह सब क्या कह रहे हो ? अपने शब्दों के निर्बाध बहते हुए वेग को संभालो। देखो, तुम बहे जा रहे हो (मर्यादा का अतिक्रमण कर रहे हो)।"

"रहूँ" सौमित्रि बोले ··· ··· ··· ··· कि है कुल-धर्म जैसा।

लक्ष्मण ने कहा, "मैं चुप रहूँ ? चुप रह कर यह अन्याय सह लूँ ? यह असंभव है। ऐसा कभी न होगा। होगा तो वही, जो कुल-धर्म है।

'वही होगा कि है कुल-धर्म जैसा' में असीम आत्म-विश्वास है।

चलो, सिंहासनस्थित हो सभा में ···· ··· ···· ···· मान्य होते।

"चलो, सभा में चल कर सिंहासन पर बैठो। वहाँ चल कर वही काम किया जाएगा जिसे सब उचित समझेंगे। सब विघ्न डालने वाले भी वहाँ चलें। तुम कहो तो मैं सारी पृथ्वी को ही उलट-पुलट दूँ। तुम्हारे समीप लक्ष्मण खड़ा

है। जो शत्रु भी विघ्न डालने के लिए आगे आएँगे उन्हें मैं तुरन्त समाप्त कर दूँगा। इसके लिए मुझे देवताओं की सहायता की भी कोई आवश्यकता नहीं। मैं सुनूँ तो, ऐसा कौन-सा काम है जो मैं नहीं कर सकता। तुम्हें कुछ नहीं करना पड़ेगा, स्वयं लक्ष्मण ही आगे आकर विघ्नकारियों से लड़ेगा। हे स्वामी! आप मुझे आज्ञा देकर देख लीजिए तथा अपने मन में किसी तरह का भी सङ्कोच न कीजिए। एक ओर तुम्हारा दास लक्ष्मण है, दूसरी ओर चाहे सारा संसार हो जाए। वीर अपना अधिकार नहीं छोड़ते। उचित आज्ञाएँ ही मान्य होती हैं।

न्याय, कुल-धर्म तथा लोक-हित की रक्षा के लिए लक्ष्मण समस्त संसार से युद्ध करने को प्रस्तुत हैं। लक्ष्मण का यह वीर-रूप दर्शनीय है। उनकी वाणी में तेजस्विता कूट-कूट कर भरी है।

खड़ी हैं माँ बनी जो नागिनी ··· ··· ··· ··· चुप रहूँ क्या?"

"माँ का रूप धारण किये जो यह नागिनी खड़ी है, इस अनार्या की पुत्री और भाग्यहीना के जहरीले दाँत मैं अभी तोड़ दूँगा। तुम मुझे न रोको। इसे समाप्त करके ही मुझे शान्ति मिल सकेगी। जो इस दास-पुत्री के दास बन कर तुम्हें वनवास दे रहे हैं, वे हमारे पिता हैं या ··· ··· मैं क्या कहूँ? हे आर्य! यह सब होने पर भी मैं चुप रहूँ?"

क्रोध के आवेश में यहाँ लक्ष्मण शिष्टाचार की सीमाएँ लाँघ गये हैं। 'वाल्मीकि रामायण' के लक्ष्मण ने भी कौसल्या के महल में जा कर दशरथ और कैकेयी के प्रति लगभग इसी प्रकार की भावनाएँ अभिव्यक्त की हैं:

"हे माता (कौसल्या), मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती कि स्त्री (कैकेयी) के वशवर्त्ती महाराज के कहने से, राज-लक्ष्मी को छोड़, श्री रामचन्द्र जी वन में चले जाँए। अति वृद्ध होने के कारण उनकी बुद्धि बिगड़ गयी है और इस बुढ़ापे में भी वे विषय-वासना में ऐसे फँसे हैं जिसका कुछ ठीक ठौर नहीं। वे काम के वशीभूत हो जो न कहें सो थोड़ा है··· ऐसी बाल-बुद्धि रखने वाले राजा का कहना, राजनीति जानने वाला कोई भी पुत्र कभी न मानेगा। हे भाई, लोगों में यह अफवाह फैलने से पूर्व ही आप यह राज्य अपने अधीन कर लें। मैं इस काम में आपको सहायता दूँगा, हे राघव, जब कि मैं काल की तरह हाथ में धनुष लिए आपकी रक्षा करता हुआ आपके निकट खड़ा हूँ तब किसकी मजाल है जो आँख उठा कर भी आपकी ओर देख सके? फिर एक दो की तो बिसात ही क्या, यदि

समस्त अयोध्यावासी मिल कर भी इस कार्य में विघ्न डालें तो मैं अपने तीक्ष्ण बाणों से इस अयोध्या को मनुष्य-शून्य कर दूँगा। भरत के पक्षपाती या हितैषियों में से एक को भी न छोड़ूँगा, सभी को मार डालूँगा क्योंकि जो लोग सीधे होते हैं, सब उन्हीं को दबाते हैं। यदि कैकेयी के उभारने से हमारे दुष्ट पिता हमारे शत्रु बन जाएँ तो अवध्य होने पर भी उनको निःशंक हो मार डालना चाहिए..."※

'अध्यात्म रामायण' के लक्ष्मण का कथन है :

उन्मत्तं भ्रान्तमनसं कैकेयीवशवर्तिनम् ।
बद्ध्वा निहन्मि भरतं तद्बन्धून्मातुलानपि ॥
अद्य पश्यन्तु मे शौर्यं लोकान्प्रदहतः पुरा ।
राम त्वमभिषेकाय कुरु यत्नमरिन्दम ॥
धनुष्पाणिरहं तत्र निहन्यां विघ्नकारिणः ।

(मैं उन्मत्त, भ्रान्तचित्त और कैकेयी के वशवर्ती राजा दशरथ को बाँध कर भरत को, उनके सहायक मामा आदि के साथ, मार डालूँगा। आज सम्पूर्ण लोकों को दग्ध करने वाले कालानल के समान मेरे पौरुष को पहले वे सब लोग देख लें। हे शत्रुदमन राम, आप अभिषेक की तैयारी कीजिए। उसमें विघ्न डालने वालों को मैं धनुष-बाण हाथ में लेकर मार डालूँगा।†

कहा प्रभु ने कि "हाँ, बस चुप रहो .... प्रेमान्ध मन को।

प्रभु ने कहा, "हाँ, बस चुप रहो। तुम इस प्रकार अत्यन्त दुःखदायी वाक्य कह रहे हो। तुम यह तो बताओ कि इस प्रकार किस पर क्रोध प्रकट कर रहे हो? जो मैं कहूँ उसे सुनो और इस प्रकार चञ्चल न हो। मुझे आज वन जाता समझ कर अपने प्रेमान्ध मन को कलंकित न करो।

आवेश में आकर लक्ष्मण ने कथनीय तथा अकथनीय सभी कुछ कह डाला था। राम के शब्दों में इसका कारण लक्ष्मण का 'प्रेमान्ध मन' है। लक्ष्मण ने अपने स्वार्थ के लिए कुछ नहीं कहा। जो कुछ कहा है राम के लिए कहा है, न्याय, कुल-धर्म और लोक-हित की रक्षा के लिए कहा है। यहाँ राम के प्रति लक्ष्मण का प्रेम आत्म-समर्पण की सीमा तक पहुँच गया है अतः लक्ष्मण के 'अरुन्तुद वाक्य' केवल बहकी हुई मनोवृत्ति का परिणाम हैं, प्रेमान्ध मन के फल हैं। राम के इस कथन द्वारा मानों साकेतकार ने लक्ष्मण के दोष का परिहार करने का प्रयत्न किया है।

※ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड सर्ग २१, श्लोक २ से ३ और ७ से १२।
† अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ४, श्लोक १५—१७।

तुम्हीं को तात यदि वनवास ···· ···· ···· ··· ठानते हो ?

"यदि पिता तुम्हें वनवास दे देते तो क्या तुम उस समय भी उन्हें इस तरह कष्ट पहुँचाते ? पिता जिस धर्म पर मरने के लिए प्रस्तुत हैं और जिस धर्म की रक्षा के लिए इष्ट कार्य भी नहीं कर रहे हैं, हम उन्हीं रघुवंश-गौरव के पुत्र होकर, क्या धर्म को ही खोकर राज्य स्वीकार करेंगे ? तुम तो मेरा स्वभाव भली प्रकार जानते हो, फिर इस प्रकार व्यर्थ हठ क्यों कर रहे हो ?

बड़ों की बात है अविचारणीया ··· ··· ··· ···· राज्य तृण से ।

"बड़ों की बात पर विचार अथवा तर्क करना उचित नहीं (आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया)। वह तो मुकुट में लगी मणि के समान सादर मस्तक पर धारण करने (शिरोधार्य करने) योग्य ही होती है। लक्ष्मण ! तुम उन्हीं पितृदेव का अपमान कर रहे हो जो अपने वचनों का पालन किये बिना जीवित नहीं रह सकते और वात्सल्य के कारण कुछ कह भी नहीं सकते। क्या आज तुमने कुछ पान (नशा) किया है ? पिता के ऋण से उऋण होना कठिन है। मैं राज्य को तिनके से अधिक महत्त्व नहीं देता।

मनःशासक बनो तुम ··· ···· ···· ··· प्रणय से जी जुड़ाओ।"

"अपने मन को वश में करो, इस प्रकार हठ न करो और सारे संसार को अपना राज्य समझो। समझ लो कि भाग्य को यही स्वीकार है और वह जो कुछ करता है वही होता है। सत्य तो यह है कि मुझे इस प्रकार गौरव प्राप्त करने का अवसर ही मिला है। इसलिए आओ और प्रेम तथा धैर्यपूर्वक मुझे विदा करो।"

लक्ष्मण का क्रोध शान्त करते हुए 'वाल्मीकि रामायण' के राम कहते हैं :

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तरम् ।
विक्रमं चैव सत्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ।।
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मसंश्रितमेतच्च पितुर्वचनमुत्तमम् ।।
संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा ।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता ।।
तदेनां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम् ।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ।।

(हे लक्ष्मण, मैं जानता हूँ कि मुझ में तुम्हारा बहुत अनुराग है। मुझे तुम्हारा

बल और पराक्रम विदित है। मैं जानता हूँ कि तुम्हारा तेज दूसरे नहीं सह सकते परन्तु क्या तुम नहीं जानते कि संसार में यावत् पुरुषार्थों में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है? धर्म का पर्यवसायी सत्य है। मेरे पिताजी की आज्ञा धर्मानुमोदित होने के कारण, माता कौशल्या की आज्ञा से उत्कृष्ट है। हे वीर! पिता, माता अथवा ब्राह्मण से कोई काम करने की प्रतिज्ञा करके पीछे उसे न करना धर्मरूपी फल की इच्छा रखने वालों का कर्त्तव्य नहीं है। जो ऐसा करते हैं वे अधर्म करते हैं। अतएव हे लक्ष्मण! तुम इस क्षात्र-धर्म का अनुगमन करने वाली दुष्ट, पिता आदि को मार कर राज्य लेने की और मार-काट करने को, बुद्धि को त्याग दो। उग्रता त्याग कर, धर्म का आश्रय ग्रहण करो और मेरी बुद्धि के अनुसार चलो।)*

'अध्यात्म रामायण' के राम इस अवसर पर राज्य और देह आदि की असारता एवं असत्यता पर प्रकाश डालते हैं।†

बढ़ीं तापिच्छ-शाखा-सी भुजाएँ ··· ··· ··· ··· निरत था।

तापिच्छ (श्याम तमाल) वृक्ष की शाखाओं के समान राम की भुजायें अनुज के दायें और बायें बढ़ीं। उस समय लक्ष्मण के रूप में सारा संसार ही राम की भुजाओं में आबद्ध था और उनकी क्षमा-छाया के नीचे झुका हुआ मग्न सा हो रहा था।

"उक्त उद्धरण में प्रस्तुत राम के क्रोड़ के लिए अप्रस्तुत अमूर्त है। दोनों में साधर्म्य तो है ही परन्तु विशेषता प्रभाव-साम्य की है। राम के क्रोड़ में क्षमा की शान्ति और एक प्रकार की सघनता थी। क्षमा शब्द से सघनता का भान आप से आप हो जाता है। उधर राम के क्रोड़ में भी यही बात है। 'छाया' शब्द में राम की श्यामता का प्रतिबिम्ब है।"‡

मिटा सौमित्रि का वह कोप सारा ···· ··· ··· ···· तब तक।

लक्ष्मण का समस्त क्रोध शान्त हो गया और अचानक उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा उमड़ पड़ी। इससे पूर्व ही कि लक्ष्मण राम के चरणों पर गिरें, राम ने उन्हें अपनी भुजाओं में जकड़ लिया।

प्रस्तुत उद्धरण की प्रथम पंक्ति में 'भाव-शान्ति' का और द्वितीय में 'भावोदय' का सुन्दर उदाहरण है।

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग २१, श्लोक ३९. ४१, ४२, ४४।

† अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ४, श्लोक १७ से ४७।

‡ साकेत—एक अध्ययन, पृ० १८०।

मिले रवि-चन्द्र सम युग-बन्धु .... समझा उन्होंने !

जैसे ही राम और लक्ष्मण सूर्य और चन्द्रमा के समान मिले वैसे ही चारों ओर अमावस्या का-सा अन्धकार देखकर बूढ़े दशरथ बालक की तरह रोने लगे। उन्होंने उस समय अपना सर्वस्व समाप्तप्राय समझा।

सूर्य और चन्द्रमा का मिलन होने पर अमावस का घना अँधेरा हो जाता है। बिहारीलाल ने भी लिखा है :

अधिक अँधेरो जग करैं मिलि मावस रवि चंद।

बूढ़े नृप बालक के समान रोने लगे। 'वृद्ध' और 'बालक' का विरोधाभास कितना अर्थपूर्ण है !

कहा इस ओर अग्रज से अनुज ने ... ... प्रेत-साधन ?"

इधर लम्बी भुजाओं वाले लक्ष्मण ने अग्रज, श्री रामचन्द्र जी के चरण पकड़ कर कहा, "तो तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो और हे नाथ ! वन में नयी अयोध्या बसे। भाग्य का बल तो भाग्य ही जाने, मैं तो यह समझता हूँ कि जो पुरुष है वह पुरुषार्थ का महत्व कम क्यों माने ? ठीक है, मैं कुछ नहीं जानता। जो तुम्हें पसन्द है, मुझे भी वही स्वीकार है। परन्तु विदा की बात किससे ? यह बात कैसी ? हे नाथ ! इसकी तो कोई आवश्यकता नहीं। मुझे मारना चाहो तो भले ही मार डालो परन्तु इस प्रकार जीते जी अलग न करो। हे प्रभो ! मुझे तो सदा अपना दास ही बना रहने दीजिए। आपकी अनुपस्थिति में घर पर रहना कहीं देश निकाले जैसा न हो जाए। यह अयोध्या है या उसका श्मशान ? मैं क्या यहाँ रह कर प्रेतों की साधना करूँगा ?"

"अरे यह क्या ?"—कहा प्रभु ने ... ... फिर वे, सँभालो !"

प्रभु ने कहा, "अरे यह क्या ? क्या तुम विदा को विरह समझते हो ? तुम इस प्रकार विकल क्यों हो रहे हो ? सुनो, जो हृदय में बसा है वह दूर कैसे हो सकता है ? (शारीरिक दूरी का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता।) यहाँ पिता हैं, माता हैं, भरत और शत्रुघ्न जैसे भाई हैं। हे भाई ! तुम्हें यहीं रहना चाहिए, क्योंकि जो कुछ यहाँ प्राप्य है, वह तो स्वर्ग में भी नहीं है। मुझे वन में किसी प्रकार का परिश्रम न करना पड़ेगा और वहाँ मुझे निरंतर मुनियों के साथ रहने का अवसर मिलता रहेगा। तुम पिता की ओर देखो और अपने धर्म का पालन करो। अरे ! वे फिर बेहोश हो गये, उन्हें सँभालो !"

किया उपचार दोनों ने पिता का ... ... कि छल था ?"

राम लक्ष्मण ने पिता का उपचार (चिकित्सा) किया। होश में आना तो महाराज दशरथ के लिए चिता पर चढ़ने के समान था।

कैकेयी खड़ी थी, पर उसका चित्त अस्थिर था। वह रह-रह कर इसी बात पर विचार कर रही थी कि राम ने जो कुछ कहा वह सत्य था अथवा छल ?

'खड़ी थी कैकेयी पर चित्त चल था' : यहाँ केवल सात शब्दों में कवि ने कैकेयी की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति का सम्पूर्ण चित्र अङ्कित कर दिया है।

सँभल कर कुछ किसी विध भूप ··· ···· ··· ··· क्लेश मेरा ?"

भोले भूप ने कुछ सँभल कर जैसे-तैसे बेचैन होकर लक्ष्मण से कहा, "पुत्र ! वही कहो, जो तुमने पहली बार कहा था। तुम्हारी वह गर्जना मुझे अत्यन्त सुख दे रही थी। मैं वास्तव में तुम्हारा पिता कहलाने योग्य नहीं हूँ। (क्या यही पिता की प्रीति-धारा है ?) तथापि तुम मेरे सुपुत्र और शूरवीर हो। अतः हे लक्ष्मण ! तुम मेरे सब दुःख दूर करो। तुम वीरता से मुझे बन्दी बना कर धैर्यपूर्वक राम राज्याभिषेक का सब प्रबन्ध कर लो। तुम स्वयं निःस्वार्थ हो अतः नीति और कुल-परम्परा का पालन करो। तुम्हें कोई दोष न देगा। भरत स्वयं ही राज्य का अधिकारी था परन्तु इस समय तो राम, राज्य से भी भारी (महत्वशाली) हो गया है। भरत उसी (राम) से वंचित न रह जाए ! विरोधिनी पत्नी (कैकेयी) भले ही लोभ में लीन रहे। हे राम ! सुनो, तुम भी धर्म का पालन करो और पिता को मृत्यु के मुँह से उबार लो। आज तुम मेरी आज्ञा का पालन करो। क्या मेरा यह क्लेश उससे अधिक तीव्र नहीं ?"

'भरत था आप ही राज्याधिकारी' : महाराज दशरथ के साथ कैकेयी का विवाह इसी शर्त पर किया गया था कि उनका औरस पुत्र ही गद्दी का उत्तराधिकारी होगा। इसी शर्त की ओर संकेत करते हुए 'साकेत-सन्त' के युधाजित् भरत से कहते हैं :

"सत्पुरुष ? कापुरुष ? यह क्या
बातें न हँसी में टालो,
तुमको राजा होना है,
अपने को भरत ! सँभालो !
रघुपति से यह प्रण लेकर,
कैकेयी हमने दी है,
तुम समझो, युवा हुए हो,
*अब बालक बुद्धि नहीं है।"**

* 'साकेत-सन्त', रचयिता डा० बलदेवप्रसाद मिश्र, सर्ग २, पृ० ४२।

भरत की माँ डरी सुन भूप वाणी ··· ··· ··· ·· क्यों न सानें !

महाराज के ये शब्द सुनकर भरत की माँ यह सोचकर डर गयी कि कहीं राम-लक्ष्मण दशरथ की बात न मान लें। नीच लोग महान व्यक्तियों के विचार कैसे जान सकते हैं ? फिर भला वे उन्हें भी अपने में क्यों न सानें ? (उन्हें भी अपने ही जैसा क्यों न समझें ?)

कहा प्रभु ने "पिता ! हा मोह इतना ! ··· ··· ··· अगौरवमार्गचारी ।

प्रभु ने कहा, "पिता ! इतना मोह क्यों ? तनिक यह तो विचार कीजिए कि इस प्रकार कितना द्रोह (विरोध) होगा। तुम्हारा पुत्र होकर मैं तुम्हारी आज्ञा न मानूँ तो सारा संसार क्या कहेगा ? हाय ! इस प्रकार तो हमारा छल ही प्रकट होगा और माँ के साथ भी न्याय न हो सकेगा। हमारे वंश की मर्यादा मिट जाएगी और हम बुरे तथा अनुचित मार्ग पर चलने वाले बन जायेंगे ।

कहाँ है हा ! तुम्हारा धैर्य वह सब ··· ··· ··· ··· चित्र को माँ !

"तुमने धैर्य धारण करके मुझे विश्वामित्र जी के साथ भेज दिया था। इस समय वह धीरज कहाँ है ? तुम दया करके लक्ष्मण का लड़कपन भूल जाओ। हमारे वंश को नवीन यश प्राप्त हो। माँ ! तुम भी लक्ष्मण को क्षमा करो और उस चित्र को (लक्ष्मण के अरुन्तुद वाक्यों को) अपने हृदय से निकाल दो।

विरत तुम भी न हो अब और ··· ···· ··· ··· स्वजन सब ।"

भाई लक्ष्मण ! तुम भी अधिक विमुख न हो । अरे ! तात फिर संज्ञाहीन हो गये। जब तक मैं यहाँ ठहरा रहूँगा, तब तक इनका मोह बढ़ता ही रहेगा। इसलिए मुझे शीघ्र ही यहाँ से चला जाना चाहिए। सब सम्बन्धी मिल कर इन्हें धीरज बँधाएँ।"

प्रणति-मिस निज मुकुट-सर्वस्व देकर ··· ···· ···· ···· वरण कर !

प्रणाम के बहाने अपना मुकुट-सर्वस्व देकर और पिता की चरण-धूलि ले कर प्रभु रामचन्द्र जी सबको छोड़ कर तथा सेवा-पथ स्वीकार करके वहाँ से चल दिये। लक्ष्मण भी उनके पीछे-पीछे चले।

मुकुट और प्रणति का घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण यहाँ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत परस्पर अविभक्त है ।

कहा प्रभु ने कि "भाई, बात मानो ··· ··· ···· ···· हठ न ठानो ।"

प्रभु श्री रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा, "भाई, मेरी बात मानो, पिता

की ओर (पिता की दशा) देखो और इस प्रकार मेरे साथ चलने के लिए हठ न करो।"

'रामचन्द्रिका' के राम, लक्ष्मण को समझाते हैं:—

धाम रहो तुम लक्ष्मण राज की सेव करौ।
मातन के सुनि तात ! सुदीरघ दुःख हरौ॥
आय भरत्थ कहाँ धौ करैं जिय भाय गुनौ।
*जो दुख देयं तो लै उर जौं यह सीख सुनौ॥**

कहा सौमित्रि ने कर जोड़कर तब ··· ··· ···· ··· विष भी पियूँगा।"

तब सौमित्रि ने हाथ जोड़ कर कहा, "यह दास तुम्हें छोड़ कर कब रहा है? आज तुम्हें वन जाता देख कर यह यहीं रह जाए? हे नाथ, इस दास को इस प्रकार दोषी न बनाइए? मेरे तो पिता, माता, भाई, सर्वस्व और विधाता तुम्हीं हो। बाध्य करोगे तो मुझे यहाँ रहना ही पड़ेगा। उस दशा में मैं यहाँ रह कर नरक का कष्ट भी सहूँगा। यदि आत्मा नाशवान होती तो वह यह कष्ट न सहती (अपना अन्त कर लेती परन्तु अविनाशी होने के कारण उसे तो यह कष्ट सहना ही होगा) परन्तु क्या यह जलता हुआ शरीर अधिक समय तक जीवित रह सकेगा? हे नाथ! कला, खेल-कूद, शिकार, अभिनय, सभा-सम्मेलन, न्याय-निर्णय, सबमें ही जिसे आपने सदा साथ रखा है, उसी से आज इस प्रकार हाथ क्यों खींच लिया? मेरे बिना यहाँ कौन-सा काम रुका रहेगा? यह शरीर तो (आपकी अनुपस्थिति में) अपना भार भी न सह सकेगा। तुम तो मेरे अन्तर्बाह्य हो (मेरे भीतर भी तुम्हीं हो और बाहर भी)। क्या मेरे फूल-फल भी तुम्हें स्वीकृत नहीं? आज ही (इस आपत्काल में ही) यदि तुम मुझे साथ नहीं रखना चाहते, तो हे नाथ! मुझे हटा कर चले जाओ। मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा। यदि जी सका तो जीवित भी रहूँगा। जब (साथ रह कर) अमृत पिया है तो अब (अलग रह कर) विष-पान भी करूँगा।"

गोस्वामी तुलसीदास ने लक्ष्मण की भावनाओं का चित्रण इस प्रकार किया है:—

उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाई॥

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसांई। लागि अगम अपनी कदराई॥
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥

---

* आचार्य केशवदास, रामचन्द्रिका, नवाँ प्रकाश, छन्द २७।

मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहि मराला॥
गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबन्धु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
*मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥**

आचार्य केशवदास के लक्ष्मण का उत्तर अत्यन्त संक्षिप्त है:—

शासन मेटो जाय क्यों, जीवन मेरे हाथ।
ऐसी कैसे बूझिये, घर सेवक बन नाथ॥†

हुए गद्गद् यहीं रघुनन्दनानुज .... दुःख या सुख !

यह कहते-कहते लक्ष्मण गद्गद् हो गये। उस समय वह ओस की बूँदों से ढके प्रभातकालीन कमल के समान जान पड़ रहे थे। सूर्य-वंश के सूर्य, राम, उनके सामने खड़े थे। कहा नहीं जा सकता कि उस समय देवताओं को सुख हुआ अथवा दुःख।

अनुज को देख सम्मुख दीन ... ... सेवक सभी हो।"

छोटे भाई को इस प्रकार सामने ही कातर देख कर भी क्या दयामय राम न पसीजते ? उन्होंने कहा, "सौमित्रि ! कातर न हो, आओ और सदा अपने राम का अर्द्धांश (आधा भाग) पाओ। आज का यह सवेरा आज का-सा ही है (अनुपम है)। वन में भी मेरा राजत्व न मिटा। हे भाई ! तुम मुझसे कभी अलग नहीं हो सकते। तुम मेरे हितैषी, साथी, मन्त्री और सेवक सभी कुछ हो।"

महर्षि वाल्मीकि के राम ने भी कहा था :

स्निग्धो धर्मरतो वीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो भ्राता चापि सखा च मे॥

(हे लक्ष्मण ! तुम मेरे स्नेही, धर्म में रत, शूरवीर, सदैव सन्मार्ग पर चलने वाले, प्राण के समान प्रिय, मेरे दास, छोटे भाई और मित्र भी हो)।‡

'मिटा राजत्व वन में भी न मेरा' : राम राजसिक वेष में वन न जाकर

---

* रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

† रामचन्द्रिका, नवां प्रकाश, छन्द २८।

‡ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ३१, श्लोक १०।

सात्विक वेष में ही वहाँ जाना चाहते थे । आगे चल कर उन्होंने स्वयं कहा है :

अब वल्कल पहनूँ बस मैं, बनूँ वनोचित तापस मैं ।
*यहीं रजोगुण लेश रहे, वन में तापस वेश रहे ।**

परन्तु लक्ष्मण के रूप में सुहृद्, सहचर, सेवक सभी उनके साथ वन में जा रहे हैं । इसीलिए राम ने कहा है :

मिटा राजत्व वन में भी न मेरा

और

मैं वन में भी रहा गृही !†

बचे सौमित्रि मानों प्राण पाकर ··· ··· ··· ··· इसी को ।

राम की स्वीकृति मिल जाने पर लक्ष्मण मानो (खोये) प्राण (पुनः) पाकर जीवित हो गये और कैकेयी भी मानो आत्म-रक्षा का साधन पाकर बच गयी । न किसी को वहाँ रहना था, न किसी को रखना था । इसी को तो सहज संतोष कहते हैं । (राम-लक्ष्मण को संतोष था, अयोध्या में न रह कर वन जाने के कारण; कैकेयी को भी संतोष था—राम-लक्ष्मण के इस निश्चय के कारण । दोनों पक्ष पूर्णतः 'संतुष्ट' थे) ।

'बची त्यों कैकेयी भी त्राण पाकर' : लक्ष्मण अयोध्या में रहते तो कैकेयी के लिए भय का कारण बना ही रहता । लक्ष्मण जाने को तैयार, राम उन्हें साथ ले जाने को तैयार, कैकेयी को तो मानो सब प्रकार से चैन मिल गया ।

निकल कर अग्रजानुज तब वहाँ से ···· ··· ···· ···· मोड़ कर क्यों ?"

दोनों भाई वहाँ से निकल कर चले । पर यह शब्द कैसा ? "हे पुत्र ! तुम मुझे इस प्रकार मौत के मुँह में छोड़ कर और मुझसे इस तरह मुँह मोड़ कर क्यों जा रहे हो ?"

कहा प्रभु ने कि भाई क्या करूँ मैं ··· ··· ··· ···· कष्ट उनका ।"

प्रभु ने कहा, "भाई मैं क्या करूँ ? पिता का यह शोक किस प्रकार दूर करूँ ? उनका धैर्य इस प्रकार अचानक नष्ट हो गया है । चलो, उनकी यह असीम वेदना कहीं हमें भी कातर न कर दे ।"

बढ़ाकर चाल अपनी और थोड़ी ···· ···· ···· ···· फाँस निकली ।

अपनी चाल कुछ और बढ़ा कर उन्होंने एक लम्बी साँस (आह) छोड़ी । वह साँस अपने लिए नहीं निकली थी । इस प्रकार तो मानो वह फाँस (बाधा) निकल गयी थी, जो उन्हें वहाँ फँसा रही थी ।

---

* साकेत, सर्ग ४ ।

† साकेत, सर्ग ४ ।

पिता का कष्ट उन्हें भी कातर न कर दे, यह सोच कर पुत्र ने अपनी चाल तो बढ़ा दी परन्तु पिता के शोक ने उन्हें प्रभावित अवश्य किया। लम्बी साँस छोड़ना इसका प्रमाण है। यह अवश्य है कि वह साँस अपने किसी स्वार्थ के लिए नहीं छोड़ी गयी थी। इस प्रकार तो मानो राम ने समवेदना के रूप में एक आह भर कर ममता और मोह की फाँस भी निकाल डाली।

चले दोनों अलौकिक शान्तिपूर्वक ··· ···· ··· ··· विश्रान्तिपूर्वक !

रात्रि की थकावट से मुक्त होकर जैसे वे दोनों प्रातःकाल होने पर महाराज दशरथ के भवन में आये थे, ठीक उसी प्रकार एक दिव्य शान्ति साथ लेकर वहाँ से बाहर निकले।

अजिर-सर के बने युग हंस ···· ··· ··· ···· अवतंस थे वे।

महल के आँगन रूपी सरोवर में राम और लक्ष्मण दो हंसों के समान चल रहे थे। वे दोनों तो स्वयं ही सूर्यवंश के अवतंस (भूषण) थे।

झुका कर सिर प्रथम फिर टक ···· ··· ···· ·· नये थे !

पहले सिर झुका कर फिर एकटक उनकी ओर देख कर सेवक आ-आ कर उन्हें एक ओर खड़े होकर देखते थे। यद्यपि वे दोनों अभी इसी ओर से होकर गये थे परन्तु सबको वे नये से जान पड़ते थे।

"राम के वनवास की सूचना अभी लोगों को नहीं मिली थी, परन्तु दशरथ की आर्त-अवस्था का समाचार समस्त रनवास में व्याप्त हो चुका था। सभी को एक विशेष चिन्ता और उत्सुकता थी कि आखिर बात क्या है ? परन्तु राज-रहस्य था, किसी को पूछने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। राम पिता से विदा होकर माता के भवन में जा रहे हैं। नौकर उन्हें विस्मय-विमूढ़ होकर देखते हैं। उनकी, उस समय की दशा का चित्रण कवि दो पंक्तियों में करता है। ये दो पंक्तियाँ उनकी मुद्रा को ही नहीं, उस समस्त वातावरण को अङ्कित करने में समर्थ हैं :

झुका कर सिर प्रथम, फिर टक लगाकर,
निरखते पार्श्व से थे भृत्य आकर।

इस प्रकार के अवाक् मुद्रा-चित्र सिनेमा में प्रायः प्रदर्शित किये जाते हैं।"*

लगे माँ के महल को घूमने ···· ···· ··· ··· झुक गये वे !

जब वे माँ कौसल्या के महल की ओर घूमने लगे तब उन्हें "जियो कल्याण हो" का स्वर सुनाई दिया। सुमन्त्र को उस ओर आता देखकर वे रुक गये और "अहा ! काका" कह कर विनयपूर्वक नत-मस्तक हो गये।

* साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ १६२–६३।

सचिववर ने कहा—"भैया ! कहाँ थे ?" ... . जहाँ थे।

मन्त्रिश्रेष्ठ ने पूछा, "भैया कहाँ थे ?" राम ने उन्हें बता दिया कि वे कहाँ थे।

प्रस्तुत परिस्थिति में विस्तार अथवा पुनरुक्ति के लिए कोई स्थान न था। इसी लिए कवि ने 'बताया राम ने उनको जहाँ थे' द्वारा कम-से-कम शब्दों में सुमन्त्र के प्रश्न का उत्तर दिलवा दिया।

कहा फिर "तात आतुर हो ... ...निकलता ही निकलता !

राम ने फिर सुमन्त्र से कहा, "तात बेचैन हो रहे हैं, तुम शीघ्र ही वहाँ जाकर उनसे मिलो। वह इस समय धीरज खो रहे हैं।"

यह सुन कर सुमन्त्र बेचैन हो गये। उनके मुख से "क्यों" शब्द भी निकलता का निकलता रह गया।

'रहा क्यों भी निकलता ही निकलता' में सचिववर की आकस्मिक परन्तु असीम विकलता की अभिव्यक्ति है।

अमंगल पूछना भी कष्टमय है ... ... लौट कर क्यों ?"

अशुभ बात पूछना भी कष्टदायक होता है। उसमें यह अज्ञात भय छिपा होता है कि न जाने स्थिति (उत्तर) क्या हो ? परन्तु कोई और उपाय न होने के कारण सुमन्त्र बोले, "आखिर हुआ क्या ? क्या हमें भी विकारों ने छू लिया ? मैं भी अपने मन में यह चिन्ता कर रहा था कि महाराज अभी तक शयन-कक्ष में क्यों हैं ? किसी वैद्य को बुला लाऊँ या पहले उन्हें देख आऊँ ? सभ्य-जन सभा में बैठे हैं। उन्हें क्या उत्तर दूँ ? भगवान् मङ्गल करें। बाधाएँ इस प्रकार गुप्त होती हैं। तुम इधर लौट कर क्यों जा रहे हो ?"

सुमन्त्र ने एक साथ बहुत से प्रश्न पूछ डाले। विकलता में प्रायः यही होता भी है।

कहा सौमित्रि ने "हे तात सुनिए .... सहेजती हैं।"

उत्तर लक्ष्मण ने दिया, "हे तात ! कारण तो मुझसे सुन लीजिए और उचित-अनुचित का निर्णय स्वयं कीजिए। मँझली माँ हमें वन भेज रही हैं और भरत के लिए राज्य सहेज रही हैं।

'साकेत' के लक्ष्मण इस अवसर पर चुप कैसे रहते ? अतः सुमन्त्र के प्रश्न "इधर तुम जा रहे हो लौट कर क्यों" का उत्तर लक्ष्मण ने ही दिया। '*हमें*' वन भेजती हैं' में राम-लक्ष्मण की अभिन्नता की अभिव्यक्ति है। मँझली माँ राम को

ही वन में नहीं भेज रहीं, लक्ष्मण भी जा रहे हैं। *'सहेजती हैं'* में तो मानो लक्ष्मण का, कैकेयी के प्रति, समस्त क्रोध और तिरस्कार व्यंग्य बन कर फूट निकला है।

निरख कर सामने ज्यों साँप भारी ··· ···· ··· ··· अथ से।"

सामने ही कोई बहुत बड़ा साँप देख कर जैसे कोई पथिक अचानक सहम जाए ठीक उसी तरह सुमन्त्र, लक्ष्मण का उत्तर सुन कर, भ्रान्त होकर रह गये। ऐसा जान पड़ता था मानो उनका निःश्वास भी थक कर भीतर ही रुक गया (बाहर न निकल सका)। अन्त में उन्होंने संभल कर कहा, "हा दैव! खेत पर ओले पड़ गये। कुबुद्धि की यह हवा कहाँ से आयी, जिसके कारण किनारे की ओर आती हुई नाव डगमगा गयी। दशरथ जैसे पिता के पुत्र होकर भरत कभी राज्य स्वीकार न करेंगे। वह तो रो-रो कर राज्य लौटा देंगे। भरत का सारा भाव समझे बिना राम-वनवास का प्रस्ताव व्यर्थ है। न जाने भाग्य को क्या स्वीकार है? तुम ठहरो, मैं देखता हूँ कि यह सब क्या बात है? मैं तुम्हें धर्म-पथ पर चलने से तो न रोकूँगा परन्तु पहले आरम्भ से अंत तक सब बात समझ तो लूँ।"

'वाल्मीकि रामायण' में सुमन्त्र यह जानने के लिए महाराज के महल में जाते हैं कि वह इतनी देर हो जाने पर भी सोकर क्यों नहीं उठे? उनके वहाँ पहुँचते ही कैकेयी उन्हें राम को वहाँ बुला लाने को आज्ञा देती है और वह राम को बुलाने चले जाते हैं। इस प्रकार उन्हें घटना-स्थिति का सम्यक् अध्ययन करने का अवकाश नहीं मिलता। एक पल के लिए उनके मन में यह विचार अवश्य उठता है कि कैकेयी ने रामचन्द्र को तुरन्त क्यों बुलाया?❀ परन्तु दूसरे ही क्षण वह स्वयं ही इस शंका का निवारण करके प्रसन्न हो जाते हैं:

व्यक्तं रामोऽभिषेकार्थमिहायास्यति धर्मवित्।
इति सूतो मतिं कृत्वा हर्षेण महता वृतः॥

(फिर तुरन्त ही उन्होंने विचारा कि शीघ्र राज्याभिषेक-कार्य आरम्भ करवाने को धर्मात्मा महाराज दशरथ ने श्री रामचन्द्र को बुलवाया है। यह विचार मन में उत्पन्न होते ही सुमन्त्र बहुत प्रसन्न हुए।)†

'रामचरितमानस' के सुमन्त्र इतने कल्पना प्रधान न होकर अधिक यथार्थवादी

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग १४, श्लोक ६५।
† वही, श्लोक ६६।

हैं। कैकेयी की आज्ञा पाकर वह राम को बुलाने के लिए चल दिये परन्तु उन्होंने—

लखी कुचालि कीन्हि कछु रानी।

इस विचार के उत्पन्न होते ही

सोच विकल मग परइ न पाऊ।
रामहि बोलि कहिहि का राऊ॥

परन्तु वह धैर्य धारण करके राम के महल की ओर जाते हैं। उन्हें अभी वस्तु-स्थिति का पूरा ज्ञान नहीं है अतः अभी वह दूसरों को इसका आभास भी नहीं होने देना चाहते :

समाधानु करि सो सबही का।
*गयउ जहाँ दिनकर कुल टीका॥**

'साकेत' के सुमंत्र एक अनुभवी सचिववर हैं। वह दूरदर्शी भी हैं और विवेकशील भी। मानवोचित दुर्बलतायें होते हुए भी उनमें अपार संयम एवं सहनशीलता है। लक्ष्मण के मुख से सब समाचार सुन कर पल भर के लिए उनका श्वास भी रुक-सा गया। यह स्वाभाविक ही था। परन्तु दूसरे ही क्षण भविष्य का सम्पूर्ण चित्र दूरदर्शी सचिववर के नेत्रों के सामने झूल गया। इस बदली हुई परिस्थिति का कारण क्या है? वयोवृद्ध सचिव का उत्तर है 'कुमति', वही विकार जिसकी ओर वह पहले ही संकेत कर चुके हैं—"हमें भी अब विकारों ने छुआ क्या?" भरत राज्य को स्वीकार करेंगे या नहीं? "नहीं, वह रो-रो कर उसे लौटा देंगे", सुमन्त्र का निश्चित मत है। फिर दैव यह क्या कर रहा है? इस सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा बनाने से पहले मन्त्रिवर अथ से इति तक सब मर्म समझ लेना चाहते हैं। सब बात पूरी तरह समझ कर ही तो वह कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय कर सकेंगे, तभी तो वह राम-लक्ष्मण का कर्तव्य-पथ निर्धारित कर सकेंगे और सभागत सभ्य-गण को कुछ उत्तर दे सकेंगे।

'साकेत' के सुमन्त्र का यह चित्र अत्यन्त संक्षिप्त होकर भी सर्वथा पूर्ण है।

उत्तर की अनपेक्षा करके ··· ··· ··· ··· लोक ललाम।

सुमन्त्र का अन्तर्यन्त्र घूम गया (सुमंत्र के हृदय में हलचल-सी मच गयी)। फलतः वह राम-लक्ष्मण से कोई उत्तर पाये बिना ही अपने आँसू रोक कर बहुत तेजी से महाराज दशरथ की ओर चले। "अरे!" इतना ही कह

* रामचरितमानस, अयोध्याकांड।
† साकेत, सर्ग ५।

कर राम उनको देखते रह गये और लोक-ललाम लक्ष्मण राम को देखते रहे।

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि गुप्तजी में आन्तरिक भावों का चित्रण करने की अपूर्व क्षमता है। 'उत्तर की अनपेक्षा करके', 'आँसू रोक', 'चले वेग से', 'और घूमा अन्तर्यन्त्र' इसके प्रमाण हैं। राम सुमन्त्र की ओर देखते रह गये, और लक्ष्मण? उनके नेत्रों के सामने तो राम के अतिरिक्त कुछ टिकता ही नहीं।

चले फिर रघुवर माँ से मिलने .... आश्विन जैसे।

फिर रामचन्द्र जी माँ से मिलने चले। ऐसा जान पड़ता था मानो प्राण रूपी हवा ने रामचन्द्र रूपी बादल को उस ओर बढ़ा दिया हो। लक्ष्मण भी उनके पीछे-पीछे चले, भाद्रपद के पीछे-पीछे चलने वाले आश्विन की भाँति।

'बढ़ाया घन सा प्राणानिल ने' में पुत्र की माँ से मिलने की आतुरता की कुशल अभिव्यक्ति है। भाद्रपद के पीछे आश्विन स्वभावतः आजाता है। ठीक इसी प्रकार लक्ष्मण भी राम के पीछे-पीछे चले। 'साकेत' के लक्ष्मण सही अर्थों में राम के 'अनुचर' हैं।

चतुर्थ सर्ग

करुणा-कंजारण्य-रवे ! ··· ··· ··· ··· है इस जन का ।

करुणा के कमल-वन के सूर्य, गुणों के केन्द्र, कविता-पिता आदि कवि, वाल्मीकि जी ! मुझे अपनी कृपा का वरदान दीजिए और मेरे हृदय को भी भावपूर्ण कर दीजिए। मनोरम (मन अथवा) आकाँक्षा रूपी रथ पर चढ़ कर तथा इस रमणीय राज-मार्ग पर आकर मैं तपोवन के दर्शन कर सकूँ, इस सेवक की (मेरी) यही हार्दिक अभिलाषा है ।

यहाँ गुप्तजी ने राम-कथा के प्रथम गायक, आदि कवि, महर्षि वाल्मीकि की स्तुति की है और उनसे भाव-राशि का वरदान माँगा है ।

प्रस्तुत उद्धरण में महर्षि वाल्मीकि के लिए 'करुणा-कंजारण्य-रवे', 'आदि कवे' और 'कविता-पितः' विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं । महर्षि वाल्मीकि को छन्दो-बद्ध कविता का जन्मदाता अथवा आदि-कवि माना जाता है । क्रौंच-युग्म में से एक को निषाद द्वारा आहत और दूसरे को संतप्त देखकर उनका हृदय करुणावश द्रवित हो गया और निषाद को शाप देते हुए सर्वप्रथम उनकी छन्दोमयी वाणी इस प्रकार प्रकट हुई :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

(हे बहेलिये ! तूने जो इस कामोन्मत्त नर-पक्षी को मारा है, इसलिए अनेक वर्षों तक तू इस वन में न आना अथवा तुझे सुख-शान्ति न मिले) ।

आदि-कवि ने इसी छन्द में आदि-काव्य, रामायण की रचना की ।

'मनोरथ' यहाँ श्लिष्ट शब्द है । इसके दो अर्थ हैं—आकाँक्षा और मन रूपी रथ । इसी भाव की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने इस शब्द का प्रयोग अन्यत्र इस प्रकार किया है :

*पहुँचे रथ से प्रथम, मनोरथ पर चढ़े**

मनोरथ का विशेषण 'मंजु' है और राजपथ का 'रम्य' । मंजु में मनोरमता का भाव है जो मनोरथ के लिए सर्वथा उपयुक्त है और रम्य राजपथ की रमणीयता का द्योतक है । 'मंजु मनोरथ' और 'रम्य राजपथ' में अनुप्रास भी है ।

राम वनवास के लिए प्रस्तुत हैं, लक्ष्मण उनके साथ जाने का निश्चय कर

---

* साकेत, सर्ग ५ ।

चुके हैं। 'साकेत' का कवि भी उनके साथ जाकर तपोवन के दर्शन करने को आतुर है। अस्तु, इन पंक्तियों में आगामी घटनाओं का आभास भी है।

सुख से सद्यः स्नान किये ··· ··· ··· ··· खड़ी थीं जनक-सुता।

उसी समय सुख-पूर्वक स्नान करने के उपरान्त पीताम्बर पहन कर और इस प्रकार मानो पूर्णतः पवित्र होकर ममता-माया की मूर्ति स्वरूपिणी, कोमल शरीर वाली, माता कौसल्या अत्यन्त प्रसन्न होकर देवपूजन में लीन थी। उनके समीप ही महाराज जनक की पुत्री, सीता खड़ी थीं।

आधार-ग्रन्थों में भी इस समय कौसल्या राम की मङ्गलकामना से विष्णु-पूजन तथा हवन आदि का अनुष्ठान करती हैं :

कौसल्याऽपि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता।
प्रभाते त्वकरोत्पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी॥
सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमंगला॥

(उस समय महारानी कौसल्या रात्रि भर नियमपूर्वक रह, पुत्र की हितकामना से भगवान् विष्णु का पूजन कर रही थीं और वे रेशमी साड़ी पहिन, मङ्गलाचारपूर्वक हर्षित हो मन्त्रों से हवन करवा रही थीं।)*

कौसल्यापि हरेः पूजां कुरुते रामकारणात्॥
होमं च कारयामास ब्राह्मणेभ्यो ददौ धनम्।
ध्यायते विष्णुमेकाग्रमनसा मौनमास्थिता॥

(इस समय माता कौसल्या राम के मंगल के लिए श्री विष्णु भगवान् की पूजा कर रही थीं। उन्होंने कुछ पहले हवन कराके ब्राह्मणों को बहुत-सा दान दिया था और इस समय वह मौन धारण कर एकाग्र चित्त से श्री विष्णु भगवान् का ध्यान कर रही थीं।)†

पास खड़ी थीं जनकसुता : आधार-ग्रन्थों में इस समय सीता कौसल्या के समीप नहीं हैं, वह अपने महल में हैं। 'साकेत' में सास देवार्चन में लीन है और बहू सास की सेवा में तल्लीन। इस प्रकार गुप्तजी ने प्रसंगवश सीता के चरित्र के इस महत्त्वपूर्ण अंग पर भी यथेष्ट प्रकाश डाल दिया है।

गोट जड़ाऊँ घूँघट की ··· ··· ··· ···· वाणी में वीणापाणी।

बादल जैसे वस्त्र पर बिजली के समान जड़ी हुई घूँघट की जड़ाऊँ

---

* वाल्मीकि रामायण, अयो०, सर्ग २०, श्लोक १४, १५।
† अध्यात्म रामायण, अयो०, सर्ग ३, श्लोक ७८, ७९।

गोट सीता के चन्द्र-मुख की परिधि (प्रकाश का वह घेरा, जो चन्द्रमा के चारों ओर दिखाई देता है) बन कर मानो सुख और शोभा की सीमा बन गयी थी। सीता का निर्मल कमल के समान मुख सद्भाव रूपी सुगन्ध का वास-स्थान था। उनके दाँत कुन्द-कली के समान थे और उनके होंठ मानो उन कलियों (दाँतों) पर पड़े उपयुक्त आवरण थे। सीता की लटें मानो साँप खिला रही थीं और पलकों के रूप में मानो दो भ्रमर पले हुए थे। उनके गालों के सौन्दर्य का वर्णन किस प्रकार किया जाए? वहाँ तो शोभा की झलकें-सी उठ रही थीं (शोभा फूटी पड़ रही थी)। गोल-गोल गोरी दोनों बाहें दो आँखों की दो राहों के समान थीं। आँचल में बँधे (दो कुचों के रूप में मानो) भाग और सुहाग (ही) सीता के पक्ष में थे। वह लक्ष्मी के समान कल्याणकारिणी थीं तथा उनकी वाणी इतनी मधुर थी मानो उसमें स्वयं सरस्वती का वास हो।

मर्यादावश गोस्वामी तुलसीदास ने जगज्जननी जानकी जी के अंग-प्रत्यंग का विस्तृत विवरण नहीं किया था। उनका विश्वास था कि—

सिय सोभा नहिं जाय बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी॥
उपमा सकल मोंहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥
*सिय बरनिअ तेइ उपमा देई। कुकवि कहाइ अजसु को लेई॥**

"भारतीय संस्कृति के अनुसार माता (पूज्या) का शृंगार-वर्णन वर्जित है। कालीदास के कोढ़ी होने की किंवदन्ती उसी का समर्थन-मात्र है। वास्तव में बहुत कम कवि उस प्रलोभन को रोक सके हैं। परन्तु 'साकेत' में इसका काफी ध्यान रखा गया है। जहाँ कवि ने सीता के विषय में कुछ कहा है, वहाँ सदैव उसका सिर संकोच और श्रद्धा से झुक गया है। अतः उनके शृंगार-वर्णन में कवि ने अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल स्पर्शों का ही प्रयोग किया है। वह श्लेष या अन्य किसी कौशल से अपने को बचा गया है। सीता के उरोजों का वर्णन देखिए कितनी सफाई के साथ हुआ है—

भाग सुहाग पक्ष में थे,
अचल बद्ध कक्ष में थे।†

"माँ, क्या लाऊँ कह कहकर ... ... करती थीं उसकी समता।

"माँ! क्या लाऊँ," यह कह-कह कर सीता बार-बार कौसल्या से उनकी

---

* रामचरितमानस, बालकांड।

† साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ११३।

आवश्यकता पूछ रही थीं और प्रत्येक आवश्यक वस्तु उन्हें उठा-उठा कर दे रही थीं। कभी वह कौसल्या को आरती सजा कर देतीं, कभी धूप। इस प्रकार वह पूजा की समस्त सामग्री सजा रही थीं। कौसल्या की ममता देख कर मानो सीता भी (सेवा द्वारा) उनकी बराबरी करने का प्रयत्न कर रही थीं (अपार ममता के बदले उन्हें अगाध सेवा प्रदान कर रही थीं)।

इस उद्धरण की प्रथम दो पंक्तियों (*माँ क्या ...... रह-रह कर*) में "लघु अक्षरों की सरल-चटुल गति है जो चांचल्य और भोलेपन की द्योतक है।"

आज अतुल उत्साह भरे ... . अन्तर्जगत् प्रकट सा था।

असीम उत्साह (उमङ्ग) के कारण सीता तथा कौसल्या—दोनों के हृदय आज अत्यन्त प्रसन्न थे। वे दोनों उसी प्रकार शोभायमान हो रही थीं जैसे पार्वती तथा उनकी माता मेना। दुःख अथवा शोक का सर्वथा अभाव होने के कारण ऐसा जान पड़ता था मानो वह लोक इस दुःख भरे संसार (पृथ्वी) से सर्वथा भिन्न था। वहाँ तो जीवनदायी पवन चल रहा था। ऐसा पवित्र स्थान और कौन-सा हो सकता है! वह तो अमृत-तीर्थ का तट-सा जान पड़ता था और वहाँ आन्तरिक भावों का संसार ही मानो प्रकट-सा हो गया था।

आगामी घटनाओं को तीव्रतर बनाने के लिए ही कदाचित् कवि ने इस सर्ग के आरम्भ में इतने अधिक उत्साह, उमंग तथा उल्लासपूर्ण वातावरण की सृष्टि की है।

इसी समय प्रभु ... . वहाँ विकाररहित।

इसी समय निर्विकार राम अपने छोटे भाई के साथ वहाँ पहुँचे।

यहाँ 'विकार-रहित' शब्द साभिप्राय है। अभिषेक के बदले वनवास की आज्ञा पाकर भी राम के हृदय में पिता अथवा विमाता के प्रति क्रोध आदि के विकारपूर्ण भावों का उदय नहीं हुआ क्योंकि—

> *वर्षा हो या ग्रीष्म, सिन्धु रहता वही।*
> *मर्यादा की सदा साक्षिणी है मही॥**

जब तक जाय प्रणाम किया ... . आशीर्वाद दिया।

जब तक कि राम ने वहाँ जाकर माँ को प्रणाम किया, माँ ने उन्हें आशीर्वाद दे दिया (भाव यह है कि उनके प्रणाम करने से पूर्व ही अथवा प्रणाम की अपेक्षा किये बिना ही कौसल्या ने उन्हें आशीर्वाद दे दिया)।

* साकेत, सर्ग ५।

'यशोधरा' में राहुल-जननी राहुल से कहती हैं :
'मेरा आशीर्वाद तेरे प्रणाम की प्रतीक्षा थोड़े करता है।"*

हँस सीता कुछ सकुचाईं' ... . रंग किया गाढ़ा।

राम को वहाँ देखकर सीता कुछ सकुचा गयीं। उनकी आँखें कुछ तिरछी हो गयीं, लज्जा ने उनके मुख पर घूँघट डाल दिया और मुख का रंग भी कुछ गाढ़ा कर दिया।

गुरुजन की उपस्थिति में पति को सामने पाकर लज्जा में डूबी हिन्दू-पत्नी का कितना स्वाभाविक एवं सजीव चित्र है!

"बहू तनिक अक्षत-रोली .... पूजा का प्रसाद पाओ।"

कौसल्या ने सीता से कहा, "बहू! तनिक रोली और चावल तो देना, मैं पुत्र के माथे पर तिलक लगा दूँ।" फिर पुत्र को सम्बोधित करके उन्होंने कहा, "दीर्घायु रहो, बेटा! आओ और पूजा का प्रसाद प्राप्त करो।"

सीता देवार्चन में लगी हुई कौसल्या के लिए—

कभी आरती धूप कभी,
सजती थीं सामान सभी।

माता पुत्र को अपनी पूजा का प्रसाद, अपनी साधना की सिद्धि और अपने प्रयत्न का फल प्रदान करना चाहती हैं। इस कार्य में भी वह सीता की सहायता चाहती हैं :

"बहू! तनिक अक्षत-रोली,
तिलक लगादूँ" माँ बोली।

माता कौसल्या को राम-वनवास के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं। राम का राजतिलक होने से पूर्व ही वह उनके मस्तक पर तिलक लगा देने को आतुर हैं। राजतिलक भविष्य की बात है अतः उससे पूर्व ही पुत्र को माता द्वारा की गयी पूजा का प्रसाद तो प्राप्त हो ही जाय।

लक्ष्मण ने सोचा मन में .... लोक-लाज से डरी न क्यों?"

लक्ष्मण ने अपने मन में सोचा, भला ये वन में जाने देंगी? प्रभु श्री रामचन्द्र जी क्या इन्हें (असीम वात्सल्यमयी माता कौसल्या को) छोड़ कर जा सकेंगे? यदि वह ऐसा करेंगे तो भला और कौन-सा धन संचित करेंगे? मँझली माँ (कैकेयी) तू मर क्यों न गयी? तू लोक-लाज से भी न डरी?"

---

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा।

कैकेयी के भवन में लक्ष्मण मंझली माँ का कुटिलतापूर्ण व्यवहार देख चुके हैं। इस समय उनके नेत्रों के सम्मुख उससे सर्वथा विपरीत, माता कौसल्या का त्याग तथा वात्सल्य-परिपूर्ण व्यवहार है। यह देख कर लक्ष्मण को किसी प्रकार भी विश्वास नहीं हो पाता कि कौसल्या राम को वन जाने देंगी। 'जाने देंगी ये बन में' में 'ये' वात्सल्यमयी कौसल्या का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर देता है।

तभी लक्ष्मण को फिर कैकेयी का ध्यान आ जाता है और वह तिरस्कार और घृणा भरे शब्दों में कहते हैं :

मंझली माँ, तू मरी न क्यों?
लोक लाज से डरी न क्यों?

लक्ष्मण ने निःश्वास लिया ··· ··· ··· ··· सु-वास लिया।

(राम-वनवास की बात सोच कर) लक्ष्मण ने एक ठण्डी आह भरी। (समस्त वस्तु-स्थिति से अपरिचित होने के कारण) माता कौसल्या ने उसे (निःश्वास न समझ कर) सु-वास ही समझा।

माँ पुत्र के प्रति अशुभ कल्पना कैसे कर सकती है अतः माँ को, असीम वात्सल्य के कारण, पुत्र का निःश्वास भी सु-वास जान पड़ता है।

बोले तब श्री राघव यों ··· ··· ··· ··· राज्य करेंगे भरत यहाँ।"

अपने कर्त्तव्य में दृढ़ श्री रामचन्द्र जी ने नये बादल के समान गम्भीर तथा दृढ़ स्वर में कहा, "माँ! मैं कृतकृत्य हूँ। मेरे लिए तो स्वार्थ परमार्थ बन गया है। मुझे जीवन को पवित्र करने वाला वनवास प्राप्त हुआ है अतः मैं अभी वन को जाता हूँ। भरत अयोध्या में रह कर राज करेंगे।"

'रामचरितमानस' के राम इन शब्दों में माता कौशल्या को अपने वनवास का समाचार सुनाते हैं :

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।
जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥
आयसु देहि मुदित मन माता।
जेहिं मुद मंगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरें।
आनँदु अंब अनुग्रह तोरें॥
बरस चारिदस बिपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहउँ, मनु जनि करसि मलान॥[*]

[*] रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

आचार्य केशवदास के शब्दों में :

गये तँह राम जहाँ निज मात।
कही यह बात कि हौं वन जात॥
कछू जनि जी दुख पावहु माइ।
*सु देहु असीस मिलौं फिरि आइ॥**

माँ को प्रत्यय भी न हुआ ···· ··· ···· ··· भय भी न हुआ !

माँ ने राम की बात पर विश्वास ही न किया। इसीलिए वह भयभीत भी न हुई।

राम के मुख से वन-गमन की बात सुन कर 'वाल्मीकि रामायण' की कौसल्या अचानक भूमि पर गिर पड़ीं, मानो स्वर्ग से कोई देवता गिरा हो :

पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता।†

'अध्यात्म रामायण' की कौसल्या पुत्र के मुख से अचानक ऐसी बात सुन कर दुःख से अचेत हो गयीं :

तच्छ्रुत्वा सहसोद्विग्ना मूर्च्छिता पुनरुत्थिता।‡

'रामचरितमानस' की कौसल्या —

सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी। जिमि जवास परें पावस पानी॥
कहि न जाइ कछु हृदय विषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू॥
नयन सजल तन थर थर काँपी। माजहि खाइ मीन जनु मापी॥¶

और 'रामचन्द्रिका' की कौसल्या पुत्र से कहती हैं—

रहौ चुप ह्वै सुत क्यों बन जाहु। न देखि सकैं तिनके उर दाहु॥
*लगी अब बाप तुम्हारेहि बाय। करैं उलटी विधि क्यों कहि जाय॥*ф

'साकेत' की कौसल्या "अनिष्ट-भीरु वृद्ध माता हैं, जिनका कार्य, ऐसा मालूम पड़ता है — कुल की मंगल-कामना करना ही है। इस प्रेम में वृद्ध हृदय का मोह है, भोलापन है और एक प्रकार की निस्पृहता है। उनका हृदय दूध के समान स्निग्ध और स्वच्छ है। इसीलिए तो राम के मुख से यह सुन कर भी कि—

---

* रामचन्द्रिका, नवां प्रकाश, छन्द ७।
† वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग २०, श्लोक ३३।
‡ अध्यात्म रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ४, श्लोक ७।
¶ रामचरितमानस, अयोध्याकांड।
ф रामचन्द्रिका, नवां प्रकाश, छन्द ८।

मुझ को वास मिला वन का।
जाता हूँ मैं अभी वहाँ
राज्य करेंगे भरत यहाँ।

'माँ को प्रत्यय भी न हुआ, इसीलिए भय भी न हुआ।' यह सरल साधु हृदय की तात्कालिक स्थिति का बड़ा सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्र है। किसी अनिष्ट की बात एक साथ सुनकर मनुष्य विश्वास नहीं करता और जब तक किसी बात पर प्रत्यय न हो अर्थात् जब तक कोई बात हृदय में प्रविष्ट न हो, तब तक उससे डरना ही क्या?"*

समझीं सीता किन्तु सभी ···· ···· ···· ·· न उधर देखा।

दूसरी ओर सीता यह सब बात समझ गयीं। वह जानती थीं कि प्रभु (श्री राम) कभी झूठ नहीं बोल सकते। सीता के हृदय पर (किसी अज्ञात) भय की (एक हल्की-सी) रेखा खिंच गयी पर कौसल्या का ध्यान उस ओर न गया।

बोलीं वे हँस कर ··· ···· ··· ···· यह क्या होता है!"

कौसल्या ने हँस कर राम से कहा, "रहने दे, ऐसी बात हँसी में भी कहना ठीक नहीं। भला भरत, वही भरत जो तेरा भाई है, तेरा अधिकार लेगा और तुझे वन में भेज देगा। क्या तू इस तरह मुझे डरा रहा है?" फिर लक्ष्मण को सम्बोधित करके कौसल्या ने कहा, "लक्ष्मण! तेरा यह दादा (बड़ा भाई) मेरे धैर्य की परीक्षा ले रहा है?"

लक्ष्मण की ओर ध्यान जाते ही कौसल्या ने उन्हें रोता पाया और वह विकल होकर चिल्ला उठीं, "अरे लक्ष्मण तो रो रहा है! हे भगवान्, यह क्या हो रहा है!"

'साकेत' की कौसल्या आरम्भ में राम के कथन को हँसी-मात्र ही समझती है। भरत पर भी उन्हें अनन्य विश्वास है। इसीलिए वह राम के कथन को सहसा स्वीकार नहीं कर पातीं परन्तु लक्ष्मण को रोता देख कर उनके धैर्य का बाँध सहसा टूट जाता है और उनका वात्सल्य चीत्कार कर उठता है।

उनका हृदय सशंक हुआ···· ··· ··· ···· टक लाकर।

(लक्ष्मण को रोता देख कर) कौसल्या के हृदय में शंका हुई और अकस्मात् एक अशुभ भय-सा उत्पन्न हो गया। उन्होंने कहा, "तब क्या राम सत्य कह रहा है? हे दैव! तेरी यह कैसी चाल है?"

* साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ २७, २८।

कोमलांगी कौसल्या यह सोचकर काँप उठीं। उनके नीचे से पृथ्वी घूम गयी या स्वयं वह ही घूम गयीं (चक्कर खा गयीं)। फिर वह गिर कर बैठ गयीं अथवा इस प्रकार घिर कर जकड़-सी गयीं। उनकी आँखें आँसुओं से भरी थीं परन्तु उनके लिए सारा संसार खाली (शून्य) हो गया था क्योंकि उनकी मनचाही बात बिलकुल उलटी हो गयी थी।

सीता ने कौसल्या को थाम लिया। कौसल्या एकटक देखती ही रह गयीं।

सर्वप्रथम 'साकेत' की कौसल्या का हृदय 'सशंक' होता है। शंका का उदय होते ही एक अशुभ भय उनके हृदय पर आधिपत्य कर लेता है। क्रमशः वह काँप उठती हैं, चक्कर खाकर गिर जाती हैं और उनकी आँखें एकटक शून्य पर टिकी रह जाती हैं। इस प्रकार 'भयहीनता' की दशा से कौसल्या क्रमशः अप्रत्याशित शोक-जन्य जड़ता की स्थिति तक पहुँचती हैं। कौसल्या की मनःस्थिति का यह मनोवैज्ञानिक परिवर्तन 'साकेत' के कवि ने अत्यन्त सफलतापूर्वक अंकित किया है।

प्रभु बोले माँ! भय न करो .... सुख पाऊँगा।"

प्रभु श्री राम ने कहा, "माँ! इस प्रकार भय न करो। एक निश्चित समय तक धैर्य धारण करो। अवधि पूरी होने पर मैं फिर घर लौट आऊँगा। मुझे तो वन में भी सब प्रकार का सुख ही प्राप्त होगा।"

"हा! तब क्या निष्कासन है? .... श्रुत ही है।"

कौसल्या ने कहा, "हाय-हाय! तब क्या तुझे अयोध्या से निकाला जा रहा है? यह कैसा वन का शासन है? तू तो सबका ही जीवन-धन (प्रिय) है। फिर यह कठोर व्यवहार किसने किया? क्या तुझसे कोई अपराध हो गया है जिसके कारण तुझ पर इस प्रकार का क्रोध किया जा रहा है? यदि यह सत्य है तो मैं अभी जाकर महाराज से प्रार्थना करूँगी और उनसे क्षमा माँग लूँगी। क्या तेरा यह पहला अपराध और मेरा विनम्र विनय तुझे क्षमा न दिला सकेगा? पुत्र! यह तो बता कि तुझे हो क्या गया है? अच्छा तू चुप ही रह, बेटा लक्ष्मण! तू सब कुछ बता दे। मेरा यह कठोर हृदय सब कुछ सुनने के लिए तैयार है। तू डर नहीं। दण्ड तो सुना ही जाने योग्य होता है।"

'रामचरितमानस' की कौसल्या भी यह समझती हैं कि राम के किसी अपराध के कारण ही महाराज दशरथ ने उन्हें वनवास दिया है :

तात पितहि तुम्ह प्रान पिआरे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे॥
राजु देनु कहुँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहिं अपराधा॥
*तात सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकर कुल भयउ कृसानू॥**

'रामचरितमानस' में कौसल्या के इस सन्देह का निवारण सचिवसुत करता है। साकेतकार ने यह कार्य लक्ष्मण से कराया है।

"माँ यह कोई बात नहीं ··· ···· ···· ··· लेते हैं ये वन का!"

लक्ष्मण ने कहा, "माँ, ऐसी कोई बात नहीं है। मेरे तात ने किसी प्रकार का कोई अपराध नहीं किया। ये तो दूसरों के भी दोष दूर करने वाले और समस्त गुणों को धारण करने वाले हैं फिर इन्हें पाप कैसे छू सकता है? इन्हें तो पुण्य स्वयमेव प्राप्त है। मिलता हुआ राज्य भी इन्होंने छोड़ दिया। इतना बड़ा त्याग और भला किसने किया है? परन्तु पिता के वचनों की रक्षा करने के लिए हम सबको इस प्रकार बिलखता छोड़ कर यह मंझली माँ की इच्छानुसार वन को जा रहे हैं।"

'वाल्मीकि रामायण' में भी लक्ष्मण कौसल्या के सम्मुख राम को निरपराध सिद्ध करते हैं परन्तु अपने लम्बे व्याख्यान में वहाँ वह अपने पिता तथा विमाता के प्रति कटूक्तियाँ ही अधिक कहते हैं:

"हे माता! मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती कि स्त्री के वशवर्ती महाराज के कहने से, राजलक्ष्मी को छोड़, श्री रामचन्द्र जी वन में चले जाएँ। अति वृद्ध होने के कारण महाराज की बुद्धि बिगड़ गयी है और इस बुढ़ापे में भी वे विषय-वासना में ऐसे फँसे हैं जिसका कुछ ठीक ठौर नहीं। वे काम के वशीभूत हो जो न कहें सो थोड़ा है। मुझे तो श्री रामचन्द्र का कोई अपराध या दोष ऐसा नहीं देख पड़ता, जिसके कारण वे राज्य से बहिष्कृत किये जाने योग्य समझे जाएँ। ऐसा कोई मित्र या शत्रु भी मुझे नहीं देख पड़ता जो पीछे भी श्री रामचन्द्र जी को दोषयुक्त बतला सके। इस प्रकार के देव-तुल्य, सीधे, संयमी और शत्रुओं पर भी कृपा करने वाले पुत्र को पाकर अकारण कौन धर्मात्मा पिता त्यागेगा?"†

'साकेत' के लक्ष्मण इस अवसर पर पिता अथवा विमाता के प्रति कटूक्तियाँ न कह कर केवल राम की महानता की प्रतिष्ठा करते हैं।

---

* रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग २१, २२ श्लोक २ से ६।

"समझ गई मैं समझ गई .... राम की भीख मिले !"

कौसल्या ने कहा, "मैं समझ गयी, कैकेयी की यह नयी रीति (चाल) मैं भली प्रकार समझ गयी। मुझे राज्य का कोई दुःख नहीं (राम को राज्य न मिलने का कोई खेद नहीं) क्योंकि राम और भरत में कोई भेद नहीं है। मंझली बहन प्रसन्नतापूर्वक भरत के लिए राज्य ले लें और उसे भरत को दे दें। पुत्र भरत के प्रति उनका स्नेह धन्य है और उनका यह हठ भी हृदय-जन्य (हार्दिक स्नेह से उत्पन्न) है। मुझे राज्य की कोई चिन्ता नहीं। इस पर मुझे कोई ईर्ष्या भी नहीं। मैं तो केवल यह चाहती हूँ कि मेरा राम वन में न जाए। उसे यहीं कहीं रह लेने दिया जाए। मैं उनके पैर पकड़ कर हठ-पूर्वक यही कहूँगी कि भरत निश्चिन्त होकर राज करें परन्तु मुझे राम की भीख मिल जाए।"

लक्ष्मण का कथन सुनकर 'वाल्मीकि रामायण' की कौसल्या राम को परामर्श देती हैं कि वह कैकेयी के अधर्मयुत वचन सुनकर वन में न जाएँ :

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम् ।
*विहाय शोकसन्तप्तां गन्तुमर्हसि मामितः ॥**

इतना ही नहीं, वह तो राम को आत्म-हत्या कर लेने का भी भय दिखाती हैं।

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा शोकलालसाम् ।
अहं प्रायमिहासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ॥
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम् ।
ब्रह्महत्यामिवाधर्मात्समुद्रः सरितां पतिः ॥

(यदि तुम मुझ शोक-संतप्ता को छोड़ कर वन चले गये तो मैं भोजन न करूँगी और बिना भोजन किये मेरा जीना असम्भव है अर्थात् मैं मर जाऊँगी। मेरे आत्म-हत्या करने पर, हे पुत्र ! जिस प्रकार समुद्र को अपनी माता का कहना न मानने से ब्रह्म-हत्या का पाप लगा था, उसी प्रकार मेरा कहना न मानने से तुमको भी नरक में जाना पड़ेगा। इस बात को सब लोग जानते हैं।)†

इस अवसर पर 'राचरितमानस' की कौसल्या का निर्णय है :

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना ॥‡

---

* वाल्मीकि रामायण, अयो०, सर्ग २१, श्लोक २२।

† वही, श्लोक, २७, २८।

‡ रामचरितमानस; अयोध्या कांड।

'साकेत' की कौसल्या अपने किसी अधिकार का प्रयोग न करके केवल विनय तथा याचना का ही आश्रय स्वीकार करती हैं। 'मेरा राम न वन जावे, यहीं कहीं रहने पावे' में कौसल्या का दैन्य मूर्तिमान् हो उठा है। कौसल्या की असीम वात्सल्य-प्रसूत इसी दुर्बलता के कारण 'साकेत' के कवि को यहाँ माता सुमित्रा को ला उपस्थित करने का अवसर मिल गया है। कैकेयी और कौसल्या के इस संघर्ष में सुमित्रा एक तटस्थ दर्शिका-मात्र क्यों रहे ?

"नहीं, नहीं, यह कभी नहीं; ···· ··· ··· ··· सानुज सिर नाया।

कौसल्या की बात पूरी होने से पूर्व ही एक नवीन ध्वनि वहाँ गूँज उठी, "नहीं, नहीं, यह कभी न होगा। दीनता का विषय बस यहीं समाप्त कर दिया जाए।"

यह सुन कर सब की दृष्टियाँ (यह देखने के लिए कि यह शब्द किसने कहे) इधर-उधर सब ओर फैल गयीं (सब चारों ओर देखने लगे)। तब उन्होंने सुमित्रा को वहाँ पाया। बहू ऊर्मिला सुमित्रा के चरणों का अनुसरण करती हुई पीछे-पीछे आ रही थी। उसे देख कर तो मानो वाणी की देवी सरस्वती भी गद्गद् (आत्म-विभोर थी)। माता सुमित्रा को वहाँ उपस्थित पाकर श्री राम ने, लक्ष्मण सहित, उन्हें प्रणाम किया।

सीता, राम, लक्ष्मण और कौसल्या पहले से ही यहाँ उपस्थित हैं। ऊर्मिला और सुमित्रा के प्रवेश द्वारा 'साकेत' के कवि ने यहाँ मानो वे सब पात्र लाकर एक ही स्थान पर एकत्रित कर दिये हैं जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध राम-वनवास से है।

बोलीं वे कि "जियो दोनों, ··· ··· ···· ··· पियो दोनों।"

पुत्रों को आशीर्वाद देते हुए माता ने कहा, "दोनों दीर्घायु हो और यश का अमृत पान करो (यशस्वी हो)।"

सिंही सदृश क्षत्रियाणी ···· ···· ···· ···· इस क्षण तू ?"

(पुत्रों को आशीर्वाद देकर) माता सुमित्रा ने सिंहनी की भाँति गरज कर कहा, "अधिकारों की भीख कैसी ? एसी इच्छा दूर ही रहे। हमारे हृदय में हमारा अपना रक्त बहता रहे (आत्माभिमान की हानि न हो) और आर्य-भाव (श्रेष्ठता) भी बना रहे (भिक्षा की निकृष्ट भावना का हमारे हृदय में प्रवेश न हो)। अपने वंश के योग्य शिक्षा पाकर हम भिक्षा क्यों मागेंगी ?" (भिक्षा माँगना क्षत्रिय का धर्म नहीं)। प्राप्य (प्राप्त होने वाली) वस्तु माँगी नहीं जा सकती, उसे तो बल से ही पाना उचित है। हम दूसरे का भाग नहीं लेंगी

परन्तु अपना उचित भाग छोड़ूँगी भी नहीं। वीर अपना भाग छोड़ते नहीं, दूसरे का भाग अन्यायपूर्वक लेते नहीं। हम वीर-जननी हैं अतः हमारे लिए भीख और मृत्यु समान हैं। राघव ! क्या इस अवसर पर तुम शान्त रहोगे और यह अन्याय सह लोगे ? मैं तो न सहूँगी, और लक्ष्मण ! तू क्या कहता है, तू इस समय चुप क्यों है ?"

'वाल्मीकि रामायण' तथा 'अध्यात्म रामायण' में इस अवसर पर सुमित्रा सर्वथा अनुपस्थित हैं। 'रामचरितमानस' में लक्ष्मण के मुख से राम-वनवास और लक्ष्मण की राम के साथ वन जाने की इच्छा से अवगत होने पर सुमित्रा पहले तो—

गई सहमि सुनि वचन कठोरा।
मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा॥

और—

समुझि सुमित्रा राम सिय, रूपु सुसीलु सुभाउ।
नृप सनेह लखि धुनेउ सिरु, पापिनि दीन्ह कुदाउ॥

अन्त में कुअवसर समझ कर और धीरज धारण करके वह कहती हैं :

तात तुम्हारि मातु वैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
*गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥**

'साकेत' की सुमित्रा 'वीर-जननी' हैं, 'सिंही सदृश क्षत्राणी' हैं। वंशोचित शिक्षा पाने के कारण वह भिक्षा क्यों माँगे ? वह 'पर भाग' लेना नहीं चाहती परन्तु 'अपना भाग' त्यागने के लिए भी तैयार नहीं। उन्हें यह सह्य नहीं कि राम और लक्ष्मण यह अन्याय शान्तिपूर्वक सहन कर लें।

'मैं न सहूँगी लक्ष्मण तू, नीरव क्यों है इस क्षण तू ?' द्वारा हमारे कवि ने परोक्ष रूप में लक्ष्मण के उस कथन का भी औचित्य प्रतिपादित करना चाहा है जिसमें उन्होंने राम-राज्य-विरोधियों का संहार करके बलपूर्वक राम-राज्य की स्थापना करने के भाव अभिव्यक्त किये थे।

"माँ क्या करूँ .... बने कार्य अब भी।"

लक्ष्मण ने उत्तर दिया, "माँ, मैं क्या करूँ, तुम्हीं बताओ, ऐसा कौन-सा काम है जो मैं नहीं कर सकता ? यदि आर्य (श्री राम) स्वीकार कर लेते तो

* रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

बहुत पहले ही समस्त विरोधी मर चुके होते । अब भी यदि आर्य आज्ञा दे दें तो सब बिगड़ा काम बन सकता है ।"

माँ को अपने पक्ष में देख कर वीर पुत्र का सुप्त क्रोध पुनः जागृत हो जाता है । राम का आदेश प्राप्त करने के अभिप्राय से लक्ष्मण राम की ओर देखते हैं ।

लक्ष्मण ने प्रभु को देखा .... यह वर दो !"

यह कह कर लक्ष्मण ने राम की ओर देखा परन्तु उनके मुख-मंडल पर भाव-परिवर्तन के कोई लक्षण न थे ।

राम ने लक्ष्मण को शान्त करते हुए कहा, "भाई शान्त हो ।"

माता सुमित्रा को सम्बोधित करके राम ने कहा, "हे माता, तुम भी सुनो । यदि मैं आज वन में न जाऊँ तो राज्य पाने के लिए किस पर हाथ उठाऊँ ? पूज्य पिता पर ? या माता पर ? अथवा भरत जैसे भाई पर ? और यह भी किस लिए ? राज्य पाने के लिए, वह राज्य जो तिनके के समान तुच्छ है ! इस प्रकार सबको आहत करके क्या मैं माँ की अभिलाषा और पिता का प्रण नष्ट कर दूँ ? इस प्रकार हाथ में आया हुआ गौरव छोड़ दूँ ? धर्म का मूल्य चुका कर धन का संचय करूँ ? हे माता, तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ ? इस प्रकार सहसा विकल हो जाने से तो कोई लाभ न होगा । मैं अपना अधिकार नहीं खो रहा परन्तु त्याग तो मिली हुई वस्तु का ही होता है । तुम्हारा राम बलहीन नहीं है और विधाता भी उसके प्रतिकूल नहीं परन्तु इस प्रकार क्रोध या शोक करना व्यर्थ है । धन-धाम की अपेक्षा धर्म कहीं अधिक मूल्यवान् है । तनिक यह तो सोचो कि अन्याय किया ही किसने है और किसके साथ अन्याय हुआ है जिसके लिए क्रोध किया जाय ? माँ ने पुत्र की उन्नति चाही, महाराज ने सत्य की साधना की । यदि मैं इस समय पुत्र-धर्म की समाप्ति करके मंझली माँ पर क्रोध प्रकट करूँ तो फिर और किससे डरूँगा, फिर तो मैं तुम पर भी क्रोध कर सकता हूँ । भाई भरत राज्य के अयोग्य भी नहीं है । राज्य केवल राम के ही लिए तो भोग्य है नहीं और फिर भरत का होकर भी वह अपना ही है । वैसे (आध्यात्मिक दृष्टि से) तो सब कुछ स्वप्नवत् (नाशवान्) ही है । स्वयं त्याग का तत्व प्राप्त हो जाने के कारण मुझे तो महानता ही मिली है अतः हे माता, तुम भी मुझ पर दया कर दो और ऐसा वरदान दे दो जिससे यह महानता बनी रहे ।"

राम के इन शब्दों में शौर्य, विवेक, कर्त्तव्यनिष्ठा और तर्क का अपूर्व सम्मिलन है ।

मौन हुए रघुकुल-भूषण ··· ··· ··· ··· आँसू टपक पड़े।

यह कह कर रघुवंश-शिरोमणि श्री रामचन्द्र चुप हो गये, उस समय वह प्रकाशमान सूर्य की भाँति सुशोभित थे। क्रोध की वह घटा कहाँ चली गयी? उस समय तो वहाँ एक अपूर्व छटा छा गयी। सबका हृदय (रोम-रोम) द्रवित हो गया और सबके नेत्रों से मोतियों जैसे बड़े-बड़े आँसू टपकने लगे।

प्रस्तुत उद्धरण गुप्त जी के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण का फल है। आकाश में घटा छाई हो तो ओस नहीं पड़ती। सूर्य का उदय होने पर घटा छितरा जाती है, एक अपूर्व छटा छा जाती है और ओस की वे रुकी हुई बूँदें भी टपक पड़ती हैं। इसी प्रकार क्रोध और शोक की घटा राम के रूप में सूर्य का उदय होते ही बिखर गयी और आँसुओं के रूप में मानो रुके हुए ओस-बिन्दु पृथ्वी पर गिर पड़े।

सीता ने सोचा मन में ··· ··· ··· ··· रोम थे खड़े हुए!

सीता ने अपने मन में सोचा, "अब तो वन में स्वर्ग बनेगा, वहाँ जाकर मुझे वनों में घूमने और अपने धर्म का पालन करने का सुअवसर प्राप्त हो सकेगा।"

प्रभु श्री रामचन्द्र जी ने तिरछी आँखों से, अनोखे ढंग से, सीता की ओर देखा। अपने निश्चय में दृढ़ सीता उनके सामने थी। वन में साथ जाने के लिए उद्यत, पातिव्रत के उच्च व्रत पर अड़ी हुई पावनता की मूर्ति सीता के रोम-रोम धर्म-पालन के लिए खड़े हुए थे (सन्नद्ध थे)।

यदि राम वन जा रहे हैं तो सीता भी उनके साथ रहेगी। इसमें तर्क अथवा वाद-विवाद के लिए कोई स्थान ही नहीं। राम के मुख से वनवास का समाचार सुनते ही सीता अपना कर्त्तव्य-पथ निर्धारित कर लेती हैं।

उठी न लक्ष्मण की आँखें ··· ··· ··· ··· और क्या आज कहूँ?'

दूसरी ओर लक्ष्मण की आँखें ऊपर न उठ सकीं। उनकी पलकें तो मानो जकड़-सी गयी थीं। (उनके नेत्रों के सामने उस समय ऊर्मिला का ही चित्र था। पलकें जकड़ जाने पर भी) वह कल्पना क्षीण न हुई और ऊर्मिला का चित्र भी नेत्रों से ओझल न हुआ। ऊर्मिला तो मानों लक्ष्मण के हृदयस्थल में खड़ी हुई पल-पल पर पूछ रही थी, "मैं क्या करूँ, साथ चलूँ या यहीं रहूँ? हाय, मैं आज और क्या कहूँ?"

वन-गमन के समय आधार-ग्रन्थों के लक्ष्मण ऊर्मिला की ओर से सर्वथा उदासीन हैं। ऐसा जान पड़ता है मानो वहाँ लक्ष्मण के सुख-दुख, हानि-लाभ से ऊर्मिला को कोई सरोकार ही नहीं परन्तु 'साकेत' के लक्ष्मण के जीवन में ऊर्मिला पूर्णतः रमी

हुई है, लक्ष्मण और ऊर्मिला का अभिन्न सम्बन्ध है । 'साकेत' के लक्ष्मण भी, आधार-ग्रन्थों के लक्ष्मण की भाँति, राम को अपना सर्वस्व मानते हैं और उनके साथ वन जाने का निश्चय करते हैं परन्तु उनके लिए ऊर्मिला नगण्य नहीं । अतः 'साकेत' के लक्ष्मण हृदयेश्वरी ऊर्मिला की उपेक्षा नहीं करते, करना ही नहीं चाहते । इसीलिए तो उनके नेत्रों के सामने से ऊर्मिला का चित्र नहीं हटता । एक ओर कर्तव्य है, दूसरी ओर प्रेम । लक्ष्मण किसका पक्ष लें ? ऊर्मिला पल-पल पर पूछ रही है 'मैं साथ चलूँ या यहीं रहूँ ?' सेवा-पथ के पथिक, लक्ष्मण, क्या उत्तर दें ? किंकर्त्तव्यविमूढ लक्ष्मण का यह चित्र 'साकेत' के कवि की महत्वपूर्ण देन है ।

आः कितना सकरुण ··· ··· ··· ··· क्या कहूँ, कहो ?"

आः ऊर्मिला का मुख कितना करुणापूर्ण था ! वह (मुख) तो ओस में डूबे लाल कमल के समान था । लक्ष्मण ने मन ही मन ऊर्मिला से कहा, "तुमसे चलने के लिए कैसे कहूँ और यहाँ रहने के लिए भी कैसे कहूँ ? यदि तुम भी चलने के लिए तैयार हो जाओगी तो मुझे तुम्हारे साथ रहने के कारण संकोच अतः सोच (चिन्ता) ही होगा और इस प्रकार बाधा पाकर प्रभु मुझे भी छोड़ जाँयगे । नहीं-नहीं, ऐसा तो नहीं होना चाहिए । अतः हे प्रिये, तुम यहीं रहो । हाँ, यहीं रहो । यह कष्ट भी मेरे लिए सह लो । बताओ, मैं इससे अधिक और क्या कहूँ ?"

'साकेत' के लक्ष्मण पहले ऊर्मिला को भी साथ ले चलने की सम्भावना पर ही विचार करते हैं । परन्तु ऊर्मिला वन में लक्ष्मण के लिए संकोच का कारण होगी और राम उसे बाधा समझेंगे और यह समझ कर वह लक्ष्मण को भी छोड़ जाएँगे । ऐसा तो नहीं होना चाहिए । यह तो लक्ष्मण और ऊर्मिला दोनों के लिए दुःख और अपमान की बात होगी । तब तो एक ही मार्ग शेष रह जाता है । ऊर्मिला लक्ष्मण के साथ न जाकर अयोध्या में ही रहे । कर्त्तव्य-विवश पति प्रियतमा पत्नी से इतना ही कह पाता है :

रहो, रहो, हे प्रिये, रहो,
यह भी मेरे लिए सहो ।

इस प्रकार तो लक्ष्मण मानो ऊर्मिला को वियोग का दुःख देने से पूर्व ही उसके लिए कृतज्ञतापूर्वक क्षमा माँग लेते हैं ।

लक्ष्मण हुए वियोग जयी ··· ··· ··· ··· विवश भाव से मान गई ।

इस प्रकार मानो लक्ष्मण ने पत्नी के वियोग पर विजय प्राप्त कर ली

और प्रेम-मग्ना ऊर्मिला ? वह भी सब कुछ (पति के हृदय की समस्त भावनाएँ तथा उनकी विवशता) जान गयी अतः लाचार होकर उसने भी यह (लक्ष्मण का प्रस्ताव) स्वीकार कर लिया।

ऊर्मिला की इस विवशता में दीनता नहीं है, असीम महानता है, गौरवमय आदर्श के पथ पर उसका यह प्रथम चरण है।

श्री सीता के कंधे पर .... गृह हो कि गहन।"

सीता जी के कंधे पर ऊर्मिला के आँसू झर-झर कर बरस पड़े। उन आँसुओं को तरल हीरों की भाँति धारण करके सीता ने धीरे से ऊर्मिला से कहा, "बहिन, इस समय धैर्य ही रखना उचित है।"

"अब तो ईश्वर ही रक्षक है", ऊर्मिला बोली।

सीता ने कहा, "हाँ बहिन, घर हो या वन, सर्वत्र ईश्वर ही रक्षक है।"

सब कुछ जानकर विवश भाव से ऊर्मिला पति की बात मान तो गयी परन्तु आँसुओं के रूप में बहते हुए हृदय को वह कैसे रोकती ? ऊर्मिला सीता के पीछे खड़ी थी। सीता के कंधे पर टपकने वाले आँसू इसके प्रमाण हैं। ऊर्मिला का सीता के पीछे खड़ा होना सकारण है। शिष्टाचार का सूचक होने के साथ ही साथ इससे ऊर्मिला के हृदय में छिपे उस भाव पर भी प्रकाश पड़ता है जिसके अनुसार वह सीता के ही पद-चिन्हों पर चल कर घर और वन, सब स्थानों पर पति के साथ ही रहना चाहती है।

सीता के लिए ऊर्मिला के आँसू पानी की बूँद-मात्र नहीं। उनका मूल्य बहुत अधिक है। तभी तो सीता उन्हें 'तरलतर हीरों' की भाँति धारण करती हैं।

'कहा उन्होंने धीरे से' : कौसल्या, सुमित्रा और राम की उपस्थिति में सीता का धीरे से बोलना शिष्टाचार का सूचक है और फिर यह बात तो सबको सुनाने की थी भी नहीं।

ऊर्मिला इतना ही कहती है : "*अब ईश्वर है।*" उसने वर्तमान को तो जैसे-तैसे स्वीकार कर लिया परन्तु भविष्य सर्वथा अन्धकारमय है, सर्वथा ईश्वराधीन है।

'सभी कहीं गृह हो कि गहन' द्वारा सीता अपने को भी ऊर्मिला के साथ जोड़ लेती हैं। 'अब ईश्वर है' वाली बात केवल ऊर्मिला के लिए ही सत्य नहीं है, सीता के लिए भी सत्य है। इस दृष्टि से मानो घर और वन, ऊर्मिला और सीता की स्थिति में कोई भेद नहीं।

कौसल्या क्या करती थीं ···· ··· ···· ···· शान्ति न पाऊँगी !"

उस समय कौसल्या क्या कर रही थीं ? वह जैसे-तैसे धैर्य धारण करने का प्रयत्न कर रही थीं। श्रीराम की बात कोई काट न सका। उनके सामने किसी का एक भी तर्क न चला। आरम्भ में तो सुमित्रा भ्रान्त हो गयी थीं परन्तु धीरे-धीरे वह भी शान्त हो गयीं। अब भी सुमित्रा हिल-डुल न सकीं और वहीं खड़ी रहीं। तब कौसल्या ही ने कहा, "बेटा तब तुम वन में ही चले जाओ और वहाँ जाकर नित्य धर्म-रूपी धन का संचय करो। जो गौरव लेकर यहाँ से जा रहे हो, वही लेकर लौटना। पूज्य पिता के प्रण की रक्षा हो और माँ का लक्ष्य भी अच्छा लक्ष्य सिद्ध हो। घर में घर की शान्ति बनी रहे और कुल में कुल की शोभा। यदि मैंने कभी कुछ पुण्य कार्य किये होते तो यह विपत्ति कभी न आती तथापि यदि मैंने कोई पुण्य किया हो तो वह इस समय तुम्हारी रक्षा करे और सब देवता तुम्हारा मंगल करें। मैं इस समय तुमसे और क्या कहूँ ? जाओ और वन में भी वृक्ष की भाँति विकास पाओ। फिर भी इतना अवश्य कहना चाहती हूँ कि वन में मुनियों के ही समीप रहना।"

फिर सुमित्रा को सम्बोधित करके कौशल्या ने कहा, "बहन सुमित्रे, हमारा वह पुत्र, जिसे हमने गोद में पाला है और जो हमारे हृदय का प्रकाश है, वही आज उस पृथ्वी की ओर जा रहा है जो हिंसक पशुओं से भरी है। इस प्रकार हम गौरव का संचय कर रही हैं या सर्वस्व का त्याग। इसने तो केवल त्याग को अपना धन बना लिया है परन्तु मेरा तो माँ का हृदय है। मैं कैसे धैर्य धरूँ ? क्या मैं चिन्ता में ही जल-जल कर मर जाऊँ ? यदि मैं इस प्रकार मर गयी तो भी मुझे शान्ति प्राप्त न हो सकेगी।"

राम को वन-गमन के लिए उद्यत देख कर 'वाल्मीकि रामायण' की कौसल्या शोक त्याग कर जल से आचमन करती हैं और पवित्र होकर श्री रामचन्द्र जी के लिए मंगलाचार करके कहती हैं :

"हे रघुवंशियों में उत्तम राम, मैं अब तुमको नहीं रोक सकती। अब तुम जाओ और शीघ्र ही वहाँ से लौट कर, सज्जनों के अनुसरण किये हुए मार्ग पर चलो। हे राघव-शार्दूल, जिस धर्म को तुम धैर्य और नियमित रूप से पाल रहे हो, वही धर्म तुम्हारी रक्षा करे। जिन देवताओं को तुम चौराहों और देव मन्दिरों में प्रणाम करते हो, वे महर्षियों सहित वन में तुम्हारी रक्षा करें। हे महाबाहो, पिता

की सेवा के फल से और माता की सेवा तथा सत्य की रक्षा के फल से रक्षित तुम बहुत दिन तक जीवित रहो। हे नरोत्तम, समिध, कुश, कुश की बनी पवित्री, वेदियाँ, देव-मन्दिर, चित्रविचित्र देव-पूजा-स्थल, पर्वत, छोटे बड़े वृक्ष, जलाशय, पक्षी, सर्प और सिंह तुम्हारी रक्षा करें। साध्यगण, विश्वदेव, उन्चास पवन तथा समस्त महर्षि तुम्हारा मंगल करें। धाता, विधाता, पूषा, अर्यमा, इन्द्रादि लोकपाल तुम्हारा मंगल करें। छः ऋतुएँ, दोनों पक्ष, बारहों मास, सब संवत्सर, रात-दिन तथा मुहूर्त तुम्हारी रक्षा करें। हे वत्स, ध्यान, एकाग्रता और श्रुति-स्मृति-उक्त धर्म सर्वत्र तुम्हारी रक्षा करें। भगवान् सनत्कुमार, उमा सहित श्री महादेवजी, बृहस्पति, सप्तर्षि और नारद जी सदैव तुम्हारी रक्षा करें। जो और सिद्ध लोग और सब दिशाओं के स्वामी हैं, हे पुत्र, उन सब को मैं स्तुति करती हूँ कि वे सब नित्य तुम्हारी रक्षा करें। सब पर्वत, सब समुद्र, राजा वरुण, आकाश, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, सब नदियाँ, सब नक्षत्र, देवताओं सहित सब ग्रह, दिन-रात और दोनों सन्ध्याएँ वन में तुम्हारी रक्षा करें। छहों ऋतुएँ, बारहों मास, सब संवत्सर, कला, काष्ठा तुमको सुख दें। बुद्धिमान् एवं मुनिवेष धारण कर वन में विचरते हुए तुम्हारे लिए आदित्यादि देवता और दैत्य सदा सुखदायी हों। राक्षस, पिशाच तथा भयंकर एवं क्रूर कर्म करने वाले जितने जीव हैं और जितने माँस-भक्षी जीव हैं, इन सबसे तुम्हें वन में भय न हो। वानर, बीछी, डाँस, मच्छर, पहाड़ी सर्प, कीड़े, ये भी तुम्हें वन में दुःखदायी न हों। मतवाले हाथी, सिंह, बाघ, रीछ आदि भयंकर दाँतों वाले जानवर, जंगली भैंसे जिनके सींग बहुत भयंकर हैं, तुमसे द्रोह न करें। अन्यायी क्रूर जन्तु, जो मनुष्य-माँस-भक्षी और भयंकर हैं, उन सबकी मैं यहाँ आराधना करती हूँ कि वन में वे तुम्हारी हानि न करें। तुम्हारे मार्ग मंगलरूप हों और तुम्हारा पराक्रम सिद्ध हो। हे पुत्र, वन के फल-मूलादि तुम्हें मिलते रहें और तुम निर्विघ्न वन में विचरते रहो। आकाश और पृथ्वी के पदार्थों से बार-बार तुम्हारी रक्षा हो। इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, कुबेर, यम, ये सब तुम से पूजित होकर दंडक वन में तुम्हारी रक्षा करें। अग्नि, वायु, धूम और ऋषियों द्वारा तुम्हें बताये गये मन्त्र अस्पृश्य पदार्थों को छूने के समय तुम्हारी रक्षा करें। सब लोकों के स्वामी ब्रह्मा, प्राणिमात्र का पालन करने वाले विष्णु, ऋषि तथा अन्य देवता वन में तुम्हारी रक्षा करें।"*

'अध्यात्म रामायण' की कौसल्या राम को आशीर्वाद देकर कहती हैं :

सर्वे देवाः सगन्धर्वा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग २५, श्लोक १ से २६ ।

रक्षन्तु त्वां सदा यान्तं तिष्ठन्तं निद्रया युतम् ॥

(तुम्हारे चलते, बैठते अथवा सोते समय गन्धर्वों सहित ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदिक सम्पूर्ण देवगण तुम्हारी सर्वदा रक्षा करें ।)*

'रामचरितमानस' की कौसल्या का कथन है :

देव पितर सब तुम्हहि गोसाईं । राखहुँ पलक नयन की नाईं ॥
अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना । तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना ॥
अस बिचारि सोइ करउ उपाई । सबहि जिअत जेहिं भेंटहु आई ॥
जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ । करि अनाथ जन परिजन गाऊँ ॥
सब कर आजु सुकृत फल बीता । भयउ कराल कालु बिपरीता ॥†

'साकेत' में प्रभु की वाणी न कट सकने और एक भी युक्ति अट न सकने के कारण विवश होकर कौसल्या कहती है : "जाओ तब वन ही, पाओ नित्य धर्म-धन ही ।" यह तो मानो राम के इस प्रश्न का उत्तर है :

प्राप्त परम गौरव छोड़ूँ ?
धर्म बेच कर धन जोड़ूँ ?

'माँ का लक्ष्य सुलक्षित हो' : कैकेयी लक्ष्य-भेदन कर चुकी है । कौसल्या उस लक्ष्य को सुलक्षित देखना चाहती हैं । उनकी हार्दिक इच्छा है कि कैकेयी का लक्ष्य-भेद विनाश अथवा अशान्तिपूर्ण गृह-कलह का कारण न होकर मंगलमय ही सिद्ध हो । 'साकेत' की कौसल्या 'घर की शान्ति' अथवा 'कुल की कान्ति' नष्ट नहीं होने देना चाहतीं ।

'देव सदा कल्याण करें' में गुप्तजी ने एक ही वाक्य में मानो वा० रा० की कौसल्या की समस्त मंगल-कामना निहित कर दी है ।

'वन में भी विकसो द्रुम से' : वन के वृक्ष सरदी, गरमी, वर्षा आदि को सहकर भी सदा विकसित रहते हैं । कौसल्या की कामना है कि उनके पुत्र भी वन में सदा विकसित ही होते रहें । वन में द्रुम की भाँति विकसित होना कितना प्रसंगानुकूल एवं समीचीन है !

कहा सुमित्रा ने तब ··· ··· ···· ··· अवधि अवश्य मिलावेगी ।"

तब सुमित्रा ने कहा, "जीजी ! इस प्रकार विकल होना उचित नहीं । आशा हमें जीवित रखेगी और वनवास की अवधि पूर्ण हो जाने पर ये हमें फिर मिलेंगे ।"

---

* अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ४, श्लोक ४६ ।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड ।

राघव से बोलीं फिर वे ··· ··· ··· ···· तू वन में।"

सुमित्रा ने राम से कहा (इस समय वह कुछ अस्थिर-सी हो गयी थीं), "बेटा राम, फिर यही हो। चाहे इसका फल कुछ भी हो। हिमालय से भी उच्चतर हृदय लेकर तुमने मनुष्य के रूप में जन्म लिया है और इस प्रकार धरती को धन्य किया है। मैं भी कहती हूँ, "जाओ और लक्ष्मण को भी अपने साथ रखो। धैर्य के साथ सब प्रकार की परिस्थितियों को सहना और दोनों सिंह के समान रहना।"

लक्ष्मण को सम्बोधित करके सुमित्रा ने कहा, "लक्ष्मण, तू अत्यन्त भाग्यशाली है जो तेरे हृदय में बड़े भाई के प्रति इतना प्रेम है। वन में राम मन के समान हो और तू तन के समान, राम धन के समान हो और तू जन के समान।"

'रामचरितमानस' की सुमित्रा ने लक्ष्मण को राम के साथ वन जाने की आज्ञा देते हुए कहा :

रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं राम के नातें॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥
भूरि भाग भाजनु भयहु, मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरें मन छाड़ि छलु, कीन्ह राम पद ठाउँ॥

इतना ही नहीं, उनका तो विश्वास है कि :

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं।
दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

अतः सुमित्रा माता, लक्ष्मण को यही उपदेश देती हैं कि :

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। संग पितु मातु रामु सिय जासू॥
*जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥**

लक्ष्मण का तन पुलक उठा ···· ··· ··· ···· किसका हृदय हिला ?

माँ का आदेश मिल जाने के कारण लक्ष्मण का शरीर पुलकित हो गया और उनका मन भी प्रसन्नता से नाचने-सा लगा परन्तु (लक्ष्मण का वन-गमन निश्चित समझ कर) वह किसका हृदय हिल गया ?

* रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

कहा ऊर्मिला ने "हे मन ! ··· ···· ···· स्वर्ग-भाव सरसे !"

ऊर्मिला ने कहा, "हे मन, तू प्रिय के पथ का विघ्न न बन। आज स्वार्थ त्याग-मय है (स्वार्थ का त्याग ही उचित है अथवा त्याग में ही स्वार्थ निहित है) अतः प्रेम भी वैराग्यपूर्ण हो जाए। तू इस समय विकारपूर्ण न हो (स्वार्थ वासना अथवा शोक को अपने में स्थान न दे) और शोक के भार से चूर-चूर न हो। तू भ्रातृ-स्नेह रूपी अमृत की वर्षा होने दे। इस प्रकार पृथ्वी पर स्वर्ग के से (आदर्श) भाव पल्लवित होंगे।"

ऊर्मिला और यशोधरा गुप्त जी के काव्य की दो प्रमुख नायिकाएँ हैं। दोनों को पति-वियोग सहना पड़ता है, परन्तु दोनों की स्थिति में एक महत्वपूर्ण अन्तर भी है। गौतम सोती हुई यशोधरा को छोड़कर चोरी-चोरी सिद्धि हेतु चले जाते हैं। उसे पति को सहर्ष विदा करने का सुयोग प्राप्त नहीं होता :

मिला न हा इतना भी योग
मैं हँस लेती तुझे वियोग
देती उन्हें विदा मैं गाकर,
*भार झेलती गौरव पाकर...**

दूसरी ओर, ऊर्मिला को यह अवसर प्राप्त होता है। ऊर्मिला के लक्ष्मण, गोपा के गौतम की भाँति, 'लजा कर' अथवा 'चोरी-चोरी' नहीं जाते। इस परीक्षा के अवसर पर ऊर्मिला धैर्य की मूर्ति बन कर, हँसकर ही, अपने पति को विदा करना चाहती है, प्रिय-पथ का विघ्न नहीं बनना चाहती। उत्तरा और यशोधरा की भाँति ऊर्मिला भी जानती है कि —

क्षत्राणियों के अर्थ है सबसे बड़ा गौरव यही।
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिए जो आप ही ॥†

× × ×

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में,
क्षात्र - धर्म के नाते ।‡

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३५।
† ,, ,, जयद्रथ वध।
‡ ,, ,, यशोधरा, पृष्ठ २४।

इसी प्रकार गुप्त जी की अन्य रचना, 'प्रदक्षिणा' में जब सीता ऊर्मिला से पूछती हैं :

"बहन, विरह सह लेगी तू !
मैं न रह सकी जिस ज्वाला में
क्या उसमें रह लेगी तू ?"

तब ऊर्मिला का उत्तर है :

"जीजी, अन्य कौन गति मेरी
रह सह सकूँ, यही वर दो,
चरणों पर माथा रखती हूँ,
इस पर तुम निज कर धर दो।
दे न सका संसार हमें कुछ,
हमीं उसे कुछ दे जावें,
यहाँ विकल रहने से अच्छा
*वहाँ स्वस्थ वे रह पावें।**

प्रस्तुत हैं प्राणस्नेही ... ... प्रकाश वहीं छाया।"

प्राणस्नेही राम के सम्मुख प्रस्तुत हो कर भी वैदेही चुप थीं। वह प्रिय पत्नी भला क्या कहतीं ? जहाँ प्रकाश होगा, वहीं छाया रहेगी (जहाँ राम रहेंगे, वहीं सीता रहेंगी)।

भावनाओं की संकुलता अथवा परिस्थितियों की गम्भीरता के अवसरों पर 'साकेत' के कवि ने अपने को प्रायः विस्तृत वर्णन अथवा विवेचन से दूर ही रखा है। ऐसी स्थिति में उसने प्रायः वाक्-संयम अथवा मौन का ही आश्रय लिया है। प्रस्तुत उद्धरण इसका एक उदाहरण है।

इसी समय दुख से छाये .... ध्येय नहीं ?"

इसी समय दुःख से सन्तप्त सचिव सुमन्त्र वहाँ आये। सुमन्त्र (राज-परिवार के सुख-दुःख से उदासीन न होकर परिवार के सम दुःख-सुख भागी) परिवार-भुक्त-से थे। वह तो मानो राज-परिवार के ही एक सदस्य बन गये थे (उससे भिन्न न थे)।

सुमन्त्र का अभिवादन करने के लिए प्रभु श्री रामचन्द्र जी जब उनकी ओर बढ़े तो मुख से कुछ शब्द निकलने से पूर्व सुमन्त्र के नेत्रों से आँसू

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रदक्षिणा, पृष्ठ २४।

बहने लगे। उन्होंने कहा, "हा राम, अब मैं क्या कहूँ? यहाँ तो बनती बात बिगड़ गयी। तुम्हारा इस प्रकार अयोध्या छोड़ कर जाना और कैकेयी-पुत्र भरत का शासन प्रजा को कभी स्वीकार नहीं अतः सम्भव है कि प्रजा विद्रोह कर उठे। महाराज की दशा और कैकेयी की दुर्बुद्धि से तो तुम परिचित ही हो। ऐसी चिन्ताजनक अवस्था में भी तुम वन जाने की तैयारी कर रहे हो! क्या तुम पिता की हार्दिक इच्छा नहीं जानना चाहते? क्या तुम समस्त प्रजा के भावों पर ध्यान देना नहीं चाहते?"

प्रभु बोले यह बात नहीं ···· ··· ··· ··· मँझली माँ भी माता हैं।"

श्री रामचन्द्र जी ने सुमन्त्र से कहा, "यह बात नहीं है (मैं पिता की इच्छा या प्रजा की भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर रहा हूँ) परन्तु तात, तुम तो स्वयं सब कुछ जानते हो। इच्छा बड़ी है या धर्म, इन दोनों में से अधिक महत्वपूर्ण शुभ कर्म कौनसा है? जहाँ तक प्रजा का सम्बन्ध है, उनमें विद्रोह का भाव नहीं है, उनके विद्रोह-प्रदर्शन का मूल कारण तो मेरे प्रति उनका मोह ही है। मैंने किसी के लिए ऐसा क्या हित कर दिखाया है जो भरत न कर सकेंगे? भरत के प्रति कहे जाने वाले निन्दा-वाक्य मेरे लिए विष के बुझे बाणों के समान दुःखदायी होंगे। भरत की निन्दा मेरी निन्दा है। (प्रजा-जन मेरे प्रति असीम प्रेम होने के कारण ही इस समय मँझली माँ और भरत की निन्दा कर रहे हैं परन्तु उन्हें यह न भूलना चाहिए कि) भरत मेरे भाई हैं और मंझली माँ मेरी भी माँ हैं।"

'साकेत' के राम, वन जाने से पूर्व, प्रजा-जन के हृदय में उत्पन्न कैकेयी और भरत के प्रति क्रोध अथवा घृणा का भाव सर्वथा समाप्त कर देना चाहते हैं। उन्हें यह सह्य नहीं कि उनकी अनुपस्थिति में अयोध्या में किसी प्रकार का विद्रोह अथवा उपद्रव हो।

अब सुमंत्र कुछ कह न सके ···· ···· ··· प्राप्त हूँगा।"

अब सुमन्त्र कुछ भी न कह सके परन्तु वह चुप भी न रह सके। इस प्रकार वह कुछ समय तक मुँह खोले खड़े रहे फिर धीरे-धीरे बोले, "राम, मैं यह निश्चय नहीं कर पाता कि इस समय रोऊँ या प्रसन्न होऊँ (तुम्हें धर्म-पालन में दृढ़ देख कर अपार हर्ष हो रहा है और तुम्हारे वियोग की कल्पना करके असीम दुःख), हे राम, तुम्हारा मंगल हो और हमें आत्मिक बल प्राप्त हो (ताकि हम यह अवधि धैर्यपूर्वक पूरी कर सकें)। (सत्य तो यह

है कि सब के हृदय में रमे होने के कारण) तुम इस पृथ्वी से अथवा हम सबसे भिन्न नहीं हो। हाँ, हृदय से अवश्य अलौकिक जान पड़ते हो। तुम वास्तव में अपने सूर्य-कुल के पिक हो। (शरीर पार्थिव तत्वों से मिल कर बना होने के कारण दुःख-सुख का अनुभव करता है परन्तु) अन्तरात्मा तो दिव्य है अतः वहाँ तो दिव्यता ही दिव्यता है। देवता पृथ्वी पर आकर यह मानव-चरित देखें (ये मानव-चरित देवताओं के लिए भी आदर्श एवं अनुकरणीय हैं)। हे राम, यदि तुम्हें वन में रहना है तो महाराज का यह सन्देश है : 'सुमन्त्र, तुम रथ ले जाओ और पुत्रों को वन में छोड़ आओ। भरत के यहाँ लौट आने तक यदि मैं जीवित रहा तो उन्हें राज्य देकर स्वयं वन में चला जाऊँगा'।"

'अमर वृन्द नीचे आवें, मानव चरित देख जावें' : आधुनिक हिन्दी-काव्य में मानव-महत्व की स्थापना का प्रयत्न प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। कवि पन्त के शब्दों में :

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल सुषमा से
*तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम।**

महादेवी वर्मा तो उस दिव्य लोक को चुनौती देकर कहती हैं :

मेरी लघुता पर आती
जिस दिव्य लोक को व्रीड़ा,
उसके प्राणों से पूछो
वे पाल सकेंगे पीड़ा?
उनसे कैसे छोटा है
मेरा यह भिक्षुक जीवन?
उनमें अनन्त करुणा है
इसमें असीम सूनापन।†

गुप्त जी ने भी अन्यत्र लिखा है :

ऊँचे रहे स्वर्ग, नीचे भूमि को क्या टोटा है?
मस्तक से हृदय कभी क्या कुछ छोटा है?‡

---

* श्री सुमित्रानन्दन पंत, पल्लविनी, पृष्ठ २५१।

† महादेवी वर्मा, यामा, पृष्ठ १७।

‡ श्री मैथिलीशरण गुप्त, जयभारत, पृष्ठ ३।

और, पुनः श्री सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में :

न्योछावर स्वर्ग इसी भू पर,
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन बंधन !❀

'भरत यहाँ आवें जब लों' और 'तो मैं उन्हें राज्य दूँगा' में दशरथ ने भरत के लिए आदरवाचक बहुवचन का प्रयोग किया है। भरत अब दशरथ के लिए पुत्र से अधिक 'अयोध्या-नरेश' हैं।

सबने ऊर्ध्व श्वास लिया ··· ··· ··· सात्विक वेश रहे।"

सब ने ऊपर की ओर साँस लिया (आह भरी) अथवा इस प्रकार अपने-अपने हृदय को दिलासा दिया।

प्रभु ने कहा, "तो अब विलम्ब करना उचित नहीं। रथ जुतने के लिए आज्ञा दीजिए। मैं भी अब वल्कल वस्त्र पहन कर वन के लिए उचित वेष धारण करके तपस्वी के रूप में वन जाता हूँ। रजोगुण (राजसिक ठाठबाट के सब साधन) यहीं अयोध्या में रहें, वन में तो (रजोगुण का लेश-मात्र भी न रख कर) सात्विक वेष रखना ही उचित है।"

'वाल्मीकि रामायण' में वनवास के लिए उद्यत राम लक्ष्मण से कहते हैं :

"हे लक्ष्मण, वरुण देव ने स्वयं राजर्षि जनक के महायज्ञ में जो रौद्र रूप दो धनुष, अमोघ कवच और अक्षय तरकस तथा सूर्य की तरह चमचमाती दो तलवारें दी थीं, वे सब आयुध ले कर तुम शीघ्र यहाँ चले आओ।"†

इस प्रकार वहाँ वन जाते समय भी रजोगुण का सर्वथा त्याग नहीं है। इसके विपरीत, 'साकेत' के राम वनोचित तापस बन कर, रजोगुण का लेश-मात्र भी साथ न रखकर, वन में जाते हैं।

आधार-ग्रन्थों में कौसल्या माता से विदा लेकर राम, सीता तथा लक्ष्मण के साथ, पुनः महाराज दशरथ के समीप आते हैं। 'वाल्मीकि रामायण' में तो दशरथ एक बार फिर राम को वन जाने से रोकते और अनेक प्रकार समझाते हैं (वा० रा०,

---

❀ श्री सुमित्रानन्दन पंत, पल्लविनी, पृष्ठ २४६।

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ३१, श्लोक ३०—३१

अयो०, सर्ग ३४), सुमन्त्र कैकेयी के प्रति अनेक कटु वचन कहते हैं (सर्ग ३५), राजा दशरथ, कैकेयी तथा प्रधान मन्त्री के बीच वार्तालाप होता है (सर्ग ३६) और वहीं कैकेयी राम को वल्कल देती है तथा वसिष्ठ कैकेयी को पुनः समझाने का प्रयत्न करते हैं।※ 'अध्यात्म रामायण' में कैकेयी सहसा उठकर स्वयं ही राम, लक्ष्मण और सीता को अलग-अलग वल्कल वस्त्र देती है :

इत्युक्त्वा सहसोत्थाय चीराणि प्रददौ स्वयम् ।
रामाय लक्ष्मणायाथ सीतायै च पृथक् पृथक् ॥†

'रामचरितमानस' में भी कैकेयी ही राम को वल्कल ला कर देती है :

मुनि पट भूषन भाजन आनी ।
आगे धरि बोली मृदु बानी ॥‡

किन्तु 'साकेत' के कवि ने राम, सीता और लक्ष्मण को पुनः महाराज दशरथ के पास नहीं भेजा है। इस प्रकार गुप्त जी ने अनावश्यक विस्तार से अपने काव्य की रक्षा कर ली है। 'साकेत' में कौसल्या के भवन में ही सुमन्त्र महाराज का सन्देश ले आते हैं। 'साकेत' के राम वल्कल पहनने का प्रस्ताव भी स्वयं रखते हैं। वह सात्विक वेष में ही वन जाना चाहते हैं। गुप्त जी की यह एक महत्त्वपूर्ण मौलिकता है।

रोते हुए सुमन्त्र गये ···· ··· ··· ··· मुँह धोती थीं ।

रोते हुए सुमन्त्र गए और नए वल्कल ले आए। वल्कल लेने के लिए सब से पहले सीता के दो हाथ आगे बढ़े मानो वे (कमल) नाल सहित दो कमल हों। सीता शान्त थीं। इसके विपरीत, सब (माताएं आदि) रो-रो कर आँसुओं से अपना मुख धो रही थीं।

'वाल्मीकि रामायण' की सीता जी, जो रेशमी साड़ी पहने हुई थीं, अपने पहनने के लिए उस वल्कल वस्त्र को देखकर वैसे ही डरीं जैसे हिरनी बहेलिया के जाल को देखकर डरती है। अन्त में शुभलक्षणा जानकी जी ने लज्जित हो और दुःखी मन से कैकेयी के दिए वल्कलों को ले लिया :

अथात्मपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी ।
समीक्ष्य चीरं संत्रस्ता पृषती वागुरामिव ॥

※ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ३७, ।

† अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ५, श्लोक ३५ ।

‡ रामचरितमानस, अयोध्या कांड ।

सा व्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदुर्मनाः।
*कैकेयीकुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा ।।**

वन जाते समय महर्षि वाल्मीकि की सीता विचित्र वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हैं :

तं रथं सूर्यसंकाशं सीता हृष्टेन चेतसा।
आरुरोह वरारोहा कृत्वालंकारमात्मनः ॥

(तब सुन्दर मुख वाली जनक-नन्दिनी प्रफुल्ल मन से ससुर के दिए हुए अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों सहित, सबसे प्रथम सूर्य के समान चमकीले रथ पर चढ़ीं।)†

'साकेत' की सीता वल्कल देखकर डरती नहीं। वह राम की अर्द्धांगिनी हैं। राम ने यदि तापस वेश धारण करके वन में जाने का निश्चय किया है तो वह भी उसी वेश में उनके साथ जाएँगी।

"बहू-बहू !" माँ चिल्लाई .... उड़ जावेगी !"

(सीता को वल्कल की ओर हाथ बढ़ाते देखकर) माता कौसल्या की आँखों में आँसू भर आए और वह चिल्ला उठीं, "बहू बहू ! तू अपने हाथ हटा ले। ये वल्कल हैं और तेरी हथेलियाँ अत्यन्त कोमल हैं। यदि ये वल्कल तेरी हथेलियों से छू भी जाएंगे तो उन हथेलियों में छाले पड़ जाएंगे। कोसल वधू ! विदेह लली ! तू मुझे छोड़ कर इस प्रकार कहाँ जा रही है ? वन का मार्ग तो कंटकाकीर्ण है और तू मानस-कुसुम की कली के समान कोमल है। हे विधाता ! तू किसके विरुद्ध हो गया है ?" राम को सम्बोधित करके माता कौसल्या ने कहा, "राम ! इसे रोको, रोको। क्या यह वन में रह सकेगी और सरदी, गरमी तथा बरसात सह सकेगी ? सैंकड़ों कष्टों की यह कथा और वन की व्यथा समाप्त हो जाए (सीता को वन जाने से रोक लोगे तो उसे ये कष्ट न सहने पड़ेंगे)। वन में जब आँधी की तरह तेज हवा चलेगी तो यह (अत्यन्त कोमल होने के कारण) अचानक उड़ जाएगी।"

विवश होकर 'साकेत' की कौसल्या ने राम को वन जाने की अनुमति दे दी थी। सुमित्रा के अनुरोध पर लक्ष्मण का भी राम के साथ जाना निश्चित हो गया

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ३७, श्लोक ९, १०।
† वही, सर्ग ४०, श्लोक १३।

था परन्तु अब कौसल्या के सामने एक नवीन समस्या है, कोसल-वधू, विदेह-लली वल्कल पहनकर पति के साथ वन जाना चाहती हैं। यह देखकर कौसल्या का धैर्य छूट जाता है और वह कह उठती हैं :

"रोको रोको राम इसे !"

गोस्वामी जी ने प्रस्तुत प्रसंग में कौसल्या की भावनाओं को इन शब्दों में व्यक्त कराया है :

तात सुनहु सिय अति सुकुमारी।
सास ससुर परिजनहि पिआरी॥

पिता जनक भूपाल मनि, ससुर भानुकुल भानु।
पति रविकुल कैरव बिपिन, बिधु गुन रूप निधानु॥

मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई॥
कलपबेलि जिमि बहुबिधि लाली। सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली॥
फूलत फलत भयउ बिधि बामा। जानि न जाइ काह परिनामा॥
पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जिअन मूरि जिमि जोगवत रहहूँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ।
सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा॥
चन्द किरन रस रसिक चकोरी। रबि रुख नयन सकइ किमि जोरी॥

करि केहरि निसिचर चरहिं, दुष्ट जंतु बन भूरि।
विष बाटिकाँक सोह सुत, सुभग सजीवनि मूरि॥

बन हित कोल किरात किसोरी। रचीं बिरंचि विषय सुख भोरी॥
पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ। तिन्हहि कलेसु न कानन काऊ॥
कै तापस तिय कानन जोगू। जिन्ह तप हेतु तजा सब भोगू॥
सिय बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्रलिखित कपि देखि डेराती॥
*सुरसर सुभग बनज बन चारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी॥**

आ पड़ता जब सोच कहीं ··· ···· ···· ··· मुँह धोना !"

शोच अथवा सन्ताप का अवसर आ पड़ने पर संकोच नहीं रह पाता अत: प्रभु ने माता की आज्ञा पाकर प्राण-सखी सीता को समझाया। उन्होंने वन के वे सब कष्ट और भय स्पष्टत: उनके सामने वर्णन किये जिन्हें सुनकर

* रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

मुँह सूख जाए और शरीर भी दुखने लगे। उन्होंने कहा, "सरदी, गरमी और बरसात के कष्ट सहना और वन के पशुओं के बीच रहना अबलाओं का काम नहीं है। जंगलों में मनुष्य तो नाम-मात्र को भी नहीं होते। खाना, पीना छोड़ना पड़ता है, यहाँ तक कि रात को सोना भी दुर्लभ हो जाता है। इतना ही नहीं, वहाँ रह कर वन में ही विचरण करना होता है और रोना भी (अरण्य-रोदन) व्यर्थ ही रहता है।

महर्षि वाल्मीकि के राम सीता के सामने वन के कष्टों का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

"वन में पर्वतों से निकली हुई नदियों को पार करना अत्यन्त कठिन होता है और पहाड़ों की गुफाओं में रहने वाले सिंहों की दहाड़ सुनने से बड़ा कष्ट होता है। निर्जन वन में निःशंक हो क्रीड़ा करने वाले अनेक वन-जन्तु मनुष्य को देखते ही मार डालने के लिए आक्रमण करते हैं। वहाँ नदियों में मगर और घड़ियाल रहते हैं। दलदल होने के कारण भी उन्हें पार करना कठिन होता है। इन दलदलों में यदि हाथी फँस जाए तो उसका निकलना भी असम्भव है। वन में बड़े बड़े मत्त गज भी घूमा करते हैं। प्रायः वनों के मार्ग पैर में लिपट जाने वाली बेलों और पैर में चुभ जाने वाले काँटों से ढके रहते हैं और वहाँ वन-कुक्कुट बोला करते हैं। रास्तों में दूर तक पीने को जल भी नहीं मिलता। वन के रास्ते बहुत भयंकर होते हैं। दिन भर के थके-माँदे वनवासी को रात के समय सोने के लिए कोमल गद्दे, तकिए नहीं, किन्तु अपने-आप सूखकर गिरी हुई पत्तियाँ बिछा कर उन पर सोना पड़ता है। उसे वहाँ पलंग नहीं मिलता, प्रत्युत ज़मीन ही पर लेटना पड़ता है। हे सीते, भोजन की अन्य वस्तुओं पर मन न चला, सायं प्रातः वृक्षों से गिरे हुए फल खाकर ही सन्तोष करना पड़ता है। वन में यथाशक्ति उपवास भी करना पड़ता है और वृक्ष की छाल वस्त्रों के स्थान पर पहननी पड़ती है। वहाँ देवताओं और पितरों तथा समय पर आये हुए अतिथियों का विधिपूर्वक नित्य पूजन करना पड़ता है। नियमपूर्वक रहने वालों को नित्य समय-समय पर तीन बार स्नान करना पड़ता है। हे बाले, वन में अपने हाथ से फूल तोड़कर, ऋषियों द्वारा बतायी गयी विधि से, वेदी की पूजा करनी पड़ती है। वनवासी को जो कुछ और जितना भोजन मिले उसे उसी से सन्तोष करना पड़ता है। वनों में भयंकर आँधियाँ चला करती हैं, अंधेरा भी छा जाता है। नित्य ही भूख भी बहुत अधिक लगती है और वहाँ और भी अनेक भय के कारण उपस्थित रहते हैं। हे भामिनि, वन में बड़े मोटे-मोटे

पहाड़ी साँप या अजगर बड़े दर्प के साथ घूमा करते हैं। वहाँ नदियों में रहने वाले साँप, जो नदी की ही भाँति टेढ़ी-मेढ़ी चाल से चला करते हैं, मार्ग रोक कर सामने खड़े हो जाते हैं। हे अबले, वहाँ पतंगे, बिच्छू, कीड़े, बनैली मक्खियाँ, मच्छर आदि नित्य ही सताया करते हैं अतः तू वन जाने की इच्छा न कर। वन तेरे योग्य नहीं है। मैं जब विचार करता हूँ तब मुझे तेरे वन जाने में कष्ट ही कष्ट दिखाई देते हैं।"*

'रामचरितमानस' के राम इन शब्दों में वन की भयंकरता का चित्र सीता के सामने रखते हैं :

काननु कठिन भयंकरु भारी। घोर घामु हिम बारि बयारी॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना॥
चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥
कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे॥
भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरजु भागा॥

भूमि सयन बलकल बसन, असनु कंद फल मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, सबुइ समय अनुकूल॥

नर अहार रजनीचर चरहीं। कपट वेष बिधि कोटिक करहीं॥
लागइ अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी॥
ब्याल कराल बिहग बन घोरा। निसिचर निकर नारि नर चोरा॥
डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥
हँसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहिं लोगू॥
मानस सलिल सुधाँ प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥
नव रसाल बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥
रहहु भवन अस हृदयँ बिचारी। चंदबदनि दुखु कानन भारी॥†

'साकेत' की भाँति 'रामचरितमानस' की सीता भी इस समय कौसल्या के भवन में ही हैं। तभी तो राम, माता की उपस्थिति में, सीता से कुछ कहने में संकोच का अनुभव करते हैं :

मातु समीप कहत सकुचाहीं।
बोले समउ समुझि मन माँहीं॥

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग २८, श्लोक ८ से २६।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

गुप्तजी ने संकोच के इस भाव का उचित कारण भी प्रस्तुत किया है :

आ पड़ता जब सोच कहीं ,
रहता तब संकोच नहीं ।

आवश्यक विस्तार से बचने के लिए ही हमारे कवि ने राम के मुख से वन के कष्टों का विस्तृत वर्णन नहीं कराया, उनका निर्देश मात्र कर दिया है ।

किन्तु वृथा सीता बोलीं ··· ··· ··· ···· दहन नहीं ।"

राम का वह कथन व्यर्थ ही रहा । सीता को इस प्रकार तनिक भी भय न हुआ । वह बोलीं, "हे नाथ, इससे कुछ न होगा । तुम यह कह क्या रहे हो और किससे यह सब कह रहे हो ? मुझे अपने से अलग न समझो । मुझे अलग समझ कर मेरी और अपनी एकता नष्ट न करो । मुझे तुम्हारे दु:ख में दु:ख है और सुख में सुख । सुख में तुम्हें घेरे रहूँ और दु:ख में तुम्हारा साथ छोड़ दूँ तो मुझे कौन देखेगा (मेरा दर्शन भी अशुभ माना जाएगा) ? मुझे मौन रह कर ही मरना होगा (कोई मुझ से बोलना भी पसन्द न करेगा और) हे स्वामी, यदि तुम गौरव के साथ वनवासी बन रहे हो तो उसमें मेरा भी तो आधा भाग है । आज तुम मुझे इस प्रकार छोड़ो नहीं । माँ की सिद्धि और पिता का सत्य मुझ अर्द्धांगिनी के बिना अधूरे हैं, मुझे भी साथ लेकर उन्हें सिद्ध करोगे तभी वे पूरे होंगे । सब के हित के लिए मैं जंगल, जनहीन घने जंगल में भी सब व्रत-नियम पूरे कर लूँगी और सब के लिए मंगल-कामना करती रहूँगी । सास-ससुर की स्नेह-लता तथा महान व्रत में लीन बहन ऊर्मिला यहाँ वे सब कर्तव्य पूरे कर लेगी जो मैं भी नहीं कर सकी । क्या जंगल में केवल डर ही डर है ? मुझे तो वहाँ जय ही जय दिखाई देती है । यदि अपना आत्मिक बल साथ रहे तो जंगल में भी मंगल हो जाता है । वन में जहाँ काँटे हैं, वहाँ फूल भी हैं, छाया वाले पेड़ भी हैं । वहाँ झरने हैं, दूर्वादल (दूब) हैं और मधुर कन्दमूल फल हैं । इन फलों के सामने मिष्टान्न (मिठाइयाँ तथा पकवान) आदि पड़े रह जाते हैं । वधुएँ भूखी रहने से डरतीं तो उपवास करती ही क्यों ? वन में तो आकाश भी मुक्त है और पवन भी । वन तो मानो प्रभु का खुला भवन है । वहाँ करुण भावों का संचार करने वाली जल से भरी नदियाँ हैं । वन में हमारी झोंपड़ी लताओं से ढकी होगी । वृक्षों की ममता होगी । पशु-पक्षी भी हिल-मिल जाएँगे । इस प्रकार तो मानो समस्त मेल मिल जाएँगे । धनुर्धारी देवर अकेले ही हमें सब प्रकार की सुविधा पहुँचाने में समर्थ हो सकेंगे ।

दिन-रात वह हमारे साथ रह कर मेरी रक्षा कर लेंगे। कोकिल पक्षी मस्त होकर गाएँगे और बादल मानो मृदंग बजाएँगे। मान भरे मोर प्रसन्न होकर नाचेंगे और मैं वन की रानी बन जाऊँगी। वन में यदि हिंसक पशु हैं तो क्या वहाँ ऋषि-मुनि भी नहीं हैं? जो शान्ति यहाँ नहीं है, वह वहाँ है। वन में (संसार के) विकार अथवा भ्रान्ति का नाम भी नहीं। वहाँ अंचल फूलों से भरा रहेगा, नदियों के तट जल से परिपूर्ण रहेंगे, मन दुःखों की भूल से भरा होगा (दुःखों की स्मृति से भी रहित होगा)। इस प्रकार वन तो मानो समस्त सुखों का केन्द्र होगा अथवा चाहे वहाँ और कुछ न भी हो तथापि तुम तो हो जो यहाँ नहीं होगे। मेरा तो यही अनन्य विश्वास है कि पति के साथ रहने में ही पत्नी की गति है। हे नाथ, हमें भय दिखाना व्यर्थ है, हम तो यम को भी जीत चुकी हैं। सतियों के लिए पति के साथ वन तो क्या अग्नि भी अगम नहीं (पति के साथ सती आग में भी हँसते-हँसते प्रवेश कर लेती हैं)।"

राम के मुख से वन की भयंकरता का वर्णन सुन कर 'वाल्मीकि रामायण' की सीता का उत्तर है :

"आप मुझे अपने साथ ही वन में ले चलिए। चाहे आप तप करें, चाहे वनवास करें और चाहे स्वर्गवास करें, मुझे तो आपके साथ ही रहना उचित है। मुझे मार्ग चलने में कुछ भी परिश्रम न होगा। प्रत्युत आपके पीछे-पीछे चलने में मुझे ऐसा सुख जान पड़ेगा जैसा कि बागों में घूमने-फिरने से प्राप्त होता है। हे राम! कुश-काश, सरपत, मूँज तथा अन्य और भी जो कटीले वृक्ष हैं, वे आपके साथ रास्ता चलने पर मुझे रूई और मृगचर्म की तरह कोमल जान पड़ेंगे। हे राम! आँधी से उड़ कर जो धूल मेरे शरीर पर आकर पड़ेगी, उसे मैं आपके साथ रह कर, उत्तम चन्दन के समान समझूँगी। मैं जब आपके साथ हरी-हरी घास के बिछौने पर सोऊँगी तब मुझे पलङ्ग पर बिछे हुए मुलायम गलीचे पर सोने जैसा सुख प्राप्त होगा। जो कुछ थोड़े अथवा बहुत शाक या फल आप स्वयं ला दिया करेंगे, वे ही मुझे अमृत जैसे स्वादिष्ट जान पड़ेंगे। वन में ऋतु-फलों का और ऋतु-पुष्पों का उपभोग करती हुई मैं न तो माता की, न पिता की और न घर की ही याद करूँगी। मेरे कारण वन में आपको न तो कुछ क्लेश होगा और न मुझे खिलाने-पिलाने की ही आपको चिन्ता करनी होगी। बहुत कहाँ तक कहूँ, आपके साथ रहने में मुझे सर्वत्र स्वर्ग के समान सुख है और आपके बिना सब जगह नरक के

समान दुःख है। बस, आप यही विचार कर और प्रसन्नतापूर्वक मुझे अपने साथ वन में ले चलिए।"※

सास की उपस्थिति में पति से कुछ कहने की अविनय के लिए सास से क्षमा-याचना करके 'रामचरितमानस' की सीता राम से कहती हैं :

प्राननाथ करुनायतन, सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद, बिधु सुरपुर नरक समान॥
मात पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु तें ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद बिमल बिधु बदनु निहारे॥
खग मृग परिजन नगरु बनु, बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुरसदन सम, परनसाल सुख मूल॥
बनदेवी बनदेव उदारा। करिहहिं सासु ससुर सम सारा॥
कुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु संग मंजु मनोज तुराई॥
कंद मूल फल अमिअ अहारू। अवध सौध सत सरिस पहारू॥
छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥
बन दुःख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु वियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥
अस जियँ जानि सुजान सिरोमनि। लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि॥
बिनती बहुत करौं का स्वामी। करुनामय उर अंतरजामी॥
राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत न जनिअहिं प्रान।
दीनबंधु सुंदर सुखद सील, सनेह निधान॥
मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥
पाँय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं॥
श्रम कन सहित स्याम तनु देखें। कँह दुख समउ प्राननपति पेखें॥

※ वाल्मीकि रामायण, सर्ग ३०, श्लोक १०—१८।

सम महि तृन तरुपल्लव डासी । पाय पलोटिहि सब निसि दासी ॥
बार बार मृदु मूरति जोही । लागिहि तात बयारि न मोही ॥
को प्रभु संग मोहि चितवनहारा । सिंघबधुहि जिमि ससक सिआरा ॥
*मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू । तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू ॥**

'रामचन्द्रिका' की सीता निवेदन करती हैं :

केसौदास नींद भूख प्यास उपहास त्रास ,
दुख को निवास विष मुखहू गह्यो परै ।
बायु को वहन दिन दावा को दहन ,
बड़ी बाड़वा अनल ज्वालजाल में रह्यो परै ।
जीरन जनमजात जोर जुर घोर परि-पूरन ,
प्रगट परिताप क्यौं कह्यो परै ।
सहिहौं तपन ताप पर के प्रताप रघुबीर ,
को बिरह बीर ! मो सों न सह्यो परै ॥†

आधार-ग्रन्थों की भाँति 'साकेत' की सीता भी पति के साथ रहने के कारण वन के कष्टों को भी वरदान ही मानती हैं । साथ ही, 'साकेत' की सीता घर और वन, दोनों की ओर से निश्चिन्त भी हैं क्योंकि—

सास ससुर की स्नेह-लता—
बहन ऊर्मिला महाव्रता,
सिद्ध करेंगी वही यहाँ,
जो मैं भी कर सकी कहाँ ?

और

देवर एक धनुर्धारी—
होंगे सब सुविधाकारी,
वे दिन रात साथ देंगे,
मेरी रक्षा कर लेंगे ।

'साकेत' का कवि एक पल के लिए भी लक्ष्मण और ऊर्मिला को नेत्रों से ओझल नहीं होने देना चाहता ।

सीता और न बोल सकीं .... धड़ाम गिरी ।

गला रुँध आने के कारण सीता और कुछ न कह सकीं । उधर सर्वथा

---

* रामचरितमानस, अयोध्या कांड ।

† रामचन्द्रिका, नवां प्रकाश, छन्द २६ ।

मुग्धा ऊर्मिला 'हाय' कह कर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी।

"वियोग का आरम्भ वास्तविक विच्छेद से नहीं होता। उसके लिए तो सूचना-मात्र ही पर्याप्त है और वियोग का अवसर तो वियोग से भी कहीं अधिक दारुण होता है। इसीलिए प्रवत्स्यत्पतिका का चित्र प्रोषितपतिका के चित्र से अधिक मार्मिक होता है। प्रिय के प्रवास के समय चिन्ता, दुःख, मोह, काम, आशंका, निरवलम्बता और एकाकीपन का भाव, न जाने क्या-क्या मन में आता है। ऊर्मिला प्रवत्स्यत्पतिका है। ऊर्मिला, केवल ऊर्मिला ही ऐसी अभागिनी है। परन्तु वह ईर्ष्या से निर्मुक्त है, यह भाव उसके हृदय में उठता ही नहीं। वह सभी कुछ विवश भाव से सह लेती है और मन को समझाती भी है :

हे मन,
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।

परन्तु उसकी परिस्थिति की विषमता उसे परवश कर देती है। सीता, राम को यह कह कर विवाद में परास्त कर देती है :

अथवा कुछ भी न हो वहाँ,
तुम तो हो जो नहीं यहाँ।
मेरी यही महामति है,
पति ही पत्नी की गति है।

राम स्वीकृति दे देते हैं। परिस्थिति का यह वैषम्य ऊर्मिला की भावना को और तीव्र कर देता है। उधर इस तीव्र भाव का अप्राकृतिक संकोच एवं दमन उसे मुग्ध बना देता है और वह "हाय" कह कर धड़ाम से गिर पड़ती है।"*

लक्ष्मण ने दृग मूँद लिये ···· ··· ··· ··· प्रभु धर्म-धनी।

ऊर्मिला को संज्ञाहीन देख कर लक्ष्मण ने अपने नेत्र बन्द कर लिये और सबने दो-दो बूँद आँसू प्रदान किये। सुमित्रा ने कहा, "बेटी तू आज इस प्रकार पृथ्वी पर लेटी है।" भयभीत-सी होकर सीता "बहन बहन" कह कर पङ्खा करने लगीं। उन्होंने कहा, "पति के साथ वन जाने का जो सौभाग्य आज मुझे प्राप्त हुआ है, वह भी तुझे न मिल सका।" ऊर्मिला की यह दशा देख कर माताएँ भी मूर्ति के समान अचल खड़ी थीं। धर्म-धनी ('धनी' शब्द का प्रयोग 'स्वामी' के लिए किया गया है) श्री राम भी उस समय विकल हो गये।

* डा० नगेन्द्र, साकेत – एक अध्ययन, पृष्ठ ५४।

"प्रवास का चित्र बड़ा करुण है। यहाँ कवि ने प्रत्यक्ष रूप से भाव-प्रकाशन नहीं कराया, यहाँ तो परिस्थिति की गम्भीरता ही विरहिणी की व्यथा की ओर निर्देश करती है। ऊर्मिला को देख कर सभी कातर हो जाते हैं। लक्ष्मण आँख बन्द कर लेते हैं, सीता भयभीत होकर व्यजन डुलाने लगती हैं। उनको भी अपनी और उसकी स्थिति का अन्तर स्पष्ट हो जाता है और वे कह उठती हैं :

आज भाग्य जो है मेरा,
वह भी हुआ न हा तेरा!

माताएँ अचल मूर्ति बन जाती हैं। राम भी व्यग्र होते हैं। इस प्रकार कवि ने दूसरों की कातरता के द्वारा वियोगिनी की कातरता की अभिव्यक्ति की है। उक्त भावनाएँ ऊर्मिला की दयनीयता को पुष्ट करती हैं। वह सबसे अधिक निराधार है परन्तु यदि वह स्वयं ही उक्त भावनाओं को शब्दों से व्यक्त करती तो वे ईर्ष्या का रूप धारण कर लेतीं। इसीलिए कवि ने राम और सीता के द्वारा उसकी ओर संकेत कराया है। यह उसका कौशल है। इससे नायिका की गौरव-गरिमा की संरक्षा हुई है।"❋

युग भी कम थे उस क्षण से ... ... तुम दो ही।"

उस एक क्षण की तुलना में तो युगों का समय भी कम था। श्री राम ने लक्ष्मण से कहा, "हे अनुज, तुम तनिक विचार तो करो कि मेरा मार्ग स्वीकार करके और इस प्रकार, आवश्यक न होने पर भी, मेरे साथ जाकर कितना विध्वंस कर रहे हो! प्यारे भाई, इस प्रकार हठ करके मुझे अन्यायी न बनाओ।"

लक्ष्मण ने कहा, "हाय आर्य, ठहरिए, ठहरिए। ऐसा न कहिए, न कहिए। हम संकटों को देख कर डर जाएँ या उनकी हँसी उड़ाएँ (उन्हें तुच्छ समझें)? जहाँ पाप से रहित संताप होता है, वहाँ तो आत्म-शुद्धि स्वयं ही वास करती है (पाप अथवा दुराचारपूर्ण कार्यों से होने वाला कष्ट वास्तव में हानिप्रद है; पुण्य कार्यों के लिए स्वीकार किया जाने वाला कष्ट भी मंगलप्रद होता है)।

राम ने कहा, "लक्ष्मण, तुम तो तपस्या के ही आकाँक्षी हो (विश्राम अथवा विलास में आसक्त न होकर तप और संयम में ही अनुरक्त हो) परन्तु तुम्हारे साथ होने के कारण मैं वन में भी (तपस्वी न रह कर)

❋ डा० नगेन्द्र, साकेत—एक अध्ययन, पृष्ठ ५४, ५५।

गृहस्थी ही रहा ("देवर एक धनुर्धारी, होंगे सब सुविधाकारी"—सीता)। हे निर्मोही, तपस्वी तो वास्तव में तुम दोनों (ऊर्मिला और लक्ष्मण) ही हुए।"

"यदि एक प्रकार से देखा जाय तो 'साकेत' का मुख्य स्थल यही है। इसी के लिए इसका सृजन हुआ है। कवि ने युग-युग के इस उपेक्षित प्रसङ्ग को बड़ी कुशलता से अङ्कित किया है। ऊर्मिला के लिए राम और सीता, दोनों की करुणा उमड़ उठती है। सभी को उस पर दया आती है। परिस्थिति की यही करुणा आगे चल कर नायिका के चरित्र को महान् बनाने में सहायक होगी। उसकी महत्ता की माप उसकी स्थिति की दयनीयता के अनुसार होना चाहिए।"*

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को भेजे गये एक पत्र में गुप्तजी ने लिखा था, "……और, ऊर्मिला और लक्ष्मण के आगे तो उन्हें (राम को) माता-पिता की आज्ञा से राज्य छोड़ कर वनवास स्वीकार करने के गौरव का गर्व भी छोड़ देना पड़ा—

"लक्ष्मण, तुम हो तपस्पृही,
मैं वन में भी रहा गृही।
वनवासी हे निर्मोही,
हुए वस्तुतः तुम दो ही।"

राम की इस पराजय पर मुझे प्रसन्नता है। कारण, जैसा मैं कह चुका हूँ, मैं उनसे डरा करता था। दूसरे, मेरा वह उद्देश्य भी सिद्ध हो गया, जिससे मैंने उन्हें नायक के बदले शिक्षक के पद पर प्रतिष्ठित किया था।

तीसरे, तुलसीदास की इस उक्ति की चरितार्थता मुझे देखने के लिए मिल गई कि—'*राम तें अधिक राम कर दासा।*'……"

कहा सुमित्रा ने तब यों …… …… …… …… रोकर सही, सहेंगी हम।"

राम की बात सुन कर सुमित्रा ने कहा, "जिस बात का निश्चय एक बार हो चुका है, उस पर अब सोच-विचार कैसा? हम जैसे भी रह सकेंगी, रह लेंगी, रो कर ही सही, परंतु हम इस संकट को पार कर लेंगी।"

सुमित्रा के इन शब्दों में विवशता, वात्सल्य, धैर्य और आत्म-विश्वास का अद्भुत संगम है। 'प्रदक्षिणा' में :

भरी सुमित्रा माता ने कुल-शील-हानि कैकेयी की,
मानों प्रकटी प्रथम उन्हीं में अनुग्लानि कैकेयी की!
पुत्र-विरह के साथ उन्हें नव पुत्र-वधू की व्यथा मिली,
किन्तु लोक को एक अनोखी कुल कल्याणी कथा मिली।†

[illegible]ी, पृष्ठ ६, १०।

† श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रदक्षिणा, पृष्ठ २५।

उस मूर्च्छिता बधू का सिर ··· ··· ···· ···· तू मेरा।"

उस संज्ञाहीन वधू ऊर्मिला का सिर गोदी में रखे हुए शोक से डाँवा-डोल भोली माता कौसल्या ने दहाड़ मार कर कहा, "हे देवताओ, नीचे पृथ्वी की ओर देखो। अपने नेत्र बन्द करके हमें (पृथ्वी-तल के वासियों को) इस प्रकार न मारो।"

राम को सम्बोधित करके माता कौसल्या बोलीं, "हे पुत्र, तुम जाओ, मैंने तुम्हें जाने की आज्ञा देदी और जो संकट मुझ पर आ पड़ा है, उसे भी सहने का मैंने निश्चय कर लिया है। यदि चौदह वर्ष तक जी सकी— और जीने का प्रयत्न बराबर करती रहूँगी—तो फिर मानो मैं कभी न मरूँगी। उस समय तुम तीनों को पुनः प्राप्त करके अपना छूटा हुआ धैर्य धारण कर लूँगी और तुम तीनों के रूप में मानो तीनों लोकों (मर्त्य लोक, आकाश लोक, पाताल लोक) का धन प्राप्त करके अपने भाग्य में वृद्धि करूँगी। हे राम, तुझे अपने ध्येय में सफलता प्राप्त हो, तू अपने निर्दिष्ट तक पहुँच सके, तेरे यश का विस्तार हो, धर्म का विकास और तेरे आशय की पूर्ति हो, सब तेरे हों और तू सदा मेरा बना रहे, यही मेरी कामना है।"

आदि-काव्य की कौसल्या राम को इस प्रकार विदा करती हैं :

मंगलानि महाबाहो दिशन्तु शुभमंगलाः।
इति पुत्रस्य शेषांश्च कृत्वा शिरसि भामिनी॥
गन्धैश्चापि समालभ्य राममायतलोचना।
ओषधीं चापि सिद्धार्थां विशल्यकरणीं शुभाम्॥
चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभजजाप च।
उवाचातिप्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्त्तिनी॥
अवदत्पुत्र सिद्धार्थो गच्छ राम यथासुखम्।
अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम्॥
पश्यामि त्वां सुखं वत्स सुस्थितं राजवर्त्मनि।
प्रनष्टदुःखसंकल्पा हर्षविद्योतितानना॥
द्रक्ष्यामि त्वां वनात्प्राप्तं पूर्णचन्द्रमिवोदितम्।
भद्रासनगतं भद्रं वनवासादिहागतम्॥
द्रक्ष्यामि त्वामहं पुत्र तीर्णवन्तं पितुर्वचः।
मंगलैरुपसम्पन्नो वनवासादिहागतम्।
वध्वा मम च नित्यं त्वं कामान्संवर्ध याहि भो॥

मयाऽर्चिता देवगणाः शिवादयो, महर्षयो भूतमहासुरोरगाः ।
अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते, हितानि कांक्षन्तु दिशश्च राघव ॥
इतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि ।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं पुनः पुनश्चापि निपीड्य सस्वजे ॥

(कौसल्या ने मंगल-पाठ पढ़ कर पुत्र के मस्तक पर अक्षत चढ़ाये और फिर विशालाक्षी कौसल्या ने श्री राम जी के मस्तक पर चन्दन लगाया और प्रत्यक्ष फल देने वाली शुभ विशल्यकरिणी नाम की रूखरी भी रखी। तदनन्तर कौसल्या ने श्री राम की रक्षा के लिए मन्त्र जपे। यद्यपि श्री राममाता उस समय अत्यन्त दुःखी थीं तथापि यात्रा के समय दुःखी होने का शास्त्रीय निषेध होने के कारण हर्षित होकर बोलीं, "हे बेटा! अब जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहाँ चले जाओ और तुम रोग रहित शरीर से, पिता की आज्ञा का पालन कर फिर अयोध्या लौट आओ। हे वत्स! जब तुम वन से लौट कर राजा होगे और जब मैं तुमको मन भर कर देखूँगी, मुझे तभी आनन्द प्राप्त होगा। उस समय मेरे मन की सब चिन्ताएँ नष्ट हो जाएँगी। मुझे प्रसन्नता होगी और मेरे मन की उमंग पूरी होगी। वन से लौट कर आये हुए और पूर्णमासी के चन्द्रमा की भाँति उदित और भद्रासन पर बैठे हुए तुम्हारे मंगल रूप को देख मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। हे पुत्र! जब मैं देखूँगी कि तुम पिता की आज्ञा का पालन कर चुके हो और वन से लौट कर राजोचित वस्त्र तथा आभूषण धारण किये हुए हो, मुझे तो तभी प्रसन्नता होगी। हे राघव! अब तुम जाओ और सीता के तथा मेरे मनोरथों को सदा पूर्ण करो। हे राघव! मैंने जिन शिवादि देवताओं को, महर्षियों को, भूतगण की और दिव्य सर्पों की आज तक पूजा की है, वे सब तथा समस्त दिक्पाल चिरकाल पर्यन्त वन-यात्रा में तुम्हारा मंगल करें।" इस प्रकार आशीर्वाद दे, कौसल्या माता ने स्वस्तिवाचन कर्म यथाविधि पूरा किया और आँखों में आँसू भर कर श्री रामचन्द्र की प्रदक्षिणा की और उनको बार-बार हृदय से लगा वे उनके मुख की ओर एकटक निहारती रहीं।)※

'रामचरितमानस' की कौसल्या इस अवसर पर वात्सल्य-विभोर होकर कहती हैं :

बेगि प्रजा दुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई॥
फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहउँ नयन मनोहर जोरी॥
सुदिन सुघरी तात कब होइहि। जननी जिअत बदन बिधु जोहहि॥

※ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग २५, श्लोक ३७ से ४६ ।

बहुरि बच्छ कहि लालु कहि, रघुपति रघुबर तात।
*कबहिं बोलाइ लगाइ हियँ, हरषि निरखिहउँ गात॥**

प्रस्थान-वन की ओर ... ... जन की ओर।

राम वन की ओर जा रहे हैं अथवा लोक-मन (लोक-रंजन) की ओर जा रहे हैं। राम धन (ऐश्वर्य और राजसिक सुख) की ओर न होकर जन (जन-सेवा) का पथ ही स्वीकार करते हैं।

'साकेत' के राम ने अन्यत्र भी कहा है :

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन, शापित हैं।
भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।†

और

पर साधारण जन आप न हमको जानें,
जन साधारण के लिए भले ही मानें।†

'प्रदक्षिणा' में राम, पिता के 'सहज सत्य' पर 'सुधाम-धरा-धन' को वार कर वन की ओर जाते हैं :

पूज्य पिता के सहज सत्य पर
वार सुधाम, धरा धन को,
चले राम, सीता भी उनके
पीछे चलीं गहन वन को।
उनके भी पीछे लक्ष्मण थे
कहा राम ने कि "तुम कहाँ?"
विनत वदन से उत्तर पाया,
"तुम मेरे सर्वस्व जहाँ।"‡

---

* रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

† साकेत, सर्ग ८।

‡ श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रदक्षिणा, पृष्ठ २२।

पंचम सर्ग

वनदेवीगण, आज कौनसा ··· ··· ···· ··· सजाये जा रहे।

हे वन-देवियो, आज कौन-सा पर्व है, जिसके कारण तुम्हारे हृदय में इतना उल्लास और गर्व है? अच्छा हमने समझ लिया, समझ लिया, आज राम वन में आ रहे हैं इसीलिए इस प्रकार उत्साह तथा गर्वपूर्वक उनके लिए सुख के सब साज सजाये जा रहे हैं।

पञ्चम सर्ग में राम की वन-यात्रा की कथा है अतः कवि ने सर्ग के आरम्भ में ही राम के स्वागतार्थ प्रस्तुत वन-देवियों को ला उपस्थित किया है। आगामी कथा-वस्तु की ओर संकेत करने के साथ-ही-साथ इस प्रकार हमारा कवि मानो पाठक को भी पिछले सर्ग के दुःख-शोकपूर्ण वातावरण से निकाल कर सर्वथा शान्त वातावरण में ले आना चाहता है। काव्य के पूर्ण रसास्वादन के लिए यह आवश्यक ही है।

तपस्वियों के योग्य ···· ··· ··· ··· श्री राम ने।

तपस्वियों के योग्य वस्तुओं से सजा हुआ और सूर्य-चिह्न से युक्त ध्वजा को फहराता हुआ मुख्य राज-रथ सामने तैयार देखकर श्री राम ने एक बार फिर गुरु को प्रणाम किया।

'साकेत' के राम को वन में ले जाने के लिए *मुख्य राज-रथ* उपयुक्त ढंग से सजा कर लाया गया है। यह रथ *तपस्वियों के योग्य* वस्तुओं से सजा है। कारण स्पष्ट है। 'साकेत' के राम 'रजोगुण-लेश' अयोध्या में ही छोड़ कर और 'वनोचित तापस' बन कर ही वन की ओर जा रहे हैं। इसके विपरीत महर्षि वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण सुवर्णभूषित आयुधों से सुसज्जित होकर ही उस रथ पर सवार होते हैं, जिस पर महाराज दशरथ ने भाँति-भाँति के अस्त्र-शस्त्र, कवच तथा उत्तम मज़बूत ढालें आदि भी रखवा दी थीं:

अथो ज्वलनसंकाशं चामीकरविभूषितम्।
तमारुरुहतुस्तूर्णं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥
वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ॥
तथैवायुधजालानि भ्रातृभ्यां कवचानि च।
*रथोपस्थे प्रतिन्यस्य सचर्म कठिनं च तत्॥**

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ४०, श्लोक १४–१६।

प्रभु-मस्तक से गये ··· ··· ···· ···· शिष्य से सुत हुए !"

जब कुल-गुरु के चरण प्रभु श्री राम के मस्तक से छुए गये तो गुरु वसिष्ठ असीम प्रसन्नता के कारण आपाद-मस्तक पुलकित हो गये और कह उठे, "आज हमें अत्यन्त गौरव प्राप्त हुआ है क्योंकि हे राम, तुम वल्कल पहन कर शिष्य के स्थान पर हमारे पुत्र ही बन गये हो।"

मुनि-पुत्र नित्य वल्कल धारण करते हैं। राजसिक वस्त्राभूषणों से सुसज्जित क्षत्रिय-कुल-रत्न राघवेन्द्र, कुलगुरु के परम प्रिय शिष्य थे। राजकुमार राम ने आज वनोचित वेष बना लिया है (वल्कल धारण कर लिये हैं) मानो वह आज कुलगुरु के शिष्य मात्र न रह कर पुत्र ही बन गये हैं। पुत्र से दण्डवत् प्रणाम पाकर पिता का आपाद-मस्तक पुलकित हो उठना सर्वथा स्वाभाविक है और राम जैसा सुयोग्य पुत्र पाकर कुलगुरु का गौरवान्वित होना भी सर्वथा समीचीन है।

महर्षि वाल्मीकि के दशरथ वन जाते समय राम को देखने के लिए पैदल ही बाहर निकल आते हैं :

अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः।
*निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन्गृहात्॥**

'रामचरितमानस' के दशरथ इस समय मूर्छित हैं। 'साकेत' के दशरथ भी इस समय यहाँ उपस्थित नहीं। 'साकेत' में राम को विदा करने का भार कुलगुरु वसिष्ठ पर डाला गया है। राम को विदा देने के लिए इस वीतराग तपस्वी से अधिक उपयुक्त व्यक्ति और कौन हो सकता था ?

प्रभु बोले, "बस यही ··· ··· ···· ···· याचना है यही।"

प्रभु ने कहा, "बस मैं भी यही चाहता हूँ (कि मुझे आपसे पितृ-स्नेह प्राप्त हो)। पिता के लिए मुझे अमंगल-सा दिखाई दे रहा है। आप तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्य) के ज्ञाता हैं। आप की बात से मुझे भी भावी घटनाओं का कुछ आभास-सा हो रहा है। परन्तु चाहे कुछ भी हो, आज समस्त प्रजा और परिवार बेचैन है। इनका पूर्ण भार अब आप ही पर है। हे पितः, इस समय तो पुत्र की (मेरी) सर्वप्रथम याचना यही है कि किसी प्रकार माँ मुझे फिर देख सकें।"

राम को निकट भविष्य में पिता के लिए कुछ अमंगल-सा दिखाई देता है। वह जानते हैं कि महाराज दशरथ पुत्र-वियोग सहन न कर सकेंगे। अतः राम संत्रस्त प्रजा और राज-परिवार का समस्त भार पितृ-तुल्य वसिष्ठ पर छोड़ देते हैं। इस

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ४०, श्लोक २८।

समय उनकी सर्वप्रथम याचना यह है कि 'माँ मुझको फिर देख सकें।' राम के इन शब्दों का महत्त्व उस समय स्पष्ट होता है जब दशरथ-मरण के उपरान्त कौसल्या सती होने के लिए तत्पर होती हैं और कुल-गुरु उन्हें समझा कर रोक लेते हैं।

भाव देख उन एक महा ··· ··· ··· ··· सभ्य तुम।"

अपने महान संकल्प में दृढ़ श्री राम के उच्च भाव देखकर परमादरणीय वसिष्ठ जी के दोनों नेत्र भर आये और उन्होंने कहा, "पुत्र, चाहता तो यह हूँ कि अभी··किन्तु नहीं, इस समय तो इसी में (तुम्हारे वनवास में ही) सब प्रकार कल्याण है। अतः तुम्हारे वनवास से देव-कार्य पूर्ण हों, राक्षस-वंश विध्वंस हो, आदर्श का उदय हो और पितृ-भक्ति तथा कर्तव्य-परायणता का आदर्श स्थापित हो। ऐसी दशा में लेशमात्र दुःख भी अनुचित है। मुनियों की रक्षा करते हुए तुम वन में रहो और यज्ञादि में होने वाले विघ्न तथा मुनियों के भय नष्ट करो। तुम्हें भाग्य से ही यह सुअवसर प्राप्त हुआ है अतः वन में जाकर राक्षसों के आतंक से समस्त पृथ्वी का भार दूर करो और असभ्य वनवासियों को भी आर्यों की भाँति सभ्य बनाओ।"

कर्त्तव्य-निष्ठ राम को अपने निश्चय में दृढ़ पाकर, उनके वियोग की कल्पना से, पल भर के लिए तो कुलगुरु वशिष्ठ के नेत्र भर आते हैं और वह कुछ कहना चाहते हैं परन्तु दूसरे ही क्षण वह अपने को सम्हाल लेते हैं और प्रसन्नतापूर्वक राम को वन-गमन की आज्ञा देकर उनके वनवास काल के कर्त्तव्यों का भी निर्देश कर देते हैं।

'करो आर्य-सम वन्यचरों को सभ्य तुम' : 'साकेत' के राम आर्य-सभ्यता के संस्थापक हैं। उन्होंने अन्यत्र कहा भी है :

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया...
बहु जन वन में हैं बने ऋक्ष वानर से,
मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निज कर से।

वनवासिनी सीता का कोल-किरात-भिल्ल-बालाओं के प्रति सन्देश है :

तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में?
*आओ, हम कातें बुनें गान की लय में।**

स्वयं वनचारियों का राम से अनुरोध है :

जंगल में मंगल मनाओ, अपनाओ देव,
शासन जनाओ, हमें नागर बनाओ तुम।†

---

* साकेत, सर्ग ८।

† साकेत, सर्ग ५।

जो आज्ञा" कह रामचन्द्र रथ पर चढ़े .... रथ खिंचा।

"जो आज्ञा" कह कर श्री राम आगे बढ़े और वह उसी प्रकार रथ पर चढ़ गये जैसे सूर्य उदयगिरि पर चढ़ जाता है। रोते हुए परिवार तथा प्रजा-जनों को छोड़ कर उस रथ में भली प्रकार बैठकर श्री राम, सीता और लक्ष्मण को साथ लेकर वन को चल दिये।

राम का मार्ग प्रजा के आँसू-जल से सिंच गया। अत्यन्त भीड़ में से रथ रुक-रुक कर खिंच रहा था।

'रामचरितमानस' में भी :

चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई। चले हृदयँ अवधहि सिरु नाई॥
*चलत रामु लखि अवध अनाथा। बिकल लोग सब लागे साथा॥**

सूर्योद्भासित कनक-कलश पर ... ... मन्दिर चला!

सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित रथ के ऊपर बने स्वर्ण-कलश पर ध्वज फहरा रहा था। वह उत्तर दिशा की ओर क्यों फहर रहा था? इस प्रकार तो वह मानों इशारा कर-करके यह कह रहा था कि साकेत का यह जंगम (गतिशील) देव-मन्दिर उत्तर में स्थित अयोध्या से हट कर दक्षिण में वन की ओर चला जा रहा है।

राम का रथ 'सूर्योद्भासित' है। धर्मधनी राम की कर्त्तव्यपरायणता से प्रसन्न होकर मानो कुल-देव भी उन पर अपनी आभा बिखेर रहे हैं। कनककलश पर लगी पताका उत्तर की ओर फहरा रही है। गतिशील रथ पर लगी पताका रथ की गति से विपरीत दिशा में फहराती है। राम उत्तर से दक्षिण की ओर जा रहे हैं। कवि की कल्पना है कि इस प्रकार मानो यह पताका उत्तर में स्थित साकेत की ओर संकेत करके कह रही है कि इस साकेत का यह गतिशील देव-मन्दिर (वह रथ जिसमें समस्त साकेत के आराध्य, श्री राम विराजमान हैं) दक्षिण की ओर चला जा रहा है।)

सुन कैकेयी कर्म जिसे लज्जा हुई .... मच गया।

कैकेयी के वह निन्दनीय कार्य सुन कर जिसे लज्जा आई उसकी मज्जा भी (असीम खेद अथवा शोक के कारण) गल कर बह गयी। दूसरी ओर वैदेही को देख कर वधुओं ने सन्तोष का श्वास लिया। तब वहाँ इन दोनों भावों (कैकेयी के प्रति लज्जा तथा घृणा और सीता के प्रति आदर एवं सहानुभूति) के कारण कोलाहल सा मच गया।

---

* रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

गर्मी के कारण मज्जा गल जाती है। अयोध्या की वधुओं को कैकेयी का दुष्कर्म स्मरण करके इतनी अधिक लज्जा हुई कि असीम शोक अथवा खेद के कारण मानों उन की मज्जा भी गल कर बह निकली। कैकेयी का कर्म नारी जाति के प्रति एक कलंक था। यही सोच कर अयोध्या की कुल-वधुएँ अत्यन्त लज्जित हो रही थीं परन्तु पति के साथ वन जाती हुई सीता को देख कर उन्हें धैर्य हुआ और इस प्रकार उन्हें मानो जीवन-रक्षा का अवसर प्राप्त हो गया। उन्हें यह देख कर सन्तोष हुआ कि नारी-जाति में यदि कैकेयी जैसी स्त्रियाँ हैं तो सीता जैसी प्रतिव्रता पत्नियाँ भी हैं।

उभय ओर थीं खड़ीं नगर-नर-नारियाँ ···· ··· ··· ···· केकयी-कर्म का।

नगर-वासियों की पत्नियाँ मार्ग में दोनों ओर खड़ी थीं और सुकुमारी बालिकायें नेत्रों में आँसू भर कर पुष्प-वर्षा कर रही थीं। वे राम का और धर्म का जयजयकार कर रही थीं और कैकेयी के कुकर्म की निन्दा।

गोस्वामी जी ने नगर-नर-नारियों की भावनाएँ इस प्रकार अभिव्यक्त की हैं:

जबहि रघुपति संग सीय चली।
बिकल बियोग लोग पुरतिय कहैं, अति अन्याउ, अली॥
कोउ कहै, मनिगन तजत काँच लगि, करत न भूप भली।
कोउ कहै, कुल कुबेलि कैकेयी दुख विष फलनि फली॥
एक कहैं, बन जोग जानकी बिधि बड़ बिषम बली॥
*तुलसी कुलिसहु की कठोरता तेहि दिन दलकि दली॥**

जहाँ हमारे राम वहीं हम ··· ···· ···· ··· कलकल वहाँ।

"जहाँ हमारे राम जाएँगे, वहीं हम भी जाएँगे। उनके साथ रह कर हम वन में भी नये नगर-निवास बना लेंगे। भरत अयोध्या में रह कर ईंटों (जन-हीन अयोध्या) पर ही शासन करें", जन-समूह का यह स्वर सब ओर गूंज सा गया।

'रामचरितमानस' के अयोध्यावासी भी राम के साथ वन जाने को तैयार हो जाते हैं:

सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब व्याकुल भागी॥
सबहि बिचारु कीन्ह मन माँही। राम लखन सिय बिनु सुखु नाहीं॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥
चले साथ अस मंत्रु दृढ़ाई। सुर दुर्लभ सुख सदन बिहाई॥

---

* गीतावली, अयोध्याकांड, गीत १०।

राम चरन पंकज प्रिय जिन्हहीं । विषय भोग बस करहिं कि तिन्हही ।।
*बालक बृद्ध बिहाइ गृहँ लगे लोग सब साथ ।**

गुप्तजी ने 'प्रदक्षिणा' में भी लिखा है :

"जहाँ राम राजा हम सब के
वहीं रहेंगे हम सब भी"
बार बार समझाया प्रभु ने
पीछे चली प्रजा तब भी ।†

"हर कर प्रभु का राज्य कठोरा केकयी ... ... प्रेरित किये !

"कठोर हृदया कैकेयी प्रभु का राज्य छीन कर अब प्रजा की (राम के प्रति) अनन्य प्रीति भी छीन ले", भाभी (सीता) को यही भाव जताने के लिए (कि कैकेयी ने अपनी कुटिलता से राम का राज्य तो छीन लिया परन्तु उसमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह राम के प्रति प्रजा का अनन्य प्रेम भी छीन सके) लक्ष्मण ने सीता की ओर देखा ।

वैदेही में पुलक-भाव था ... ... अनुराग था ।

वैदेही तो उस समय अत्यन्त प्रसन्न थीं । उनका रोम-रोम अपने प्रियतम के गुणों का अनुभव कर पुलकित हो रहा था । एक ओर कैकेयी का स्वार्थ था, दूसरी ओर राम का महान त्याग । कैकेयी के स्वार्थ के प्रति सीता के हृदय में खेद था और राम के अपूर्व त्याग के कारण उनके प्रति असीम अनुराग ।

इस अपार जन-समूह से परे हट कर लक्ष्मण की दृष्टि *कठोरा कैकेयी* पर टिकी हुई थी परन्तु सीता का ध्यान उस समय दूसरी ही ओर था । वे तो इस अपार जन समुदाय के उमड़ते प्रेम में अपने पति की महानता एवं लोक-प्रियता का अजस्र स्रोत बहता देख रही थीं । तभी तो उल्लास और गर्व से उनका हृदय आह्लादित हो रहा था ।

राम-भाव अभिषेक-समय .... है मही ।

परन्तु राम की मुख-मुद्रा इस समय भी उसी सहज शान्ति से युक्त थी जो अभिषेक का समाचार मिलने पर उनके मुख-मंडल पर प्रकट हुई थी । चाहे वर्षा हो या ग्रीष्म, सागर अपनी मर्यादा का (त्याग किसी भी अवस्था

* रामचरितमानस, अयोध्याकांड ।
† श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रदक्षिणा, पृष्ठ २९

में) नहीं करता (इसी प्रकार राम जैसे महानुभाव सुख-दुःख में सम भाव रखते हैं)। पृथ्वी इस मर्यादा की सदा साक्षिणी है।

कवि-कुल-गुरु कालिदास ने 'रघुवंश' में राम की इसी निर्विकारता का उल्लेख इस प्रकार किया है :

दधतो मंगलक्षौमे वसानस्य च वल्कले।
ददृशुर्विस्मित स्तस्य मुखरागं समं जनाः॥

(यह देख कर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि राम के मुँह का भाव जैसा राज्याभिषेक के रेशमी वस्त्र पहनते समय था ठीक वैसा ही वन जाने के लिए पेड़ की छाल के वस्त्र पहनते समय भी था।)*

सत्य-धर्म का श्रेष्ठ भाव .... मनोरथ पर चढ़े।

सत्य-धर्म के श्रेष्ठ भाव भरते हुए और उस अपार जन-समूह को स्वयं ही शान्त करते हुए श्री रामचन्द्र जी किसी भाँति आगे बढ़े और रथ से भी पहले मनोरथ (संकल्प-रूपी) रथ पर चढ़ कर वन में जा पहुँचे।

राम शीघ्रातिशीघ्र वन में पहुँच जाना चाहते हैं। 'विपिनातुर' इसी भाव का द्योतक है। रथ के आगे बढ़ने में बाधा है। मार्ग में अपार जन-समूह खड़ा है। रथ 'किसी भाँति' (अत्यन्त कठिनता से) आगे बढ़ पा रहा है अतः राम रथ से पहले ही *मनोरथ* पर चढ़ कर मानो वन जा पहुँचते हैं।

रख कर उनके वचन ... . कल्लोल ज्यों।

श्रीराम की बात मान कर अयोध्यावासी लौट तो आते थे परन्तु दूसरे ही क्षण वे अत्यन्त वियोग से दुखी हो जाते थे और फिर झुण्ड के झुण्ड बना-बना कर रामचन्द्र के रथ की ओर दौड़ते थे, ठीक (जल-प्रवाह से तट और तट से जल-प्रवाह की ओर आती जाती) समुद्र की लहरों की भाँति।

लहरें समुद्र का ही एक अंश (उसी का अंग) होती हैं। समुद्र के प्रवाह अथवा प्रभाव-वश वे तट की ओर जाती हैं तथापि पुनः लौट कर समुद्र में ही विलीन हो जाती हैं। ठीक इसी प्रकार (राममय) प्रजा-जन राम के वचनों से प्रभावित होकर लौटते तो हैं परन्तु फिर उन्हीं की ओर दौड़ पड़ते हैं।

'रामचरितमानस' में भी :

कृपासिंधु बहु बिधि समुझावहिं।
फिरहिं प्रेम बस पुनि फिरि आवहिं॥

---

* रघुवंश, सर्ग १२, श्लोक ८।

सम्बोधन कर पौरजनों को ·· ··· ··· लोक में।"

प्रेमपूर्वक अयोध्यावासियों को सम्बोधित करके श्री रामचन्द्र जी ने हँसते हुए उचित ढंग से कहा, "क्या सब हमें रोकर ही विदा करोगे ? क्या अब हम कभी यहाँ लौट कर नहीं आयेंगे ? तुम सब लौट जाओ । उचित समय पर हम भी यहाँ फिर आयेंगे। वन में भी तुम्हारे प्रेमपूर्ण भाव हमारे साथ रहेंगे। शोक करते हुए बहुत दूर तक तो उसी को छोड़ने जाते हैं जिससे फिर इस संसार में मिलने की आशा नहीं रहती (जो मर जाता है)।"

बोल उठे जन—"भद्र, न ऐसा ···· ···· ···· जन वहाँ।

प्रजा-जन का उत्तर था : "ऐसी बात तो मुख से भी न निकालो। हम तुम्हें विदा ही कहाँ कर रहे हैं ? हे राम, हमने तो तुम्हें राजा चुना है । तुम इस प्रकार लोक-मत की उपेक्षा न करो। यदि तुम हमें रौंद कर वन जा सकते हो तो चले जाओ।" यह कह कर बहुत से अयोध्यावासी राम के पथ में लेट गये।

अश्व अड़े-से खड़े उठाये पैर थे ···· ··· ··· वैर थे।

रथ के घोड़े पैर उठाये अड़े-से खड़े थे। वे प्रेम और वैर का अन्तर समझते थे (अतः उन्होंने प्रेम-विकल अयोध्यावासियों की छाती पर पैर न रखे)।

ऊँचा कर कुछ वक्ष ···· ···· ···· ··· सविषाद यों।

गरदन सहित अपनी छाती कुछ ऊँची उठाकर समुद्र की उत्तुङ्ग लहरों में होने वाले शंखालोडन (शंखों का मंथन) की भाँति गम्भीर शब्द करते हुए समुद्र के समान श्रीमान् रामचन्द्र जी दुःख भरे स्वर में बोले।

साकेतकार ने अनेक स्थानों पर श्री राम की तुलना समुद्र से की है :

उच्च हिमगिरि से भी वे धीर,
सिन्धु-सम थे सम्प्रति गम्भीर।—सर्ग २

× × ×

राम-भाव अभिषेक समय जैसा रहा,
वन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा।
वर्षा हो या ग्रीष्म, सिन्धु रहता वही,
मर्यादा की सदा साक्षिणी है मही।—सर्ग ४

× × ×

वह चन्द्रलोक था, कहाँ चाँदनी वैसी,
प्रभु बोले गिरा गभीर नीरनिधि जैसी।—सर्ग ४

"उठो प्रजा-जन, उठो, तजो यह ···· ···· ··· तुम पर कहो ?

राम ने कहा, "उठो, प्रजा-जन उठो, यह मोह छोड़ दो । तुम यह विनत विद्रोह (रथ के आगे लेट कर वन-गमन में बाधा डालने का अहिंसा-मय प्रयास) क्यों कर रहे हो ? मुझे भला तुमसे अधिक प्रिय और कौन है ? तुम इस प्रकार खिन्न क्यों हो रहे हो ? यह तो बताओ कि मैं क्या तुम पर अपना भी त्याग कर दूँ ?

'विनत-विद्रोह' गाँधी-युग की देन है । इस पर गाँधीजी के 'सत्याग्रह' का स्पष्ट प्रभाव है ।

सोचो तुम सम्बन्ध हमारा नित्य का ··· ···· ··· सन गये ।

"हमारा तुम्हारा संबंध तो सदा-सदा का है । यह तो उस समय से चला आ रहा है जब सृष्टि पर प्रथम सूर्य का उदय हुआ था । तुम तो हमारी प्रजा-मात्र न रह कर प्रकृति ही बन गये हो इसलिए हम दोनों के दुःख-सुख तो एक में ही सन गये हैं (एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं) ।

मैं स्वधर्म से विमुख नहीं हूँगा ···· ··· ··· रोक कर ।

"तुम जानते हो कि मैं कभी धर्म-पथ नहीं छोड़ूँगा । इसीलिए तो तुम मुझसे प्रेम करते हो ? फिर इस समय मेरे विरह को आवश्यकता से अधिक महत्व देकर और मुझे धर्म-पथ पर बढ़ने से रोक कर अनुचित काम न करो ।

होते मेरे ठौर तुम्हीं हे आग्रही ··· ··· ··· सत्कर्म का ।

"तुम इस प्रकार हठ कर रहे हो परन्तु यदि मेरे स्थान पर तुम होते तो क्या तुम भी इस समय वही न करते जो मैं कर रहा हूँ ? धर्म का पालन तो सहज है परन्तु धर्म-पालन का अवसर प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होता है । सौभाग्य से ही मुझे यह सत्कर्म सम्पन्न करने का अवसर मिला है ।

मैं बन जाता नहीं रूठ कर ··· ···· ··· हम लड़ें ।

"मैं अपने परिवार वालों से रूठ कर अथवा, भय, दुर्बलता या स्नेहहीनता के कारण वन में नहीं जा रहा हूँ । तुम्हीं बताओ, क्या पिता के वचन झूठे पड़ जांय और हम नाशवान् पदार्थ (राज्य) के लिए आपस में लड़ें ?

मान लो कि यह राज्य अभी मैं ··· ··· ···· वह कहो ?

मान लो कि मैं यह राज्य अभी बल-पूर्वक छीन लूँ और काँटों में से चुने जाने वाले फूल की भाँति इसे हस्तगत कर लूँ परन्तु जो व्यक्ति अपने राजा (भरत) और पिता (महाराज दशरथ) का भी न हो सका (अपने राजा के प्रति

जिसने विद्रोह किया और पिता के आदेश की अवज्ञा की) वह क्या प्रजा का हो सकता है ?

ऐसे जन को पिता राज्य देते ··· ··· ··· ··· मार्ग दे दो अभी ।

"यदि पिता किसी ऐसे व्यक्ति को राज्य देते जिसे मैं राज्य के योग्य न समझता तो राज्य के अधिकारी के नाते नहीं अपितु प्रजा की कल्याण-भावना से प्रेरित होकर ही मैं उस प्रस्ताव को कभी स्वीकार न करता परन्तु मैं भरत के स्वभाव तथा उनके भावों से भली प्रकार परिचित हूँ। वह तो हममें जड़भरत (आङ्गिरस गोत्रीय एक ब्राह्मण जो जड़ की भाँति रहते थे) की भाँति प्रसिद्ध हैं। सुनो, सत्य तो यह है कि तुम भरत जैसा योग्य शासक पाकर मुझे भी भूल जाओगे। तुमने मुझे चुना है तो अब जिसे मैं कहता हूँ, उसे चुन लो। मुझे भरत के प्रति जितना विश्वास है, दृढ़व्रती भरत यदि उससे अधिक योग्य सिद्ध न होंगे तो तुम मुझे दूर नहीं पाओगे, यह मैं तुम्हें वचन देता हूँ। अब मुझे तुरन्त मार्ग दे दो।

महर्षि वाल्मीकि के राम ने भी भरत के प्रति इतना ही अनन्य विश्वास प्रकट किया है :

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् ।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा निवेश्यताम् ॥
स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः ।
करिष्यति यथावद् वः प्रियाणि च हितानि च ॥
ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः ।
अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः ॥
स हि राजगुणैर्युक्तो युवराजः समीक्षितः ।
अपि चैव मया शिष्टैः कार्यं वो भर्तृशासनम् ॥
न च तप्येद्यथा चासौ वनवासं गते मयि ।
महाराजस्तथा कार्यो मम प्रियचिकीर्षया ॥

(हे अयोध्यावासियो ! तुम लोगों की जैसी प्रीति मुझ में है और जैसा आदर तुम लोग मेरा करते हो, मेरी प्रसन्नता के लिए, इससे भी अधिक प्रीति और आदर तुम लोग भरत के प्रति करना। कैकेयी-नन्दन भरत जो चरित्रवान् हैं, वे अवश्य ही तुम्हारे लिए हितकर और प्रिय कार्य करेंगे। भरत जी अवस्था में छोटे होने पर भी बड़े ज्ञानवान् हैं। वे बड़े कोमल चित्त के हैं, साथ ही बड़े पराक्रमी भी हैं। इनके अतिरिक्त उनमें वात्सल्यादि और भी अनेक सद्गुण हैं। वे सब प्रकार से योग्य हैं।

इनके राजा होने पर तुम्हें किसी बात का खटका नहीं रहेगा। उनको राजोचित गुणों से युक्त देखकर महाराज ने उनको युवराज पद देना निश्चित किया है। अतः हम सबको राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिए। मेरे वन जाने पर मेरी प्रसन्नता के लिए तुम लोगों को वह काम करना चाहिए जिससे महाराज को कष्ट न हो अथवा यदि तुम मेरे प्रिय बनना चाहो तो ऐसा करना जिससे मेरी अनुपस्थिति में महाराज को कष्ट न हो)।*

महाराज स्वर्गीय सगर ने ··· ··· ··· ··· नाता नहीं।

"स्वर्गीय महाराज सगर ने राज्य करते समय तुम्हारे (प्रजा के) लिए अपने पुत्र का भी त्याग कर दिया था। यदि भरत तुम्हारे योग्य रक्षक सिद्ध न हुए तो मैं भी तुम्हारे लिए उनसे भाई का नाता तोड़ लूँगा।

'श्रीमद्भागवत' के अनुसार महाराज सगर द्वारा पुत्र-त्याग की कथा इस प्रकार है :

योऽसमंजस इत्युक्तः स केशिन्या नृपात्मजः।
तस्य पुत्रोऽशुमान्नाम पितामहहिते रतः॥
असमंजस आत्मानं दर्शयन्नसमंजसम्।
जातिस्मरः पुरा संगाद्योगी योगाद्विचालितः॥
आचरन्गर्हितं लोके ज्ञातीनां कर्म विप्रियम्।
सरय्वां क्रीडतो बालान्प्रास्यदुद्वेजयंजनम्।
एवं वृत्तः परित्यक्तः पित्रा स्नेहमपोह्य वै॥

(सगर राजा के एक पुत्र का नाम असमंजस था जो केशिनी रानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। उस असमंजस का पुत्र अंशुमान् सदा अपने दादा के हितकारी कार्य करता था। यह असमंजस पहले जन्म में योगी था, संग करने के हेतु योग से भ्रष्ट हुआ इसलिए अपनी जाति का स्मरण कर दूसरे जन्म में भी संग के छोड़ने को निन्दनीय कार्य करने वाली जाति की भाँति निन्दनीय कर्म करता था अर्थात् लोगों को उद्वेग जन्माय लोक निंदित आचार और अपनी जाति के अर्थ विप्रिय कर्म करता हुआ खेल ही खेल में बालकों को सरयू के जल में डाल देता था। इस प्रकार के कर्म देख इनके पिता राजा सगर ने पुत्र का स्नेह छोड़ इन्हें त्याग दिया।)†

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ४५, श्लोक ६ से १०।

† श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ६, अध्याय ८, श्लोक १५ से १८।

तुम हो ऐसे प्रजावृन्द .... वीर्य है राम में।

"हे प्रजाजन, तुम्हें यह न भूलना चाहिए कि तुम उन महाराजाओं की प्रजा हो जो सदा देवताओं के कार्य साधते रहे और जो देवासुर संग्रामों में अपना सुख वैभव त्याग कर देवताओं की सहायता के लिए गये। तुम धैर्य धारण करो, राम में भी उन्हीं पूर्वजों का वीर्य है (राम भी उन्हीं पूर्वजों का वंशज है)।

बन्धु विदा दो उसी भाव से ... ... भार मैं।

"हे बन्धुओ, जिस प्रकार तुम हमारे पूर्वजों को देवासुर-संग्राम में, देवताओं की सहायता करने के लिए जाते समय सहर्ष विदा करते थे उसी भाव से इस समय मुझे भी विदा करो ताकि तुम्हारी सद्भावनाओं के फलस्वरूप वन के काँटे भी हमारे लिए केसर के समान (कोमल) हो जाएँ तथा मैं वन में जाकर पाप का अन्त, पुण्य का विस्तार, श्रेष्ठ भावों का प्रचार और यज्ञ आदि कार्यों में होने वाले विघ्न तथा भय का भार दूर कर सकूँ।

या जाने दो आर्य भगीरथ-रीति से .... स्थापन करूँ।

"अथवा मुझे भी आर्य भगीरथ की भाँति जाने दो ताकि मैं प्रेम-पूर्वक पिता को वरदान रूपी ऋण से मुक्त कर सकूँ। अनेक विघ्न-बाधाओं के रहते भी मैं समस्त व्रत तथा उद्यापन सम्पन्न कर सकूँ और पृथ्वी पर गंगा जैसी किसी नवीन निधि की स्थापना कर सकूँ।

कपिलदेव जी के शाप से महाराज सगर के साठ हज़ार पुत्र भस्म हो गये थे। उनके उद्धार का एक ही उपाय था, गंगाजल का स्पर्श। गंगा उस समय स्वर्ग में थीं। महाराज सगर के वंशजों, अंशुमान् और दिलीप, ने गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए तपस्या की परन्तु वे सफल न हो सके। अन्त में भगीरथ घोर तपस्या करके गंगा को पृथ्वी पर लाये और इस प्रकार उन्होंने अपने पुरखाओं का उद्धार किया। इसीलिए गंगा का एक नाम 'भागीरथी' भी है।

उठो, विघ्न मत बनो ... ... अंकित करूँ।"

राम ने अयोध्यावासियों को उठाते हुए कहा, "उठो, तुम इस प्रकार धर्म के मार्ग में विघ्न न बनो और स्वयं भी कल्याणकारी कर्मों का अनुष्ठान करो। इस समय तो तुम मुझे उत्साह प्रदान करो जिससे मैं धर्म-पथ की ओर बढ़ कर वन में विचरण करूँ और इस प्रकार कर्तव्य की यह सरिता पार कर के पग-पग पर अपने चरण-चिन्ह अंकित कर सकूँ (आदर्श की स्थापना कर सकूँ)।"

क्षिप्त खिलौने देख हठीले बाल के ... . खड़े।

जिस प्रकार माँ अपने हठी बालक द्वारा इधर-उधर फेंके हुए खिलौने उठा

कर सँभाल-सँभाल कर रख देती है, ठीक उसी प्रकार वे अयोध्यावासी, जो पथ में अड़े हुए थे, सर्वेश्वर श्री राम की बात सुन कर मन्त्रमुग्ध-से होकर अलग जा खड़े हुए।

महर्षि वाल्मीकि के राम अयोध्यावासियों को सोता छोड़कर अवसर पाकर वन की ओर बढ़ जाते हैं। वह लक्ष्मण से कहते हैं :

यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वयं लघु।
रथमारुह्य गच्छाम पन्थानमकुतोभयम्॥

(जब तक ये सब सो रहे हैं तब तक हम रथ पर सवार हो तुरन्त यहाँ से रवाना हो जाएँ। फिर कुछ भी भय नहीं है।)*

'रामचरितमानस' में :

लोग सोग श्रम बस गए सोई।
कछुक देवमायाँ मति मोई॥

अतः

जबहिं जाम जुग जामिनि बीती। राम सचिव सन कहेउ सप्रीती॥
खोज मारि रथु हाँकहु ताता। आन उपाय बनिहि नहिं बाता॥†

किन्तु 'साकेत' के 'विनत विद्रोहियों' की आँखों में नींद कहाँ? तभी तो 'साकेत' के कवि ने उन्हें सुलाने का असफल प्रयत्न न करके 'विभु-वाणी' द्वारा समझाने का ही प्रयत्न किया है। 'साकेत' के पुरवासी सुप्त अवस्था में नहीं, मन्त्रमुग्ध अवस्था में ही अपने राम को विदा करते हैं। गुप्तजी की अन्य कृति, 'प्रदक्षिणा' में—

वंचित करके ही लोगों को जाना पड़ा उन्हें वन को,
समझाते हैं आप अन्त में अवश मनुज अपने मन को।‡

झुक देखें जो किन्तु उठा कर सिर ···· ···· ···· ···· पथ भी मुड़ा।

परन्तु जब अयोध्यावासियों ने फिर सिर उठा कर राम, लक्ष्मण, सीता को देखने का प्रयत्न किया तो भला वे उन्हें कहाँ मिलते? रास्ता साफ़ था अतः हवा के झोंके की भाँति रथ बहुत वेग से आगे बढ़ गया। कुछ दूर जाकर तो वह शून्य (अनन्त) पथ भी एक ओर को मुड़ गया।

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड सर्ग ४६, श्लोक २१।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

‡ श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रदक्षिणा, पृष्ठ २५।

"यह अवतरण अतिशयोक्तिगर्भ उत्प्रेक्षा का सुन्दरतम उदाहरण है। राम के रथ के घोड़े इतने तेज़ जा रहे थे कि धूल आदि तो पीछे रह गयी, स्वयं शून्य (अनन्त) पथ भी साथ न चल सका। सीधी सड़क पर भी, कुछ देर के बाद ही, मोटी दृष्टि ओझल हो जाती है। ऐसे प्रसंग में यह कल्पना कि सड़क भी उसके साथ न चलकर पीछे मुड़ आयी कितनी सटीक, समयोचित और स्वाभाविक है!"※

चले यथा रथ-चक्र अचल भावित हुए ···· ··· ··· ··· धावित हुए।

रथ के पहिये इतनी तेजी से चल रहे थे कि वे अचल (ठहरे हुए-से) जान पड़ते थे। उधर, रथ के दोनों ओर के अचल दृश्य (रथ की गतिशीलता के कारण) भागते हुए-से जान पड़ते थे।

चलते हुए अचल रथ-चक्र और दौड़ते हुए अचल दृश्यों का विरोधाभास कितना हृदयग्राही है!

सीमा पूरी हुई ··· ···· ···· ··· ···· घूमकर।

साकेत के नगर, प्रान्तर (दो प्रदेशों के बीच का खाली स्थान) बाग, नदी, तालाब और खेत आदि सबकी सीमा पूरी हो जाने पर सधे हुए घोड़े रुक गये और वे धूल को चूम कर हिनहिनाने लगे। श्री रामचन्द्रजी भी रथ से उतर कर, घूम कर, साकेत की ओर मुख करके खड़े हो गये।

जन्मभूमि का भाव न अब भीतर रुका ···· ···· ···· मान दे।

जन्मभूमि के प्रति श्रद्धा का भाव अब हृदय में रुका न रह सका अतः राम ने सजल भाव से मस्तक झुका कर कहा: "हे जन्मभूमि, तू हमारा प्रणाम स्वीकार कर और हमें विदा दे। इसके साथ ही हमें गौरव, उचित गर्व तथा आत्माभिमान भी प्रदान कर।

तेरे कीर्त्ति स्तम्भ सौध, मन्दिर ···· ··· ···· ··· पाँयगे।

"तेरे कीर्ति-स्तम्भों, महलों तथा मन्दिरों की भाँति हमारे मस्तक सदा उन्नत रहें। हम इस समय तो जा रहे हैं परन्तु उचित समय पर (अवधि पूरी हो जाने पर फिर यहाँ लौट कर आएँगे। उस समय तू हमें और भी अधिक आकर्षक जान पड़ेगी।

उड़े पक्षिकुल दूर दूर आकाश में ··· ··· ···· ···· तू है मही।

"पतङ्ग की भाँति पक्षी आकाश में दूर-दूर तक उड़ते हैं परन्तु वे डोर द्वारा हाथ में पकड़ी जाने वाली पतङ्ग के समान ही अपने कुञ्ज-गृह (घोंसले) से बंधे (सम्बद्ध) भी रहते हैं। (आकाश में उड़ने वाले पक्षियों अथवा पतङ्ग की

※ साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ १९२।

भाँति हम भी केवल शारीरिक रूप से अपनी जन्मभूमि से दूर जा रहे हैं परन्तु वास्तव में हम दूर रह कर भी इसके प्रेम-सूत्र में बंधे ही रहेंगे)।

"तेरे जो निर्मल तत्व हममें बसे हुए हैं, उन दया, प्रेम, न्याय, विनय और शील आदि शुभ प्रवृत्तियों का उपयोग हमारे ही हाथ है (हम अपनी इच्छानुसार उनका भला अथवा बुरा उपयोग कर सकते हैं) । हे जन्मभूमि, अपने सूक्ष्म रूप में तो तू सदैव तथा सब स्थानों पर ही हमारे साथ रहती है। तेरा पवित्र समीर (वायु तत्व) हमारे श्वास में व्याप्त है, जल (तत्व) मानस (मन) में बसा है, उच्छ्वास (गरम आह) में अनल (अग्नि तत्व) है और अलिप्तता के रूप में सदा नभ (आकाश तत्व) हमारे साथ रहता है। हमारी स्थिरता में तो हे मही, तू स्वयं (पृथ्वी तत्व) बसी हुई है।

मानव शरीर पंच तत्वों—आकाश, तेज, वायु, जल तथा पृथ्वी—से मिल कर बना है ("पंच रचित यह अधम शरीरा"—रामायण)। ये पाँचों तत्व सूक्ष्म रूप से सदा हमारे साथ रहते हैं। इनका अभाव ही जीवन का अन्त अथवा मृत्यु है।

गिर गिर उठ उठ, खेल-कूद .... छलना हमें।

"बार-बार गिरते, उठते, खेलते, बोलते और हँसते हुए तेरी ही गोद के आँगन में चल-फिर कर तो हमारे लिए इस पथ पर चलना संभव हो सका है तथा लोभ और मोह की जादूगरनी भी हमें छल नहीं सकी है।

गुप्तजी ने 'मातृभूमि' शीर्षक कविता में भी लिखा है :

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं,
परमहंस सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाये,
हम खेले-कूदे हर्ष युत जिसकी प्यारी गोद में,
*हे मातृभूमि, तुझको निरख मग्न क्यों न हों मोद में ?**

हम सौरों की प्राचि, ... पाते रहे।

"तू तो हम सूर्यवंशियों के लिए पूर्व दिशा के समान है, हमारी पुरदेवी है तथा मानव-धर्म को धारण करने वाली है। अनेक महान कार्य करने के कारण तेरे पुत्रों का सदा स्मरण किया जाता रहा तथा वे सदा ही नित नवीन पुण्य-पर्व प्राप्त करते रहे (गौरवान्वित होते रहे)।

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, स्वदेश संगीत, पृष्ठ २४, २५।

तू भावों की चारु चित्रशाला ··· ··· ···· ···· ध्रुव-धर्म की।

"तू तो मानो सद्भावों की चित्रशाला है, सच्चरित्रों की गीति-नाट्यमाला है, आर्य-कुल के कर्म की पाठावली है जिस पाठावली के प्रत्येक पृष्ठ पर ध्रुव (सनातन) धर्म की छाप पड़ी है।

भाव चित्रकला के माध्यम द्वारा अंकित किये जाते हैं, चरित्रों का निरूपण कविता तथा नाटक आदि के रूप में होता है तथा कुल-कर्म का ज्ञान तत्सम्बन्धी धर्म-शास्त्रों (पाठावली) की सहायता से प्राप्त किया जाता है। इसीलिए जन्म-भूमि को भावों की चारु चित्रशाला, चारित्र्यों की गीत-नाट्यमाला और आर्य-कुल कर्म की पाठावली कहा गया है।

चलना, फिरना और विचरना ··· ··· ··· ·· ओक में।

"हम चाहे जहाँ चलें, फिरें अथवा घूमें परन्तु हमारा प्रेम पालना तो सदा यहीं रहेगा। मैं इस संसार में चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो जाऊँ परन्तु तुझ मातृभूमि की गोद में तो सदा बालक ही रहूँगा।

यहीं हमारे नाभि-कंज की नाल है ··· ···· ··· ···· जिष्णु हैं।

"तुझमें ही हमारे नाभि-कमल की नाल है। यहीं समस्त विधि-विधान की सृष्टि हुई है। तू दुग्ध-धाम (क्षीर सागर) के समान है और हम तुझमें निवास करने वाले विष्णु हैं। अनेक हो कर भी एक होने के कारण ही हम विजयी हैं।

'हैं अनेक भी एक' द्वारा राष्ट्रकवि ने भिन्न भिन्न मत-मतान्तरों के रहते हुए भी भारत की सार्वभौमिक एकता अथवा राष्ट्रीयता (Unity in diversity) की ओर संकेत किया है।

तेरा पानी शस्त्र हमारे हैं धरे ··· ··· ··· ··· हाव है।

"हमारे शस्त्रों ने तेरा ही पानी धारण किया हुआ है जिसमें शत्रु गले तक डूब कर तर जाते हैं (नष्ट हो जाते हैं)। शस्त्रों से युक्त होने पर भी तेरा सद्भाव शान्तिपूर्ण ही है। इस प्रकार तेरे हृदय का हाव (स्वाभाविक चेष्टा) सब क्षेत्रों में हरा है।

'शान्ति भरा सद्भाव' गाँधी जी का प्रसाद है परन्तु हमारे कवि का देश निःशस्त्र नहीं है। 'विनाशाय च दुष्कृताम्' के लिए सशस्त्र होना अनिवार्य है। यह बात अवश्य है कि आवश्यक शक्ति का संचय करके भी भारत को मूलतः शान्ति-प्रिय ही रहना है।

मेरा प्रिय हिंडोल निकुंजागार ···· ···· ··· ·· बरसूँ कहीं।

"हे जन्मभूमि, तू तो मेरे लिए लता-भवन में पड़े हुए प्रिय हिंडोले और

मेरे जीवन-सागर के समान है जो भाव रूपी रत्नों का भंडार है। चाहे मैं कहीं भी खिलूं अथवा चढ़ूँ, मैं सदा ही तेरा सुमन रहूँगा, मैं चाहे कहीं भी बढ़ूँ अथवा बरसूँ परन्तु मैं सदा तेरा ही बादल बना रहूँगा।

शुचिरुचि शिल्पादर्श ···· ···· ···· ···· अयोध्या नाम तू।

"पवित्र रुचि की शिल्पकला के आदर्श, शरत्कालीन बादलों के समूह और कलाओं से युक्त अत्यन्त मनोरम कल्पना-कुञ्ज के समान, स्वग से भी सुन्दर साकेत, तू राम का धाम है। तू सदा अपने 'अयोध्या' (जिससे युद्ध न किया जा सके) नाम की रक्षा कर।

राज्य जाय मैं आप चला जाऊँ ··· ···· ···· रामचन्द्र की सर्वदा!"

राज्य भले ही चला जाय। स्वयं मैं भी चाहे जहाँ चला जाऊँ। एक बार जाकर मैं चाहे यहाँ लौट कर आ सकूँ अथवा न आ सकूँ, परन्तु रामचन्द्र सदा ही अपनी जन्मभूमि अयोध्या का है और अयोध्या सदा रामचन्द्र की है।"

महर्षि वाल्मीकि के राम ने भी विशाल कोशल राज्य के देशों की सीमा से निकलकर अयोध्या की ओर मुख करके और हाथ जोड़ कर कहा:

आपृच्छे त्वां पुरि श्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते।
दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च॥
निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः।
पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह संगतः॥

(हे काकुत्स्थवंशीय नृपतियों से पालित पुरियों में श्रेष्ठ अयोध्ये, तुझ से तथा तुझमें रहने वाले उन देवताओं से जो तेरा पालन करते हैं, मैं विदा होने के लिए अनुज्ञा माँगता हूँ। वनवास से लौटकर और महाराज से उऋण हो मैं फिर तेरे दर्शन करूँगा और माता-पिता से मिलूँगा।)*

गोस्वामी जी के राम ने रथ पर चढ़ते समय मन ही मन अयोध्या को प्रणाम किया था:

चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई।
चले हृदयँ अवधहि सिरु नाई॥

'साकेत' में स्वयं राष्ट्र-कवि का स्वदेश प्रेम ही राम द्वारा अभिव्यक्त विभिन्न भावनाओं के रूप में प्रवाहित हो गया है।

आया झोंका एक वायु का सामने ··· ···· ···· ··· रव छा गया।

सामने से हवा का एक झोंका आया और राम ने अपने मस्तक पर एक

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ५०, श्लोक २, ३।

पुष्प समर्पित पाया। उस पुष्प के रूप में मानो पृथ्वी का गुण, गन्ध, ही राम के मन को भा गया। उसी समय पक्षियों की मधुर, विकल और करुण बोलियाँ सब ओर गूँजने लगीं।

अग्नि, जल, वायु, आकाश और पृथ्वी नामक पाँच तत्वों के पाँच गुण माने जाते हैं—रूप, रस, स्पर्श, शब्द और गन्ध। राम द्वारा की गयी वन्दना से प्रसन्न होकर मानो माँ-धरित्री ने अपने गुण (गन्ध) के रूप में अपने को ही राम के सिर पर समर्पित होने वाले सुगन्धित सुमन में निहित करके आशीर्वाद प्रदान किया।

क्षण भर तीनों रहे मूर्ति जैसे ···· ··· ··· ··· गति मन्द से।

गढ़ी हुई तीन मूर्तियों की भाँति राम, सीता और लक्ष्मण पल भर तो अविचल खड़े रहे फिर एक दीर्घ निःश्वास लेकर वे उस बड़े रथ पर आसीन हुए। रथ में बैठ कर वे निस्पंद (जिनके हृदय की धड़कन बन्द हो गयी हो) की तरह चुपचाप वन की ओर चले। घोड़े भी बहुत धीरे-धीरे इस प्रकार आगे बढ़े मानो उन्हें आगे जाने में कोई आनन्द प्राप्त न हो रहा हो।

पहुँचे तमसा तीर साँझ को संयमी ··· ···· ··· ··· पथ की तमी।

सायंकाल होने पर तीनों संयमी (राम, लक्ष्मण, सीता) तमसा तट पर पहुँचे और उन्होंने मार्ग की प्रथम रात्रि तमसा तट पर ही बितायी।

'वाल्मीकि रामायण' में भी :

*ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः।**

और 'रामचरितमानस' में भी :

तमसा तीर निवासु किय, प्रथम दिवस रघुनाथ।

स्वजन-सोच-संकोच तनिक बाधक हुआ ···· ··· ··· ···· सचेताचेत थे।

अपने सम्बन्धियों की चिन्ता का भाव कुछ समय के लिए नींद में बाधक ही हुआ परन्तु भरत के प्रति विश्वास का भाव (यह विचार कि भरत उन सबकी रक्षा भली प्रकार कर लेंगे) नींद में सहायक हुआ (यह सोच कर वे सो सके)। लक्ष्मण जागते रहे। वह पहरेदार बने, मानों उनकी नींद भी ऊर्मिला की भाँति अयोध्या में ही छूट गयी थी। लक्ष्मण सुमन्त्र के साथ श्री राम के सम्बन्ध में ही बातचीत करने में संलग्न थे, न जाने कब इसी सचेत अचेत अवस्था में रात बीत गयी।

निद्रा भी ऊर्मिला सदृश घर ही रही : "यहाँ निद्रा और ऊर्मिला में कोई साधर्म्य नहीं है, यदि कल्पना की सहायता ली जाये तो दोनों में प्रभाव-

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ४६, श्लोक १।

साम्य अवश्य मिल जायगा। निद्रा का और ऊर्मिला का प्रभाव लक्ष्मण के लिए सुखकर था। यह समानता खोज निकालनी पड़ेगी। परन्तु यहाँ उपमा की भावमयता बढ़ी है वास्तव में निद्रा और ऊर्मिला का परस्पर सम्बन्ध होने के कारण। इस उक्ति में निद्रा ऊर्मिला के घर रहने से वैसे ही छूट गयी अथवा लक्ष्मण का निद्रा-सुख तो ऊर्मिला के साथ ही रह गया, यह भाव व्यंग्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उपमा सर्वथा अछूत है और उपमान का प्रस्तुत से निकट सम्बन्ध होने के कारण भाव में अत्यधिक तीव्रता आ गई है।"❀

पर दिन पथ में निरख ••• ••• ••• धृति धार कर।

दूसरे दिन मार्ग में स्वराज्य का ऐश्वर्य और प्रजा-जन के धन-धान्य और धर्म का विकास देखते हुए उन्होंने दूध की धार के समान गोमती नदी पार की। फिर वे धैर्य पूर्वक गंगा के किनारे पहुँचे।

'वाल्मीकि रामायण' में भी—

ततो धान्यधनोपेतान्दानशीलजनांशुभान्।
अकुतंचिद्भयान्रम्यांश्चैत्ययूपसमावृतान्॥
उद्यानाम्रवणोपेतान्सम्पन्नसलिलाशयान्।
तुष्टपुष्टजनाकीर्णान्गोकुलाकुलसेवितान्॥

(श्री रामचन्द्र जी ने जाते हुए देखा कि रास्ते में जो गाँव या नगर हैं, वे धन-धान्य से भरे-पूरे हैं। वहाँ के लोग बड़े दानी, धार्मिक और निर्भीक हैं। यह बात उन नगरों के रम्य देव-मन्दिरों तथा जहाँ-तहाँ खड़े यज्ञ-स्तम्भ के देखने से विदित होती थी। वहाँ के बाग़ आम के वृक्षों से परिपूर्ण थे, तालाबों में जल भरा हुआ था, सब लोग प्रसन्न वदन और हृष्टपुष्ट थे और जगह-जगह गौओं की हेड़ें खड़ी थीं।)†

यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी ••• ••• •••• •••• कल जलमयी।

यह (गंगा) तो एक विशाल मोतियों की लड़ी थी जो स्वर्ग के कंठ से टूट कर पृथ्वी पर आ गिरी। पृथ्वी का ताप न सह सकने के कारण (उस ताप से द्रवित होकर मोतियों की यह लड़ी) अचानक गल गयी और इस प्रकार बर्फ होकर भी यह मधुर जल से परिपूर्ण होकर द्रवित ही रही।

गंगा का वर्णन करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी कहा है:

नव उज्वल जल-धार हार-हीरक सी सोहति,
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति!•••

❀ साकेत: एक अध्ययन, पृ० १८१।

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ५०, श्लोक ८, ९।

'प्रभु आये हैं' समाचार सुनकर ··· ···· ···· ··· सपरिकर आ गया।

'प्रभु आये हैं' यह नया समाचार सुन कर समुचित भेंट लेकर गुहजरा सपरिवार उनसे मिलने आया।

'वाल्मीकि रामायण' में—

तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा।
निषादजात्यो बलवान्स्थपतिश्चेति विश्रुतः॥
स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम्।
वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः॥

(उस देश का गुह नाम का राजा था, वह श्री रामचन्द्र का प्राणों के समान मित्र था और जाति का केवट था तथा उसके पास चतुरंगिणी सेना थी और वह निषादों का राजा कहलाता था। उसने जब सुना कि श्री रामचन्द्र जी उसके देश में आये हैं, तब वह अपने बूढ़े मन्त्रियों और जाति-बिरादरी के बड़े-बड़े लोगों को साथ लिए हुए श्री रामचन्द्र जी से मिलने चला।)❀

और 'रामचरितमानस' में भी—

यह सुधि गुँह निषाद जब पाई। मुदित लिये प्रिय बन्धु बोलाई॥
लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरषि अपारा॥

देख सखा को दिया समादर ···· ··· ··· ··· प्रेम से सामने।

प्रिय सखा को अपनी ओर आता देख कर राम ने उसका उचित आदर किया और उठ कर तथा कुछ दूर आगे बढ़ कर प्रेमपूर्वक उसे अपने सामने लिया (हृदय से लगाया)।

महर्षि वाल्मीकि के राम भी लक्ष्मण सहित कुछ दूर आगे जाकर गुह से मिलते हैं :

ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम्।
सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद् गुहेन सः॥†

और 'रामचरितमानस' में—

सहज सनेह विवस रघुराई।
पूँछी कुसल निकट बैठाई॥

"रहिए रहिए, उचित नहीं ··· ···· ··· ··· प्रीति सुधा पीती रहो।"

राम को इस प्रकार आगे बढ़ता देखकर गुहराज ने कहा, "ठहरिए, ठहरिए,

---

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ५०, श्लोक ३३, ३४।

† वही, श्लोक ३५।

आपका इस प्रकार उठना उचित नहीं। आप इस प्रकार किसे इतना आदर दे रहे हैं ? मैं तो आपका सेवक हूँ। कहिए, आप यहाँ कहाँ भूल कर आ निकले ? अपना मृगयावास (मृगया के लिए कुछ समय वन में जाकर रहना) समझ कर यहाँ रहिए। इस मंगलप्रद आपके हास पर, सब कुछ भूल कर, मैं अपने नील विपिन के समस्त फूल वार दूँगा। अचानक ऐसे अतिथि किसे और कब मिलते हैं अतः मैं इसे अपना सौभाग्य क्यों न कहूँ ? आनन्दपूर्वक आपसे मिलने की इस तल्लीनता को प्राप्त करके तो आज मुझे अपनी तुच्छता भी भूलती जा रही है। मैं तो आपको अभाव में भाव (अपूर्णता में पूर्ति) समझता हूँ। अपने घर में आपको पाकर मैं अपने घर (की हीनता) को न देख कर आपको (आपकी महानता को) ही देखता हूँ। आप मेरे घर की कमियों पर चरण-धूलि डालिए (उनकी उपेक्षा कीजिए) और मेरे घर को न देखकर मेरी ओर (मेरे प्रेम की ओर) देखकर कृपया मुझे निभा लीजिए। चाहे मेरे घर में आपका उचित आतिथ्य न हो सके परन्तु मेरे हृदय में आपके प्रति अटल अनुराग है। मुझमें शक्ति चाहे न हो परन्तु भक्ति अवश्य है। एक बात और भी है। शिकार की खोज में आपके ये सुन्दर चरण फिर कभी यहाँ तक पधार भी सकते हैं परन्तु माँ जानकी क्या बार-बार यहाँ आ सकती हैं ? सत्य तो यह है कि मुझे जानकी जी इस समय कुल-देवी के ही रूप में प्राप्त हुई हैं।" सीता को सम्बोधित करके गुहराज ने कहा, "देवी ! मुझे वे सुख और उल्लास भूले नहीं हैं। मिथिला पुरी के वे राज-भोग मुझे अच्छी तरह याद हैं। पेट भरा होने पर भी (अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन होने के कारण) भूख शेष ही रही थी। परन्तु मैं तो आपको एक ही ग्रास में तृप्त कर दूँगा (यहाँ का भोजन स्वादिष्ट नहीं अतः एक ही ग्रास में आपको उससे अरुचि हो जाएगी)। वैसे कभी-कभी रूखा-सूखा खान-पान भी अच्छा ही रहता है क्योंकि सदा मीठा ही मीठा तो किसी को भी अच्छा नहीं लगता। अखण्ड सौभाग्यवती ! तुम दीर्घायु हो और दोनों (पति और पिता के) कुलों के प्रेमामृत का पान करती रहो (दोनों स्थानों पर प्रेम और प्रशंसा प्राप्त करती रहो)।

'वाल्मीकि रामायण' के गुह ने इस अवसर पर राम से कहा :

तमार्तः सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत् ।
यथाऽयोध्या तथेयं ते राम किं करवाणि ते ॥
ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम् ।
ततो गुणवदन्नाद्यम् उपादाय पृथग्विधम् ॥

अर्घ्यं चोपानयत्क्षिप्रं वाक्यं चेदमुवाच ह ।
स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही ॥
वयं प्रेष्या भवान्भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः ।
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चेदमुपस्थितम् ॥
शयनानि च मुख्यानि वाजिनां खादनं च ते ।

(इस समय श्री रामचन्द्र जी को मुनि वेश धारण किये देख गुह बड़ा दुखी हुआ और श्री रामचन्द्र जी से मिल कर कहने लगा। "हे रामचन्द्रजी, अयोध्या की तरह यह राज्य भी आप ही का है सो आज्ञा दीजिए कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? हे महाबाहो, आप जैसे प्रिय अतिथि का आना साधारण बात नहीं है ।" यह कह कर अनेक प्रकार स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ और अर्घ्य की सामग्री तुरन्त लाकर गुह बोला, "हे महाबाहो, मैं आपका स्वागत करता हूँ । यह सारा राज्य आप ही का है । हम सब आपके टहलुए हैं । आप हम लोगों के प्रभु हैं । अब आप इस राज्य को लेकर शासन कीजिए । ये भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य पदार्थ उपस्थित हैं । सोने के लिए अच्छे-अच्छे पलंग और आपके घोड़ों के लिए दाना-घास भी ला कर रखा है ।")*

और रामचरितमानस' के गुहराज का निवेदन है :

नाथ कुसल पद पंकज देखें । भयउँ भागभाजन जन लेखें ॥
देव धरनि धनु धामु तुम्हारा । मैं जनु नीचु सहित परिवारा ॥
कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ । थापिय जनु सबु लोग सिहाऊ ॥

सिर गुह ने हँस उन्हें हँसा कर ··· ···· ··· ···· लावण्य यह ।

गुह ने हँस कर तथा राम को भी हँसा कर अपना सिर झुका दिया। प्रभु श्री रामचन्द्र जी ने तुरन्त उसे अपने हृदय से लगा लिया । इस वार गुह, सेवार (काई) से ढके कमल के समान, वल्कलधारी श्री राम को देख कर चौंक पड़ा और बोला, "अरे, ये वल्कल ! मैंने अब तक इस ओर ध्यान क्यों न दिया ? आश्चर्य की बात है कि मैं अब तक इन्हें न देख सका। कहिए, आज ये वल्कल क्यों पहने गये हैं ? राजोचित वस्त्राभूषण आज कहाँ छोड़ दिये गये ? क्या इस प्रकार मुनि-वेश धारण करके आप हरिणों को भुलाना चाहते हैं ? वे चंचल हरिण इस प्रकार भी सरलता से आपके पास नहीं आयेंगे। चाहे जिस वेश में भी रहे, यह रूप तो वास्तव में धन्य है। वस्त्राभूषण के भार से रहित इस प्राकृतिक सौन्दर्य की जय हो ।"

* वाल्मीकि रामायण, अयो०, सर्ग ५०, श्लोक ३६ से ४० ।

'साकेत' का गुहराज बल्कलधारी राम को देख कर सहसा चौंक जाता है। दूसरे ही क्षण एक नये विचार का उदय हो जाने के कारण उसकी भाव-धारा दिशा-परिवर्तन कर लेती है, कदाचित् हरिणों को भुलाने के लिए ही राम ने मुनियों का-सा वेष धारण किया है। 'साकेत' का कवि इस प्रकार राम के प्रति गुहराज की अपार श्रद्धा-भक्ति का प्रकाशन करने के साथ ही साथ उसके हृदय में राम-वनवास के मूल कारण के संबंध में कुछ देर कुतूहल भी बनाए रख सका है।

"वचनों से ही तृप्त हम ही गये सखे ··· ···· ··· ··· बहुजन गृही।"

श्रीराम ने गुहराज को उत्तर दिया, "हे मित्र, हम तुम्हारे वचनों से ही तृप्त हो गये हैं अतः अब तुम हमारे लिए और किसी प्रकार का कष्ट न करो। यदि हम आज वन का व्रत तोड़ सकते तो भाभी की भेंट कभी न छोड़ते परन्तु हम प्रेमपूर्वक तपस्वियों के विघ्न दूर करते हुए कुछ दिन आनंद सहित वन में ही रहेंगे। पुण्यसंग्रही भरत तब तक राज की देख भाल करेंगे। अधिक सदस्यों के परिवार वाला गृहस्थी सहज रूप से ही कृतकृत्य हो जाता है।"

'होता है कृतकृत्य सहज बहुजन गृही' में कवि ने सम्मिलित-परिवार-प्रथा की प्रशंसा की है।

"ऐसा है तो साथ चलेगा दास यह ··· ··· ··· ···· देखकर दृष्टि के!"

गुहराज ने कहा, "यदि यह बात है तो यह दास (मैं) भी आपके साथ चलेगा। वास्तव में यह वनवास अत्यन्त विनोदपूर्ण सिद्ध होगा। वन में सृष्टि के ऐसे-ऐसे चमत्कार हैं जिन्हें देख कर आश्चर्य के कारण पलक खुले-के-खुले रह जाते हैं।"

"सुविधा करके स्वयं भ्रमण-विश्राम की ··· ··· ··· ···· कल नाव से।"

राम ने गुहराज से कहा, "हमारे घूमने-फिरने तथा आराम की समस्त सुविधा का भार केवल अपने कंधों पर उठा कर तुम्हीं राम की सम्पूर्ण कृतज्ञता न ले लो। हे मित्र, उसमें औरों को भी भाग लेने दो। तुम तो हमें केवल नाव द्वारा कल गंगा पार पहुँचा दो।"

ध्रुवतारक था व्योम विलोक समाज को ···· ···· सुमन समान निषाद का।

उस समय वहाँ एकत्रित समाज को देख कर आकाश ध्रुव तारे की भाँति अविचल था। प्रभु श्री रामचन्द्र जी ने गुहराज को अत्यन्त गौरव तथा मान प्रदान किया परन्तु दुःख की वास्तविक बात (राम के वहाँ आने का वास्तविक कारण) सुन कर निषाद का मन फूल की भाँति मुरझा गया।

देवमूर्त्ति वे राज-मंदिरों के पले ... ... उमड़ कर बह चले।

देवमूर्ति के समान (वन्दनीय) तथा राज भवनों में पलने वाले ये श्री राम तथा जानकी जी आज वृक्ष के नीचे कुशा की शय्या पर पड़े हैं! हाय, फूलते हुए भाग्य का यह कैसा फल निकला! (राम को अभिषेक के बदले वनवास मिला) यह सोच कर उस भावुक गुहराज के आँसू उमड़-उमड़ कर बहने लगे।

'रामचरितमानस' में—

सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेम बस हृदयँ बिषादू॥
तनु पुलकित जलु लोचन बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई॥
भूपति भवन सुभायँ सुहावा। सुरपति सदनु न पटतर पावा॥
मनिमय रचित चारु चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे॥

सुचि सुबिचित्र सुभोगमय, सुमन सुगंध सुबास।
पलँग मँजु मनिदीप जहँ, सब बिधि सकल सुपास॥

बिबिध बसन उपधान तुराईं। छीर फेन मृदु बिसद सुहाईं॥
तँह सिय रामु सयन निसि करहीं। निज छबि रति मनोज मदु हरहीं॥
ते सिय रामु साथरीं सोए। श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोए॥
मातु पिता परिजन पुरबासी। सखा सुसील दास अरु दासी॥
जोगवहिं जिन्हहि प्रान की नाईं। महि सोवत तेइ राम गोसाईं॥
पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥
रामचंदु पति सो बैदेही। सोवत महि बिधि बाम न केही॥
*सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू॥**

"घुरक रही है साँय साँय कर ... ... राज्य से ही अरे!

गुहराज ने दुःख भरे स्वर में कहा, "रात भी साँय-साँय करके घुड़क रही है (धमका-सी रही है)। नदी की लहरों के पारस्परिक आघात भी मानों किसी लय में निमग्न हैं। इस समय भी लक्ष्मण निद्रा का अपना तुच्छ भाग भी छोड़कर जाग-जाग कर पहरा दे रहे हैं। हे हरे! यह न जाने किसका शाप है? दुर्नीति राज्य से ही चला करती है (शासन-सत्ता ही दुर्नीति को जन्म देती तथा उसका पालन करती है)।

खोकर ऐसा लाल लिया क्या ... ... किया क्या केकयी।

कैकेयी के कुकर्म की निन्दा करते हुए गुहराज ने कहा, "हे कैकेयी! राम-

---

* रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

लक्ष्मण जैसे पुत्रों को खोकर तूने क्या लिया (क्या पाया)? तुझे क्या करना था (करना चाहिए था) परन्तु तूने यह किया क्या?"

'रामचरितमानस' का गुहराज कैकेयी-कर्म की निन्दा इन शब्दों में करता है:

कैकयनंदिनि मंदमति, कठिन कुटिलपन कीन्ह।
जेहिं रघुनंदन जानकिहि, सुख अवसर दुखु दीन्ह॥
भइ दिनकर कुल बिटप कुठारी।
कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी॥

इस भव पर है ··· ··· ··· ··· आपको वार मैं।"

गुहराज बोला, "इस संसार पर तो सदा एक काला-सा चंदोवा तना रहता है। दुःख शोक, डर और विपत्ति इसके खंभे हैं। दुर्बोध गति वाले इस आकाश के नीचे (पृथ्वी पर) हम जब तक पड़े हैं तब तक छोटे-बड़े सभी सर्वथा विवश (भाग्य के अधीन) हैं। जब श्री रामचन्द्र जी भाग्य-वश साकेत छोड़कर बन की ओर जा रहे हैं तो उनके सामने शृङ्गवेरपुर का तो महत्त्व ही क्या है। मैं श्री राम को इस समय कौन-सा उपहार दूँ? (जब राम ने अयोध्या को ही त्याग दिया तो वह भला शृङ्गवेरपुर जैसी तुच्छ वस्तु को किस प्रकार स्वीकार करेंगे?) अतः मैं तो कल स्वयं अपने को ही उनके चरणों पर निछावर करके कृतार्थ हो जाऊँगा।"

बद्धमुष्टि रह गया वीर ···· ··· ··· ··· भक्ति का मुक्ति से।"

बेचैन-सा होकर वीर गुहराज मुट्ठी बाँध कर रह गया। तब लक्ष्मण ने कहा, "बन्धुवर! तुम शान्त हो जाओ। तुम जिन श्री राम के लिए इस प्रकार दुःख अथवा शोक कर रहे हो, उन्हें अपने लिए सब प्रकार से सुख-सन्तोष है। तुम उचित नीति का पालन करते हुए शृङ्गवेरपुर पर राज करो। आर्य तो तुम्हारे प्रेम से ही सन्तुष्ट हैं (उन्हें तुम्हारा राज्य नहीं चाहिए)। उन्हें तो इस समय धर्म-पालन का जो नवीन धन प्राप्त हुआ है उसके सामने स्वयं कोसल का राज भी निछावर है फिर शृङ्गवेरपुर का तो कहना ही क्या? समय बीता जा रहा है और काल (विनाश अथवा अन्त) समीप चला आ है। वास्तव में संसार में कुछ उलटा-सा भाव छाया हुआ है। फूल कीड़ों से भरे हैं और पृथ्वी पर काँटे बिछे हैं। जो इस संसार में रह कर भी इन सब से बच कर जीवन-यात्रा कर सके, वास्तव में विजय तो उसी की है। यदि हम कर्म के लिए ही कर्म कर सकें (निष्काम भाव से कार्य कर सकें) तो उनके फल हमें पराभूत कैसे कर सकते हैं। हे बन्धु! जो काम करने वाला अथवा

'कर्त्ता' है, वही उसका फल भोगने वाला भी है (यदि हम अपने को कर्त्ता मानेंगे तो दुःख-सुख भोगने का भार भी हम पर ही होगा परन्तु यदि हम परमात्मा को समस्त कार्यों का कर्त्ता मान लेंगे तो हमें दुःख-सुख से भी छुटकारा मिल जाएगा)। संसार के दुःख-सुख के बन्धनों से मुक्ति पाने का यही एक मात्र उपाय है। मेरे लिए दुःखी होना व्यर्थ है। मैं तो वास्तव में धन्य हूँ। मैं सो नहीं रहा हूँ क्योंकि मैं तो निरन्तर जागृत अथवा चैतन्य अवस्था में हूँ। मैं तो यह संसार-सागर बहुत पहले ही पार कर चुका हूँ और राम के चरणों पर अपना सर्वस्व समर्पित कर चुका हूँ। जीव और परमात्मा के बीच जो माया खड़ी है, वह अत्यन्त दुरत्यया (जिसे पार करना कठिन हो) और बलवती है। प्रयत्न तथा युक्तिपूर्वक उसे अपने अधीन करो और मनाओ। हे मित्र! इस प्रकार भक्ति और मुक्ति का समन्वय (मिलन) कर लो।"

'अध्यात्म रामायण' के लक्ष्मण यह समझाकर गुहराज को शान्त करते हैं: "भाई, मेरी बात सुनो, किसी के दुःख अथवा सुख का कारण दूसरा कौन है अर्थात् कोई भी नहीं है। मनुष्य का पूर्वकृत कर्म ही उसके सुख अथवा दुःख का कारण होता है। सुख और दुःख का देने वाला कोई और नहीं है। 'कोई अन्य सुख-दुःख देता है', यह समझना कुबुद्धि है। "मैं करता हूँ," यह वृथा अभिमान है, क्योंकि लोग अपने अपने कर्मों की डोरी में बँधे हुए हैं। यह मनुष्य स्वयं ही पृथक्-पृथक् आचरण करके उसके अनुसार सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, द्वेष्य, मध्यस्थ और बन्धु आदि की कल्पना कर लेता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि प्रारब्धानुसार सुख या दुःख जो कुछ भी जैसे-जैसे प्राप्त हो, उसे वैसे ही भोगते हुए सदा प्रसन्नचित्त रहे। हमें न तो भोगों की प्राप्ति की इच्छा है और न उन्हें त्यागने की। भोग आएँ या न आएँ, हम भोगों के अधीन नहीं हैं। जिस देश अथवा जिस काल में जिस किसी के द्वारा शुभ अथवा अशुभ कर्म किया जाता है, उसे निस्सन्देह उसी प्रकार भोगना पड़ता है। अतः शुभ अथवा अशुभ कर्म-फल के उदय होने पर हर्ष अथवा दुःख मानना व्यर्थ है क्योंकि विधाता की गति का देवता अथवा दैत्य कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। मनुष्य सदा ही दुःख और सुख से घिरा रहता है क्योंकि मनुष्य-शरीर पाप और पुण्य के मेल से उत्पन्न होने के कारण सुख-दुःख-मय ही है। सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख आता है। ये दोनों ही दिन और रात्रि के समान जीवों से अनुल्लंघनीय हैं। सुख के भीतर दुःख और दुःख के भीतर सुख सर्वदा वर्त्तमान रहता है। ये दोनों ही जल और कीचड़ के

समान आपस में मिले हुए रहते हैं। इसलिए विद्वान् लोग सब कुछ माया ही है, इस भावना के कारण इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति में धैर्य रखकर हर्ष या शोक नहीं मानते।"※

'रामचरितमानस' में भी—

बोले लखन मधुर मृदु बानी। ग्यान बिराग भगति रस सानी॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जँह लगि जग जालू। संपति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जंह लगि व्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माँही। मोह मूल परमारथु नाहीं॥

सपने होइ भिखारि नृपु, रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु, तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥

अस बिचारि नहिं कीजिअ रोसू। काहुहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु, सुनत मिटहिं जग जाल॥

सखा समुझि अस परिहरि मोहू।
सिय रघुबीर चरन रत होहू॥†

निकल गई चुपचाप निशा-अभिसारिका ··· ··· ···· न कुछ आशा बची।

रात्रि रूपी अभिसारिका (गुप्त रूप से प्रियतम से मिलने के लिए संकेत-स्थल पर जाने वाली नायिका) चुपचाप निकल गयी। प्रातःकाल होने पर द्विजों ने ज्ञानदायिनी मधुर कारिकाओं (सूत्रों की श्लोक-बद्ध व्याख्याओं) का

※ अध्यात्म रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ६, श्लोक ४—१५।
† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

पाठ आरम्भ किया। प्रातःकाल की शोभा देख कर सबने प्रसन्न मन से स्नान किया। उस समय रुपहली गंगा प्रभातकालीन सूर्य के प्रकाश के कारण सुनहरी-सी जान पड़ रही थी। बरगद का दूध लेकर श्री राम ने जटा बनायी। अब सुमन्त्र के लिए (राम के अयोध्या लौटने की) कोई आशा शेष न रही।

'वाल्मीकि रामायण' में—

लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः।
दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारयत्॥
तौ तदा चीरवसनौ जटामंडलधारिणौ।
अशोभेतामृषिसमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥

(श्री रामचन्द्र जी ने बरगद के दूध से अपनी और लक्ष्मण की जटा बनायी। महाबाहु और पुरुष-सिंह श्री रामचन्द्र और लक्ष्मण जटा रख तपस्वी बन गये। उस समय वे दोनों भाई चीरवसन और जटा बाँधे ऋषियों की तरह शोभित हुए।)✽

'रामचरितमानस' में भी—

सकल सोच करि राम नहावा। सुचि सुजान बट छीर मँगावा॥
अनुज सहित सिर जटा बनाए। देखि सुमंत्र नयन जल छाए॥

"स्वयं क्षात्र ने लिया आज वैराग्य ··· ··· ··· ··· हमारा भाग्य क्या?"

सुमन्त्र ने कहा, "आज स्वयं क्षत्रियत्व ने वैराग्य ले लिया है। क्या हमारा भाग्य पूर्ण रूप से शान्त (नष्ट) हो गया है?"

वर्ण-व्यवस्था भारतीय-समाज-विधान का एक मुख्य अंग है। सुमन्त्र यहाँ उसी की ओर संकेत कर रहे हैं। 'क्षत्रिय' ने 'ब्राह्मण' का कर्तव्य अपना लिया है। इस अस्वाभाविक स्थिति के कारण ही इसे भाग्य शान्त होना माना गया है।

प्रभु ने उन्हें प्रबोध दिया ··· ··· ···· ···· हँसी मात्र है तरु-तले।

श्रीराम ने प्रेमपूर्वक सुमन्त्र को समझाया और कहा, "कोई भी व्रत स्वीकार कर लेने पर उसे उचित रीति से निभाना भी चाहिए (हमने वनवास का व्रत लिया है अतः हमें वनवासियों की ही भाँति रहना उचित है)। जटा-जूट पर छत्र की छाया भले ही रहे (मुनि-वृन्द राजा की छत्र-छाया में निर्विघ्न होकर तपस्या आदि कर सकें) परन्तु वृक्ष के नीचे रहने वाले वनवासियों

✽ वाल्मीकि रामायण, अयो०, सर्ग ५२, श्लोक ६६, ७०।

द्वारा मुकुट पहना जाना तो मुकुट की हँसी-मात्र है (अनुचित और अस्वाभाविक अतः हास्यास्पद है)।

सौम्य, कहाँ क्या काम भला ··· ··· ··· ···· युग, कल्प हैं।"

"हे सौम्य! इसमें भला दुर्भाग्य की क्या बात है? सत्य तो यह है कि यह तुम्हारे राम का सौभाग्य ही है अतः तुम जाकर पिता को मेरा कुशल समाचार दो और जिस प्रकार भी हो, जाकर सबको धैर्य बँधाओ। तुम मूल (जड़) के समान अयोध्या में रहो, हम फूल की तरह वन में खिलेंगे। अवधि समाप्त हो जाने पर हम वहाँ आकर तुम सबसे मिलेंगे। अवधि का समय अधिक नहीं है, यह तो बहुत थोड़ा ही है। समय के अनन्त प्रवाह में तो युग और कल्प भी बूँद के समान हैं (फिर चौदह वर्ष का समय तो बहुत ही कम है)।

गोस्वामीजी के राम ने भी सुमन्त्र से कहा था :

तात कृपा करि कीजिअ सोई।
जातें अवध अनाथ न होई॥

समयोचित सन्देश उन्हें प्रभु ने दिये ··· ··· ··· ··· प्रबोध-निरोध में।

श्रीराम ने सुमन्त्र को महाराज दशरथ आदि के लिए समयोचित संदेश दिये और राम, सीता तथा लक्ष्मण ने भी सब सम्बन्धियों के प्रति आदर और प्रेम के भाव अभिव्यक्त किये। विनयशील सुमन्त्र विरोध में कुछ न कह सके परन्तु समझाये जाने तथा हृदय-स्थित भावों का दमन करने के फलस्वरूप करुणा का वेग और भी अधिक बढ़ गया।

देख सुमन्त्र विषाद हुए सब अनमने ··· ··· ···· ··· वाचक बना।

सुमन्त्र को दुखी देख कर सब अनमने-से हो गये। सुमन्त्र को विदा करके राम, सीता और लक्ष्मण उसी समय गंगा के किनारे पहुँचे। उन तीनों को नाव में देखकर लक्षणा और व्यञ्जना (शब्द-शक्तियाँ) बैठी रह गयीं और 'गंगा में गृह' वाक्य सहज वाचक बन गया (अक्षरशः सत्य सिद्ध हो गया)।

काव्याचार्यों ने शब्द तीन प्रकार के माने हैं, 'वाचक', 'लक्षक' या 'लाक्षणिक' और 'व्यंजक'। इन तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ भी क्रमशः 'वाच्यार्थ', 'लक्ष्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' कहलाते हैं। ये अर्थ जिन शब्द-शक्तियों की सहायता से जाने जाते हैं, उन्हें क्रमशः 'अभिधा', 'लक्षणा' तथा 'व्यंजना' कहते हैं। साक्षात् संकेत किए हुए अर्थ को बताने वाले शब्द को 'वाचक' कहते हैं अतः

साक्षात् सांकेतिक अर्थ अथवा मुख्यार्थ का बोध कराने वाली मुख्य क्रिया 'अभिधा' कहलाती है। मुख्य अर्थ का बाध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ, लक्ष्यार्थ, लक्षित हो उसे 'लक्षणा' कहते हैं और अपने-अपने अर्थ का बोध कराके अभिधा और लक्षणा के विरत हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, उसे 'व्यंजना' कहते हैं।

'गंगा में गृह'—इस वाक्यांश का वाच्यार्थ है 'गंगा की लहरों में बना हुआ घर' परन्तु गंगा की लहरों में तो घर बनाया नहीं जा सकता। अतः इस वाक्यांश का अर्थ निकालने के लिए लक्षणा तथा व्यंजना शब्द-शक्तियों की सहायता ली जाती है। उस दशा में इस वाक्यांश का अर्थ 'गंगा तट पर बना घर' अथवा 'गंगा की शीतलता अथवा पवित्रता से युक्त घर' आदि किया जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में राम ने गंगा (नौका) में ही घर बना लिया है। अतएव राम को सीता, लक्ष्मण सहित इस प्रकार नाव में ही घर बनाए देखकर लक्षणा तथा व्यंजना शब्द-शक्तियाँ एक ओर को हट गयीं (यह सोचकर कि अब मुख्य अर्थ का बाध न होने के कारण उनकी कोई आवश्यकता न होगी) और 'गंगा में घर' सहज 'वाचक' बन गया (अक्षरशः सत्य हो गया)।

बढ़ी पदों की ओर तरंगित सुरसरी ···· ···· ···· ··· झूमती थी तरी।

हिलोरें भरती हुई गंगा श्रीराम के चरणों की ओर बढ़ने लगी। वह नौका भी (जिसमें लक्ष्मण और सीता सहित राम बैठे थे) उल्लास में भर कर तथा मस्त-सी होकर झूम रही थी।

धो ली गुह ने धूलि ··· ···· ···· ··· वह हो गया!

गुह ने अहल्या का उद्धार करने वाली और कवि की मानस-सम्पदा रूपी ऐश्वर्य में विहार करने वाली श्रीराम की चरण-धूलि धो ली। इस प्रकार प्रभु के चरण धोकर भक्त मानों स्वयं भी धुल गया (पावन हो गया) और चरणामृत पान करके वह अमर हो गया।

धूलि अहल्या-तारिणी : गौतम ऋषि के शाप से उनकी पत्नी अहल्या शिला बन गयी थी। श्री राम ने अपने चरणों से छूकर उसका उद्धार किया।

गोस्वामी जी के शब्दों में :

केवट राम रजायसु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा॥
अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥

बरषि सुमन सुर सकल सिराहीं। एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं॥
पद पखारि जलु पान करि, आपु सहित परिवार।
*पितर पारु करि प्रभुहि पुनि, मुदित गयउ लेइ पार॥**

और 'प्रदक्षिणा' में :

नाविक गुह ने धो लेने को
जैसे ही प्रभु चरण छुआ,
विमल हुआ वह तुलसीदल सा
कल गंगाजल अमृत हुआ!†

हींस रहे थे उधर अश्व उद्ग्रीव हो ···· ··· ··· ···· मुँह फेरकर।

दूसरी ओर घोड़े गरदन उठा-उठा कर हिनहिना रहे थे। मानों (राम के वियोग की कल्पना करके) उनके प्राण ही उड़े जा रहे हों। प्रभु श्रीराम ने उधर देख कर अपने हाथ से घोड़ों को थपथपाया। यह देख कर गुह ने मुँह दूसरी ओर करके (छिपाकर) अपने आँसू पोंछ लिये।

'रामचरितमानस' में भी :

रथु हाँकेउ हय राम तन हेरि हेरि हिनिहाहिं।

कोमल है बस प्रेम, कठिन कर्तव्य है ··· ··· ···· ··· भव्य है?

प्रेम तो कोमल ही है परन्तु कर्त्तव्य-पालन कठिन है। यह निश्चय करना सरल नहीं कि इन दोनों में से किसमें दिव्यता अधिक है और किसमें भव्यता (महानता)।

"जय गंगे आनन्द तरंगे ··· ··· ···· ··· अलक-पलक थी चूमती।

गंगा की स्तुति करते हुए सीता जी ने कहा, "हे आनन्दतरंगिणी, मधुर शब्द, निर्मल अञ्चल तथा पवित्र जल धारण करने वाली तथा देव-लोक में ही सम्भव गंगे! तुम्हारी जय हो। यह भारत-भूमि सदा तुमसे सरस (उर्वरा) बनी रहे। तुम हमारी एकमात्र चल-अचल सम्पदा हो। तुम्हारे दर्शन तथा तुम्हारे पवित्र जल के स्पर्श के रूप में अपने सब पुण्य कार्यों का फल जब मुझे पहले ही प्राप्त हो गया तो आज मैं तुमसे और क्या याचना करूँ? केवल यही चाहती हूँ कि वनवास की यह अवधि भली प्रकार पूरी कर सकूँ और लौट कर उचित ढंग से पूजा-सामग्री भेंट कर सकूँ।"

* रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

† श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रदक्षिणा, पृष्ठ २७।

जाह्नवी (गंगा) प्रसन्नता के कारण प्रकाशमान हो रही थीं, उनकी गोद में किरण-मूर्तियाँ (सूर्य की किरणों के प्रकाश तथा छाया से गंगा-जल पर झलकने वाली अनेक आकृतियाँ) खेल रही थीं। वैदेही गंगा की प्रत्येक झलक पर प्रसन्न हो-हो कर झूम रही थीं तथा शीतल, मन्द, सुगन्धित हवा उनकी अलकों तथा पलकों को चूम रही थी।

हम सब की तुम एक चलाचल सम्पदा : "भारत में जो कुछ महान् और सुन्दर है, वह हमारे गौरव का प्रतीक बन गया है। हमारी गङ्गा, यमुना, सरयू, विन्ध्य, हिमालय जड़ नदी, पर्वत नहीं हैं, वे भारतीय जीवन के प्रेरक हैं, उनमें हमारा जीवन घुल-मिल गया है; उनका महत्त्व भौतिक नहीं; धार्मिक है।"

दरस परस की सुकृत सिद्धि : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'गंगा-वर्णन' में लिखा है :

दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर नसावत।

महर्षि वाल्मीकि की सीता ने इस अवसर पर गङ्गा की स्तुति इस प्रकार की है :

"हे गंगे! बुद्धिमान् राजाधिराज दशरथ जी के यह पुत्र, श्री रामचन्द्र जी, आपसे रक्षित हों, अपने पिता की आज्ञा का पालन करें। यदि ये पूरे चौदह वर्ष वनवास करके अपने भाई लक्ष्मण और मेरे साथ लौट आएँगे तो हे देवी, हे सुभगे! मैं सकुशल लौट कर आपकी पूजा करूँगी। हे गंगे, आप सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली हैं। हे त्रिपथगे! आप तो ब्रह्मलोक तक में व्याप्त हैं। आप सागर-राज की भार्या के रूप में इस लोक में भी देख पड़ती हैं अतः हे शोभने! मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ और स्तुति करती हूँ। जब श्री रामचन्द्र सकुशल वन से लौट आएँगे और इन्हें राज्य मिल जाएगा तब तुम्हारी प्रसन्नता के लिए एक लक्ष गौ, सुन्दर वस्त्र और अन्न मैं ब्राह्मणों को दान करूँगी।"*

और 'रामचरितमानस' में—

सियँ सुरसरिहि कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी॥
पति देवर संग कुसल बहोरी। आइ करौं जेहिं पूजा तोरी॥

बोले तब प्रभु, परम पुण्य पथ के पथी .... पार ही आगया!

तब परम पुण्य-पथ के पथिक श्रीराम ने कहा, "प्रिये! भागीरथी अपने

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ५२, श्लोक ८३—८८।

कुल की ही तो कीर्ति है (हमारे ही पूर्वज महाराज भगीरथ के प्रयत्न तथा उनकी तपस्या का फल है)।"

यह सुन कर विनोद के भाव से सीता ने हँस कर लक्ष्मण से कहा, "क्यों देवर ! तुम्हीं आज उसे (अपने कुल की कीर्ति को) पार कर रहे हो न (उसका अतिक्रमण कर रहे हो) ?"

लक्ष्मण ने उत्तर दिया, "देवी ! यह दास तो अनुगामी-मात्र है (केवल भाई तथा भाभी के पीछे-पीछे चल रहा है)।"

गुह बोला, "इस प्रकार तो यह वनवास अत्यन्त मधुर हास-परिहास (का कारण) बन गया है।"

(हास-परिहास में लीन होने के कारण यह भी पता न चला कि कब वे गंगा के पार पहुँच गये। यह निर्णय करना कठिन था कि) नाव चल कर तट पर पहुँची अथवा तट ही चल कर नाव तक आ गया। इसी कारण यहाँ हर्ष और कुतूहल का एक साथ ही उदय हुआ (तट पर पहुँच जाने का हर्ष था और इतनी जल्दी वहाँ तक पहुँच जाने के कारण कुतूहल)।

आधार-ग्रन्थों में वनवास की लम्बी अवधि में श्री राम, सीता और लक्ष्मण के बीच हास परिहास का प्रायः अभाव ही है। 'साकेत' के कवि ने इस नीरव गम्भीरता को स्थान-स्थान पर अत्यन्त स्निग्ध तथा सुरुचिपूर्ण हास-परिहास से सरस तथा मधुर बनाया है। प्रस्तुत उद्धरण इसका एक उदाहरण है।

"मिलन-स्मृति-सी रहे यहाँ यह .... भला भावे किसे ?"

"यह साधारण-सी वस्तु हमारे मिलन की स्मृति सदा बनाए रखे"— यह कह कर सीता अपनी स्वर्ण-मणि-मुद्रिका गुह को देने लगीं। तब गुह ने हाथ जोड़ कर कहा, "यह कैसा अनुग्रह है ? हे देवी ! इस दास पर यह कृपा न कीजिए। मेरा अपराध क्षमा हो, मुझे आप इस प्रकार त्याग देने (हिसाब चुकता कर देने) का प्रयत्न न कीजिए।" फिर गुह ने राम को सम्बोधित करके कहा, "हे राम ! मुझे स्वर्ण नहीं चाहिए, मुझे तो आपके चरणों की धूलि चाहिए। जिस चरण-धूलि को पाकर जड़ शिला भी चेतन मूर्ति (अहल्या) बन गयी, उसे छोड़ कर पत्थर जैसी स्वर्ण-मुद्रिका किसे भा सकती है ?"

"इस उद्धरण में सौजन्य का बड़ा सुन्दर और सूक्ष्म चित्र है। गुह बात तो कर रहा है सीता से परन्तु चरण-रज माँगता है राम से। आस्तिक भक्त इसका कारण राम की अहिल्यातारिणी चरण-रज की उपादेयता ही बतलाएँगे किन्तु बात इतनी ही नहीं है। दूसरे की स्त्री की चरण-रज माँगना भी शील के विरुद्ध है। उस में, चाहे चरणों का ही सही, स्पर्श का भाव विद्यमान है इसलिए सीता से बात करता हुआ भी गुह चरण-रज माँगने के समय राम को सम्बोधित कर निकलता है। "हे राम!" न कहने पर शील भंग हो जाता।"*

'रामचरितमानस' में :

पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥
नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें। दीनदयाल अनुग्रह तोरें॥
फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा॥

उसे हृदय से लगा लिया श्री राम ने ··· ··· ···· धी-धाम ने।

श्री राम ने प्रेमपूर्वक गुहराज को हृदय से लगा लिया और ज्यों-त्यों करके (अत्यन्त कठिनता से) बुद्धिमान् राम ने उसे विदा किया।

पथ में सबके प्रीति-हर्ष-विस्मय ···· ···· ···· ·· तीनों जने।

मार्ग में सबके लिए प्रीति, आनन्द और विस्मय का कारण बनते हुए तीनों जनें राम, सीता तथा लक्ष्मण, तीर्थराज प्रयाग की ओर चले।

'प्रीति-हर्ष-विस्मय' में 'हर्ष' तथा 'विस्मय' पुल्लिंग तथा 'प्रीति' स्त्रीलिंग शब्द है। यहाँ "तीनों जने" में भी तो दो पुरुष और एक स्त्री है।

कहीं खड़े थे खेत, ··· ··· ···· ···· घूमते थे कहीं।

मार्ग में कहीं खेत खड़े थे, कहीं प्रान्तर थे। छोटे-बड़े गाँव दूर-दूर तक फैले शून्य सिन्धु के द्वीपों जैसे जान पड़ रहे थे। कहीं मार्ग के चौकीदार वृक्ष (थकान अथवा निद्रा के कारण) झूम (ऊँघ) रहे थे और कहीं पक्षी तथा हरिण चरते हुए घूम रहे थे।

छोटी-मोटी कहीं कहीं थीं ··· ··· ··· ···· लीक ज्यों।

कहीं छोटी-मोटी झाड़ियाँ खड़ी थीं मानों इस प्रकार स्वयं प्रकृति ने

* डा० नगेन्द्र, साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ११२।

खरगोशों आदि के लिए निवास-स्थान बना दिये थे। रास्ते से होकर पगडंडियाँ इसी प्रकार जा रही थीं जैसे शास्त्र-सम्मत पथ छोड़ कर केवल लीक पीटना शेष रह जाए।

टीले दीखे कहीं और भरके कहीं ... . सत्वर उन्हें।

उन्हें कहीं टीले दिखाई दिये और कहीं भरके (दूर-दूर तक फैले हुए गड्ढे)। इस प्रकार उन्होंने कहीं बावड़ी, कुआँ और तालाबों के दृश्य देखे। रास्ते के किनारों पर उन्हें स्थान-स्थान पर यात्रियों के ठहरने के स्थान दिखाई दिये और इस प्रकार कौतूहल ने उन्हें तुरन्त हरा कर दिया।

'साकेत' की सीता ने भी अन्यत्र कहा है :

वन तो मेरे लिए कुतूहल हो गया,
कौन यहाँ पर विपुल बीज ये बो गया!❀

चरणों पर कण और मुखों पर ... ... इन्दु थे।

(नंगे पैर धूल भरी धरती पर चलने के कारण उनके) चरणों पर धूल के कण इकट्ठे हो गये थे और (परिश्रम के कारण) उनके मुख पर श्रम-बिन्दु झलक रहे थे अथवा कमल (चरण) धूलि (पराग) से युक्त थे और चन्द्र(मुख) जल (अमृत) से युक्त।

चरणों की तुलना प्रायः कमल से तथा मुख की तुलना चन्द्र से की जाती है। यहाँ राम, सीता तथा लक्ष्मण के चरणों पर धूल चढ़ी हुई है और मुख पर पसीना झलक रहा है। 'रज' तथा 'अमृत' श्लिष्ट शब्द हैं। रज का अर्थ 'पुष्प-पराग' भी है और 'धूल' भी। अमृत का अर्थ 'सुधा' भी है और 'जल' भी। अस्तु, यहाँ पैरों पर लगी धूल मानों कमल पर पड़ा पराग है और मुख पर झलकने वाला जल मानों चन्द्रमा में निहित अमृत।

देख घटा-सी पड़ी एक छाया घनी ... . द्रवित-सी हो पड़ी।

घटा जैसी एक दीर्घ और घनी छाया देखकर कोसलधनी श्रीराम वहाँ कुछ समय के लिए ठहर गये। "क्या अकेली मैं ही थक गयी हूँ, तुम दोनों नहीं थके?" सीता केवल इतना ही कह सकीं। इस प्रकार हँसते-हँसते सती (सीता) अचानक रो पड़ीं मानों तपी हुई स्वर्ण-मूर्ति सहसा द्रवित हो गयी हो।

यहाँ सती (सीता) उपमेय है और हेम की मूर्ति उपमान। स्वर्ण शुद्धता का आदर्श माना जाता है अतः सती के चरित्र की पवित्रता 'हेम मूर्ति' में पूर्णतः प्रकट हो सकी है। सोना गरमी पाकर पिघल जाता है। सीता के नेत्रों से आँसू बरसने लगे हैं।

गोस्वामी जी के शब्दों में :

पुर तें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनीं जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै॥
फिरि बूझति हैं, चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौं कित ह्वै।
*तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियां अति चारु चलीं जल च्वै॥**

"मुझको अपने लिए नहीं कुछ सोच है ··· ···· ···· तनिक धीरज धरो।"

सीता ने कहा, "मुझे अपने लिए कुछ चिन्ता नहीं परन्तु यह संकोच अवश्य है कि तुम्हें किसी प्रकार की असुविधा (मेरे कारण) न हो।"

राम ने उत्तर दिया, "प्रिये! तुम हमारे लिए किसी प्रकार की चिन्ता न करो। अभी नया अभ्यास है अतः तनिक धैर्य धारण करो।"

जुड़ आई थीं वहाँ नारियाँ ···· ··· ··· ···· हँस रह गईं।

(राम, लक्ष्मण तथा सीता को वहाँ आया देख कर) समीप के गाँवों की स्त्रियाँ वहाँ एकत्रित हो गयी थीं। वे उनके विश्राम में सहायक ही सिद्ध हुईं (उनके कारण उन तीनों को प्रसन्नतापूर्वक वहाँ कुछ समय ठहरना पड़ा)। सीता ने उनसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक भेंट की (यहाँ ऊँच-नीच के लिए कोई स्थान नहीं)। उस समय सीता उन ग्राम-वासिनियों के बीच इसी प्रकार शोभायमान हो रही थीं, जैसे लताओं के बीच में पुष्प-कलिका। एक स्त्री ने सीता से पूछा, "शुभे! ये दोनों महानुभाव तुम्हारे कौन हैं?"

"गोरे मेरे देवर हैं और तनिक श्याम वर्ण वाले उनके बड़े भाई हैं," वैदेही ने यह कह कर अत्यन्त सरल भाव से यह उत्तर तो दे दिया परन्तु फिर भी एक तरल हँसी उनके मुख-मण्डल पर खेल ही गयी।

'कवितावली' में भी ग्रामवधू सीता से यही प्रश्न करती हैं और सीता उन्हें इशारे से ही सब कुछ समझा देती हैं :

सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी सी भौहैं।
तून सरासन बान धरें तुलसी बन मारग में सुठि सोहैं॥

* गोस्वामी तुलसीदास, कवितावली।

सादर बारहिं बार सुभायं चितै तुम्ह त्यों हमरो मनु मोहैं।
पूँछति ग्रामबधू सिय सों, कहो, साँवरे से, सखि रावरे को हैं॥
सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकीं जानी भली।
तिरछे करि नैन, दै सैन, तिन्हैं समुझाइ कछू मुसुकाइ चली॥
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचनलाहु अली।
अनुराग तड़ाग में भानु उदै बिगसीं मनो मंजुल कंजकलीं॥

और 'रामचरितमानस' में :

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूँछत अति सनेह सकुचाहीं॥
राजकुँअर दोउ सहज सलोने। इन्ह ते लही दुति मरकत सोने॥

स्यामल गौर किसोर बर, सुंदर सुषमा ऐन।
सरद सर्बरीनाथ मुखु, सरद सरोरुह नैन॥

कोटि मनोज लजावनहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसकानी॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ संकोच सकुचति बरबरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियं सयननि॥
भईं मुदित सब ग्रामबधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं॥

यों स्वच्छन्द विराम लाभ करते हुए ··· ···· ···· मुनि पा गये।

इस प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक विश्राम करते हुए तथा मार्ग में मिलने वाले स्त्री-पुरुषों में अत्यधिक भावों का संचार करते हुए दूसरे दिन वे तीनों तीर्थराज प्रयाग आ पहुँचे। उनके पहुँचने से भरद्वाज मुनि ने द्विगुणित पर्व-सा पा लिया (भरद्वाज मुनि के आश्रम में द्विगुणित पर्व-सा मनाया जाने लगा)।

'रामचरितमानस' में :

तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए। करत दंडवत मुनि उर लाए॥
मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानन्द रासि जनु पाई॥

स्वयं त्रिवेणी धन्य हुई उन तीन से ···· ··· ···· ··· यह पड़ा!"

राम, लक्ष्मण तथा सीता को वहाँ पाकर स्वयं त्रिवेणी भी धन्य हो

गयी। अमृत में लीन होकर सौमित्रि कह उठे, "भाभी! तनिक तीर्थराज की शोभा तो देखो, ऐसा जान पड़ रहा है मानो शरत् कालीन घटा और वर्षा का सम्मिलन हो गया हो।"

सीता ने हँस कर स्नेहपूर्वक कहा, "ठीक उसी प्रकार जैसे—साँवले तथा गोरे रंग के तुम दोनों भाई दो शरीर होकर भी एक प्राण हो।"

विनोद के प्रत्युत्तर में लक्ष्मण ने कहा, "क्यों नहीं भाभी! तुम भी तो यहाँ सरस्वती की भाँति प्रकट हो रही हो।"

इस पर सीता कुछ गम्भीर हो गयीं। उन्होंने कहा, "देवर! मेरी सरस्वती अब कहाँ है? वह तो संगम की शोभा देखकर यहाँ विलीन हो गयी है। धूप-छाँहमय उसका यह बड़ा वस्त्र ही मन्द पवन से लहरा रहा है।"

तीर्थराज की छटा देख कर लक्ष्मण मुग्ध हो जाते हैं। इस अलौकिक आनन्द में सीता भी भाग लें, इस उद्देश्य से लक्ष्मण भाभी का ध्यान उस ओर आकृष्ट करते हैं परन्तु सीता के सम्मुख तो इस समय राम-लक्ष्मण का ही चित्र हैं। उन्हें तो यमुना और गंगा के संगम में भी, दो शरीर एक प्राण, राम-लक्ष्मण ही दृष्टिगोचर होते हैं। (वर्ण-साम्य के कारण राम तथा लक्ष्मण को यमुना तथा गंगा के समान माना गया है।) इस पर लक्ष्मण सीता की तुलना सरस्वती से करके त्रिवेणी का साम्य पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु 'त्रिवेणी' में सरस्वती तो प्रकट न होकर विलुप्त ही हैं। अस्तु सीता के शब्दों में, उनकी सरस्वती भी

संगम-शोभा देख कर निमग्न हुई यहाँ।

(राम, लक्ष्मण तथा सीता की) इस 'त्रिवेणी' में सरस्वती—सीता के स्वतन्त्र व्यक्तित्व (अथवा वाणी) का स्पष्टतः कोई अलग अस्तित्व नहीं। वह तो उसी सङ्गम में 'निमग्न' हैं।

प्रभु बोले, "यह गीत-काव्य-चित्रावली! ···· ···· ···· एक की भी अहो!

प्रभु श्रीराम ने कहा, "इस प्रकार तुम अत्यन्त भावपूर्ण गीत-काव्य-चित्रावली प्रस्तुत कर रहे हो। हे लक्ष्मण! तुम माई के लाल हो और ये (सीता) जनक की लली हैं। आत्माभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला है और फिर यहाँ तो अनुभूति स्वयं ही अविचल होकर ठहर-सी गयी है। तुम दोनों कलाकार जीते रहो। मेरे लिए तो तुम में से किसी एक की भी प्रशंसा करना कठिन है।

सीता और लक्ष्मण का वार्तालाप अत्यन्त काव्य-मय तथा भावपूर्ण है। इसीलिए आत्मानुभूति से ओतप्रोत, कलापूर्ण रीति से अभिव्यक्त इन भावनाओं को

'गीत-काव्य-चित्रावली' कहा गया है। उसमें गीत, काव्य तथा चित्र तीनों की विशेषताएँ—मधुरता, रमणीयता तथा सजीवता उपस्थित हैं।

राम ने लक्ष्मण को 'माई का लाल' और सीता को 'जनक की लली' कहा है। 'माई का लाल' तथा 'जनक' श्लिष्ट शब्द हैं। अपने सामान्य अर्थ 'माता का लाल' के अतिरिक्त माई का लाल' 'उदार चित्त पुरुष' अथवा 'शूरवीर' का भी द्योतक है। इसी प्रकार 'जनक' शब्द सामान्य रूप से 'पिता' अर्थ के अतिरिक्त 'सीता के पिता के नाम' का भी बोध कराता है। भाव यह है कि तुम दोनों में से कोई भी दूसरे से कम नहीं। दोनों की ही योग्यता अनुपम है।

प्रथम सर्ग में ऊर्मिला की 'मञ्जरी-सी अंगुलियों में यह कला' देखकर लक्ष्मण भाव विभोर होकर कह उठे थे :

क्यों न अब मैं मत्त गज-सा झूम लूँ ?
कर-कमल लाओ तुम्हारा चूम लूँ।

परन्तु सीता और लक्ष्मण के कलापूर्ण वार्तालाप, 'गीत-काव्य-चित्रावली' पर रीझ कर भी राम मत्त गज बन कर नहीं झूमते। वातावरण की समानता होने पर भी राम में इस समय संयम अथवा गम्भीरता का अभाव नहीं होता। मर्यादा की रक्षा हमारे कवि ने सदा सतर्कता के साथ की है। राम में मत्त गज बनने की आकुलता नहीं, क्योंकि यह केवल पति तथा पत्नी के बीच की बात नहीं है। यहाँ छोटा भाई भी उपस्थित है। अतः मर्यादापुरुषोत्तम राम तो अपने दोनों कलाकारों पर समान रूप से मुग्ध होते हैं :

तुम ये दो दो कलाकार जीते रहो,
मुझे प्रशंसा कठिन एक की भी अहो!

सुनो मिलन ही ···· ··· ··· ···· बस, यही।"

राम ने कहा, "सुनो, इस संसार में मिलन (प्रेम-भाव) ही सबसे बड़ा तीर्थ है। गंगा, यमुना तथा सरस्वती का संगम-स्थल होने के कारण ही प्रयाग को तीर्थराज का गौरव प्राप्त हुआ है। इस मिलन-तीर्थ पर तो समस्त पृथ्वी एक ही परिवार में परिणत हो जाती है। जब दो व्यक्ति मिलते हैं तो स्वयं एक तीसरे ही व्यक्ति का उदय हो जाता है। जिस प्रकार से यहाँ (प्रयाग में) गंगा और यमुना ने मिल कर त्रिवेणी का रूप धारण कर लिया है। इस मिलन के लिए केवल त्याग और प्रेम की आवश्यकता है।

राम के इस कथन द्वारा राष्ट्रकवि ने 'वसुधैवकुटुम्बकम्' (One World

Concept) अथवा विश्व-बन्धुत्व के भाव का प्रभावपूर्ण ढंग से अनुमोदन किया है। हमारे कवि का विश्वास है कि विश्व-बन्धुत्व का विशाल भवन त्याग तथा अनुराग की सुदृढ़ भित्तियों पर ही ठहर सकता है।

भरद्वाज ने कहा, "भरा तुममें वही ···· ···· ···· ···· गृह-सम यहीं।"

भरद्वाज ने राम के कथन के उत्तर में कहा, "वही त्याग तथा अनुराग तुममें भरा है अतः तुम जहाँ भी जाओगे, वही स्थान तीर्थ बन जाएगा। मैं तो यही चाहता हूँ कि तुम अपने घर की भाँति (अपना ही घर समझ कर) यहीं (मेरे ही आश्रम में) निवास करो।

महर्षि वाल्मीकि के भरद्वाज ने भी राम के सामने यही प्रस्ताव रखा था :

चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्यामि त्वामिहागतम्।
श्रुतं तव मया चेदं विवासनमकारणम्॥
अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे।
पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान्सुखम्॥

(हे काकुत्स्थ! बहुत दिनों बाद आज मैं तुम्हें पुनः इस आश्रम में आया हुआ देखता हूँ। मैंने सुना है कि तुम्हें अकारण ही वनवास हुआ है अतः इन दोनों महानदियों के संगम पर, इस एकांत पवित्र एवं रम्य स्थान पर तुम सुखपूर्वक वास करो।)❀

प्रभु बोले, "कृतकृत्य देव, ···· ···· ···· ··· जनकसुता का मन रमे।

श्रीराम ने उत्तर दिया, "हे देव! इस स्नेहपरिपूर्ण प्रस्ताव के कारण यह दास कृतार्थ (आभारी) है परन्तु क्या वनवास की अवधि में नगर के इतने समीप रहना उचित होगा? अतः आप हमें कोई ऐसा वन बताइए जिसमें रह कर जनकसुता का मन फूल की तरह खिला रह सके।

आदि-कवि के राम ने भी लगभग यही भाव प्रकट किये हैं :

भगवन्नित आसन्नः पौरजानपदो जनः।
सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम्॥
आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः।
अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये॥

एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम्।
रमेत यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा॥

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ५४ श्लोक २१, २२।

(हे भगवन् ! यह वासस्थान पुरवासियों को अत्यन्त निकट पड़ेगा। अतः मुझे और सीताजी को देखने के लिए लोग यहाँ आसानी से चले आया करेंगे। अतः मुझे यहाँ रहना उचित नहीं जान पड़ता। हे देव ! मेरे रहने के लिए कोई ऐसा एकांत और उत्तम स्थान आश्रम के लिए बता दीजिए जहाँ जानकी जी का मन लगे और वह सुखपूर्वक रह सकें।)

अपनी सुध ये कुलस्त्रियाँ लेती नहीं ···· ···· ···· ···· देती नहीं।"

राम ने कहा, "ये कुलस्त्रियाँ अपनी सुधि अपने आप तो लेती ही नहीं परन्तु पुरुष भी इनकी सुधि न लें तब भी ये उन्हें किसी प्रकार का उपालम्भ (शिकायत) नहीं देतीं।"

"कर देती हैं दान न अपने आप को ··· ···· ··· सुखी कुल-गेहिनी।

भरद्वाज ने कहा, "कुलस्त्रियाँ अपने आप को (पति-चरणों में) दान (समर्पित) कर देती हैं फिर भला ये अपने दुःख की चिन्ता कैसे करें ? वैदेही (सीता) की जाति (नारी जाति) तो सदैव विदेहिनी (अपने दुःख-सुख से सर्वथा उदासीन) है। तभी तो ये कुलाङ्गनाएँ वन के कष्टमय वातावरण में भी पति के साथ पूर्ण सुख का अनुभव करती हैं।

हिन्दू-पत्नी के इसी आदर्श की ओर संकेत करते हुए ऊर्मिला ने कहा था :

खोजती हैं किन्तु आश्रयमात्र हम,
चाहती हैं एक तुम-सा पात्र हम,
आन्तरिक सुख दुःख हम जिसमें धरें,
और निज भव भार यों हलका करें !

'प्रसादजी' के शब्दों में :

इस अर्पण में कुछ और नहीं, केवल उत्सर्ग छलकता है,
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ, इतना ही सरल झलकता है।

और—

क्या कहती हो ठहरो नारी, संकल्प अश्रु जल से अपने,
तुम दान कर चुकी पहले ही, जीवन के सोने के सपने।
नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नगपग तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।
आंसू के भींगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा,
*तुमको अपनी स्मित रेखा से यह सन्धि पत्र लिखना होगा।**

* कामायनी, लज्जा सर्ग।

चित्रकूट तब तात ··· ···· ··· ··· आरोग्य है।"

भरद्वाज मुनि ने राम से कहा, "हे राम! तब चित्रकूट तुम्हारे लिए सब प्रकार से उचित रहेगा क्योंकि वहाँ अचल सुख, शान्ति तथा आरोग्य (स्वास्थ्यप्रद वातावरण) मिल सकेगा।"

महर्षि वाल्मीकि के भरद्वाज ने चित्रकूट की उपयुक्तता का उल्लेख इन शब्दों में किया है :

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन्निवत्स्यसि।
महर्षिसेवितः पुण्यः सर्वतः सुखदर्शनः॥
गोलांगूलानुचरितो वानरर्क्षनिषेवितः।
चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसन्निभः॥
प्रविविक्तमहं मन्ये तं वासं भवतः सुखम्।
इह वा वनवासाय वस राम मया सह॥

(हे वत्स! यहाँ से दस कोस पर तुम्हारे रहने योग्य एक पहाड़ है, जो महर्षियों से सेवित होने के कारण पवित्र है और उसके चारों ओर नयनाभिराम दृश्य हैं। उस पर्वत पर लंगूर, बन्दर और रीछ घूमा-फिरा करते हैं। उस पर्वत का नाम चित्रकूट है और उसकी शोभा गन्धमादन की तरह है। वह स्थान बिलकुल एकांत है। मेरी समझ में तो आप वहाँ आराम से रहेंगे अथवा हे राम! वनवास की अवधि पूरी होने तक आप मेरे साथ मेरे आश्रम में ही रहिए।)※

"जो आज्ञा" कह राम सहर्ष प्रयाग से ···· ··· ···· ··· मुनिवर उन्हें।

"जो आज्ञा" कह कर राम प्रसन्नतापूर्वक प्रयाग से चल कर प्रेम-सहित चित्रकूट की ओर बढ़े। मुनिश्रेष्ठ भरद्वाज स्वयं उन्हें मार्ग दिखा आये। राम को मार्ग में, श्रेष्ठ ध्वनि करती हुई सूर्य की सुता, यमुना मिली।

'रामचरिमानस' में भरद्वाज अपने चार शिष्यों को मार्ग बताने के लिए, राम के साथ भेज देते हैं (*मुनि बटु चारि संग तब कीन्हे*)। 'वाल्मीकि रामायण' (अयो०, सर्ग ५५, श्लोक ४ से १०) में भरद्वाज स्वयं राम को चित्रकूट का मार्ग समझाते हैं। 'साकेत' में वा० रा० के सात श्लोकों का काम एक पंक्ति से निकाल लिया गया है :
"*दिखला आये मार्ग आप मुनिवर उन्हें।*"

सूर्य की सुता : यमुना को सूर्य की पुत्री माना जाता है :

※ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ५४ श्लोक २८, २९, ३२।

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।❀

जल था इतना अमल कि नभ सा ··· ··· ···· ···· उन्हीं को जोड़ कर।

यमुना का जल आकाश के समान नीला तथा अत्यन्त निर्मल था। वह जल रंग तथा शील में सर्वेश्वर श्रीराम के शरीर के रंग तथा उनके शील के समान ही था। वे दोनों राजपुत्र (राम-लक्ष्मण) कार्य में निपुण तथा कलाओं में प्रवीण थे। साथ ही वे धैर्यवान्, बुद्धिमान्, कर्त्तव्यों का भार वहन करने में समथ तथा धैर्य में ध्रुव के समान दृढ़ थे। लक्ष्मण दारु-लताएँ तोड़ कर ले आये और राम-लक्ष्मण ने उन लताओं को जोड़ कर यमुना पार करने के लिए नौका बना ली।

राम-लक्ष्मण केवल राजकुमार ही नहीं, *कलाकुशल* तथा *कृती* भी हैं। वह स्वावलम्बन का जीवन बिताने में पूर्णतः समर्थ हैं। राष्ट्रपिता बापू ने अपने देश-वासियों में स्वावलम्बन की इसी भावना का प्रचार किया।

महर्षि वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण भी अपने लिए नौका स्वयं निर्मित करते हैं :

चिन्तामापेदिरे सर्वे नदीजलतितीर्षवः।
तौ काष्ठसंघाटमथो चक्रतुः सुमहाप्लवम्॥
शुष्कैर्वंशैः समास्तीर्णमुशीरैश्च समावृतम्।
ततो वेतसशाखाश्च जम्बूशाखाश्च वीर्यवान्॥
चकार लक्ष्मणश्छित्वा सीतायाः सुखमासनम्।

(वे सब यमुना पार करने के लिए चिन्ता करने लगे। उन दोनों राजकुमारों ने बहुत-सी लकड़ियाँ एकत्रित करके एक बड़ा बेड़ा बनाया। उन वीर्यवान् राजकुमारों ने प्रथम तो सूखे बाँसों को पास-पास बाँध कर बेड़ा बनाया। फिर बाँसों की सन्धियाँ भरने के लिए उनमें ख़स भरा। तदनन्तर लक्ष्मण जी ने उस पर बेत तथा जामुन की डालियाँ काट कर और बिछा कर सीताजी के आराम से बैठने के लिए आसन बना दिया।)†

सभी निछावर स्वावलम्ब के भाव पर ··· ··· ··· ··· हँस सम युग बली।

स्वावलम्बन के भाव पर सब कुछ (अथवा सभी) निछावर है। सीता राम का हाथ पकड़ कर अपनी नाव पर चढ़ कर इस प्रकार तैरने लगीं, जैसे

❀ भारतेन्दु हरिश्चन्द, यमुना वर्णन।

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ५५, श्लोक १४ से १६।

कमल के पत्तों पर (बैठ कर) कमलिनी तर जाती है। (कमलिनी को सहारा देने वाले) दो बलवान हंसों के समान राम-लक्ष्मण सीता को सहारा देते हुए आगे चले।

महर्षि वाल्मीकि ने लिखा था :

तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां रामो दाशरथिः प्रियाम् ॥
ईषत्संलज्जमानां तामध्यारोपयत प्लवम् ।
पार्श्वे च तत्र वैदेह्या वसने भूषणानि च ॥

(तब श्री रामचन्द्र जी ने लक्ष्मी की तरह अचिन्त्य सौन्दर्यवती प्यारी सीता को, जो पति के हाथ का सहारा पाने के कारण कुछ-कुछ लज्जायुक्त थीं, हाथ पकड़ कर उस बेड़े पर बैठाया। उनके पास ही उनके गहने-कपड़े रख दिये।)※

इन्हीं रेखाओं में गुप्तजी ने सुरुचिपूर्ण रंग भरे हैं। 'साकेत' की सीता प्रभु का हाथ पकड़ कर 'अपनी नाव' पर चढ़ती हैं। पति तथा देवर द्वारा निर्मित नौका पर सीता को उचित गर्व है, 'निज' इसी भाव का द्योतक है। हंसों के सहारे कमल के पत्ते पर चलने वाली कमलिनी से सीता की तुलना अत्यन्त प्रभावपूर्ण है, 'फुल्ल' सीता के आन्तरिक उल्लास का प्रतीक है और 'सहारा दिए' में सीता की कोमलता की अभिव्यंजना के साथ-ही-साथ नारी के प्रति भारतीय शिष्टाचार का पालन भी है। 'हंस' केवल सौन्दर्य के लिए नहीं, अपनी नीर-क्षीर-ग्राहिता के कारण भी स्मरण किया जाता है। 'बली' राम-लक्ष्मण के अनुपम बल पर प्रकाश डालता है।

करके यमुना-स्नान बिलम वट के तले .... प्रकृति के पाठ थे।

यमुना में स्नान करके तथा कुछ देर वट-वृक्ष के नीचे विश्राम करके राम, सीता तथा लक्ष्मण घने वन की ओर चले। यहाँ अनोखी-अनोखी वस्तुएँ थीं और अद्भुत शोभा। यहाँ असंख्य प्रकार की आकृतियाँ थीं तथा अनगिनत दृश्य। वे सब तो मानों प्रकृति के पाठ थे।

'प्रकृति के पाठ' : प्रकृति के अनन्य उपासक, अंग्रेज कवि, विलियम वर्ड्स्वर्थ ने एक स्थान पर लिखा है :

One impulse from the vernal wood
May teach you more of man,
Of moral evil and of good,
Than all the sages can.

※ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ५५, श्लोक १६, १७।

(वसन्त में खिले वन की एक उत्कंठापूर्ण झलक मानव स्वभाव तथा चारित्रिक गुण-दोष की इतनी अधिक शिक्षा दे सकती है, जितनी समस्त महात्मा मिल कर भी नहीं दे सकते)

"वन में अग्रज अनुग, ... मध्य भाग में ही रहीं।"

सीता ने लक्ष्मण को लक्ष्य करके हँसते हुए कहा, "वन में अग्रज (बड़ा भाई) अनुज (पीछे चलने वाला) बन गये हैं और अनुज (छोटा भाई) अग्रणी (आगे चलने वाला) बन गया है। कहीं कोई आहत न हो जाए (परमात्मा कुशल करे)।"

लक्ष्मण ने उत्तर दिया, "भाभी! यहाँ भी तुम न कहीं गयीं, न आयीं, (सदा की भाँति) बीच की बीच में रहीं (तुम्हारी स्थिति में कोई परिवर्तन न हुआ)।

'रामचरितमानस' में :

आगें रामु लखनु बनें पाछें। तापस बेष बिराजत काछें॥
उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥

'रामचरितमानस' में सीता राम के पद-चिन्हों के बीच में पैर रख कर चलती हैं और लक्ष्मण सीता तथा राम के चरण-चिन्हों को बचाते हुए उन्हें दाहिने रख कर रास्ता चलते हैं :

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥
*सीय राम पद अंक बराएं। लखन चलहिं मगु दाहिन लाएं॥**

'रामचरितमानस' का यह एक सुन्दर तथा भावपूर्ण स्थल है। इसके विपरीत, 'वाल्मीकि रामायण' में लक्ष्मण आगे हैं, राम पीछे और सीता दोनों के बीच में :

दयितां च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरताग्रज॥
पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सायुधो द्विपदांवर।
यद्यत्फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा॥

(राम ने लक्ष्मण से कहा, 'हे भरत के छोटे भाई, तुम सीता को अपने साथ लेकर आगे चलो। हे नरोत्तम, मैं शस्त्र लिए पीछे-पीछे आता हूँ। सीता जिस फल अथवा फूल को लेना चाहें, वह उन्हें दे दिया करना।')

* रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

जानकी जी उन दोनों के बीच में ऐसे ही चलने लगीं, जैसे हाथियों के बीच में हथिनी चलती है :

गच्छतोस्तु तयोर्मध्ये बभौ च जनकात्मजा ॥
मातंगयोर्मध्यगता शुभा नागवधूरिव ॥※

'साकेत' के कवि ने भी लक्ष्मण को आगे और राम को सीता के पीछे रखा है। इसी 'अस्वाभाविकता' को लक्ष्य करके 'साकेत' की सीता को प्रस्तुत विनोदपूर्ण परिहास करने का अवसर मिल जाता है। 'न हो कोई अग्रणी' में सीता का व्यंग अपनी चरम सीमा पर है। लक्ष्मण का उत्तर विनोद की इस धारा को और भी स्निग्ध बना देता है।

मुसकाये प्रभु मधुर मोद धारा बही ··· ···· ···· ··· कष्ट भी झेल कर।"

श्रीराम भी (सीता और लक्ष्मण के हास-परिहास के कारण) मुसकाने लगे। तब वहाँ आनन्द की एक धारा-सी प्रवाहित हो गयी। राम ने कहा, "प्रिये! वन में अपना नागर-भाव तो यही है (कि वन के कष्टों को भी हम हँस-हँस कर झेलें, इसी में हमारी विशेषता निहित है)। यदि यह वनवास की अवधि इसी प्रकार हँस-खेल कर बीत जाए तो हम कष्ट झेल कर भी अपने को कृतार्थ ही समझेंगे!"

"आहा! मैं तो चौंक पड़ी ··· ··· ··· ··· मनुज पक्षी नहीं।

किसी बड़े आकार वाले पक्षी को समीप से सहसा उड़ता देखकर सीता ने चौंक कर कहा, "ओह, मैं तो चौंक पड़ी! यह समीप से ही फड़-फड़ करके न जाने कौन अपने मज़बूत पंखों की सहायता से ऊपर उड़ गया। देखो, यह देखते ही देखते कहाँ से कहाँ पहुँच गया। यह कोई वैमानिक (विमान में यात्रा करने वाला) भले ही हो परन्तु मनुष्य अथवा पक्षी नहीं हो सकता।

ऊपर विस्तृत व्योम विपुल वसुधा तले ···· ··· ··· ··· अड़ रहे।

"ऊपर दूर तक फैला आकाश है और नीचे विपुल ऐश्वर्य से परिपूर्ण धरती; परन्तु फिर भी अपने गले फाड़-फाड़ कर ये तीतर परस्पर नाखून और चोंच मार-मार कर लड़ रहे हैं। न जाने ये किस तुच्छ बात पर अड़े हुए हैं।

ज्ञानहीन तीतरों का ध्यान 'विस्तृत व्योम' अथवा 'विपुल वसुधा' की ओर

※ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ५५, श्लोक २७, ३०।

नहीं है। वे तो न जाने किस तुच्छ बात पर परस्पर झगड़ रहे हैं। इसी अज्ञान के कारण गरिमामयी सीता को उन पर दया आती है। मानव-समाज में भी ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं जो महत्त्वपूर्ण बातों को छोड़ कर तुच्छ बातों पर झगड़ते रहते हैं।

यहाँ सरल संकुचित घनी वनवीथि है .... पवन पंखा झले।

"इस ओर सरल, संकुचित तथा घनी वन की पगडंडी है, जो मानों वनस्थली की माँग ही बन गयी है। सौभाग्यवती वन-लक्ष्मी फूले-फले, शिशु की भाँति यहाँ सदा शान्ति झूलती रहे तथा पवन पंखा करता रहे।

वन की पगडंडी देख कर सौभाग्यवती सीता के सम्मुख सौभाग्यवती वन-लक्ष्मी का चित्र आ जाता है। यह पगडंडी तो मानो वनस्थली की माँग है। 'वन वीथि' के लिए हमारे कवि ने 'सरल', 'संकुचित' तथा 'घनी' विशेषणों का प्रयोग किया है। पगडंडी सरल अथवा आडम्बर रहित है (किसी ने विशेष प्रयत्न द्वारा उसको रचना नहीं की है), अधिक चौड़ी भी नहीं (संकुचित) है, (पगडंडियाँ प्रायः कम चौड़ी होती हैं) तथा वह दोनों ओर से घने लता-द्रुम अथवा घास-पात से घिरी (घनी) है। ये विशेषण माँग के लिए भी समान रूप से उपयुक्त हैं। 'सरल' में आडम्बर का अभाव है, 'संकुचित' द्वारा सौभाग्यवती के शील-संकोच का चित्रण है और 'घनी' में केशों की सघनता के साथ स्वभाव की गम्भीरता का भाव भी है। सौभाग्यवती सीता सौभाग्यवती वन-लक्ष्मी को फूलने-फलने का आशीर्वाद देती हैं और तभी उनका ध्यान सौभाग्य के फल-शिशु-की ओर जाता है। तभी तो सीता की कामना है, "झूले शिशु सी शान्ति।" वैसे वन में प्रायः शान्ति का आधिक्य होता भी है और शिशु भी शान्ति का प्रतीक माना जाता है। 'पवन पंखा झले' का प्रयोग भी सकारण है। झूले में झूलते शिशु की निद्रा को अधिक सुखमय बनाने के लिए तथा सोते हुए शिशु के प्रति ममता अथवा वात्सल्य के कारण प्रायः स्नेहपूर्वक पंखा किया जाता है।

आगे आगे भाग रहा है मोर .... भार है झेलती!

"चंचल चितचोर मोर अपने पंखों से रास्ता झाड़-झाड़ कर आगे-आगे भाग रहा है। उधर वानर-मण्डली मचक-मचक कर खेल रही है। वृक्षों की डालियाँ लचक-लचक कर मानों उनसे बचने का प्रयत्न करती हैं परन्तु वानरों के वहाँ आ ही धमकने पर उनका भार झेल लेती हैं।

'साकेत' का यह एक सुन्दर प्रकृति-चित्र है।

नाथ, सभी कुछ त्याग ···· ···· ···· ···· बढ़ रहीं !"

सीता ने राम से कहा, "हे नाथ, कहीं-कहीं दिखाई देने वाले वृक्षों के ये ठूँठ मानों असत्य समझ कर ही सब कुछ (पत्र-पुष्पादि) त्याग कर तपस्वियों की भाँति खड़े हैं।"

राम ने उत्तर दिया, "प्रिये, इन पर भी तो बेलें चढ़ रही हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों ये लताएँ स्वयं विकसित होकर इन ठूँठों को भी फिर से हरा कर रही हैं।"

वन के वृक्षों के ठूंठ भी सीता (अथवा हमारे कवि) की दृष्टि से बच नहीं पाते। उन्हें देख कर सीता को ऐसा जान पड़ता है मानो वे सर्वस्व त्याग देने वाले तपस्वी हों। तभी राम सीता का ध्यान उन वल्लरियों की ओर आकृष्ट करते हैं जो स्वयं विकसित हो कर उन ठूंठों को भी हरा कर रही हैं। इस प्रकार मानों राम पुरुष के जीवन में नारी का महत्त्व स्वीकार करके यह घोषणा करते हैं कि नारी पुरुष के नीरस एवं शुष्क जीवन को भी सरस, स्निग्ध एवं मधुर बना देती है।

कहीं सहज तरु तले कुसुम-शय्या ··· ··· ···· ··· फूल-काँटे सभी !

सीता कहती हैं, "कहीं वृक्ष के नीचे गिरे हुए फूलों के कारण प्राकृतिक पुष्प-शैया बनी है, जिस पर पड़ी घनी छाया ऊँघ-सी रही है। कोमल पंखड़ियों में से धीरे से उस कुञ्ज के भीतर प्रवेश करके किरण मानों उसे हिला कर जगाने का प्रयत्न करती है परन्तु वह (छाया) तो उठना ही नहीं चाहती। वह एक करवट-सी लेकर फिर वहीं लेटी रह जाती है। हे सखी! तुम इस वृक्षराज की जड़ कभी न छोड़ना क्योंकि यहाँ फूल तथा काँटों में कोई भेद नहीं है (दोनों के साथ समान व्यवहार किया जाता है)।

प्रकृति का मानवीकरण आधुनिक काव्य की विशेषता है। कवि प्रकृति के विभिन्न पदार्थों पर मानवोचित भावों का आरोप करके उनमें तथा मानव-समाज में एक तादात्म्य-सा स्थापित करना चाहता है। उस समय जड़ जान पड़ने वाली प्रकृति भी सजीव हो जाती है और 'जाकी रही भावना जैसी' के अनुसार वह भी दुखी अथवा सुखी, जागृत अथवा सुप्त, सुन्दर अथवा असुन्दर जान पड़ने लगती है। उदाहरणार्थ छाया को देखकर श्री सुमित्रानन्दन पन्त उससे पूछते हैं :

कौन, कौन तुम परिहतवसना, म्लानमना, भू-पतिता सी,
वात-हता विच्छिन्न लता सी, रति-श्रान्ता व्रज-वनिता सी ?
नियति-वंचिता, आश्रय-रहिता, जर्जरिता, पद-दलिता सी,
धूलि-धूसरित मुक्तकुन्तला, किसके चरणों की दासी ?

कहो, कौन हो दमयन्ती सी तुम द्रुम के नीचे सोई,
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि, नल सा निष्ठुर कोई ?
पीले पत्रों की शैया पर तुम विरक्ति सी, मूर्छा सी,
*विजन विपिन में कौन पड़ी हो विरह मलिन, दुख विधुरा सी ?**

'साकेत' में छाया के दर्शन दूसरे ही रूप में होते हैं। यहाँ वह फूलों की सेज पर सुख की नींद सो रही है। पतिप्राणा सीता यह देखकर प्रसन्न हैं कि छाया तरुवर-पद-मूल छोड़ना नहीं चाहती क्योंकि—

एक रूप हैं वहाँ फूल-काँटे सभी !

फैलाये यह एक ···· ···· ···· ··· विहंग उमंग से ।

सीता ने एक पक्षी की ओर देखते हुए राम से कहा, "देखो, एक पंख फैला कर, खेल-सा करता हुआ, शरीर ढीला छोड़ कर और उसका समस्त भार छाती पर डाल कर किस अनोखे ढंग से गरदन मोड़ कर वह पक्षी हमें उमंग में भर कर देख रहा है !

'साकेत' में प्रकृति के ऐसे अनेक सजीव चित्र हैं, जहाँ हमारे कवि का सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण मूर्तिमान् हो उठा है। प्रस्तुत उद्धरण एक ऐसा ही उदाहरण है।

पाता है जो ठौर जहाँ ··· ··· ··· सर्वत्र है ।"

सीता बोलीं, "जिसे (जिस पौधे को) जहाँ स्थान मिल जाता है, वह वहीं उग जाता है। जिसे (जिस पक्षी को) जहाँ दाना मिल जाता है, वह वहीं उसे चुग लेता है। इस प्रकार प्रत्येक स्थान पर ही उद्योग अथवा प्रयत्न सब प्रकार से सुख का कारण ही होता है (प्रयत्न का फल मधुर ही होता है) परन्तु सुअवसर अथवा संयोग ही सब स्थानों पर मुख्य है (सुअवसर भाग्य से ही प्राप्त होता है)।

"माना आर्ये ! सभी भाग्य का ··· ··· ···· ···· पूर्व कर्म का योग है ।"

लक्ष्मण ने सीता से कहा, "आर्ये ! हम यह तो मान लेते हैं कि सब भाग्य का ही फल है परन्तु भाग्य भी तो पहले किये गये कार्यों का ही दूसरा नाम है।"

'साकेत' के लक्ष्मण भाग्य की अपेक्षा कर्म अथवा पुरुषार्थ में ही अधिक विश्वास रखते हैं।

---

* श्री सुमित्रानन्दन पन्त, पल्लविनी, पृष्ठ ३१।

"प्रिये, ठीक है, भेद रहा बस ••• ··· ···· ···· भाग्य है राम का।"

राम ने उत्तर दिया, "प्रिये ! ठीक है, यहाँ तो बस नाम का ही भेद है। लक्ष्मण का उद्योग है और राम का भाग्य।"

'साकेत' के राम ने अनेक स्थानों पर लक्ष्मण के प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शित किया है।

"नाथ, भाग्य तो आज मैथिली का बड़ा ···· ··· ···· घर रहना पड़ा।"

सीता ने कहा, "नाथ ! भाग्य तो आज मैथिली का (मेरा) सबसे अच्छा है। जिसे यह सुख छोड़ कर घर (अयोध्या में) न रहना पड़ा।"

'साकेत' के राम, लक्ष्मण तथा सीता वनवास को अपना सौभाग्य ही मानते हैं। इसीलिए वन में भी उनका जीवन पूर्णतः सुख, सन्तोष तथा उल्लासमय है।

वह किंशुक क्या हृदय खोलकर ···· ··· ···· ··· नाम भी मिल गया।

सीता ने कहा, "वह सामने देखो, किंशुक (पलाश अथवा टेसू की कली) हृदय खोलकर खिल गया (पूर्णतः विकसित हो गया)। अरे ! इस प्रकार तो पलाश (ढाक के पत्ते) को फूल की संज्ञा प्राप्त हो गयी।

यहां 'पलाश' में श्लेष है, उसके दो अर्थ हैं :

१. ढाक का पत्ता और २. टेसू का फूल।

ओहो कितनी बड़ी केंचुली यह पड़ी ··· ···· ··· ···· मारने जो चला।"

मार्ग में एक बहुत बड़ी केंचुली पड़ी देख कर सीता ने कहा, "अरे ! यह कितनी बड़ी केंचुली पड़ी है। पवन का पान करके (हवा भर जाने से अथवा प्राण-वायु पाकर) यह फूल कर फिर उठ न खड़ी हो (जीवित सर्प का रूप धारण न कर ले)।"

लक्ष्मण ने उत्तर दिया, "आर्ये ! तब भी (इसके पुनः जीवित हो जाने पर भी) हमें क्या भय है ? जो दूसरों को मारने का प्रयत्न करेगा, उसे स्वयं भी मरने के लिए तैयार रहना ही होगा।"

'वह मरने भी चला मारने जो चला' द्वारा अहिंसाप्रिय राष्ट्र-कवि ने हिंसा-भाव पर गहरी चोट की है। हिंसा हिंसा अथवा प्रतिहिंसा को ही जन्म देती है। स्थायी शान्ति का तो एक ही मार्ग है—अहिंसा अथवा प्रेम।

"अच्छा ये क्या पड़े ? बताओ तो ··· ···· ···· ··· ···· सुन्दर लेखनी ?"

लक्ष्मण ने सीता से पूछा, "अच्छा बताओ तो सही, ये क्या पड़े हैं ?"

"देवर ! सब व्यक्ति सब बातें नहीं जानते," सीता ने उत्तर दिया, "हमें यहाँ रह कर अनोखी-अनोखी वस्तुएँ देखनी हैं। परन्तु क्या इनसे सुन्दर लेखनियाँ नहीं बनायी जातीं ?"

"ठीक, यहाँ पर शल्य छोड़कर .... जाता नहीं।"

लक्ष्मण ने कहा, "ठीक है। यहाँ शल्य अपने काँटे छोड़ गया है। अस्तु, नाम रहे (नाम तो तुम बता न सकीं), पर तुम्हारा काम चल गया (तुमने उसका प्रयोग बता दिया)। देखो, उधर मुस्तकगंधा (नागरमोथे की गन्ध से युक्त) मिट्टी खुदी हुई है। इस गीली मिट्टी पर से होकर जिस ओर सूअर गये हैं, वहाँ उनके पैरों के निशान बन गये हैं। उधर देखो, तोते का बच्चा घोंसले से निकल कर बाहर आता है परन्तु बाहर भीड़ देखकर तथा उससे डर कर फिर घोंसले में ही घुस जाता है। नीरस वृक्ष का प्राण (तोते का बच्चा) अशान्त-सा हो रहा है। बार-बार घोंसले में जाकर भी वह अवधि (उपयुक्त अवसर के बिना) उसमें प्रवेश करके ठहर नहीं पाता।

शल्य : शल्य अथवा साही एक जन्तु विशेष होता है जिसके शरीर पर लंबे-लंबे काँटे होते हैं। इन काँटों का प्रयोग लेखनी बनाने के लिए भी किया जाता है।

"पास पास ये उभय वृक्ष देखो .... झड़ रहा।"

समीपस्थित दो वृक्षों की ओर संकेत करके सीता ने कहा, "देखो, ये दोनों वृक्ष इतने पास-पास उगे हैं परन्तु इनमें से एक फूल रहा है, एक झड़ रहा है (पत्र-पुष्प-विहीन हो रहा है)।"

"है ऐसी ही दशा प्रिये, ... बाँटे पड़े।"

राम ने कहा, "हे प्रिये, मनुष्य-लोक की भी ऐसी ही दशा है। कहीं शोक होता है, कहीं हर्ष। वन में झाड़ियाँ (कष्टप्रद) झंखाड़-सी खड़ी हैं। इस प्रकार फूलों के साथ काँटे भी वन के भाग में आ पड़े हैं।"

"काँटों का भी भार मही माता .... बीज ये बो गया ?"

सीता बोलीं, "धरती माता पुष्पों के साथ काँटों का भार भी सहती है ताकि पशुता काँटों से कुछ डरती रहे (पुष्प पर सरलता से अत्याचार न किया जा सके)। वन तो मेरे लिए कुतूहल का विषय हो गया है, न जाने इन कुतूहलजनक पदार्थों के परिमाणहित बीज यहाँ कौन बो गया है ?"

अरे भयंकर नाद कौन यह भर रहा .... तुम रहो।"

सिंह की भयानक गर्जना सुन कर सीता ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा,

"अरे ! यह भयंकर शब्द कौन कर रहा है ?"

लक्ष्मण ने उत्तर दिया, "भाभी, इस प्रकार गरज कर वनराज सिंह हमारा स्वागत कर रहा है। यदि शब्द-बेध (शब्द को लक्ष्य करके छोड़ा जाने वाला बाण की शक्ति) देखना चाहो तो बताओ (मैं शब्द-बेधी बाण चला कर इस सिंह को अभी धराशायी कर दूँगा)।"

सीता ने कहा, "किसी और अवसर पर देखूँगी। इस समय तो तुम शान्त ही रहो।"

वन में सौ सौ भरे पड़े ··· ···· ··· ··· प्रभु की प्रिया।

"वन में सैंकड़ों रस के भरे घड़े पड़े हैं" (जिनसे मानव जीवन की नीरसता दूर हो सकती है)। शहद की मक्खी का छत्ता देख कर सीता ने कहा, "देखो, ये रस से भरे कितने मटके-से लटक रहे हैं! साधारण जीव का प्रयत्न भी क्या नहीं कर सकता ? (सतत प्रयत्न से साधारणतम जीव भी विस्मयजनक कार्य कर सकता है)" शहद की मक्खी का छत्ता देख कर सर्वेश्वर राम की पत्नी सीता (सहयोग तथा सतत परिश्रम का फल देख कर) पुलकित हो गयीं।

माली हारें सींच जिन्हें आराम में ··· ···· ··· ··· अरण्य में।'

सीता ने कहा, "नगरों की वाटिकाओं में जिन वृक्षों को सींच-सींच कर माली थक जाते हैं, वे ही वृक्ष वन में स्वाभाविक रूप से स्वयं ही बढ़ते और फलते हैं। आहा ! ये गजदंत और मोती पड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों ये भी पके हुए फलों के साथ ही पेड़ों पर से गिर गये हैं। गजदंत और मोती जैसे जिन रत्नों (मूल्यवान पदार्थों) पर नगर के बाजारों में प्राण भी बिक जाते हैं (जिन्हें अधिक-से-अधिक मूल्य चुका कर भी खरीद लिया जाता है), वे ही रत्न वन में सर्वथा मूल्यहीन तुच्छ कंकड़ों के समान हैं (वन में नगर के वैभव के साधनों का कोई मूल्य नहीं)।"

चल यों सब वाल्मीकि महामुनि ···· ··· ··· ··· सम्भाव्य है।"

वहाँ से चल कर उन सब ने महामुनि वाल्मीकि के दर्शन किये। अपनी ही ध्यानमूर्ति (जिस मूर्ति का वह ध्यान लगाए बैठे थे) को साक्षात् अपने सामने पाकर वाल्मीकि जी के हर्ष की सीमा न रही। महर्षि वाल्मीकि पृथ्वी पर कवि-कुल के देवता (आदि कवि) होकर धन्य थे। उधर नर-देव राम अनुपम लोक-नायक थे।

श्री राम ने कहा, "कवे! दशरथ का पुत्र राम आज आपके दर्शन करके कृतार्थ हो गया है। आपका यह सेवक सपरिवार आपको प्रणाम करता है।"

महर्षि ने उत्तर दिया, "हे राम! तुम्हारा चरित तो स्वयं काव्य है। उसका गायन करके तो यह सर्वथा सम्भव है कि कोई भी व्यक्ति कवि बन जाए।"

राम ने 'कवे' कह कर महर्षि को सम्बोधित किया था। महर्षि नम्रतावश यही कहते हैं कि राम-चरित का गान करके साधारण से साधारण व्यक्ति भी कवि बन सकता है।

आधार ग्रन्थों में श्री राम-वाल्मीकि-मिलन-प्रसंग का उल्लेख अधिक विस्तृत है। 'साकेत' में 'कविकुलदेव' तथा 'नरदेव' का मिलन संक्षिप्त हो कर भी विशेषता-समन्वित है।

आये फिर सब चित्रकूट ··· ··· ···· ···· सब अग थे।

फिर वे सब प्रसन्न मन से चित्रकूट आये। चित्रकूट पर्वत अपरिमित वन-श्री का अभेद्य दुर्ग-सा जान पड़ता था। यहाँ अनेक गर्भ-गृह तथा सुरङ्गें थीं और इसके समस्त अङ्ग भाँति-भाँति की धातुओं तथा पत्थरों से परिपूर्ण थे।

कवि ने यहां चित्रकूट को एक दुर्ग के रूप में प्रस्तुत किया है जो वन-श्री का वास-स्थान है। वह गढ़ की भाँति सुदृढ़ है। किले में अनेक गर्भ-गृह (भीतरी भाग अथवा दालान आदि) बने होते हैं, चित्रकूट पर्वत में भी अनेक गर्भ-गृह (गुफाएं) हैं। आवश्यकता पड़ने पर किले से निकल भागने के लिए सुरंगें होती हैं, चित्रकूट पर्वत में भी अनेक सुरंगें देखी जा सकती हैं। किले की दीवारें तरह-तरह के पत्थरों तथा धातुओं से निर्मित होती है, चित्रकूट पर भी अनेक प्रकार के पत्थर तथा इसके भूमि-तल में भाँति भाँति की धातुएं (खनिज पदार्थ) उपस्थित हैं।

जिसकी शृंगावली विचित्र ··· ···· ··· ··· वृषारूढ़ का मन खिला।

जिस चित्रकूट की पर्वत-शृङ्खला विचित्र ढङ्ग से बढ़ी-चढ़ी है तथा जिस पर फूल-पत्तियों से युक्त हरियाली का आवरण पड़ा है, वही चित्रकूट-पर्वत हरि (विष्णु के अवतार राम) को हर (शिव) के वेश (तापस वेश) में देख कर अनोखे ढङ्ग से बढ़े हुए सींगों वाले तथा कढ़ी हुई फूल-पत्तियों से

युक्त झूल धारण करने वाले वृष (शिव के वाहन बैल) का रूप धारण करके सामने आया परन्तु उससे पूर्व ही (अपने वाहन को उपस्थित पाकर प्रसन्न होने वाले शिव की भाँति) धर्मारूढ़ राम का मन उसकी अपूर्व शोभा देख कर खिल उठा।

यहां सांग रूपक द्वारा वृष (बैल) तथा चित्रकूट पर्वत की समानता दिखाई गयी है। तापस वेश में राम को देखकर तथा उन्हें शिव समझकर चित्रकूट पर्वत भी उन्हें प्रसन्न करने के लिए शिव का वाहन (वृष) ही बनकर सामने आया। विचित्र ढंग से बढ़ी पर्वत श्रेणियों ने उस बैल के सींगों का रूप धारण किया और पर्वत के ऊपर की हरियाली (फूल-पत्तियां) ने कढ़ी हुई फूल-पत्तियों वाली झूल का।

'शृंग', 'हरि', 'हर' तथा 'वृष' शब्दों में श्लेष है। शृंग का अर्थ है: १. पर्वत शिखर : २. बैल के सींग

हरि का अर्थ है : १. विष्णु २. विष्णु के अवतार राम।

हर का अर्थ है : १. शिव २. तापस।

वृष का अर्थ है : १. बैल २. धर्म।

शिला-कलश से छोड़ उत्स ···· ···· ···· ··· रत्न-मणि-सम्पदा।

पर्वत रूपी हाथी, चट्टान रूपी कलश द्वारा निर्झर के रूप में अत्यधिक जल छोड़ रहा है। इस प्रकार वह प्रकृति का अभिषेक-सा कर रहा है। बिखरे हुए जल-कण किरणों का साहचर्य पाकर (रत्नों तथा मणियों की भाँति रूप धारण करके प्रकृति के अभिषेक के उपलक्ष में) हीरे-मोतियों की सम्पदा निछावर कर रहे हैं।

अभिषेक के बदले राम को वनवास मिला है। राज्य का उत्तराधिकारी तापस वेश धारण करके वन में आ गया है। प्रकृति का प्रत्येक अंग फूला नहीं समा रहा। यहाँ स्वयं प्रकृति और वनचारी अपने हृदयासन पर बिठा कर राम का राज्याभिषेक करते हैं। अभिषेक के अवसर पर मंगल-घट में से अभिषेक का जल छोड़ा जाता है, यहाँ पर्वत रूपी हाथी चट्टान रूपी कलश में से निर्झर के रूप में जल छोड़ रहा है। राज्याभिषेक के अवसर पर प्रसन्नतावश हीरे-मोती लुटाये जाते हैं। यहाँ 'सलिलकण' 'किरण योग पाकर' 'रुचिर-मणि-सम्पदा' वार रहे हैं। इस प्रकार तो मानो स्वयं प्रकृति ही निछावर हो रही है।

वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग ··· ···· ··· ··· हर्ष विस्मय बड़ा?"

"वन रूपी मुंदरी में चित्रकूट रूपी नगीना जड़ा हुआ है। इसे देख कर किसे अत्यधिक हर्ष तथा आश्चर्य न होगा?"

'साकेत' के कवि ने अनेक स्थानों पर विराट् दृश्यों को लघुचित्रों में बाँधने का सफल प्रयत्न किया है। प्रस्तुत रूपक 'वन मुद्रा में चित्रकूट का नग'—इसका एक उदाहरण है।

गोस्वामी तुलसीदास ने चित्रकूट की शोभा का विशद वर्णन किया है। 'गीतावली' का एक तत्सम्बन्धी अंश इस प्रकार है :

फटिक सिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललित लता जाल हरति छबि बितान की।
मंदाकिनि तटिनि तीर, मंजुल मृग बिहग भीर,
धीर मुनिगिरा गम्भीर सामगान की॥
मधुकर पिक बरहि मुखर, सुन्दर गिरि निरझर झर,
जल कन घन छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ,
जनु बिहार बाटिका नृप पंचबान की॥

एक आधुनिक कवि, 'अरुण' जी ने चित्रकूट का चित्र इस प्रकार आँका है :

यह चित्रकूट का हरित मर्मरित वन प्रांगण
शोभित वसन्त से रम्य तटी, तलहटी-स्वर्ग
गिरि-धवल-श्रेणियाँ नवल सौम्यता से सुरभित
निर्झर-कलरव-संगीत चतुर्दिक कुंज-व्याप्त
अति स्निग्ध शान्ति का वातावरण प्रशान्त, शान्त
है स्फटिक शिला पर जल हिलोर-गुंजित, मुखरित
कूजित पंछी के विविध बोल विटपों की हिलती डालों पर
*ऊँची-नीची पगडंडो सर्पाकार भव्यता से पूरित!**

लक्ष्मण ने झट रची मन्दिराकृति ··· ···· ··· ···· सरोरुह सम्पुटी।

लक्ष्मण ने तुरन्त मन्दिर की आकृति वाली एक कुटी तैयार कर दी मानों मधु-सुगन्धि के वास के लिए एक सरोरुह-सम्पुटी की ही रचना की गयी हो।

'रामचरितमानस, में कोल किरात के रूप में देवता राम के लिए कुटी की रचना करते हैं :

रमेउ राम मनु देवन्ह जाना। चले सहित सुर थपति प्रधाना॥
कोल किरात बेष सब आए। रचे परन तृन सदन सुहाए॥

* पोद्दार रामावतार अरुण, विदेह, पृष्ठ १५०।

'वाल्मीकि रामायण' में लक्ष्मण कुटी बनाते हैं :

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान्द्रुमान् ।
आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिन्दमः ॥

(रामचन्द्रजी के वचन सुनकर लक्ष्मण जो अनेक प्रकार के वृक्षों की छोटी-छोटी डालें काट लाये और उनसे पर्णकुटी बना दी ।)

महर्षि वाल्मीकि के लक्ष्मण द्वारा बनायी गयी कुटी 'निष्ठितां' (अचल) 'बद्ध कटाँ' (किवाड़दार) तथा 'सुदर्शनाम्' (देखने में सुन्दर) है परन्तु 'साकेत' के लक्ष्मण द्वारा बनायी गयी कुटी "*मन्दिराकृति*" है । "मन्दिराकृति" में लक्ष्मण की भक्ति-भावना स्पष्ट है । भक्त लक्ष्मण 'आराध्य युग्म' के निवासार्थ 'मन्दिराकृति' कुटी की ही तो रचना कर सकते थे ।

सम्पुटी का प्रयोग उस छोटी कटोरी अथवा तश्तरी के लिए किया जाता है जिसमें पूजन के लिए चंदन-अक्षत आदि रखते हैं अतः 'सम्पुटी' में भी श्रद्धा का भाव निहित है । इस सरोरुह सम्पुटी को रचना भ्रातृ भक्त लक्ष्मण ने मधु (पुलिंग) और सुगन्धि (स्त्रीलिंग) श्रीराम तथा जानकी जी के लिए की है । 'मन्दिर' 'मधु' 'सुगन्धि' 'सरोरुह' तथा 'सम्पुटी' का पारस्परिक संयोग तथा संबंध वैसे भी अत्यन्त स्वभाविक एवं प्रभावोत्पादक है ।

वास्तु-शान्ति सी स्वयं प्रकट थीं ··· ··· ··· ···· विधान की ।

यद्यपि वहाँ जानकी जी के रूप में वास्तु-शान्ति (गृह-प्रवेश-कर्म) स्वयं ही मूर्तिमान् थी तथापि मुनियों ने उचित रीति से गृह-प्रवेश-कर्म कराया ।

वनचारी गण जुड़े जोड़ कर ··· ···· ···· ···· बजा कर तालियाँ ।

वनचारी डालियाँ जोड़ कर (भेंट आदि साथ लेकर) वहाँ एकत्रित हो गये और तालियाँ बजा-बजा कर नाच-गाने में मग्न हो गये ।

'रामचरितमानस' में भी :

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई । हरषे जनु नव निधि घर आई ॥
कंद मूल फल भरि भरि दोना । चले रंक जनु लूटन सोना ॥
करहिं जोहारु भेट धरि आगे । प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे ॥
चित्र लिखे जनु जँह तँह ठाढ़े । पुलक सरीर नयन जल बाढ़े ॥

लेकर पवित्र नेत्र नीर ···· ··· ···· ···· नागर बनाओ तुम ।"

वनचारियों का श्री राम से निवेदन है, "हे धैर्यवान् श्री रामचन्द्र जी !

आइए, हम नेत्र-नीर से ही आपका अभिषेक कर दें। आकाश रूपी चंदोवे के नीचे चन्द्रमा रूपी छत्र तान कर हम वास्तविक सिंह-आसन (सिंह की खाल का आसन तथा राज-सिंहासन) बना देंगे। आप उस पर बैठ जाइए। अर्घ्य, पाद्य तथा मधुपर्क की तो यहाँ बहुलता है। हम आपको नित्य नया आदर प्रदान करेंगे। हे देव! आप जङ्गल में मङ्गल कीजिए, हमें अपनाइए, आदेश दीजिए तथा नागर (सभ्य) बनाइए।"

अलंकार : रूपक, श्लेष तथा अनुप्रास।

'रामचरितमानस' के कोल किरात का राम से निवेदन है :

हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा॥
कीन्ह बासु भल ठाँउ बिचारी। इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥
हम सब भाँति करब सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई॥
बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा। सब हमार प्रभु पग पग जोहा॥
तहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब। सर निरझर जल ठाँउँ देखाउब॥
हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आयसु देता॥

पृथ्वी की मंदाकिनी .... अम्बर बोर।

पृथ्वी की मन्दाकिनी हिलोरें लेने लगी। स्वर्गंगा भी (धरती पर) उतर कर मानों समस्त आकाश के साथ मंदाकिनी में ही विलीन हो गयी।

मन्दाकिनी : पुराणानुसार 'मंदाकिनी' गंगा की उस धारा का नाम है जो स्वर्ग में है। इसे आकाश गंगा अथवा स्वर्गंगा भी कहते हैं। ब्रह्मवैवर्त के अनुसार इसकी धारा अयुत योजन लम्बी है। हिमालय पर्वत में उत्तर काशी में बहने वाली एक छोटी नदी का नाम भी मंदाकिनी है। गंगा, मंदाकिनी तथा अलकनंदा नदियों से मिलकर हरिद्वार के पास पथरीले मैदान में उतरती है। महाभारत आदि के अनुसार मंदाकिनी चित्रकूट के समीप बहने वाली एक नदी का नाम है। इसे अब पयस्विनी कहते हैं। 'साकेत' के कवि ने 'मंदाकिनी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। उसकी कल्पना है कि स्वर्गंगा भी इसी मंदाकिनी में विलीन हो गयी है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी इस शब्द का प्रयोग चित्रकूट के समीप बहने वाली पयस्विनी नदी के लिए किया है :

राम कथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय रघुबीर बिहारु॥

षष्ठ सर्ग

तुलसी, यह दास कृतार्थ तभी ··· ···· ··· ···· कवि-कथा कहे।

तुलसी, यह दास तभी कृतार्थ होगा, जब मुँह में सोना चाहे न हो परन्तु तुम्हारा एक पत्र अवश्य हो जो अपने मानस (मन) की कवि-कथा कह सके।

यहाँ 'तुलसी', 'पत्र' तथा 'मानस' शब्दों में श्लेष है। 'तुलसी' का अर्थ है तुलसी तथा गोस्वामी तुलसीदास, 'पत्र' का अर्थ है तुलसी का दल तथा 'रामचरितमानस' का पन्ना और 'मानस' का अर्थ है मन तथा रामचरितमानस।

इस प्रकार 'साकेत' के कवि ने परोक्ष रूप से राम-कथा के अमर गायक गोस्वामी तुलसीदास जी की स्तुति की है।

अन्त्येष्टि क्रिया के समय मृत व्यक्ति के मुख में तुलसी-दल तथा सोना रखने की प्रथा है। इस प्रकार प्रस्तुत पंक्तियों द्वारा दशरथ-मरण की ओर संकेत करके भावी घटनाओं का भी आभास दे दिया गया है।

उपमे, यह है साकेत यहाँ ···· ···· ···· ···· पुरजन छले गये।

उपमे, यह साकेत ही है परन्तु इसका सुख, शान्ति तथा सौभाग्य अब यहाँ कहाँ? वे तीनों तो यहाँ से चले गये और अयोध्यावासी (प्रजा-जन) छल लिये गये।

सौख्य (पुल्लिंग), शान्ति (स्त्रीलिंग) तथा सौभाग्य (पुल्लिंग) द्वारा क्रमशः राम, सीता तथा लक्ष्मण की ओर लक्ष्य किया गया है।

पुर-देवी सी यह कौन पड़ी ··· ··· ··· ···· जल-भिन्न हुई।

पुरदेवी के समान यह कौन पड़ी है? किन तीखे हाथों ने तोड़ कर इस कुमुदिनी को जल से अलग निकाल फेंका है?

सौख्य, शान्ति, सौभाग्य चले जाने के कारण मानो साकेत नगर की अधिष्ठात्री देवी ही ऊर्मिला के रूप में मूर्च्छिता तथा मौन पड़ी है।

सीता ने अपना भाग लिया ··· ···· ···· ···· हुई मही।

सीता ने अपना भाग ले लिया (पति के साथ में वन चली गयी) पर ऊर्मिला ने वह भी त्याग दिया। गौरव का यही तो भार है ("भार झेलती गौरव पाकर"—यशोधरा)। अत्यन्त विस्तृता होकर भी इसी भार की गुरुता के कारण ही तो पृथ्वी पृथ्वी है (टिकी हुई है)।

'सीता ने अपना भाग लिया, पर इसने वह भी त्याग दिया' :

'अरुण' जी के शब्दों में :

सीता तो वन में गई राम के संग-संग
संतोष एक।
नारी ने नर का साथ दिया जंगल में भी
एकाकी नारी कैसे रह पाती गृह में
वह भी तो चौदह वर्षों तक
उसमें भी नूतन वधू नम्र
वह चली गई पति के सँग-सँग

सीता की छोटी बहन ! मृदुल कोमल सुन्दरि !
निर्मले, उर्मिले ! ओ कलिके ! तुम पर तो वज्र-प्रहार हुआ।
मुकुलित सुवक्ष पर एक पहाड़ गिरा आकर
नयनों में आँधी उठी, नसों में बिजली कौंध गई चुपके
लग गई आग सहसा जीवन में एक बार
अभिलाषा की सारी कलिकायें झुलस गयीं
नारी का अन्तर-सत्य चीखने लगा स्वयं
जब पुरुष-कर्म निष्ठुरता पर हो गया खड़ा
*बन्धुत्व प्रेम आचरण भक्ति का रूप लिये !**
नव वय में ही विश्लेष हुआ ··· ··· ···· ··· भयंकर रोग हुआ।

नव-वय (यौवन के आरम्भिक वर्षों) में ही इसे (ऊर्मिला को) पति से अलग होना पड़ा। इस प्रकार यौवन में ही इसे यती (संन्यासिनी) का वेश धारण करना पड़ा। किस सताए हुए भाग्य (नक्षत्र) का यह फल है कि इसके लिए सुख भोग भयंकर रोग के समान हो गया है।

'यौवन में ही यति वेश हुआ' द्वारा कवि ने आश्रम-धर्म की ओर संकेत करके प्रस्तुत 'अस्वाभाविकता' को दुखप्रद माना है।

होता है हित के लिए सभी ···· ···· ···· ··· समय इसे।

यह तो सत्य है कि सब कुछ हित के लिए ही होता है। हरि (भगवान्) कभी किसी का अहित नहीं करते परन्तु इसमें (अयोध्या में घटित होने वाली इन अप्रत्याशित घटनाओं में) क्या हित छिपा है, यह तो समय (भविष्य) ही बता सकेगा।

* पोद्दार रामावतार 'अरुण', विदेह, पृष्ठ १६५, ६६।

भर भर कर भीति-भरी अँखियाँ .... बढ़ कर था।

भय से भरी आँखें भर-भर कर सखियाँ मूर्च्छिता ऊर्मिला को होश में लाने का प्रयत्न कर रही थीं परन्तु उसका शोक अत्यन्त तीक्ष्ण था और होश में आना तो उसके लिए मोह (संज्ञाहीनता) की दशा से भी अधिक कष्टप्रद था (इस प्रकार उसे फिर प्रस्तुत वियोग का ध्यान हो आता था)।

वह नई वधू भोली-भाली .... चन्द्र की उजियाली।

वह नयी तथा भोली-भाली वधू, जिसमें अत्यधिक अनुराग की लालिमा थी, या तो मुरझाई हुई कुमुदिनी जैसी जान पड़ती थी अथवा राहु-ग्रस्त चन्द्रमा की चाँदनी के समान।

वह नई वधू : कवि पहले भी कह चुका है :

*यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई।**

और

नव-वय में ही विश्लेष हुआ।†

सु-राग की थी लाली : अनुराग का रंग लाल माना गया है।

कुम्हलाई यथा कैरवाली : कुम्हलाती हुई कमुदिनी पर एक हल्की सी लाली शेष रहती है। कवि कुछ समय पूर्व कह भी चुका है :

किन तीक्ष्ण करों से भिन्न हुई, यह कुमुद्वती जल भिन्न हुई?

'कुम्हलाई यथा कैरवाली' में उसी जल-भिन्ना कुमुद्वती का अतीव सकरुण चित्र है।

'ग्रस्त चन्द्र की उजियाली' : चन्द्र-ग्रहण के अवसर पर चन्द्र की चाँदनी में कालिमा मिश्रित लाली परिलक्षित होती है। कवि ने अभी कहा था :

किस हत विधि का यह योग हुआ?

'ग्रस्त चन्द्र की उजियाली' मानों उसी 'योग' का परिणाम है।

मुख-कान्ति पड़ी पीली-पीली .... सूक्ष्म छाया?

इसके मुख का रंग पीला पड़ गया है। आँखें अशान्त तथा नीली हो गयी हैं। हाय, क्या यह वही कोमलांगी ऊर्मिला है अथवा उसकी सूक्ष्म छाया-मात्र शेष रह गयी है?

यहाँ कवि ने ऊर्मिला की वियोग-जन्य कृशता का चित्र प्रस्तुत किया है।

---

* साकेत, सर्ग १।

† वही, सर्ग ६।

'क्या हाय यही वह कृशकाया' : ऊर्मिला की यह दशा देख कर सहसा यह विश्वास ही नहीं होता कि यह वही 'कनक लतिका सी कमल सी कोमला' ऊर्मिला है। उसकी पीली पीली मुख-कान्ति देख कर कौन मान लेगा कि यह वही ऊर्मिला है :

प्रकट मूर्त्तिमती उषा ही तो नहीं,
कान्ति की किरणें उजेला कर रहीं।

ऊर्मिला की नीली-नीली आँखें देख कर कौन इस बात पर विश्वास करेगा कि—

जान पड़ता नेत्र देख बड़े-बड़े,
*हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े।*ॐ

सखियाँ अवश्य समझाती थीं ··· ··· ··· ··· धैर्य धरो।"

सखियाँ ऊर्मिला को समझा अवश्य रही थीं परन्तु उसकी यह दशा देख कर उनकी भी आँखें भरी आ रही थीं। ऊर्मिला की सखी सुलक्षणा ने कहा, "सखी! इस समय धैर्य रखना ही उचित है। भाग्य सदा विरुद्ध नहीं रहेगा। श्री राम शीघ्र ही यहाँ लौट कर आएँगे। महाराज ने शिकार के योग्य अस्त्र-शस्त्र आदि देकर सुमन्त्र को रामचन्द्र जी के साथ भेजा है (ताकि वे कुछ समय मृगया में बिता कर अयोध्या लौट आएँ)। महाराज ने यह सन्देश दिया है, "सुमन्त्र, राम के बिना यहाँ प्रत्येक पल एक वर्ष के बराबर माना जाएगा। अतः चौदह पल तक ही वन में रहना पर्याप्त होगा। तुम उन्हें आज अथवा कल ही यहाँ लौटा लाना" इसलिए इस प्रकार चिन्तित होना उचित नहीं। अब भी सुमन्त्र के लौट आने तक आशा शेष है अतः तुम धैर्य धारण करो।"

बोली ऊर्मिला विषादमयी ··· ··· ···· ···· अन्धकार कर भी।

दुःख भरे स्वर में ऊर्मिला ने उत्तर दिया, "हाय! सब कुछ तो चला गया परन्तु आशा न गयी। आशे! तुम चाहे निष्फल रहो (कभी सत्य सिद्ध न हो सको) परन्तु तब भी हीरे की कनी (की भाँति आकर्षक) हो। तुम मार कर भी (अन्त में असीम निराशा में परिणत होकर भी) मूल्य रखती हो (महत्त्वपूर्ण हो); अन्धकार करके भी (अन्त में विनाशकारिणी सिद्ध होकर भी) तुम उज्ज्वल (आरम्भ में सन्तोषदायिनी) ही हो।

कवि प्रसाद ने आशा की पर्यायवाचिनी 'चिन्ता' को सम्बोधित करके कहा है—

ॐ साकेत, सर्ग १।

हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा!
हरी-भरी सी दौड़-धूप, ओ
जल-माया की चल-रेखा!

इस ग्रह कक्षा की हलचल री!
तरल गरल की लघु लहरी;
जरा अमर जीवन की, और न
कुछ सुनने वाली, बहरी!

अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी!
अरी आधि मधुमय अभिशाप!
हृदय-गगन में धूमकेतु सी,
*पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप।**

'साकेत' के लक्ष्मण का भी विश्वास है :

आशा अन्तःपुर मध्य वासिनी कुलटा।†

अब भी सुलक्षणे, आशा है? ... ... छोड़ अब वे?

ऊर्मिला ने कहा, "सुलक्षणे! क्या अब भी आशा शेष है? यदि है तो यह (लक्ष्मण के प्रति मेरे) विश्वास का नाश करने वाली ही सिद्ध होगी। क्या प्रभु (श्री राम) तथा बहन (जानकी जी) और उनके पीछे दुःखनाशक (लक्ष्मण जी) लौट आएँगे? जानने वाले सब जान गये हैं। उन्होंने उनका महत्व भी स्वीकार कर लिया है। जिस व्रत पर वे सब कुछ छोड़ कर इस प्रकार चले गये हैं, वही व्रत छोड़ कर क्या वे अयोध्या में लौट आएँगे?"

ऊर्मिला को सान्त्वना देने के अभिप्राय से सुलक्षणा उसे विश्वास दिलाती है कि राम, सीता तथा लक्ष्मण अवधि से पूर्व ही लौट आएँगे परन्तु ऊर्मिला भली प्रकार जानती है कि वे अपना व्रत-भंग करके कभी न लौटेंगे और यदि लौट भी आये तो इससे उसे प्रसन्नता न होकर चोट ही पहुँचेगी। इस प्रकार उसके विश्वास को गहरी ठेस लगेगी।

'जो ज्ञाता हैं वे जान चुके' में असीम विश्वास है और उस विश्वास पर ऊर्मिला को अपूर्व गर्व है।

* श्री जयशंकर 'प्रसाद', कामायनी, चिन्ता सर्ग।

† साकेत, सर्ग ८।

निकली अभागिनी मैं ऐसी .... पा चुकी सभी ।"

"मुझ जैसी अभागिनी तो तीनों लोकों में कभी कोई न हुई होगी। मैं अपने पति का साथ भी न दे सकी और इस प्रकार अपना प्राप्य भी न ले सकी। यदि मैं अपने स्वामी की सहचरी न बन सकी तो उनसे इतना भी क्यों न कह सकी, 'हे नाथ ! तुम भाई का साथ दो, मुझे भी सर्वेश्वर वियोग की यह अवधि पार करने की शक्ति दें। अपने प्राण मुझे आज भी प्रिय हैं। मैं इनकी रक्षा करना चाहती हूँ ताकि वियोग की अवधि में अस्थिर रह कर भी मैं तुम्हें यहाँ फिर देख सकूँ। प्रेम स्वयं एक महान् कर्त्तव्य है। वही कर्त्तव्य तुम्हें अपनी ओर खींच रहा है। तुम्हारा भ्रातृ-स्नेह कम न हो अपितु वह तो संसार के लिए आदर्श ही सिद्ध हो। जीजी (सीता) की मर्म-कथा (मार्मिक हृदयाभिव्यक्ति) सुन कर मैं व्यथा न सह सकने के कारण गिर पड़ी थी परन्तु वह तो केवल नारी-सुलभ दुर्बलता थी। विकलता के आकस्मिक वेग से अधिक वह कुछ न था। इससे (मेरी इस दुर्बलता अथवा विकलता से प्रभावित होकर) मेरी चिन्ता न करना अन्यथा तुम्हारे व्रत में विघ्न पड़ेगा। लौट कर आने का दिन दूर भले ही हो परन्तु वह है अवश्य, मेरे लिए यह विश्वास ही पर्याप्त है। पूज्य भाई तथा भाभी के सो जाने पर तथा रात्रि की निबिड़ता में जब तुम मुझे याद कर लोगे तब मुझे मानों सब कुछ प्राप्त हो जाएगा।

ऊर्मिला को लक्ष्मण के जाने का दुःख नहीं। उसे तो इस बात का दुःख है कि वह सहर्ष पति को विदा क्यों न कर सकी, उसकी नारी-सुलभ दुर्बलता अथवा आकस्मिक वेग विकलता-जन्य मूर्च्छा ने वह सुअवसर उससे छीन क्यों लिया ?

प्रिय उत्तर भी सुन सकी न मैं ... ... वदन रुचिर ।

"मैं अपने मन की बात कहकर प्रिय का उत्तर भी न सुन सकी और इस दीर्घ काल के लिए अपना कर्त्तव्य-पथ भी निर्धारित न कर सकी। अब भला मैं किससे क्या पूछूँ जिसके आधार पर यह लम्बी अवधि काटी जा सके ? सखी सुलक्षणे, तुम धैर्य धारण करने को तो कह रही हो परन्तु यह तो बताओ कि मैं क्या करूँ और क्या न करूँ जिससे मैं वही प्रसन्न तथा मनोहर मुख पहले से भी अधिक गौरवान्वित देख सकूँ।

ऊर्मिला यह कभी नहीं चाहती कि उसके पति का व्रत अधूरा रहे। वह तो लक्ष्मण का 'महत्त्व से मण्डित' मुख ही देखना चाहती है।

मैं अपने लिए अधीर नहीं ··· ··· ··· ··· बो गया यह।

"हे सखी, मैं अपने लिए विकल नहीं हो रही हूँ, मेरे नेत्रों का यह नीर अपने लिए नहीं बह रहा है। मुझे तो यही सोच कर असीम दुःख है कि यह क्या-से-क्या हो गया? इस प्रकार रस में विष के बीज कौन बो गया?

जो यों निज प्राप्य छोड़ देंगे ··· ··· ··· ··· उनके लेंगे?

जो (श्री राम) अपना प्राप्य (राज्य) भी इस प्रकार छोड़ गये, उनके अनुग (भरत) क्या अप्राप्य ले लेंगे?

'जो यों निज प्राप्य छोड़ देंगे': लक्ष्मण ने भी राम की इस महानता का उल्लेख करते हुए कहा था:

प्राप्य राज्य भी छोड़ दिया,
*किसने ऐसा त्याग किया?**

'अप्राप्य अनुग उनके लेंगे' में '*अनुग*' शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। '*प्राप्य*' का भी त्याग करने वाले राम के अनुयायी भरत '*अप्राप्य*' लेंगे। यह सर्वथा असम्भव है। सुमन्त्र ने भी कहा था:

भरत दशरथ पिता के पुत्र होकर,
न लेंगे, फेर देंगे राज्य रोकर।†

माँ ने न तनिक समझा-बूझा ··· ··· ··· ···· विश्वास यहाँ।

"मां (कैकेयी) ने बिना सोचे-समझे यह क्या कर डाला? यह उन्हें अचानक सूझा क्या? कहाँ अभिषेक, कहा वनवास! सत्य तो यह है कि यहाँ किसी पर क्षण भर के लिए भी विश्वास नहीं किया जा सकता।

भावी समीप भी दृष्ट नहीं ···· ··· ··· ··· इष्ट तुझे?

"भावी (भविष्य) निकट होकर भी दिखाई नहीं देती। ऐसी कौनसी बात है जो सहसा हो नहीं सकती। अरे दुर्भाग्य, तू मुझे साफ-साफ बतादे, तुझे दूसरों का अनिष्ट करना ही क्यों अच्छा लगता है?

एक बार कैकेयी ने भी कहा था:

तुझे क्या है अदृष्ट, है इष्ट,
सूर्य-कुल का हो आज अरिष्ट?‡

तू है बिगाड़ता काम बना ··· ··· · ···· जहाँ तहाँ।

"अरे दुर्भाग्य, तू बनते हुए काम बिगाड़ देता है और प्रायः विरोधी ही

* साकेत, सर्ग ४।
† वही, सर्ग ३।
‡ वही, सर्ग २।

बना रहता है। प्रतिकार (बचाव) का समय दिये बिना तथा पल भर भी विचार न करके (आगा-पीछा सोचे बिना) तू सर्वत्र वार करता तथा सबको धोखा देता रहता है।

तूने जो कुछ दुरदृष्ट, किया ... ... दुर्दम यम भी।"

"अरे दुरदृष्ट (दुर्भाग्य) तूने जो कुछ किया, हमें स्वप्न में भी उसका आभास (झलक) न दिया। (यदि पहले से कुछ सूचना मिल जाती तो) हम उससे अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करते क्योंकि प्रबल यम को भी योग साधना (प्रयत्न) द्वारा अपने वश में किया जा सकता है।

ऊर्मिला उसी वीर की पत्नी है जिसका विश्वास है :

भले ही दैव का बल दैव जाने,
*पुरुष जो है न क्यों पुरुषार्थ माने?**

नभ ओर ऊर्मिला ने देखा ... ... भभक उठा।

ऊर्मिला ने आकाश की ओर देखा। उसकी उस दृष्टि में (दैव के प्रति) ईर्ष्या भरी थी। उस समय आकाश भी मानों धधक उठा (जलने लगा) और सन्ध्या की लाली के बहाने मानों भभकने लगा।

रीता दिन बीता रात हुई ... ... गुनती थी।

सर्वथा सूना दिन बीत गया, रात आयी। ज्यों-त्यों करके रात बीती और सवेरा हुआ। इसके उपरान्त फिर सूनी-सूनी सी सन्ध्या आयी मानो समस्त वेला (रात्रि, प्रभात, सन्ध्या) बाँझ (निष्फल) हो गयी हो। ऊर्मिला कभी (दुःख के असीम वेग के कारण) रोती थी कभी तनिक (किसी मधुर कल्पना के कारण) प्रसन्न हो जाती थी। जो कोई उसे कुछ समझाता, उसे ध्यान से सुनती परन्तु अपने मन में किसी ऐसी बात पर मनन करती रहती थी जो तर्क-वितर्क की सीमा से परे (निश्चित) थी।

उन माताओं की करुण-कथा ... ... अवकाश न था!

उन (सुमित्रा तथा कौसल्या) माताओं की करुणाजनक स्थिति दुगुनी दारुण व्यथा दे रही थी। पुत्र वन में चले गये तथा पति इस अवस्था में पड़े थे। उन्हें तो मानो रोने का भी अवकाश न था।

आँधी से उखड़े वृक्ष सदृश ... ... दायें-बायें।

आँधी से उखड़े हुए वृक्ष के समान शोक से आहत महाराज दशरथ

* साकेत, सर्ग ३।

अत्यन्त दुर्बल तथा निर्जीव से पड़े थे। वे (कौसल्या तथा सुमित्रा) भी फूल छिन जाने वाली बेलों की भाँति दशरथ के दायें बायें थीं।

'विमाता बन गई आँधी भयावह' परन्तु 'हुआ चंचल न तो भी श्याम घन वह।' .... उसी आँधी ने वृद्ध अयोध्या-नरेश को पहले तो 'अर्द्ध-जीवित अर्द्ध-मृत' और फिर 'शोक-हत जर्जर कृश' कर दिया—ठीक आँधी से उखड़ जाने वाले वृक्ष की भाँति। यह विशाल वृक्ष ही नहीं गिरा, इसके साथ ही लिपटी बेलें भी स्वयमेव इसके साथ ही गिर पड़ी। वृक्ष और वल्लरी का भाग्य अभिन्न है। वल्लरी का, वृक्ष के अतिरिक्त अस्तित्व कहाँ? अस्तु, अर्धांगिनी पत्नियाँ शोक-हत भूप के दायें बायें हैं। ये लतिकायें भी पत्र-पुष्प-युक्त नहीं हैं—हत प्रसूना हैं—बरबस उनके पुष्पों—पुत्रों—को उनसे दूर कर दिया गया है। यह उपमा सर्वथा समीचीन है, चित्र सर्वथा पूर्ण।

ज्यों त्यों कर शोक सहन करके .... सबकी ओर अहो!"

जैसे तैसे शोक का वेग सहन करके तथा अंचल से (महाराज पर) हवा करते हुए श्रीराम की माता, कौसल्या ने महाराज दशरथ से कहा, "हे नाथ, अब इस प्रकार विकल होना ठीक नहीं, तुमने अपने धर्म का पालन किया, पुत्र ने अपना पुत्र-धर्म निबाहा, पत्नी (सीता) पति के साथ जाकर देवी तुल्य (वन्दनीया) बन गयी और अनुगामी (छोटे भाई) ने बड़े भाई की सेवा का व्रत ले लिया, इस प्रकार यह जो कुछ भी हुआ वह सर्वथा स्वाभाविक ही है परन्तु इससे मानवचरित्र अवश्य धन्य हो गया है, अतः तुम गौरव की शक्ति से यह शोक सह लो और हम सबकी ओर देखो।"

आधार-ग्रन्थों की कौसल्या पुत्र-वियोग का शोक सहने में असमर्थ है। 'साकेत' की कौसल्या का निश्चय है "जो आ पड़ा सहा मैंने।" अतः वह महाराज दशरथ से भी यही निवेदन करती हैं कि वह धैर्यपूर्वक गौरव की शक्ति से (गौरव-प्राप्ति की आशा के सहारे) शोक सह लें।

भूपति ने आँखें खोल कहा .... आँखों का पानी।"

भूपति (दशरथ) ने आँखें खोल कर कहा, "यह कौन बोल रहा है? कौसल्या हैं? राम माता तुम धन्य हो। हाय रे! मैं क्या कहूँ? हा विधाता! इस शोक को मैं कहाँ तक रोकूँ? मैं किस मुँह से तुम्हारी ओर देखूँ। हा! आज मेरी दृष्टि (देखने की शक्ति) कहाँ चली गयी? वह तो मानों जानकी वधू के साथ ही चली गयी है। सीता भी अपने वृद्ध ससुर से नाता तोड़कर तथा

उसे इस प्रकार छोड़ कर चली गयी ! ऊर्मिला बहू की बड़ी बहिन ! मैं किस प्रकार यह शोक सहूँ ? हाय ! बहू ऊर्मिला, रघुकुल की असहाय बहू ऊर्मिला ! मैं ही इस समस्त अनर्थ का कारण हूँ ! सूर्य-वंश में मैं वास्तव में 'केतु' बन गया। यदि राम वन से न लौटे तो वे मुझसे न मिल सकेंगे। कैकेयी, तू मेरी बलि को भोग (मेरी मृत्यु से प्रसन्न हो)। तेरी राज्य-श्री तृप्त रहे। अरी भोग-लिप्ते, तू दशरथ जैसा दानी पाकर अपनी मनमानी कर चुकी (मनमाना वर पा चुकी)"। कौसल्या को सम्बोधित करके महाराज ने कहा, "पटरानी, तुम भी तो कुछ माँग लो। मैं संकल्प के लिए आँखों का पानी ले कर तुम्हें भी मनचाही वस्तु दूँगा।"

यहाँ पृथ्वी पर लेटे महाराज दशरथ के लिए '*भूपति*' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस समय तो मानों यह शब्द अक्षरशः सत्य हो गया है।

महाराज, सीता को 'ऊर्मिला वधू की बड़ी बहिन' कह कर सम्बोधित करते हैं। इस प्रकार उन्हें सहसा ऊर्मिला की याद आ जाती है। महाराज का ध्यान सीता से ऊर्मिला की ओर ले जाने के लिए इस प्रकार का माध्यम आवश्यक था।

सौर-परिवार में 'केतु' अमंगलकारी नक्षत्र माना जाता है। अतः यहाँ 'रविकुल' तथा 'केतु' शब्द श्लिष्ट हैं। 'रविकुल' के अर्थ हैं : सूर्य-वंश तथा सौर-परिवार और 'केतु' के अर्थ हैं : अमंगल का कारण और केतु नामक नक्षत्र।

दूँ लेकर आँखों का पानी : संकल्प करते समय अञ्जलि में पानी लेना आवश्यक होता है।

"*माँगूँगी क्यों न नाथ तुमसे ···· ···· ···· ··· मुझ जैसी।*"

कौसल्या ने उत्तर दिया, "हे नाथ, मैं तुमसे मनचाही वस्तु माँगूँगी क्यों नहीं ? कल्प-वृक्ष की भाँति तुम मुझे यही वर दो कि कैकेयी चाहे जैसी हो परन्तु मेरी भाँति उसे पुत्र का वियोग न सहना पड़े।"

'साकेत' की कौसल्या का चरित्र यहाँ, आधार-ग्रन्थों की अपेक्षा ऊँचा उठ गया है। उदाहरणार्थ 'अध्यात्म रामायण' की कौसल्या के हृदय में अब तक कैकेयी के प्रति अपार क्रोध है :

ततो दुःखेन महता पुनरेवाहमागतः।
ततो रुदन्ती कौसल्या राजानमिदमब्रवीत्॥
कैकेय्यै प्रियभार्यायै प्रसन्नो दत्तवान्वरम्।
त्वं राज्यं देहि तस्यैव मत्पुत्रः किं विवासितः॥
कृत्वा त्वमेव तत्सर्वमिदानीं किं नु रोदिषि।

(तब रोती हुई कौसल्या ने राजा से इस प्रकार कहा, "राजन्! आपने यदि प्रसन्न होकर अपनी प्रिया कैकेयी को वर दिया तो भले ही आपने उसी के पुत्र को राज दिया होता किन्तु मेरे पुत्र को देश निकाला क्यों दिया और अपने आप ही यह सारी करतूत करके अब आप रोते क्यों हैं।)※

यह सुन कर अ० रा० के दशरथ दुःख भरे स्वर में कहते हैं :

दुःखेन मां म्रियमाणं किं पुनर्दुःखयस्यलम् ।
इदानीमेव मे प्राणा उत्क्रमिष्यन्ति निश्चयः ॥

(मैं तो आप ही दुःख से मर रहा हूँ, फिर इस प्रकार मुझे और दुःख क्यों देती हो? इससे क्या लाभ है? इसमें सन्देह नहीं कि मेरे प्राण अभी निकलने वाले हैं। †

इसके विपरीत 'साकेत' की कौसल्या अपने पति को कष्ट न देकर उन्हें शान्त करने तथा धैर्य दिलाने का ही प्रयत्न करती हैं।

"क्या यही माँग कर लेती हो .... हैं घेरे ।

"क्या तुम यही माँग कर लेना चाहती हो अथवा इस प्रकार तुम मुझे अन्तिम समय में शान्ति प्रदान कर रही हो? पर मेरे भाग्य में शान्ति कहाँ? पहले किए हुए बुरे कर्म जो मुझे घेरे हुए हैं।

कृत कर्म जो मुझे हैं घेरे : 'वाल्मीकि रामायण' में :

सभार्ये निर्गते रामे कौसल्यां कोसलेश्वरः ।
विवक्षुरसितापांगा स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ॥
स राजा रजनीं षष्ठीं रामे प्रव्राजिते वनम् ।
अर्धरात्रे दशरथः संस्मरन्दुष्कृतं कृतम् ॥

(सपत्नीक श्री राम जी के वनवासी होने पर महाराज ने अपने उस दुष्कृत की सुधि कर उसे महारानी कौसल्या से कहने की इच्छा की। श्री राम के वनवास के दिन से छठी रात को आधी रात के समय महाराज ने अपने उस पाप कृत्य का स्मरण किया।)‡

'वाल्मीकि रामायण' के दशरथ लगभग १०० श्लोकों में (अयो०, सर्ग ६३, ६४) कौसल्या के सामने अपने 'दुष्कृत्य' (भूल से श्रवण-वध) का उल्लेख करते हैं।

※ अध्यात्म रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७, श्लोक १५ से १७।

† वही, श्लोक १८ से १६।

‡ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ६३, श्लोक ३ से ४।

'अध्यात्म रामायण' में यह वर्णन लगभग ३० श्लोकों (अयो०, सर्ग ७) में किया गया है। गोस्वामी जी ने इस ओर संकेत मात्र किया है :

बिलपत राउ बिकल बहु भाँती।
भइ जुग सरिस सिराति न राती॥
तापस अंध साप सुधि आई।
कौसल्यहि सब कथा सुनाई॥
भयउ बिकल बरनत इतिहासा।
राम रहित धिग जीवन आसा॥

विस्तृत वर्णन के लिए उपयुक्त अवसर न होने के कारण गुप्त जी ने केवल 'कृतकर्म जो मुझे हैं घेरे' द्वारा इस का आभास मात्र दे दिया है।

दोनों सुरानियाँ रोती थीं ··· ··· ···· ···· पल कटते थे।

महाराज दशरथ की यह दशा देख कर दोनों श्रेष्ठ रानियाँ (कौसल्या तथा सुमित्रा) रो रही थीं तथा अपने आँसुओं से पति के चरण-कमल भिगो रही थीं। महाराज केवल 'राम-राम' ही रट रहे थे। उस समय एक-एक पल युग के समान बीत रहा था।

फिर भी सुमन्त्र हैं साथ गये ··· ··· ··· ···· जिला रही।

फिर भी सुमन्त्र साथ गये हैं और राम भी घर की यह चिन्ताजनक दशा देख गये हैं अतः एक यही आशा शेष थी कि कदाचित् वे सुमन्त्र के साथ लौट आएँ। यह आशा ही महाराज को अब भी जीवित रखे थी।

आशा अवलम्बदायिका है ··· ···· ···· ··· उसको छोड़े ?

आशा वास्तव में सहारा (सान्त्वना) देने में अत्यन्त निपुण है। यह अत्यन्त ही मधुर गीत गाने वाली (इस प्रकार भुलावे में डालने वाली) है। यह स्वयं भले ही नाता तोड़ दे (निराशा में परिवर्तित हो जाए) परन्तु ऐसा कौन है जो इसे छोड़ दे ?

ऊँचे अट्टों पर चढ़ चढ़ कर ···· ··· ··· ··· सब हारे।

ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं पर चढ़-चढ़ कर तथा सब मार्गों पर दूर-दूर जाकर अयोध्यावासी रथ के लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें यह आशा थी कि कदाचित् राम लौट आएँगे परन्तु यदि रघुनाथ को लौटना होता तो वे पहले वन में जाते ही क्यों ? बेचारे सुमन्त्र को ही लौटना पड़ा। उनके अनुरोध तथा तर्क राम को लौटाने में सफल न हो सके।

कर में घोड़ों की रास लिये ··· ··· ···· ···· सुमन्त्र फिरे।

अपने हाथ में घोड़ों की रास पकड़े हुए तथा अपने जीवन का उपहास-सा करके (जीवन का सत्व खोकर अथवा निर्जीव से होकर) सब प्रकार से पराधीन (अत्यन्त विवश) सुमन्त्र, सूना रथ लेकर अयोध्या की ओर लौटे।

'रामचरितमानस' के सुमन्त्र :

सोक सिथिल रथु सकइ न हाँकी। रघुबर बिरह पीर उर बाँकी॥
मीजि हाथ सिरु धुनि पछिताई। मनहुं कृपन धन रासि गवाँई॥
बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई॥

रथ मानों एक रिक्त घन था ··· ··· ··· ··· उपाय नहीं।

वह रथ तो मानों एक रीता बादल था, जिसमें न पानी था न गर्जन (गड़गड़ाहट)। हाय! उसमें तो बिजली भी न थी। भाग्य के विधान पर किसी का वश नहीं चलता।

यहाँ कवि ने राम के रथ की समानता रिक्त घन से प्रदर्शित की है। रथ और घन में वैसे कोई सादृश्य नहीं परन्तु रिक्त घन में जो अभाव तथा सूनापन होता है वही इस समय राम के रथ पर छाया हुआ है। जल-विहीन बादल जैसे अपना सर्वस्व लुटा कर मंथर गति से शान्त लौटते हैं इसी प्रकार वह रथ भी राम, लक्ष्मण तथा सीता के रूप में क्रमशः जल, गर्जन तथा बिजली का परित्याग करके, सर्वस्व गंवा कर, लौट रहा है।

यहाँ राम को 'जल' के समान कहा गया है, लक्ष्मण की ओर 'गर्जन' द्वारा तथा सीता की ओर 'बिजली' द्वारा संकेत किया गया है। इससे पूर्व भी कवि इसी भाव की अभिव्यक्ति इस प्रकार कर चुका है :

पिता को देख तापित भूमि तल सा;
बरसने यों लगा वर-वाक्य जल सा। —सर्ग ३

× ×

गई लग आग सी, सौमित्रि भड़के,
अधर फड़के, प्रलय घन तुल्य तड़के! —सर्ग ३

× ×

गोट जड़ाऊँ घूँघट की,
बिजली जलदोपम पट की। —सर्ग ४

जो थे समीर के जोड़ों के ···· ··· ··· ··· अरण्य-पथ था!

जो घोड़े हवा का मुकाबला करते थे (हवा की-सी तीव्रता से दौड़ते थे) इस समय उनके पैर भी न उठ रहे थे। राम के बिना वे भी रो रहे थे।

पशु भी प्रेम तथा विरह का अनुभव करते हैं। भीषणतम युद्धों में जो घोड़े युद्ध-भूमि में विमुख न हुए अब मानों उनके पैर ही कट गये थे। रीता (राम-विहीन) रथ उन्हें अत्यन्त भारी जान पड़ रहा था और घर अयोध्या का रास्ता मानों वन का मार्ग बन गया था (जिस ओर वे जाना न चाहते थे)।

इन पंक्तियों में 'रीता' और 'भार' तथा 'गृह-पथ' और 'अरण्य-पथ' का विरोधाभास द्रष्टव्य है।

गोस्वामी जी ने घोड़ों की दशा का चित्रण इन शब्दों में किया है :

देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥
नहिं तृन चरहिं न पिअहि जलु, मोचहिं लोचन बारि।
व्याकुल भए निषाद सब रघुबर बाजि निहारि....॥
चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे॥
अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछें। राम बियोगि बिकल दुख तीछें॥
जो कह रामु लखनु बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही॥
बाजि बिरह गति कहि किमि जाती। बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती॥

अवसन्न सचिव का तन-मन था .... भाग्य फूटा।

मन्त्री सुमन्त्र का तन तथा मन अवसन्न (जड़ीभूत) हो गया था। पवन भी सन-सन कर रहा था। ऐसा जान पड़ता था जैसे सचिव के सिर पर अनन्त (आकाश) ही टूट कर गिर पड़ा था जिसके फलस्वरूप सुमन्त्र की कमर टूट गयी (सर्वथा असहाय हो गया) और उसका भाग्य भी फूट गया।

'रामचरितमानस' के सुमन्त्र :

लोचन सजल डीठि भइ थोरी। सुनत न श्रवन बिकल मति भोरी॥
सूखहिं अधर लागि मुँह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी॥
बिबरन भयउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुँ पिता महतारी॥
हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी। जमपुर पंथ सोच जिमि पापी॥

धरती मानों थी मरी पड़ी .... छिपाता था।

धरती मानों मरी पड़ी थी। प्रकृति भयभीत हो रही थी। मानों दिशा के रूप में कोई भयंकर दैत्य ही अपना बड़ा सा मुँह खोल कर उसे खाने के लिए बढ़ा चला आ रहा था। सुमन्त्र का मुख-कमल इसी चिन्ता में निमग्न था कि वह अपने आप को अयोध्यावासियों तथा महाराज दशरथ के सामने

कैसे ले जा सकेगा ? इसीलिए वह अपने चारों ओर कालिमा (सन्ध्या-कालीन अँधेरा) फैला कर लज्जावश उसमें अपने को छिपाने का प्रयत्न कर रहा था। (सन्ध्या होने पर कमल की पंखड़ियाँ बन्द हो जाती हैं और उसके चारों ओर सन्ध्या की कालिमा फैल जाती है)।

प्रस्तुत अवतरण भयानक रस का सुन्दर उदाहरण है।

उर विकल हुआ क्या करता था .... देह यहीं।

बेचैन हो कर सुमन्त्र का हृदय क्या कर रहा था ? वह तो उसके शरीर में साँसें भर रहा था (विकलता में श्वास वेग से चलने लगता है) ताकि महाराज दशरथ को राम का सन्देश दिए बिना ही (सुमन्त्र का) वह शरीर वहीं निर्जीव होकर गिर न पड़े।

अवसन्न सचिव संदेश सुनाए बिना ही अपना शरीर त्याग न दे, इसी भय से मानों विकल हृदय उस शरीर में बल-पूर्वक साँसें भर रहा था (मृत-तुल्य सचिव को कुछ समय तक बलपूर्वक जीवित रखने का प्रयास कर रहा था)।

जब रजनी आकर प्राप्त हुई .... पुर में।

सुमन्त्र ने नगर के बाहर ही सन्ध्या बितादी और रात होने पर मूक और निस्पन्द से होकर उदास हृदय से सचिव सुमन्त्र ने अयोध्यानगरी में प्रवेश किया।

'रामचरितमानस' में भी :

पैठत नगर सचिव सकुचाई।
जनु मारेसि गुर बाँभन गाई॥
बैठि बिटप तर दिवसु गवाँवा।
साँझ समय तब अवसरु पावा॥
अवध प्रबेसु कीन्ह अँधिआरें।

थी पड़ी पुरी भी काली-सी .... रखाते हैं प्रहरी ?"

जिस अयोध्या में सदा दीवाली सी जगा करती थी वह काली (अन्धकार-विलीन) पड़ी थी। मानों नगरी ने भी केश खोलकर इस प्रकार (कालिमा अथवा अन्धकार फैलाकर) विधवा का वेश धारण कर लिया था (केश खोलना वैधव्य का प्रतीक है)। यह देख कर सुमन्त्र मानों रसातल (पाताल) में ही घुस गये और पल-पल पर उनकी साँस रुकने सी लगी। वह सोच रहे थे कि क्या यह अन्धकार कभी दूर न होगा ? अयोध्या में

अब कभी पौ न फटेगी (उजाला न होगा) ? सब चौक बन्द थे, मार्ग सूने थे। अयोध्या की पूर्णिमा (तड़क भड़क) अमावस्या में परिवर्तित हो गयी थी। अयोध्या के जिन घरों में से गोतों की गुंजार आती रहती थी मकानों की वे ही पंक्तियां आज स्तम्भित सी खड़ी थीं। नगर के रखवाले चुपचाप फिर रहे थे (घूम घूम कर चुपचाप पहरा दे रहे थे)। यह सब देख-देख कर मन्त्री सुमन्त्र के आँसू गिर रहे थे। "जब घर में से सब मूल्यवान् वस्तुएं लुट ही चुकीं तो अब ये पहरेदार और किस वस्तु की रखवाली कर रहे हैं," सुमन्त्र का हृदय हाहाकार करके कह उठा।

'वाल्मीकि रामायण' में :

ततः सायाह्नसमये तृतीयेऽहनि सारथिः।
अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह॥
स शून्यामिव निःशब्दां दृष्ट्वा परमदुर्मनाः।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास शोकवेगसमाहतः॥
कच्चिन्न सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा।
रामसन्तापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी॥

(शृङ्गवेरपुर से रवाना होने से तीसरे दिन सायंकाल के समय सुमन्त्र अयोध्या में पहुँचे और पुरी को उदास देखा। जनशून्य जैसी अयोध्या नगरी में सन्नाटा छाया हुआ देख कर सुमन्त्र कुछ उदास हुए और शोकाकुल हो सोचने लगे कि कहीं यह नगरी हाथियों, घोड़ों, नगरवासियों और महाराज सहित, श्री रामचन्द्र के वियोग जन्य सन्ताप एवं दुःख से उत्पन्न शोक रूपी आग में भस्म तो नहीं हो गयी।)*

उत्तर में 'नहीं' सुने न कहीं ···· ···· ··· ··· चुप ही रहते।

उत्तर में 'नहीं' न सुनें इसलिए अयोध्यावासी मंत्रिश्रेष्ठ सुमन्त्र से यह भी न पूछ सके कि राम लौटे अथवा नहीं। वे भयभीत से होकर मौन रह गये क्योंकि सुमन्त्र का मौन ही उत्तर की शोकसूचना दे रहा था। कोई अशुभ बात कहते अथवा पूछते हुए मनुष्य प्रायः चुप ही रहते हैं।

'वाल्मीकि रामायण' में :

सुमन्त्रमभियान्तं तं शतशोऽथ सहस्रशः।
क्व राम इति पृच्छन्तः सूतमभ्यद्रवन्नराः॥
तेषां शशंस गंगायामहमापृच्छ्य राघवम्।
अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना॥

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ५७, श्लोक ५ से ७।

(सुमन्त्र को नगर में आया हुआ देख सैंकड़ों हज़ारों अयोध्यावासियों ने दौड़ कर उन्हें घेर लिया और यह पूछने लगे कि श्री रामचन्द्र जी कहाँ हैं? सुमन्त्र ने उन सबको यही उत्तर दिया कि गंगा जी के तट पर पहुँच कर धर्म-प्रिय श्री रामचन्द्र जी ने जब मुझे लौटने की आज्ञा दी तब मैं लौट कर यहाँ आया हूँ।)

'रामचरितमानस' के पुरवासी सुमन्त्र से कुछ नहीं पूछते, सूना रथ देख कर ही उन्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाता है:

जिन्ह जिन्ह समाचार सुनि पाए। भूप द्वार रथु देखन आए॥
रथु पहिचानि बिकल लखि घोरे। गरहिं गात जिमि आतप ओरे॥
नगर नारि नर व्याकुल कैसें। निघटत नीर मीनगन जैसें॥

गुप्त जी का भी विश्वास है कि

अमंगल पूछना भी कष्टमय है —साकेत, सर्ग ३

अतः 'साकेत' के पुरवासी 'अमात्य की नीरवता' से ही 'उत्तर की शोक-सूचना' पा लेते हैं।

रथ देख सभी ने सीस धुना .... दीन हुए।

रिक्त रथ देखकर सब पुरवासियों ने अपना सिर धुन कर कहा "क्या हमारे आर्य नहीं लौटे?" ऊपर देवलोक में देवताओं ने अयोध्यावासियों का यह कथन स्पष्टतः सुना। देवताओं ने अयोध्यावासियों के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा, "राम को वन में रहकर ही देवकार्य सम्पन्न करना था (इसलिए वह वहीं रुक गये हैं)।" अमृत से सिंचे देवताओं के ये वाक्य उसी समय नीचे सुनाई न दिये क्योंकि वे कोलाहल में विलीन हो गये अतः पुरवासी किसी प्रकार की सान्त्वना न पाकर दुःख के कारण दीन (असहाय) हो गये।

अयोध्यावासियों का शोकपूर्ण कोलाहल देवलोक में स्पष्टतः सुनाई देता है परन्तु इसी कोलाहल के कारण साकेतवासी देवताओं का प्रत्युत्तर नहीं सुन पाते। इस प्रकार हमारे कवि ने अलौकिक को लौकिकता से समन्वित कर दिया है।

करके सुमन्त्र ने सिर नीचा ... ... अश्रु पड़ते।

सुमन्त्र ने सिर झुका कर एक बार अपनी आँखों को मींचा। (फलस्वरूप उनकी आँखों से रुके हुए आँसू बरस पड़े)। जिस रथ पर फूल बरसा करते थे, राम के उसी रथ पर आज आँसू बरस रहे थे।

जब नृप समीप उपनीत हुए ... ... बिल्लाती थीं।

नृप के समीप उपस्थित होते ही सुमन्त्र अपना शोक भूल कर भयभीत हो गये और कह उठे, "यह नौका (महाराज दशरथ) डूब ही जाएगी अथवा

इसे किनारा प्राप्त हो सकेगा ?'' महाराज के रूप में कोई गजराज कीचड़ में फँसा हुआ छटपटा रहा था। समीप ही हथनियाँ चिल्ला रही थीं। वे विवश होकर बिल्ला-सी रही थीं।

यहाँ '*उपनीत*' शब्द अत्यन्त साभिप्राय है। 'उपनीत' का अर्थ है 'लाया हुआ'। सुमन्त्र मानों स्वयं नहीं आये हैं, परिस्थितियों द्वारा वहाँ लाये गये हैं। इस प्रकार यह एक शब्द ही सुमन्त्र की विवशता तथा पराधीनता का पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर देता है।

महर्षि वाल्मीकि ने शोकग्रस्त महाराज दशरथ की तुलना व्याधिग्रस्त हाथी से की है :

वृद्धं परमसन्तप्तं नवग्रहमिव द्विपम् ।
*विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तम् अस्वस्थमिव कुंजरम् ॥**

'साकेत' के कवि ने दशरथ की तुलना कीचड़ में फँसे हुए हाथी से की है। व्याधिग्रस्त हाथी कीचड़ में फँसे हुए हाथी की अपेक्षा सरलतापूर्वक मुक्त हो सकता है। *धँसा हुआ* तो मानो छुटकारा पाने की रही सही आशा भी समाप्त कर देता है। *पंक* उस वातावरण की हीनता का भी द्योतक है जिसमें महाराज इस समय पड़े हैं।

'रामचरितमानस' के सुमंत्र दशरथ को इस अवस्था में देखते हैं :

जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमिअ रहित जनु चंदु बिराजा॥
आसन सयन बिभूषन हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना॥
लेइ उसासु सोच एहि भाँती। सुरपुर तें जनु खँसेउ जजाती॥
लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती॥
राम राम कह राम सनेही। पुनि कह राम लखन बैदेही॥

बोले नृप "राम नहीं लौटे" ••• ... . वही छूछा।

महाराज ने पूछा, "राम नहीं लौटे ?" और सारा भवन गूँजने लगा, "नहीं लौटे ?" महाराज दशरथ ने शंकाकुल होकर जितनी बातें पूछीं उन सबका शुष्क तथा निस्सार एक यही उत्तर मिला।

यद्यपि सुमन्त्र ने कुछ न कहा ... ••• ... ••• रामचन्द्र-मुख दिखलाओ।"

यद्यपि महाराज दशरथ के प्रश्नों के उत्तर में सुमन्त्र ने कुछ न कहा तथापि गूँज द्वारा महाराज दशरथ को वही उत्तर बार-बार मिलता रहा। ऐसी दशा में उन्हें मन्त्री का मौन अधिक खलने लगा और

* वाल्मीकि रामायण, अयो०, सर्ग ५८, श्लोक २।

सूखे हुए कण्ठ से उन्होंने पूछा, "तुमने राम को कहाँ छोड़ा? जहाँ उन्हें छोड़ आये हो मुझे भी वहाँ ले चलो। मुझे भी वहीं पहुँचा कर रामचन्द्र का मुख दिखलाओ?"

महर्षि वाल्मीकि के दशरथ सुमंत्र से अनुरोध करते हैं:

सूत यद्यस्ति ते किंचिन्मया तु सुकृतं कृतम्।
त्वं प्रापयाशु मां राम प्राणाः सत्वरयन्ति माम्॥
यद्यदापि ममैवाज्ञा निवर्तयतु राघवम्।
न शक्ष्यामि विना रामं मुहूर्तमपि जीवितुम्॥
अथवाऽपि महाबाहुर्गतो दूरं भविष्यति।
मामेव रथमारोप्य शीघ्रं रामाय दर्शय॥

(हे सुमन्त्र, यदि मैंने तेरा कुछ भी उपकार किया हो तो तू मुझे शीघ्र राम के पास पहुँचा क्योंकि मेरे प्राण शरीर से निकलने के लिए जल्दी कर रहे हैं। अथवा यदि अब भी राम मेरी आज्ञा मान कर वन से लौट सकें तो तू ही जाकर उनको लौटा ला क्योंकि मैं राम बिना एक मुहूर्त भी नहीं जी सकता। अथवा यदि महाबाहु राम बहुत दूर निकल गये हों तो मुझे रथ में बिठा कर शीघ्र वहाँ पहुँचा कर मुझे राम का मुख दिखला दे।)*

और 'रामचरितमानस' में:

पुनि पुनि पूँछत मंत्रिहि राऊ। प्रियतम सुअन संदेस सुनाऊ॥
करहि सखा सोइ बेगि उपाऊ। राम लखनु सिय नयन देखाऊ॥

टूटी महीप की हृत्तन्त्री ... . हमें जिलावेगा।

यह कहते-कहते महाराज की हृदय-तन्त्री टूट गयी। तब मन्त्री ने दुःख भरे स्वर में कहा, "हे आर्य! तुम अवश्य ही अवधि पूरी होने पर राम का मुख देख सकोगे। जब तुमने यह दुःख देखा है तो वह सुख क्यों न देखोगे? अवश्य देखोगे। वे तो कीर्ति-युक्त हो कर ही लौटेंगे और भेंट-स्वरूप वह कीर्त्ति तुम्हें देकर सुख पाएंगे। आकाश (देवलोक) में भी तुम्हारा नया नाम होगा (नये आदर्श की स्थापना होगी अतः नवीन यश प्राप्त होगा) परन्तु चिन्ता से तो कोई लाभ न होगा। उपयुक्त अवसर ही हमें उनसे मिला सकेगा। शोक करने पर तो हम उस समय तक जीवित भी न रह सकेंगे (अतः शोक का परित्याग ही उचित है)।

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ५६, श्लोक २१, २३।

इस अवसर पर 'रामचरितमानस' के सुमन्त्र का कथन है :

महाराज तुम्ह पंडित ज्ञानी ॥
बीर सुधीर धुरन्धर देवा ।
साधु समाजु सदा तुम्ह सेवा ॥
जनम मरन सब दुख सुख भोगा ।
हानि लाभु प्रिय मिलन बियोगा ॥
काल करम बस होहिं गोसाईं ।
बरबस राति दिवस की नाईं ॥
सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं ।
दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं ॥
धीरज धरहु बिबेकु बिचारी ।
छाड़िय सोच सकल हितकारी ॥

राघव ने हाथ जोड़ करके ··· ···· ···· ···· शान्ति वही ।"

"सुमन्त्र ने महाराज दशरथ को राम का सन्देश देते हुए कहा, "राघवेन्द्र राम ने धैर्य धारण करके विनयपूर्वक तुम्हारे लिए यह सन्देश दिया है: 'हे तात, इस समय हृदय में यही इच्छा बार-बार उठ रही है कि मैं पृथ्वी (दूरी) की इस रुकावट को पीछे धकेल कर तुम्हारे चरणों में आ लौटूं और तुम्हारे (वात्सल्य भरे) हाथों का स्पर्श पाकर सुख-प्राप्त कर सकूं। परन्तु धर्म-पालन मुझे वन में रहने के लिए विवश कर रहा है। अतः तुम अपने मन में मेरे लिए किसी भी प्रकार की चिन्ता न करना। (धर्म-पालन का) यही भाव मुझे वन में सुख पहुंचाएगा। हे तात, वही भाव तुम्हें भी शान्ति प्रदान करे।"

'रामचरितमानस' के राम का सन्देश है :

तात प्रनामु तात सन कहेहू । बार बार पद पंकज गहेउ ॥
करबि पाँय परि बिनय बहोरी । तात करिअ जनि चिन्ता मोरी ॥
बन मग मंगल कुसल हमारें । कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे ॥

तुम्हरें अनुग्रह तात कानन जात सब सुखु पाइहौं ।
प्रतिपालि आयसु कुसल देखन पाय पुनि फिरि आइहौं ॥

जननीं सकल परितोषि परि परि पाँय करि बिनती घनी ।
तुलसी करेहु सोइ जतनु जेहिं कुसली रहहिं कोसल धनी ॥

गुर सन कहब संदेसु, बार बार पद पदुम गहि ।
करब सोइ उपदेसु, जेहि न सोच मोहि अवधपति ॥

पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनाएहु बिनती मोरी॥
सोइ सब भांति मोर हितकारी। जातें रह नरनाहु सुखारी॥
कहब संदेसु भरत के आएं। नीति न तजिअ राजपद पाएं॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी॥
और निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई॥
तात भांति तेहि राखब राऊ। सोच मोर जेहि करै न काऊ॥

"क्या शान्ति? शान्ति, हा शान्ति .... विनीता ने?"

सुमन्त्र के मुख से राम का सन्देश सुनकर महाराज दशरथ ने कहा, "शान्ति? कैसी शान्ति? शान्ति यहाँ कहाँ? यहाँ तो स्वयं कैकेयी ने क्रान्ति का रूप धारण कर लिया है। मुझे तो पुण्य (प्रतिज्ञा-पालन) ही पाप की भाँति कष्टदायक हो गया और धर्म (सत्य-व्रत-पालन) ही मुझे कष्ट दे रहा है। क्या सीता ने, विनयशीला वधू वैदेही ने कुछ नहीं कहा?"

बोले समन्त्र "वे कह न सकीं .... महा यति के पीछे।"

सुमन्त्र ने उत्तर दिया, "सीता कुछ न कह सकीं। वे कहना चाहती थीं परन्तु भौचकी सी होकर थकित हो गयीं। साकेत की स्मृति में मग्न होकर उन्होंने पृथ्वी तक झुककर प्रणाम किया, फिर आकाश की ओर हाथ जोड़े। उस समय उनके नेत्र कुछ कुछ सजल हो गये। उनके आँसू बरौनियों (पलकों के बालों) तक तो आगये परन्तु नीचे नहीं गिरे। अन्त में वह इस प्रकार अपने पति के पीछे जा खड़ी हुईं जैसे मुक्ति किसी महान तपस्वी के पीछे जा खड़ी होती है।"

'नीचे न किन्तु गिरने पाये' में सीता का संयम स्पष्ट है। 'साकेत' की ये पंक्तियाँ पढ़ते-पढ़ते महाकवि कालिदास की तपस्यारत पार्वती, का चित्र आँखों के सम्मुख झूल जाता है।

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥

(उनके सिर पर जो वर्षा का जल पड़ता था वह पलभर तो उनकी पलकों में टिकता था, फिर वहां से ढुलक कर उनके ओठों पर जा पड़ता था, वहां से उनके कठोर स्तनों पर गिर कर बूंद-बूंद बनकर बिखरा जाता था और फिर उनके पेट पर

बनी हुई सिकुड़नों में होता हुआ वह बड़ी देर में नाभि तक पहुँच पाता था)*

'जा खड़ी हुई पति के पीछे' में सीता का पत्नीत्व मूर्तिमान् हो उठा है।

'रामचरितमानस' के सुमन्त्र के शब्दों में :

कहि प्रनामु कछु कहन लिय, सिय भइ सिथिल सनेह।
थकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह॥

नृप रोने लगे "हाय! सीते ··· ···· ···· ··· टले सभी!"

महाराज दशरथ रोने लगे। उन्होंने कहा, "हाय सीते, (यह सब देख-सुन कर भी) अत्यन्त कठोर होने के कारण हम अब तक जीवित हैं। घोरतम शारीरिक कष्ट सहकर भी तेरे मन पर तनिक मैल (तिल मात्र विकार) न आया। घर (में रहने तथा सुख भोग करने) के योग्य राम, सीता तथा लक्ष्मण वन के आकांक्षी (वनवासी) बने हैं और वन के योग्य (वानप्रस्थ आश्रम के योग्य) हम गृही बने हैं (हमें घर में रहना पड़ रहा है)! हे विधाता, तूने यह अस्वाभाविक कृत्य करने का परिश्रम क्यों किया है? यदि मन्थरा, मूर्खा दासी होने के कारण, वास्तविकता को न पहचान सकी तो (प्रियतमा रानी होकर) कैकेयी भी सच्ची बात क्यों न समझ सकी? कोई अभी जाकर उससे यह कह दे कि ले तेरे सब काँटे टल गये (नष्ट हो गये)।"

'साकेत' में सर्वप्रथम '*कंटक*' शब्द का प्रयोग लक्ष्मण–राम–कैकेयी संवाद में किया गया है।

राम : *देवि, यह क्या है सुनूँ मैं,*
कुसुम सम तात के कंटक चुनूँ मैं!
कैकेयी : *सुनो हे राम कंटक आप हूँ मैं,*
कहूँ क्या और, बस चुपचाप हूँ मैं।
लक्ष्मण : *न हों कंटक पिता के हेतु, मानो*
हमें पितृ-भक्त भार्गव तुल्य जानो!

लक्ष्मण 'भार्गव-तुल्य' पितृ-भक्ति प्रदर्शित न कर सके। उन्हें 'क्षमा छाया तले नत निरत' होना पड़ा। राम, सीता तथा लक्ष्मण वन को चले गये। कैकेयी के पथ के काँटे दूर हुए। अब तो केवल एक ही काँटा शेष है—महाराज दशरथ! उनके जीवन का अन्त भी सन्निकट है। अतः मृत्यु से पूर्व महाराज दशरथ का कैकेयी के लिए यही वक्रोक्तिपूर्ण सन्देश है कि 'ले तेरे सब संकट टल गये'।

* महाकवि कालिदास, कुमारसम्भवम्, सर्ग ५, श्लोक २४।

बोले सुमन्त्र सहसा कि "हहा ... ... यही कहा।"

सुमन्त्र ने सहसा कहा, "लक्ष्मण ने भी यही कहा था।"

'रामचरितमानस' के सुमन्त्र भी इस ओर संकेत करते हैं :

लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा॥
बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लखन लरिकाई॥

भूपति को जीवन भार हुआ ... ... सीते!"

महाराज दशरथ को जीवन भार-तुल्य जान पड़ने लगा। अन्तिम उद्गार के रूप में ये शब्द उनके मुख से निकले : "मेरे दोनों हाथ टूट चुके हैं, कमर भी टूट गई है, समस्त सुख मुझ से छिन चुके हैं, मेरी आँखों की पुतली भी निकलकर यहीं कहीं गिरी हुई बेचैन हो रही है। बार-बार शोक के झटके खाकर भी न जाने ये प्राण अभी तक क्यों अटके हैं? हे जीव! चलो, तुम्हारे दिन समाप्त हो गये। हा राम ... लक्ष्मण ... सीते!"

उपर्युक्त उद्धरण में '*कर युग*' का प्रयोग राम-लक्ष्मण के लिए '*कटि*' का सीता के लिए और '*आँखों की पुतली*' का ऊर्मिला के लिए किया गया है।

'अध्यात्म रामायण' के दशरथ के अन्तिम शब्द हैं :

हा राम पुत्र हा सीते हा लक्ष्मण गुणाकर।
त्वद्वियोगादहं प्राप्तो मृत्युं कैकेयिसम्भवम्॥

(हा पुत्र राम, हा सीते, हा गुणाकर लक्ष्मण, तुम्हारे वियोग से मैं कैकेयी द्वारा उपस्थित की हुई मृत्यु को प्राप्त हो रहा हूं)।

और 'रामचरितमानस' के दशरथ के अन्तिम उद्गार हैं :

हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥
हा जानकी लखन हा रघुबर। हा पितु हित चित चातक जलधर॥

राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ, राउ गयउ सुरधाम॥

बस यहीं दीप-निर्वाण हुआ ... ... परिवार-भार धारी।

बस यह कहते ही दीपक बुझ गया (महाराज दशरथ की मृत्यु हो गयी)। इस प्रकार पुत्र का वियोग उनके लिये वायु के बाण की भाँति (प्राण घातक) सिद्ध हुआ। आकाश में चन्द्रमा भी धुंधला पड़ गया अतः पृथ्वी पर कुछ भी दिखाई न दे रहा था। अत्यन्त भीषण हाहाकार हो रहा था। सारा संसार सूना सा जान पड़ता था। शोक में डूबी महाराज दशरथ की अर्द्धाङ्गिनियाँ (कौसल्या

तथा सुमित्रा) मूर्छिता थीं अथवा अधमरी सी हो गयी थीं। अचानक यह दृश्य देख कर। इससे भयभीत होकर नेत्रों को अपने हाथों से ढककर ऊँचे स्वर से "हा स्वामी" कह कर सुमन्त्र मानो आग से दहक उठे। सेवक अनाथ से होकर रो रहे थे। जो लोग भी वहाँ थे वे सब असीम शोक के कारण विकल हो रहे थे क्योंकि महाराज दशरथ सभी के हित-चिन्तक थे और सही अर्थों में (पूरे) परिवार का भार धारण करने वाले थे।

'साकेत' का यह एक करुण रस परिपूर्ण स्थल है।

'वाल्मीकि रामायण' में :

कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम्।
हा नाथेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीतले॥
सद्यो निपतितानन्दं दीनविक्लवदर्शनम्।
बभूव नरदेवस्य सद्म दिष्टान्तमीयुषः॥

(कौसल्या और सुमित्रा महाराज को देखकर तथा उनके शरीर पर हाथ रख कर महाराज को मरा हुआ जान कर "हा नाथ" कहकर चिल्लाती हुई पृथ्वी पर पछाड़ खाकर गिर पड़ीं। उस समय महाराज दशरथ का राजभवन त्रस्त, विकल और व्यग्र जनां से भरा, महा चीत्कार से युक्त और परिताप से सन्तप्त बन्धु-जनों से भरा हुआ आनन्दरहित और दीनता से परिपूर्ण हो गया था। वह राजभवन भाग्यहीन सा देख पड़ता था।*

और 'रामचरितमानस' में :

सोक बिकल सब रोवहिं रानी। रूपु सीलु बलु तेजु बखानी॥
करहिं बिलाप अनेक प्रकारा। परहिं भूमितल बारहिं बारा॥
बिलपहिं बिकल दास अरु दासी। घर घर रुदनु करहिं पुरबासी॥
अथयउ आजु भानुकुल भानू। धरम अवधि गुन रूप निधानू॥†

"माँ, कहाँ गये वे पूज्य पिता ··· ···· ···· ·· कैकेयी के आगे।

"माँ, वे पूज्य पिता कहाँ गये" इस प्रकार पुकार करके शोक में डूबी ऊर्मिला सब सुध बुध खोकर कैकेयी के आगे जा गिरी।

"यहाँ कैकेयी के आगे ऊर्मिला का गिरना कितना अर्थ रखता है। उसका यह मौन दशरथ-मरण के दृश्य से असम्बद्ध नहीं है। उसकी स्थिति की गहनता इससे और बढ़ जाती है, मानों वह इस समस्त हलाहल को चुपचाप पी गयी हो।"

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ६५ श्लोक २२, २८।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

कैकेयी का मुँह भी न खुला ···· ···· ···· ··· मन्थरा मरी !

इस समय कैकेयी का मुँह भी न खुल सका। पत्थर जैसा उसका शरीर हिल-डुल भी न सका। केवल बड़ी-बड़ी आँखें फट सी गयीं। ऐसा जान पड़ता था मानों नयी (कृत्रिम) आँखें जड़ दी गयी हों। उसके लिए तो रोना भी उपहास (अथवा निन्दा) का कारण हो गया। वह वैधव्य उसके अपने ही कुकर्म का फल था। उस समय वह स्वयं अपने से ही डरने लगी। किस बुरी घड़ी में मन्थरा ने आकर बुद्धि भ्रष्ट कर दी।

कैकेयी का यह चित्र शोक की चरमावस्था का द्योतक है।

भूपति-पद का विच्छेद ···· ··· ··· ···· समूह बहा !

भूपति-पद खंडित हो गया। ('भू' और 'पति' दोनों अलग हो गये। 'भू' यहीं रह गयी, 'पति' स्वर्गवासी हो गया।) यह सुनकर किसे दुःख न हुआ। आकाश भी चुपचाप रोने लगा और हिमकणों के रूप में उसके आँसू बहने लगे।

दानव-भय-हारी देह मिटा ··· ··· ··· ··· पुरांगनाएं रोईं।

राक्षसों के कारण उत्पन्न भय का नाश करने वाला महाराज दशरथ का शरीर मिट गया। समस्त राजोचित गुणों का केन्द्र विनष्ट हो गया। (इस अवसर पर) ऊपर (देवलोक में) देव-पत्नियाँ रोईं और पृथ्वी (अयोध्या) पर नगर वधुएं।

थे मुनि वसिष्ठ तत्वज्ञानी ···· ···· ··· ···· उन्होंने भी मानी।

यद्यपि मुनि वसिष्ठ तत्वज्ञानी थे (मानव जीवन का वास्तविक रहस्य जानते थे) तथापि उन्हें भी इस समय दुःख हुआ।

यहाँ मानवोचित भावनाओं का सफल अंकन है। तत्वज्ञानी वसिष्ठ भी मानवोचित भावनाओं से प्रेरित होकर शोक का अनुभव करते हैं। राम- वन-गमन के अवसर पर भी इसी प्रकार :

भाव देख उन एक महा व्रतनिष्ठ के,
भर आये युग नेत्र वरिष्ठ वसिष्ठ के !

होकर भी जन्म-मृत्यु संगी ··· ··· ···· ··· भंगी।

जन्म तथा मृत्यु साथी होकर भी भिन्न-भिन्न भाव-भंगिमा रखते हैं। (जन्म के अवसर पर सुख होता है और मृत्यु होने पर दुःख)।

जन्म मृत्यु संगी : गीता के अनुसार :

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा अपने पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।)

वह डील अपूर्व मनोहारी ··· ··· ··· ··· निश्चेष्ट पड़ा।

महाराज दशरथ का अनुपम तथा मन को मोहित करने वाला वह शरीर, जो सुमेरु पर्वत की चोटी के समान सदा खड़ा (उन्नत तथा कर्त्तव्य-तत्पर) रहता था आज सर्वथा गतिहीन पड़ा था।

मुख पर थे शोक-चिन्ह अब भी ··· ··· ··· ··· खोये !

महाराज के मुख पर अब भी शोक के चिन्ह परिलक्षित हो रहे थे। वह स्वयं चले गये थे (मर गये थे) परन्तु उनके भाव अब भी न गये थे (उनके मुख पर अंकित थे) अथवा महाराज मरे नहीं थे वह इसलिए सो गये थे कि इस प्रकार कदाचित् उनके खोए हुए पुत्र स्वप्न में ही मिल जाएँ।

मुँह छिपा पदों में प्रिय पति के ··· ··· ··· ··· हानियाँ थीं।

जीवन के एक मात्र आराध्य तथा आधार, पति के चरणों में मुख छिपा कर रानियाँ रो रही थीं। मानों वे जीवन-धन से युक्त हानियाँ हों।

'जीवन-धनमयीं हानियाँ' : कौसल्या और सुमित्रा जीवित हैं, उनका धन वैभव भी ज्यों का त्यों है परन्तु उनका जीवन-धन, उनका पति, उनका 'वर वित्त'-सर्वस्व तो उनसे सदा के लिए छिन गया है। इसीलिए आज मानों वे 'जीवनमयी' (जीवित) होकर भी निर्जीव और 'धनमयी' होकर भी निर्धन (जीवन-धन रहित) हैं।

देखा वसिष्ठ ने और कहा— ··· ··· ··· ··· छूट गयी !"

वसिष्ठ ने यह देख कर कहा, "नाशवान् शरीर यहीं रह गया। साँस रूपी शृङ्खला (जंजीर) टूट गयी। इस प्रकार आत्मा बन्धन से मुक्त हो गयी।"

'रामचरितमानस' में :

तब बसिष्ठ मुनि समय सम, कहि अनेक इतिहास।
सोक नेवारेउ सबहि कर, निज बिग्यान प्रकास॥

बोले सुमन्त्र कातर होकर ··· ··· ··· क्रिया करें ?"

सुमन्त्र ने अधीर होकर कहा, "गुरुवर देखिए तो सही, यह क्या हुआ ?

हाय, देवताओं के भी पूज्य महाराज दशरथ की मृत्यु इस प्रकार हुई ! महाराज के वे चार बेटे कहाँ हैं (इस समय चार बेटों में से एक भी यहाँ उपस्थित नहीं) जो महाराज की अन्त्येष्टि क्रिया करें ?

धैर्य देकर धीर मुनि ने ···· ···· ··· ··· प्रकृत-वृत्त कहे बिना ।

धैर्यवान मुनि ने ज्ञानोपदेश द्वारा सबको धीरज दिला कर महाराज का शव भली प्रकार सुरक्षित रखने के उद्देश्य से तेल में रखवा दिया। फिर उन्होंने सन्देश के अक्षर गिनाकर (अत्यन्त संक्षिप्त संदेश भली प्रकार समझाकर) योग्यतम दूतों को यह समझाकर भेजा कि वे वास्तविक घटनाओं की सूचना दिये बिना ही भरत को अयोध्या बुला लाएं ।

'रामचरितमानस' में :

तेल नाँव भरि नृप तनु राखा। दूत बोलाइ बहुरि अस भाषा ॥
धावहु बेगि भरत पहिं जाहू। नृप सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू ॥

इस शोक के सम्बन्ध से ··· ··· ··· ···· कठोरा केकयी !

इस शोक के सम्बन्ध के कारण सब अन्धे से होकर केवल एक ही घृणामयी मूर्त्ति की ओर देख रहे थे और वह थी कठोरहृदया कैकेयी ।

'वाल्मीकि रामायण' में :

नराश्च नार्यश्च समेत्य संघशो,
विगर्हमाणा भरतस्य मातरम् ।
तदा नगर्यां नरदेवसंक्षये,
बभूवुरार्ता न च शर्म लेभिरे ॥

(महाराज के स्वर्गवासी होने पर, अयोध्यापुरी वासी क्या पुरुष क्या स्त्री सब इकट्ठे होकर एक स्वर से भरत की माता कैकेयी को धिक्कारने लगे। उस समय सभी दुःखी थे, कोई भी सुखी न था।)※

और 'रामचरितमानस' में भी :

गारी सकल कैकइहि देहीं ।
नयन बिहीन कीन्ह जग जेहीं ॥

※ वाल्मीकि रामायण, अयो०, सर्ग ६६, श्लोक २६ ।

सप्तम सर्ग

'स्वप्न' किसका देख कर सविलास ··· ···· ··· ··· करुण निःश्वास ?

किसका विलास-पूर्ण स्वप्न देख कर कवि-कला (कविता) मधुर हँसी हँस रही है और किसकी दीप्ति युक्त (विख्यात) भेंट, प्रतिमा, करुणापूर्ण आहें भर रही है ?

'स्वप्न (वासवदत्तम्)' और 'प्रतिमा' संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटककार, भास के दो नाटक हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'स्वप्नवासवदत्तम्' का हिन्दी में अनुवाद भी किया है। उक्त हिन्दी अनुवाद के 'प्राक्कथन' में कहा गया है : "स्वप्नवासवदत्ता के कथोपकथन और स्वगत भाषण की सजीव स्वाभाविकता नाट्य-जगत् की एक अनुपम वस्तु है। इसकी नायिका वासवदत्ता का चरित्र जितना कोमल और करुण है, पद्मावती का चरित्र उतना ही सुन्दर और मनमोहक है। करुणा और शृंगार का अजीब सम्मिलन हुआ है।"* ('साकेत' के प्रस्तुत उद्धरण में '*सविलास*' उसी *शृङ्गार* का पर्यायवाची है।) 'प्रतिमा' नाटक का कथानक राम-कथा पर ही आधारित है। राम-वनवास से सम्बन्धित होने के कारण इस नाटक का वातावरण '*करुण निःश्वास*' से भरा है। अस्तु, 'साकेत' के प्रस्तुत अवतरण में 'स्वप्न' 'प्रतिमा' और 'भास' श्लिष्ट शब्द हैं। 'स्वप्न' के अर्थ हैं—स्वप्नवासवदत्तम् तथा सपना; प्रतिमा के अर्थ हैं—'प्रतिमा' नाटक तथा मूर्ति और 'भास' के अर्थ हैं—नाटककार भास तथा दीप्ति।

परन्तु 'साकेत' के सप्तम सर्ग की इन प्रारम्भिक पंक्तियों में एक और रहस्य भी निहित है। साकेतनगरी का विलास अब सपने की बात है। एक समय था जब अयोध्या में—

दृष्टि में वैभव भरा रहता सदा ;
घ्राण में आमोद है बहता सदा।
ढालते हैं शब्द श्रुतियों में सुधा ;
स्वाद गिन पाती नहीं रसना-क्षुधा !†

और इस समय—

खोले थी मानों केश पुरी, रक्खे थी विधवा-वेश पुरी।

---

* स्वप्न वासवदत्ता, अनुवादक श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्राक्कथन, पृष्ठ १७।
† साकेत, सर्ग १।

सब चौक बन्द थे, पथ सूने, हो गयी अमावस सी पूने।
रहती जो गीत-गुंजारित सी, गृह-राजि आज थी स्तम्भित सी।

आज तो यह निश्चय भी नहीं हो पाता कि—

यह तमी हटेगी क्या न कभी,
*पौ यहाँ फटेगी क्या न कभी?**

अस्तु, सर्ग की इन प्रारम्भिक पंक्तियों द्वारा कवि ने पहले ही इस ओर संकेत कर दिया है कि वह 'विलासपूर्ण स्वप्न' से 'करुण निःश्वास' की ओर आ रहा है। दूसरे शब्दों में, इस (सप्तम) सर्ग में,तो उसे उस 'पति' विहीना 'भू' की प्रतिमा प्रस्तुत करनी है जो करुण निःश्वास भर रही है :

नागरिक-गण गोष्ठियों से हीन,
आज उपवन हैं विजन में लीन।
× ×
हैं पड़े हत-से सरों के तीर!
× ×
देख कर ये रिक्त क्रीड़ा क्षेत्र,
हैं भरे आते उमड़ कर नेत्र।
× ×
पार्श्व से यह खिसकती-सी आप,
जा रही सरयू बही चुपचाप।
× ×
विप्र-पंक्ति-विहीन हैं सब घाट।
× ×
शान्ति या अवसन्नता यह मन्द?
है न क्रय-विक्रय, न यातायात,
प्राणहीन पड़ा पुरी का गात।

छिन्न भी है .... सरस रख साहित्य!

असहाय लेखनी भला क्यों न रोवे? वह छिन्न भी है और भिन्न भी। फिर वह भर भर कर आँसू क्यों न बहावे? करुणे, इन आँसुओं से सींच कर साहित्य को सरस (रसपूर्ण) बनाए रख।

* साकेत, सर्ग ६।

'साकेत' के कवि ने कई स्थानों पर लेखनी को सम्बोधित किया है। उदाहरणार्थ द्वितीय सर्ग के आरम्भ में कहा गया है :

लेखनी, अब किस लिए विलम्ब?
बोल, जय भारति, जय जगदम्ब।
प्रकट जिसका यों हुआ प्रभात,
देख अब तू उस दिन की रात।

अष्टम सर्ग के आरम्भ में :

चल, चपल कमल, निज चित्रकूट चल देखें,
प्रभु-चरण-चिन्ह पर सफल भाल-लिपि लेखें।

द्वादश सर्ग के आरम्भ में :

ढाल लेखनी, सफल अन्त में मसि भी तेरी,
तनिक और हो जाय असित यह निशा अँधेरी।

और प्रस्तुत (सप्तम) सर्ग के आरम्भ में :

छिन्न भी है, भिन्न भी है, हाय!
क्यों न रोवे लेखनी निरुपाय?
क्यों न भर आँसू बहावे नित्य?
सींच करुणे, सरस रख साहित्य!

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि द्वितीय तथा अष्टम सर्ग में वर्णित घटनाओं के अनुरूप कवि की लेखनी अत्यन्त '*अविलम्ब*' तथा '*चपल*' रही है और द्वादश सर्ग में तो इसकी मसि भी *सफल* हो गयी है। इसके विपरीत प्रस्तुत सर्ग में वह *छिन्न* भी है और *भिन्न* भी। लेखनी (कलम) को लिखने योग्य बनाने के लिए उसकी नोंक काट दी जाती है (छिन्न कर दिया जाता है) और फिर उसे आगे से दो भागों में विभक्त (भिन्न) भी कर देते हैं। यह तो हुई यथार्थ बात परन्तु यहाँ तो कवि की '*अविलम्ब*' और '*चपल*' लेखनी '*निरुपाय*' हो गयी है। 'साकेत' के कवि को अब अत्यन्त शोकपूर्ण वातावरण लिपिबद्ध करना है। तभी तो कदाचित् 'शोक भार से चूर' होकर लेखनी भी निरुपाय हो गयी है और स्याही की बूँदों के बदले लगातार बहने वाले आँसुओं से ही साहित्य को सरस रखने में प्रयत्नशील है।

सींच करुणे, सरस रख साहित्य! 'एको हि रस करुणमेव' और—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से निकला होगा गान!

जान कर क्या शून्य निज साकेत ··· ···· ··· ···· दोनों धन्य।

क्या अपने साकेत को सब प्रकार सूना जान कर छोटे भाई लक्ष्मण के साथ राम यहाँ लौट आये हैं अथवा भरत तथा शत्रुघ्न क्रमशः श्रीराम तथा लक्ष्मण के ही अभिन्न परन्तु अन्य रूप होकर धन्य हैं ?

गुप्तजी ने 'प्रदक्षिणा' में भी लिखा है :

राम सदृश थे भरत साँवले गोरे लक्ष्मण-सम शत्रुघ्न,
*तदपि राम के क्रम लक्ष्मण थे और भरत के क्रम शत्रुघ्न।**

क्यों हुए हैं ये उदास अशान्त ··· ··· ···· ··· गृह-ग्लानि ?

भरत और शत्रुघ्न इस समय उदास और अशान्त क्यों हो रहे हैं ? क्या ये अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक यात्रा करने के कारण थक गये हैं अथवा इन पर दूर रह कर भी घर में होने वाले खेद तथा शोक का प्रभाव उसी प्रकार पड़ गया है जैसे दूरस्थित चन्द्रमा पर (अपने ही सौर-परिवार के अन्य सदस्य) पृथ्वी की मलिन छाया पड़ जाती है।

या शशी में ज्यों मही की ग्लानि : चन्द्रमा स्वयं निष्कलंक है, उस पर दिखाई देने वाला कलंक तो 'म्लान मही' का प्रतिबिम्ब है। स्वयं भरत भी निष्कलंक हैं। 'भरत-सुत-मणि' की माँ के कुकृत्य ने उनके धवल यश पर भी मलिन प्रतिबिम्ब डाल दिया है।

दूर भी बिम्बित हुई गृह-ग्लानि : दूर (अनवगत) रह कर भी अपने सगे सम्बन्धियों के दुःख-सुख का प्रभाव अन्तर्ज्ञान द्वारा हमारे मन पर पड़ता ही है।

"सूत रथ की गति ···· ···· ···· ···· यथा सुरधाम !

भरत ने सारथि से कहा, "सूत, रथ की चाल कुछ धीमी कर दो ताकि घोड़े स्वेच्छापूर्वक (अपनी स्वाभाविक चाल से) चल सकें।" फिर शत्रुघ्न को सम्बोधित करके भरत बोले, "भाई देखो, साकेत आ गया। वह सामने ऊँचे-ऊँचे राज-महल दृष्टिगोचर हो रहे हैं। कमनीय, रङ्ग-बिरङ्गे, पताकाओं से सजे राजमहल आकाश में एकत्रित सन्ध्याकालीन बादलों जैसे जान पड़ रहे हैं। ऐसा लगता है कि पृथ्वी के पुण्य से आकृष्ट होकर लोकों में श्रेष्ठ, देवलोक भी चुपचाप इधर पृथ्वी पर खिंच आया है।

'मौन' शब्द शून्यता तथा गम्भीरता का सूचक है।

किन्तु करते हाय आज प्रवेश ···· ·· ···· ··· न जानें देह।

"परन्तु हाय, आज तो साकेत में प्रवेश करते समय हृदय विशेष रूप

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रदक्षिणा, पृष्ठ ८।

से काँप रहा है। न जाने इसका क्या कारण है ? ऐसा जान पड़ रहा है मानों मैं स्वयं अपने बल अथवा अपनी इच्छा से इसकी ओर न जा कर किसी अज्ञात शक्ति द्वारा इस प्रकार खिंचा जा रहा हूँ जैसे धनुष अपने आप न खिंच कर धनुर्धर की इच्छा के अनुसार खिंचता है। (घर लौटते समय) जब प्रसन्नता का आधिक्य होना चाहिए था उस समय न जाने मुझे इस प्रकार दुःख क्यों हो रहा है ? जैसे-जैसे घर समीप आता जा रहा है वैसे-ही-वैसे, न जाने क्यों (किसी अज्ञात आशंका से) मेरा शरीर सिहरता जा रहा है !

महर्षि वाल्मीकि के भरत ननसाल में ही अनेक बुरे-बुरे स्वप्न देखते हैं। वह अपने पिता को मैले कपड़े पहने और सिर के बाल खोले हुए पर्वत की चोटी पर से बुरे गोबर के ढेर में गिरते हुए देखते हैं। वह देखते हैं कि महाराज दशरथ उस गोबर के कुंड में मेंढक की तरह तैरते-तैरते बार-बार हँस-हँस कर अञ्जलि भर-भर तेल पी रहे हैं अथवा तिल मिश्रित भात खाकर बार-बार मस्तक नीचे झुका कर, सर्वाङ्ग में तेल लगाए हुए हैं और तेल में ही डूब रहे हैं। दूसरे स्वप्न में भरत देखते हैं कि समुद्र सूख गया है, चन्द्रमा टूट कर जमीन पर गिर पड़ा है, सारी पृथ्वी पर अंधेरा छाया हुआ है, महाराज की सवारी के हाथी के दाँतों के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं और प्रज्वलित आग सहसा बुझ गयी है। पृथ्वी नीचे धँस गयी है और अनेक प्रकार के वृक्ष सूख गये हैं। भरत देखते हैं कि पर्वत के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं और उनमें से धुँआ निकल रहा है। महाराज काले लोहे के पीढ़े पर काले वस्त्र पहने हुए बैठे हैं और काले तथा पीले रंग की स्त्रियाँ उनका उपहास कर रही हैं। धर्मात्मा महाराज लाल चन्दन शरीर में लगाए और लाल ही फूलों की माला पहने हुए गधों द्वारा खींचे जाने वाले रथ में शीघ्रतापूर्वक दक्षिण दिशा की ओर चले जा रहे हैं और एक विकटवदना राक्षसी, जो लाल वस्त्र पहने है, अट्टहास करती हुई महाराज को पकड़ कर जबरदस्ती खींच रही है। ऐसे भयानक स्वप्न देख कर भरत को निश्चय हो जाता है कि—

अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति।

(स्वयं मेरी, राम, महाराज दशरथ अथवा लक्ष्मण की मृत्यु होगी।)*

परन्तु अयोध्या से आने वाले दूत भरत को यह विश्वास दिलाते हैं कि वे जिनका कुशल चाहते हैं वे कुशलतापूर्वक हैं :

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ६९, श्लोक ८ से १७।

*कुशलास्ते नरव्याघ्र येषां कुशलमिच्छसि ।**

'रामचरितमानस' में :

अनरथ अवध अरंभेउ जब तें । कुसगुन होहि भरत कहुँ तब तें ॥
देखहिं राति भयानक सपना । जागि करहिं कटु कोटि कलपना ॥

अस्तु, अयोध्या की ओर जाते समय—

हृदयँ सोचु बड़ कछु न सोहाई । अस जानहि जियँ जाउँ उड़ाई ॥
एक निमेष बरस सम जाई । एहि बिधि भरत नगर निअराई ॥
असगुन होहिं नगर पैठारा । रटहिं कुभाँति कुखेत करारा ॥
खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला । सुनि सुनि होइ भरत मन सूला ॥†

'साकेत-सन्त' में भी :

उसी रात दुःस्वप्न भयंकर,
दिखे भरत को विविध प्रकार ।
"लौट चलें साकेत" यही वे,
मन में करते रहे विचार ।‡

आज के युग को दुःस्वप्नों पर अधिक विश्वास नहीं । कदाचित् इसीलिए 'साकेत' में भी दुःस्वप्नों को स्थान नहीं दिया गया परन्तु हमारा यह विश्वास आज भी अक्षुण्ण है कि आगत आपत्तियाँ अपना आभास पहले से ही दे देती हैं । इसीलिए 'साकेत' के भरत को घर के समीप पहुँचते हुए अवसाद होता है और उनकी देह सिहर उठती है ।

बन्धु, दोनों ओर दो तुम ध्यान ... ... थक, हार !

भरत ने शत्रुघ्न से कहा, "भाई तुम मार्ग में दोनों ओर ध्यान तो दो । हम नगर के बाहर वाले उद्यानों तक पहुँच गये । यद्यपि इस समय केवल सन्ध्या हो रही है (अधिक रात नहीं बीती है) परन्तु ऐसा जान पड़ता है मानों सब ओर आधी रात का सा सन्नाटा छाया हुआ है । इन उपवनों में आज नागरिकों की टोलियाँ वार्तालाप में निमग्न दिखाई नहीं देतीं । मानों आज उपवन जन-हीन वनों में परिवर्तित हो गये हैं । पेड़ भी मानों व्यर्थ किसी की बाट देख-देख कर झींम, झुक, थक और हार कर झँप गये हैं ।

वन-तुल्य हो जाने के कारण 'उद्यान' के लिए 'उपवन' का प्रयोग किया गया

---

* वाल्मीकि रामायण अयोध्या कांड, सर्ग ७०, श्लोक १२ ।

† रामचरितमानस, अयोध्याकांड ।

‡ 'साकेत-सन्त', सर्ग २, पृष्ठ ४३ ।

है और 'निर्जनता' का भाव प्रकट करने के लिए 'विजन' का। छोटी वस्तु बड़ी वस्तु में समा भी सकती है। यहाँ 'उपवन' 'वन' में विलीन हो गये हैं।

प्रतीक्षा व्यर्थ हो जाने पर हतोत्साह हो जाना स्वाभाविक है। वृक्ष मानों किसी की प्रतीक्षा करते-करते थक गये हैं और क्रमशः झीम, झुक, थक और हार कर झौंप गये हैं। (इन पंक्तियों में सार अलंकार का सुन्दर उदाहरण है।)

आधार-ग्रन्थों में भरत, शत्रुघ्न की ओर से सर्वथा उदासीन हैं। वह सूत के सामने तो अपने मन की शंकाएँ प्रकट करते हैं परन्तु उनका ध्यान शत्रुघ्न की ओर आकृष्ट ही नहीं होता। उदाहरणार्थ वाल्मीकि रामायण के भरत सूनी अयोध्या देख कर *सारथि से* कहते हैं:

> *एषा नाति प्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी।...*
> *उद्यानानि पुरा भान्ति मत्तप्रमुदितानि च॥*
> *जनानां रतिसंयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च।*
> *तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः॥*
> *स्रस्तपर्णैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः।*

(यह पुरी तो मुझे जगत् प्रसिद्ध और स्वच्छ एवं हरे-भरे उद्यानों से पूर्ण अयोध्या जैसी नहीं जान पड़ती ...... वाटिकाओं में पहले खूब चहल-पहल बनी रहती थी और वाटिकाएँ विहार करने के लिए एकत्रित स्त्री पुरुषों से भरी रहती थीं और जो अनेक प्रकार के फूले हुए वृक्षों तथा लता-गृहादि से शोभायमान होती थीं, उन वाटिकाओं में मुझे आज उदासी छाई हुई देख पड़ती है। सड़कों के दोनों ओर लगे हुए वृक्ष पत्तों से रहित होकर मानों चिल्ला-चिल्ला कर रोते हुए से जान पड़ते हैं।)*

इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि के भरत *अपने भाई के सामने* मन के भाव प्रकट करने के स्थान पर *सारथि से* अपने हृदय की बात कहते हैं। अपने ही रथ में बैठे हुए अपने भाई से मानों भरत का कोई सम्बन्ध ही नहीं। 'साकेत' के कवि ने राम-कथा के उपेक्षित पात्रों पर यथोचित प्रकाश डालने का सफल प्रयास किया है अतः 'साकेत' के भरत सारथि से रथ धीरे चलाने के लिए कह कर तुरन्त शत्रुघ्न को सम्बोधित करके अपने हृदय के भाव अभिव्यक्त करते हैं:

> *अनुज, देखो, आ गया साकेत...।*

इस अवसर पर 'साकेत' के भरत द्वारा शत्रुघ्न के लिए प्रयुक्त दोनों सम्बोधन,

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७१, श्लोक १६, २५, २६, २७।

'अनुज' तथा 'बन्धु', अपने में एक गहरी आत्मीयता तथा अभिन्नता छिपाए हैं।

कर रही सरयू जिसे कुछ ···· ··· ···· ··· ठंडी आह !

"वायु की वह शुद्ध धारा (अब भी पूर्ववत्) बह रही है जिसे सरयू कुछ रोक सी रही है परन्तु इस समय इस (वायु) की चाह किसे है ? यह तो स्वयं भी मानों ठंढी आहें भर रही है।

महर्षि वाल्मीकि के भरत कहते हैं :

चन्दनागरु संपृक्तो धूपसम्मूर्छितोऽतुलः ॥
प्रवाति पवनः श्रीमान्किन्नु नाद्य यथापुरम् ।

(हे सूत ! इस पुरी में सदा चन्दन और अगर की धूप से धूपित अत्यन्त सुगन्धित पवन चला करता था, किन्तु आज वैसा पवन भी तो नहीं चल रहा ।)*

जा रहा है व्यर्थ सुरभि-समीर ···· ··· ··· ···· उमड़ कर नेत्र ।

"यह सुगन्धित पवन व्यर्थ बह रहा है (कोई भी इसका उपभोग नहीं कर रहा) और तालावों के तट भी लुटे हुए से पड़े हैं। सर्वथा सूने खेल के मैदान देख कर नेत्र उमड़ कर भरे आ रहे हैं।

गोस्वामी जी ने भी '*श्रीहत*' सर, सरिता आदि की ओर संकेत किया है—

श्रीहत सर सरिता बन बागा ।
नगर बिसेषि भयावनु लागा ॥

'वाल्मीकि रामायण' में भी—

समन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम् ।
उद्यानानि हि सायाह्ने क्रीडित्वोपरतैर्नरैः ॥
समन्ताद्विप्रधावद्भिः प्रकाशन्ते ममान्यदा ।
तान्यद्यानु रुदन्तीव परित्यक्तानि कामिभिः ॥

(चारों ओर स्त्री-पुरुषों का जो कोलाहल हुआ करता था, वह तो मुझे आज सुनाई ही नहीं देता। यहाँ के उपवनों में सायंकाल के समय खेलों से निवृत्त हो, बहुत से पुरुष इधर-उधर दौड़ते हुए दिखाई देते थे किन्तु आज तो वे उपवन मुझे कामी पुरुषों द्वारा परित्यक्त होने के कारण रोते हुए से जान पड़ रहे हैं।)†

याद है घुड़दौड़ का वह खेल ··· ···· ··· धरा ध्वज लक्ष ।

"शत्रुघ्न, क्या तुम्हें घुड़ दौड़ का वह खेल याद है जब हँसते हुए, अपने

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७१, श्लोक २८, २६।

† वही, श्लोक २२, २३।

हाथ से मुझे तनिक धकेल कर, घोड़े को उड़ा कर (बहुत ही तेज दौड़ा कर) सामने ही अपने आप उछल कर लक्ष्मण ने सबसे पहले ध्वज को निर्दिष्ट स्थान पर ले जा कर खड़ा कर दिया था ?

अयोध्या के क्रीड़ा-क्षेत्र देख कर राजकुमार भरत के नेत्रों में अपने किशोर-वय के दृश्य झूलने लगते हैं। ये चित्र भरत के मस्तिष्क में अब भी कितने सजीव हैं यह 'हँस मुझे जब हाथ से कुछ ठेल' से स्पष्ट है। यहाँ, परोक्ष रूप में, लक्ष्मण को फिर ला उपस्थित करने में 'साकेत' के कवि का कौशल भी है। सत्य तो यह है कि इस प्रकार के अप्रत्यक्ष संकेत लक्ष्मण के चरित्र को अधिक प्रभावपूर्ण बना देते हैं।

दीख पड़ते हैं न सादी आज ······ ··· ··· शिखण्ड मयूर।

"परन्तु आज वे शिकारी घोड़े कहीं दिखाई नहीं देते। हाथियों को लाते हुए महावत भी आज कहीं नहीं देखे जाते। गायें रँभाती हुई दूर-दूर फिर रही हैं और शिथिल शिखा वाले (शोक में डूबे अथवा हतोत्साह) मोर भाग रहे हैं (भयभीत हैं)।

गोस्वामी जी ने भी लिखा है—

खग मृग हय गय जाहिं न जोए।
राम वियोग कुरोग बिगोए॥

पार्श्व से यह खिसकती सी ····· ····· ··· श्रुति पाठ।

"सरयू समीप से खिसकती हुई चुपचाप बही जा रही है। न तो उसकी धारा पर नौकाएँ तैर रही हैं और न ही सरयू तट पर सैर करते हुए स्त्री-पुरुष दिखाई देते हैं। अवश्य ही अयोध्या में कोई भयंकर उपद्रव हुआ है। तभी तो सरयू के घाट, जो ब्राह्मणों से भरे रहते थे, आज सर्वथा सूने हैं। सन्ध्या-वन्दन आदि का वह आयोजन भी कहीं नहीं दिखाई देता, और वेद-पाठ भी कहीं सुनाई नहीं दे रहा है।

समस्त अयोध्या आज निर्जीव है। यहाँ तक कि सरयू भी आज समीप से ही चुपचाप खिसकती चली जा रही है। इस प्रकार मानों 'साकेत' के कवि ने भरत की ग्लानि को अङ्कित करने के लिए उपयुक्त एवं अनुकूल वातावरण की सृष्टि कर ली है। भरत अभी घटना स्थिति से सर्वथा अपरिचित हैं परन्तु उजड़ी हुई अयोध्या को देख कर एक कुलिश-कठोर विचार उनके हृदय को विदीर्ण-सा कर रहा है—

कुछ न कुछ विघटित हुआ विभ्राट्।

'वाल्मीकि रामायण' के भरत के सामने भी ऐसे ही अप्रत्याशित दृश्य हैं—

देवागाराणि शून्यानि न चाभान्ति यथापुरम् ॥
देवतार्चाः प्रविद्धाश्च यज्ञगोष्ठयस्तथाविधाः ।
माल्यापणेषु राजन्ते नाद्य पण्यानि वा तथा ॥

(देवालयों में पुजारी आदि कोई भी नहीं हैं, उनकी जैसी पहले शोभा थी, वैसी अब नहीं है। अब न तो कोई देवताओं का पूजन कर रहा है और न यज्ञ-शालाओं में यज्ञ-विधान ही हो रहा है। आज फूल मालाओं की तथा अन्य वस्तुओं की दुकानें शोभाहीन हो रही हैं।)*

'रामचन्द्रिका' में—

आनि भरत्थ पुरी अवलोकी ।
थावर जंगम जीव ससोकी ॥
भाट नहीं विरदावलि साजैं ।
कुंजर गाजैं न दुन्दुभि बाजैं ॥
राज सभा न विलोकिय कोऊ ॥†

और 'साकेत-सन्त' में—

सड़कें सिंचन से हीन, वृक्ष अनफूले,
थे विहग वृन्द सब मौन, काकली भूले ।
आलय थे तोरण-हीन, केतु थे ढीले,
थे उज्ज्वल नीले लाल पड़े वे पीले ।
तुरही की ध्वनि उड़ गई, गया सब पहरा,
अभिनव विषाद था राज महल पर गहरा ।
दूतों ने था जो मौन अनूठा साधा,
वह व्यापा था सब ओर बिना कुछ बाधा ॥‡

ये तरणि अपने अतुल कुल-मूल ··· ··· ··· ··· आवागमन यह श्रेष्ठ ।

"हमारे अतुलनीय वंश के संस्थापक यह भगवान सूर्य, जिन्हें दोनों किनारे (पूव तथा प्राची अथवा उदयाचल तथा अस्ताचल) सरसता प्रदान करते

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७१, श्लोक ४०, ४१ ।

† रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, प्रकाश १० ।

‡ साकेत-सन्त, सर्ग ३, पृष्ठ ४४ ।

हैं, जिस लाली के साथ उदय हुए थे उसी लाली (शोभा) के साथ अस्त हो रहे हैं। कल प्रातः यह इसी प्रकार उदित होंगे। जन्म लेने अथवा जीवन धारण करने की वास्तविक सफलता यही है। अपने वंश के ध्वज (कीर्ति) सूर्यदेव ! हम तुम्हें सादर प्रणाम करते हैं। तुम अनन्त काल तक इसी प्रकार संसार के कल्याण के लिए तपते रहो। अनुज शत्रुघ्न, अपने ज्येष्ठ श्री रामचन्द्र जी मुक्ति से इस आवागमन (नित्य उदित तथा अस्त होते सूर्य की भाँति लोक-कल्याण के लिए बार-बार जन्म लेना) को अधिक श्रेष्ठ मानते हैं।

अस्तोन्मुख सूर्य को देख कर भरत के हृदय में सर्वप्रथम श्रद्धा तथा आदर का भाव उदित होता है। कुल-देव का लोक-कल्याणार्थ होने वाला अस्तोदय वास्तव में 'जन्म-जीवन का साफल्य' है। अतः वंश-प्रवर्त्तक सूर्यदेव को सादर प्रणाम करके भरत कहते हैं—

तुम तपो चिरकाल इस भव-हेतु।

सूर्य के उदयास्त का चित्र सामने आते ही भरत का ध्यान सहसा अपने अग्रज श्री राम की ओर आकृष्ट हो जाता है और किसी अनजाने भय से उनका हृदय धड़कने लगता है।

धड़कता है किन्तु मेरा चित्त ·· ···· ··· ··· कुल-दीप।"

"परन्तु न जाने क्यों मेरा हृदय धड़क रहा है और भावना का पित्त भड़कता जा रहा है। दिन तथा रात्रि की सन्धि (सन्ध्या) सहर्ष हो (उसमें तो चिन्ता की कोई बात नहीं) परन्तु मुझे तो कोई भीषण संघर्ष सन्निकट दृष्टिगत होता है, समीप ही अन्धकार दिखाई दे रहा है।" तथापि अपने हृदय को सान्त्वना देते हुए भरत कहते हैं, "डरो नहीं (अन्धकार निवारण के लिए) कुल-दीप श्रीरामचन्द्र जी (समर्थ) हैं।"

महर्षि वाल्मीकि ने भरत के सन्ध्या-समय अयोध्या पहुँचने का केवल निर्देश किया है।❀ गुप्त जी ने इस संयोग से पूरा लाभ उठाया है। 'साकेत' के कवि के लिए इस समय का सूर्यास्त एक प्राकृतिक घटना-मात्र नहीं। यदि इतना ही होता तो 'साकेत' का कवि भरत के शब्दों में यह मान कर सन्तोष कर लेता कि "निकट हो दिन-रात सन्धि सहर्ष" परन्तु यहाँ तो स्वयं भरत *प्रकाश* से *अन्धकार* की ओर जा रहे हैं—दीखता है अन्धकार समीप। उनका हृदय रह-रह कर धड़क

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७१, श्लोक २२।

उठता है। कुल-केतु अस्त हो रहे हैं (महाराज दशरथ की मृत्यु हो चुकी है) पल भर में सब ओर अँधेरा छा जाएगा। *कुल-केतु* सूर्य की अनुपस्थिति में अन्धकार-निवारण का भार *कुल-दीप* राम पर ही है। राम के प्रति भरत का यह अनन्य विश्वास 'साकेत' के भरत के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा देता है।

तब कहा शत्रुघ्न ने भर आह ··· ···· ···· ···· संग भोजन-पान।

भरत की बात सुनकर शत्रुघ्न ने आह भर कर कहा—"अरे, मेरा विचार-प्रवाह तो दूसरी ही दिशा में प्रवाहित हो रहा था! मैं तो घर पहुँचने की कल्पना करके प्रसन्नतापूर्वक (पिता, माता तथा अन्य सम्बन्धियों को पुनः प्राप्त करके) सनाथ हो रहा था। मानों पिता जी हमारा कुशल-मंगल पूछ रहे थे, सब भाई प्रेमपूर्वक मिल रहे थे, माताओं के हृदय में प्रसन्नता का आधिक्य हो रहा था और भाभियाँ हास-परिहास करके प्रसन्न हो रही थीं। सम वयस्क मित्र यहाँ का हाल सुनाकर वहाँ के सब समाचार पूछ रहे थे। मन्त्री केवल यही सुनने को आतुर थे कि मामा ने हमें क्या क्या वस्तु भेंट में दी? जान पड़ता था मानो कुछ समय के लिए हम सबके लिए नये से हो गये थे और सब हमारे लिए। इस प्रकार सब ही मानो विशेषता समन्वित हो गये थे। सबके चेहरे (मुख-मंडल) (भाँति-भाँति के) वेष, बोली तथा भाव-भंगियों पर प्रसन्न हो रहे थे। हम तो अपने ही घर में अतिथि से जान पड़ते थे। कितना अनुपम समाज वहां एकत्रित था! सब एक साथ बैठ कर खा-पी रहे थे तथा प्रसन्नतापूर्वक नृत्य गायन हो रहा था।

शत्रुघ्न का यह कल्पना-चित्र साकेतकार की मौलिक देन है। यहाँ हमारे कवि ने हर्ष-उत्साह-उमङ्ग भरे उस वातावरण का सफल चित्रांकन किया है जो कुछ समय के बाद परिवार के प्रिय सदस्यों के, परिवार में पुनः लौटने पर होता है। इसका एक अन्य प्रयोजन भी है। हर्ष-सुख-पूर्ण, शत्रुघ्न का यह कल्पना-प्रवाह, वैषम्य द्वारा, आगामी विषाद के रंग को और भी तीव्र कर देता है।

पर निरख अब दृश्य ये विपरीत ···· ··· ···· ··· पा रहे हैं क्लेश।"

"परन्तु आर्य, अब ये सर्वथा (कल्पना से) विपरीत दृश्य देख कर तो मैं अत्यन्त भयभीत हो गया हूँ। मुझे तो ऐसा लग रहा है कि पिता जी अत्यन्त रोग-ग्रस्त होकर कष्ट पा रहे हैं।"

"रुग्ण ही हों तात हे भगवान्" ··· ···· ··· ··· गड़ी हो गाँस।

"हे भगवान, तात रोगी ही हों"—यह कहकर भरत पानी की मछली

(शफर-पोठी या पोठिया नाम की मछली) की तरह सिहर उठे। उन्होंने इस प्रकार एक लम्बी साँस ली जैसे उनके हृदय में बरछी गड़ गयी हो।

शत्रुघ्न के मुख से पिता के रोगी होने की बात सुन कर भरत के हृदय में बरछी सी गड़ जाती है परन्तु स्वयं उनका हृदय तो उससे भी भीषण आशङ्का से डरा हुआ है। तभी तो वे कहते हैं—

"रुग्ण ही हों तात हे भगवान् !"

इस प्रकार 'साकेत' का कवि मानों भरत तथा शत्रुघ्न को कठोरतम वास्तविकता के लिए तैयार-सा कर लेता है।

"सूत, तुम खींचे रहो कुछ रास ··· ··· ··· ···· अगति का अन्त।"

भरत ने सारथि से कहा, "सूत, तुम लगाम खींचे रहो क्योंकि घोड़े पहले ही बहुत परिश्रम कर चुके हैं, अथवा लगाम ढीली छोड़ दो। हा हन्त ! किसी प्रकार इस दुर्दशा (अनिश्चय) का अन्त तो हो !"

इस समय भरत की मानसिक स्थिति असंतुलित है। सारथी को दिये जाने वाले परस्पर-विरोधी आदेश (रास खींचे रहो और रास ढीली कर दो) इसके प्रमाण हैं। थके हुए घोड़ों के प्रति भरत को सहानुभूति है अतः वह रथ धीरे चलवाना चाहते हैं परन्तु अगति (गतिहीनता, स्थिरता, संशय की स्थिति) का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करने के उद्देश्य से वह रथ तेज़ चलवाना चाहते हैं। भरत की मनः स्थिति का यह अत्यन्त सफल अङ्कन है।

जब चले थे तुम यहाँ से दूत ···· ··· ···· ··· क्या रोग ?"

भरत दूत से पूछते हैं— "दूत, जब तुम अयोध्या से चले थे तब क्या पिता अधिक पीड़ित थे ? अब तो हम लोग यहाँ पहुँच ही गये हैं अतः सत्य बतादो उन्हें क्या रोग था ?

कोई और उपाय न पाकर भरत दूत से ही वस्तु-स्थिति जानने का प्रयत्न करते हैं। 'ठीक कह दो' में कातरता तथा अनुरोध भरी विकलता स्पष्ट है।

दूत बोला उत्तरीय समेट ···· ···· ···· ···· न अधीर।"

अपना उत्तरीय सम्हाल कर दूत ने उत्तर दिया, "मैं उस समय महाराज से भेंट नहीं कर सका था; परन्तु हे वीर ! जो बात कुछ ही समय के उपरान्त सामने आने वाली है उसके लिए आप इस प्रकार बेचैन न हों।"

'दूत बोला, उत्तरीय समेट' में राजकुमार के सम्मुख दूत के शिष्टाचार का प्रदर्शन है।

'वाल्मीकि रामायण' में अयोध्या के राजदूत भरत को विश्वास दिला देते हैं कि—

कुशलास्ते नरव्याघ्र येषां कुशलमिच्छसि।
श्रीश्च त्वां वृणुते पद्मा युज्यतां चापि ते रथः॥

(हे पुरुषसिंह, आप जिनका कुशल चाहते हैं वे कुशलपूर्वक हैं। इस समय लक्ष्मी आपको वरण करने के लिए उद्यत है अतएव आप यात्रा के लिए अपना रथ जुतवाइए।)

'साकेत' का दक्ष दूत भरत को कोई ऐसा विश्वास नहीं दिलाता। उसे पहले ही यह आदेश दे दिया गया था कि *'प्रकृत-वृत्त'* कहे बिना भरत को अयोध्या बुला लाए। अतः वह तो अत्यन्त कौशलपूर्वक उस प्रसंग को ही स्थगित-सा कर देता है।

प्राप्त इतने में हुआ पुर-द्वार ··· ···· ··· ··· न कुछ संवाद।

तब तक वे नगर-द्वार तक पहुँच गये। रखवालों ने चुपचाप विनयपूर्ण शिष्टाचार प्रदर्शित किया। उन्हें किसी गम्भीर दुःख तथा चिन्ता में निमग्न देख कर भरत उनसे कुछ पूछ न सके।

'वाल्मीकि रामायण' के द्वारपाल भरत जी को देख कर उठ खड़े होते हैं और रीत्यानुसार विजय प्रश्न करके उनके साथ हो लेते हैं। 'साकेत' के द्वारपाल 'मौन विनयाचार' करते हैं। यह अधिक प्रसङ्गानुकूल एवं उपयुक्त जान पड़ता है।

उभय ओर सुहर्म्य पुलिनाकार ··· ··· ···· ···· उदित था सोम।

(नदी के) किनारों की तरह दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे विशाल राजमहल थे और बीच में, दूर-दूर तक फैली हुई सरिता जैसा पथ था। किसी प्रकार का भी शब्द किये बिना रथ-रूपी नौका (उस पथ-प्रवाह पर) बढ़ रही थी। भरत का मानसिक (विचारों अथवा भावनाओं का) स्रोत भी तरंगित हो रहा था। (पथ के) दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे मकानों की पंक्तियाँ थीं जिनका आरम्भ अथवा अन्त समीप ही दिखाई न देता था। आकाश उस राज-मार्ग पर तने हुए चंदोवे जैसा था और चन्द्रमा छत्र की भाँति जान पड़ता था।

यहाँ सांग रूपक द्वारा 'सुहर्म्य', 'पथ-प्रसार' और 'रथ' का क्रमशः 'नदी के दोनों तट', 'जल-प्रवाह' तथा 'नौका' के साथ अभेद स्थापित किया गया है। लम्बा पथ जल की अनन्त धारा के समान जान पड़ रहा है, क्योंकि भरत के मन में भी एक 'स्रोत' तरंगित हो रहा है।

कैकेयी ने भरत के लिए राज्य माँगा है। राजधानी में भावी नरेश का उचित स्वागत करने के लिए ही मानों आकाश चंदोवे की तरह राज-पथ पर छा गया है और चन्द्रमा ने छत्र का रूप धारण कर लिया है।

"क्या यही साकेत है जगदीश ! .... नहीं हैं तात ?

"हे परमात्मा ! क्या यही वह साकेत है जिसके सामने इन्द्रपुरी भी मस्तक झुकाती थी ? यहाँ के वे नित्य आनन्द अब कहाँ चले गये ? यह शान्ति है अथवा उदासी ? कहीं क्रय-विक्रय (व्यापार) भी नहीं हो रहा, कोई कहीं आ-जा भी नहीं रहा। अयोध्या नगरी का शरीर तो निर्जीव-सा पड़ा है। कहीं कुछ भी बात सुनाई नहीं दे रही। तब क्या वास्तव में तात अब इस संसार में नहीं रहे ?"

'वाल्मीकि रामायण' के भरत ने भी अयोध्या नगरी को लगभग इसी अवस्था में देखा—

दृश्यन्ते वणिजोऽप्यद्य न यथापूर्वमत्र वै ।
ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारयन्त्रिताः ॥
तां शून्य श्रृंगाटकवेश्मरथ्यां ।
रजोरुण द्वार कपाट यन्त्राम् ॥
दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुर प्रकाशां ।
दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव ॥

(यहाँ पर पहले की तरह बनिये भी प्रफुल्लित मन नहीं देख पड़ते। चिन्ता के मारे उनका मन घबराया हुआ है। उनका व्यापार बन्द-सा हो गया है।........ उस इन्द्रपुरी के समान, अयोध्यापुरी के चौराहे के घरों और गलियों को जन-शून्य और मकानों के किवाड़ों के कील-काँटों को धूलि-धूसरित देख कर भरत जी अत्यन्त दुःखी हुए।)❋

आज क्या साकेत के सब लोग ... . उद्भ्रान्त ?

"क्या आज समस्त साकेतवासी अपने सब कार्य-कौशल पूरे करके थक कर सहज शान्त अवस्था में बैठे हैं ? परन्तु ये सब खोये-खोये से क्यों दिखाई देते हैं ?

'रामचरितमानस' में भी—

नगर नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब संपति हारी॥
हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी॥

❋ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७१ श्लोक ४२, ४५।

सब कला गृह शिक्षणालय बन्द ···· ··· ···· ··· वृद्ध सम गम्भीर।

"सब कारखाने तथा स्कूल बन्द हैं परन्तु तब भी विद्यार्थी स्वतन्त्रतापूर्वक घूमते हुए क्यों नहीं दिखाई देते? बच्चे, बन्दी तोतों जैसे हो गये हैं और बचपन में ही वे बूढ़ों की तरह गम्भीर हो रहे हैं।

झिमिट आते हैं जहाँ जो लोग ···· ··· ···· ··· उठाते हैं न।"

"जहाँ लोग इकट्ठे भी हैं वहाँ भी मानों वे कोई अकथनीय अभियोग (दोषारोपण) प्रकट करके बेचैन-से होकर मौन खड़े रह जाते हैं। उनके (लज्जा के कारण) एक बार झुके हुए सिर फिर उठ नहीं पाते।"

चाहते थे जन करें आक्षेप, ··· ··· ···· ···· सभी विद्रोह।

अयोध्यावासी भरत पर भी लाञ्छन लगाना चाहते थे (यह स्वाभाविक ही था) परन्तु भरत इतने निर्लेप (समस्त घटना-चक्र से असम्बद्ध) दिखाई देते थे कि प्रजा-जन अपने सामने उनका मोह-युक्त मुख देख कर विद्रोह के सब विचार भूल से जाते थे।

'रामचरितमानस' में—

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु, गवँहि जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं, भय विषाद मन माँहि॥

और 'साकेत-सन्त' में—

बिजली-सा उनका यान तड़पता आया,
कुछ चेतन से हो गये अवध जब पाया।
देखी उनने सब ओर कठोर उदासी,
तकते थे उनको मौन, अवध के वासी॥
इसने देखा, मुख फेर लिया अनखा कर;
उसने देखा, की प्रणति बहुत घबरा कर।
कुछ ने सादर पथ दिया, ज़रा बढ़ आगे,
*कुछ निज-निज घर को राह नापने भागे॥**

आधार-ग्रन्थों की अपेक्षा 'साकेत' में दशरथ-मरण के कारण शोक में डूबी अयोध्या का वर्णन अधिक विस्तार के साथ किया गया है।

"ये गगन-चुम्बित महा प्रासाद ··· ··· ··· ···· हुए पाषाण!

"आकाश को छूने वाले ये विशाल राजमहल इस समय दुःखपूर्वक मौन

* साकेत सन्त, डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, सर्ग ३, पृष्ठ ४४।

साधे खड़े हैं। शिल्प-कौशल के सजीव प्रमाण, ये राजमहल न जाने किसके शाप से पत्थर (प्राणहीन) मात्र रह गये हैं।

या अड़े हैं मेटने को आधि ... . निज खींच ?

"अथवा अयोध्या के राजमहल अपनी कोई मानसिक पीड़ा दूर करने के लिए स्थिरतापूर्वक समाधि लगा कर आत्म-चिन्तन में लीन हैं। (समाधिस्थ योगियों की भाँति) इन्होंने किरणों को शिखा की भाँति धारण कर लिया है, खिड़कियों के रूप में अपने नेत्र मूँद लिए हैं तथा इन्होंने अपने ब्रह्माण्ड (कपाल अथवा भीतरी भाग) में प्राण (वायु) को खींच-सा लिया है।

अयोध्या के राज-महलों में इस समय पूर्ण निस्तब्धता है। खिड़कियाँ बन्द हैं, भीतर की हवा भीतर ही घुट-सी गयी है। इसी आधार पर यह कल्पना की गयी है कि या तो किसी के शाप से वह पाषाण तुल्य रह गये हैं अथवा किसी मानसिक पीड़ा का शमन करने के लिए समाधिमग्न हैं। समाधिस्थ योगी और प्रासाद में परस्पर अभेद मान कर सांग रूपक द्वारा उनके विभिन्न अङ्गों में भी एक-रूपता मानी गयी है। समाधिस्थ योगी ऊर्ध्वदृष्टा होते हैं; प्रासाद 'गगन चुम्बित' हैं; योगी उच्च एवं महान् होते हैं, प्रासाद भी 'महा' हैं; योगी समाधि की अवस्था में मौन धारण कर लेते हैं, अयोध्या के राज-महलों में भी पूर्ण निस्तब्धता है; योगी आत्म-चिन्तन-रत होते हैं, राज-प्रासाद भी अपने में ही लीन, खोये हुए हैं। योगियों के सिर पर जटाएँ होती हैं, महलों के ऊपरी भाग पर किरणों ने जटाओं का-सा रूप धारण कर लिया है; योगियों के नेत्र बन्द होते हैं, महलों की खिड़कियाँ बन्द हैं; योगी प्राणायाम द्वारा अपने श्वास का निरोध कर लेते हैं, अवध के राज-महलों के भीतर की हवा भी खिड़कियाँ आदि बन्द होने के कारण भीतर ही घुट रही है।

सूत, मागध, वन्दि, याचक, भृत्य ... ... अशुभ उन्मेष !"

सूत (सारथि अथवा चारण) मागध (विरुदावली कहने वाले भाट), बन्दी (यशोगान करने वाले), याचक (माँगने वाले) अथवा सेवक, कोई भी अपना काम करता दिखाई नहीं देता। केवल पहरेदार ही विशेष रूप से सावधान दिखाई देकर एक अमङ्गलजनक सजगता (एवं सतर्कता) प्रकट कर रहे हैं।"

"आ गये !" सहसा उठा यह नाद, ... अवरोध तक संवाद !

"आ गये" सहसा यह आवाज गूँज उठी और यह समाचार अन्तःपुर तक पहुँच गया।

सब भरत की प्रतीक्षा कितनी आतुरता से कर रहे थे, यह 'सहसा' गूँज जाने वाले 'नाद' द्वारा स्पष्ट है। "आ गये" में 'साकेत' के कवि ने यह समस्त उत्सुकता मूर्तिमान् कर दी है। इस प्रकार पल भर के लिए सर्वथा नीरव एवं निर्जीव वातावरण में जीवन की हल्की-सी लहर दौड़ जाती है।

बढ़ गया अवरोध तक संवाद : 'अवरोध' का अर्थ है 'रुकावट'; यहाँ इस शब्द का प्रयोग 'अन्तःपुर' के अर्थ में किया गया है। 'अन्तःपुर' तक सब की पहुँच नहीं होती—दूसरे शब्दों में, वहाँ तक पहुँचने में अवरोध (रुकावट) होता है परन्तु भरत के आगमन का समाचार निर्विरोध 'अवरोध' तक पहुँच गया।

रथ रुका, उतरे उभय अविलम्ब ··· ···· ··· ··· अवलम्ब।

रथ रुका। दोनों भाई तुरन्त सिद्धार्थ मन्त्री के हाथ का सहारा लेकर उतरे। सचिववर को उस अवस्था में देख कर भरत ने कहा, "तात ! तुम इतने दुर्बल (जर्जर) कैसे हो गये ? मुझे क्या भयानक समाचार सुनना पड़ेगा ?"

आधार-ग्रन्थों के भरत सीधे कैकेयी के पास जा पहुँचते हैं। 'साकेत' में सचिव भावी-नरेश की अगवानी करते हैं।

सचिव सिद्धार्थ : 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार महाराज के मन्त्रि-मण्डल में आठ मन्त्री थे—धृष्टि, जयन्त, विजय, सिद्धार्थ, अर्थ साधक, अशोक, मन्त्रपाल और सुमन्त्र (वा० रा०, बाल० सर्ग ७, श्लोक ३)।

मुँह छिपा सचिवांक में ··· ···· ··· ··· किसी विध रोक।

(इतना कह कर) भरत ने तुरन्त सचिव की गोद में अपना मुँह छिपा लिया और नेत्रों से आँसू गिराकर वह चुप हो गये। सचिव ने उनकी ओर एक बार देखा और वह बलपूर्वक अपने आँसू रोक कर भरत को साथ लेकर (महल की ओर चले)।

सचिव की जीर्ण-शीर्ण दशा देख कर भरत को निश्चय हो जाता है कि अयोध्या में कोई भीषण दुर्घटना घटित हुई है। वह निरवलम्ब से होकर सचिव की गोद में अपना मुख छिपा लेते हैं। सचिव कुछ कहने अथवा उन्हें अपने साथ महाराज के भवन की ओर ले चलने से पूर्व एक बार भरत की ओर देखते हैं। वयोवृद्ध मन्त्री मानों इस प्रकार भरत की परख करना चाहते हैं, यह निश्चय करना चाहते हैं कि कैकेयी के उस कुकृत्य में भरत का कोई हाथ है या नहीं।

"मैं कहूँ तुमसे भयानक बात ? ···· ···· ···· ···· जयी-कुल-जात।

भरत का सचिव से प्रश्न था, "मुझे क्या भयानक बात सुननी पड़ेगी ?"

सचिव का उत्तर है, "मैं तुमसे भयानक बात कैसे कह सकता हूँ, विजेताओं के कुल में जन्म लेने वाले भरत, तुम तो राज्य भोगो।"

भरत को क्या ज्ञात था वह भेद ··· ··· ···· ··· विश्व-बाधा-मुक्ति।"

भरत को भला उस भेद का क्या पता था, फिर भी वह शंका और दुःख के साथ बोले, "तात कैसे हैं ?"

सचिव का उत्तर था, "वह तो संसार की समस्त बाधाओं से मुक्ति पा चुके।"

"पर कहाँ हैं इस समय ···· ··· ··· ···· वहाँ क्या गम्य ?"

"परन्तु इस समय महाराज कहाँ हैं ?" भरत ने पूछा।

मन्त्री ने फिर हाथ ऊपर उठा कर कहा, "जहाँ सब रहस्य छिपे हैं, जहाँ तक पहुँचना योगियों के लिए भी सम्भव नहीं।"

सचिव द्वारा दिये गये भरत के प्रश्नों के उत्तर दुरूह तथा अस्पष्ट हैं। यह अस्पष्टता सकारण है। कौतूहल बनाए रखने की दृष्टि से तो यह आवश्यक था ही परन्तु इस प्रकार मानों सचिव भरत की परीक्षा भी ले रहे हैं और कैकेयी के कुकर्म के प्रति अपना क्रोध तथा क्षोभ भी प्रकट कर रहे हैं।

"किन्तु उनके पुत्र हैं हम लोग ··· ··· ··· ··· यथार्थ अपत्य।"

तब शत्रुघ्न ने सचिव से कहा, "परन्तु हम तो उनके पुत्र हैं अतः वह मार्ग दिखलाइए जिससे हमें (उनमें भेंट करने का) सुअवसर प्राप्त हो सके (अथवा हम उन्हीं के चरण-चिन्हों पर चल सकें)।"

सचिव ने उत्तर दिया, "शत्रुघ्न वह मार्ग है—दुर्गम सत्य (सत्य, जहाँ तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है) (मैं तो यही चाहता हूँ कि) तुम अपने पिता के सच्चे पुत्र सिद्ध हो सको। सत्य-पालन के उसी आदर्श का अनुकरण कर सको।"

इस प्रकार 'साकेत' के वयोवृद्ध सचिव, शत्रुघ्न (तथा भरत) को, वास्तविक घटना स्थिति का ज्ञान होने से पूर्व ही, उस विकट अग्नि-परीक्षा के लिए तैयार-सा कर लेते हैं। इतना ही नहीं, उसमें सफल होने का रहस्य भी उन्हें बता देते हैं।

आ गया शुद्धान्त का था द्वार ··· ··· ··· ··· सुकुमार भरत कुमार।

मुख्य अन्तःपुर का दरवाज़ा आ गया था। भरत का एक पैर (दरवाज़े की) चौखट के उस पार था। अचानक भरत चिल्ला उठे, "हा पितः" और यह कह कर सुकुमार भरत कुमार वहीं गिर पड़े।

केकयी बढ़ मन्थरा के साथ ··· ···· ···· ··· झट हाथ।

कैकेयी झट, मंथरा के साथ, भरत की ओर बढ़ी और उन पर हाथ फेरने लगी।

'वाल्मीकि रामायण' में—

अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रोषितं सुतम्।
उत्पपात तदा दृष्ट्वा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम्॥
सा मूर्ध्नि समुपाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनम्।
अंके भरतमारोप्य प्रष्टुं समुपचक्रमे॥
आर्यकस्ते सुकुशली युधाजिन्मातुलस्तव।
प्रवासाच्च सुखं पुत्र सर्वं मे वक्तुमर्हसि॥
एवं पृष्ठस्तु कैकेय्या प्रियं पार्थिवनन्दनः।
आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः॥

(बहुत दिनों बाद विदेशों से लौट कर घर आये हुए, अपने प्रिय पुत्र भरत को देख, कैकेयी हर्ष में मग्न हो, सोने की चौकी से उठ खड़ी हुई। भरत जी का मस्तक सूँघ, उनको हृदय से लगा और गोदी में बैठा कर वह भरत से पूछने लगी, "हे वत्स! तुम्हारे नाना और मामा युधाजित् तो बहुत अच्छी तरह से हैं? बेटा! जब से तुम विदेश गये, तब से रहे तो अच्छी तरह से न? यह सब मुझसे कहो।" कैकेयी के इस प्रकार पूछने पर प्रिय राजकुमार कमलनयन भरत ने अपनी माता से वहाँ का सारा वृत्तान्त कहा। ···· ···)❀

और 'रामचरितमानस' में—

आवत सुत सुनि कैकय नंदिनि। हरषी रविकुल जलरुह चंदिनि॥
सजि आरती मुदित उठि धाई। द्वारेहिं भेंटि भवन लेइ आई॥
भरत दुखित परिवारु निहारा। मानहुँ तुहिन बनज बनु मारा॥
कैकेई हरषित एहि भाँति। मनहुँ मुदित दव लाइ किराती॥
सुतहि ससोच देखि मनु मारें। पूँछहि नैहर कुसल हमारें।
सकल कुसल कहि भरत सुनाई। पूँछी निज कुल कुसल भलाई॥

'साकेत सन्त' में भी—

सुनते ही पहुँची वहाँ कैकई रानी,
आरती उतारी, दिया अर्घ्य का पानी।

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७२, श्लोक २—७।

हँस हँस कर लिपटा लिया, प्रेम से बोली,
*"देवों ने दिया प्रसाद, संभालो झोली ॥"**

साकेत' की कैकेयी इस समय महाराज के ही भवन में हैं। उसमें इस समय भरत की आरती उतारने अथवा पिता तथा भाई का कुशल समाचार पूछने का दुःसाहस शेष नहीं। वह तो इस समय कुछ भयभीत-सी हो चुकी है। तभी तो वह गिरे हुए भरत को उठाने तथा उसे सान्त्वना देने के लिए आगे बढ़ते समय भी मन्थरा को साथ ले लेती है।

रह गये शत्रुघ्न मानों मूक ··· ··· ··· ··· हम गये साकेत ?"

हृदय की हूक ने शत्रुघ्न का गला रुद्ध कर दिया अतः वह मूक खड़े रहे। कुछ देर बाद वह कैकेयी से यह पूछ सके, "हे माता! हम सबके आश्रयदाता (महाराज दशरथ) आज कहाँ हैं? क्या पिता से रहित घर देखने के लिए ही हमें साकेत में बुलाया गया है?"

'वाल्मीकि रामायण' में कैकेयी को उसके पिता तथा भाई का कुशल समाचार देकर भरत उससे पूछते हैं—

पितुर्ग्रहीष्ये चरणौ तं ममाख्याहि पृच्छतः।
आहोस्विदम्ब ज्येष्ठायाः कौसल्याया निवेशने ॥

(इस समय पिता जी कहाँ हैं? मुझे यह बतलाओ क्योंकि मैं उनके चरण युगल में प्रणाम करूँगा। वे क्या मेरी माताओं में सबसे बड़ी माता कौसल्या जी के घर में हैं?)†

'साकेत' के भरत पहले ही "हा पिता!" कह कर भूमि पर गिर चुके हैं। अतः यहाँ आरम्भ में शत्रुघ्न तथा कैकेयी के ही बीच वार्तालाप होता है।

सिहर कर गिरते हुए से काँप ··· ··· ··· ··· मुँह ढाँप ।

सिहर कर तथा काँप कर गिरते हुए से शत्रुघ्न नीचे मुँह ढाँप कर बैठ गये।

"वत्स, स्वामी तो गये उस ठौर ··· ··· ··· ··· जिस से और ।"

कैकेयी ने उत्तर दिया, "हे पुत्र! महाराज तो उस स्थान पर चले गये हैं, जहाँ से वह लौट कर न आ सकेंगे।"

इस अवसर पर महर्षि वाल्मीकि की कैकेयी का उत्तर है—

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतांगितिम् ॥

---

* 'साकेत-सन्त', सर्ग ३, पृष्ठ ४५।

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७२, श्लोक १३।

(हे बेटा ! सब प्राणियों की जो गति होती है, उसी गति को महात्मा, तेजस्वी और सज्जनों के आश्रयस्थल महाराज दशरथ प्राप्त हुए हैं।)※

'साकेत-सन्त' की कैकेयी कहती है—

'बेटा! उनको रुच गये अमर पुर डेरे।"†

"कौन था हमसे अधिक हा शोक! ···· ···· ··· ··· अशेष अलीक!"

"हाय! उन्हें हमसे अधिक (प्रिय) और कौन था, जिसके लिए वे उस लोक (स्वर्ग) में गये हैं।" (अपने हृदय को सम्बोधित करके वह कहते हैं) "अरे, तेरी आशंका (भय) ठीक ही निकली और समस्त आशा मिथ्या सिद्ध होकर समाप्त हो गयी।"

"मैं स्वयं पति-घातिनी हूँ ···· ···· ··· मृत्यु का व्यवसाय।"

कैकेयी बोली, "हाय, मैंने ही स्वयं अपने पति के प्राण लिये हैं। जीव (प्राणी) तो जीवन और मृत्यु का व्यवसाय (सौदा) ही है।"

"हा! अमर भी मृत्यु-करगत ··· ···· ···अग्रज हमारे राम?"

कैकेयी की बात सुन कर शत्रुघ्न ने दुःख भरी वाणी में कहा, "हाय, अमर होकर भी जीव मृत्यु के वश में है, मुक्त होकर भी इतना पराधीन है! (जीवात्मा अमर तथा मुक्त है तथापि जीवधारी नश्वर एवं परवश है।) परन्तु (यदि साधारण मनुष्य इतने विवश तथा मृत्यु-करगत हैं, तब भी महाराज दशरथ पर तो यह नियम लागू नहीं होता क्योंकि) वह (महाराज दशरथ का) व्यक्तित्व तो साधारण न था। उनके पास तो अतुलित अलौकिक शक्ति थी। हे तात! क्या तुम्हें जर्जर समझ कर काल (मृत्यु) (अवसर पाकर) अचानक यह धोखा (हत्या) कर गया? (यदि यह सत्य है) तो पृथ्वी (राज्य) और धन (अथवा पृथ्वी रूपी धन) भले ही नष्ट हो जाए—हे आर्य (भरत), तुम तनिक ढाढस से काम लो, हम काल से भी युद्ध करेंगे। हमारे अग्रज श्री राम कहाँ हैं?"

काल (मृत्यु) ने महाराज को *'जीर्ण'* जान कर उनके साथ *'अपघात'* किया है। प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो कर शत्रुघ्न काल से जूझने का निश्चय करते हैं परन्तु अग्रज श्री राम की आज्ञा तथा उनके आशीर्वाद के बिना तो यह सम्भव न होगा। इस प्रकार यहाँ स्वभावतया शत्रुघ्न का ध्यान राम की ओर आकृष्ट हो जाता है।

※ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७२, श्लोक १५।

† 'साकेत-सन्त', सर्ग ३, पृष्ठ ४५।

"हैं कहाँ वे सजल घन-सम श्याम ? .... वह था धाम ।

भरत ने भी कैकेयी से पूछा, "जल भरे बादल जैसे श्री राम कहाँ हैं ?"

परन्तु हाय, वह (स्थान) वन न होकर घर था (घन-सम राम इस समय वन में हैं, घर में नहीं)।

महर्षि वाल्मीकि के भरत कैकेयी से पूछते हैं—

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि धीमतः ।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥

(जो मेरे भ्राता, पिता और बन्धु भी हैं और जिन बुद्धिमान् का मैं दास हूँ, उन श्री रामचन्द्र का पता मुझे शीघ्र बतला ।)

'रामचरितमानस' के भरत का प्रश्न है—

कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता ॥

'साकेत-सन्त' के भरत—

फिर धीरज धर कर उठे, उसासें ले कर ,
बोले "माता ! हैं कहाँ राम भ्रातावर ;
जो केवल भ्राता रहे बाप वे अब हैं ,
*स्वामी, राजा, सर्वस्व आप वे अब हैं ।**

'साकेत' के भरत जानना चाहते हैं कि—

"हैं कहाँ वे सजल घन-सम श्याम ?"

भरत के संतप्त हृदय को शान्त करने का कार्य जल भरे बादल जैसे श्री राम ही तो कर सकते हैं !

"वन गये वे अनुज-सीता-युक्त ... . कब कौन ?"

"लक्ष्मण तथा सीता को साथ लेकर वह (राम) वन में चले गये हैं"– कैकेयी ने उत्तर दिया ।

यह सुन कर भरत ने भयभीत होकर पूछा, "वन में चले गये ? तो अब हमें कौन सम्हालेगा ? इस प्रकार सर्वथा असहाय होकर क्या कभी कोई (जीवित) रह सका है ?"

राम-वनवास का समाचार सुन कर महर्षि वाल्मीकि के भरत राम के चरित्र पर अनेक प्रकार से संदेह करते हैं—

कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित् ।
कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥

* 'साकेत-सन्त', सर्ग ३, पृष्ठ ४५ ।

कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते।
कस्मात्स दण्डकारण्ये भ्रूणहेव विवासितः॥

(हे माता ! क्या श्री रामचन्द्र ने किसी ब्राह्मण का धन छीना था अथवा बिना अपराध किसी धनाढ्य या दरिद्री की हत्या की थी अथवा किसी पर-स्त्री की ओर गर्भघाती की तरह बुरी दृष्टि से देखा था ? किस अपराध के कारण वह श्रुताध्ययन सम्पन्न श्री राम वन में निकाले गये ?)*

'रामचरितमानस' में—

भरतहि बिसरेउ पितु मरन, सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जियँ, थकित रहे धरि मौनु॥†

'साकेत' के भरत राम के बिना '*अनाश्रित*' हैं, राम उनके एकमात्र आधार हैं अतः उनके सामने तो एक ही समस्या है—

"तो सँभालेगा हमें अब कौन ?"

"आर्य का औदास्य यह अवलोक ··· ··· ··· ··· पितृ-शोक !"

शत्रुघ्न ने कहा, "आर्य (श्रीराम) का यह औदास्य (अपने परिवार तथा राज्य के प्रति उदासीनता) देख कर तो मेरा पितृ-शोक भी सहम-सा गया है।"

"अनुज, ठहरो मैं लगा दूँ होड़ ··· ···· ···· ··· हो रहा हूँ मूढ़ !"

भरत ने कहा, "शत्रुघ्न, ठहरो, मैं होड़ लगा कर (पूरे विश्वास के साथ) यह कह सकता हूँ कि आर्य (श्रीराम) हमें छोड़ कर कहीं रह ही नहीं सकते। वे इस घर (परिवार) से ही रूठ कर चले जाँय, यह असम्भव है, झूठ है, बिल्कुल झूठ। यह मन्थरा क्यों घूर-घूर कर हँस रही है ? अरी अभागिन तू दूर चली जा। इन सब बातों में कोई गम्भीर रहस्य अवश्य छिपा है। माँ शीघ्र बताओ, मैं मूर्ख हो रहा हूँ (इस प्रकार मुझे मूर्ख बनाया जा रहा है)।

'साकेत' के भरत को राम-वनवास का वास्तविक कारण ज्ञात नहीं, अतः वह यह स्वीकार ही नहीं करते कि राम घर से रूठ कर वन चले गये हैं। यह असम्भव है, बिलकुल झूठ है। तभी उन्हें घूर-घूर कर हँसती हुई मंथरा दिखाई देती है। भरत को मंथरा की इस दुष्टतापूर्ण हँसी में कोई रहस्य निहित जान पड़ता है।

'वाल्मीकि रामायण' में इस अवसर पर मंथरा उपस्थित नहीं। 'रामचरितमानस'

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७२, श्लोक ४४, ४५।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

की मंथरा विविध वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर कुछ समय बाद यहाँ आती है। 'साकेत' में मंथरा आरम्भ से ही कैकेयी के साथ है। इस समय मन्थरा की हँसी भरत के हृदय में एक साथ ही आशंका, भय और विकलता का संचार कर देती है।

"वत्स, मेरा भी इसी में सार ... ... तुम्हारे हेतु !"

कैकेयी ने उत्तर दिया, "पुत्र, मेरे लिए भी अब यही उचित है कि जो किया है उसे स्वीकार कर लूँ। दूसरों की अपेक्षा न करने वाले (पक्षपात न करने वाले) मेरे कथन के साक्षी हों और सत्य मुझे सब कुछ (भला या बुरा फल) सहन करने की शक्ति भी प्रदान कर दे। अस्तु सुनो, इस परिणाम का (महाराज दशरथ के स्वर्गवास तथा राम के वनवास का) कारण यह है कि हे कुल-श्रेष्ठ भरत, मैंने ही (महाराज से) तुम्हारे लिए राज्य-सिंहासन (उत्तराधिकार) माँग लिया।"

इस अवसर पर 'वाल्मीकि रामायण' की कैकेयी भरत से कहती है :

याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम् ।
स स्ववृत्तिं समास्थाय पिता ते तत्तथाऽकरोत् ॥
रामश्च सहसौमित्रिः प्रेषितः सह सीतया ।
तमपश्यन्प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः ॥
पुत्र शोकपरिद्यूनः पंचत्वमुपपेदिवान् ।
त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम् ॥
त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ॥

(मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हारे लिए राज्य और श्री रामचन्द्र के लिए वनवास माँगा। अतः अपनी सत्य प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए तुम्हारे पिता ने वैसा ही किया। उन्होंने श्री रामचन्द्र को सीता और लक्ष्मण सहित वन में भेज दिया और महा यशस्वी महाराज दशरथ उन प्रिय पुत्र श्री राम को न देखने के कारण पुत्र-शोक से पीड़ित हो, पंचत्व को प्राप्त हुए। हे धर्मज्ञ ! अब तुम राज-काज सँभालो, क्योंकि तुम्हारे ही लिए इस प्रकार ये सब काम मैंने किये हैं।)*

और 'रामचरितमानस' की कैकेयी ने—

आदिहु तें सब आपनि करनी ।
कुटिल कठोर मुदित मन बरनी ॥†

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७२, श्लोक ५० से ५२।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

'साकेत-सन्त' की कैकेयी इस समय भरत के सामने मृगमरीचिका-सी प्रस्तुत करने का प्रयत्न करती है—

गमनोद्यत लख कर उन्हें विकल माँ बोली,
"वन गये राम, तज सुहृदगणों की टोली।
चौदह वर्षों के लिये अयोध्या छोड़ी,
चौदह वर्षों की बात, अवधि है थोड़ी॥
है मनुजों का वर ध्येय इन्द्रपद पाना,
इन्द्रत्व मही-साम्राज्य सभी ने माना।
वह राज्य तुम्हें मिल जाय इसी इच्छा से,
मैंने दो वर ले लिये भूप से खासे॥
वे तुमको रखकर दूर, मुझे न बता कर,
युवराज राम को बना रहे थे सत्वर।
मन्थरा सहायक हुई मार्ग बतलाया,
वनवास राम ने, राज्य तुम्हीं ने पाया॥
मैथिली राम के संग गई, लक्ष्मण भी,
जिनको जाना था गए न ठहरे क्षण भी।
पर खेद यही है राम-विरह में व्याकुल,
*सहसा नृप स्वर्ग सिधार गये शोकाकुल॥**

भरत का व्यवहार देख कर 'साकेत' की कैकेयी भली प्रकार समझ लेती है कि वह अपने जाल में स्वयं ही पूरी तरह फँस गयी है। इसीलिए वह तर्क अथवा लम्बे वाद-विवाद का सहारा न लेकर एक साँस में ही सब कुछ कह जाती है। यहाँ विस्तारपूर्वक एक-एक बात का वर्णन करने का अवसर न था। अतः गुप्त जी ने वाक्-संयम का आश्रय लेकर कम-से-कम शब्दों में काम चला लिया। संक्षेप की इस प्रवृत्ति से वक्ता की मानसिक स्थिति पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ जाता है।

"हा हतोस्मि!" ... ... हतबोध।

"हाय! मैं मारा गया" यह कह कर भरत का धैर्य (और विवेक) छूट गया।

कैकेयी के मुख से वर-याचना का समाचार सुन कर महर्षि वाल्मीकि के भरत तुरन्त उस पर क्रोध प्रदर्शित करने लगते हैं।†

---

* 'साकेत-सन्त', सर्ग ३, पृष्ठ ४६।

† वाल्मीकि रामायण, अयो०, सर्ग ७३, ७४।

'अध्यात्म रामायण' के भरत माता के ये वचन सुनकर वज्राहत वृक्ष के समान अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।※

'रामचरितमानस' के भरत अपने को ही सारे अनर्थ का कारण समझ कर मौन होकर स्तम्भित रह जाते हैं—

हेतु अपनपउ जानि जियँ,
थकित रहे धरि मौनु ॥†

'रामचन्द्रिका' के भरत कैकेयी को धिक्कारने लगते हैं (धिक तोकों कहा अपराध बिना सिगरेई हये)‡ और 'साकेत-सन्त' के भरत—

झंझा से काँपे, धधक उठे दावा से,
क्षण भर में रुक कर अचल हुए माता से।
मस्तक पर सौ-सौ गिरीं बिजलियाँ आकर,
गिर पड़े भूमि पर भरत सुचेत गँवा कर ॥¶

'साकेत' के भरत केवल इतना ही कह पाते हैं—"हाय! मैं मारा गया!" इन गिने-चुने शब्दों से ही भरत की असीम विकलता तथा असहाय अवस्था पूर्णतः स्पष्ट है।

"हूँ" कहा शत्रुघ्न ने सक्रोध .... किससे वैर ?

(यह सब देख-सुन कर) शत्रुघ्न ने क्रोध में भर कर "हूँ" कहा। (क्रोध के कारण) उन्होंने अपना ओंठ काटा और पैर पटका परन्तु वह वीर किससे बदला लेता ?

'रामचरितमानस' में—

सुनि सत्रुघुन मातु कुटिलाई।
जरहिं गात रिस कछु न बसाई ॥

परन्तु 'मानस' में इस अवसर पर वस्त्राभूषणों से अलंकृत मंथरा आ जाती है और इस प्रकार शत्रुघ्न को मंथरा पर ही क्रोध उतारने का अवसर मिल जाता है :

हुमकि लात तकि कूबर मारा। परि मुह भर महि करत पुकारा ॥
कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू ॥

※ अध्यात्म रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७, श्लोक ७७।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

‡ रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, प्रकाश १०, छन्द ४।

¶ 'साकेत-सन्त', सर्ग ३, पृष्ठ ४७।

'साकेत' के शत्रुघ्न का क्रोध *दासी* पर नहीं उतरता। इसके लिए किसी अधिक उपयुक्त पात्र की आवश्यकता है। अस्तु, यह क्रोध खुल कर तो आगे चल कर ही प्रकट होता है परन्तु यहाँ एक मात्र शब्द "हूँ" ही शत्रुघ्न की मनःस्थिति का पूरा चित्र प्रस्तुत कर देता है।

केकयी चिल्ला उठी सोन्माद ··· ···· ··· ···· वह मैं आप।"

कैकेयी पागलों की तरह चिल्ला उठी, "भरत, सब लोग भले ही मेरी कितनी भी निन्दा अथवा विरोध करें परन्तु मेरा प्यार तुमसे बदले में प्यार ही चाहता है। अतः मेरे बच्चे, तू उठ और राज कर। इसके लिए मुझे चाहे बहुत समय तक नरक ही क्यों न भोगना पड़े। यदि मैंने कोई पाप किया है तो तू मुझे दंड दे। मैं तुझे स्वयं ही वह शक्ति (अधिकार) दे रही हूँ।"

राम-कथा के अन्य गायकों ने कैकेयी के चित्रांकन में प्रायः पक्षपात से काम लिया है। गुप्तजी ने कैकेयी के इस 'कुकर्म' का कारण ढूंढने का प्रयत्न किया और उन्हें यह समझने में देर न लगी कि इसका मूल कारण कैकेयी का भरत के प्रति *असीम वात्सल्य* है। वात्सल्यमयी कैकेयी ने पुत्र की हित-कामना से सब कुछ सहा। अब भी वह चिरकाल तक घोर नरक सहने अथवा बड़े-से-बड़ा दंड स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत है। वह अधिकतम तथा कटुतम निन्दा भी सहने को तैयार है परन्तु, एक शर्त पर :

ओ भरत, मेरा प्यार ,
चाहता है एक तेरा प्यार।

यहाँ '*एक*' शब्द कितना साभिप्राय है! 'साकेत' की कैकेयी एकमात्र भरत के प्यार के लिए बड़े-से-बड़ा कष्ट, कड़े-से-कड़ा दण्ड, स्वीकार करने को प्रस्तुत है।

"दंड, *ओहो दंड ··· ··· ··· ··· भावना की भुक्ति।*

भरत ने कहा, "तू दंड चाहती है परन्तु इतना बड़ा दंड भला क्या हो सकता है (जो इस गुरुतम अपराध के लिए उचित हो)? प्रचंड तथा कभी शांत न होने वाली घोर नरक की आग तो यहाँ (इस पाप की तुलना में) बरफ के टुकड़े की भाँति शीतल है। अरी चंडिके, जिसके विषय में सुन कर ही डर के मारे सैंकड़ों बिच्छुओं के डंक-से चुभ जाते हैं उस दुष्टता का क्या कोई साधारण दंड हो सकता है? फूस अथवा भूसी की आग (में जलाया जाना) तो इस पाप के लिए कमल की पंखड़ियों के पलङ्ग (पर लेटने) के समान कोमल (तथा सुखप्रद) है। इसलिए, अरी सर्पिणी, तू हम सब को मार कर जिवीत रह। तेरा उचित न्याय (तेरे पाप का उचित दंड) निश्चित करना

कठिन है। क्या मृत्यु इसका उचित दंड है ? नहीं, इस प्रकार तो तुझे आसानी से ही (सब कष्टों से) छुटकारा मिल जाएगा अतः तू (जीवित रह कर) अपनी भावना का फल भोग।

कैकेयी के दुष्कृत्य के लिए दण्ड निश्चित करते हुए महर्षि वाल्मीकि के भरत कहते हैं :

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा दण्डकान्विश ।
रज्जुं बधान वा कंठे न हितेऽन्यत्परायणम् ॥

(अब तो तुझे यही उचित है कि या तो तू अग्नि में गिर कर भस्म हो जा या दण्डक वन में चली जा या गले में फाँसी लगा क्योंकि बिना मरे तेरे लिए और कोई गति नहीं है।)❀

परन्तु 'साकेत' के भरत का विश्वास है कि बड़े-से-बड़ा दण्ड भी उस गुरुतम पाप के लिए उपयुक्त नहीं माना जा सकता। प्रखरतम नरक की आग इस अपराध की तुलना में हिम-खण्ड के समान शीतल है। मृत्यु ? नहीं, इस प्रकार तो सहज ही में सब कष्टों से छुटकारा मिल जाएगा। अतः यदि कोई दण्ड हो सकता है तो यही कि—

भोग तू निज भावना की भुक्ति ।

'चण्डि' : गृह-कलह को जन्म देने वाली होने के कारण कैकेयी को 'चण्डि' कहा गया है।

द्विरसने : सर्पिणी अपने ही बच्चों को मार कर खा जाती है। अतः 'हम सभी को मार' कर जीने वाली कैकेयी को 'द्विरसना' कहा गया है।

धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह ···· ···· ···· ··· दुराशय-दृप्त ।"

"तेरा पुत्र-स्नेह धन्य है जो पति के शरीर को भून कर खा गया ! अब वह मुझे भी खा कर तृप्त हो। अपनी खोटी नीयत पर अहंकार करने वाला, तेरा पुत्र स्नेह अब (प्रसन्नता पूर्वक) नाचे।

"चुप अरे चुप, केकयी का स्नेह ··· ···· ···· ···· यहीं वात्सल्य ।"

भरत को मौन करते हुए कैकेयी ने कहा, "बस चुप रह, वास्तव में तू कैकेयी का स्नेह पहचान न सका परन्तु हे वत्स, वही (स्नेह) तुझमें भरा है जिसके कारण तू प्राप्त राज्य भी छोड़ रहा है। सब मेरी कितनी भी निन्दा क्यों न करें परन्तु तू तो इस प्रकार प्रमाद (भूल) न कर। महाराज जीवन्मुक्त (जीवित दशा में ही आत्म-ज्ञान द्वारा सांसारिक माया-बन्धन

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७४, श्लोक ३३।

से रहित) हो गये थे। ऋण (कैकेयी को दिये गये वचन) चुकाए बिना उनका (स्वर्ग में) जाना उचित न था इसीलिए (उन्हें ऋण-मुक्त करने के अभिप्राय से ही) मैंने प्राप्य दो वरदान माँग लिये। इसे तो समस्त सभ्य जन भी उचित ही मानेंगे। 'क्या माँगा ?' यही बात सबको चुभ रही है, परन्तु यहीं तो (ये वरदान माँगने में ही) मेरा वात्सल्य (छिपा) है। (कोई और वरदान माँगती तो मेरा वत्सल्य कैसे प्रकट होता ?")

इस प्रकार 'साकेत' की कैकेयी अपने 'कुकर्म' के औचित्य-स्थापन का प्रयत्न करती है। इस अवसर पर 'साकेत-सन्त' की कैकेयी भरत से कहती है—

तेरे हित मैंने हृदय कठोर बनाया,
तेरे हित मैंने राम विपिन भिजवाया।
तेरे हित मैं हूँ बनी कलंकिनि नारी,
तेरे हित समझी गई महा हत्यारी॥
अब तू ही मुझको कोस रहा है ऐसे,
तू इतना घोर कठोर हो गया कैसे!
जग में सब ही हैं स्वार्थ साधते आये,
मैं भी उनके पथ चली और वर पाये॥
क्या वे वर तुझे न रुचे, हुआ क्या धोखा,
क्या मैंने सच ही किया कुकृत्य अनोखा।
समझाओ मुझको भरत ! अबल हूँ नारी,
*जो किया ठीक वह था कि न था सुविचारी॥**

सब बचाती हैं सुतों के गात्र ··· ··· ·· ··· यही वह भूप।

भरत ने कहा, "सब मातायें अपने पुत्रों का शरीर बचाती हैं परन्तु इसके लिए वे डिठौना मात्र लगाती हैं। इसके विपरीत, मेरा सारा मुँह नील से पोत कर (मुझे इतनी बुरी तरह अपमानित कराके) तू अब भी वात्सल्य का गर्व कर रही है ? एक गधा और मंगा ले, मेरे लिए इस समय वही वाहन सबसे अधिक उपयुक्त है ताकि सब देख लें कि यही वह राजा है (जिसे कैकेयी ने उत्तराधिकारी नियुक्त कराया है) !

"कैकेयी का वात्सल्य पागल होकर भरत की ओर दौड़ता है। भरत पहिले तो क्रोधाभिभूत होकर माता से कटु वाक्य कहते हैं (जो हमारी सम्मति में उनके चरित्र-गौरव के अनुकूल नहीं) परन्तु शीघ्र ही उनका स्वभावगत सत् उस क्षणिक

---

* 'साकेत-सन्त', सर्ग ३, पृष्ठ ४६।

तमस् पर विजय प्राप्त कर लेता है और क्रोध ग्लानि में परिणत हो जाता है। इस समय के उनके उद्‌गार—मर्मभेदी हैं क्योंकि उनकी ग्लानि गहरी है। कैकेयी जब मातृत्व की दुहाई देती है तो भरत कहते हैं—

सब बचाती हैं सुतों के गात्र ,
किन्तु देती हैं डिठौना मात्र ,
नील से मुँह पोत मेरा सर्व ,
कर रही वात्सल्य का तू गर्व !

भरत का आवेश और बढ़ता है और वे फूट उठते हैं—

खर मँगा, वाहन वही अनुरूप ,
देख लें सब—है यही वह भूप !....
आज मैं हूँ कोसलाधिप धन्य ,
गा, विरुद गा, कौन मुझ-सा अन्य ?

उक्त उद्‌गार मनन करने योग्य हैं। ग्लानि का जन्म अपनी बुराई के अनुभव से होता है, यह अनुभव जितना ही गहन और तीव्रतर होता जाएगा, ग्लानि की मात्रा उतनी ही बढ़ती जायगी। जब अपना अस्तित्व अपने को ही असह्य हो जाए तब ग्लानि की चरमावस्था समझनी चाहिए। भरत की उक्तियों में यही सत्य निहित है। उनके वचनों की वक्रता (Irony) भाव को और भी तीव्र कर देती है—

*गा, विरुद गा, कौन मुझ सा अन्य ?"**
राज्य, क्यों माँ राज्य, केवल राज्य ? ······ ······ ······ जिसे अभिशाप !

"माँ, केवल राज्य ही सब कुछ है न ? न्याय, धर्म, स्नेह तो त्याग देने योग्य हैं न ! (राज्य के सामने उनका तो कोई महत्व नहीं है न !) अब सब भरत से डरा करें क्योंकि राजमाता कैकेयी ने यह नीति निर्धारित कर दी है कि सब स्थानों पर—स्वार्थ ही ध्रुव-धर्म है। क्यों माँ ? ठीक है न ? भाई, पिता अथवा किसी अन्य से तो कोई सम्बन्ध न रहा ? आज मैं कोसल-नरेश होकर धन्य हूँ। मेरे समान और कौन होगा (इस प्रकार कौन राजा बना होगा) ? अतः माँ, तू (चारणों की भाँति) मेरे यश गा। हाय, हाय ! मुझ जैसा पतित तथा पापी कौन है जिसके लिए वरदान ही शाप बन गया।

'साकेत-सन्त' के भरत कहते हैं—

कब देखा मेरा राज्य-लोभ इस माँ ने ,
जो किया राम पर कुटिल क्षोभ इस माँ ने !

---

* साकेत, एक अध्ययन, पृष्ट ८४, ५।

मुझसे निरीह को केन्द्र कराल बनाया ,
क्षण में पापों का विषम जाल रचवाया ॥
समझा इसने मैं राज मुदित हो लूँगा ,
डाकू हूँ, अग्रज-भाग सुचित हो लूँगा ।
मर गये बिचारे पिता विरह के दुःख से ,
*यह त्रास भरी ही साँस ले रही सुख से ॥**

तू अड़ी थी राज्य ही के अर्थ ··· ···· ··· ···· दुर्गम लक्ष ?

"यदि तू राज्य के ही लिए अड़ी थी (मुझे राजा के रूप में ही देखना चाहती थी) तो तेरा पुत्र (मैं) उसके लिए असमर्थ न था (स्वयं अपने बल-पौरुष से (कहीं का भी) राजा बन सकता था और (राज्य करने के लिए) पृथ्वी पर एकमात्र कोसल का ही राज्य नहीं रह गया था (अन्य राज्य थे जिन्हें मैं इस प्रकार पाप का भागी बने बिना ही अधीनस्थ कर सकता था) क्षत्रिय तो कहीं भी (प्रत्येक स्थान पर) छत्र (राज-सिंहासन) का अधिकारी है (क्षत्रिय तो अपने बल से किसी भी देश पर अधिकार कर सकता है)। क्षत्रियों के धनुष के सिरे के सामने संसार में कौन-सा ऐसा दुर्गम लक्ष है (जहाँ उनके बाण नहीं पहुँच सकते) ?

था न किस फल का तुझे अधिकार ··· ·· ··· ··· विनियोग ।

"तेरा किस फल पर अधिकार न था (तुझे तो जीवन के समस्त सुख-वैभव प्राप्त थे) अकेला मैं ही तेरा बेटा न था, तेरे तो चार पुत्र थे । राज-सुख तो बलि-पुरुष का भोग है (जिस प्रकार बलि-पुरुष सांसारिक भोग भोगते समय पल भर के लिए भी यह नहीं भुला सकता कि शीघ्र ही उसे बलिदान हो जाना है उसी प्रकार राज-सुख का आकाँक्षी भी राज-धर्म की कठोरता और तत्संबंधी कर्त्तव्यों की गुरुता से बच नहीं सकता) जिसका मूल्य प्राण-विसर्जन है (बलि-पुरुष को उस क्षणिक सुख भोग के बदले प्राणों की भेंट चढ़ानी पड़ती है। राजा का जीवन भी राष्ट्र की धरोहर है) ।

स्वार्थिनी तू कर सकेगी त्याग ··· ··· ··· ···· तू सोम !

"स्वार्थिनी, तू भला क्या त्याग कर सकेगी ? हाय, राज्य में (स्वयं राजा के) घर से ही (राज-परिवार के सदस्य द्वारा ही) आग लग गयी ! लोग तो उन मनुष्यों का स्वप्न देखा करते हैं (स्वप्न में भी उन्हीं का स्मरण किया

---

* साकेत-सन्त, सर्ग ३, पृष्ठ ४७, ४८ ।

करते हैं) जो दूसरों के हित-साधन (में तल्लीन होने) के कारण स्वयं निद्रा का त्याग कर देते हैं परन्तु इसके विपरीत, तू दूसरे का होम (अहित) करके स्वयं सोम (सुख) का पान करना चाहती है !

हाय ! ऐसी तो न थी यह बुद्धि ... ... प्रथम ही आप ।

"हाय ! तेरी बुद्धि ऐसी तो न थी ; तेरे हृदय की वह पवित्रता कहाँ चली गयी ? दूसरों से छल (अथवा पाप) करते समय प्रायः हम स्वयं ही छले जाते हैं (दूसरों को हानि पहुँचाने के प्रयत्न में स्वयं हमें हानि सहनी पड़ती है)।

'वाल्मीकि रामायण' के भरत कैकेयी से कहते हैं—

उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी ।
साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ॥
तवापि सुमहाभागा जनेन्द्राः कुल पूर्वगाः ।
बुद्धेर्मोहः कथमयं सम्भूतस्त्वयि गर्हितः ॥

(अरी पापदर्शिनी ! हमारे पूर्वजों की प्रथा को कलंकित करने वाली यह बुद्धि तुझमें कैसे उत्पन्न हुई ? तेरा भी तो एक सुचरित्र कुलीन राज-वंश में जन्म हुआ है । फिर क्यों कर तेरी बुद्धि में ऐसा गर्हित मोह उत्पन्न हुआ ?)❀

'रामचरितमानस' के भरत का कथन है—

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ ।
खंड खंड होइ हृदउ न गयउ ॥
बर मागत मन भइ नहिं पीरा ।
गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा ॥†

और 'साकेत-सन्त' के भरत 'शुद्ध-हृदया' और 'बुद्धिभ्रष्टा' कैकेयी के चित्र इस प्रकार अङ्कित करते हैं—

मैं और राम थे युगल नयन से जिसके ,
मुझसे बढ़ कर श्री राम सुवन थे जिसके ,
वात्सल्यमयी-सी गई कहाँ वह माता ,
उस आकृति में हूँ मूर्त कुटिलता पाता ॥
क्षण भंगुर विभव विलास राज के सारे ,
उनके हित जिसने सुयश पुञ्ज संहारे ।

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७३, श्लोक १६ से २४ ।

† रामचरितमानस, अयोध्या कांड ।

भैया को कानन भेज पिता को मारा।
कैसे कह दूँ वह आर्य-वंश की दारा ॥

सूर्य कुल में यह कलंक कठोर ... ... ये न सभीति !

"सूर्य-कुल में इतना कठोर कलंक लग गया ! तू तनिक आकाश की ओर तो देख। तेरी यह प्रचंड अनीति (कुचाल) देख कर कहीं ये तारे भी भयभीत होकर गिर न पड़ें।

सूर्य-कुल में यह कलङ्क कठोर : 'वाल्मीकि रामायण' के भरत ने भी कहा था--

तेषां धर्मैकरक्षाणां कुलचारित्रशोभिनाम् ।
अत्र चारित्र शौर्डार्यं त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥

(आज तूने धर्म-प्रतिपालक एवं अच्छे चरित्र से सुशोभित इक्ष्वाकुवंश का सदाचार सम्बन्धी गर्व धूल में मिला दिया।)†

भरत-जीवन का सभी उत्साह ... ... ज्वलित अंगार !

"हाय, भरत के जीवन का उत्साह बिल्कुल ठंडा हो गया। अब उसे आकाश की ये चन्द्रमणि-युक्त मालायें (चन्द्रमा सहित तारे) जलते हुए अङ्गारे जान पड़ते हैं।

कौन समझेगा भरत का भाव ... ... सोच !

जब माँ स्वयं इस प्रकार का प्रस्ताव करे तो पुत्र (भरत) के भाव (सदाशय) को कौन समझेगा (कौन उस पर विश्वास करेगा) ? अरी, तुझे (यह दुष्कर्म करते समय) तनिक भी संकोच न हुआ ? तू यह तो सोच कि इस प्रकार तू मेरी जीवन-दायिनी सिद्ध हुई अथवा प्राण-घातिनी ?

'रामचरितमानस' के भरत को भी इस बात पर खेद है कि उन्होंने कैकेयी के गर्भ से जन्म लिया :

हंस बंसु दसरथु जनकु, राम लखन से भाइ ।
जननी तूँ जननी भई, विधि सन कछु न बसाइ ॥

'साकेत-सन्त' के भरत यही भाव इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं—

किस मुँह से कह दूँ इसे कि मेरी माँ है,
यह घोर राक्षसी-निशा कठोर अमा है।

---

* साकेत-सन्त, सर्ग ३, पृष्ठ ४८, ४६।

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७३ श्लोक २१।

इस माँ से मुझको भिन्न कौन मानेगा,
सम्मति थी मेरी या न, कौन जानेगा।❀

इष्ट तुझ को दृप्त-शासन-नीति .... मौन राजकुमार।

"तुझे अहंकार से भरी शासन-नीति ही रुचिकर है, और (इसके विपरीत) मुझे लोक-सेवा तथा प्रेम ही प्रिय है। वेन (जैसा अत्याचारी) ही जिस माता का 'योग्य' पुत्र हो सकता था वही जड़ (मूर्ख) भरत की माता के रूप में प्रसिद्ध हुई (मुझ जैसे पुत्र की माँ बनी।) अब आशा व्यर्थ है, यह समस्त संसार ही व्यर्थ है।" यह कहकर राजकुमार भरत मौन होकर रोने लगे।

वेन : वेन अत्यन्त अत्याचारी था। श्रीमद्भागवत के अनुसार "आठ लोक-पालों की विभूति से गर्वित, महा अहंकारी, अपने-आप को उत्तम बलवान् मानने वाला वह महा अभिमानी वेन महात्माओं का तिरस्कार करने लगा और निरंकुश हाथी के समान मदांध, अभिमान से भरा हुआ, पृथ्वी आकाश को कंपायमान करता हुआ रथ में बैठ कर समस्त पृथ्वी पर विचरता था।"†

जड़भरत : राजा भरत ने अपने वानप्रस्थ आश्रम में एक हरिण का बच्चा पाला था। वह उससे इतना अधिक प्रेम करते थे कि मरते दम तक उन्हें उसकी चिन्ता बनी रही। मरने पर उन्होंने हरिण की योनि में जन्म लिया। पुण्य के प्रभाव से उन्हें पूर्व-जन्म का ज्ञान बना रहा। हरिण का शरीर त्याग कर उन्होंने फिर ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया। वह संसार की वासना से बचने के लिए जड़वत् रहते थे अतः लोग उन्हें 'जड़भरत' कहते थे।

वेन होता योग्य जिसका जात, जड़भरत-जननी वही विख्यात : कैकेयी को 'दृप्त-शासन-नीति' इष्ट है। कितना अच्छा होता यदि उसका पुत्र भी वेन जैसा (अत्याचारी) होता। उस दशा में माँ-बेटे एक साथ मनमाने अत्याचार करते। परन्तु वास्तव में कैकेयी का पुत्र तो जड़भरत तुल्य है। श्री राम के शब्दों में--

हममें वे जड़भरत तुल्य विख्यात हैं।

भरत को 'लोक-सेवा-प्रीति' इष्ट है। अस्तु, भरत का यह समझना उचित ही है कि वह कैकेयी के 'योग्य' पुत्र नहीं अथवा कैकेयी उनकी योग्य जननी नहीं।

❀ साकेत-सन्त, सर्ग ३, पृष्ठ ४८, ५१।

† श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ४, अध्याय १४, श्लोक ४, ५।

इस अस्वाभाविकता की ओर लक्ष्मण ने इस प्रकार संकेत किया था—

हुए वे साधु तेरे पुत्र ऐसे—
*कि होता कीच से है कंज जैसे।**

थे भरे घन से खड़े शत्रुघ्न ···· ···· ··· ··· उस काल ?

शत्रुघ्न अब तक (जल से) भरे बादल की भाँति (बरसने की प्रतीक्षा में) खड़े थे, अब तो मानों वह बरस ही पड़े। (मन ही मन लक्ष्मण का स्मरण करके शत्रुघ्न ने कहा) "हे श्रेष्ठ सहोदर, आश्चर्य की बात है कि तुम्हारी उपस्थिति में यहाँ यह सब होता रहा ! भुजंगों के समान तुम्हारी विशाल भुजाएं क्या उस समय कीलित हो गयी थीं ?

'सोदरवर्य' : लक्ष्मण और शत्रुघ्न सहोदर थे—सुमित्रा माता के पुत्र थे।

'कीलित हुए' : 'कीलना' का एक अर्थ है साँप को ऐसा मुग्ध करना कि वह हिल-जुल न सके। शत्रुघ्न ने इससे पूर्व लक्ष्मण की विशाल भुजाओं की तुलना भुजंगों से की है। अतः यहाँ 'कीलित हुए' का अर्थ है निष्क्रिय अथवा वशीभूत हो जाना।

राज्य को यदि हम बना लें भोग ···· ···· ··· ···· राज-द्रोह।

"राज्य को यदि हम भोग (विलास का साधन) बना लें तो वह प्रजा के लिए रोग (की भाँति कष्टदायक) हो जायगा। ओह ! फिर (उस दशा में) मैं उठ कर (विद्रोही होकर) यह क्यों न कहूँ कि आज राजद्रोह ही मेरा धर्म है।

'साकेत' का कवि राज्य को '*भोग*' न मान कर '*भार*' ही मानता है—

राज्य है प्रिये ! भोग या भार ?

हमारे कवि का विश्वास है कि राज्य प्रजा की धरोहर है—

प्रजा की थाती रहे अखंड।

अस्तु, शत्रुघ्न के शब्दों में मानों अयोध्या की जन सत्ता ही ऐसे राज्य का सामना (राज-द्रोह) करने को तत्पर है जो '*थाती*' न रह कर '*भोग*' बन गया है।

विजय में बल और गौरव सिद्धि ··· ···· ···· ···· क्रान्ति का ही केतु।

"विजय में बल तथा गौरव की सिद्धि (सफलता) है। इसमें क्षत्रियों के धर्म और धन (अथवा धर्म रूपी धन) का विकास भी है। (परन्तु) राज्य में उत्तरदायित्व का भार ही अधिक है। राज्य तो सम्पूर्ण प्रजा का विधायक (व्यवस्था देने अथवा नियम-पूर्वक कार्य चलाने वाला) है, जब वही किसी

* साकेत, सर्ग ३।

एक व्यक्ति के लोभ का कारण बन जाय तो उस राज्य में क्रान्ति का झंडा (विद्रोह) उठना ही उचित है (राजा ही कर्त्तव्यच्युत हो जाए तो उस राज्य का अन्त कर देना ही श्रेयस्कर है)।

दूर हो ममता, विषमता, मोह ··· ··· ···· ··· धर्म राज-द्रोह।

"ममता, विषमता, मोह सब आज दूर हो जांय क्योंकि आज राजद्रोह ही मेरा धर्म है। जिस (राज्य) की प्राप्ति इसके त्याग से भी कठिन है (जिसे छोड़ना सरल है परन्तु प्राप्त करना कठिन) यदि उसमें ही स्वार्थ घर कर ले तो मैं भी दया (ममता) का त्याग क्यों न कर दूँ? आज राजद्रोह ही मेरा धर्म बन गया है।"

दो अभीप्सित दंड मुझ को अम्ब ···· ··· ···· ···· एक ही कुल-मुक्त।"

कैकेयी को सम्बोधित करके शत्रुघ्न ने कहा, "हे माता, मुझे चाहे जो दंड दो; शत्रुघ्न ने (मैंने) तो केवल न्याय का सहारा लिया है अतः मैं तुम्हारे राज्य-शासन का भार स्वीकार नहीं कर सकता। जिस राज-भक्ति को सब अपनी शक्ति समझते थे वही इस समय विरक्ति में परिणत हो गयी है। हाय! क्रान्ति (अथवा अराजकता) का जो भाव (वास्तव में) पाप था उसे तुमने पुण्य बना दिया है अतः अब यह 'राजा' का पद ही क्यों न समाप्त कर दिया जाय? इस प्रकार तो लोभ और मद का मूल स्रोत ही नष्ट हो जायगा। राजा का पद मिट जाने के बाद कोई पाखंड अथवा उद्दण्डता कर ही न सकेगा। इस प्रकार संसार में एक नवीन युग का उदय होगा। नर-पति समाप्त हो जाँय, केवल नर शेष रहें और जो व्यक्ति जिस कार्य के योग्य हों वे समान रूप से (पक्षपात अथवा भेद-भाव के बिना) उस पद पर नियुक्त हो सकें। तथा सब लोग मिल कर एक ही परिवार के सदस्यों की भाँति जीवन व्यतीत करें।"

'राज-द्रोही' शत्रुघ्न के इन शब्दों में साम्यवाद की स्पष्ट घोषणा है।

"अनुज, उस राजत्व का हो अन्त ···· ··· ···· ··· करके शान्त।

भरत ने शत्रुघ्न से कहा, "हे भाई वह राज्य तो अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिए जिस पर कैकेयी के दाँत गड़े हैं (कैकेयी की स्वार्थमयी दृष्टि गड़ी है) परन्तु समस्त संसार के विद्रोह शान्त करके राम-राज्य तो सदैव शोभायमान रहे।

शत्रुघ्न विद्रोही होकर राज-पद का ही अन्त कर देना चाहते हैं। भरत उन्हें सु-राज और कु-राज में अन्तर समझाते हैं। अराजकता की स्थिति भारतीय संस्कृति

को मान्य नहीं। यदि राजा अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाए तो उस राज्य का अन्त हो जाना ही उचित है। ऐसी दशा में राज-द्रोह प्रजा का धर्म बन जाता है परन्तु यह सत्य पल भर के लिए भी नेत्रों से ओझल न होना चाहिए कि क्रान्ति का उपयोग शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए ही उचित है। कु-राज का अन्त करके सु-राज की स्थापना करने के लिए ही क्रान्ति को साधन बनाना उचित है।

"साकेतकार पर गाँधी-नीति का बहुत गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। 'साकेत' उस युग की कृति है जो आज समाप्तप्राय है, जिसकी अनुभूतियाँ और प्रवृत्तियाँ आज आउट-ऑव-डेट हो चुकी हैं, जिनकी उपयोगिता पर आज प्रश्न-सूचक चिन्ह लगा हुआ है। वह युग सौ फी सदी गाँधी युग था—अतः 'साकेत' की संस्कृति पर गाँधी युग का प्रभाव था—अतः 'साकेत' की संस्कृति पर गाँधीवाद का रंग है। गाँधीवाद का आध्यात्मिक आधार है मानव-स्वभाव पर अटल विश्वास। उसका कहना है कि सारी दुनिया का स्रोत सत्य है। ···· इसका यह अर्थ हुआ कि सब जीव मात्र, मनुष्य मात्र एक ही सत्य के अंश हैं। ··· अतः हमारा पारस्परिक सम्बन्ध प्रेम का, सेवा का, सहिष्णुता का और उदारता का ही हो सकता है—न कि द्वेष का, विरोध का अथवा छोटे-बड़े का। ये दो गाँधीवाद के ध्रुव सत्य हैं, जिन्हें गाँधी जी क्रमशः *सत्य* और *अहिंसा* कहा करते थे। इनका क्रियात्मक स्वरूप है सत्याग्रह और सत्य की शोध के लिए सत्य का आग्रह। ··· ··· इस सत्य अर्थात् सर्वोदय अर्थात् मानव की आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए क्रान्ति ही एक साधन है परन्तु क्रान्ति का उद्देश्य केवल शान्ति-स्थापना ही होना चाहिए। सर्वोदय के लिए राम-राज्य की आवश्यकता है; जिसका कार्य जनता पर शासन करना नहीं वरन् उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना होगा। उसका यह दायित्व होगा कि वह स्वस्थ, स्वावलम्बी, परस्पर सहयोगी, आत्म-रक्षा-क्षम, सुसंस्कृत, श्रमशील, निर्भय और प्रसन्न मानव-समाज का निर्माण और उसकी व्यवस्था करे।"❀

रघु-भगीरथ-सगर ··· ··· ···· ··· जल जाय !

"मैं, कैकेयी का ढीठ पुत्र भरत, यदि (अपने पूर्वजों) महाराज रघु, भगीरथ, सगर आदि का राज-मुकुट छुऊँ भी तो यह मेरा पापी हाथ गल जाय अथवा वह मुकुट ही (मेरे कर-स्पर्श के कारण होने वाले) अनुताप (तपन) से जल जाए। (अनधिकारी होने के कारण मैं तो इस राजमुकुट को हाथ भी नहीं लगाऊँगा।)

❀ साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ १२४-२५।

भरत 'अप्राप्य' राज-मुकुट को छूना भी पाप समझते हैं।

तात, राज्य नहीं किसी का वित्त .... लोक-सेवक मात्र।"

"हे भाई, राज्य किसी की (व्यक्तिगत) सम्पत्ति नहीं है। वह तो वास्तव में उन्हीं लोगों के सुख तथा शान्ति के लिए है जो उसके लिए अपने को बलिदान करते हैं (सब प्रकार का त्याग करते और कष्ट सहते हैं)। नियुक्त किया गया शासक तो वास्तव में प्रजा का सेवक मात्र होता है।"

'नियत शासक लोक-सेवक मात्र': वैधानिक राजतंत्र (Constitutional Monarchy) का यह कितना भव्य रूप है!

"आर्य, छाती फट रही है .... तेरी तुष्टि!"

शत्रुघ्न बोले, "हाय आर्य, (यह सब देख कर तो मानों) छाती फटी जा रही है। अब तो राज्य भी व्यवसाय (सौदा) बन गया। हम धर्म को बेच कर (धर्म का मूल्य चुका कर) भी राज्य ले लें, अतुलनीय (अनुपम) रघुकुल में आज यह कैसा कुकर्म हो रहा है! जिस घर में भाई का देश-निकाला और पिता की हत्या, ये दो उत्पात हो चुके हैं वहाँ माता की हत्या और गृह-दाह (घर को अग्नि की भेंट करना) के रूप में दो (उत्पात) और हो जाँय, मेरा हृदय तो बस यही चाहता है। अरे दुर्भाग्य, तेरी तृप्ति पूर्ण हो (तू पूर्णतया तृप्त हो जा)"—यह कह कर शत्रुघ्न ने अपनी छाती पर मुक्का मारा।

लक्ष्मण के सहोदर, क्रुद्ध एवं क्षुब्ध शत्रुघ्न का यह चित्र 'साकेत' के कवि की मौलिक उद्भावना है।

उठ भरत ने धर लिया झट हाथ .... आओ धीर!"

भरत ने तुरन्त उठ कर शत्रुघ्न का हाथ पकड़ लिया और दुःखी होकर बोले, "हाय भाई, तुम जिसे (कैकेयी को) इस प्रकार मारना चाहते हो उसके लिए तो मृत्यु निष्कृति (छुटकारा) के समान है। अस्तु, इसे तो इसी के भाग्य पर छोड़ दो और धैर्य धारण करके आर्य-जननी के पास चलो।

'आर्य-जननी' द्वारा भरत के हृदय में व्याप्त कैकेयी और कौसल्या के *मातृत्व* का अन्तर स्पष्ट है।

युगल कंठों से निकल अविलम्ब .... डिडकार।

दोनों (भरत तथा शत्रुघ्न) के कंठों से उसी समय एक साथ निकल कर "हा अम्ब" का स्वर सारे भवन में गूँज गया। शोक ने आज अफर

(ऊब) कर डकार ली। (दोनों) पुत्र हम्बा कर डिडकार उठे (माँ को सामने देखकर बछड़ों की तरह रंभा कर डकराने लगे)!

सहन कर मानों व्यथा की चोट ... ... पदों की धूल।"

जान पड़ता था मानों वेदना का आघात पाकर बहुत ज़ोर की आवाज़ करके हृदय के टुकड़े इधर-उधर बिखर पड़े हों। भरत बोले, "हे माता, पति तथा पुत्र से रहित, दुखी माता तुम कहाँ हो? भरत, तुम्हारा अपराधी भरत आ गया है। उसे उचित आदेश दो। माँ, आज मुझ जैसा नीच और कौन है अतः तुम मेरा मुख भले ही न देखो (मैं अपना मुँह दिखाने योग्य नहीं समझता) परन्तु तुम इस प्रकार चुप न रहो (अपना आदेश तो मुझे सुन ही लेने दो)। दूर से ही घोर कुचक्र करके राज्य का हरण करने वाला यह दुष्ट भरत उपस्थित है। गृह-कलह का मूल-स्रोत मैं स्वयं यहाँ उपस्थित हूँ। तुम मुझे इच्छानुसार दंड दो परन्तु अपने चरणों की धूल तो ले लेने दो।"

महर्षि वाल्मीकि के भरत मन्त्रियों के सामने अपने को निर्दोष सिद्ध करते हुए कहते हैं :

राज्यं न कामये जातु मन्त्रये नापि मातरम्॥
अभिषेकं न जानामि योऽभूद्राज्ञा समीक्षितः।
विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नसहितोऽवसम्॥
वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः।
विवासनं वा सौमित्रेः सीतायाश्च यथाऽभवत्॥

(मेरी तो कभी यह अभिलाषा नहीं है कि मैं राज्य करूँ और न इस विषय में मैंने माता से परामर्श ही किया। न मुझे इसकी कुछ खबर थी कि महाराज ने श्री रामचन्द्र जी का राज्याभिषेक करने का निश्चय किया है क्योंकि मैं तो शत्रुघ्न सहित यहाँ से बहुत दूर था। अतः मुझे महात्मा श्री राम, लक्ष्मण और सीता जी के वनवास का हाल भी न मिला।)*

इस प्रकार रोते चिल्लाते हुए भरत जी का कण्ठ-स्वर पहचान कर कौसल्या सुमित्रा से कहती हैं :

आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः।

(जान पड़ता है कि निष्ठुर कर्म करने वाली कैकेयी का पुत्र भरत आ गया है।)†

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७५, श्लोक २ से ४।

† वही, सर्ग ६।

'अध्यात्म रामायण' के भरत इस अवसर पर कौसल्या को विश्वास दिलाते हैं कि कैकेयी ने श्री रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक के समय जो कुछ करतूत की है अथवा उसने और भी जो कोई कार्य किया है उसे यदि वह जानते हों अथवा उसमें उनकी सम्मति हो तो उन्हें सौ ब्रह्म-हत्याओं का पाप लगे अथवा अरुन्धती के सहित श्री वसिष्ठ जी को खड्ग से मारने से जो पाप होता है वही सारा पाप उन्हें भी लगे :

कैकेय्या यत्कृतं कर्म रामराज्याभिषेचने ।
अन्यद्वा यदि जानामि सा मया नोदिता यदि ।।
पापं मेऽस्तु तदा मातर्ब्रह्महत्याशतोद्भवम् ।
*हत्वा वसिष्ठं खड्गेन अरुन्धत्या समन्वितम् ।।**

'रामचरितमानस' के भरत अपने को धिक्कारते हुए कहते हैं :

जे अघ मातु पिता सुत मारें । गाइ गोठ महिसुर पुर जारें ।।
जो अघ तिय बालक बध कीन्हें । मीत महीपति माहुर दीन्हें ।।
ते पातक उपपातक अहहीं । करम बचन मन भव कबि कहहीं ।।
जे पातक मोहि होहुँ बिधाता । जौं यहु होइ मोर मत माता ।।

जे परिहरि हरि हर चरन, भजहिं भूत घन घोर ।
तेहि कह गति मोहि देउ बिधि, जौं जननी मत मोर ।।

बेचहिं बेदु धरमु दुहि लेहीं । पिसुन पराय पाप कहि देहीं ।।
कपटी कुटिल कलह प्रिय क्रोधी । बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी ।।
लोभी लंपट लोलुप चारा । जे ताकहिं परधनु परदारा ।।
पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा । जौं जननी यहु संमत मोरा ।।†

'रामचन्द्रिका' के भरत सौगन्ध खाकर कहते हैं :

सुनु मातु भई यह बात अनैसी । जु करो सुत-भर्तृ बिनाशिनि जैसी ।।
यह बात भई अब जानत जाके । द्विज दोष परैं सिगरे सिर ताके ।।
जिनके रघुनाथ विरोध बसै जू । मठधारिन के तिन पाप ग्रसै जू ।।
रसराम रस्यो मन नाहिन जाको । रण में नित होय पराजय ताको ।।‡

---

* अध्यात्म रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७, श्लोक ८८, ८९ ।

† रामचरितमानस, अयोध्याकांड ।

‡ रामचन्द्रिका, दसवां प्रकाश, छन्द ७, ८ ।

और 'साकेत-सन्त' के भरत अपने हृदय का परिताप इन शब्दों में प्रकट करते हैं :

मुझको माता ! तुम लाख बार धिक्कारो ,
दो शाप, तिरस्कृत करो, कठिन हो मारो ।
क्यों मुझ पापी का जन्म हुआ इस भू पर ,
मैं काल केतु हूँ उदित अवध के ऊपर ॥
मुझ से भय खायें सांप विषम हत्यारे ,
मुझ से डर कर छिप जांय निशाचार सारे ।
मैं जग का संचित पाप स्वयं प्रकटा हूँ ,
मैं नहीं जानता स्वतः आप मैं क्या हूँ ॥
मेरे कारण ही अवध राम ने छोड़ा ,
मेरे कारण तनु-बंध पिता ने तोड़ा ।
मेरे कारण यह दशा तुम्हारी माता ,
दानव हूँ दानव, विपुल व्यथा का दाता ॥
मैं पैदा ही क्यों हुआ, हुआ तो अब तक ,
जीता ही क्यों बच रहा वंश का कंटक ।
मैं कैकेयी का अंग महा हत्यारा ,
मैंने तड़पाकर अखिल अवध को मारा ॥
किस मुख से माँगूँ क्षमा, सफाई क्या दूँ ,
किस तरह चीर कर हृदय तुम्हें दिखला दूँ ।
कैसे कह दूँ केकय न अगर मैं जाता ,
यह इतना बड़ा अनर्थ न होने पाता ॥
उस माँ से मुझको भिन्न कौन मानेगा ,
सम्मति थी मेरी या न, कौन जानेगा ।
संशय की कोई दवा न धरती पर है ,
विधि के विधान का आह ! कुटिल चक्कर है ॥
कैकेयी जिसके लिये अनर्थ रचावे ,
उसके इस सुत पर आँच न फिर भी आवे ।
यह कैसे होगा ! कौन इसे लख सकते ,
माँ बेटे भी हैं भिन्न स्वार्थ रख सकते ॥
जो हो, यह विषम कलंक न अब छूटेगा ,
कैकेयी का सम्बन्ध कहाँ टूटेगा ।

मैं रहूँ कलंकी भले, अवध सुख पावे,
वह करो कि भैया पुनः यहाँ आजावें ॥❀

'साकेत' के भरत, 'वा० रा०', 'अ० रा०' अथवा 'रामचन्द्रिका' आदि के भरत की भाँति, अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करते। वह तो सर्वथा निर्दोष होकर भी अपने को ही सब अनर्थ का कारण मानते हैं। इसीलिए 'साकेत' के भरत के हृदय में आज अपने लिए असीम तिरस्कार भरा है। 'अधम', 'राज्य-हारी चोर' और 'दूर से षड्यन्त्रकारी घोर' आदि शब्द इसके प्रमाण हैं।

"झूठ, यह सब झूठ ··· ··· ···· ··· हर्ष और विषाद !"

भरत ने अपने ऊपर जो अभियोग लगाया था उसे असत्य बताते हुए कौसल्या ने कहा, "यह झूठ है, बिल्कुल झूठ है। तू सर्वथा निर्दोष है, इस बात की गवाही स्वयं मैं देती हूँ। मैं अपने राम की सौगन्ध खा कर कह सकती हूँ कि (भरत ने इस सम्बन्ध में कोई कुचक्र नहीं किया) भरत में षड्यन्त्र का लेश-मात्र भी नहीं है।" कैकेयी को सम्बोधित करके कौसल्या कहती हैं, "बहन कैकेयी, तुम भरत का यह कथन सुन लो। ओह, यह कितने हर्ष तथा विषाद का प्रसंग है!"

महर्षि वाल्मीकि के भरत भाँति-भाँति की सौगन्धें खाकर लगभग चालीस श्लोकों में अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यह सुनकर कौसल्या कहती हैं :

दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्ष्मणः ।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो मे सतां लोकानवाप्स्यसि ॥

(यह सौभाग्य की बात है कि तुम्हारा मन अपने बड़े भाई की ओर से चलायमान नहीं हुआ और तुम लक्ष्मण की तरह सत्य-प्रतिज्ञ हो। अतः तुम उस लोक को प्राप्त होगे जिसे सज्जन प्राप्त करते हैं।)†

'अध्यात्म रामायण' की कौसल्या को भी भरत की निर्दोषता पर विश्वास है :

कौसल्या तमथालिंग्य पुत्र जानामि मा शुचः ।‡

'साकेत' की कौशल्या को केवल यह विश्वास ही नहीं है, वह तो स्वयं साक्षिणी होकर मानों संसार को यह विश्वास दिला देना चाहती है कि—

भरत में अभिसन्धि का हो गन्ध,
तो मुझे निज राम की सौगन्ध ।

❀ 'साकेत-सन्त', सर्ग ३, पृष्ठ ५१, ५२।

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७५, श्लोक ६२।

‡ अध्यात्म रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७, श्लोक ६१।

'साकेत' की कौसल्या के हृदय में कैकेयी के प्रति भी कोई घृणा नहीं। वह 'बहन' कह कर कैकेयी को सम्बोधित करती हैं और चाहती हैं कि वह भी भरत के वे शब्द सुन ले ताकि उन्हें यह विश्वास हो जाए कि 'भरत की माँ' ने जो कुछ किया वह भरत की इच्छा के विरुद्ध है।

'ओह कितना हर्ष और विषाद' : कौसल्या को भरत से यही आशा थी। भरत उस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। कौसल्या को अपार 'हर्ष' है। भरत के ये उद्गार 'उत्पात' होने से पूर्व प्रकट न हो सके, 'विषाद' की यही तो बात है।

पूर्ण महिषी का हुआ उत्संग ··· ···· ··· ··· कुरंग।

शवरी (एक जंगली जाति की स्त्री) के तीर से आहत हरिण की भाँति भरत माँ की गोद में जा गिरे। इस प्रकार महारानी कौसल्या की गोद–जो राम-वनवास के कारण खाली हो गयी थी–फिर भर गयी।

"वत्स रे आजा, जुड़ा यह अंक ··· ··· ··· · जात हैं निर्दोष।"

कौसल्या ने भरत को अपनी गोद में बिठाते हुए कहा, "आजा मेरे लाल, तू मेरी गोद को शीतल कर दे। तू सूर्यकुल का निष्कलंक चन्द्रमा है। मुझे तो (तेरे रूप में) मेरा राम ही वापिस मिल गया। तू वही है, केवल नाम का भेद है। तुम दोनों के हृदय तथा शरीर समान-रूप से पवित्र हैं। तुम तो एक ही सांचे के बने हुए दो पात्रों की भाँति हो। तुम दोनों में केवल बड़े भाई और छोटे भाई का भेद है। मेरे लाल, तू अपने मन में खिन्न न हो। कैकेयी ने भरत का मोह करके (भरत के वात्सल्य से प्रेरित हो कर) ऐसा क्या बड़ा विद्रोह किया है (कोई बड़ा विद्रोह नहीं किया है)! मेरी गोद तो आज फिर भर गयी। आ, मुझे वही आनन्द दे जो राम को गोद में बिठाने से प्राप्त होता है···परन्तु बेटा, कुछ देर हो गयी। महाराज मुँह फेर कर सो गये हैं। उनके हृदय की धड़कन टूट (बन्द हो) चुकी है तथापि अब भी वे पुत्र-स्नेह में निमग्न हैं।" (महाराज दशरथ को सम्बोधित करके उन्होंने कहा) "हे नाथ, देख लो और यह जान कर शान्ति प्राप्त करो कि माताओं के लाल सर्वथा निर्दोष हैं।"

'रामचरितमानस' में :

मातु भरत के बचन मृदु, सुनि पुनि उठी संभारि।
लिए उठाइ लगाइ उर, लोचन मोचति बारि॥
सरल सुभाय मायँ हियँ लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए॥

और 'साकेत-संत' की कौसल्या ने :

खींचा उनको, ले गोद, हृदय लिपटाया,
बोलीं, तुमको पा पुनः राम को पाया।
बेटा, तुम निर्मल शील-कोष अक्षय हो,
तुम निष्कलंक हो पूर्ण तुम्हारी जय हो।।

'साकेत' की कौसल्या की दृष्टि में राम और भरत में केवल '*अग्रज*' और '*अनुज*' का भेद है अन्यथा दोनों एक '*सुहृदय*' तथा '*सुगात्र*' हैं। भरत को पाकर वह राम का अभाव सर्वथा भूल जाती हैं। तथापि उन्हें दुःख यही है कि कुछ देर हो गयी और रघुकुल में होने वाला उत्पात रोका न जा सका।

'सो गये हैं देव ये मुँह फेर' : महाराज दशरथ ने जिस वातावरण में प्राण त्यागे, उससे उन्हें घृणा हो गयी थी। 'मुँह फेर' द्वारा यहाँ घृणा अभिव्यक्त की गयी है।

'तथापि अब भी स्नेह में हैं मग्न' : वात्सल्यमयी कौसल्या इस समय भी महाराज दशरथ के मुख-मण्डल पर वात्सल्य ही देख रही है।

'देख लो हे नाथ, लो परितोप' : कौसल्या को यह पूर्ण विश्वास है कि 'जननियों के जात' को 'निर्दोष' देख कर महाराज दशरथ को स्वर्ग में भी परितोष (सन्तोष) अवश्य होगा।

नाव में नृप किन्तु पाँव पसार .... पर-पार।

परन्तु महाराज तो नाव में पाँव पसार कर सुप्तावस्था में संसार-सागर के उस (दूसरे) तट पर पहुँच चुके थे (अयोध्या में होने वाली घटनाओं का अब उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था)।

"हा पिता, यों सो रहे हो ... ... वचन-वंचित आज!"

(महाराज दशरथ के शव की ओर देखते हुए) भरत बोले, "हे पिता तुम इस प्रकार सो रहे हो; तुम्हारी वह चेतना (चेतन अवस्था) क्या सदा के लिए समाप्त हो गयी? जिस भाग्यहीन (व्यक्ति) के लिए यह सब कांड हुआ, तिरस्कार का वह पात्र आ गया है! उसे (मुझे) दंड देकर तुम पुनः स्वास्थ्य (नव जीवन) प्राप्त करो। मुझे बात करने के अयोग्य न समझिये (इस प्रकार मौन धारण न करिए)। हे नरराज, यह नीच (भरत) सर्वथा त्याज्य (छोड़ दिया जाने योग्य) तो अवश्य है परन्तु उसे अपने अन्तिम आदेश से तो वंचित न कीजिए (उसे इस प्रकार त्याग देने से पूर्व कम से कम उसे एक बार अन्तिम आज्ञा तो दे दीजिए)।"

भरत के हृदय की आत्म ग्लानि 'अभागे', 'काण्ड', 'भर्त्सना का भाण्ड' और 'नीच' आदि शब्दों से स्पष्ट है।

"राज्य तुमको दे गये ... . न होगा शान्त !"

माता कौसल्या ने महाराज दशरथ का अन्तिम सन्देश देते हुए भरत से कहा, "नरराज तुम्हें राज्य दे गये हैं। पुत्र इस समय तो तुम उन्हें जलांजलि दो (तर्पण करो)। हे पुत्र, मेरा प्यार तुम्हें क्या वस्तु प्रदान कर सकता है (मैं तो तुम्हें केवल पिता की अन्त्येष्टि का वह अधिकार ही दे सकती हूँ जो वास्तव में राम का था) अस्तु, तुम्हीं अन्त्येष्टि का अधिकार लो। (कैकेयी ने अपने पुत्र भरत के लिए कौशल्या के पुत्र राम का अधिकार छीन लिया; कौसल्या अपने पुत्र राम का अधिकार स्वयं भरत को प्रदान कर रही हैं।) राज्य..." (कौसल्या की बात बीच में ही काट कर भरत ने कहा, "वह राज्य तो भयंकर काल बन कर भरत के पीछे पड़ गया है। यह सर्वथा उग्र अराजक (वास्तविक राजा को हटा कर अनधिकारी को राज्यासन पर आसीन करने का अराजकता पूर्ण भाव) मेरे प्राण लेकर भी शान्त न हो सकेगा!"

"वत्स धीरे, कठिनता के साथ ... . उन पर करूँगी व्यक्त !"

(भावावेश के कारण भरत कुछ ऊँचे स्वर में बोलने लगे थे। उन्हें रोकते हुए कौसल्या बोलीं) "पुत्र, धीरे बोलो, स्वामी छटपटा कर (अत्यन्त कष्टपूर्ण स्थिति के उपरान्त) बहुत कठिनता से सो सके हैं। कहीं ऐसा न हो कि (जोर से बोलने के कारण उनकी नींद खुल जाए और) वह फिर अशान्त (तथा विकल) हो जावें। तुम धैर्य पूर्वक अपने धर्म का पालन करो। ध्रुव, पृथ्वी, हवा और सूर्य इस बात के साक्षी हैं कि मैं सदा ही इस शरीर (महाराज दशरथ) की संगिनी रही हूँ अस्तु (उनकी सुयोग्य सहचरी बन कर शीघ्र ही उनके पास पहुँच जाऊँगी और) हे पुत्र, तुम्हारे ये अभिन्न (यथापूर्व) भाव मैं स्वयं महाराज के पास जाकर उनके सामने अभिव्यक्त करूँगी।"

"हाय ! मत मारो मुझे .... भाग्य के फल भोग्य !"

माता कौसल्या के मुख से सती होने का प्रस्ताव सुनकर भरत ने अधीर होकर कहा, "हाय ! (स्वयं मर कर) मुझे इस तरह न मारो। माँ, तुम जीवित रहो ताकि मैं भी जी सकूँ। केवल (भाग्य का फल अथवा सबका तिरस्कार) सहन करने के उद्देश्य से ही मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने इस जीवन का भार वहन कर रहा हूँ। जीवित रहकर और

लोक-निन्दा सहन करके क्या (मेरे गुरुतम अपराध का) तनिक भी प्रायश्चित्त न हो सकेगा? (जीवित रह कर तथा लोक-निन्दा सह कर मैं अपने अपराध का प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ) यदि तुम सब भी मुझे त्याग देने के लिए तैयार हो, तो सर्वथा असहाय होकर स्वयं मैं भी क्यों न मर जाऊँ (फिर मेरे जीवन का ही क्या प्रयोजन है?) अरे, भाग्य के अनिवार्य फल, तू मुझे कम-से-कम आर्य (श्रीराम) को मुँह दिखाने योग्य तो रहने दे।"

शोक से अति आर्त अनुज समेत .... परस और पुकार।

यह कह कर असीम शोक के कारण, छोटे भाई, शत्रुघ्न के साथ भरत संज्ञाहीन हो गये। कौसल्या और सुमित्रा यह देख कर इस प्रकार भयभीत हो गयीं मानों उनकी छाती पर साँप ही लोट गया हो। वे 'हाय' करके पंखे से हवा करके, पानी का छींटा देकर, छू कर तथा पुकार कर उन्हें होश में लाने का प्रयत्न करने लगीं।

भ्रातृ युग सँभले नयन निज खोल .... सकीं निज इष्ट।

अन्त में, दोनों भाइयों ने अपने नेत्र खोले और उन्हें कुछ होश आयी परन्तु अब भी वे मुँह से कुछ बोल न सके। पुत्र की हठ और वंश के अनिष्ट (अमंगल) की आशङ्का से माताएँ भी अपने हृदय के भाव (सती होने का निश्चय) प्रकट न कर सकीं।

'रामचरितमानस' में भी भरत, माताओं के चरण पकड़ कर, उन्हें सती होने से रोक लेते हैं—

गहि पद भरत मातु सब राखी।
रहीं रानि दरसन अभिलाषी॥

आ गये तब तक तपोव्रतनिष्ठ .... वरिष्ट वसिष्ठ।

तब तक वहाँ तप-व्रत-निरत, महात्माओं में श्रेष्ठ, राजकुल के गुरु वसिष्ठ जी आ पहुँचे।

आधार ग्रन्थों में भी :

बामदेउ बसिष्ठ तब आए।
सचिव महाजन सकल बोलाए॥

प्राप्त कर उनके पदों की ओट ... ... सूर्यकुल गुरु-गर्व।"

कुल-गुरु के चरणों की ओट (आश्रय) पाकर दोनों भाई उनमें लोट कर रो पड़े। भरत ने पूछा, "गुरुदेव, यह अनिवार्य (जो टाला न जा सके) क्या

हुआ ? (अथवा जो घटनायें अयोध्या में घटित हुईं क्या वे टाली न जा सकती थीं) ?"

गुरु वसिष्ठ ने उत्तर दिया, "पुत्र (इस प्रकार तो) अनोखे ढंग से लोक-शिक्षण का कार्य सम्पन्न हुआ है (संसार के सम्मुख अनुपम आदर्श की स्थापना हुई है। प्रणय (प्रेम, स्नेह) के इस पर्व (उत्सव-काल) में त्याग का संचय किया गया है। अस्तु, मेरा तो सूर्य-कुल-गुरु-गर्व (इतने उच्च कुल का गुरु होने का गर्व) सफल हो गया है।"

'साकेत' के वसिष्ठ पूरा बल देकर भरत को यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अयोध्या में जो कुछ हुआ वह असाधारण था, अनुपम था। उन घटनाओं ने तो मानों संसार के सामने एक नवीन आदर्श की —एक ऐसे आदर्श की स्थापना कर दी है जहाँ *त्याग* ही प्रणय की चरम सीमा है, स्नेह की परख है, ममता का मापदण्ड है। ऐसी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए असाधारण योग्यता की आवश्यकता है। कुल-गुरु को यह जान कर सन्तोष है कि उनके शिष्य उस परीक्षा में खरे उतरे—उनका गर्व सफल हुआ।

"किन्तु मुझ पर आज सारी सृष्टि ... ... किस भाँति ?"

भरत ने कहा, "परन्तु मुझ पर तो सारा संसार आज घृणा की ही वर्षा कर रहा है। हे देव, मैं किधर और किस प्रकार दृष्टि उठाऊँ ?"

'रामचरितमानस' की भाँति 'साकेत' के भरत भी यह समझते हैं कि—

को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू॥
धिग मोहि भयउं बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी॥

तभी तो भरत को ऐसा लगता है मानों सारा संसार ही घृणा भरे नेत्रों से उनकी ओर देख रहा है। उन्हें तो ऐसी कोई दिशा अथवा वस्तु दिखाई नहीं देती, जिसकी ओर वे आँख उठा कर देख सकें। वसिष्ठ उन्हें समझाते हैं कि उन्हें किन-किन व्यक्तियों और बातों की ओर ध्यान देना चाहिए।

"भरत तुम आकुल न हो .... भोग-निशि का भोर।"

कुल-गुरु ने भरत से कहा, "भरत, तुम इस प्रकार बेचैन न हो। हे पुत्र, तुम अपने पिता की ओर देखो (उनके सत्य-पालन की ओर ध्यान दो) शव कठोर है, यह हिल-डुल भी नहीं सकता। सत्य भी तो ठीक ऐसा ही कठोर और अकम्प (अटल) है। अथवा पिता के उस अखंड प्रेम-यज्ञ की ओर

ध्यान दो जिसमें वे स्वयं ही सदा-सदा के लिए विलीन हो गये। तुम अपने उस श्रेष्ठ भाई की ओर देखो जिसके त्याग की कोई सीमा ही नहीं है और जिसका पवित्र पितृ-स्नेह, अपने कुल की मर्यादा (का पालन), विनय-शीलता तथा न्याय-नीतिपूर्ण व्यवहार वास्तव में अनुपम है। भरत, तुम अपनी बड़ी भाभी की ओर तो बार-बार ध्यान दो, हाँ उसी सीता की ओर जिसके लिए गहन वन के काँटे भी उपवन के फूलों के समान हो गये (जिसने वन के तीव्र काँटों को कोमल कुसुम की भाँति स्वीकार कर लिया)। ···अथवा तुम अपने छोटे भाई की ओर देखो। आह! वह लाक्ष्मण्य कितना घोर है! (लक्ष्मण का कार्य-व्यापार लक्ष्मण के ही योग्य (अनुपम) तथा उनकी तपस्या वास्तव में अत्यन्त घोर है) राम के प्रति लक्ष्मण का व्रत (कर्त्तव्य-पालन) अत्यन्त विकट (दुःसाध्य तथा कठिन) है और उनकी भक्ति दृढ़ (अविभक्त तथा अविचल) है मानों एक (राम) में ही सब का अटल अनुराग समाविष्ट हो गया हो। भरत, तुम इस छोटे भाई शत्रुघ्न की ओर देखो जो शोक में डूबा जा रहा है और जो आज, तुहिन कणों से लदे हुए फूल की भाँति, सबसे अधिक किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो रहा है। हे पुत्र, तुम अपनी माताओं की ओर देखो जिनकी भोग-रात्रि का आज प्रभात (अन्त) हो गया है।"

'*हाय भगवन्! क्यों हमारा ··· ··· ···· ···· अब निज नीड़।*"

(कुल गुरु ने भरत का ध्यान राज-माताओं की ओर आकृष्ट किया। स्वर्गवासी महाराज की विधवा रानियाँ अब अपने जीवन का कोई महत्व, कोई मूल्य, कोई उपयोगिता नहीं समझतीं। तभी तो वह कहती हैं कि) "हाय भगवन्! हमारा नाम ही क्यों लिया जा रहा है? हमें अब इस संसार में रह कर क्या करना है? अब तो हम इस पृथ्वी पर केवल भार के समान ही हैं अतः संसार हमारा करुण-क्रन्दन क्यों सहन करे? यहाँ (इस संसार में) हमारे जैसे अनाथों की भीड़ क्यों रहे? अतः हमारे प्राण रूपी पक्षी के लिए तो अब यही उचित है कि वह उड़ कर अपने घोंसले में पहुँच जाए (हमारे लिए तो अब मर जाना ही उचित है।")

"*देवियो, ऐसा नहीं वैधव्य ···· ··· ··· ···· एक दिन है देवि!*

कुल-गुरु वसिष्ठ ने कौसल्या तथा सुमित्रा को सम्बोधित करके कहा, "देवियो, वास्तव में वैधव्य ऐसा (इतना बुरा) नहीं है (जैसा तुम समझ रही हो) ऐसा (वैधव्य के समान) भव्य-भाव संसार में और कौन-सा है? राग (आसक्ति अथवा वासना) से रहित यह अनुराग और पवित्रता का यह अनुपम सुहाग वास्तव में धन्य है। अब तो तुम्हारा नाम ही अग्निमय हो

गया है जिस (आग) में समस्त वासनाएं स्वयमेव भस्म हो जाती हैं। आयु भर अपने पति का स्मरण करते हुए जीवित रहना, स्वामी के साथ सती हो जाने से कहीं अधिक ऊँची बात है अतः तुम अपने उसी व्रत का पालन करती हुई जीवन बिताओ ताकि सदा धर्म का विकास होता रहे। हे देवि एक दिन (एक दम) मर जाना तो बहुत आसान है परन्तु (शोक तथा कष्ट) सह कर जीवित रहना उससे कहीं अधिक कठिन है।"

यहाँ प्रसंगवश हमारे कवि ने सती-प्रथा के सम्बन्ध में अपने विचार अभिव्यक्त तो कर दिये हैं, 'सहमरण' का विकल्प—'आयु भर स्वामी-स्मरण'—भी प्रस्तुत कर दिया है तथापि गुप्त जी सदा अपनी नायिकाओं को 'सहमरण' से बचा नहीं सके हैं। इच्छा होने पर भी उत्तरा तो सती न हो सकी—

उस दग्ध हृदया को मरण भी हो गया दुर्लभ बड़ा,
*वह गर्भिणी थी, इसलिए निज तनु उसे रखना पड़ा।**

परन्तु 'रंग में भंग' में—

ग्रहण जो पति ने किया था कल अतीव उमंग से,
और पीला आज भी जो था हरिद्रा-रंग से।
वह उसी कर से स्वपति का शीश रखकर गोद में,
मिल गई चन्दन-चिता के ज्वाल-ज्वाला मोद में।†

'सिद्धराज' में रानकदे सती होती है—

था सन्तोष किन्तु यही वीर जगदेव को—
लाज रही रानक की, साध्वी सती हो गई।
सोरठ की रागिनी में गूँजती है आज भी
उस हतभागिनी की पीड़ा बड़ भागिनी!
अक्षय-सुहाग-भरी, त्याग-भरी तान है,
कितनी विराग-अनुराग भरी मूर्च्छना!‡

और 'जयभारत' में—

कुरु-वधुओं की तपन आग भी झेल न सकी सवाई,
उन सतियों ने जल-समाधि में पतियों की गति पाई।
स्थूल देह को अग्नि-दान फिर सूक्ष्म देह को पानी।¶....

---

* जयद्रथ वध, पृष्ठ ४७।

† रङ्ग में भङ्ग, पृष्ठ २०।

‡ सिद्धराज, पृष्ठ ७६।

¶ जयभारत, पृष्ठ ४१६।

भरत, देख आप अपनी ओर ···· ··· ··· ···· केकयी का भाग।

वसिष्ठ जी ने कहा, "भरत तुम स्वयं अपनी ओर तथा गम्भीर हिलोरें लेते हुए अपने इस हृदय-समुद्र की ओर देखो। इसमें (तुम्हारे हृदय-सागर में) ऐसे गुण-रूपी रत्न छिपे हैं जिनके लिए देवता भी प्रयत्नशील हैं। सब लोग जाग कर (वास्तविकता से अवगत होकर) भरत-भाव-रूपी अमृत का पान करें, कैकेयी के भाग में मोह-रूपी विष (का पान करना) ही था।

'भरत भावामृत' : 'भरत-भाव' का उल्लेख 'साकेत' में अनेक स्थानों पर किया गया है :

चलो अविभिन्न आर्य की मूर्ति,
करेगी भरत भाव की पूर्ति ॥ —सर्ग २

× ×

किन्तु भरत के भाव मुझे सब ज्ञात हैं,
हममें वे जड़भरत-तुल्य विख्यात हैं। —सर्ग ४

× ×

भरत दशरथ पिता के पुत्र होकर,
न लेंगे, फेर देंगे राज्य रोकर।
बिना समझे भरत का भाव सारा,
विपिन का व्यर्थ है प्रस्ताव सारा। —सर्ग ३

× ×

कौन समझेगा भरत का भाव—
जब करे माँ आप यों प्रस्ताव! —सर्ग ७

× ×

चिरकाल राम है भरत-भाव का भूखा,
पर उसको तो कर्त्तव्य मिला है रूखा! —सर्ग ८

'मोह-विष था केकयी का भाग' : विष और अमृत की उत्पत्ति समुद्र से ही मानी जाती है। कैकेयी को मोह-विष ही रुचिकर जान पड़ा। कुल-गुरु की कामना है कि समस्त संसार भरत के हृदय-सागर का भावामृत ही पान करे।

वत्स, मेरी ओर देखो ···· ···· ··· ··· सुर तुम्हारे गीत।

"हे पुत्र, तुम मेरी ओर देखो, निर्मोह (मोह से रहित) हो कर भी मैं (यह सब देख कर) गद्गद हो रहा हूँ। तुम रो रहे हो परन्तु अरे विनयी, देवता भी तुम्हारे गीत गा रहे हैं (स्तुति तथा प्रशंसा कर रहे हैं)।

प्राप्त अपने आप ही यह राज्य ··· ···· ···· ··· अधिक सुकृती कौन ?

"हे भरत, तुमने अपने आप प्राप्त होने वाला राज्य भी तिनके की तरह त्याग दिया।" (यहीं कुल-कुरु शत्रुघ्न को सम्बोधित करके कहते हैं कि) हे शत्रुघ्न, मेरी बुद्धि तो यह निश्चय करने में असमर्थ है कि तुम अधिक सुकृती (भाग्यवान् अथवा अच्छे कार्य करने वाला) हो अथवा लक्ष्मण ?

'तुम कि लक्ष्मण, अधिक सुकृती कौन' : राम ने पिता के वचनों की रक्षा करने के लिए अपना अधिकार त्याग दिया, भरत ने भाई के लिए 'अपने आप ही प्राप्त राज्य' तिनके की तरह छोड़ दिया। लक्ष्मण राम के अनुचर हैं, शत्रुघ्न भरत के। अतः यह निश्चय करना कठिन है कि लक्ष्मण अधिक 'सुकृती' हैं अथवा शत्रुघ्न।

अब उठो हे वत्स, धीरज धर ··· ·· ··· ···· कर्म-क्षेत्र है नर लोक।

कुल-गुरु वसिष्ठ ने भरत से कहा, "हे पुत्र, अब तुम धैर्य धारण करके उठो ! वीर भी कहीं थक अथवा हार कर (साहस खोकर) बैठते हैं ? तुम इस शोक को शत्रु के तीर के समान सह लो। यह संसार तो निरन्तर एक कर्म-क्षेत्र (कर्म-भूमि) है (जिस प्रकार युद्ध-भूमि में वीर योद्धा धैर्य-पूर्वक शत्रु का प्रहार सहते हैं उसी प्रकार तुम भी जीवन संग्राम में विजयी होने के लिए यह शोक-प्रहार सहन करके कर्त्तव्यों का पालन करो।)

कर पिता का मृत्युकृत्य अपत्य ··· ··· ···· ···· गोत्र-जीवन-सत्य।

"पुत्र, पिता की अन्त्येष्टि क्रिया करके तुम परम्परा से प्राप्त तथा अपने वंश के जीवन—सत्य की रक्षा करो (सत्य-पालन की जो पैतृक निधि तुम्हें मिली है उसे स्वीकार करो)।

'क्रमागत गोत्र-जीवन-सत्य' : इस वाक्यांश का अर्थ एक और प्रकार भी किया जा सकता है। भरत को पैतृक-सम्पत्ति के रूप में तीन वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं—राज्य, जीवन तथा सत्य (पालन)। अस्तु, कुल-गुरु चाहते हैं कि एक योग्य उत्तराधिकारी बन कर भरत इन तीनों की विधिवत् रक्षा करें।

मरण है अवकाश जीवन कार्य ··· ···· ···· ··· देकर ताल।

वसिष्ठ जी ने जीवन तथा मृत्यु के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए कहा, "मृत्यु अवकाश है, जीवन कार्य। यह बात मैं स्वयं (तुम्हारा कुल-गुरु) कह रहा हूँ। तुममें अपने पिता के ही प्राण समाये हुए हैं अतः हे वीर शोक छोड़ कर

धैर्य धारण करो। जब तक साँस चल रही है (हम जीवित हैं) तब तक हम क्यों रुकें (कर्त्तव्य-विमुख क्यों हों)? अस्तु (हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जब तक यह साँस चल रही है तब तक) हमारी गति (कार्यशीलता) में कोई बाधा उपस्थित न हो और भाग्य भी संवेदना ही प्रदान करे (हमारे साहस तथा हमारी अविचलता पर मुग्ध ही हो)। जीवन-पथ पर आने वाली बाधाएं तो रास्ते की घास-फूस के समान हैं उन्हें देख कर हमारे हृदय में फाँस न फँस जावे (हम साहस न छोड़ दें)। हे पुत्र, जीवन-गीत सुन कर तो स्वयं काल (मृत्यु) भी ताल देकर नाचता है (काल भी प्रसन्नता तथा धैर्य-पूर्वक कर्त्तव्य पालन करने वाले व्यक्तियों का कुछ नहीं बिगाड़ सकता)। वास्तव में सद्-गति (मोक्ष) तो तभी प्राप्त होती है जब प्रलय (नाश) में भी अपनी लय बनी रहे।" (हमारे यहाँ 'लास्य' भी एक प्रकार का नृत्य ही है और 'तांडव' भी।)

प्रस्तुत उद्धरण में कुल-गुरु का 'आचार्यत्व' मूर्तिमान् हो उठा है। दार्शनिक पृष्ठभूमि समन्वित ये शब्द मृत-तुल्य भरत में भी नवजीवन का-सा संचार करके उन्हें कर्त्तव्य-पथ की ओर अग्रसर करते हैं। कुल-गुरु के इस कथन में उसी शक्ति, प्रेरणा तथा ओजस्विता की प्रतिध्वनि है, जो अपने मूल रूप में इस प्रकार अभिव्यक्त हुई थी—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
*क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥**

(उठो, जागो, इष्ट इच्छाओं को प्राप्त होकर जानो, सूक्ष्मदर्शी लोग उस मार्ग को तेज़, अति कठिन, छुरे की धार के समान तथा कठिनता से प्राप्त होने योग्य कहते हैं।)

'मरण है अवकाश, जीवन कार्य' ··· : 'कामायनी' के कवि ने कहा है—

मृत्यु, अरी चिर-निद्रे! तेरा अंक हिमानी सा शीतल,
तू अनन्त में लहर बनाती काल-जलधि की सी हलचल।
महा-नृत्य का विषम सम, अरी अखिल स्पंदनों की तू माप,
तेरी ही विभूति बनती है सृष्टि सदा हो कर अभिशाप।
अंधकार के अट्टहास सी, मुखरित सतत चिरंतन सत्य,
छिपी सृष्टि के कण-कण में तू, यह सुन्दर रहस्य है नित्य।

* कठोपनिषद्, ३–१४।

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नील घन-माला में,
सौदामिनी-संधि सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में। ❀

और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में—

"मैंने जीवन से इतना प्यार किया है,
फिर मैं मृत्यु से इससे भी अधिक प्यार क्यों न करूँ ?"

उठ खड़े हो निज पदों पर .... जो कृपा की कोर।"

वसिष्ठ जी ने कहा, "भरत ! तुम आज अपने पैरों पर खड़े हो जाओ (पिता की मृत्यु तथा अग्रज के वनवासी हो जाने पर भरत के लिए अपने पैरों पर खड़ा होना समय तथा परिस्थिति की माँग है) ताकि (तुम्हें धैर्य-युक्त देख कर) तुम्हारे इष्ट-मित्र भी धैर्य-धारण कर सकें। वीर भरत, तुम तनिक उस प्रजा की ओर तो देखो जो तुम्हारी कृपा की एक कोर पाने के लिए लालायित है।"

'साकेत' के कुल-गुरु वसिष्ठ का चित्र आधार-ग्रन्थों से कहीं अधिक भव्य है। उदाहरणार्थ गोस्वामी जी ने अत्यन्त संक्षेप में इतना ही कह दिया था—

मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे।
कहि परमारथ बचन सुदेसे॥

'वाल्मीकि रामायण' के वसिष्ठ भरत से केवल यह कहते हैं·

अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः।
प्राप्त कालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम्॥

(हे परम यशस्वी राजपुत्र ! तुम्हारा मंगल हो। बस, बहुत हुआ, अब शोक मत करो। अब समय हो चुका, अतः विधि विधान से महाराज की अन्त्येष्टि क्रिया करो।)†

'अध्यात्म रामायण' के वसिष्ठ भरत को इस प्रकार समझाते हैं—

"महाराज दशरथ वृद्ध, ज्ञानी और सत्य पराक्रमी थे। वे मनुष्य-जन्म के समस्त सुख भोग कर बहुत-सी दक्षिणा के सहित अश्वमेधादि यज्ञों द्वारा भगवान् का भजन कर और रामचन्द्र के रूप में साक्षात् विष्णु भगवान् को पुत्र रूप में पाकर अन्त में स्वर्गलोक में जाकर देवराज इन्द्र के आधे आसन के अधिकारी हुए हैं। वे सर्वथा

❀ श्री जयशङ्कर प्रसाद, कामायनी, चिन्ता सर्ग।
† वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७६, श्लोक २।

अशोचनीय और मोक्ष के पात्र हैं, उनके लिए तुम वृथा ही शोक करते हो। देखो, आत्मा तो नित्य अविनाशी, शुद्ध और जन्म नाशादि से रहित है और शरीर जड़, अत्यन्त अपवित्र और नाशवान् है। इस प्रकार विचार करने पर शोक के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। यदि कोई पिता या पुत्र मर जाता है तो मूढ़जन ही उसके लिए छाती पीट कर रोते हैं किन्तु इस संसार में यदि ज्ञानियों को किसी से वियोग होता है तो वह उनके लिए वैराग्य का कारण होता है और सुख तथा शान्ति का विस्तार करता है। यदि किसी ने इस लोक में जन्म लिया है तो मृत्यु भी अवश्य उसके साथ लगी हुई है। अतः जन्म लेने वालों के लिए मृत्यु सर्वथा अनिवार्य है। .... करोड़ों ब्रह्माण्ड नष्ट हो गये, अनेकों सृष्टियाँ बीत गयीं, ये सम्पूर्ण समुद्र एक दिन सूख जावेंगे। फिर इस क्षणिक जीवन में भला क्या आस्था की जाय? यह आयु हिलते हुए पत्ते की नोंक पर लटकती हुई जल की बूँद के समान क्षण भंगुर है, असमय ही छोड़ कर चली जाती है, इसका तुम क्या विश्वास करोगे? । इस जीवात्मा ने अपने पूर्व-देह-कृत कर्मों से यह शरीर धारण किया है और फिर इस देह के कर्मों से यह और शरीर धारण करेगा। इसी प्रकार आत्मा को पुनः-पुनः देह की प्राप्ति होती रहती है ••• ··· आत्मा तो न कभी मरता है, न जलता है और न बढ़ता ही है। वह षड्-भाव-विकारों से रहित, अनन्त, सच्चित्स्वरूप, आनन्दरूप, बुद्धि आदि का साक्षी और अविनाशी है। वह परात्मा एक, अद्वितीय और समभाव से स्थित है। इस प्रकार तुम आत्मा का दृढ़ ज्ञान प्राप्त कर शोक-रहित हो समस्त कार्य करो। हे कुल-नंदन भरत! अपने पिता का शरीर तेल की नाव से निकाल कर, मन्त्रियों और हम सब ऋषियों के साथ उसका विधिपूर्वक अन्त्येष्टि-संस्कार करो।"*

'साकेत' के वसिष्ठ जानते हैं कि भरत का ध्यान '*निवृत्ति*' की ओर नहीं, '*प्रवृत्ति*' की ओर आकृष्ट किया जाना आवश्यक है अतः वह वैराग्यमूलक भावनाएँ अभिव्यक्त नहीं करते। रघुकुल में जो कुछ हुआ है वह अत्यन्त महान् है, 'अनुपम-लोक-शिक्षण-कार्य' है। इस प्रकार तो मानों स्वयं वसिष्ठ का हृदय भी गर्व से फूला नहीं समा रहा—'सफल मेरा सूर्य-कुल-गुरु गर्व'। पल भर के लिए कुल-गुरु भरत का ध्यान दशरथ के शव की ओर आकृष्ट अवश्य करते हैं परन्तु दूसरे ही क्षण यह कह कर कि—

सत्य भी शव सा अकम्प कठोर!

वह भरत का विचार-प्रवाह एक उच्च भाव-भूमि तक ले जाते हैं। क्रमशः वह

* अध्यात्म रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७, श्लोक ६३, से १०८।

भरत को 'भ्रातृवर', 'अग्रज वधू', 'उस अनुज', 'इस अनुज', 'जननियों', 'आप अपनी' और 'मेरी' ओर आकृष्ट करते हैं। इतनी विस्तृत भूमिका के उपरान्त वह भरत से कह पाते हैं कि—

कर पिता का मृत्यु कृत्य अपत्य,
लो क्रमागत गोत्र-जीवन-सत्य।

जीवन के विरोध (Contrast) में 'साकेत' के वसिष्ठ मृत्यु का भी उल्लेख अवश्य करते हैं परन्तु यह निरूपण निराशापूर्ण न होकर आशामय ही है—

मरण है अवकाश, जीवन कार्य

और, इस स्थिति तक पहुँच कर तो मानों जीवधारी मृत्यु को भी चुनौती दे देता है—

तात जीवन-गीत सुनकर काल,
नाचता है आप, देकर ताल।

यहाँ पहुँचकर तो मानों मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है—'सिर से कफ़न लपेटे क़ातिल को ढूंढता हूँ'—और वह मृत्यु को ललकार कर कहता है—

मौत यह मेरी नहीं
मेरी कज़ा की मौत है।

और, 'साकेत' के वसिष्ठ के शब्दों में—

सुगति होती है तभी यह प्राप्त,
प्रलय में भी लय रहे निज व्याप्त।

सान्त्वना में शोक की वह ... ... काल निर्झर-नीर।'

इसी प्रकार सान्त्वना में शोक की वह रात कट चली और प्रभात होने लगा। दूर से मानों मुरगे ने गम्भीर स्वर में कहा "काल (समय) क्रूर होकर भी झरने के जल की भाँति (गतिशील) है (दुःख तथा शोक की घड़ियाँ ठहरी नहीं रहतीं अपितु झरने के पानी की भाँति निरन्तर आगे बढ़ती रहती हैं)।"

अरुण-पूर्व उतार तारक-हार .... भरे हिम-अस्र।

पूर्वारुण ने तारों का हार उतार कर एक मैला सा सफेद (परन्तु सूना अथवा मैला) वस्त्र धारण कर लिया। इस प्रकार प्राकृतिक शृङ्गार (उपकरणों) से रहित होकर दीन प्रकृति निरन्तर ओस (अथवा पाला) के (रूप में) आँसू भरे (बहा रही) थी।

यहाँ सांग रूपक द्वारा प्रकृति तथा विधवा में परस्पर समानता स्थापित की गयी है। प्रकृति ने तारों के हार उतार दिये हैं (प्रातःकाल होने पर तारे विलीन हो जाते हैं) उसके माथे पर बालारुण के रूप में (सौभाग्य सिंदूर) नहीं है। आकाश का रंग मलिन (धूमिल) है। सब ओर ओस की बूँदें पड़ी दिखाई दे रही हैं—ठीक इसी प्रकार विधवा के माथे पर सिंदूर नहीं होता, गले में मोतियों के हार अथवा आभूषण नहीं होते, वह बिना रंगे तथा मैले वस्त्र पहनती है और लगातार नेत्रों से आँसू बहाती रहती है। 'निराला' जी के शब्दों में—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
*दलित भारत की ही विधवा है।**

आज नरपति का महासंस्कार ... . आज अपना लक्ष!

आज नरपति (महाराज दशरथ) का महासंस्कार (अन्तिम संस्कार) है। इस अवसर पर जन-समूह रूपी समुद्र उमड़ने दो। आज महायात्रा है अतः सैंकड़ों झंडे फहराये जावें। दुन्दुभी का घोर शब्द सब ओर गूँज जाने दो ताकि सबको इस बात की सूचना मिल जाय कि पुण्यात्माओं के जन्म (जीवन) में संसार का उपभोग होता है (वे जीवन भर साँसारिक ऐश्वर्य का उपभोग करते हैं) और मृत्यु में शुभ मुक्ति (मर कर मोक्ष प्राप्त करते हैं)। समस्त घोड़े, हाथी, रथ आदि भली प्रकार सजाये जावें क्योंकि आज महाराज की स्वर्ग-लोक-यात्रा का उत्सव है। इस (पर्व) में समस्त इष्ट-मित्र, सेना तथा समाज के सब सदस्य सम्मिलित हों क्योंकि आज यही अन्तिम विदा है। सूत, मागध तथा वन्दि-जन आज निर्भय होकर महाराज की जीवन-विजय के गीत गावें—सामने ही स्थित मृत्यु-पक्ष (मृत्यु के सैन्य-दल) को तुच्छ ठहरा कर महाराज ने अपना चरम लक्ष (मोक्ष) प्राप्त कर लिया है।

आज '*नरपति*' का *महासंस्कार* है अतः '*लोक-पारावार*' उमड़ रहा है। नरेश की यात्रा के अवसर पर मंगल सूचक ध्वज फहराए जाते हैं। आज '*महायात्रा*' है, अतः 'फहरने दो आज *सौ-सौ केतु*'। '*सघन*' दुंदुभी का स्वर आज सब ओर

* श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', परिमल, पृष्ठ १००।

यह घोषणा कर दे कि—

सुकृतियों के जन्म में भव-भुक्ति,
और उनकी मृत्यु में शुभ-मुक्ति!

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी तो अर्जुन से यही कहा था—

'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।'

'पर्व' के अवसर पर हाथी, घोड़े तथा रथ सजाये जाते हैं। आज *सुर-धाम-यात्रा-पर्व* है, फिर भला समस्त हाथी, घोड़े तथा रथ आदि क्यों न सजाये जावें? यात्रा के अवसर पर इष्ट-मित्र विदा करते हैं। आज *'महायात्रा'* है, *'अन्तिम विदा'* है अतः *'सम्मिलित हों स्वजन, सैन्य समाज'*। सूत, मागध तथा वन्दि अब तक आश्रित भाव से ही विरुदावली गाते रहे हैं। आज ये *'अभीत'* (स्वतंत्र) होकर *जीवन-विजय के गीत* गावें क्योंकि जीवन-काल में महाराज दशरथ शत्रुओं को परास्त करके विजय प्राप्त करते थे, आज उन्होंने सामने खड़े *'मृत्यु-पक्ष'* को भी *'तुच्छ कर'* दिया है और *'अपना लक्ष'* (सर्वोच्च विजय) प्राप्त कर लिया है।

राजगृह की वह्नि बाहर जोड़ .... करने लगे सब कार्य।

राज-गृह (महाराज के अग्न्यागार) की अग्नि बाहर जोड़ कर (एकत्रित करके) द्विज आहुतियाँ डाल कर होम करने लगे। भरत के साथ कुल-पुरोहित तथा कुल-गुरु मिल कर विधि-पूर्वक सब कार्य करने लगे।

'वाल्मीकि रामायण' में भी—

ये त्वग्नयो नरेन्द्रस्य चाग्न्यगाराद्बहिष्कृताः।
ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव तेहूयन्ते यथाविधी॥

(महाराज के अग्न्यागार में जो अग्नियें स्थापित थीं, उन सबको बाहर निकाल कर ऋत्विज और याचक यथाविधि होम करने लगे।)❀

शव बना था शिव-समाधि समान ... ... भव्य-भद्र-स्कन्ध।

महाराजा दशरथ का शव समाधिस्थ शिव के समान था, पालकी (जिसमें रख कर महाराज का शव सरयू तट तक ले जाया जा रहा था) शिवालय जैसी थी और जिनसे वहन-सम्बन्ध (उस शिविका को उठ कर ले चलने का सम्बन्ध) था, भरत के वे भव्य (उच्च) एवं श्रेष्ठ कन्धे ही शिव-पुत्र स्वामी कार्तिकेय तथा वीर-भद्र (शिव के प्रधान गण) के समान थे।

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७६, श्लोक १३।

गोस्वामी जी ने कहा था—

परम बिचित्र बिमानु बनावा।

'वाल्मीकि रामायण' में 'विमान' के स्थान पर 'शिविका' शब्द का प्रयोग किया गया है—

शिबिकायामथारोप्य राजानं गतचेतसम्।❀

गुप्त जी ने भी प्रस्तुत प्रसंग में 'शिविका' का प्रयोग किया है परन्तु इस शब्द ने तो मानों कवि-कल्पना को एक अनुपम आधार ही प्रदान कर दिया। अस्तु, 'साकेत' की 'शिविका', *शिविका* मात्र न रह कर '*शिवालय*' बन गयी, शव ने '*समाधिस्थ-शिव*' का रूप धारण कर लिया और भरत के भव्य तथा श्रेष्ठ कंधे *वीरभद्र* तथा *स्वामी कार्तिकेय* बन बैठे। (यहाँ 'भद्र' तथा 'स्कन्ध' श्लिष्ट शब्द हैं। 'भद्र' का अर्थ है—श्रेष्ठ तथा वीरभद्र और 'स्कंध' का अर्थ है—कंधा तथा शिवपुत्र, स्कंद।)

बज रहे थे झाँझ, झालर ··· ···· ···· ··· वसन, धन, रत्न।

झाँझ, झालर तथा शंख बज रहे थे। जय-घोष (जय जयकार का शब्द) तो मानों असंख्य पंख ही पा गया था (सर्वत्र फैल रहा था)। लोग भाव-विभोर होकर हँस भी रहे थे और रो भी रहे थे। सब लोगों के नेत्रों से लगातार जल-धारा बह रही थी इस प्रकार रास्ते की धूल तो (नेत्रों के उस जल से) पहले ही शान्त हो गयी थी (दब गयी थी)। दोनों ओर मनुष्यों की महान (घनी) पंक्तियाँ थीं, उनके बीच में पाँवड़े बिछे थे जिन पर से शव-यान (अर्थी) चला जा रहा था। सब मनुष्य आज पैदल ही चल रहे थे, वाहनों रथ आदि पर केवल वे ही लोग थे जो स्वयं महाराज दशरथ के भी पूज्य थे। भक्ति तथा यत्न-पूर्वक (उस अपार जन-समुदाय, लोक-पारावार—में से अत्यधिक यत्न के बिना महाराज के दर्शन करना सम्भव ही न था) अन्तिम बार महाराज के दर्शन करके लोग वस्त्र, धन तथा हीरे मोती लुटा रहे थे।

प्रस्तुत उद्धरण में *अनुशासन* तथा *गाम्भीर्य* का प्राचुर्य है। इस 'पर्व' में हर्षातिरेक नहीं है, यह तो एक गम्भीर अवसर है। फलतः सब लोग एक विशेष अनुशासन में रह कर ही काम कर रहे हैं। शव के साथ चलने वाले लोग गम्भीर भाव से पैदल चले जा रहे हैं, दर्शनार्थी श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक महान् पंक्तियाँ बनाए खड़े हैं।

राष्ट्रपिता बापू की 'महायात्रा' के अवसर पर मानों 'साकेत' का यही चित्र साकार हो उठा था।

❀, श्लोक १४।

जन लुटाते थे वसन, धन, रत्न : 'वाल्मीकि रामायण' में भी—

हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च।
प्रकिरन्तो जना मार्गं नृपतरे पतो ययुः॥

(लोग महाराज की पालकी के आगे-आगे मोहरें, रुपये अथवा सोने-चाँदी के फूल और तरह-तरह के वस्त्र सड़कों पर बरसाते हुए चले जा रहे थे।)❀

आ गया सब संघ .... कल-विलाप विलोल !

सब लोग सरयू-तट पर आ पहुँचे। सरयू का जल स्वाभाविक-रूप से करुणा-वश (गद्‌गद्) हो रहा था। जान पड़ता था कि स्वयं सरयू भी लहरों की वेणी खोल कर (खुले केश वैधव्य के प्रतीक हैं) कल-कल स्वर से विलाप कर रही थी।

'साकेत' की सरयू भी रघुकुल (अयोध्या) में होने वाली घटनाओं (हर्ष-शोक) से अप्रभावित नहीं है। जिस समय 'साकेत नगरी नागरी' है उस समय सरयू भी 'सात्विक-भाव से भरी' है और—

पुण्य की प्रत्यक्ष धारा बह रही,
कर्ण-कोमल कल-कथा सी कह रही। —सर्ग १

राम-वनवास के उपरान्त—

पार्श्व से यह खिसकती सी आप,
जा रही सरयू बही चुपचाप। —सर्ग ७

महाराज की अन्त्येष्टि के समय—

आप सरिता वीच-वेणी खोल,
कर रही थी कल-विलाप विलोल ! —सर्ग ७

तभी तो ऊर्मिला कहती है—

सरयू, रघुराज वंश की,
रवि के उज्जवल उच्च अंश की,
सुन, तू चिरकाल संगिनी,
अयि साकेत-निकेत-अंगिनी ! —सर्ग १०

अगरु-चन्दन की चिता थी ... . शरद्-घन शान्त !

अगरु तथा चन्दन की उस चिता पर महाराज का शव संयमित तेज के समान सो रहा था। ऐसा जान पड़ता था मानों पृथ्वी को सरस करके तथा एकान्त में ही जल बरसा कर शरद्-कालीन बादल शान्त होकर क्षितिज में स्थित सा हो गया हो।

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७६, श्लोक १५।

अगरु-चन्दन की चिता थी सेज : 'वाल्मीकि रामायण' में देवदारु, पद्मक, चन्दन, अगर आदि सुगन्धित काष्ठ एकत्रित करके चिता बनायी जाती है*
और 'रामचरितमानस' में भी—

चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए ॥
सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई ॥

राजशव था सुप्त, संयत तेज : महानिर्वाण के समय भगवान् बुद्ध के मुख-मण्डल पर भी यही 'संयत तेज' परिलक्षित हो रहा था—

इस महा भयकारक काल में,
प्रकृत-निर्भय बुद्ध अभीत थे,
चमकती उनके मुख पै लसी
अमर-भेद-समुत्थित भावना।

रजत-पत्र-समुज्वल भाल पै
छविमयी प्रभुता रत-नृत्य थी,
परम वैभव-पूर्ण समा रही
युगल लोचन में अभिरामता।†

'सरस कर भूतल, बरस एकान्त, क्षितिज पर मानों शरद्-घन शान्त' : प्रस्तुत उत्प्रेक्षा अत्यन्त प्रभावशालिनी है। शरद्-कालीन बादल उन बादलों से भिन्न होते हैं, जो गरजते हैं पर बरसते नहीं। गरजने वाले बादलों की भाँति अत्यधिक शोर-गुल न मचाकर वे तो मानों '*एकांत*' में ही बरस कर वसुधा को सरस कर देते हैं। दूर क्षितिज पर दिखाई देने वाले इन बादलों में एक अनुपम शान्ति दिखाई देती है। इसी प्रकार महाराज दशरथ ने भी समस्त जीवन दूसरों के हित-साधन में ही बिताया और कभी अपने महान कर्मों का अनावश्यक प्रदर्शन नहीं किया। जीवन के कर्त्तव्यों से विमुक्त होकर आज तो वे मानों सर्वथा शान्त अवस्था में क्षितिज (जीवन के उच्चतम स्तर) पर स्थित हो गये हैं।

फिर प्रदक्षिण, प्रणति ···· ···· ··· ···· शुचि-संस्कार।

फिर चिता की प्रदक्षिणा की गयी, सब ने प्रणाम किया और जय जयकार का शब्द गूँज उठा। साम-गान के साथ वह पवित्र संस्कार सम्पन्न हुआ।

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७६, श्लोक १६।
† सिद्धार्थ, रचयिता श्री अनूप शर्मा, पृष्ठ ३००।

'वाल्मीकि रामायण' में भी—

तथा हुताशनं दत्वा जेपुस्तस्य तमृत्विजः ।
जगुश्च ते यथा शास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ॥
प्रसव्यं चापितं चक्रुर्ऋत्विजोऽग्निचितं नृपम् ।
स्त्रियश्च शोकसन्तप्ताः कौसल्या प्रमुखास्तदा ॥

(तदनन्तर ऋत्विज लोग महाराज की परम गति के लिए प्रेत्याग्नि देकर, पैतृमेधिक मंत्र विशेषों का जाप करने लगे और सामगायी ब्राह्मणों ने सामवेद का गान किया। फिर ऋत्विजों और कौसल्यादि रानियों ने अत्यन्त शोक संतप्त हो, जलते हुए महाराज के शव को प्रदक्षिणा की।)❀

बरसता था घृत तथा कर्पूर ··· ···· ··· ···· एक लघु घन दूर ।

महाराज दशरथ की चिता में अत्यधिक परिमाण में घी तथा कपूर आदि डाला जा रहा था। उस समय दूर सूर्य के सामने एक छोटा-सा बादल आ गया (अपने ही वंशज की अन्त्येष्टि के इस अवसर पर मानों सूर्य ने भी शोक-वश अपने को एक बादल की ओट में छिपा लिया था)।

जाग कर ज्वाला उठी तत्काल ···· ··· ··· ···· आर्य को अनुपाय ?

चिता की लपटें प्रज्ज्वलित होकर ऊपर तक उठ आयीं। सरयू के जल पर उनका विशाल प्रतिबिम्ब झलकने लगा। भरत ने फिर चिता की प्रदक्षिणा की और वह अधीर होकर तथा धैर्य त्याग कर रोते हुए इस प्रकार कहने लगे, "हे पिता ! मैं आज यह क्या देख रहा हूँ ? हे नरराज ! तुम कहाँ चले जा रहे हो ? देव, ठहरो, इस प्रकार मेरी आँखों से ओझल न हो, मुझे वे वरदान नहीं चाहिएं। तुम कुछ देर तक इस दुष्ट (भरत) की बाट देख कर अपनी मृत्यु के मूल कारण की परख तो कर लेते। (राजा काल का कारण माना जाता है—'राजा कालस्य कारणम्'—महाभारत। अस्तु, इन पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है : "हे काल-कारण, तुम कुछ देर ठहर कर इस अधम की बाट तो देख लेते।") आर्य श्री राम वन में गये हुए हैं, तुम परलोक सिधार गये हो; (पिता तथा भाई की अनुपस्थिति में) आज मेरा शोक कौन समझ सकता है ? हे तात ! तुम स्वर्ग ही नहीं, मोक्ष भी प्राप्त करो परन्तु मुझे यह बात तो बता जाओ कि असहाय मैं राज्य के साथ ही साथ तुम्हें भी किस प्रकार श्री रामचन्द्र जी को सौंप सकूंगा ?"

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ७६, श्लोक १८, २० ।

महर्षि वाल्मीकि के भरत ने भी पिता के शव को सम्बोधित करके कहा था—

किं ते व्यवसितं राजन्प्रोषिते मय्यनागते ।
विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलं ॥
योगक्षेमं तु ते राजन्कोऽस्मिन्कल्पयिता पुरे ।
त्वयि प्रयाते स्वस्तात रामे च वनमाश्रिते ॥

(हे राजन् ! न मालूम आपने क्या सोचा, जो मेरे आये बिना ही आपने धर्मज्ञ श्री राम और महाबली लक्ष्मण को वन में भेज दिया। हे महाराज ! आपकी इस पुरी की राज्य-व्यवस्था, स्थिर चित्त से अब कौन सम्हालेगा क्योंकि आप तो स्वर्गवासी और श्री राम वनवासी हैं।)*

आज तुम नरराज प्रश्नातीत ··· ··· ··· ··· मिले चिरवास।"

भरत ने फिर कहा, "हे नरराज ! तुम तो आज प्रश्नातीत (प्रश्न तथा उत्तर से बहुत दूर) हो (किसी प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते) अतः ये न्यायी प्रजाजन ही मुझे इस बात का उत्तर दें कि यदि कोई व्यक्ति किसी का वंश-परम्परा से प्राप्त धन छीन ले तो उसके लिए क्या दण्ड उचित है ? (अयोध्या का राज्याधिकार राम का 'क्रम-भोग्य' धन था)। आह, मेरी जय न बोलो। मेरी तो यह हार है। (अब तो) इस चिन्ता के अंगारे ही मेरे लिए पर्याप्त हैं। तुम जिनका अभिषेक करना चाहते थे वे धीर, वीर तथा पूज्य श्री राम कहाँ हैं ? सब पंच मेरे साथ वन में चलो, हम सब के नरेश तो वही हैं। पितृ तुल्य श्री राम, राज्य-पालन करें और भरत राम का प्रतिनिधि मात्र बने। यदि आर्य प्रजा तथा परिवार के पालन का भार स्वीकार न करें तो तुम किसी ऐसे व्यक्ति को राजा बना लो, जो किसी माँ का लाल हो। (राम को अयोध्या लौटा लाने में) यदि भरत का प्रयत्न असफल सिद्ध हो तो सब लोग इतनी कृपा करें कि पिता के समीप ही मुझ खोटी गति वाले (अभागे) को भी सदा के लिए स्थान दे दें।"

महर्षि वाल्मीकि के भरत तेरह दिन बाद† और गोस्वामी तुलसीदास के भरत "सुदिन सोधि" कर आयोजित राज-सभा में ही अपने, राम को लौटा लाने के निश्चय की घोषणा करते हैं, इसके विपरीत, 'साकेत' के भरत श्मशान भूमि पर ही अपना यह दृढ़ निश्चय सबके सामने प्रकट कर देते हैं।

साथ ही आनन्द और विषाद ··· ··· ··· ···· चलो अब गेह।

इसके साथ ही (भरत का यह निश्चय सुनते ही) (सबके हृदय में) एक

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ७६, श्लोक ६, ८।
† वही, सर्ग ७९।

साथ ही हर्ष और विषाद का उदय हुआ और 'जय भरत' तथा 'जय राम' का शब्द सब ओर गूंज गया। उधर भरत निष्क्रिय से होकर पिता की चिता के चरणों में लोट रहे (लीन हो रहे) थे। यद्यपि सब लोग स्वयं अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे परन्तु अपने आप कराह-कराह कर भी वे भरत की सराहना करके उन्हें धैर्य ही बँधा रहे थे।

कुलगुरु ने कहा, "भरत! भरत!! शान्त हो जाओ। श्रेष्ठ पिता के श्रेष्ठ पुत्र, वंश-गौरव भरत, तुम मृत पिता का संस्कार तो कर चुके, अब आहत माताओं की ओर ध्यान दो। तुम पिता को स्नेहपूर्वक पितृ-लोक भेज चुके। हे पुत्र! अब इन माताओं को साथ लेकर घर चलो।"

जनकवर के जातवर : भरत वास्तव में श्रेष्ठ पिता के श्रेष्ठ पुत्र हैं।

बोले फिर मुनि यों ··· ···· ···· ···· राम नाम सत्य है।

फिर वसिष्ठ मुनि ने चिता की ओर हाथ (संकेत) करके कहा, "सब लोग इधर देखो, यह कैसा अनुपम आधिपत्य (साम्राज्य) है। अज के पुत्र महाराज दशरथ ने एक साथ ही सत्य (की रक्षा) के लिए पुत्र और पुत्र (के वियोग) के कारण प्राण त्याग दिये। इस प्रकार तो उन्होंने मानों सत्य, शिव तथा सुन्दर से युक्त अपना चरम लक्ष ही प्राप्त कर लिया है। हमें भी इसी (आदर्श) का अनुकरण करना चाहिए। सत्य तो वैसे ही शिव (मंगलमय) है और राम में सत्य (और शिव) तथा सुन्दर (का समावेश) है। सत्य काम (सद्प्रवृत्तियाँ) तथा राम का नाम सदा सत्य है।"

वसिष्ठ के कथन को दोहराते हुए कंठ-कंठ (प्रत्येक उपस्थित व्यक्ति) यही गा (कह) उठा कि "सत्य काम सत्य है! राम नाम सत्य है।" यह स्वर मानों शून्य-शून्य (सूने आकाश तक) छा गया।

कुल-गुरु के चरित्र-चित्रण में हमारे कवि ने महत्त्वपूर्ण मौलिकता प्रदर्शित की है।

अष्टम सर्ग

चल, चपल कलम ··· ···· ···· ··· हमारे संग स्वदेश हमारा।

चल, चपल लेखनी, चल कर अपने चित्रकूट के दर्शन करें और प्रभु (श्री रामचन्द्र जी) के चरण-चिन्हों पर अपना मस्तक टिका कर अपनी भाल-लिपि (भाग्य-लेख) सफल समझें। इस समय समस्त साकेत निवासी चित्रकूट में ही हैं। हमारा अपना देश सब स्थानों पर हमारे साथ ही रहता है।

अष्टम सर्ग में चित्रकूट-प्रसंग का वर्णन है अस्तु, कवि अपनी '*चपल कलम*' से चित्रकूट चलने का अनुरोध करता है (अष्टम सर्ग की वर्णन-पटुता और धारा प्रवाहिकता उस '*चपल कलम*' की ही देन है)। चित्रकूट के विशेषण के रूप में '*निज*' का प्रयोग है। कारण स्पष्ट है :

सम्प्रति साकेत-समाज वहीं है सारा,

और—

सर्वत्र हमारे संग स्वदेश हमारा।

चित्रकूट चल देखें : कवि अब तक अयोध्या में था। अब साकेत-समाज चित्रकूट में है अस्तु, कवि भी वहीं '*चल*' कर चित्रकूट-वासी श्री राम के दर्शन करना चाहता है।

'सम्प्रति साकेत-समाज वहीं है सारा' : 'साकेत' एक महाकाव्य है। इसकी कथावस्तु में हमारे कवि ने स्थान-ऐक्य का सफल प्रयोग किया है। काव्य का नाम 'साकेत' रखा गया है। अस्तु, समस्त मुख्य घटनाएँ साकेत में ही घटित होती हैं। केवल चित्रकूट-प्रसंग में 'साकेत' का कवि (अयोध्या छोड़कर) चित्रकूट गया है अतः यहाँ भी उसने सम्पूर्ण 'साकेत-समाज' को चित्रकूट ले जाकर मानों स्थान-ऐक्य की रक्षा कर ली है।

'सर्वत्र हमारे संग स्वदेश हमारा' : श्री राम ने भी जन्मभूमि को सम्बोधित करके कहा था—

उड़े पक्षि-कुल दूर दूर आकाश में,
तदपि चंग-सा बँधा कुञ्ज-गृह-पाश में।
हममें तेरे व्याप्त विमल जो तत्व हैं,
दया, प्रेम, नय, विनय, शील शुभ सत्व हैं;

उन सबका उपभोग हमारे हाथ है,
सूक्ष्म रूप में सभी कहीं तू साथ है।❀

तरु तले विराजे हुए ··· ···· ···· ··· अलख-ज्योति ज्यों जागी!

वृक्ष के नीचे, पत्थर की एक शिला का कुछ सहारा लेकर तथा अपने धनुष का सिरा पृथ्वी पर टिकाए हुए श्री राम लक्ष-सिद्धि के समान अपनी साकार माया-मूर्ति, अत्यन्त प्रियतमा पत्नी सीता की ओर अटल अनुराग भरे नेत्रों से इस प्रकार देख रहे थे जैसे योगी अपने सामने अलख-ज्योति को देखता है। सीता उस समय कुछ तिरछी घूम कर अपनी पर्ण कुटी के बिरवे (पेड़-पौधे) सींच रही थीं।

'आधार-ग्रन्थों में चित्रकूट-वासी राम तथा सीता की तुलना क्रमशः इन्द्र तथा शची के साथ की गयी है :

अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत्।
भार्याममरसंकाशः शचीमिव पुरन्दरः॥†

× × ×

वाल्मीकिना तत्र सुपूजितोऽयं,
रामः ससीतः सह लक्ष्मणेन।
देवैर्मुनीन्द्रैः सहितो मुदास्ते।
स्वर्गे यथा देवपतिः सशच्या॥‡

× × ×

राम लखन सीता सहित सोहत परन निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत॥¶

'साकेत' के कवि ने सदा इस बात का ध्यान रखा है कि '*वन में तापस वेष रहे*' अस्तु, 'साकेत' के राम की तुलना देवराज इन्द्र से नहीं की गयी '*योगी*' के साथ की गयी है। आधार-ग्रन्थों की शची-तुल्य सीता भी 'साकेत' में *अलख जोति*, राम (ब्रह्म) की '*मूर्तिमती माया*' और '*लक्ष-सिद्धि*' सी बन गयी हैं। सीता आज अन्नपूर्णा हैं, वह लोक-कल्याण में रत हैं। अस्तु, प्रस्तुत पंक्तियां द्वारा एक

❀ साकेत, सर्ग ५।
† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ६४, श्लोक २।
‡ अध्यात्म रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ६, श्लोक ६२।
¶ रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

ओर तो हमारा कवि आश्रम तथा तपोवन का वातावरण प्रस्तुत करने में सफल हो सका है और दूसरी ओर सीता के स्वावलम्बी तथा परमार्थ-रत दैनिक जीवन पर भी सम्यक् प्रकाश पड़ गया है।

अंचल–पट कटि में खोंस ... ... भान सा भूली।

अपने आँचल का किनारा कमर में खोंस कर तथा कछोटा मार कर (धोती का एक पल्ला पीछे खोंस कर) सीता माता ने आज अनोखी छवि धारण कर ली थी। उनके रतन रूपी पवित्र कलश अंकुरों के लिए हितकारी थे (अंकुरों को पल्लवित करने के लिए उन्हें जल-कलश द्वारा सींचा जाता है) तथा उनका समस्त संसार को भाने वाला मंगलमय मुख लोक-मातृत्व के गर्व से युक्त था (जगज्जननी होने का गर्व उनके मुख-मण्डल पर एक विचित्र आभा बिखेर रहा था) उन्होंने दिव्य दुकूल इस प्रकार पहना हुआ था मानों वह उनके शरीर के साथ ही उत्पन्न हुआ हो। बिना ढके हाथ, पैर और मुख—तीनों इस प्रकार अतुलित शोभा सम्पन्न थे मानों किसलय-समूह में से (अलग) फूल खिल रहे हों। उनके लम्बे-लम्बे केश कंधों को ढक कर नीचे तक छहर रहे थे। जान पड़ता था मानों इस प्रकार उनकी रक्षा करने के लिए साँप ही लटक रहे हों। उनके मुख पर पसीने की बूँदें थीं—ठीक उसी प्रकार जैसे ओस से ढका कमल परन्तु कँटीला कमल-नाल उनकी पुलकित भुजाओं की समानता कहाँ कर सकता था? लम्बे-लम्बे बालों के भार से उनकी एड़ियाँ (नीचे को) धँस रही थीं। उस समय उनके नाखूनों की ज्योति के बहाने उनकी कोमल अंगुलियाँ हँस पड़ती थीं। पैर उठाकर आगे बढ़ाने के अवसर पर तो (सीता के शरीर का समस्त भार) उन्हीं (एड़ियों) पर पड़ता था। उस समय अरुण एड़ियों से मधुर हँसी-सी झड़ने लगती थी। (जो चरण आगे बढ़ते हुए) पृथ्वी पर अपनी छाप छोड़ रहे थे, उन चरण-कमलों में पायल के रूप में मानों हंस ही मचल रहे थे। जब वह रुकती अथवा झुकती थीं तो उनकी (पतली) कमर स्वयमेव लचक-सी जाती थी परन्तु अपनी ही शोभा में विलीन होने के कारण वह (टूटने से) बच जाती थी। सीता का शरीर गोरे रंग के केतकी फूल की कली की पंखड़ी (अथवा कोंपल) के समान था और उनकी सौन्दर्य-छटा उनके शरीर की सुगन्धि के साथ तरंगित (मतवाली) हो रही थी। भौंरों से सजी हुई पुष्पिता कल्प बल्लरी की भाँति सीता अपनी सुध-बुध खोकर एक गीत गुनगुना रही थीं।

"चित्रकूट में हमें सबसे पहले वनवासी सीता की मधुर झाँकी मिलती है। वे पर्णकुटी में बिरछे सींच रही हैं और राम उन सीता को; अपनी मूर्तिमती माया

को—देखते हुए ऐसा अनुभव कर रहे हैं मानों योगी के सम्मुख अटल ज्योति जग रही हो। कवि सीता की छवि का अंकन करने की इच्छा से आगे बढ़ता है परन्तु उसकी भक्ति उसके सम्मुख व्यवधान खड़ा कर देती है। इसीलिए वह एक ओर राम के स्वगत भावों का सहारा और दूसरी ओर सीता के मातृत्व की शरण लेकर चित्ररचन प्रारम्भ करता है :

पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ धंसतीं,
तब नख-ज्योति मिष मृदुल अंगुलियाँ हँसतीं।
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता,
तब अरुण एड़ियों में सुहास-सा झड़ता!

उपरोक्त श्रृंगार-वर्णन में आदर्शवादी कवि की दृष्टि चरणों पर ही गड़ी रहती है। वहीं पर उसने सौन्दर्य का प्रतिफलन किया है। उसका यह चित्र अत्यन्त रूप-रञ्जित और प्रसन्न है।"*

'अञ्चल पट कटि में खोंस; कछोटा मारे' में कार्य निरतता तथा तल्लीनता का सफल अंकन है। '*सीता माता*' द्वारा कवि स्वयं ही अपने लिए एक सीमा निर्धारित कर लेता है। वनवासिनी सीता का यह मातृ रूप अयोध्यावासिनी सीता से सर्वथा भिन्न है अतः इसे '*नई धज*' कहा गया है। सौन्दर्य-वर्णन की इच्छा से कवि की दृष्टि सीता के उरोजों तक उठती है परन्तु दूसरे ही क्षण वह सावधान होकर कह उठता है—

अंकुर-हितकर थे कलश-पयोधर पावन,
जन-मातृ-गर्व मय कुशल वदन भव-भावन।

'कुशल वदन' में '*कुश-लव*' शब्दों की उपस्थिति दृष्टव्य है। हमारे कवि को भाव तथा भाषा, दोनों पर ही अपूर्व अधिकार प्राप्त है।

'*पहने थीं दिव्य दुकूल*' : आधार-ग्रन्थों में चित्रकूट में राम-भरत-मिलन के उपरान्त अत्रि मुनि के आश्रम में अनुसूया जी सीता को दिव्य वस्त्राभूषण प्रदान करती है :

इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च।
अंगरागं च वैदेहि महार्हं चानुलेपनम्॥

(यह उत्तम दिव्य माला, वस्त्र, भूषण, अङ्गराग तथा मूल्यवान उबटन, जो मैं देती हूँ, इनसे तेरे अंग सुशोभित होंगे।)†

* साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ८५, ८६।

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ११८, श्लोक १८।

रिषि पतिनी मन सुख अधिकाई ।
आसिष देइ निकट बैठाई ॥
दिव्य बसन भूषन पहिराए ।
*जे नित नूतन अमल सुहाए ॥**

'कर, पद, मुख तीनों अतुल अनावृत पट से, थे पत्र-पुञ्ज में अलग प्रसून प्रकट से'—'प्रसाद' जी ने श्रद्धा का सौन्दर्य चित्र अंकित करते हुए कहा है :

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ-वन बीच गुलाबी रंग ।
आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि-मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छवि धाम ।†

'कंधे ढक कर कच छहर रहे थे उनके' : 'कामायनी' में—

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलंबित मुख के पास
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास ।‡

'पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ धँसतीं' : बिहारीलाल के शब्दों में :

भूषण-भारु सँभारि है क्यौं इहिं तन सुकुमार ।
सूधे पाँव न धर परैं सोभा हीं कैं भार ॥¶

यहाँ 'कचों' के भार से ही एड़ियाँ धँसी जा रही हैं ।

'पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता, तब अरुण एड़ियों से सुहास-सा झड़ता ।' : सीता जब ठहर जाती हैं तो उनकी एड़ियों पर शरीर का पूरा भार आ पड़ने के कारण वहाँ का खून एकत्रित-सा हो जाता है । जब वह आगे बढ़ने के लिए पैर उठाती हैं तो यह रुका हुआ खून फिर प्रवाहित होने लगता है । इस समय एड़ियों के भीतर ही भीतर सब ओर फैलता हुआ रक्त एड़ियों से झड़ने वाला हास-सा जान पड़ता है ।

'क्षोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते' : विश्व की महान् विभूतियाँ जिस

---

* रामचरितमानस, अयोध्याकांड ।

† श्री जयशङ्कर 'प्रसाद', कामायनी, श्रद्धा सर्ग ।

‡ वही ।

¶ बिहारी सतसई, ३२२ ।

पथ पर भी चलती हैं, वहाँ ही अपने अमिट पद-चिह्न छोड़ जाती हैं। भावी सन्ततियाँ उन्हीं चरण-चिह्नों का अनुसरण करती हैं।

'रुकने-झुकने में ललित लंक लच जाती' द्वारा लंक की कोमलता पर प्रकाश डाला गया है।

'भौंरों से भूषित कल्प-लता-सी फूली' : महाकवि कालिदास के दुष्यंत ने आश्रम के बिरवे सींचती हुई शकुन्तला का तुलना लता से करते हुए कहा था—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम्॥

(इसके लाल-लाल होंठ लता की कोंपलों जैसे लगते हैं, दोनों भुजाएं कोमल शाखाओं जैसी जान पड़ती हैं और इसके अंगों में खिला हुआ नया यौवन लुभावने फूल के समान दिखाई दे रहा है।)※

'साकेत' के कवि ने भी सीता को लता तुल्य कहा है परन्तु वह '*कुसुममिव लोभनीयं*' अथवा '*यौवनमंगेषु संनद्धम्*' न होकर *कल्प-लता-सी* है, उसी कल्पवल्लरी की भाँति जो—

बाँटती हो दिव्य फल फलती हुई।

सीता के गुनगुन गान और भौंरों की गुञ्जार में भी ध्वनि-साम्य है।

निज सौध सदन में उटज ···· ··· ···· ··· राज-भवन मन भाया।

"मेरे पिता ने राजमहल में भी अपने (निवासार्थ) एक झोंपड़ी डाल ली थी (राजा होकर भी ऋषियों की भाँति रहते थे—इसीलिए जनक को 'राजर्षि' कह कर सम्बोधित किया जाता है)। (इसके विपरीत) मेरी कुटिया में ही मनोरम राज-भवन है (मैं वन में भी महारानियों की तरह रह रही हूँ)। (राज-भवन तथा कुटिया की समानताओं पर प्रकाश डाल कर सीता कहती हैं—) स्वयं प्राणेश (श्री राम) तो (इस कुटिया रूपी राज-भवन के) सम्राट् हैं, देवर (लक्ष्मण) मंत्री हैं, (राज-भवन में नित्य ऋषि-मुनि आकर सम्राट् तथा उनके परिवार को शुभाशीष देते हैं यहाँ भी) श्रेष्ठ ऋषि-मुनि आकर हमें आशीर्वाद देते हैं। असंख्य खजाने (खानें आदि) होने पर भी यहाँ धन का कोई महत्व नहीं। यहाँ शेर और हरिण एक ही घाट पर (प्रेमपूर्वक) पानी पीते हैं (स्वभावगत शत्रुता भी मित्रता में परिवर्तित हो गयी है)। सीता रानी (सीता अपने को 'रानी' कह कर राज-भवन का साम्य पूरा कर देती हैं) को तो यहाँ लाभ ही लाभ है

※ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १, २०।

(यहाँ आकर लाभ ही अधिक हुआ है) । मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है ।"

चित्रकूट में आकर तो मानों सीता का वह स्वप्न ही सत्य हो गया है, जिसकी ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा था—

उटज लताओं से छाया, विटपों की ममता-माया।
खग मृग भी हिल जावेंगे, सभी मेल मिल जावेंगे ॥
देवर एक धनुर्धारी—होंगे सब सुविधाकारी।
मदकल कोकिल गावेंगे, मेघ मृदंग बजावेंगे।
*नाचेंगे मयूर मानी, मैं हूँगी वन की रानी ॥**

'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया' : 'अरुण' जी के शब्दों में—

संसार ! तुम्हारे आँगन में कोई भी ऐसा हुआ कहीं,
जो योग-भोग में लीन किन्तु फिर भी वह सीमाहीन मुक्त ?
आदमी चाहता—मुक्ति मरण के बाद किन्तु
चाही विदेह ने मुक्ति कर्म में हो विलीन
जीवन में ही वह मुक्त रहा योगानुरक्त शुद्धात्मा से
यह एक कठिनतम कार्य, कल्पना जहाँ मौन
ऐसी साधना हुई जनक के जीवन में !
हे चिर विदेह !
तुम स्वयं मुक्ति में लीन, मुक्ति से दूर-दूर
जीवन-बन्धन के बन्धनहीन ज्वलित योगी
अनुरक्ति-विरक्तिमयी प्रतिमा से भी पवित्र
तुम राग-विराग-भरा जीवन का ज्योति-पात्र...... †

'धन तुच्छ यहाँ,—यद्यपि असंख्य आकर हैं' : सीता ने अन्यत्र भी कहा है—

जिन रत्नों पर बिकें प्राण भी पराय में,
वे कंकड़ हैं निपट नगराय अरराय में !‡

* साकेत, सर्ग ४ ।
† पोद्दार रामावतार 'अरुण', विदेह, पृष्ठ ३१३—१४ ।
‡ साकेत, सर्ग ५ ।

'पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं' : गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी लिखा है :

करि केहरि कपि कोल कुरंगा।
*बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥**

क्या सुन्दर लता-वितान ... . राज-भवन मन भाया।

"मेरा यह लता-मण्डप कितना सुन्दर है। पुञ्ज (गुच्छे) के आकार का (ऊँचा) मेरा कुञ्ज (भौंरों आदि की गुञ्जार से) अत्यन्त गुञ्जारित है। यहाँ निर्मल पानी है और पराग (पुष्प-धूलि) युक्त पवन। चित्रकूट तो मानों मेरा दिव्य तथा सुदृढ़ दुर्ग है। निर्झर (झरना) इसका रखवाला है (जो निरन्तर नाद करके, सजग रह कर पहरा देता रहता है) और जल की साकार धारा (मन्दाकिनी) इस (चित्रकूट रूपी दुर्ग की) परिखा (चारों ओर की खाई) है। मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

प्रस्तुत अवतरण में सीता चित्रकूट की तुलना एक *सुदृढ़ दिव्य दुर्ग* से करती हैं। 'साकेत' का कवि इससे पूर्व भी चित्रकूट की तुलना *अटूट गहन गढ़* के साथ कर चुका है :

आये फिर सब चित्रकूट मोदितमना,
जो अटूट गढ़ गहन वन-श्री का बना।
जहाँ गर्भगृह और अनेक सुरंग थे,
विविध धातु-पाषाण-पूर्ण सब अंग थे।

दोनों उद्धरणों पर ध्यान देने से वह स्पष्ट हो जाता है कि '*अटूट गहन गढ़*' वाले अवतरण में दृढ़ता, परुषता अथवा पुरुषत्व का आधिक्य है, '*सुदृढ़ दिव्य दुर्ग*' वाले में मनोहरता, कोमलता अथवा नारीत्व की ही प्रधानता है। दृढ़ता का भाव दोनों में समान होने पर भी (एक में अनेक 'गर्भगृह' तथा 'सुरंग' हैं, दूसरे में 'प्रहरी' और 'परिखा') दोनों का वातावरण कितना भिन्न है! प्रथम उद्धरण में कवि की पुरुष दृष्टि प्रायः राजनीतिक रही है—चित्रकूट के 'गर्भ गृह', 'सुरंग' तथा 'विविध-धातु-पाषाण पूर्ण' अंगों पर ही अधिक केन्द्रित हुई है। दूसरे अवतरण में एक नारी की—कलापूर्ण तथा सुकोमल कल्पना 'लता-वितान', 'पुञ्जा-कृति गुञ्जित कुञ्ज', 'निर्मल जल', 'पराग-सना पवन', 'निर्झर' और 'प्रवाह की काया' में ही रमी है। फलत दोनों अवतरणों की शैली में भी महत्त्वपूर्ण भेद

* रामचरितमानस, अयोध्या कांड।

हो गया है। प्रथम में शब्द भारी हैं, द्वितीय में हल्के-फुल्के; प्रथम में ओजस्विता है तो द्वितीय में लालित्य; प्रथम यदि मस्तिष्क को भोजन प्रदान करता है तो द्वितीय हृदय को परितृप्ति।

औरों के हाथों यहाँ नहीं .... राज-भवन मन भाया।

"यहाँ मैं दूसरों के हाथों नहीं पलती। यहाँ तो मैं अपने ही पैरों पर खड़ी होती तथा चलती हूँ (पराश्रिता न होकर आत्म-निर्भर तथा स्वाधीन हूँ)। स्वास्थ्य रूपी सीपी में श्रमवारि (पसीने) की बूँदों के रूप में फल (मोती) को प्रतिफलित करती हूँ (स्वास्थ्य को 'सुफल' करने के लिए परिश्रम करती हूँ अथवा परिश्रम करके अत्यधिक स्वास्थ्य-लाभ करती हूँ)। मैं तो अपने ही अञ्चल से स्वयमेव हवा कर लेती हूँ (किसी बात में भी पराधीन नहीं)। शरीर रूपी इस वल्लरी के वास्तविक फल का स्वाद तो मुझे आज ही प्राप्त हुआ है (जीवन का वास्तविक आनन्द तो मुझे आज ही मिल सका है); मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

'स्वावलम्बन' 'साकेत' की वनवासिनी सीता का मूल मन्त्र है। अयोध्या में सीता स्वामिनी होकर भी परतन्त्र थीं—वह दूसरों के हाथों पलती थीं। यहाँ वह स्वाधीन हैं, अपने पैरों पर खड़ी हैं, आत्म-निर्भर हैं। ('साकेत' का कवि यहाँ गाँधी जी के विचारों से अनुप्राणित है) जीवन-लता के फल का वास्तविक स्वाद तो उन्हें आज ही प्राप्त हुआ है क्योंकि—

सभी निछावर स्वावलम्ब के भाव पर!

जिनसे ये प्रणयी प्राण .... राज-भवन मन भाया।

"जब देव (श्रीराम) अथवा देवर वन में घूमने के उपरान्त कुटिया में लौट कर आते हैं तो वे नित्य ही एक-दो नयी वस्तुएँ साथ लाते हैं। उन दोनों के लौट आने पर स्नेही प्राणों को सहारा-सा मिल जाता है और (नेत्र) जी भर कर उन्हें देखकर सुखी हो जाते हैं। (राम-लक्ष्मण द्वारा लायी गयी) नयी नयी वस्तुओं की चर्चा ही यहाँ नित्य नवीन तथा अत्यधिक मनोविनोद का कारण बन जाती है। मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

'साकेत' के राम, सीता तथा लक्ष्मण वन में भी हास-परिहास-युक्त जीवन ही बिता रहे हैं। गुह के शब्दों में—

परिहास बना वनवास यह!

और स्वयं राम के शब्दों में—

बीते यों ही अवधि यहाँ हँस खेल कर,
*तो हम सब कृतकृत्य, कष्ट भी झेल कर।**

* साकेत, सर्ग ५।

किसलय-कर स्वागत हेतु .... राज-भवन मन भाया !

"नयी कोंपलें मानों हाथ हिला-हिला कर हमारा स्वागत करती हैं, हृदय के कोमल भावों जैसे यहाँ फूल खिले रहते हैं, डालियों द्वारा नित्य नये फलों की प्राप्ति होती रहती है और प्रत्येक तिनका भी यहाँ (ओस-बिन्दुओं के रूप में) मोतियों का भार उठाता रहता है। ऐसा लगता है मानों इस प्रकार प्रकृति अपना कोप खोलकर अपना वैभव प्रदर्शित कर रही है; मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

चित्रकूट के प्राकृतिक वैभव का उल्लेख गोस्वामी जी ने इस प्रकार किया है—

फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना ॥
सुरतरु सरिस सुभायँ सुहाए। मनहुँ बिबुध बन परिहरि आए ॥
गुंज मंजुतर मधुकर श्रेनी। त्रिबिध बयारि बहइ सुख देनी ॥
चित्रकूट के बिहग मृग, बेलि बिटप तृन जाति।
*पुन्य पुंज सब धन्य अस, कहहिं देव दिन राति ॥**

कहता है कौन कि भाग्य .... राज-भवन मन भाया।

"कौन कहता है कि मेरा भाग्य ठग गया (मेरा सौभाग्य छिन गया)? (सत्य तो यह है कि) यहाँ आकर वह सुना हुआ भय (वन के कष्ट) भी दूर हो गया (असत्य सिद्ध हो गया)। अब मुझमें अपने हाथ से कुछ करने की क्षमता आ गयी है। मेरा वास्तविक गार्हस्थ्य तो वन में आकर ही जागा है। वह 'वधू' जानकी आज जाया (पत्नी) बन गयी है; (अयोध्या में सीता 'कोसल वधू' ही थीं, यहाँ आकर ही वह वास्तविक 'पत्नी' अथवा 'गृहिणी' का स्थान प्राप्त कर सकी हैं।) मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

'कहता है कौन कि भाग्य ठगा है मेरा' : सीता ने अन्यत्र भी कहा है—

नाथ, भाग्य तो आज मैथिली का बड़ा,
जिसको यह सुख छोड़, न घर रहना पड़ा।†

'निराला' जी ने सीता के इस भाव की अभिव्यक्ति इस प्रकार करायी है :

सीता— आती है याद आज उस दिन की
प्रियतम !

---

* रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

† साकेत, सर्ग ५।

जिस दिन हमारी पुष्प-वाटिका में
पुष्पराज !
बाल-रवि-किरणों से हँसते नव नीलोत्पल !
साथ लिये लाल को
घूमते समोद थे नयन-मनोरम तुम।
उससे भी सुन्दर क्या नहीं यह दृश्य नाथ ?
वहाँ की वह लता-कुञ्ज मञ्जु थी
या यहाँ उस विटप-विशाल पर
फैली हुई मालती का शीतल तल सुन्दर है ?
मैं तो सोचती हूँ, वहाँ बन्दिनी थी
और यहाँ खेलती हूँ मुक्त खेल,
साथ हो तुम,
और कहाँ इतना सुअवसर मुझे मिल सकता ?
और कहाँ पास बैठ देखती मैं
चंचल तरंगिणी की तरल तरंगों पर
सुर-ललनाओं के चारु चरण-चपल नृत्य ?
और कहाँ सुनती मैं
सुखद समीरण में विहग-कल-कूजन-ध्वनि—
पत्रों के मर्मर में मधुर गन्धर्व गान ?
और कहाँ पीती मैं श्री-मुख की अमृत कथा ?
और कहाँ पाती मैं
विमल-विवेक-ज्ञान-भक्ति-दीप्ति
आश्रम-तपोवन छोड़ ?❀

फल फूलों से हैं लदी डालियाँ ··· ···· ··· ··· राज-भवन मन भाया।

"मेरी डालियाँ फल-फूलों से लदी हैं, वे हरी पत्तलें (पत्ते) मेरी (फल आदि से) भरी थालियों के समान हैं। यहाँ मुनियों की बालिकाएँ मेरी आलियाँ (सखियाँ) हैं और नदी की लहरें मेरी तालियाँ। यहाँ तो अपनी ही परछाँई मेरे लिए खेल अथवा मनोविनोद की सामग्री बन गयी है। मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

❀ श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पञ्चवटी प्रसंग, परिमल, पृष्ठ २१५—१६।

'फल फूलों से हैं लदी डालियाँ मेरी' : फूल तथा फल आदि रखने की टोकरी को भी 'डाली' कहते हैं :

वनचारी जन जुड़े जोड़ कर डालियाँ।

यहाँ, चित्रकूट में मानों फल, फूल वाले वृक्षों की डालियों ने ही यह कार्य-भार अपने ऊपर ले लिया है।

'वे हरी पत्तलें, भरी थालियाँ मेरी' : वन में धातु की बनी थालियाँ नहीं, यहाँ तो पत्तों को जोड़ कर बनायी जाने वाली पत्तलों पर ही भोजन परोसा जाता है। उधर डालियों पर लगे हरे पत्तों ने फलों को धारण किया हुआ है।

'तटिनी की लहरें और तालियाँ मेरी' : नदी की लहरें आपस में टकरा-टकरा कर एक सुमधुर ध्वनि उत्पन्न करती हैं। उन्हीं लहरों की ताल पर तालियाँ बजा-बजा कर सीता उस मधुर ध्वनि का रसास्वादन किया करती हैं।

मैं पली पक्षिणी ···· ··· ···· ··· राज-भवन मन भाया।

"मैं तो वन के कुञ्ज रूपी पिंजरे में पली पक्षिणी के समान हूँ। यहाँ मुझे कोटर (वास्तविक घोंसला) की भाँति अपने घर की याद आती रहती है। उस समय मेरे हृदय की प्रत्येक कोमल तथा तीव्र वेदना समय के स्वर की मधुर गीतिका बन जाती है। उस स्वर-लहरी को छेड़ कर कब इस कंठ को परितृप्ति न मिली ? मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

'आती है कोटर सदृश मुझे सुध घर की' : 'साकेत' के राम ने भी कहा था—

उड़े पक्षिकुल दूर दूर आकाश में,
*तदपि चंग-सा बँधा कुंज-गृह-पाश में।**

गुरुजन-परिजन सब ··· ···· ··· ··· राज-भवन मन भाया।

"वन में मेरे धन्य (उच्च) ध्येय (आदर्श) ही मेरे गुरुजन तथा परिजन (परिवार के सदस्य) हैं; यहाँ की औषधियों (वनस्पतियों) के गुण अथवा विगुण (गुणहीनता) ही मेरे लिए ज्ञेय (जानने योग्य अथवा अध्ययन का विषय) हैं। वन के देव-देवियाँ मेरे आतिथेय (अतिथि-सेवा करने वाले) हैं और प्राणपति के साथ यहाँ रहने के कारण मुझे यहाँ सब प्रेय (प्रेयस) तथा श्रेय (श्रेयस्) (इस लोक तथा परलोक के समस्त सुख) प्राप्त हैं। ध्रुव-धर्म (नारी-धर्म) तो यहाँ स्वयमेव ही मेरे पीछे भागा चला आया है (मेरा अनुसरण कर रहा है)। मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

* साकेत सर्ग ५।

'प्रिय-संग यहाँ सब प्रेय श्रेय हैं मेरे' : 'रामचरितमानस' में भी :

परन कुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवारु कुरंग बिहगा॥
सासु ससुर सम मुनितिय मुनिवर। असनु अमिअ सम कंद मूल फर॥
नाथ साथ साँथरी सुहाई। मयन सयन सय सम सुखदायी॥
लोकप होहिं बिलोकत जासू। तेहि कि मोहि सक बिषय बिलासू॥

नाचो मयूर, नाचो कपोत ··· ···· ··· ··· राज-भवन मन भाया।

"हे मोर, अरे कबूतर के जोड़ो (दम्पति), तुम (प्रसन्न होकर) नाचो। हरिणो, तुम भी (निर्विघ्न होकर) उड़ान भरो। हे नीलकंठ, चातक, गौरैया तथा भौंरो, तुम भी निर्भय होकर गाओ। वैदेही के वनवास का समय अधिक नहीं है। तितली, तूने यह चित्रपट (रंग-बिरंगा स्वरूप) कहाँ से प्राप्त किया है? मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

वन का प्रत्येक जड़ तथा चेतन पदार्थ, आज वनवासिनी सीता माता की स्नेह-परिधि के भीतर समा गया है, उनकी ममता सर्वव्यापिनी हो गयी है।

आओ कलापि, निज चन्द्रकला ···· ···· ··· राज-भवन मन भाया।

"आओ मोर, मुझे अपनी चन्द्रकला (कलगी, मयूर-शिखा) दिखाओ; कुछ बातें मुझसे सीख लो तथा कुछ मुझे सिखा दो। कोयल, तुम स्वर खींच कर तथा उसे घुमा कर (भाँति-भाँति की लय तथा तान में) गाओ, मैं तुम्हारा अनुकरण करूँगी। तोते, तुम पढ़ो, तुमने ही तो सर्वप्रथम मधुर फल खाया है। मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

सीता का हृदय संकीर्ण न होकर उदार है। वह अपने अच्छे गुण प्रसन्नतापूर्वक सब को देने के लिए भी प्रस्तुत हैं और दूसरों के सद्गुण सधन्यवाद स्वीकार करने के लिए भी—'कुछ मुझसे सीखो और मुझे सिखलाओ।'

'शुक, पढ़ो,—मधुर फल प्रथम तुम्हीं ने खाया' : तोता प्रायः सब से पहले मीठे फलों को कुतर देता है।

अयि राजहंसि, तू ··· ··· ······ राज-भवन मन भाया।

"हे राजहंसिनी (मोती-युक्त सीपी न पाने के कारण) तू इस प्रकार तरस-तरस कर (अतृप्ति का-सा भाव प्रकट करके) रो क्यों रही है? यदि तू मैथिली (मेरे) जैसी होती तो शुक्ति-वञ्चिता होकर (मोतियों से युक्त सीपियाँ प्राप्त न होने पर) मेरी तरह (श्री राम के) श्यामल शरीर में से निकलने वाले बिन्दु रूपी मोतियों को अपने पंख रूपी पंखे की सहायता से अपनी (गोद) में

लेकर तू अपनी सुध-बुध ही खो देती (सर्वथा मुग्ध हो जाती)। इन मोतियों को धारण करने के लिए तो स्वयं मानस (मानसरोवर तथा मन) ने कमल के रूप में अपना मुख खोल रखा है। मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

राजहंस (तथा राजहंसिनियाँ) मानसरोवर में रहते तथा मोती चुगते हैं। पति-प्राणा सीता के नेत्रों के सम्मुख एक राजहंसिनी का काल्पनिक चित्र आता है जो मोतियों से युक्त सीपियाँ प्राप्त न होने पर तरस-तरस कर रो रही है। सीता उसका ध्यान '*श्यामल तनु*' श्री राम के '*श्रम बिन्दु रूपी मोतियों*' की ओर आकृष्ट करती हैं। इन मोतियों को प्राप्त करने के लिए तो स्वयं मानसरोवर भी आतुर है, इन्हें धारण करने के लिए ही मानों मानसरोवर ने कमल रूपी मुख खोल रखा है। सीता पंखा करके राम के श्रम-बिन्दुओं को *अँकोर* लेती हैं। अतः वह चाहती हैं कि राजहंसिनी भी उन्हीं की तरह अपने पंख रूपी पंखे से वे मोती अँकोर कर (अङ्क में भर के) मुग्ध एवं तृप्त हो जाए।

इन पंक्तियों में साकेत के कवि ने सीता के पति-प्रेम की अत्यन्त कलात्मक ढंग से अभिव्यक्ति की है।

ओ निर्झर, झर झर नाद सुना ···· ···· ···· ···· राज-भवन मन भाया।

"अरे झरने! तू झर-झर शब्द करता हुआ झड़ता रह। अपने मार्ग में आने वाले रोड़ों (बाधाओं) में उलझ कर और उनमें से अपना मार्ग बनाकर रुकता तथा बढ़ता हुआ तू निरन्तर आगे बढ़ता रह। अरे पर्वत के दुपट्टे! तू उड़ता रह। हे उल्लास तथा हर्ष के मेघ! तू घुमड़ता रह, अरे पर्वत के गद्‌गद्‌ भाव! तू सदैव हम पर उमड़ा कर। तूने जीवन को गीत बना लिया है और वही गीत तू निरन्तर गाता रहता है। मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

'ओ निर्झर, झर-झर नाद सुना कर झड़ तू': इस पंक्ति में ध्वननशील शब्दों द्वारा झरने का स्वर लिपिबद्ध किया गया है।

'पथ के रोड़ों से उलझ सुलझ': निर्बाध जीवन अकर्मण्य हो जाता है। वास्तव में 'बाधाएं हैं जहाँ वहीं वीरों की गति है।" पथ के रोड़ों से उलझ सुलझ कर निरन्तर आगे बढ़ता हुआ झरने का जल भी तो मानव को यही सन्देश देता रहता है!

'ओ उत्तरीय, उड़, मोद-पयोद घुमड़ तू': इस पंक्ति में झरने को '*उत्तरीय*' और '*मोद-पयोद*' कहा गया है। पर्वत के शरीर से लिपटा यह दुपट्टा

दूर-दूर तक उड़ते जल-सीकरों के रूप में उड़ता हुआ अथवा घुमड़ते हुए प्रसन्न मेघ की भाँति घुमड़ता हुआ जान पड़ता है। मेघ तथा निर्झर की ध्वनि में भी महत्वपूर्ण समानता है, मेघ घुमड़-घुमड़ कर जल बरसाते हैं—उल्लास बिखेरते हैं। निर्झर भी तो यही कर रहा है !

'गिरि-गद्गद भाव' : कवि की कल्पना है कि हर्षातिरेक के कारण पर्वत गद्गद हो रहा है और झरने के रूप में उसका वही 'गद्गद भाव' पसीज रहा है।

'जीवन को तूने गीत बनाया, गाया' : 'एक भारतीय आत्मा' के शब्दों में--

कितने निर्जन में दीखा, रे मुक्त हार वाणी के !
कवि, मंजुल वीणा-धारी, माँ जननी कल्याणी के।

× ×

क्या तूने ही नारद को सिखलाया ता ना ना ना ?
क्या तुझसे ही माधव ने सीखा था मुरलि बजाना ?

× ×

मेरे गीतों की प्यारे ! बूँदें न सूखने पातीं,
विस्मृति-पथ जोहा करतीं अपना शृंगार बनातीं ;
पर पंछी-दल ने तेरे गीतों का गान किया है,
*हरि ने तेरी वाणी को अमरत्व प्रदान किया है।**

ओ भोली कोल-किरात-भिल्ल ··· ···· ···· ···· राज-भवन मन भाया।

"हे भोली-भाली कोल-किरात-भिल्ल-बालिकाओ ! मैं तो स्वयं तुम्हारे यहाँ आ गयी हूँ अतः तुम (मेरे समीप) आओ, मेरे करने योग्य काम मुझे बताओ और मेरा नागर भाव तुम्हारे लिए जो (नागरिकता अथवा सभ्यता) की भेंट लाया है, उसे स्वीकार करो। इस प्रकार मुझे (नये काम बताकर) नवीनता प्रदान करो और स्वयं (सभ्यता तथा नागरिकता का उपहार पाकर) महानता प्राप्त करो। मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

सब ओर लाभ ही लाभ ··· ··· ··· ··· राज-भवन मन भाया।"

"ज्ञान के आदान-प्रदान में तो सदा लाभ ही लाभ है और मुझे तो नयी-नयी बातें संगृहीत करने की लगन है। तुम सम्पूर्ण जीवन अर्द्धनग्न अवस्था में ही क्यों बिताओ ? (न बिताओ।) आओ, हम गाते-गाते (गीत

* हिम किरीटिनी, झरना, पृष्ठ ७ से ११।

की मधुर लय के साथ ही अपने शरीर को भली प्रकार ढकने के लिए वस्त्र तैयार करने के उद्देश्य से) कातें और बुनें। भली प्रकार ताने से फूलों का भी रंग निकल आता है (समुचित प्रयत्न द्वारा प्रत्येक कार्य सम्भव है)। मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है।

सीता का विश्वास है कि 'सब ओर लाभ ही लाभ बोध-विनिमय में' अस्तु, वह चाहती हैं कि वह जो कुछ जानती हैं, वह दूसरे भी सीख लें और दूसरों की जानकारी से वह अपने ज्ञान की वृद्धि करें। परस्पर इस प्रकार का आदान-प्रदान सभ्यता के विकास एवं प्रसार के लिए अत्यन्त हितकर है। यही आदान-प्रदान मानव-विचारों तथा मान्यताओं को '*नव्यता*' एवं '*भव्यता*' प्रदान करता है।

'आओ हम कातें बुनें' में राम की अपेक्षा गाँधी-युग की ध्वनि ही अधिक है।

'स्वगत' एक नाटकीय तत्त्व है। 'साकेत' के कवि ने कथोपकथन आदि अनेक नाटकीय तत्त्वों के साथ ही 'स्वगत' का प्रयोग भी किया है। स्वगत-कथन पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त कथा की रोचकता की भी अभिवृद्धि करते हैं। सीता माता का प्रस्तुत स्वगत (गीत) इसका एक उदाहरण है।

थे समाधिस्थ से राम ··· ···· ··· ···· हरे-भरे मतवाले।

समाधि-मग्न से होकर राम वह अनाहत (योगियों द्वारा समाधि की अवस्था में अपने ही भीतर सुना जाने वाला शब्द) सुन रहे थे। सीता की स्वर-लहरी पत्ते-पत्ते पर प्रेम का जाल-सा बुन रही थी। (इस स्वर-लहरी की तुलना में) बीन के मरे झाले (अत्यन्त कोमल स्वर) भला कितने मीठे हैं! (भाव यह है कि इनके सामने बीन के अत्यन्त कोमल तथा मधुर स्वर भी तुच्छ हैं।) (सीता का मधुर गीत सुनकर) हरे-भरे वृक्ष मतवालों की तरह झूम रहे थे।

"गाओ मैथिलि स्वच्छन्द ··· ···· ··· ···· दुःख सहन करना ही।"

राम ने कहा, "हे मैथिली! जब तक राम है, तब तक तुम स्वच्छन्दता पूर्वक गाओ। आज मेरे ये शब्द कोई भी (सब) सुन ले। जो मेरा भरोसा करता है, वह निश्चिन्त रहे (उसे किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं)। बस, मुझे तो प्रेम का भरोसा (प्रेम की भेंट) प्राप्त होती रहे। सत्य तो यह है कि आनन्द हमारे ही अधीनस्थ रहता है फिर भी यह संसार व्यर्थ (भाँति-भाँति) के कष्ट सहता रहता है। (मनुष्य के लिए तो यही उचित है कि वह) अपना कर्त्तव्य पूरा करके ही सन्तुष्ट हो जाए (उसके फल

की चिन्ता न करे) फिर वह चाहे सफल हो, चाहे असफल। (उस परिणाम में) उसका कोई दोष न रहेगा। नारियाँ पुरुषों के समक्ष आत्म-समर्पण करके निश्चिन्त हो जाती हैं; (पुरुष द्वारा) उस (समर्पण) की स्वीकृति में ही नारी के प्रति कृतार्थता के भाव निहित हैं। गौरव क्या है? जन (दूसरों का) भार वहन करना (ढोना)। सुख क्या है? बढ़ कर दुःख सहन करना (स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरों को सुख पहुँचाना)।"

'निश्चिन्त रहे जो करे भरोसा मेरा' : कबीरदास के शब्दों में :

कबीर का तूं चिंतवै, का तेरा च्यंत्या होइ।
*अण-च्यंत्या हरिजी करै, जो तोहि च्यंत न होइ॥**

'बस, मिले प्रेम का मुझे परोसा मेरा' :

रामहि केवल प्रेमु पिआरा।
जानि लेउ जो जाननिहारा॥†

'करके अपना कर्तव्य रहो सन्तोषी' :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।‡

कलिकाएं खिलने लगीं .... राज-भवन मन भाया।"

कलियाँ खिलने लगीं, फूल फिर फूल उठे, पक्षी तथा हरिण भी चरना छोड़ कर अपनी सुध भूल बैठे। (सब ओर फैली हुई) नीरवता में एक यही (सीता के गीत की) ध्वनि गूँज रही थी—

"मेरी कुटिया में मनोरम राज-भवन है। देवर (लक्ष्मण) के तीर के अग्र-भाग (नोंक) की टाँकी (छेनी—पत्थर काटने का औज़ार) से मैंने छोटी बहिन (ऊर्मिला) की एक मूर्ति तैयार की है। उसके नेत्रों में आँसू हैं और मुख पर बाँकी हँसी। (मैंने उस मूर्ति का वह रूप आँका है, जिसमें वह अपने पति के पथ के) कोटे समेट रही है और (उस पथ पर) फूल बिखेर रही है। उस मूर्ति ने हमारे इसी कुटीर को मन्दिर बना लिया है (मैंने इसी कुटिया में वह मूर्ति प्रतिष्ठित की है)। मेरी कुटिया ने मनोरम राज-भवन का रूप धारण कर लिया है।

ऊर्मिला लक्ष्मण के '*शर*' से '*आहत हरिणी*' है अतः उसकी मूर्ति रचने

* कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५८।
† रामचरितमानस, अयोध्याकांड।
‡ श्रीमद्भगवद्गीता, २—४७।

के लिए भी *'देवर के शर की अनी'* से *टाँकी* का काम लिया गया है। ऊर्मिला के नेत्रों में (पति-वियोग के कारण) आँसू हैं और मुख पर हँसी, वही हँसी जो गा-गा कर अपने पति को विदा करने वाली महाव्रता पत्नी के मुख पर खेला करती है। ऊर्मिला अपने पति के पथ के काँटे समेट रही है (हे मन, तू प्रिय पथ का विघ्न न बन) और फूल बिखेर रही है। इतना ही नहीं उसने तो आज सीता के इसी *'कुटीर'* को *'मन्दिर'* बना दिया है, लक्ष्मण द्वारा बनायी गयी इस *'मन्दिराकृति कुटी'* को देवालय के समान अपूर्व पवित्रता तथा महत्ता प्रदान कर दी है।

हा! ठहरो, बस विश्राम ··· ··· ··· ···· यहाँ सुध खोई।

राम ने कहा, "प्रिये! ठहरो, बस करो, कुछ देर ठहर कर विश्राम कर लो। हे राजलक्ष्मी! तुमने वन में भी मेरा (राम का) साथ न छोड़ा। तुम यथेष्ट परिश्रम करो और स्वेद जल से स्वास्थ्य-मूल का सिंचन करो। (परिश्रम करके अपने स्वास्थ्य का विकास करो) परन्तु तुम अपनी गति (कार्य-व्यापार) में यति (तनिक विश्राम के नियम का भी पालन करो (स्वास्थ्य-रक्षा के लिए यदि उचित परिश्रम अनिवार्य है तो पर्याप्त विश्राम भी)। कोई भी व्यक्ति (सब लोग) तुम्हारी ही तरह किसी कार्य (अपने कर्त्तव्य-पालन) में पूर्णतया तन्मय हो (इतनी ही तन्मयता से स्वधर्म पालन करे) (परन्तु) तुमने तो इस समय स्वयं अपनी भी सुधि खो दी है।

भान सा भूला' सीता न जाने कब तक गीत के रूप में अपने भावों को उंडेलती पर्णकुटी के बिरछे सींचती रहतीं परन्तु राम ने उनकी तन्मयता भंग कर दी। *'अटल अनुरागी'* पति प्यार भरे शब्दों में *'प्रणयप्राणा'* का ध्यान *'यति'* के नियम को ओर आकृष्ट करता है। जीवन में *'श्रम'* आवश्यक है, *'स्वास्थ्य-मूल'* उसी श्रम जल से तो पल्लवित होता है परन्तु *'थोड़ा विश्राम'* भी जीवन का अनिवार्य अङ्ग है।

'हे राज लक्ष्मि, तुमने न राम को छोड़ा' : सीता की कुटिया में ही मनोरम राज-भवन है। जहाँ 'सम्राट् स्वयं प्राणेश सचिव देवर हैं'। अपने ही शब्दों में सीता उस राज भवन की *'रानी'* हैं—राम के शब्दों में *'राजलक्ष्मि'*।

हो जाना लता न आप ···· ···· ··· ··· मनोज्ञ कुसुम को!

"तुम इन लता वल्लरियों में इतनी अधिक तन्मय हो रही हो; कहीं इस प्रकार तुम स्वयं भी लताओं में विलीन न हो जाना; तुम अपनी हथेलियों

तक तो इन नयी कोंपलों में लीन हो ही चुकी हो। कहीं ऐसा न हो कि मुझे तुम्हें उसी प्रकार ढूँढते हुए फिरना पड़े जैसे भौंरा मनोहर पुष्प को ढूँढा करता है।

राम के शब्दों में 'निज मूर्तिमती माया' के प्रति अमित दुलार भरा है। सीता की तन्मयता पर वह विस्मय विमुग्ध हो गये हैं परन्तु सीता को '*कर-तल तक*' '*नवल-दल-मग्ना*' देख कर उनका हृदय अनायास कह उठता है—

हो जाना लता न आप लता-संलग्ना

इस प्रकार मानो राम की मुग्धता शब्दों में उतर आयी है। राम का यह कथन प्रस्तुत परिहास का ही सर्वथा स्वाभाविक प्रसाद है तथापि राम की उस उक्ति में भविष्य की एक झलक भी तो है! शीघ्र ही राम को सीता की खोज में भटकना है। वह समय अधिक दूर नहीं है जब श्री राम—

पूछत चले लता तरु पाँती ॥
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
*तुम्ह देखी सीता मृग नैनी ॥**

वह सीताफल जब फलै ·········· हँसी तुम आहा!"

श्री राम ने कहा, "तुम्हारा वह प्रिय सीताफल जब फले ········ (राम के मुख से यह अर्थ-भरी उक्ति सुन कर सीता के अधरों पर तनिक मुस्कराहट-सी खेल गयी और राम ने उस प्रसङ्ग को वहीं छोड़ कर कहा), "मेरा विनोद (परिहास) तो सफल हो गया ('फल-युक्त' हो गया) क्योंकि तुम हँस पड़ीं (तुम्हारी इस हँसी से मुझे तो अपने विनोद का मन चाहा फल प्राप्त हो गया।) (सीताफल चाहे जब फले, राम का विनोद तो 'सफल' हो ही गया।)

प्रस्तुत अवतरण की समीक्षा करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है : 'उस दिन वातावरण में कुछ अधिक मादकता थी, राम कुछ और आगे बढ़े। सीता ने कुटिया में अनेक प्रकार के फल-फूल लगा रखे थे—उनमें सीताफल भी था। राम को आज उसी की विशेष चिन्ता हुई और श्लेष की आड़ में परिहास का एक बाण छोड़ ही तो दिया—

वह सीताफल जब फलै तुम्हारा चाहा,—
मेरा विनोद तो सफल,—हँसी तुम आहा!

दम्पति का सम्बन्ध काफी दूर तक जाता है अतः उनके लिए ऐसा विनोद

---

* रामचरितमानस, अरण्यकांड।

स्वाभाविक है—नित्य प्रति की बात है। भक्त-कवि ने यहाँ कवित्व की रक्षा भक्ति का मूल्य देकर की है।"

"तुम हँसो, नाथ, निज ···· ··· ··· ···· सभी रस-भोगी।

राम के विनोद का उत्तर देते हुए सीता ने कहा, "हे नाथ, तुम अपने जादू (शब्द-कौतुक) के फल पर भले ही प्रसन्न होते रहो (अपने शब्द-जाल-विनोद की सफलता से भले ही सन्तुष्ट होते रहो) परन्तु मेरे ये फल तो सत्य के बल पर (यथा समय) प्रकट होंगे (किसी जादू से प्रकट न हो सकेंगे) (तुम्हारे 'इन्द्र-जाल' के फल और मेरे इन फलों में एक महत्वपूर्ण अन्तर रहेगा) इनमें केवल विनोद है उनमें वास्तविकता होगी। अस्तु, सब लोग मेरे श्रम से उत्पन्न इन फलों का रस भोग (उपभोग करें) (जगन्माता का यह 'श्रम' स्वार्थमय न होकर परमार्थ पूर्ण ही है।)

'मेरे श्रम फल के रहें सभी रस-भोगी' में यह ध्वनि भी है कि राम के '*इन्द्र जाल के फल*' का आनन्द तो 'पति-पत्नी' तक ही परिमित है परन्तु सीता के '*श्रम-फल*' सबके लिए उपभोग्य हैं।

तुम मायामय हो तदपि ···· ···· ··· ··· फिरो गभीर गहन में !

"तुम मायामय होकर भी अत्यन्त भोले हो। तुमने हँसी में भी तो झूठ नहीं बोला ! वास्तव में यदि ऐसा हो कि मैं वन में छिप जाऊँ और तुम मुझे इस घने वन में ढूँढते फिरो तो कितना आनन्द रहे !

'साकेत' के राम 'अखिलेश' के अवतार हैं—भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञाता हैं। अस्तु, राम ने हँसी में भी एक भावी 'सत्य' का ही उल्लेख किया था। उनकी 'माया मूर्ति' सीता भी भविष्य से सर्वथा अनवगत नहीं तभी तो वह परोक्ष रूप से भावी घटनाओं पर प्रकाश डाल कर कहती हैं—

हो सचमुच क्या आनन्द, छिपूँ मैं वन में,
तुम मुझे खोजते फिरो गभीर गहन में !

"आमोदिनि, तुमको कौन ···· ···· ···· ··· घनश्याम के भीतर।"

राम ने कहा, "आमोदिनी, तुम्हें भला कौन छिपा सकता है ? हृदय को तो हृदय अनायास ही ढूँढ (देख) लेता है। सीता तो राम के हृदय में सदा उसी प्रकार विराजमान है जैसे काले बादलों में बिजली।"

'परिहास' में 'गम्भीरता' का प्रवेश हो गया। राम ने हँसी में ही कहा था—

हो जाना लता न आप लता-संलग्ना।

सीता का उत्तर गम्भीरता से रहित नहीं—

हो सचमुच क्या आनन्द छिपूँ मैं वन में,
तुम मुझे खोजते फिरो गभीर गहन में!

राम का प्रत्युत्तर है—

बैठी है सीता सदा राम के भीतर,
जैसे विद्युद्द्युति घनश्याम के भीतर।

'*कुछ ललित नर लीला*' करने के अभिप्राय से आधार-ग्रन्थों के राम सीता से कहते हैं—

तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा।
जौं लगि करौं निसाचर नासा॥

और इस प्रकार सीता—

*प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी।**

कदाचित् 'अग्नि-प्रवेश' की आवश्यकता ही न रहने देने के अभिप्राय से 'साकेत' के कवि ने राम से ये शब्द कहलवाये हैं :

आमोदिनि, तुमको कौन छिपा सकता है ....

'*आमोदिनी*' गोस्वामी जी की '*ललित नर लीला*' का ही तो अभिनव रूपान्तर है। तथापि प्रथम, द्वितीय की अपेक्षा हमारे अधिक सन्निकट है।

"*अच्छा, ये पौधे कहो फलेंगे ... ... चलेंगे तब लौं?*"

सीता ने पूछा, "अच्छा! यह तो बताओ कि ये पौधे कब तक फलयुक्त हो जावेंगे। हम उस समय तक कहीं और तो नहीं चले जाएँगे?"

सीता का यह प्रश्न एक बार फिर वार्तालाप को सामान्य भाव-भूमि पर ले आना चाहता है।

"*पौधे? सींचो ही नहीं ... ... उधर मोड़ो भी।*"

राम ने उत्तर दिया, "पौधे? इन्हें केवल सींचने से काम न चलेगा, गोड़ना भी पड़ेगा। अतः (इन्हें भली प्रकार सींचने के साथ-ही-साथ) इनकी डालियों को इधर-उधर मोड़ती रहो (ताकि उनका सम्यक् विकास हो सके।)

पुरुषों को तो बस ... . स्वार्थ-हेतु समुचित है?"

सीताने कहा, "पुरुषों को तो सदा राजनीति की ही बातें सूझा करती हैं, राजा तथा माली तो सदा काट-छाँट के उपायों पर ही विचार करते रहते

* रामचरितमानस, अरण्यकांड।

हैं; परन्तु प्राणेश ! यह तो उपवन (वाटिका) न हो कर वन है। यहाँ तो पौधे (माली की इच्छा के अनुसार न बढ़ कर) अपनी ही इच्छा के अनुकूल जिस ओर चाहते हैं, उधर ही बढ़ते हैं। क्या बन्धन ही का दूसरा नाम जनपद (बस्ती अथवा नगर) नहीं है ? देखो, वन का यह छोटा-सा नद यहाँ कितनी स्वच्छन्दतापूर्वक बह रहा है परन्तु नगरवासी इसे भी (नहर के रूप में अथवा भाँति-भाँति के बाँध लगाकर) बाँध लेते हैं (इसकी स्वाधीनता नष्ट कर देते हैं) !"

राम ने उत्तर दिया, "यह तो सत्य है (कि नगरवासी नद को बाँध देते हैं) परन्तु इस प्रकार नद की उपयोगिता तो बढ़ जाती है (नद के जल को अधिक लोकोपयोगी बनाने के लिए ही उसकी स्वच्छन्दता समाप्त की जाती है)।

सीता बोलीं, "इससे (नद को बाँधने से) नद को तो कोई लाभ नहीं होता, इस (बन्धन) में तो स्वयं उन्हीं का (बाँधने वाले नगरवासियों का) लाभ है। इस प्रकार स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरे को बाँधना क्या उचित है ?"

"मैं तो नद का परमार्थ •• ···· ···· ••• भाव-से भू पर ।"

राम ने सीता के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा, "मैं तो इसे (इस बन्धन को) नद का परमार्थ ही मानता हूँ और परमार्थ से बड़ा लाभ और क्या हो सकता है ? जितने प्रवाह (नदियाँ, नद आदि) हैं वे बहें, अवश्य बहें; परन्तु उन्हें अपनी मर्यादा में ही रहना चाहिए। यह पृथ्वी केवल उन्हीं के लिए नहीं है, इसे औरों का भी भार झेलना तथा पालन करना है। जनपद के बन्धन (नियम अथवा मर्यादाएँ) वास्तव में उन सबकी (समष्टि की) मुक्ति (स्वाधीनता) के लिए ही हैं अस्तु, यदि ये नियम न रहें तो सब लोग तुरन्त छिन्न-भिन्न हो जावें। (और फिर आश्चर्य की यह बात है कि) पुरुषों की यह काट-छाँट उसे ही (उसी सीता को) अखर रही है जो फूलों को चुन कर उनका रंग निकालना चाहती है ('निकले फूलों का रंग ढंग से ताया') जरा यह तो बताओ कि (यदि 'स्वार्थ-हेतु बन्धन समुचित' नहीं है तो) तुम कोमलता के उन अतुलनीय उपमानों को किस प्रकार ला सकोगी ? इस प्रकार क्या तुम उन फूलों पर इतनी अधिक निष्ठुरता प्रकट कर सकोगी जो इस संसार में शूलों के प्रतिकूल (कोमल) भाव के प्रतीक हैं ?

व्यक्ति समाज की एक इकाई है और समाज व्यक्तियों की समष्टि। व्यक्तिगत

विकास के लिए व्यक्तिगत स्वाधीनता की एक निश्चित मात्रा अनिवार्य है परन्तु सामाजिक संश्लिष्टि की रक्षा के लिए 'नियम', 'बंधन' तथा 'मर्यादाएँ' परमावश्यक है—'यदि नियम न हों उच्छिन्न सभी हों कब के'। अस्तु, राम का कथन है—

जितने प्रवाह हैं बहें, अवश्य बहें वे

प्रवाह की धारा रोकना, प्रगति में बाधा डालना, मानव के स्वाभाविक विकास में रोड़े अटकाना अभीष्ट नहीं तथापि उन्हें *उच्छिन्न* न होने देने के लिए ही यह आवश्यक है कि—

निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे।

समाज की इस अवस्था में स्वार्थमय स्वार्थ के लिए कोई स्थान नहीं। यहाँ तो—

स्वार्थ स्वयं परमार्थ हुआ

और

आज स्वार्थ हो त्याग भरा

दूसरे शब्दों में यहाँ तो—

त्याग और अनुराग चाहिए बस यही

एक आधुनिक विचारक, बर्ट्रेन्ड रसल ने समाज-संगठन के दो प्रमुख स्तम्भों को क्रमशः व्यतिगत स्वतन्त्रता (Individual Liberty) और राजकीय नियन्त्रण (State Control)※ कहा है।

व्यक्तिगत विकास के लिए सतत प्रयत्नशील होकर भी मनुष्य को एक पल के लिए भी यह नहीं भूलना चाहिए कि—

केवल उनके ही लिए नहीं यह धरणी,
है औरों की भी भार-धारिणी-भरणी।

यहाँ तक जन-पद के बंधनों का सम्बन्ध है, वे तो *'समष्टि'* की स्वाधीनता के लिए ही—सबकी हितकामना से अनुप्राणित होकर ही—*'व्यक्ति'* पर लगाए जाते हैं :

जन-पद के बन्धन मुक्ति हेतु हैं सब के।

"यह संग दोष है ··· ···· ··· ···· उसे चिर कर लूँ।"

सीता ने कहा, "यह संग-दोष है; (तुम्हारे—पुरुष के—साथ रहने का फल है) तुमसे और क्या कहूँ ? हाँ, कुसुम से मुझे आज अवश्य क्षमा-

※ 'Authority and Individual' by Burtrand Russel.

याचना करनी है। एक बात अवश्य है। उसके (सुमन के) अनुराग को मैं स्थायी क्यों न बना लूँ ? वह स्वयं नाशवान् है अतः मैं उसके अनुराग (रंग) को (ताकर) अविनश्वर क्यों न बना लूँ ?"

राम ने अपने कथन में कोमलता के अतुल उपमानों (पुष्पों) के प्रति सीता की निष्ठुरता (फूलों को ताकर उनका रंग निकालना) पर आपत्ति की थी। सीता का उत्तर है कि वह इस प्रकार नाशवान् फूलों को स्थायित्व प्रदान करना चाहती हैं।

"वह राग-रंग रच लो ··· ··· ··· ··· कृतकृत्य कभी वह होता।"

राम बोले, "वह राग-रंग (अनुराग-रंग) अपने सुहाग-अञ्चल में रच लो। वाह वाह! एक ही पल में (बुद्धि) ठिकाने आ गयी। (यदि यह सत्य है कि तुम फूलों का रंग निकाल कर उन्हें स्थायित्व प्रदान करती हो तो) हम भी सोने का मान, मूल्य तथा सौंदर्य बढ़ाने के लिए ही उसे ठोक-पीट कर भाँति-भाँति के रूपों में ढालते हैं। यदि सोना मिट्टी में मिलकर खान में ही पड़ा रहता तो क्या वह (वहाँ रह कर ही) कृतार्थ हो सकता था ? (क्या वहीं पड़ा रहने से उसका अस्तित्व सार्थक हो सकता था ?) (यदि सोना खान में ही रहता तो वह सदा धूल में ही पड़ा रहता। मनुष्य ही उसे धूल में से निकाल-निकाल कर भाँति-भाँति का रूप देकर उसका मान, मूल्य तथा सौंदर्य बढ़ा देते हैं।)

"वह होता चाहे नहीं ··· ··· ··· ··· झींकते-रोते !"

सीता ने उत्तर देते हुए कहा, "सोना (कृतार्थ) होता अथवा न होता परन्तु (यदि वह खान में ही पड़ा रहता तो) हम अवश्य कृतकृत्य (सुखी) हो जाते क्योंकि सब लोग उसी (सोने अथवा धन) के लिए निरन्तर रोते झींकते रहते हैं (सोना अथवा धन ही सब झगड़ों की जड़ है)।

"होकर भी स्वयं सुवर्णमयी ···· ··· ··· ···· शून्य में सोता !"

राम बोले, "तुम सुवर्णमयी ('सुवर्णमयी' यहाँ श्लिष्ट शब्द है; अर्थ है : सोने से भरपूर और अच्छे रंग वाली) होकर भी (सोने के विरुद्ध) ऐसी (विचित्र) बातें कह रही हो ? तुम (लोगों के रोने-झींकने की) जो बात कह रही हो उसका कारण सोना न होकर वास्तव में मनुष्यों का लोभ ही है। बात यह है कि समाज के किसी एक वर्ग विशेष के हाथ में इकट्ठा होकर अर्थ (धन) अनर्थ का कारण बन जाता है। जो व्यक्ति धन इकट्ठा करके

(धनवान् होकर) त्याग नहीं करता (अपने धन का प्रयोग दूसरे के हित-साधन के लिए भी नहीं करता) वह तो वास्तव में उस लुटेरे के समान है जो संसार का धन लूट-लूट कर (अपने पास) इकट्ठा कर लेता है। ऐसे तो तुम कह सकती हो कि कहीं कुछ भी न होता और निर्द्वन्द्व भाव ही शून्य में पड़ा सोता रहता (द्वन्द्व सृष्टि के क्रम विकास के लिए अनिवार्य है अतः द्वन्द्व के अभाव, निर्द्वन्द्व भाव का अर्थ है—'कहीं न कुछ भी होता')।

सीता ने धन अथवा स्वर्ण के कारण 'रोने-झींकने' की बात कही थी। राम का उत्तर है कि इस अशान्ति का मूल कारण स्वर्ण नहीं, स्वर्ण का अनुचित लोभ है।

तुमने योग-क्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखा कर इस विचार-संकट में डाला।
हम संवेदन शील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुःख!

× ×

*शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी!**

अस्तु, समाज के किसी एक वर्ग में मुष्टिबद्ध होकर ही '*अर्थ*' '*अनर्थ*' का कारण बनता है। पूँजीवाद का जन्म इसी प्रकार तो होता है। आदर्श समाज में '*योग क्षेम से अधिक संचय*' के लिए कोई स्थान नहीं। यहाँ तो

त्याग का संचय, प्रणय का पर्व

क्योंकि—

जो संग्रह करके त्याग नहीं करता है,
वह दस्यु लोक-धन लूट-लूट धरता है।

"*हम तुम तो होते कान्त!*" .... *प्रसव की पीड़ा।*"

सीता ने कहा, "हे स्वामी! (और कुछ होता या न होता) परन्तु हम और तुम तो होते ही!"

राम बोले, "प्रियतमे! हम कब नहीं थे? हे विविधवृत्तान्ते (भिन्न-भिन्न वृत्तान्तों को जानने वाली), हम तो सदा से रहे हैं और सदा से ही रहेंगे। हमें लेकर (हमारे कारण) ही तो यह सारा संसार-चक्र चल रहा है तथा नित-नवीन प्राणियों तथा पदार्थों की उत्पत्ति हो रही है।"

यहाँ राम को 'ब्रह्म' तथा सीता को 'माया' माना गया है। ब्रह्म और माया से ही तो यह संसार का क्रम चल रहा है!

---

* श्री जयशंकर प्रसाद, कामायनी, संघर्ष सर्ग।

फिर भी नद का उपयोग ... . व्यष्टि बलिदानी ।"

"फिर भी नद का प्रयोग हमारे लिए है, इस सम्बन्ध में कभी किसी ने स्वयं नद की भावनाओं को समझने का प्रयत्न किया है ?" सीता ने पूछा।

राम ने उत्तर दिया, "इसके लिए (इस प्रश्न पर विचार करने के लिए) स्वयं नद के पास समय ही कहाँ है ? विचारणीय बात तो यह है कि क्या कभी स्वार्थी जीवन भी किसी से प्रशंसा पा सका है ? जब हम किसी का भला करते हैं तो क्या हमें (उस समय) कुछ कम सन्तोष होता है ? (बहुत अधिक सन्तोष होता है) । यही बात हम नद के सम्बन्ध में समझते हैं। हम तो उसे भी अपने जैसा ही जानते हैं (इसीलिए हमारा विश्वास है कि जब हमें दूसरों का भला करके अपार सन्तोष होता है तो उसे भी अवश्य होता होगा।) यदि हमें प्यास ही न लगती तो जल व्यर्थ था (हमारी प्यास ने ही जल को महत्व दिया है) । वही जल अन्न पैदा करता है और मोतियों को भी जन्म देता है। आकाश (वर्षा) का जल अपने लिए नहीं बरसता (दूसरे के कल्याण के लिए ही बरसता है) । हमें भी समाज के (हित के) लिए व्यक्ति (अपना अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ) का बलिदान कर देना चाहिए।

'वैदेही वनवास' के राम ने एक स्थान पर कहा है—

जहाँ लाभप्रद अंश अधिक पाया जाता है।
थोड़ी क्षति का ध्यान वहाँ कब हो पाता है ॥
जहाँ देश हित प्रश्न सामने आ जाता है।
लाखों शिर अर्पित हो कटता दिखलाता है ॥
जाति-मुक्ति के लिये आत्म-बलि दी जाती है।
परम अमंगल क्रिया पुण्य कृति कहलाती है ॥
इस रहस्य को बुध पुंगव जो समझ न पाते ।
*तो प्रलयंकर कभी नहीं शंकर कहलाते ॥**

"तुम इसी भाव से भरे .... बिजली-सी ।"

सीता ने पूछा, "तुम यही भाव लेकर यहाँ आये हो ? (अब समझी) तुमने इसीलिए प्रसन्नतापूर्वक यह श्यामल (बादल जैसा) शरीर धारण किया हुआ है। यह बात है तो बरसो, ताकि यह पृथ्वी तप्त न रहकर सरस (हरी-भरी) हो जाए। मैं भी पाप-समूह (पाप के पूले) पर बिजली की भाँति गिर पड़ूँगी।"

---

* श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध', वैदेही वनवास, सर्ग १, पृष्ठ १३।

'जहाँ प्रकाश वहीं छाया'। राम *'श्याम घन'* बन कर तप्त वसुन्धरा की तपन शान्त करना चाहते हैं, अर्द्धांगिनी सीता *'बिजली'* बन कर पाप-पुञ्ज पर गिरने के लिए तैयार हैं।

"हाँ, इसी भाव से भरा यहाँ आया ···· ··· को भी तार पार उतरेंगे।"

राम ने उत्तर दिया, "हाँ, मैं तो इसी भाव से भर कर (यही भाव साथ लेकर) यहाँ आया हूँ। प्रिये! मैं यहाँ के वासियों को देने के लिए ही कुछ साथ लाया हूँ। प्रत्येक मनुष्य को अपनी-अपनी रक्षा का अधिकार प्राप्त हो परन्तु पूरे समाज की सुविधा का भार शासन (राजा) को ही वहन करना होगा। यहाँ के वासियों को आर्यों का आदर्श बताने, जन (मनुष्यों) के सम्मुख धन को तुच्छ सिद्ध करने, (विश्व) को सुख-शान्ति प्रदान करने के लिए क्रान्ति मचाने तथा विश्वास रखने वालों के विश्वास की रक्षा के लिए ही मैं यहाँ आया हूँ। जो लोग संतप्त हैं, लाचार तथा असहाय हैं, बेचैन हैं, कमजोर हैं, दीन अथवा शाप-ग्रस्त हैं, मैं उन सबके (उद्धार के) लिए ही यहाँ आया हूँ। जो लोग अब तक डरते रहे हैं, वे अब निर्भय हो जाएँ। वे लोग भी अभय हो जाएँ जो अब तक चुपचाप राक्षस-वंश का अत्याचार-पूर्ण शासन सहते रहे हैं। मैं मर्यादा की रक्षा और सरलतापूर्ण जीवन को बचाने के लिए ही यहाँ आया हूँ। मैं स्वयं दुःख झेल कर भी दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए तथा नर-लीला करने के लिए यहाँ आया हूँ। मैं तो यहाँ एक सहारा छोड़ जाने के लिए ही यहाँ आया हूँ। मैं तोड़-फोड़ करने के विचार से नहीं, निर्माण करने का उद्देश्य लेकर ही आया हूँ। मैं (अपने लिए) कुछ संग्रह अथवा संचय करने के लिऐ नहीं अपितु संचित निधियाँ दूसरों को बाँटने के लिए यहाँ आया हूँ। मैं संसार रूपी वाटिका के झाड़-झँखाड़ छाँटने के लिए आया हूँ (ताकि इस वाटिका के पेड़-पौधे सुचारु रूप से विकसित हो सकें)। मैं स्वयं राज्य का उपभोग करने के लिए नहीं, दूसरों को राज्य करने के योग्य बनाने के लिए आया हूँ। हंसों (जीवों) को मोक्ष रूपी मोती चुगाने के लिए आया हूँ। (हंस मोती चुगते हैं। जीव-धारियों (हंसों) का चरम लक्ष्य मोक्ष है)। इस संसार में एक नया ही वैभव (ऐश्वर्य) बिखेरने के लिए यहाँ आया हूँ, मनुष्य को ईश्वरता दिलाने के लिए आया हूँ। मैं किसी स्वर्ग (कल्पना-लोक) का संदेश लेकर यहाँ नहीं आया, मैं तो इसी संसार को स्वर्ग बनाने आया हूँ अथवा इस पुण्य भूमि का आकर्षण ही ऐसा (सबल) है कि उसी के कारण मैं स्वयं एक उच्च फल की भाँति यहाँ

अवतरित हो गया हूँ (पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के कारण ऊँची डालियों पर लगा फल स्वयमेव नीचे आ पड़ता है)। जो मनुष्य केवल मेरे नाम-मात्र का स्मरण कर लेंगे वे भी अनायास यह संसार-सागर पार कर लेंगे परन्तु जो लोग मेरे गुणों, कर्मों, तथा स्वभाव का अनुकरण करेंगे वे तो स्वयं इस संसार-सागर से पार उतरने के साथ-ही-साथ दूसरों को भी पार उतार देंगे।"

'साकेत' के राम आर्य-सभ्यता के संस्थापक हैं। वह अपने किसी मनोरंजन अथवा स्वार्थसाधन के लिए वन में नहीं आये, वह तो निरवलम्बों के अवलम्ब, निर्बलों के बल तथा निर्धनों के धन बन कर वहाँ पधारे हैं। राम को वन-गमन के लिए उद्यत देख कर कुल-गुरु ने कहा था :

हरो भूमि का भार भाग्य से लभ्य तुम ,
करो आर्य-सम वन्यचरों को सभ्य तुम ।

अस्तु, राम का प्रस्तुत कथन मानों उसी उत्तरदायित्व की स्वीकृति है। अखिलेश राम दलित मानव को देवत्व के शिखर तक ले जाना चाहते हैं, इस *धरती* को *स्वर्ग* बनाना चाहते हैं।

राम के परम्परागत चरित्र में अधिक परिवर्तन अथवा मौलिक उद्भावनाओं के लिए अवकाश नहीं था। कदाचित् हमारे भक्त-कवि को यह मान्य भी न था। इसलिए गुप्त जी ने अपने *काव्य में* मूल-रूप से राम के अनन्त *शील*, *शक्ति* तथा *सौंदर्य*-सम्पन्न परम्परागत स्वरूप का ही दर्शन कराया है तथापि 'साकेत' के राम का झुकाव *देवलोक* की अपेक्षा *भू-लोक* की ओर ही अधिक है। कदाचित् इसीलिए वह देवता से अधिक नेता हैं, सुधारक हैं, महात्मा हैं। उनके नाम-स्मरण का महत्त्व स्वीकार करके भी हमारा कवि *'कलियुग केवल नाम अधारा'* कह कर ही सन्तुष्ट नहीं हो सका। उसका विश्वास है कि भू-तल को स्वर्ग बनाने के लिए *'सक्रिय'* कदम उठाने होंगे, किसी *रचनात्मक कार्य-क्रम* का पालन करना होगा। इसीलिए तो 'साकेत' के राम कहते हैं :

पर जो मेरा गुण कर्म, स्वभाव धरेंगे ,
वे औरों को भी तार पार उतरेंगे !

"पर होगा यह उद्देश्य सिद्ध ···· ···· ···· ···· मात्र निर्जन में ।"

सीता ने पूछा, "परन्तु क्या (तुम्हारा) यह उद्देश्य वन में सिद्ध (पूरा) हो सकेगा ? एकान्तपूर्ण वन में तो चिन्तन तथा मनन ही हो सकता है।"

"वन में निज साधन ... ... कुगति मैं सारी।"

राम ने उत्तर दिया, "वन में हमारा (इष्ट) साधन धर्म से सुलभ होगा। (वन में) जब मन से चिन्तन-मनन हो सकता है तो कर्म से क्यों न होगा? (उसे क्रियात्मक रूप भला क्यों न दिया जा सकेगा?) वन में बहुत से प्राणी रीछ-बन्दरों की तरह रहते हैं; मैं उन्हें अपने हाथ से आयत्व प्रदान करूँगा (असभ्यता की स्थिति से निकाल कर सभ्य बनाऊँगा)। मैं शीघ्र ही दण्डक वन में चल कर रहूँगा और वहाँ जाकर तपस्वियों के धर्म-कार्यों में आने वाले विशेष विघ्न दूर करूँगा। (मेरी आकाँक्षा है कि) वेद की वाणी सब ओर सुनाई दे। कल्याण तथा मङ्गलमयी यह वाणी पर्वत, वन तथा समुद्र पार तक गूँजे। आकाश में यज्ञ-हवन का पवित्र तथा सुगन्धित धुँआ घिर जावे और वसुन्धरा का अञ्चल हरा-भरा हो जाए। ज्ञानवान् स्वस्थ होकर तत्वों का चिन्तन (अनुसन्धान) करें, ध्यानी निर्भय होकर ध्यानस्थ हो सकें, अग्नि में यथा-क्रम आहुतियाँ पड़ती रहें और हमारे द्वारा त्याग और तपस्या की विजय तथा विकास होता रहे। इस समय मुनि स्वतन्त्रतापूर्वक देश के दक्षिण भाग में नहीं जा सकते। वहाँ बर्बर तथा असभ्य राक्षस यम के समान उग्रता धारण किए हुए हैं। मैं सांसारिक ऐश्वर्य के कारण स्वेच्छाचारी हो जाने वाले उन राक्षसों की कुबुद्धि तथा कुगति (दुराचार) का अन्त कर दूँगा।"

हिन्दू संस्कृति के अनन्य उपासक गुप्त जी ने यहाँ हिन्दू धर्म के सभी प्रमुख अंगों—वेद-पाठ, होम, तत्व-चिन्तन, ध्यान, यज्ञ आदि—को एक साथ संजो कर मानो आर्य-सभ्यता की एक सुबोध परिभाषा ही प्रस्तुत कर देने का प्रयत्न किया है।

'अम्बर में पावन होम-धूप घहरावे, वसुधा का हरा दुकूल भरा लहरावे':

गीता के अनुसार :

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवम्॥

(सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है, वृष्टि यज्ञ से होती है और यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होने वाला है।)*

"पर यह क्या, खग-मृग .... सदय पुण्य-पथ गामी।"

वन में अकस्मात् कोलाहल-सा होता देख-सुन कर सीता ने घबरा कर

* श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ३, श्लोक १४।

कहा, "अरे ! यह क्या हुआ, सब पशु-पत्नी इस तरह भागे चले आ रहे हैं मानों शिकारी उनका पीछा कर रहे हों ! बुरे लोगों की तो चर्चा भी अच्छी नहीं। जहाँ साँपों को चर्चा होती है वहीं वे दिखाई दे जाते हैं। सारे वन पर एक अस्पष्ट तथा भयंकर कोलाहल छा रहा है। ऊँचा तथा गम्भीर आकाश धूल से ढक गया है। वह देखो, मेरा नकुल (नेवला) कुटिया की दहलीज पर से ही अत्यन्त भयभीत होकर बाहर की गतिविधि देख रहा है। लो, बाढ़ के वेग की भाँति पल-पल पर क्रुद्ध तथा शान्त और स्थित तथा अस्थिर होते हुए देवर बढ़े चले आ रहे हैं। हे स्वामी, न जाने ऐसी क्या बात है ? दयावान् तथा पुण्य-पथ के पथिक निर्भय हों !"

राम राक्षसों की बात कर ही रहे थे कि सब ओर कोलाहल होने लगा। तभी तो सीता कहती हैं कि बुरों की चर्चा भी अच्छी नहीं। इस अप्रत्याशित कोलाहल में सीता का ध्यान एक ओर तो अपने भयभीत 'नकुल' को ओर जाता है और दूसरी ओर बाढ़ के जल की तरह उठते-बढ़ते हुए 'देवर' को ओर।

'बाल्मीकि रामायण' में हाथियों आदि को भागते देख कर तथा कोलाहल सुन कर श्री रामचन्द्र जी लक्ष्मण से कहते हैं : "हे लक्ष्मण, देखो तो यह भयंकर बादल को गड़गड़ाहट जैसा गम्भीर तुमुल शब्द कहाँ सुन पड़ता है जिसको सुन, सघन वनवासी हाथियों के झुण्ड सिंहों सहित भयभीत हो बड़ी तेज़ी से इधर-उधर भाग रहे हैं ? क्या कोई राजा या राजा के समान कोई पुरुष वन में शिकार खेलने आया है अथवा कोई महा भयंकर और घातक जन्तु इस वन में आ गया है ? हे लक्ष्मण ज़रा इस बात का तो पता लगाओ।"*

'रामचरितमानस' की सीता स्वप्न में देखती हैं कि---

सहित समाज भरत जनु आए।
नाथ बियोग ताप तन ताए॥
सकल मलिन मन दीन दुखारी।
देखीं सासु आन अनुहारी॥

सीता के मुख से इस स्वप्न की बात सुन कर राम कहते हैं :

लखन सपन यह नीक न होई।
कठिन कुचाह सुनाइहि कोई॥

यह कह कर 'रामचरितमानस' के राम भाई के सहित स्नान और त्रिपुरारि

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग ९६ श्लोक ५ से ९।

महादेव जी का पूजन करके साधुओं का सम्मान करते हैं। इसके उपरान्त वह उत्तर दिशा की ओर देखने लगते हैं उसी समय

नभ धूरि खग मृग भूरि भागे विकल प्रभु आश्रम गए।

तभी कोल-भील आकर राम को भरत के आगमन का सब समाचार देते हैं।

'साकेत' में राम सर्वथा शान्त हैं, सीता भी स्वप्न नहीं देखतीं, राक्षसों की बात कहते-सुनते ही अकस्मात् यह उपद्रव खड़ा देखती हैं। 'साकेत' के लक्ष्मण राम के कहने पर वस्तुस्थिति जानने लिए नहीं जाते; वह तो पहले ही सब बातों का पता लगा आए हैं। यह सत्य है कि अकस्मात् क्रोध का उदय हो जाने के कारण वह अभी भरत के वहाँ आने का मूल कारण नहीं जान पाये हैं। इसलिए प्रस्तुत स्थिति का सामना करने के लिए पूर्णतया कटिबद्ध होने पर भी 'साकेत' के लक्ष्मण ने अभी अन्तिम रूप से कुछ निश्चय नहीं किया है, अभी तो वह बाढ़ के जल की तरह '*उथल-भरे*' और '*अचल-चंचल*' ही हैं।

"भाभी, भय का उपचार चाप यह ··· न सुनूँगा रण में।"

लक्ष्मण ने सीता से कहा, "भाभी! मेरा यह धनुष (प्रस्तुत) भय का वास्तविक इलाज है। दुगनी प्रत्यंचा युक्त* यह धनुष तो स्वयमेव उस ओर दुगुना आकृष्ट हो रहा है (भय इसकी ओर आने के लिए जितना आतुर है यह उससे दुगुनी आतुरता के साथ उस ओर जाना चाहता है)। मेरे इस धनुष के निशाने के सम्मुख कौन टिक सकेगा? वही, जिसके भाग्य में परास्त (पराजित) होना ही लिखा हो (यदि कोई इस धनुष की सीध में आएगा तो उसे हारना ही होगा)। सुना है कि भरत यहाँ अपनी सेना के साथ आये हैं।† उसी सेना के कोलाहल से यह समस्त वन तथा आकाश बेचैन हो रहा है। विनम्र होकर भी आज वह इस प्रकार यह अन्यायपूर्ण कृत्य (वनवासी भाई पर आक्रमण) भला क्यों न करें? क्या वे अपनी माता के पुत्र नहीं? परन्तु यह एक अच्छी बात है कि हम भी असमर्थ (शक्तिहीन) नहीं हैं। चाहे यम ही हमारे सामने क्यों न आ जाए हम

* प्रायः धनुष के साथ दो प्रत्यंचाएं (डोरियां) होती हैं, एक चढ़ी रहती है, एक धनुष पर लिपटी रहती है ताकि यदि लड़ते–लड़ते एक डोरी टूट जाए तो दूसरी चढ़ा ली जाए।

† असीम क्रोध के कारण लक्ष्मण यहां भरत को केवल 'भरत' कह कर सम्बोधित करते हैं, उनके लिए किसी आदरवाचक सम्बोधन का प्रयोग नहीं करते।

प्रत्येक रूप में विपक्षी का सामना करने में पूर्णतया समर्थ हैं (ईंट का जवाब पत्थर से दे सकते हैं)।"

राम को सम्बोधित करके लक्ष्मण ने कहा, "आर्य! आप इस प्रकार गम्भीर क्यों हो गये? क्या आत्म-रक्षा में भी किसी प्रकार के तर्क की गुंजाइश है? यदि भरत किसी बुरे विचार से वन में आये होंगे तो मैंने भी अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि उन्हें पल भर में अपने तीर का निशाना बना लूँगा। लड़ाई में मैं आपके मना करने पर भी न मानूँगा।"

'वाल्मीकि रामायण' के लक्ष्मण वस्तु-स्थिति से अवगत हो कर राम से कहते हैं:

अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम्।
सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा॥
सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम्।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः॥
त्वया राघव सम्प्राप्तं सीतया च मया तथा।
यन्निमित्तं भवान्राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात्॥
सम्प्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव मे।
भरतस्य वधे दोषं न हि पश्यामि राघव॥
मया पश्येत्सुदुःखार्ता हस्तिभग्नमिव द्रुमम्।
कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां सबान्धवाम्॥
शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मि महामृधे।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः॥

(आप अग्नि बुझा दीजिए, सीता जी से कहिए कि वे गुफा के भीतर जा बैठें। आप कवच पहन लीजिए और धनुष तथा बाण सम्हालिए। साफ़ देख पड़ता है कि कैकेयी का पुत्र भरत राज्याभिषेक पा कर भी अकंटक राज्य करने की कामना से हम दोनों का वध करने के लिए ही यहाँ आया है। हे रघुनन्दन, जिसके लिए तुम्हें, मुझे और सीता को इस दुर्दशा में पड़ना पड़ा है और जिसके कारण तुम सनातन राज्य से च्युत किये गये हो वही भरत शत्रु-भाव से आया है अतः वह मार डालने योग्य है। हे राघव, भरत को मार डालने में मुझे कुछ भी पाप नहीं जान पड़ता। हाथी द्वारा तोड़े गए वृक्ष की तरह मेरे हाथ से भरत को मरा हुआ देख कर कैकेयी अत्यन्त दुःखी होगी। मैं उस कैकेयी को भी उसके भाई बन्धुओं सहित मार डालूँगा। आज मैं इस महासंग्राम में सेना-सहित भरत का वध करके

अपने धनुष और बाणों के ऋण से उऋण हो जाऊँगा इसमें सन्देह नहीं है ।) ❀

'साकेत' में राम ने लक्ष्मण को वास्तविक स्थिति जानने के लिए नहीं भेजा, वह तो स्वयं ही भरत के वहाँ आने का समाचार सुन कर कुटिया में आये हैं। वहाँ आ कर लक्ष्मण राम से कुछ न कह कर पहले सीता को ही सम्बोधित करते हैं। सीता के भय-निवारण के अतिरिक्त इसका एक और कारण भी है। लक्ष्मण राम के सामने (भरत के विरुद्ध) अपने हृदय की बात खुल कर नहीं कह सकते। सीता के सामने कह सकते हैं। अस्तु, वह स्वाधीनतापूर्वक *भाभी* के सामने अपने हृदय के भाव उंड़ेल देते हैं। 'साकेत' के राम सब सुन कर भी अप्रभावित ही हैं। यह देख कर लक्ष्मण का धैर्य छूट जाता है और वह स्वयं राम को सम्बोधित करके पूछते हैं, "क्या आत्म-रक्षा में भी सोचविचार के लिए गुंजाइश है ?" इससे पूर्व कि राम कुछ उत्तर दें लक्ष्मण अपना *संकल्प* भी प्रकट कर देते हैं। अयोध्या में वह एक बार राम की 'क्षमा छाया तले नत निरत' हो चुके हैं परन्तु प्रस्तुत *रण में* वह राम का '*प्रतिषेध*' भी न सुनेंगे।

अपने संकल्प में दृढ़ वीर लक्ष्मण का चित्र गोस्वामी जी ने इस प्रकार अंकित किया है :

उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ बीर रस सोवत जागा॥
बांधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासनु सायकु हाथा॥
आजु रामु सेवक जसु लेऊं। भरतहि समर सिखावन देऊं॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहु समर सेज दोउ भाई॥
आइ बना भल सकल समाजू। प्रकट करउं रिस पाछिल आजू॥
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥
जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउं रन राम दोहाई॥

अति सरोष माखे लखनु, लखि सुनि सपथ प्रवान।
सभय लोक सब लोकपति, चाहत भभरि भगान॥

"गृह-कलह शान्त हो, हाय! कुशल हो ···· राज्य छोड़ तुम जब यों ?"

लक्ष्मण के मुख से भरत के आगमन और उनके संकल्प की बात सुन कर सीता ने कहा, "गृह-कलह शान्त हो ! हाय, कुल का मङ्गल हो ! अतुलनीय रघुकुल की अतुलता सदा बनी रहे। हे देवर ! जब तुम इस प्रकार राज्य

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या०, सर्ग ९६, श्लोक १४, १७, २२, २३, २६, ३०।

छोड़ कर यहाँ आ गये हो तो फिर झगड़ा कराने वाले ग्रहों का यह क्रोध क्यों हो रहा है ?"

'आ बैठे देवर, राज्य छोड़ तुम जब यों' : लक्ष्मण के मुख से सब समाचार सुन कर सीता लक्ष्मण को सम्बोधित करके ही बात कर रही हैं। ऐसी दशा में सीता का लक्ष्मण से यह कहना 'आ बैठे देवर, राज्य छोड़ *तुम* जब यों' स्वाभाविक ही था। वैसे राम का राज्य और लक्ष्मण का राज्य कोई भिन्न-भिन्न वस्तु भी नहीं क्योंकि—

यहाँ राहित्य नहीं साहित्य।

तथापि यहाँ '*तुम*' शब्द एक विशेष परिस्थिति की ओर भी संकेत करता जान पड़ता है। कैकेयी की वर-याचना का समाचार सुन कर राम तो शान्त ही रहे थे परन्तु लक्ष्मण

अधर फड़के प्रलय-घन-तुल्य कड़के

थे अतः सीता यहाँ उस बार टल जाने वाले संकट की ओर लक्ष्य करके कहती हैं कि हे देवर जब *तुम* भी अपने क्रोध का दमन करके यहाँ चले आये तो अब भी न जाने झगड़ा कराने वाले ग्रहों का यह प्रकोप क्यों हो रहा है ? सीता आगे चल कर भी इस ओर लक्ष्य करती हैं :

हा ! क्या जानें क्या न कर बैठते घर ये !

"भद्रे न भरत भी उसे छोड़ ··· ···· ···· ···· हो पुरी शून्य कर आई।"

राम ने सीता से कहा, "भद्रे ! भरत भी उस राज्य को न छोड़ आये हों और इस प्रकार मातृश्री (वह वैभव जो उनकी माता ने उनके लिए प्राप्त किया है) से मुँह न मोड़ आये हों। लक्ष्मण, भाई मुझे तो यही जान पड़ता है कि कहीं सारी प्रजा ही हमारे पीछे-पीछे अयोध्या को सर्वथा जन-विहीन छोड़ कर यहाँ न चली आयी हो।"

महर्षि वाल्मीकि के राम लक्ष्मण को शान्त करते हुए कहते हैं :

श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम्।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषर्षभः॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः॥

(मुझे तो यह जान पड़ता है कि मेरा प्राण प्रिय और भ्रातृवत्सल भाई जब

ननिहाल से अयोध्या में आया और हम तीनों का, जटा-वल्कल धारण कर वन में आना सुना, तब स्नेह से पूर्ण और शोक से विकल हो कर तथा अपने कुल-धर्म का स्मरण करके हम लोगों से मिलने के लिए आया है। उसके यहाँ आने का अन्य कोई अभिप्राय तो नहीं जान पड़ता।)*

"आशा अन्तःपुर-मध्यवासिनी .... भरत टाल सकते हैं !"

राम की यह बात सुन कर लक्ष्मण ने तनिक व्यंग्यपूर्वक कहा, "आशा वास्तव में अन्तःपुर (हृदय) में रहने वाली दुश्चरित्रा (के समान अविश्वसनीय) है। आप सीधे हैं परन्तु सारा संसार तो आपकी तरह सीधा न होकर उलटा (कुटिल) ही है। जब आप पिता के वचनों का पालन करने के लिए राज्य छोड़ कर वन में आ सकते हैं तो भरत भला अपनी माँ की आज्ञा किस प्रकार टाल सकते हैं?"

'सीधे हैं आप, परन्तु जगत है उलटा' : 'रामचरितमानस' के लक्ष्मण ने भी कहा था :

नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियं जानिअ आपु समान॥

"भाई, कहने को तर्क अकाट्य तुम्हारा ....पिता का चाहा ?"

राम बोले, "भाई, कहने को तो तुम्हारा तर्क अकाट्य है (काटा नहीं जा सकता) (माता की आज्ञा का महत्व पिता की आज्ञा से भी अधिक है— "जो केवल पितु आयसु ताता, तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता"—कौसल्या) परन्तु वास्तव में मेरा विश्वास ही पूर्णतया सत्य है क्योंकि जब राम ने (मैंने) माता की इच्छानुसार कार्य किया है तो भरत पिता की इच्छा के अनुसार कार्य क्यों न करेंगे?"

राम, लक्ष्मण के तर्क से ही उन्हें परास्त कर देते हैं। माता तथा पिता की परस्पर विरोधिनी इच्छाओं को अपनी अपनी धारणा का आधार बनाने के लिए यहाँ जिस युक्ति-चमत्कार से काम लिया गया है वह वास्तव में दर्शनीय है।

"मानव-मन दुर्बल और सहज ... . उठना सहज कहाँ ऊपर को ?"

लक्ष्मण बोले, "परन्तु मनुष्य का मन तो स्वभाव से ही दुर्बल तथा चञ्चल है। इस पृथ्वी-तल पर तो लोभ ही अत्यन्त प्रबल है। देव-तुल्य होना कठिन है, राक्षस-तुल्य होना मनुष्य के लिए सरल है। नीचे से ऊपर की ओर जाना आसान कहाँ है?"

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ९७, श्लोक १०, ११।

'मानव मन दुर्बल और सहज चञ्चल है' :

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

(हे कृष्ण, यह मन बड़ा चंचल और प्रमथन स्वभाव वाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान् है, इसलिए इसे वश में करना मैं वायु की भाँति अति दुष्कर मानता हूँ ।)*

'नीचे से उठना सहज कहाँ ऊपर को' : गुप्तजी के मानव ने प्रायः इस सत्य को चुनौती दी है । उदाहरणार्थ स्वर्ग से गिरने पर नहुष कहता है :

गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूँ जो अभी ।
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं ।†

"पर हम क्यों प्राकृत-पुरुष आपको ···· ···· सर्वत्र तुल्य गति मन की ।"

"परन्तु हम अपने आपको साधारण पुरुष मानें ही क्यों, अपने पुरुषोत्तम की प्रकृति (अपने में निहित महानता) को पहचानने का प्रयत्न क्यों न करें ? हम मनुष्य की सद्गति (उच्च प्रवृत्तियों) की उपेक्षा करके निकृष्ट प्रवृत्तियों पर विचार ही क्यों करें ? (सत्य तो यह है कि) मन की गति तो नीचे तथा ऊपर सब ओर समान ही है (मन को ऊपर की ओर अथवा उच्च विचारों की ओर भी बढ़ाया जा सकता है और नीचे—निकृष्ट भावनाओं—की ओर भी) ।

"बस हार गया मैं आर्य, आपके आगे ···· ···· ···· पुलक भाव ये जागे ।"

लक्ष्मण बोले, "हे आर्य ! मैं आपके सामने हार गया तथापि शरीर (हृदय) में सैंकड़ों पुलकित करने वाले भावों का उदय हो रहा है । (इस पराजय में भी सुख का ही अनुभव हो रहा है) ।"

"देवर, मैं तो जी गई मरी जाती थी ···· ···· ··· बैठते घर ये ।"

लक्ष्मण का क्रोध शान्त देखकर सीता ने सन्तोषपूर्वक कहा, "देवर, मैं तो तुम्हारी यह बात सुनकर जी गयी । मैं तो वास्तव में (स्थिति की भयंकरता के कारण) मरी जा रही थी क्योंकि मुझे तो अपने सामने गृह-

---

* श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ६, श्लोक ३४ ।

† श्री मैथिलीशरण गुप्त, जय भारत, पृष्ठ १४ ।

कलह ही मूर्तिमान दिखाई दे रहा था। (इसके उपरान्त राम को सम्बोधित कर सीता बोलीं) आर्यपुत्र ! तुमने अच्छा ही किया जो इन्हें भी साथ ले आये। तुम्हारे अतिरिक्त ये भला और किसकी बात मानते ? मुझे तो आज यही सन्तोष है कि देवर यहाँ हैं। यदि वह इस समय घर पर (अयोध्या) होते तो न जाने क्या कर बैठते !"

माता कौसल्या ने एक बार कहा था :

घर में घर की शान्ति रहे ;
कुल में कुल की कान्ति रहे।

लक्ष्मण को अत्यन्त क्रुद्ध देखकर सीता '*घर की शान्ति*' और कुल की इसी '*कान्ति*' को संकट में देख कर भयभीत-सी हो जाती हैं। राम, लक्ष्मण का क्रोध शान्त कर देते हैं। यह देख कर तो मानों मृत-तुल्य सीता जी जाती हैं। इतना ही नहीं, उन्हें यह देख कर भी अपार सन्तोष है कि लक्ष्मण इस समय अयोध्या में न हो कर राम के साथ वन में ही हैं क्योंकि

ये तुम्हें छोड़ कब, कहाँ मानते किनको ?

लक्ष्मण की अनन्य भ्रातृभक्ति के लिए कदाचित् इससे अधिक सुन्दर प्रमाण-पत्र नहीं दिया जा सकता था।

"पर मैं चिन्तित हूँ सहज प्रेम के कारण ··· ··· भरत करें यदि वारण ?

राम सीता से कहते हैं, "परन्तु मुझे एक बात की चिन्ता हो रही है। अपने स्वाभाविक स्नेह के कारण यदि भरत हठ करके मुझे रोक दें (वन में न रहने दें) तो ··· ··· ?"

वह देखो, वन के अन्तराल से निकले ··· ···· ····संग चले अनुरागे।"

सहसा भरत तथा शत्रुघ्न को अपनी ओर आते देखकर श्री रामचन्द्र जी ने सीता से कहा, "वह देखो, भरत तथा शत्रुघ्न वन के मध्य से निकल कर (हमारे नेत्रों के सामने) इस प्रकार आ रहे हैं मानों दो तारे क्षितिज (वृत्ताकार घेरा जहाँ पृथ्वी तथा आकाश मिलते जान पड़ते हैं)-जाल से निकल रहे हों। वे दोनों तो बिल्कुल हम दोनों (राम-लक्ष्मण) जैसे जान पड़ रहे हैं। ऐसा लग रहा है मानों हम दोनों ही एक बार फिर यहाँ आ गये हैं।" यह कहते-कहते प्रभु श्री रामचन्द्र जी उठ कर उनकी ओर बढ़े। सीता और लक्ष्मण भी प्रेमपूर्वक उनके साथ चले।

देखी सीता ने स्वयं साक्षिणी ···· ··· ···· अभिषेक सुनिर्मल उनका !

सीता ने स्वयं साक्षिणी हो-हो कर (अपने नेत्रों के सामने) एक-एक की दो-दो मूर्तियाँ देखीं। जान पड़ता था मानों संसार ने राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न के रूप में अपने चार चिकित्सकों की साधना कर ली थी। इस प्रकार सुर-वैद्य (अश्विनी कुमार) तो स्वयमेव ही आधे रह गये (अश्विनी कुमार दो हैं)। आने वाले दोनों व्यक्ति दण्डवत् करते हुए (अथवा साष्टांग प्रणाम करते हुए) चरणों में गिर पड़े और दोनों (राम तथा लक्ष्मण) ने क्रमशः भरत तथा शत्रुघ्न को ऊपर खींच कर अपने हृदय से लगा लिया। उनका (भरत तथा शत्रुघ्न का) नेत्र-नीर सीता-चरणामृत बना (उनके आँसू सीता के चरण पखारने लगे) और राम तथा लक्ष्मण ने अपने नेत्रों के निर्मल (अश्रु) जल से उनका राज्याभिषेक कर दिया।

'वाल्मीकि रामायण' में :

जटिलं चीरवसनं प्रांजलिं पतितं भुवि।
ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा॥
कथंचिद्भिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम्।
भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह बाहुना॥
आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवः।

(श्री रामचन्द्र ने जटाजूट धारण किये और चीर पहिने भरत जी को हाथ जोड़, पृथ्वी पर पड़ा हुआ देखा; मानों प्रलयकालीन दुर्दर्श सूर्य तेजहीन हो पृथ्वी पर पड़ा हो। बड़ी कठिनाई से विवर्ण मुख और अत्यन्त दुबले-पतले भाई भरत को पहचान कर श्री रामचन्द्र जी ने उन्हें दोनों हाथों से पकड़ कर उठाया। इसके अनन्तर उन्होंने भरत का मस्तक सूंघ कर उन्हें छाती से लगा लिया।)❀

'अध्यात्म रामायण' में :

तदाभिदुद्राव रघूत्तमं शुचा हर्षाच्च तत्पादयुगं त्वराग्रहीत्॥
रामस्तमाकृष्य सुदीर्घबाहुर्दोर्भ्यां परिष्वज्य सिषिंच नेत्रजैः।
जलैरथांकोपरि संन्यवेशयत् पुनः पुनः संपरिषस्वजे विभुः॥

(उन्हें देखते ही श्री भरत जी ने दौड़ कर हर्ष और शोकयुक्त हो तुरन्त उनके दोनों चरण पकड़ लिये। बड़ी भुजाओं वाले श्री रामचन्द्र जी ने अपनी दोनों बाहुओं से उन्हें उठाकर आलिङ्गन किया और उन्हें गोद में बैठा कर अपने आँसुओं से सींचते हुए बारम्बार हृदय से लगाया।)†

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग १००, श्लोक १ से ३।

† अध्यात्म रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ९, श्लोक ६, ७।

'रामचरितमानस' में :

सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष सोक सुख दुख गन॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥
उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
*भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥**

'रामचन्द्रिका' में :

रघुपति के चरनन सिर नाये।
उन हँसि कै गहि कंठ लगाये॥†

और 'साकेत सन्त' में :

थे बिम्ब और प्रतिबिम्ब परस्पर सन्मुख,
अवनी अम्बर में उमड़ पड़ा सुख ही सुख॥
"भैया भैया" कह उभय भुजाएं फूलीं,
वक्षस्थल चिपके, कसी लताएं भूलीं।
मन बुद्धि अहं तक एक हुए घुल-मिल कर,
थी एक नीलिमा शेष, कहाँ कुछ अन्तर॥
गिरितरु पर थे जो दो सुपर्ण मन भाये,
थे रूप-रंग में एक, विभिन्न कहाये।
वह कहाँ भिन्नता गयी, एक ही वे थे,
सद्ज्ञान-उषा में तत्व दृगों ने देखे॥
जगमग जगमग जग हुआ, प्रभा यों पाई,
द्विजगण ने जय जय युक्त प्रभाती गाई।
भू की प्रीति-स्फीतियां सुमन मिस छाईं,
रवि-किरणें आशीर्वाद गगन का लाईं॥‡

"रोकर रज में लोटो न भरत ······ ······ यह हार मुझे पहनाओ।"

राम ने कहा, "हे भाई भरत! तुम रो-रो कर इस प्रकार धूल में न लोटो। सुन्दर मुख वाले सुखदायी भरत! तुम (मेरे हृदय से लग कर) मेरी

* रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

† रामचन्द्रिका, दसवां प्रकाश, छन्द २७।

‡ 'साकेत सन्त', सर्ग ११, पृष्ठ १२६।

छाती ठण्डी करो। अपने हृदय रूपी मानसरोवर के ये मूल्यवान् मोती (आँसू) इस प्रकार (व्यर्थ) न बिखेरो। आओ और इन आँसुओं की माला मुझे उपहार के रूप में भेंट करो (मैं उस माला को अपने हृदय पर धारण करूँगा)।"

"हा आर्य, भरत का भाग्य रजोमय ···· ···· ओर न देखा-भाला !"

भरत ने कहा, "हाय आर्य ! भरत का भाग्य तो रजोमय (धूल युक्त अथवा पापमय) ही है क्योंकि हृदय रहते हुए भी तुमने ही तो उसे पृथ्वी (शासन) प्रदान की है। तुमने उस जड़ जननी कैकेयी के विकारपूर्ण वचन का तो पालन कर लिया परन्तु इस सेवक की ओर तनिक भी न देखा !"

राम ने भरत से कहा था :

> *रोकर रज में लोटो न भरत, ओ भाई ,*
> *यह छाती ठंडी करो सुमुख सुखदायी ।*

परन्तु भरत को भी तो राम से यही शिकायत है। राम ने *'उर'* (हृदय) के बदले भरत को *'उर्वी'* (धरती या धूल) दी है फिर भला वह (राम के हृदय पर से अधिकार छिन जाने के कारण राम की) छाती ठंढी कैसे करें, उनके उर से कैसे लगें ? और (भाई द्वारा दी जाने वाली वस्तु) रज में कैसे न लोटें ?

उर तथा *उर्वी* और *जननी* तथा *जन* में आलंकारिक चमत्कार (यमक) होने के अतिरिक्त अर्थ तथा भावगत सौन्दर्य भी प्रचुर मात्रा में है। राम ने 'उर' रहते भरत को 'उर्वी' दी है। वास्तव में भरत राम का उर—उनका हृदय-दुलार—ही पाना चाहते रहे हैं। राम ने हृदय होने पर भी मानो हृदयहीनतापूर्वक भरत का वास्तविक अधिकार उन्हें न देकर अत्यन्त तुच्छ वस्तु उर्वी (राज्य) उन्हें दे दी। फलतः भरत के पास रज में लोटने के अतिरिक्त और चारा ही क्या है ?

भरत को राम से दूसरी शिकायत यह है कि उन्होंने अपने जन की तो उपेक्षा की, उसकी समुचित देखभाल न की और इस प्रकार अपने आश्रित की उपेक्षा करके स्वामी के नाते अपना कर्तव्य न निबाहा और *जड़ जननी* का विकारपूर्ण वचन मान लिया।

"ओ निर्दय, कर दे यों न ··· ···· कर्त्तव्य मिला है रूखा !"

राम ने भरत से कहा, "अरे निर्दयी ! यह कह कर मुझे निरुत्तर न कर (इस प्रकार मुझसे बोलने की ही शक्ति न छीन)। अरे भाई, क्या तुझे यही कहना उचित है ? राम तो सदा ही भरत-भाव का भूखा रहा है परन्तु उसे

तो रूखा (शुष्क) कर्त्तव्य ही मिला है (राम ने जो कुछ किया, विवशतावश ही किया है, स्वेच्छापूर्वक नहीं)।"

भरत की शिकायत में एक भाई का सन्तप्त हृदय छिपा है इसीलिए तो वह इतनी तीव्र है, इतनी प्रखर कि राम उसे सहने में असमर्थ हैं। राम का प्रेम भरत-भाव का भूखा है परन्तु उनके भाग्य में तो रूखा कर्तव्य ही लिखा है और प्रेम तथा कर्त्तव्य में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि :

कोमल है बस प्रेम कठिन कर्त्तव्य है।

इतने में कलकल हुआ वहाँ .... लिया गृही गुनियों को।

इतने में वहाँ सब ओर जय-जयकार का शब्द गूँज गया। गुरु-जनों के साथ अयोध्यावासी, पञ्च तथा मन्त्री उसी ओर चले आ रहे थे। घोड़े, हाथी और रथ आदि सब अपना-अपना शब्द सुनाते हुए बढ़े आ रहे थे मानों उन सबने अपने खोये हुए प्राण फिर से प्राप्त कर लिए हों। जिस चित्रकूट को सम्पूर्ण अयोध्या खोजने आयी थी, उसने आज अनोखी शोभा प्राप्त कर ली थी। श्री राम ने स्वयं आगे बढ़कर पहले वसिष्ठ आदि मुनियों को प्रणाम किया, फिर आदरपूर्वक गुणवान गृहस्थियों (अयोध्यावासियों आदि) का स्वागत किया।

जिस पर पाले का एक पर्त .... हुई जड़ रसना।

पाले की एक (सफेद) तह से ढकी हत (चोट खाये हुए अथवा मृत-तुल्य) कमलों तथा ठहरे हुए (स्तब्ध) जल वाली सरसी (छोटी तलैया) के समान सफेद वस्त्र पहने, आभूषण रहित माँ को (विधवा-वेश में) देखकर प्रभु श्री राम सिहर उठे और उनकी वाक्-शक्ति जाती-सी रही (वह कुछ भी न बोल सके)।

'वाल्मीकि रामायण' में भरत राम को महाराज दशरथ की मृत्यु का समाचार सुनाते हैं* और अध्यात्म रामायण† तथा 'रामचरितमानस' में वसिष्ठ। 'साकेत' में राम को यह समाचार नहीं दिया जाता। वह तो माँ को विधवा-वेश में देख कर ही सब कुछ समझ जाते हैं। "राम के मन पर सित-वसना, हत-श्री, निराभरण विधुरा रानी के दर्शन का जो प्रभाव पड़ा, उसको ज्यों का त्यों पाठक के मन पर उतार देने के लिए कवि को वस्तुओं की संश्लिष्ट योजना करनी पड़ी है। पाले

---

* साकेत, सर्ग ५।

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग १०१, श्लोक ५, ६।

‡ अध्यात्म रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ९. श्लोक १२, १३।

का पर्त्त श्वेत आकर्षण-शून्य साड़ी की कितनी सुन्दर व्यंजना करता है— और शिशिर की सरसी द्वारा ओहता कौसल्या (जिसके मानस की सभी तरंगें निश्चेष्ट हो गयी थीं) के फोटो में तो रि-टचिंग की भी आवश्यकता नहीं रह गयी।''※

'रामचरितमानस' में—

देखीं राम दुखित महतारी।
जनु सुबेलि अवली हिम मारीं॥

''हा तात'' कहा चीत्कार ···· ··· ···· ··· लगे उसी क्षण रोने ।

माँ को उस वेश में देखकर राम ने चीख कर इतना ही कहा, ''हा तात !'' उसी समय सीता और लक्ष्मण भी रोने लगे।

महाराज दशरथ की मृत्यु का समाचार पाकर 'वाल्मीकि रामायण' में :

प्रगृह्य बाहू रामो वै पुष्पिताग्रो यथा द्रुमः।
वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह॥
तथा निपतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम्।
कूलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुंजरम्॥

(श्री रामचन्द्र जी दोनों हाथ मलते हुए फरसे से काटे हुए पुष्पित वृक्ष की तरह पृथ्वी पर गिर पड़े। जगत्पति श्री रामचन्द्र जी पृथ्वी पर ऐसे मूर्छित पड़े थे मानों कोई मतवाला हाथी नदी का तट ढहाते-ढहाते थक कर पड़ा हुआ सो रहा हो।)†

'रामचरितमानस' में :

नृप कर सुरपुर गवनु सुनावा। सुनि रघुनाथ दुसह दुखु पावा॥
मरन हेतु निज नेहु बिचारी। भे अति बिकल धीर धुर धारी॥
कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। बिलपत लखन सीय सब रानी॥‡

और 'साकेत सन्त' में :

सुनकर भूपति का निधन, दुःख से व्याकुल,
हो उठे राम रघुनाथ परम करुणाकुल।
सीता लक्ष्मण के संग मंडली सारी,
हो गई व्यथा में व्यथित, गाज सी मारी॥¶

※ साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ १६६।

† वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग १०२, श्लोक २४।

‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

¶ साकेत सन्त, सर्ग ११, पृष्ठ १३४।

उमड़ा माओं का हृदय हाय .... तुम्हीं को रट कर।"

यह कहते हुए मानों माताओं का हृदय ही फटकर उमड़ पड़ा, "हे पुत्र! वह तो तुम्हारा नाम रटते-रटते ही सदा के लिए चुप हो गये।"

"जितने आगत हैं रहें .... रहा क्रूर ही कर्मा।"

राम ने कहा, "जो आगत हैं (जिन्होंने इस संसार में जन्म लिया है), वे भला गत-धर्मा क्यों न रहें (उन्हें इस संसार से जाना भी पड़ेगा ही), (इस दृष्टि से तो जन्म और मृत्यु का अनिवार्य सम्बन्ध होने के कारण शोक का कोई विशेष कारण नहीं है) तथापि मैं उनके (पिता के) प्रति कुछ कठोर तथा निर्दय ही रहा (मैं निर्दयता तथा कठोरता पूर्वक उन्हें उस दशा में छोड़ कर यहाँ चला आया, इसीलिए उनकी असमय में ही मृत्यु हो गयी)।

दी गुरु वसिष्ठ ने उन्हें ... ... अनुकरण-योग्य हैं सबके।"

तब कुल-गुरु वसिष्ठ ने सबको धीरज बँधाते हुए कहा, "सर्वव्यापिनी कीर्त्ति प्राप्त करके वह (महाराज दशरथ) अब सभी जगह उपस्थित हैं। महाराज दशरथ केवल अपने जीवन (के ऋण) से मुक्त नहीं हुए, वह तो अपने धन से (अपना धन सौंप कर) संसार को ही अपना ऋणी बना गये हैं। एक अपने जीवन के बदले वह (इस संसार को) चार जीवन (पुत्र) दे गये और अपने वचनों की रक्षा के लिए तुम जैसे योग्य पुत्र को छोड़ कर परलोकवासी हो गये। अतः उनके लिए चिन्ता करना व्यर्थ है। हाँ, सबको उनका स्मरण सदा करते रहना चाहिए क्योंकि वे सबके लिए ही अभिमान तथा अनुकरण के योग्य हैं।"

'रामचरितमानस' के वसिष्ठ ने भरत को सान्त्वना देते हुए कहा था :

सोचनीय नहिं कोसल राऊ। भुवन चारिदस प्रकट प्रभाऊ॥
भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥
बिधि हरि हरु सुरपति दिसि नाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥
कहहु तात केहिं भाँति कोउ, करिहि बड़ाई तासु।
राम लखन तुम्ह सत्रुघन, सरिस सुअन सुचि जासु॥

बोले गुरु से प्रभु .... पत्र-पुष्प-फल-जल है।"

प्रभु श्री रामचन्द्र जी ने आँसुओं से भरे मुख से, हाथ जोड़ कर कुलगुरु से पूछा, "क्या मैं उन्हें इस समय श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सकता हूँ? हाय, पितृदेव प्यासे ही स्वर्ग चले गये।" यह कहते-कहते रामचन्द्र जी का गला

भर आया और हृदय बेचैन हो गया। कुछ समय के मौन के उपरान्त उन्होंने फिर वसिष्ठ जी से कहा, "गुरुदेव, अब तो आप ही मेरे लिए पिता के समान हैं अतः बताइए, इस समय मेरा क्या कर्त्तव्य है ?"

वसिष्ठ जी बोले, "वह भार (पितृ-पद) तो मुझे पहले से ही प्राप्त है। महाराज दशरथ के लिए तो हम जिस समय और जो कुछ भी करें, वह कम ही है।"

राम ने कहा, "भगवन्! इस दास के हृदय में भक्ति-भाव तो अविचल (अखण्ड अथवा अपरिमित) है, (मैं वैसे इस समय करना तो बहुत कुछ चाहता हूँ) परन्तु (वनवासी होने के कारण) मेरे पास तो अर्पित करने के लिए केवल जल, फल, फूल तथा पत्ते ही हैं।"

"हा! याद न आवे उन्हें .... वही भाव सुख होगा।"

कौसल्या अपनी मानसिक व्यथा से दुःखी होकर कहने लगीं, "हाय, उन्हें तुम्हारे वनवास की याद न आवे (यदि तुम पत्र, पुष्प, फल, जल आदि भेंट करोगे तो उन्हें तुम्हारे वनवास की सुधि आ जाएगी और इस प्रकार उन्हें अत्यन्त दुःख ही होगा)।"

कुल-गुरु ने कहा, "हे देवी! इस प्रकार की चिन्ता व्यर्थ है। महाराज तो आज सब दुःखों से दूर हैं और स्वर्गीय भावों से भरे हैं। उन्हें राम-वनवास देखकर दुःख न होगा। इसके विपरीत, उन्हें तो भरत का वही भाव (भ्रातृ-भक्ति) देखकर सुख ही पहुँचेगा।"

गुरु-गिरा श्रवण कर .... सदय बहुत लेखेंगे।"

कुल-गुरु का कथन सुनकर सब गद्गद (भाव-विभोर) से हो गये। तब जल से भरे नद के समान स्नेह से परिपूर्ण होकर श्री रामचन्द्र जी ने कहा—"देव (पितृदेव) पूजा (सामग्री) की ओर न देखकर (इस अभाव से प्रभावित न होकर) भक्ति पर ही ध्यान देंगे। अत्यन्त सदय (दयालु) होने के कारण वे थोड़े (थोड़ी भेंट) को भी (भक्ति-युक्त होने के कारण) बहुत समझेंगे।"

कुछ समय पूर्व श्री राम इस ओर संकेत कर चुके हैं कि उनके हृदय में पिता के प्रति अपार भक्ति होने पर भी इस समय उनके पास अर्पणार्थ केवल 'पत्र-पुष्प-फल-जल' है। तथापि उन्हें विश्वास है कि '*सदय*' होने के कारण देव *पूजा* न देख कर *भक्ति* पर ही ध्यान देंगे और *थोड़े* को बहुत मान लेंगे। 'गीता' में स्वयं श्री कृष्ण ने कहा है:—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(हे अर्जुन, मेरे पूजन में सुगमता भी है कि पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कुछ मेरा भक्त मुझे प्रेमपूर्वक अर्पित करता है, उस शुद्ध बुद्धि, निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र पुष्पादि मैं सगुण रूप से प्रकट होकर प्रीति सहित खाता हूँ।)※

कौसल्या को अब रहा न ···· ··· ···· ···· पोंछ कर दुख से।

अब कौसल्या को मान-परेखा (शिकायत) न रहा तथापि उन्होंने कैकेयी की ओर देखा। कैकेयी अपना गला साफ करके तथा श्री राम के कन्धे पर अपना कंगन (आभूषण) रहित हाथ रख कर बोली "सत्य तो यह है कि श्राद्ध श्रद्धा पर ही निर्भर है, आडम्बर पर नहीं, तथापि तुम्हें किस वस्तु की कमी है (भाव यह कि तुम्हें किसी वस्तु की भी कमी नहीं) अतः गुरु जो भी कहें वही करो।"

यह कहकर कैकेयी ने मानों अपना (हृदय का) भार ही उतार दिया (कुछ सन्तोष का सा अनुभव किया) और फिर उसने सुमित्रा की ओर देखा। सुमित्रा ने आँसुओं से भरे मुख से कहा तो कुछ नहीं परन्तु अत्यन्त दुःख पूर्वक आँसू पोंछ कर सिर हिला कर अनुमति (सहमति) दे दी।

कुल-गुरु के वचनों तथा राम के भक्ति भाव ने कौसल्या को पूर्णतया सन्तुष्ट कर दिया। अब उन्हें कोई शिकायत नहीं तथापि उन्होंने कैकेयी की प्रतिक्रिया जानने के अभिप्राय से उस की ओर देखा। राम का अधिकार, उनकी समस्त भौतिक सम्पदा आज कैकेयी के कब्जे में ही तो है। कैकेयी अब तक चुपचाप बैठी सब कुछ देख, सुन तथा समझ रही थी। अब उसके लिए कुछ कहना अनिवार्य हो गया अतः वह अपना *कंठ परिष्कृत करके* बोली। शोक तथा खेद के कारण कैकेयी का गला रुद्ध-सा हो गया था अतः बोलने से पूर्व उसे अपना गला साफ करना पड़ा परन्तु यहाँ '*कंठ परिष्कृत*' कैकेयी के परिष्कृत हृदय का भी सूचक है। '*अभय वरदान*' माँगती बार भी तो *भरत-सुत-मणि की माँ* ने उसी कंठ का प्रयोग किया था। अस्तु, आज जब वह आत्म शुद्धि करने के लिए, अपने अपराध का दंड स्वीकार करने के लिए, अपने माथे पर लगा यह कलंक धो देने के लिए ही चित्रकूट आयी है तो सबसे पहले हम उसे अपने उसी कंठ का *परिष्कार*

※ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ६, श्लोक २६।

करता पाते हैं। इसके साथ ही वह राम के कंधे पर *निज वलय शून्य कर* रख देती है। आज कैकेयी सर्वथा निराधार है, उसका पति परलोकवासी हो गया है और पुत्र, वह भी पराया-सा हो गया है। वह असहाय है, सर्वथा निरुपाय। अतः वह राम के कंधे पर हाथ रखती है। इस समय उसकी आशाओं का एकमात्र केन्द्र राम हैं। राम के कंधे पर इस तरह हाथ रखकर कैकेयी मानों स्वेच्छापूर्वक ही उनके सामने आत्म-समर्पण-सा कर देती है।

कैकेयी राम से कहती है—

"है श्रद्धा पर ही श्राद्ध, न आडम्बर पर,
पर तुम्हें कमी क्या, करो, कहें जो गुरुवर।"

'पर तुम्हें कमी क्या' इन चार-शब्दों में ही कैकेयी मानों सब कुछ कह देती है, उसने राम से जो कुछ छीना था, उसे कई गुना करके राम को लौटा देती है। उसके हृदय का भार इसी प्रकार तो उतर सकता था!

अस्तु, अपने इस कथन द्वारा कैकेयी ने *राम-माता* को तो सन्तुष्ट करने का प्रयत्न कर लिया परन्तु वह *'लक्ष्मण-जननी'* की भी तो अपराधिनी है! अतः दूसरे ही क्षण वह सुमित्रा की ओर देखती है। सुमित्रा को इस समय कुछ नहीं कहना, कुछ नहीं लेना-देना अतः *सिंही सदृश क्षत्रियाणी* ने दुःखपूर्वक अपने नेत्र पोंछ कर *सिर से ही अनुमति दे दी*।

कौसल्या को *मान-परेखा* न रहा, कैकेयी ने *निज भार* उतार दिया और सुमित्रा ने *'सिर से अनुमति दे दी'* फलतः परस्पर भेद-भाव उत्पन्न करने वाली अस्थायी चट्टानें खील-खील होकर बह गयीं और एक बार फिर महाराज दशरथ की तीनों रानियाँ उसी दिशा की ओर बढ़ चलीं जहाँ—

त्रिवेणी तुल्य रानियाँ तीन,
बहातीं सुख-प्रवाह नवीन!

"जो आज्ञा" कह प्रभु घूम ···· ···· ··· ··· कार्य सब जब लौं।

(माताओं तथा गुरु के आदेश शिरोधार्य करके) श्री राम ने कहा "जो आज्ञा"। फिर वह घूमकर (लक्ष्मण की ओर देखकर) छोटे भाई से बोले, अपने सरल स्वभाव वनेचरों (वनवासियों) में से कुछ चुने हुए व्यक्ति साथ लेकर तुम यहाँ सबका उचित आदर सत्कार करो। मैं उधर अपने आवश्यक काय सम्पन्न करता हूँ।"

यह कह सीता-सह नदी तीर ···· ··· ··· ··· दिया आपको चुनके।

लक्ष्मण को यह समझा कर प्रभु श्री रामचन्द्र जी सीता को साथ लेकर

नदी (मंदाकिनी) के तट पर आये। इस समय श्री राम तथा सीता जी इस प्रकार शोभायमान हो रहे थे मानों वे स्वयं सद्धर्म तथा श्रद्धा हों। उधर परिवार के सदस्य तथा अयोध्यावासी (उनके प्रति) विश्वास के मूर्तिमन्त स्वरूप थे और लक्ष्मण ने अपने-आप को चुने हुए फल के समान भेंट कर दिया।

राम और सीता क्रमशः सद्धर्म तथा श्रद्धा के समान हैं। सद्धर्म तथा श्रद्धा का अभिन्न सम्बन्ध है। विश्वास श्रद्धा-युक्त धर्म का अनुयायी है और 'विश्वासो फलदायकः।'

पट मंडप चारों ओर तनें .... बेर कलेवा देवा !"

(देखते-ही-देखते) वहाँ चारों ओर मनोहर पट-मंडप (शामियाने) तन गये जिन पर आम, महुआ, नीम, जामुन तथा बड़ के पेड़ छाया कर रहे थे। ऐसा जान पड़ता था मानों चित्रकूट ने (पट-मंडपों के रूप में) बहुत-से कटि-पट (कमर से नीचे लपेटा जाने वाला वस्त्र) पा लिये हों अथवा नये बादलों ने वहाँ घिर कर उसे घेर लिया हो। एक ओर पेड़ों के तने (हाथियों को बाँधने के लिए) खूँटे बने, दूसरी ओर, हाथियों की जंजीरों ने उन पेड़ों के लिए कंगन का-सा रूप धारण कर लिया। (पेड़ों से) टूटने वाले पत्ते जब घोड़ों के शरीर पर गिरे तो (उनके सारे शरीर पर, फुरहरी-सी आ गयी और उन्होंने दृष्टि घुमा कर (आश्चर्य के साथ) इधर-उधर देखा। पल भर में ही वहाँ एक नवीन बस्ती बस गयी। सब लोग यही अनुभव कर रहे थे मानों वे अपने ही घर में हैं (सबको घर जैसे समस्त सुख प्राप्त हो गये)। वहाँ ऐसी दुकानें भी लग गयीं, जहाँ प्रत्येक मनुष्य बिना कुछ मूल्य चुकाये ही इच्छानुसार जो चाहे ले सकता था। कोल-भील आदि वनेचर विविध कन्द-मूल तथा फल लाते थे और सब लोगों तक वे फल पहुँचा कर उनका प्रेम प्राप्त कर रहे थे। (तथापि वे लोग विनम्रतावश यही कहते थे कि) "हम वनचारी तो फल-पुष्पों से ही आपकी सेवा कर सकते हैं, हे देव! यहाँ तो महुवा ही मेवा है और बेरों से ही कलेवा (जलपान) किया जाता है (यहाँ नगर के स्वादिष्ट तथा विविध व्यंजन उपलब्ध नहीं हैं)।"

'रामचरितमानस' में—

कोल किरात भिल्ल बनबासी। मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी॥
भरि भरि परनपुटीं रचि रूरी। कंद मूल फल अंकुर जूरी॥
सबहि देहिं करि विनय प्रनामा। कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा॥

देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं॥
कहहिं सनेह मगन मृदु बानी। मानत साधु पेम पहिचानी॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसनु राम प्रसादा॥

यह जियँ जानि सँकोचु तजि, करिअ छोहु लखि नेहु।
हमहि कृतारथ करन लगि, फल तृन अंकुर लेहु॥

तुम्ह प्रिय पाहुने बन पगु धारे। सेवा जोगु न भाग हमारे॥
देब काह हम तुम्हहि गोसाँई। ईंधनु पात किरात मिताई॥

चित्रकूट के '*नव-उपनिवेश*' का चित्र संक्षिप्त होकर भी सर्वथा पूर्ण है। '*पट मण्डप*', '*गज अश्व*' तथा '*हाट*' चित्रकूट की अपनी वस्तुएँ नहीं, बाहर से—(वन्य वातावरण की अपेक्षा नागरिक जीवन की ही प्रतीक हैं) नगर में से यहाँ आयी हैं, तथापि ये सब वस्तुएँ मानों अपना अन्तर, विभेद नष्ट करके चित्रकूट के शान्ति-प्रधान वातावरण में विलीन-सी हो गयी हैं। चित्रकूट ने भी इस 'विदेशी' वातावरण को अपने रंग में रंग कर अपना ही बना लिया है। अस्तु, यहाँ 'पट मंडपों' पर विविध वृक्षों की छाया है। प्रस्तुत शिविर में हाथी भी हैं, घोड़े भी, तथापि यह कोई सैनिक शिविर नहीं है। इस वातावरण में उग्रता अथवा हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं; यहाँ तो पट-मंडप या तो चित्रकूट के '*बहु कटिपट*' (वन्य जीवन को नागरिक जीवन को वही देन जिसकी ओर संकेत करते हुए सीता ने कहा था—'तुम अर्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में, आओ, हम कातें-बुनें गान की लय में।' हैं अथवा तप्त-भूतल को शान्त करने वाले '*नूतन घन*'। इसी प्रकार वृक्ष तथा हाथियों ने एक-दूसरे का स्वागत करके परायापन मिटा-सा दिया है (वृक्षों ने हाथियों को सहारा दिया है— अपने तनों को खूँटों के रूप में प्रस्तुत किया है और हाथियों ने मानों प्रसन्न होकर उन्हें जंजीर के रूप में कंगन पहना दिये हैं)। यहाँ नगर जैसी दूकानें अवश्य लग गयी हैं परन्तु क्रय-विक्रय की उस प्रणाली का यहाँ पालन नहीं हो रहा जिसका माध्यम मुद्रा है। यहाँ 'ले लें उसमें जो वस्तु जिन्हें हो लेना' परन्तु उसके लिए किसी को कुछ देना नहीं पड़ता। वन्य और नागरिक जीवन के विविध उपकरण यहाँ इतने सहज रूप से एकाकार हुए हैं कि सम्पूर्ण चित्र को अस्त-व्यस्त किये बिना उन्हें अलग-अलग किया ही नहीं जा सकता।

उस ओर पिता के भक्ति-भाव ···· ···· ··· ···· खिली धूप की धूनी।

उधर, श्री रामचन्द्र जी ने पिता के प्रति अनन्य भक्ति पूर्वक अपने ही हाथ से समस्त आवश्यक सामग्री जुटा कर मुनियों के बीच में बैठकर

समुचित विधि-विधान से इस प्रकार श्राद्ध किया जैसे विवश अपराधी स्वयं दंड चुकाता है (दंड भोगता है)। होम की शिखा (लपट) दुगुनो उज्ज्वल हो गयी (दुगुने वेग से प्रज्वलित हो गयी)। सुगन्धित सामग्री (धूप) की धूनी भी धीरे-धीरे बहने वाली हवा में मिलकर खिल-सी उठी। इस प्रकार मानों पुत्रों (के हृदय) में अनन्य तथा अघटित (यथापूर्व) प्रेम (भाव) पा (देख) कर पिता (महाराज दशरथ) की आत्मा ने अपना परितोष (तृप्ति) प्रकट कर दिया।

'वाल्मीकि रामायण' में :

शीघ्रस्रोतसमासाद्य तीर्थं शिवमकर्दमम्।
सिषिचुस्तूदकं राज्ञे तत्रैतत्ते भवत्विति॥
ततो मन्दाकिनीतीरात्प्रत्युत्तीर्य स राघवः।
पितुश्चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभिः सह॥

(तदनन्तर उस कीचड़ रहित और शीघ्र बहने वाली तथा कल्याणप्रद मंदाकिनी नदी के घाट पर पहुँच और—"यह जल आपको मिले" कहकर महाराज दशरथ को जलांजलि देने लगे। उसके उपरान्त श्री रामचन्द्र जी ने भाइयों सहित मंदाकिनी के तट से ऊपर आकर (स्वयं बेर फलों को इंगुदी के आटे में मिला कर-- उससे पिंड बना कर) महाराज को पिंड दिये।*

'अध्यात्म रामायण' में—

ततो मन्दाकिनीं गत्वा स्नात्वा ते वीतकल्मषाः॥
राज्ञे ददुर्जलं तत्र सर्वे ते जलकांक्षिणे।
पिन्डान्निर्वापयामास रामो लक्ष्मणसंयुतः॥

(सब लोग मन्दाकिनी में स्नान करके पवित्र हुए, वहाँ सब ने जलकांक्षी महाराज दशरथ को जलांजलि दी तथा लक्ष्मण जी के सहित श्री रामचन्द्र जी ने पिंड दान किया।)†

'रामचरितमानस' में

सहित समाज सुसरित नहाए॥
ब्रत निरंबु तेहिं दिन प्रभु कीन्हा।
मुनिहु कहें जलु काहुँ न लीन्हा॥

---

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या०, सर्ग १०२, श्लोक २५, २८।
† अध्यात्म रामायण, अयोध्या०, सर्ग ६, श्लोक १७–१८।

भोरु भएं रघुनंदनहिं, जो मुनि आयसु दीन्ह।
श्रद्धा भगति समेत प्रभु, सो सबु सादर कीन्ह॥
करि पितु क्रिया बेद जसि बरनी।
*भे पुनीत पातक तम तरनी॥**

'रामचन्द्रिका' में—

धरि चित्त धीर, गये तीर।
शुचि ह्वै शरीर, पितु तर्पि नीर॥†

'साकेत सन्त' में—

सुर-सरिता के तट सभी गये दुख-कातर,
दी वहाँ तिलांजलि और फिरे दुख से घर।
सबने निरम्बु व्रत किया और दिन बीता,
हा! कठिन काल को कहाँ किसी ने जीता॥‡

'साकेत' के राम भक्तिभाव से '*अपने हाथों*' उपकरण इकट्ठे करके इस प्रकार श्राद्ध-सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करते हैं

ज्यों दंड चुकावे आप अवश अपराधी

राम '*अपराधी*' हैं। महाराज दशरथ ने उनके वियोग में ही तो प्राण त्यागे। राम वन में न आते तो इस प्रकार महाराज की अकाल मृत्यु न होती। अस्तु, राम को यह स्वीकार करने में तो संकोच नहीं कि वह अपराधी हैं तथापि वह स्वेच्छाचारी अपराधी न होकर—'*अवश*' अपराधी ही हैं। उन्होंने परिस्थितियों से विवश होकर ही वह अपराध किया। इसी विवशता के कारण वह उचित समय पर स्वयं पिता की अन्त्येष्टि क्रिया भी न कर सके। अस्तु, आज तो मानो राम अपना अपराध स्वीकार करके आप ही दण्ड चुका रहे हैं। दूनी प्रज्वलित शिखाएँ और मन्द पवन में मिल कर सर्वत्र खिल जाने वाली धूप का धूनी इस बात को साक्षी हैं कि पिता की आत्मा पुत्रों के अटल प्रेम से सर्वथा परितुष्ट हो गयी है।

अपना आमंत्रित अतिथि मान कर .... पवन उपवन ज्यों।

चित्रकूट में आये हुए सब लोगों को अपना निमन्त्रित अतिथि मानकर प्रभु श्री रामचन्द्र जी ने पहले उन्हें भोजन से तृप्त करके बाद में बन्धु

* रामचरितमानस, अयोध्याकांड।
† रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, प्रकाश १०, छन्द ३२।
‡ साकेत-सन्त, सर्ग ११, पृष्ठ १३४।

बान्धवों के साथ मिलकर स्वयं इस प्रकार भोजन किया जैसे उपवन मन्द पवन का सेवन करता है।

'आमन्त्रित अतिथि' : राम ने अयोध्यावासियों को निमन्त्रण नहीं दिया था। वे लोग स्वेच्छा से ही अकस्मात् वहाँ आ गये थे। तथापि राम उन्हें अनामंत्रित अतिथि (Uninvited guest) मान कर उन्हें अपने लिए भार–रूप नहीं मानते। वह तो उनका उसी प्रकार आतिथ्य करते हैं मानो स्वयं उन्हीं ने अयोध्यावासियों को चित्रकूट में निमन्त्रित किया हो।

'पहले परोस परितृप्ति–दान कर सबको' : अतिथि सत्कार हमारी संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। 'पहले परोस....' में भारतीय शिष्टाचार का समुचित निरूपण है।

तदनन्तर बैठी सभा उटज के ··· ··· ··· ··· भयातुरों के थे वे।

इसके उपरान्त कुटी के सामने सभा जुड़ी। (उस समय) नीले चँदोवे (आकाश) के नीचे बहुत से दीपक (तारे) जगमगा रहे थे! वे (तारे) उन देवताओं के अपलक नेत्र थे जो (चित्रकूट में आयोजित इस सभा के) निर्णय के लिए अत्यन्त उत्सुक थे और भय तथा आतुरता पूर्ण थे। (देवता यही चाहते थे कि राम वन में रहकर देव-कार्य सम्पन्न करें। इसी लिए वह इस परिषद् का निर्णय सुनने को आतुर थे। उन्हें भय था कि कहीं राम अयोध्या न लौट जावें)।

उत्फुल्ल करौंदी-कुंज वायु रह रह ··· ···· ···· ···· भंग हुआ ज्यों सपना।

प्रफुल्लित करौंदी-कुंज में से धीरे-धीरे आती हुई हवा अपनी महक से सबको पुलकित कर रही थी। वह चन्द्रलोक था, वैसी चाँदनी और कहाँ? प्रभु श्री राम ने समुद्र की भाँति गम्भीर स्वर में कहा, "हे श्रेष्ठ भरत, अब अपना अभीप्सित (हार्दिक इच्छा) बताओ।" यह सुनकर सब लोग इस प्रकार सजग (सावधान) हो गये मानों उनका स्वप्न टूट गया हो (सब लोग भाँति-भाँति के विचारों तथा सम्भावनाओं में निमग्न थे, प्रभु-गिरा श्रवण करके वे सावधान से हो गये।

"हे आर्य, रहा क्या भरत अभीप्सित ··· ··· तुम्हीं अभीप्सित मेरा?"

(राम ने भरत से उनका अभीप्सित पूछा। भरत उत्तर देते हैं) "हे आर्य! जब भरत को अकंटक निर्विघ्न) राज्य मिल गया तब भी क्या उस का कुछ और अभीप्सित शेष रह गया? तुमने वनवासी होकर पेड़ के नीचे

बसेरा कर लिया अब भी क्या मेरा कुछ अभीप्सित बाकी रह गया? (पुत्र-वियोग में संतप्त पिता ने तड़प-तड़प कर अपना शरीर त्याग दिया, अभी क्या मेरा कुछ और अभागा अभीप्सित बाकी रहा? हाय! इसी अपयश के लिए (इस प्रकार बदनाम होने के लिए) ही मेरा जन्म हुआ था? जन्म देने वाली माँ के हाथ से ही मेरी हत्या होनी थी! जिसका घर (परिवार) ही भ्रष्ट (दूषित अथवा पतित) हो गया उसका तो मानों सारा संसार ही नष्ट हो गया। हे आर्य! अब किसका क्या अभीप्सित शेष रहा? स्वयं मुझे ही अपने से अपार घृणा हो गयी है। (ऐसी दशा में अब) हे आर्य! तुम्हीं मेरा अभीप्सित बता दो?"

महर्षि वाल्मीकि के राम भरत से पूछते हैं :

किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं त्वया।
यस्मात्त्वमागतो देश मिमं चीर जटाजिनी॥
यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः।
हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत्सर्वं वक्तुमर्हसि॥

("हे भरत! तुम चीर, जटा और मृगचर्म धारण कर, इस वन में आये हो, इसका कारण मुझे सुनाओ। तुम राज्य छोड़ कर काले मृग का चर्म ओढ़ और जटा धारण करके जिस लिये यहां आये हो वह सब मुझे बताओ।")❀

भरत का उत्तर है :

आर्यं तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
गतः स्वर्गं महाबाहुः पुत्रशोकाभिपीडितः॥
स्त्रिया नियुक्तः कैकेय्या मम मात्रा परन्तप।
चकार सुमहत्पापमिदमात्मयशोहरम्॥
सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्षिता।
पतिष्यति महाघोरे निरये जननी मम॥
तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि।
अभिषिंचस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिव॥....
तदानुपूर्व्यां युक्तं च युक्तं चात्मनि मानद।
राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान्सुहृदः कुरु॥ ...
एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या०, सर्ग १०४, श्लोक २, ३।

("हे आर्य, महाराज पिता जी मेरी माता कैकेयी के कहने में आ, दुष्कर कर्म कर और पुत्र शोक से विकल हो, स्वर्गवासी हुए। हे परन्तप, मेरी माता कैकेयी ने अपने यश को नष्ट करने वाला यह महापाप कर डाला है सो वह मेरी माता राज्य रूपी फल को न पाने के कारण शोकाकुल और विधवा हो, घोर नरक में गिरेगी। यद्यपि मैं कैकेयी का पुत्र हूँ, तथापि आपका दास हूँ सो आप मुझ पर प्रसन्न होकर आज ही अपना राज्याभिषेक करावें और इन्द्र की तरह राज्य सिंहासन पर विराजें ··· हे मानद, आप ज्येष्ठ होने के कारण राज्य पाने के अधिकारी हैं और आप ही को राज-गद्दी पर बैठना उचित भी है। अतएव धर्मानुसार राज्य-भार ग्रहण कर सुहृदजनों की कामना पूरी कीजिए ···मैं आपका केवल भाई ही नहीं हूँ, प्रत्युत शिष्य और दास भी हूँ। सो मैं इन मन्त्रियों सहित आपको प्रणाम कर आप से यह भिक्षा मांगता हूँ या प्रार्थना करता हूँ, अतः आप इस प्रार्थना पर ध्यान दें।")※

'विदेह' में इस संसद् के अध्यक्ष महर्षि वसिष्ठ हैं, वह भरत से कहते हैं :

"हे भरत ! तुम्हें भी कहना है कुछ, तो बोलो"
तब कहा भरत ने उठ कर करुणा के स्वर से—
"हे मुनि महान ! हे राम और पुर-जन उदार !
वाणी मेरी हो रही मौन
मैं क्या बोलूँ !
आँसू के पारावार उमड़ते हैं दृग में क्या कहूँ हाय,
अवरुद्ध कंठ से कोई क्या कह पायेगा ?
लज्जा से मेरा मस्तक अब तक उठ न सका
अपराधी के मुख पर मुस्कान नहीं आती
कपटी न न्याय के सम्मुख कुछ कह पाता है
इतना ही मैं कह सकता हूँ, मैं दोषी हूँ
माता पर दोष लगाने वाला मानव होता है पापी
जो उड़ी एक चिनगारी लोभी-इच्छा से
वह मेरे मस्तक पर ही आकर बैठ गई
माँ ने सचमुच सपना देखा
हो गया भरत सपने में ही सम्राट् स्वयं
पर मैं था दूर, सुदूर हाय

※ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग १०४, श्लोक ५ से ८, १०, १२।

जब मैं आया तो आँख खुली प्रिय माता की
मैं आया हूँ अपने भाई को लौटाने
लौटा कर ही जाऊँगा अपने जीवन में
यदि वे न लौट पायेंगे तो मैं भी विचरूँगा वन में ही
हैं राज मुकुट से अधिक प्रेममय मुझे राम
जिस माता की इच्छा से राम यहाँ आये
उस माता की इच्छा से ही वे चलें लौट
जब स्वार्थ सामने आता है
दुर्बल मानव का ज्ञान लुप्त हो जाता है
पर ज्ञान पुनः जब मिल जाता
चेतना मनुज की जग जाती
माँ आई है चेतना लिये—निर्मलता का सत्यान्त लिये
साकेत-राज्य का भरत नहीं अधिकारी है
अधिकारी केवल श्रेष्ठ राम
दिन को जब बादल ढँक ले तो वह रात नहीं
इस लिए राम लौटें वन से
*औ' मैं ही वन में रहूँ स्वयं !**

'साकेत' के भरत माता अथवा पिता की अनावश्यक निन्दा अथवा ('विदेह' के भरत की भाँति) मां की वकालत-सी नहीं करते। राम का प्रश्न "हे भरत भद्र, अब कहो अभीप्सित अपना" भरत के हृदय में एक तीर की तरह चुभ जाता है। भरत के हृदय में पुंजीभूत ग्लानि एवं आत्म-भर्त्सना का वेग एक बार फिर उमड़ पड़ता है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में, "भरत के उत्तर में ग्लानि, करुणा, स्नेह, दैन्य और आवेश का सम्मिलित प्रवाह बह रहा है। भरत की परिस्थिति बड़ी दयनीय है। उनका हृदय कचोट खा कर तड़प उठता है, ग्लानि का दर्शन उनको बेचैन कर देता है। कवि भरत के अन्तर में अपने अन्तर को ढाल कर एकाकार हो गया है। ऐसे भाव-प्रवण चित्रों के अंकन में सबसे बड़ी आवश्यकता है वातावरण के सृजन की। कवि ने यह कार्य अद्‌भुत कौशल के साथ किया है। भरत '*अभीप्सित*' शब्द को पकड़ लेते हैं और उसकी पुनरावृत्ति उनके भावावेश को तरल बना देती है। ऐसा प्रतीत होता है मानों भरत '*अभीप्सित*' शब्द को पकड़ कर आवेश के आवर्त में चक्कर लगा रहे हों, और वह डूबता उतराता हुआ उनकी शक्ति को

* विदेह, पोद्दार रामावतार अरुण, सर्ग ६, पृष्ठ १५२, ३।

विफल कर रहा हो। अन्त में "हे आर्य, बतादो तुम्हीं अभीप्सित मेरा" कह कर वे विवश हो प्रवाह में बह जाते हैं।"

प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर ··· ···· ··· जान न पाई जिसको !"

प्रभु श्री रामचन्द्र जी ने भाई को अपने हृदय से चिपटा लिया और फिर विनोदपूर्वक उन्हें अपने नयन-जल से सींचते हुए बोले, "उसकी आकांक्षा की थाह किसे मिल सकती है (उसकी अभिलाषा की गहराई का अनुमान कौन लगा सकता है) जिसे जन्म देने वाली माता ही न जान (समझ सकी)।"

राम के ये शब्द एक ओर तो भरत का आवेग शान्त करते हैं, दूसरी ओर कैकेयी को भी मनचाहा अवसर प्रदान कर देते हैं।

"यह सच है तो अब लौट चलो ···· ···· ··· अनुताप न करने पाऊँ ?"

कैकेयी ने राम को सम्बोधित करके कहा, "यदि यह सत्य है (कि भरत की जननी भी उसे जानने में असमर्थ रही) तो अब तुम घर लौट चलो।" कैकेयी का यह अटल स्वर सुन कर सब चौंक पड़े और सबने अचानक रानी की ओर देखा। उस समय विधवा रानी ऐसी जान पड़ रही थी मानों कोहरे से ढकी चाँदनी। कैकेयी देखने में तो बिलकुल निश्चल बैठी थी परन्तु उसके मन में सहस्रों भाव लहरियाँ उठ तथा मिट रही थीं। वह सिंहनी अब गोमुखी गंगा (के समान शीतल तथा पवित्र) थी।

कैकेयी ने फिर कहा, "हाँ, (यह सत्य है कि) भरत को जन्म देकर भी उसे समझ पाने में मैं असमर्थ ही रही। सब यह बात सुन लें, स्वयं तुमने अभी यह स्वीकार किया है। यदि यह सत्य है तो भैया घर लौट चलो। हे तात ! मैं, तुम्हारी माँ, तुम्हारी अपराधिनी हूँ। कसम खाना दुर्बलता का ही द्योतक है परन्तु अबलाओं (बलहीन नारियों) के लिए कसम खाने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या है ? (अतः मैं शपथ खाकर कहती हूँ कि) यदि मुझे वे वरदान माँगने के लिए भरत ने उकसाया हो तो मुझे पति की भाँति पुत्र से भी हाथ धोना पड़े। ठहरो, मुझे रोको नहीं, मैं इस समय जो कुछ कहूँ वह शान्तिपूर्वक सुन लो। यदि तुम्हें उसमें कुछ सार (ग्रहण करने योग्य बात) दिखाई दे तो उसे ग्रहण कर लो। पहाड़ जैसा पाप करके मैं मौन ही रह जाऊँ ? इतने बड़े पाप के लिए राई भर भी (तनिक भी) अनुताप (पश्चात्ताप) न करूँ ?"

'वाल्मीकि रामायण' में, चित्रकूट में कैकेयी उपस्थित अवश्य है (अयोध्या०, सर्ग ८३, श्लोक ६) परन्तु उसका स्वर यहाँ सुनाई नहीं देता। और सब लोग भी उसकी ओर से उदासीन ही हैं। भरत ही उसका उल्लेख करते हुए राम से कहते हैं :

प्रोषिते मयि यत्पापं मात्रा मत्कारणात्कृतम् ॥
क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान्मम ।
धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम् ॥
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दंडार्हां पापकारिणीम् ।

(मेरे विदेश में रहते समय मेरी इस नीच माता ने जो पाप मेरे लिये किया है, वह मेरे लिए अनिष्टकारक है (अथवा मुझे इष्ट नहीं है) अतः आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों। क्या करूँ मैं धर्म बन्धन से बँधा हूँ नहीं तो मैं इस माता को, जो पाप करने वाली होने के कारण दंड पाने योग्य है कठोर दंड देकर मार डालता।)*

'अध्यात्म रामायण' में चित्रकूट में कैकेयी भी उपस्थित है। भरत-राम-वार्तालाप में तो इसका कहीं संकेत नहीं मिलता परन्तु राम की चरण-पादुका लेकर भरत के विदा होने के समय कैकेयी एकान्त स्थान में जाकर नेत्रों में जल भर कर हाथ जोड़ कर श्री रामचन्द्र जी से कहती है :

.... हे राम तव राज्यविघातनम् ॥
कृतं मया दुष्टधिया मायामोहितचेतसा ।
क्षमस्व मम दौरात्म्यं क्षमासारा हि साधवः ॥
त्वं साक्षाद्विष्णुरव्यक्तः परमात्मा सनातनः ।
मायामानुषरूपेण मोहयस्यखिलं जगत् ॥
त्वयैव प्रेरितो लोकः कुरुते साध्वसाधु वा ॥
त्वदधीनमिदं विश्वमस्वतन्त्रं करोति किम् ।
यथा कृत्रिमनर्तक्यो नृत्यन्ति कुहकेच्छया ॥
त्वदधीना तथा माया नर्तकी बहुरूपिणी ।
त्वयैव प्रेरिताहं च देवकार्यं करिष्यता ॥
पापिष्ठं पापमनसा कर्माचरमरिन्दम ।
अद्य प्रतीतोऽसि मम देवानामप्यगोचरः ॥
पाहि विश्वेश्वरानन्त जगन्नाथ नमोऽस्तु ते ।
छिन्धि स्नेहमयं पाशं पुत्रवित्तादिगोचरम् ॥
त्वज्ज्ञानानलखड्गेन त्वामहं शरणं गता ।

* वाल्मीकि रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग १०६, श्लोक ८ से १०।

("हे राम, माया से मुग्ध हो जाने के कारण मुझ कुबुद्धि ने तुम्हारे राज्याभिषेक में विघ्न डाल दिया सो तुम मेरी इस कुटिलता को क्षमा करना क्योंकि साधुजन सर्वदा क्षमाशील होते हैं। आप साक्षात् विष्णु भगवान्, अव्यक्त परमात्मा और सनातन पुरुष हैं। अपने मायामय स्वरूप से आप समस्त संसार को मोहित कर रहे हैं, आपकी ही प्रेरणा से लोग शुभ अथवा अशुभ कर्म करते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व आप ही के अधीन है, स्वतन्त्र न होने के कारण यह स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार कठपुतलियां बाजीगर की इच्छानुसार नाचती हैं, उसी प्रकार नाना आकार धारण करने वाली यह मायारूपिणी नटी आप ही के अधीन है। हे शत्रुदमन, देवताओं का कार्य सिद्ध करने की इच्छा वाले आप ही के द्वारा प्रेरित होकर मुझ पापिनी ने अपनी दुष्ट बुद्धि से यह पाप-कर्म किया था। आज मैंने आपको जान लिया। आप देवताओं के भी मन और वाणी आदि से परे हैं। हे विश्वेश्वर, हे अनन्त, आप मेरी रक्षा कीजिए। हे जगन्नाथ, आपको नमस्कार है। हे प्रभो, मैं आपकी शरण हूँ। आप अपने ज्ञानाग्नि रूपी खड्ग से मेरे पुत्र और धन आदि के स्नेह-बन्धन को काट डालिये।)※

'रामचरितमानस' में राम चित्रकूट में पहले कैकेयी से ही भेंट करते हैं :

प्रथम राम भेंटी कैकेयी। सरल सुभाय भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥†

इस प्रकार यहां भी कैकेयी के हृदय के भाव प्रकट नहीं हो पाते। केवल

गरइ गलानि कुटिल कैकेयी।
काहि कहै केहि दूषनु देई॥

लिखकर गोस्वामी जी ने कैकेयी की 'ग्लानि' की ओर संकेत भर कर दिया है।

'साकेत' का कवि कैकेयी को अनुताप करने का अभूतपूर्व अवसर प्रदान करता है। "पर तुम्हें कमी क्या करो कहें जो गुरुवर" कह कर कैकेयी इससे पूर्व ही अपना भार उतारने का सफल प्रयत्न कर चुकी है। वह पूर्णतया तैयार होकर ही चित्रकूट में आयी है। वात्सल्य की अविचल दीप-शिखा आज भी उसके हृदय में प्रदीप्त है, आत्माभिमान ने आज भी उसका पल्ला नहीं छोड़ा है, अपने मातृत्व पर आज भी उसे अपार गर्व है, परन्तु यह सब होने पर भी उसने परिस्थिति की

※ अध्यात्म रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग ६, श्लोक ५५ से ६२।

† रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

गहनता को भी समझ लिया है, अपनी भूल भी स्वीकार कर ली है। उसे अपने अपराध का आभास हो गया है और वह उस भूल का परिहार करने का भी निश्चय कर चुकी है। वह *अटल* स्वर में कहती है :

यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को

यदि कैकेयी अपने ही *जात* को समझ न पायी है तो उसका अपराध भी अज्ञान प्रसूत है, अनजाने में ही हो गया है।

कैकेयी का कथन सुन कर सब चौंक जाते हैं। कैकेयी से यह आशा किसे थी ? अचानक सबका ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। कवि गिने परन्तु चुने हुए शब्दों में कैकेयी का चित्र उतारता है :

वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा

कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ हमारे कवि की तूलिका सवाक् हो उठी है।

अगली एक पंक्ति में कैकेयी की मनःस्थिति का अंकन है :

बैठी थी अचल तथापि असंख्यतरंगा

अचल कैकेयी के शरीर की अविचलता के अतिरिक्त उसकी मानसिक दृढ़ता का भी द्योतक है। *असंख्यतरंगा* द्वारा तो इस समय कैकेयी के नेत्रों के सामने झूलते भूत, वर्तमान तथा भविष्य के समस्त चित्र एक ही शब्द में संकलित कर दिये गये हैं।

कैकेयी आज वह *सिंही* नहीं है जो :

न पा कर मानों आज शिकार
*...... सोती थी सविकार**

आज तो वह *गोमुखी गंगा* है, सर्वथा निर्मल, निर्विकार, शान्त तथा शीतल।

कैकेयी जन कर भी भरत को न समझ सकी। आज यही असमर्थता उसकी शक्ति है। वह राम के कथन को ही आधार बनाती है। जब राम स्वयं कैकेयी की इस असमर्थता, दुर्बलता से परिचित हैं तो फिर घर लौट चलने में आपत्ति ही क्या है ? एक साथ ही वात्सल्य, करुणा, दीनता और अनुरोध भरे स्वर में वह राम से कहती है :

यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन हूँ मैं तात, तुम्हारी मैया।

---

* साकेत, सर्ग २।

दुर्बलता का ही चिन्ह विशेष शपथ है,
पर अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है?
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ!

"आवेश यहाँ अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच गया है। रानी की शपथ में निराशा की आग है। कैकेयी की सबसे बड़ी विभूति और उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता भी है उसका मातृत्व, उसके लिए तो "पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ" कहना गहनतम मानसिक व्यथा का परिचायक है। माता सब कुछ सह सकती है, परन्तु पुत्र की मृत्यु की चर्चा उसके लिए असह्य है। मातृत्व की अन्तिम परीक्षा आज भी यही है। साधारण माता भी इस परीक्षा से बचने का प्रयत्न करती है। कैकेयी उन्मत्त हो रही है, वह कहती ही जाती है, "ठहरो, मत रोको मुझे, कहूँ सो सुन लो।" उसका आवेश अवस्था, बुद्धि, धैर्य, मर्यादा सभी को लाँघ कर बह निकला है। उक्त शपथ वह जान-बूझ कर खाती है। उसके दो कारण हैं: १. भरत के चरित्र-गौरव की रक्षा, २. अपने हृदय को दण्ड देने का विचार। एक ओर वह भरत की कलङ्क-कालिमा को धो डालने के लिए व्यग्र है तो दूसरी ओर उसे अपने पहाड़ से पाप का पूर्ण अभिज्ञान है, वह उसी के लिए अनुताप करना चाहती है।"*

थी सनक्षत्र शशि निशा ओस टपकाती ... ... खेद भरती थी।

निस्तब्ध रात्रि में चन्द्रमा तथा नक्षत्र ओस टपका रहे थे (रो रहे थे) नीचे धरती पर नीरव (निःशब्द अथवा मौन) सभा हृदय थपका कर रो रही थी। उल्का की भाँति कैकेयी उस अन्धकार में प्रकाश-सा बिखेर रही थी और उन लोगों में भय, आश्चर्य तथा खेद का संचार कर रही थी।

"यहाँ कवि ने वाह्य वातावरण के साथ सभा की मनोदशा का तादात्म्य दिखलाकर भावों की गति को और भी तीव्र कर दिया है। गहरे काले अँधेरे में उन्मादिनी रानी उल्का के समान चमक रही है, उधर उसके ज्वलन्त शब्द सभा के हृदय में घनीभूत अन्धकार को चीरते हुए, भय और विस्मय का संचार कर रहे हैं। भावों की गहनता और परिस्थिति की गम्भीरता द्विगुण हो जाती है।"*

'क्या कर सकती थी, मरी मन्थरा ... ... महा स्वार्थ ने घेरा।"

कैकेयी ने फिर कहा, "मरी (तुच्छ) मन्थरा दासी भला क्या कर सकती थी? (मुझे क्या भड़का सकती थी?) मेरा ही मन अपना विश्वास न कर सका (मुझमें ही आत्मविश्वास का अभाव हो गया था)।" उसी

* साकेत, एक अध्ययन।

मन को सम्बोधित करके वह कहती है, "उस समय वे जलते हुए (जला देने वाले) विचार स्वयं तुझमें ही तो उत्पन्न हुए थे अतः अरे पञ्जर-गत (हड्डियों के पिंजरे अथवा ढाँचे में बन्द हृदय) अरे अभागे तथा अब बेचैन होने वाले हृदय, तू जल जा। परन्तु क्या उस समय मेरे हृदय में केवल जलाने वाला भाव (जलन) ही था (क्या मेरे हृदय में उस समय और कुछ बाकी न रहा था?) एकमात्र वात्सल्य, क्या तेरा कुछ भी मूल्य नहीं? परन्तु आज तो मेरा बच्चा भी पराया-सा हो गया है। तीनों लोकों के वासी मुझ पर भले ही थूकें (चाहे जितना तिरस्कार करें) जो कोई जो कुछ भी कह सकता (अथवा कहना चाहता) है, अवश्य कहे, उसे कौन रोक सकता है? परन्तु मुझसे भरत का मातृपद न छीना जाए। हे राम! और मैं तुझसे क्या दुहाई (विनय) करूँ? अब तक तो मनुष्य यही कहा करते थे कि पुत्र कुपुत्र हो सकता है, माता कुमाता नहीं होती। अब लोग भाग्य (परम्परा) से विरुद्ध यह बात कहा करें कि माता भले ही बुरी हो परन्तु पुत्र पुत्र (सुपुत्र) ही हैं। मैंने भरत का वाह्य मात्र ही देखा। मैंने इसका कोमल शरीर तो देखा परन्तु दृढ़ हृदय की ओर कभी ध्यान न दिया। मैंने पूर्णतया अपना स्वाथ-साधन करने का ही प्रयत्न किया, दूसरों के हित का ध्यान न रखा। हाय! इसीलिए तो आज यह बाधा (विपत्ति) सामने आयी। युग-युग तक यह कठोर कहानी कही-सुनी जाती रहे कि रघुकुल में भी एक भाग्यहीन रानी थी। अपने प्रत्येक जन्म (जन्म-जन्मान्तर) में मेरा जीव (आत्मा) यही सुने कि 'धिक्कार, उस रानी को अत्यधिक स्वार्थ ने घेर लिया था'।"

कैकेयी आज अपने अतिरिक्त किसी को दोषी नहीं मानती। उसकी दृष्टि में तो 'द्विजिह्वा' तथा 'अनुदार' मन्थरा भी आज सर्वथा निर्दोष है। *'मरी मन्थरा दासी'* भला क्या कर सकती थी? दुर्भाग्य की बात तो यह हो गयी कि उस समय उनका मन ही *विश्वासी* न रह सका। उसके विश्वास ने ही उसका साथ छोड़ दिया था। कैकेयी ने उस समय भी इस सत्य की ओर संकेत किया था:

अरे विश्वास, विशृंब विख्यात
किया है किसने तेरा घात...?※

अस्तु, उसके ही मन ने उसके साथ शत्रुता की थी। उसमें ही तो वे *ज्वलित भाव* जागे थे। आज वह उस *अधीर* मन को ढाढस बँधाने के बदले इस *अभागे*

※ साकेत, सर्ग २।

को जला कर राख कर देना चाहती है। उसी समय उसे ध्यान आता है कि क्या उस समय उनके मन में केवल ज्वलित भाव ही थे। नहीं, वहाँ तो *वात्सल्य मात्र* था :

नहीं है कैकेयी निर्बोध,
पुत्र का भूले जो प्रतिशोध
कहें सब मुझको लोभासक्त,
किन्तु सुत, तू जो तू न विरक्त! —सर्ग २

× ×

भरत की माँ हो गयी अधीर। —सर्ग २

× ×

भरत-सुत-मणि की माँ मुद मान,
माँगने चली अभय वरदान। —सर्ग २

× ×

पुत्र-स्नेह धन्य उनका,
हठ है हृदय-जन्य उनका। —सर्ग ४

× ×

मां ने पुत्र-वृद्धि चाही —सर्ग ४

× ×

चुप, अरे चुप, कैकयी का स्नेह,
जान पाया तू न निस्सन्देह। —सर्ग ७

× ×

क्या लिया बस है यहीं सब शल्य,
किन्तु मेरा भी यहीं वात्सल्य! —सर्ग ७

परन्तु आज तो उसका *वत्स* भी *अन्य-सा* हो गया है। उसका हृदय हा-हाकार कर उठता है। वही हुआ जो वह न चाहती थी। उसका सुत भी विरक्त हो गया। वह निरवलम्ब हो गयी। परन्तु इस विषम परिस्थिति में भी वह अपने हृदय की उस मूल्यवान निधि को नष्ट नहीं होने देती। सारे संसार का तिरस्कार, तीनों लोकों की भर्त्सना उसे स्वीकार है परन्तु वह *भरत का मातृपद* आज भी नहीं छिनने देगी। इसके लिए वह दुहाई करने, भीख माँगने के लिए भी तैयार है।

एक बात अवश्य है। कैकेयी ने अब तक अपने पुत्र का *बाह्य-मात्र* ही देखा था। वात्सल्यमयी माँ की दृष्टि उसके *मृदुल गात्र* तक ही सीमित रही थी, *दृढ़ हृदय* तक न पहुँच सकी थी। इसीलिए तो यह *बाधा* सामने आगी। कैकेयी का हृदय रो उठता है। उसका यह कलंक समय के प्रवाह से भी न मिट सकेगा। वह चाहती भी यही है कि *युग युग तक* यह कहानी कही-सुनी जाती रहे कि—

रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी

यहाँ '*भी*' शब्द द्रष्टव्य है। सब प्रकार के ऐश्वर्य तथा सुख सम्पत्ति पूर्ण रघुकुल में भी एक भाग्यहीन रानी थी। इस जन्म में ही नहीं, कैकेयी को तो जन्म-जन्म में यह सुनना पड़ेगा कि—

धिक्कार ! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा !

कैकेयी के मुख से यह शब्द कहला कर 'साकेत' के कवि ने युग-युग से कैकेयी के माथे पर लगा कलंक धोने का सफल प्रयत्न किया है।

"सौ बार धन्य वह एक लाल की ···· ··· ···· ··· एक लाल की माई।"

राम ने कहा, "जिस माता ने भरत जैसे भाई को जन्म दिया है वह एक लाल की माँ (धिक्कारने योग्य न होकर) सौ (सैंकड़ों) बार धन्य है।"

पागलों की तरह सारी सभा ने भी चिल्ला कर श्री राम के ही शब्द दोहराते हुए कहा, "वह एक पुत्र की माता सौ बार धन्य है!"

"ये पंक्तियाँ साधारण प्रतीत होती हैं, परन्तु वास्तव में इनसे पता चलता है कि कवि में मानव-हृदय के रहस्यों में प्रवेश करने की अतुल क्षमता है। इस समय रानी की परिवेदना और ग्लानि चरमावस्था को पहुँच चुकी थी। उसका परितोष करना साधारणतया असम्भव-सा था। परन्तु राम उसकी दुर्बलता को जानते हैं, अतः इधर-उधर मरहम-पट्टी न करके ठीक उसके घाव का ही उपचार करते हैं। इसीलिए उनके शब्दों में उसके मातृत्व को फिर से उद्दीप्त करने की सफल चेष्टा है। मैं समझता हूँ कि उस परिस्थिति में कैकेयी को इन शब्दों से बढ़कर और किसी बात से शान्ति नहीं मिल सकती थी। इनका प्रभाव अनिवार्य था।"*

"हा ! लाल ? उसे भी आज गमाया ······ ···· ··· कौन दंड है मेरा ?

कैकेयी बोली, "हा! लाल? आज तो वह भी मुझसे छिन गया है। यहाँ (इस जीवन अथवा संसार में) मैंने तो भयंकर अपयश ही कमाया है।

* साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ९२।

उसी एक लाल पर मैंने स्वर्ग भी निछावर कर दिया और तुम जैसे पुत्र का अधिकार भी तुमसे छीन लिया था परन्तु वही पुत्र आज दीन होकर रो रहा है। पकड़े हुए हरिण को भाँति आज वही सबसे शंकित-सा हो रहा है। चन्दन के समान शीतल वही मेरा एक लाल आज अङ्गारे की तरह गरम हो उठा है। इससे बढ़ कर मेरे लिए और क्या दण्ड होगा?"

राम और उनके साथ ही सारी सभा ने कैकेयी को यह कह कर शान्त करना चाहा था कि "भरत जैसे *एक* पुत्र की माता भी *सौ बार धन्य* है परन्तु कैकेयी का *वह* पुत्र भी आज *पराया-सा* हो गया है। वही पुत्र, जिसके सुख के लिए उसने अपने लोक-परलोक को निछावर कर दिया, कभी न मिटने वाला कलंक अपने माथे पर लगाया, राम *तक* से उनका अधिकार छीन लिया, वही आज दीन होकर रो रहा है! आज वह सबसे डर रहा है, बन्दी हरिण की भाँति। कैकेयी का *श्रीखण्ड* आज *अङ्गार चण्ड* बन गया है। कैकेयी की सबसे अधिक मूल्यवान् निधि उससे छिन गयी। इससे बड़ा *दण्ड* उसके लिए और क्या हो सकता है?

पटके मैंने पद-पाणि मोह के नद ··· ···· ···· दया दंड से भारी।

कैकेयी ने कहा, "मैंने स्वयं ही अपने हाथ तथा पैर मोह की नदी में पटके। मनुष्य स्वप्न अथवा मद (मतवालापन) में क्या नहीं करते? हा! मेरे लिए कौन-सा दण्ड है, अब भला मैं दण्ड से क्या डरूँगी? तब भी मेरा विचार (मेरे अपराध का दण्ड-निर्धारण) तनिक दयापूर्ण ही हो। दया! वह घृणा! वह करुणा! आज तो मुझे गंगा और यमुना वैतरणी (यम के द्वार पर बहने वाली नदी) के समान जान पड़ती हैं। श्रेष्ठ विचारक सुन लें मैं चिरकाल तक नरक का दुःख सह सकती हूँ परन्तु मेरे लिए स्वर्ग की दया तो (नरक-वास के) दण्ड से भी अधिक कठोर है।"

कैकेयी ने जो कुछ किया *मोह-मद* अथवा *स्वप्न* में किया, जान-बूझ कर नहीं किया तथापि वह आज अपने अपराध का दण्ड सहने के लिए प्रस्तुत है। आज वह बड़े-से-बड़े दण्ड से भी नहीं डरती। तथापि वह चाहती है कि—

मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी

कैकेयी अपना दण्ड हलका करने के लिए दया की याचना नहीं करती, दयनीयता अथवा दीनता-वश दयापूर्ण विचार करने के लिए प्रार्थना नहीं करती। वह भली प्रकार जानती है कि *दया*, वही दया जिसमें *घृणा* तथा *करुणा* का समावेश है, उस के लिए *आज कठोरतम दण्ड* है। भरत ने भी तो कहा था:

घोर नरकानल चिरन्तन चंड,
किन्तु वह तो है यहाँ हिम खंड।
× ×
जी, द्विरसने हम सभी को मार,
कठिन तेरा उचित न्याय विचार।
मृत्यु? उसमें तो सहज ही मुक्ति,
भोग तू निज भावना की भुक्ति!
× ×
हाय मारोगे किसे हे तात,
मृत्यु निष्कृति हो जिसे हे तात!
छोड़ दो इसको इसी पर वीर... *

लेकर अपना यह कुलिश-कठोर कलेजा ··· ···· पद्म कोष है मेरा।

"मैंने अपना वज्र के समान कठोर कलेजा लेकर इसी भरत के लिए तुम्हें वनवास दिलाया। अब इस प्रकार न रूठो। मैं कुछ और कहूँगी तो उसे सब क्यों सुनेंगे (क्यों विश्वास करेंगे)? मुझे यह प्यारा है और इसे तुम प्यारे हो, इस प्रकार तुम मेरे लिए दुगुने प्रिय हो गये अत: तुम मुझसे अलग न रहो। मैं भले ही इसे न पहचान सकी हूँ परन्तु तुम तो इसे पूर्णतया पहचानते हो। तुम तो इसे अपने से भी अधिक महत्व देते हो। तुम भाइयों का पारस्परिक प्रेम यदि इस प्रकार सब लोगों के सामने प्रकट हुआ है तो यह पाप-दोष (कुकृत्य के कारण लगने वाला कलङ्क) भी पुण्य की भाँति सन्तोषप्रद ही है। मैं कीचड़ की भाँति मलिन भले ही रहूँ परन्तु मेरा पुत्र कमल के समान निर्मल है।

कैकेयी के इस कथन में *भावना* और *तर्क* का अपूर्व संगम है। कैकेयी भरत को नहीं जानती परन्तु राम जानते हैं, इतना ही नहीं, वह तो भरत को *अपने से भी पहले* मानते हैं। तब तो उन्हें भरत के लिए ही घर लौटना चाहिए। कैकेयी स्वयं भी हृदय से यह चाहती है कि राम लौट चलें परन्तु वह यह बात कहे भी तो उस पर भला कौन विश्वास करेगा:

कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों?

अस्तु, वह भरत का अवलम्बन लेकर ही राम से घर लौट चलने के लिए अनुरोध करती है। कैकेयी को भरत प्रिय हैं और भरत को राम। अत:

* साकेत, सर्ग ७।

मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझसे न्यारे।

भरत और राम का प्रेम आदर्श है, अभूतपूर्व है। यदि कैकेयी के कुकर्म से उनके पारस्परिक प्रेम की अभिव्यक्ति में कुछ सहायता मिली है, वह इतने भव्य रूप में संसार के सामने प्रकट हो सका है

तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा।

भरत की निर्मलता पर प्रकाश डालने के लिए कैकेयी स्वयं पंकिला बनी रहने के लिए भी प्रस्तुत है।

'साकेत-संत' की कैकेयी राम से कहती है :

"मैं हतभागिन अब क्या माँगूँ, माँग, माँग का सेंदुर मेटा।
विनय यही है, अब हम सबकी लाज तुम्हारे हाथों बेटा॥
चलो दया कर अवध, भरत को प्राणों का मिल जाय सहारा।
मुझे विदित है मुझ से कितना अधिक भरत है तुमको प्यारा॥
साथ सबों के यदि न चलोगे, आज द्वार पर धरना दूँगी।
इन पापी प्राणों को धारण कर घर में क्यों और मरूँगी॥
प्रायश्चित्त करूँगी वन में, जिससे क्षमा तुम्हारी पाऊँ।
तुम 'माँ' कह मुझसे फिर लिपटो, मैं 'लल्ला' कह बलि बलि जाऊँ॥ *

आगत ज्ञानी जन उच्च भाल ले ले कर .... दुर्वृत्ति यहाँ फलती है।"

कैकेयी ने कहा, "यहाँ अनेक ज्ञानी पुरुष आये हुए हैं। वे अपना मस्तक ऊँचा करके अपनी अतुल युक्तियों से तुम्हें समझावें। हे बेटा! मेरे पास तो एक अधीर (विकल) हृदय ही है और उसी हृदय ने तुम्हें आज जी भर कर भेंट (हृदय से लगा) लिया है। सदा देवताओं की ही नहीं चलती (उनकी इच्छा तथा प्रेरणा के अनुसार ही कार्य नहीं होते)। यहाँ (इस ससार में) कभी-कभी राक्षसों की बुरी भावनाएँ (राक्षसिक अथवा दुष्टतापूर्ण विचार) भी पल्लवित हो जाती हैं।"

कैकेयी राम के सामने अकाट्य तर्क उपस्थित करती है। तथापि वह यही कहती है कि तर्क उपस्थित करने के लिए उसने कुछ नहीं कहा। यह काम तो वहाँ एकत्रित *ज्ञानी-जन* का है। वे *उच्च भाल ले-ले कर* अपनी *अतुल युक्तियाँ* देंगे। कैकेयी के पास कोई अतुल युक्ति नहीं है फिर उसका भाल कैसे ऊँचा हो? उसके पास तो एक *अधीर हृदय* है। उसी ने आज राम को जी भर कर अपने से चिपटा लिया है।

---

* साकेत-सन्त, सर्ग १३, पृष्ठ १६२।

कैकेयी का यह *अधीर हृदय* 'साकेत' की कैकेयी की सबलतम तथा प्रबलतम युक्ति है।

हँस पड़े देव केकयी-कथन यह ··· ··· दैत्य सिर धुन कर !

(कैकेयी ने कहा था कि इस संसार में सदा देवताओं की सद्वृत्तियाँ ही नहीं, कभी-कभी राक्षसों की दुर्वृत्तियाँ भी फलती हैं।) कैकेयी का यह कथन सुनकर देवता हँस पड़े और दैत्य व्याकुल होकर तथा सिर पीट-पीट कर रोने लगे।

देवता तथा दैत्य भी इस सभा के निर्णय के प्रति आतुर हैं :

टकटकी लगाये नयन सुरों के थे वे ,
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे वे।

"छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का ···· ···· वही इसे जानेगा ।"

कैकेयी ने कहा, "भाग्य ने मुझे अपयश दिलाने के लिए मेरे साथ छल किया, उसी भाग्य ने मुझे अपनी भूल मान लेने के लिए पर्याप्त शक्ति भी प्रदान कर दी। विनाश की ओर ले जाने वाले अब वे समस्त बन्धन कट चुके हैं। मैं अब वही (वर-याचना से पहले वाली) कैकेयी हूँ और तुम मेरे वही राम हो। प्रायः अँधेरी आधी रात होने पर जीजी कौसल्या मुझे पुकार कर कहती थीं, "कुहुकिनि (मायाविनी) अपना कुहुक (जादू) सम्हालो। यह राम जाग गया है, अपनी मंझली माँ का स्वप्न देख कर उठ कर भाग खड़ा हुआ है।" मैंने व्यर्थ ही भरत पर सन्देह किया जाने का भ्रम किया। उस समय भय का स्थान प्रतिहिंसा (बदले की भावना) ने ले लिया। यदि भरत की ओर से तुम्हारे प्रति ऐसी भ्रान्ति देखती तो मैं उसे मनाने के लिए ही यहाँ न आती। उस समय तो जीजी (कौसल्या) ही आतीं। परन्तु इन सब बातों पर कौन विश्वास करेगा ? जो सबके हृदय की बात जानने वाला है वही इन बातों पर विश्वास करेगा।

जिस *भाग्य* ने कैकेयी के साथ *छल* करके उसे अपयश दिलाया उसी ने भूल मान लेने के लिए आवश्यक *बल* भी दे दिया। *नाश के प्रेरे* सब *पाश* कट जाने पर—

मैं वही कैकेयी, वही राम तुम मेरे।

और यह कहते-कहते मानों कैकेयी 'समय का व्यवधान हटा' अतीत के उन सुमधुर क्षणों में जा पहुँचती हैं जब शिशु-राम रात को *मँझली माँ का स्वप्न*

देखकर उठ भागते थे। यह कुहुकिनी का कुहुक—जादूगरनी का जादू ही तो था! राम ने सदा मँझली माँ के स्वप्न देखे हैं तो कैकेयी ने भी राम को *भरत से अधिक* माना है। उसका यह कथन अक्षरशः सत्य है कि—

तुम पर भी ऐसी भ्रान्ति भरत से पाती,
तो उसे मनाने भी न यहाँ मैं आती।

"*हे अम्ब, तुम्हारा राम जानता है ··· ···· खेद मानता है कब?*"

राम ने उत्तर दिया, "हे माता! तुम्हारा राम यह सब (तुम्हारे हृदय की समस्त भावनाएँ) भली प्रकार जानता है। इसीलिए वह (किसी बात का बुरा नहीं मानता) किसी भी बात से दुःखी नहीं होता।"

"*क्या स्वाभिमान रखती न कैकेयी रानी ··· तुम्हीं भाव-धन मेरा।*

कैकेयी ने राम से कहा, "क्या कैकेयी रानी स्वाभिमान नहीं रखती? (क्या कैकेयी के हृदय में आत्माभिमान का अभाव है?) अपने ऊँचे कुल का गर्व करने वाला कोई भी व्यक्ति मुझे इस प्रश्न का उत्तर दे दे (भाव यह है कि मेरे हृदय में भी अपने उच्चकुल के प्रति अपार गर्व तथा अपरिमित स्वाभिमान है)। तुम्हारी माँ क्या कोई अपमान सह लेती? परन्तु आज वही सर्वथा असहाय हो गयी है। मैं सरल क्षत्राणी तो स्वाभाविक रूप से ही अत्यन्त मानिनी रही हूँ। इसीलिए इस वाणी ने दीनता नहीं सीखी (दया की भीख माँगना मेरे स्वभाव के ही प्रतिकूल है) परन्तु आज तो मेरा मन बहुत ही अधिक दीन हो गया है। हे भावज्ञ राम! तुम ही मेरा भाव-धन सम्हालो।"

कैकेयी के हृदय में अपार *स्वाभिमान* था या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर वह *उच्चकुल मानी* से चाहती है। साधारण जन इस प्रश्न का उत्तर कैसे दे सकते हैं? कैकेयी तो अपने ऊँचे वंश पर अधिक-से-अधिक गर्व करने वाले व्यक्तियों से ही अपने स्वाभिमान की परख कराना चाहती है। *राम की माता* कैकेयी कभी भी *अपमान* न सहती। विषमतम परिस्थितियों में भी उसने कभी पराजय स्वीकार न की परन्तु आज वह सर्वथा निरवलम्बा हो गयी है। इसीलिए तो आज उसे स्वाभाविक आत्माभिमान त्याग कर स्वभाव-विरुद्ध *दीनता* का आश्रय लेना पड़ रहा है। दीन होकर भी व निर्धन नहीं। आज भी उसके पास *भाव-धन* है। हाँ, इस धन को सहेजने के लिए राम जैसे पारखी, *भावज्ञ*, की आवश्यकता है।

समुचित ही मुझको विश्व-घृणा ने ··· ··· लिये इस उर को!

"यह अच्छा ही हुआ कि मुझे सब ओर से संसार की घृणा ने घेर

लिया। मेरा कौन-सा भ्रम मुझे शान्तिपूर्वक अपनी भूल समझा सकता था ? ऐसे ही तुम वन में चले आये तथा महाराज स्वर्गवासी हो गये और मैं अपना यह हृदय लिए बैठी ही रह गयी।"

कैकेयी समझती है कि यदि सम्पूर्ण विश्व की घृणा उसे सब ओर से न घेर लेती तो उसका मोहान्धकार कभी दूर न हो पाता, उसके भ्रम का निवारण कभी न होता। उस *भ्रम* के कारण ही (अथवा अकारण ही)—यों ही—राम वनवासी हुए और महाराज दशरथ स्वर्गवासी। उधर कैकेयी अपना कुलिश कठोर उर लिए बैठी यह सब देखती ही रह गयी।

बुझ गयी पिता की चिता ···· ··· दिखा सकूँ यह मुख मैं।

"हे भरत की भुजा धारण करने वाले (भरत को सहारा देने वाले), तुम्हारे पिता की चिता तो बुझ गयी परन्तु तुम्हारी पितृभूमि आज भी तप रही है। तुम घर लौट कर उसका भय तथा शोक दूर करो और हे सुचरित (सुचरित्र अथवा अच्छे कार्य करने वाला) एक बार फिर उसका हृदय शांत करो। वास्तव में तुम्हीं भरत के राज्य हो अतः अब अपना राज्य सम्हालो। मैं तो धर्म-पालन न कर सकी परन्तु तुम तो अपने धर्म का पालन करो। मैं अपने पति को जीवित अवस्था में सुख न पहुँचा सकी परन्तु मर कर तो मुख दिखा सकूँ (मरने से पहले कोई ऐसा काम तो कर लूँ जिससे मरने के बाद मुँह दिखाने योग्य हो सकूँ)।

"चित्रकूट में दुःख और सुख के मिश्रित आवेग का एक सागर उमड़ उठा है जिसमें कैकेयी का कलङ्क कच्चे रङ्ग के समान बह गया है। वास्तव में 'साकेत' के इस प्रसङ्ग का गौरव अक्षय्य है। कवि की भावुकता की सूक्ष्म-ग्राहिणी शक्ति, प्रवणता, उसका विस्तृत अधिकार और प्रवाह अद्भुत है। उसकी मूल प्रेरणा है उपेक्षित—घृणित के प्रति सहानुभूति, जिसका उद्भव महान् आत्माओं में ही सम्भव है। साथ ही यहाँ हमें मानव मनोदशा का गम्भीर अध्ययन, उसके पल-पल परिवर्तित संकल्प-विकल्पों की सूक्ष्म पकड़ मिलती है और मिलती है मौलिक सृजन-क्षमता। कैकेयी का चरित्र उज्ज्वल हो गया है, वह अब कुटिल कैकेयी नहीं रही। वह आज शुभ्रवसना धौतकेशिनी माता है जिसका वात्सल्य अनुकरणीय है।"※

मर मिटना भी है एक हमारी ···· ···· ···· विनय आज यह माता।"

कैकेयी ने राम से कहा, "मर मिटना तो हमारे लिए खेल के समान है परन्तु भरत का कथन है कि मुझे संसार की लज्जा (तिरस्कार) सहनी होगी।

※ साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ६४।

मेरे जीवन-नाटक का यह (लज्जाजनक) अन्त वास्तव में बहुत (कठोर) है। इसके तो प्रस्ताव-मात्र से ही नेत्रों के सम्मुख अन्धकार-सा छा जाता है और धीरज छूट जाता है। हे पुत्र! अब तक मैंने आज्ञा देना ही सीखा था आज तुम्हारी यह माँ तुमसे प्रार्थना कर रही है ···· ···"

'भरत-वाक्य' नाटक का अन्तिम अंश होता है। इसमें नट सामाजिकों अथवा दर्शकों को आशीर्वाद तथा धन्यवाद देता है। सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने स्वर्ग में अभिनीत होने वाले 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नाटक के अन्त में इस प्रकार धन्यवाद दिया था। फिर तो इस प्रकार आशीर्वाद तथा धन्यवाद देने की परम्परा ही पड़ गयी और भरत मुनि के नाम पर ही नट के इस अन्तिम कथन को 'भरत वाक्य' कहा जाने लगा।

कैकेयी के *जीवन-नाटक* का '*भरत वाक्य*' है—*सहूँ विश्व की व्रीड़ा*। उसके पुत्र भरत ने उससे यही तो कहा है! मर-मिटना आसान है। वह तो एक हमारी *क्रीड़ा* मात्र है परन्तु विश्व की व्रीड़ा सहते हुए जीवन का अन्तिम समय बिताना बहुत ही *कठिन* काम है। इसके तो *प्रस्ताव* (कल्पना) मात्र से धैर्य छूट-सा जाता है और सब ओर अँधेरा ही दिखाई देता है। कैकेयी अपने जीवन-नाटक का यह अन्त, यह भरत-वाक्य सहने में सर्वथा असमर्थ है तभी तो *अनुशासन* की अभ्यस्त माता पुत्र से घर लौट चलने के लिए *विनय* कर रही है।

"हा मातः, मुझको करो न यों ··· ···· तुम न तीन में कोई।"

कैकेयी की 'विनय' सुनकर राम ने उन्हें रोकते हुए कहा, "हा माता! तुम मुझे इस प्रकार पाप का भागी न बनाओ। मैं अब तनिक भी बात न सुन सकूँगा (तुम्हें इस विनयपूर्ण स्वर में एक भी शब्द और न कहने दूँगा)। तुम परायी-सी होकर इस तरह क्यों बात कर रही हो? क्या राम तुम्हारा वही मानी पुत्र नहीं? हाय! मुझे विनयपूर्वक मना कर न रुठाओ। मनाने का यह ढङ्ग मुझे रुचिकर नहीं है। यदि मैं नहीं उठता तो तुम स्वयं ही माता होने के नाते मुझे क्यों नहीं उठातीं? हमारे वे बचपन के दिन तो अब समाप्त हो गये हैं। माँ के वे बच्चे मन को भाने वाले बालक ही न बने रह सके। उस समय तुम कभी प्रसन्न होकर (रीझ कर) और कभी झुँझलाहट का-सा भाव प्रकट करके अपना स्नेह अभिव्यक्त किया करती थीं। तुम हँसी में ही स्वयं मुझे रुठा देती थीं और फिर स्नेह-विवश होकर अपने आप ही मना लिया करती थीं। वे दिन अब बीत गये। दुःख के कारण तुम भी जर्जर हो गयीं।

इधर, मैं बड़ा हो गया और इसके साथ-ही-साथ भारी भी हो गया। अब तो तुम तीनों माताओं में से कोई भी मुझे न उठा सकोगी।"

कैकेयी के *अधीर हृदय* ने आज राम को *भुजा भर भेंट* लिया है। राम भी इस समय माँ के साथ वात्सल्य-सागर में ही निमग्न हैं। कैकेयी से बात करते समय राम के सामने अपने शैशव के वे दृश्य आते हैं जब कैकेयी—

तुम रीझ खीझ कर प्यार जनातीं मुझको,
हँस आप रुठातीं, आप मनातीं मुझको।

परन्तु अब तो वे दिन बीत गये, माँ के शिशु *मनचीते शिशु* ही न रह सके। अब तो शिशु बड़े और *भारी* हो गये हैं और माँ *जीर्ण दुःख की मारी*।

"*तुम हलके कब थे? हँसी ··· ···· ···· रोई!*

"तुम हलके कब थे?" यह कह कर रोती हुई कैकेयी सहसा हँस पड़ी।

राम ने कहा था कि बड़े होकर वे भारी हो गये हैं अतः कैकेयी अथवा अन्य माताएँ उन्हें उठा न सकेंगी। कैकेयी का उत्तर है, "तुम हलके कब थे?" राम तो सदा से ही भारी, महान्, गरिमामय रहे हैं। कैकेयी के इन शब्दों में अपूर्व मातृ-गर्व है।

"*माँ, अब भी तुमसे राम विनय ··· ···· ··· राजदूत तो घन पर।*"

राम ने कहा, "माँ! क्या राम अब भी तुमसे विनय चाहेगा (यह पसन्द करेगा कि तुम उससे इस प्रकार विनय करो?) क्या इस प्रकार की इच्छा करके वह अपने आप ही अपने ऊपर पहाड़ गिराएगा? हे माता! (शैशव में तो मैं अज्ञानवश तुम्हें भाँति-भाँति की आज्ञाएँ देता रहा परन्तु अब तो तुम्हारी आज्ञा देने की वारी है और मैं भी धर्म, धनुष तथा धैर्य से युक्त होकर उसका पालन करने के लिए तैयार हूँ। जननी (कौसल्या) ने मुझे जन्म अवश्य दिया परन्तु मेरा पालन तुमने ही किया और प्रयत्नपूर्वक मुझे अपने साँचे में ढाला (अपनी इच्छानुसार मेरा स्वभाव तथा चरित्र-निर्माण किया) अतः हे माता! तुम्हारा आदेश तो मेरे लिए सबसे अधिक स्वीकरणीय है। मैं तुम्हारा सेवक, पुत्र, सुपुत्र तथा प्यार का भैया हूँ। मैंने तुम्हारी आज्ञा मान कर वनवास स्वीकार कर लिया फिर भला तुम्हारी आज्ञानुसार प्रजा-पालन का भार तथा राज-सिंहासन क्यों न लूँगा? परन्तु पहले प्रथम आज्ञा का तो पूरी तरह पालन हो जाए! हे माता! पिता का वह सत्य-व्रत अधूरा न रहे, जिसके लिए उन्होंने प्राण भी त्याग दिये और

मैं भी इसके बाद अपने व्रत तथा नियमों को निबाहूँगा। माँ, भरत का चित्रकूट आना व्यर्थ न रहा। मैंने तुम्हारे कथन को शिरोधार्य कर लिया है। तुम देख ही रही हो कि मैं वन में भी पूरी तरह सन्तुष्ट (सुख-चैन से) हूँ। वास्तविक बात तो यह है कि सुख, धन अथवा धरती (राज्य आदि) में निहित नहीं है, वह तो अपने मन में ही छिपा है (मन में सुख हो तो सर्वत्र सुख है और मन ही दुःखी हो तो धन-धरती युक्त होकर भी मनुष्य दुःखी ही रहता है)। यदि तुम्हें इस सेवक की बात पर विश्वास न हो तो राजदूत तो बादलों पर भी चढ़ सकते हैं (आकाश, पाताल की बात का पता भी लगा सकते हैं! यदि तुम समझती हो कि मैं वन में अपनी सन्तुष्टि का उल्लेख करते समय असत्य कह रहा हूँ तो तुम राजदूत नियुक्त करके इसका निश्चय कर सकती हो)।

राम शैशव में बात-बात पर रूठते रहे हैं। उस समय कैकेयी विनयपूर्वक उन्हें मना लिया करती थीं। परन्तु क्या राम *अब भी* माता से उसी *विनय* की आशा अथवा इच्छा कर सकते हैं! कदापि नहीं। तभी तो कैकेयी के यह कहते ही कि—

करती है तुम से विनय आज यह माता

राम विकल-से होकर कहते हैं :

हा मातः, मुझको करो न यों अपराधी,
मैं सुन न सकूँगा बात और अब आधी।

कौसल्या ने राम को जन्म दिया परन्तु उनका पालन-पोषण कैकेयी ने ही किया। इसीलिए तो आज इस मैया का आदेश राम के लिए *सब के ऊपर* है। राम ने कैकेयी का पहला आदेश शिरोधार्य किया, अब दूसरा भी स्वीकार कर रहे हैं। पहली आज्ञा का पालन करके वह दूसरी का पालन भी अवश्य करेंगे।

"राघव, तेरे ही योग्य कथन है तेरा ···· ·· आप यह कह कर।

"हे राघव! तेरा कथन तेरे ही योग्य है। तू अब भी उतना ही हठी तथा दृढ़ है (जितना बचपन में था)। हम सब प्रकार के कष्टों तथा कठिनाइयों को सह कर भी तेरे लौटने की बाट देखेंगे।" माता कौसल्या यह कह कर चुप हो गयीं।

ले एक साँस रह गई सुमित्रा ···· ···· ···· कहूँ सुनूँगी किससे?"

भोली सुमित्रा एक साँस लेकर रह गयीं। कैकेयी ने ही फिर रामचन्द्र से कहा, "परन्तु मुझे तो इतने से ही सन्तोष नहीं है। हाय! मैं उस समय

तक किससे क्या कहूँ-सुनूँगी (विश्व द्वारा लगाये गये आक्षेपों का उत्तर कैसे दूँगी) ?"

राम की बालसुलभ दृढ़ता देखकर वात्सल्यमयी कौसल्या अवधि बीतने तक राम की बाट जोहने का निश्चय प्रकट करके चुप हो गयीं, भोली सुमित्रा भी एक साँस लेकर रह गयी, परन्तु कैकेयी को तो इतने से ही परितोष नहीं। राम अयोध्या न लौटे तो लोगों के आक्षेप कम न होंगे। कैकेयी उन्हें क्या उत्तर देगी ? कैकेयी अपने को उस स्थिति का सामना करने के लिए असमर्थ-सा पा रही है। निन्दा और तिरस्कारपूर्ण भविष्य के वीभत्स चित्र ने उसे आतङ्कित कर दिया है।

"जीती है अब भी अम्ब ··· ··· ···· चिरकाल रहूँ मैं चेटी।"

कैकेयी के प्रश्न का उत्तर ऊर्मिला ने दिया, "हे माता ! अब भी ऊर्मिला बेटी जीवित है। मैं इन चरणों की सदा सेविका बनी रहूँ।"

ऊर्मिला के इन शब्दों में उसके जीवन की समस्त पुञ्जीभूत करुणा मुखरित हो उठी है।

"रानी, तूने तो रुला दिया पहले ··· ···· ··· प्रत्याहार किया मैंने ही।"

कैकेयी ने ऊर्मिला से कहा, "रानी ! तूने (तेरी वेदना ने) तो पहले ही (सबको) रुला दिया है, तूने तो यह कह कर पहले ही काँटों पर सुला दिया है।" कैकेयी ने ऊर्मिला को अपने हृदय से लगाते हुए कहा, "आ मेरी सबसे अधिक दुःखिनी आ जा, मुझसे पिस कर चन्दन-लता की तरह मुझ पर ही छाया कर ले (तेरे दुःख का मूल कारण मैं ही हूँ तथापि तू चन्दन-लता की भाँति मेरे ऊपर छाया ही करना चाहती है)।" इसके उपरांत राम को सम्बोधित करके कैकेयी बोली, "हे पुत्र ! मैंने तुम्हें वनवास दिया था अब मैं ही अपनी वह आज्ञा वापिस लिए लेती हूँ (अतः तुम अब अयोध्या लौट चलो)।"

"पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता ··· ··· मध्यस्थ आज ये भ्राता।"

राम ने कहा, "परन्तु रघुकुल में जो वचन एक बार दे दिया जाता है वह लौटाया नहीं जाता। तुम्हारे प्राण इस प्रकार खिन्न क्यों हो रहे हैं ? (तुम इस प्रकार विकल क्यों हो रही हो ?) प्रेम और कर्त्तव्य दो भिन्न-पदार्थ हैं। अच्छा, यह सब बातें रहने दो। भरत ही इस बात का निर्णय कर दें कि मैं ठीक कह रहा हूँ अथवा तुम्हारा कथन ठीक है। हम दोनों के बीच में तुम बहुत बार (अथवा बहुत समय तक) पञ्च (निर्णायक) बनी रह चुकी हो। आज ये भाई हम दोनों के मध्यस्थ बनें (हमारा निर्णय करें)।"

'साकेत' का कवि कैकेयी को पर्याप्त समय तथा स्थान दे चुका है। *उल्का-सी रानी* ने तो अपनी आभा में *भरत सुत-मणि* को भी छिपा-सा लिया था। अस्तु, हमारा कवि फिर भरत की ओर ध्यान देता है। राम अपने तथा कैकेयी के बीच भरत को *मध्यस्थ* नियुक्त करते हैं।

"हा आर्य ! भरत के लिए और था ··· ··· ··· कहें और ये कितना ?"

भरत बोले, "हा आर्य ! भरत के लिए क्या यह भी था (क्या भरत के भाग्य में माँ और बड़े भाई के बीच मध्यस्थता करना ही बदा था) ?" राम ने उन्हें बीच में रोकते हुए कहा, "बस भाई।" फिर उन्होंने कैकेयी से कहा, "लो माँ, यह और क्या कहें (किस प्रकार कहें कि हम दोनों में से किसका कथन यथार्थ है) ?"

"कहने को तो है बहुत दुःख से ··· ··· ··· मैं ठगा न सहसा जाऊँ।"

भरत बोले, "हे आर्य ! कहने को तो सुख-दुःखपूर्ण बहुत-सी बातें हैं परन्तु मैं किस मुख से वे सब कहूँ ? यह सब होने पर भी तुमसे यही विनय है कि तुम घर लौट जाओ।"

राम : यह तो बताओ कि इस 'जाओ' का क्या अर्थ है ?

भरत : प्रभु, यहाँ (वन में) तुम्हारा व्रत मैं पूरा करूँगा।

राम : परन्तु क्या मैं स्वयं यह व्रत पूरा करने के अयोग्य, असमर्थ अथवा अनिरत (जिसमें लगन का अभाव हो) हूँ (भाव यह है कि क्या मैं स्वयं यह व्रत पूरा नहीं कर सकता जो तुम मेरे बदले इसे पूरा करना चाहते हो) ?

भरत : (आप अयोग्य असमर्थ, अथवा अनिरत हैं यह कहना अथवा समझना तो बहुत बड़ी बात है) यह तो सुनना भी पाप है परन्तु क्या मैं तुमसे भिन्न हूँ ?

राम : परन्तु क्या मैं इस शङ्का (भिन्न हूँ क्या मैं) के कारण भी दुःखी नहीं (तुम्हारे हृदय में इस प्रकार की शङ्का उठना भी मेरे लिए कष्टप्रद है)। हमारी आत्मा एक है परन्तु शरीर तो भिन्न-भिन्न हैं।

भरत : तो इस काया के प्रति मुझे कोई ममता नहीं (यदि यह काया आपसे भिन्न है तो मेरी इसके प्रति कोई आसक्ति नहीं)। यह इसी कुटी के सामने पड़ी-पड़ी सड़ जाए और तुम्हारे वियोग में दुःखी यह अनुराग भरे प्राण तुम्हीं में मिल जाएँ।

राम : परन्तु भाई, मुझे तो अभी तुम्हारे शरीर की आवश्यकता है।

भरत : यदि आपको इसकी आवश्यकता है तो हे भाई ! इस सेवक का तनिक भार हल्का कर दो। तुम तो विनोद में अपनी पीड़ा छिपा सकते हो (हँस-हँस कर दुःख झेल सकते हो) और इतना कठोर परिश्रम करके भी नहीं थकते हो। पर मैं कैसे और किसके लिए इतना बोझ उठाऊँ ?

राम : मेरे जैसे होकर अथवा मेरी तरह मेरे लिए यह बोझ उठा लो। तुम्हारे लिए यह है ही कितना ? (अधिक नहीं है)। सभ्य मनुष्यों का कहीं आना व्यर्थ नहीं होता। इस प्रकार तो वन में भी नागर-भाव का बीज बो जाता है। मेरी दृष्टि तथा बुद्धि कुछ दूर (सुदूर भविष्य की ओर) देख रही है (मैं शीघ्र ही कुछ विशेष कार्य करना चाहता हूँ)। (मेरी दृष्टि तथा बुद्धि उन्हीं कार्यों पर टिकी है।) हे वीर ! क्या तुम चाहते हो कि मैं अपने उद्देश्य की पूर्ति न कर सकूँ ? तुम तो सदा से ही मेरी आज्ञा मानते रहे हो। हे तात ! आज तुम इस प्रकार व्यर्थ हठ क्यों कर रहे हो ? कर्त्तव्य का पालन करते हुए प्राप्त होने वाला अपयश भी यश के समान ही होता है।

भरत : हे आर्य ! तुम्हारा भरत अत्यन्त विवश है। (मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि) मैं इस समय क्या कहूँ और क्या करूँ जिससे मुझे मेरा निर्दिष्ट पथ प्राप्त हो जाए ? पल भर ठहरो, मैं तनिक विचार कर लूँ। कहीं ऐसा न हो कि मैं अचानक ठगा जाऊँ।

प्रस्तुत राम-भरत-संवाद में संवाद के प्रायः सभी गुण—स्वाभाविकता, परिस्थिति और पात्र की अनुरूपता, सजीवता अथवा उद्दीप्ति, गतिशीलता एवं रसात्मकता देखे जा सकते हैं। राम "कहो और ये कितना" कह कर भरत को मौन-सा कर देने का प्रयत्न करते हैं परन्तु भरत के पास कहने योग्य सुख तथा दुःखप्रद बातों की तो कोई कमी नहीं। प्रश्न यह है कि वे यह सब कहें *किस मुख से*। भरत केवल यही विनय करते हैं : "तुम घर लौट जाओ" भरत *लौट चलो* न न कह कर *लौट जाओ* कहते हैं। राम तुरन्त इस शब्द का स्पष्टीकरण चाहते हैं। भरत का उत्तर है :

प्रभु पूर्ण करूँगा यहाँ तुम्हारा व्रत मैं।

'अध्यात्म रामायण' के भरत ने भी कहा था :

तथैव चीरवसनो वने वत्स्यामि सुव्रत।
चतुर्दश समास्त्वं तु राज्यं कुरु यथासुखम् ॥

(हे सुव्रत, पिता के कथनानुसार मैं तो आपके समान चौदह वर्ष तक वल्कल धारण करके वन में रहूँगा और आप सुखपूर्वक राज्य भोगिये ।)

'अध्यात्म रामायण' के राम ने उत्तर दिया था :

पित्रा दत्तं तवैवैतद्राज्यं मह्यं वनं ददौ।
व्यत्ययं यद्यहं कुर्यामसत्यं पूर्ववत् स्थितम् ॥

(पिताजी ने तुमको यह राज्य और मुझे वनवास दिया है । अब यदि मैं इस का उल्टा करूँ तो असत्य ज्यों का त्यों ही रहता है ।)

'साकेत' के राम का उत्तर है :

पर क्या अयोग्य, असमर्थ और अनिरत मैं ?

भरत अग्रज के प्रति यह सुनना भी पाप समझते हैं। उधर, वह एक दूसरा ही प्रश्न राम के सम्मुख उपस्थित करते हैं :

.......भिन्न हूँ क्या मैं ?

राम भरत की इस *शंका* से भी *खिन्न* होते हैं । वह उन्हें समझाते हैं कि उनकी *आत्मा* एक है परन्तु *शरीर* भिन्न-भिन्न है । राम से विभिन्न काया के लिए भरत के हृदय में कोई ममता नहीं । यदि यह काया भरत की आत्मा को राम में नहीं मिलने देती तो—

सड़ जाय पड़ी यह इसी उटज के आगे

यह काया सड़ जाएगी तो *आर्त्त अनुरागे प्राण* (जो स्वयं राम के शब्दों में उनसे भिन्न नहीं) राम में विलीन हो सकेंगे । इन अनुरागी प्राणों को तभी तो सन्तोष प्राप्त हो सकेगा !

भरत अपनी काया की कोई आवश्यकता नहीं समझते परन्तु राम को उस की आवश्यकता है । यदि यह बात है तो राम इस *जन* का *भार* क्यों नहीं उतारते ? भरत जानते तथा मानते हैं कि राम हँस-हँस कर सब कष्ट झेल सकते हैं परन्तु भरत कैसे और किसलिए यह सब सहें ?

राम का उत्तर है कि भरत को अपने लिए नहीं, *अपने राम के लिए* यह सहना चाहिए । यहीं राम भरत को अपने भावी कार्यक्रम का हल्का-सा आभास देते हैं । फलतः भरत के हृदय का उद्वेग शान्त होने लगता है । तथापि इस शान्ति से तो उनकी उलझन सुलझने के बदले उलझती ही जा रही है । वह यह निश्चय करने में असमर्थ हैं कि—

क्या कहूँ और क्या करूँ कि मैं पथ पाऊँ ?

अस्तु, भरत अन्तिम रूप से कुछ कहने से पूर्व शान्तिपूर्वक समस्त वस्तु-स्थिति पर विचार कर लेना चाहते हैं।

सन्नाटा सा छा गया सभा में .... काल भी कण भर।

उस समय सारी सभा में पल भर के लिए सन्नाटा छा गया। जान पड़ता था कि उस एक क्षण में तो स्वयं काल (समय) भी कण भर न हिल सका।

भरत ने अन्तिम रूप से कुछ कहने से पूर्व राम से क्षण भर का समय माँगा। इसी क्षण भर में तो भरत अपने तथा समस्त प्रजा-परिवार के भाग्य-निर्धारण की ओर जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कदम उठाने वाले हैं। अस्तु, सबकी आतुरता चरम सीमा पर पहुँच जाती है। सब ओर छाया हुआ सन्नाटा इसका प्रमाण है।

जावालि जरठ को हुआ मौन दुःसह .... चारुवाक्य, यह दुख है?"

वृद्ध जावालि को यह मौन बहुत खला अतः वह सहसा अपना जटा-युक्त ('जटिल' में यहाँ मानसिक उलझन का भाव भी है।) सिर हिला कर बोले, "अरे! मेरी समझ में तो यह बात आ ही नहीं रही है। (लोग तो राज्य पाने के लिए लड़ा करते हैं) यहाँ राज्य लौटा देने के लिए ही द्वन्द्व (झगड़ा) हो रहा है। राज्य के लिए तो लोग अपने पिता तक की हत्या कर देते हैं।

राम : हे मुने! वही मनुष्य राज्य पर मरते हैं (भाव यह है कि हम न तो राज्य के लिए पिता की हत्या के लिए तैयार हैं न राज्य पर जान देने के लिए)।

जावालि : हे राम! राज्य इतना त्याज्य पदार्थ तो नहीं है कि उसकी सर्वथा उपेक्षा की जाए।

राम : परन्तु मुनीश्वर! इसे इतना भोग्य मानना भी उचित नहीं (कि इसकी प्राप्ति के लिए पितृवध किया जाए अथवा जान दी जाए)।

जावालि : हे तरुण! तुम्हें किसका संकोच अथवा भय है (जो तुम राज्य स्वीकार नहीं कर रहे हो)।

राम : हे जरठ! उसी का जिसका (संकोच तथा भय) इस समय आप को नहीं है। (जीवन के जिन आदर्शों की आप इस समय उपेक्षा कर रहे हैं वे ही मेरे इस संकोच तथा भय का कारण हैं)।

जावालि : हे वीर! पशु-पक्षी भी अपने स्वार्थ-साधन में लगे हैं।

राम : हे वीर ! न तो मैं पशु हूँ और न आप पक्षी।

जावालि : अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करना और व्यक्तिगत मत की स्वतन्त्रता तो आर्यों की विशेषता है। हे पुत्र! तुम परलोक की ओर लगी अपनी विफल दृष्टि को रोको (परलोक की व्यर्थ चिन्ता न करके इसी लोक में सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करो)।

राम : परन्तु हे तात! आप इसी लोक को देख लीजिए।

जावालि : यह भी नाशवान् है। इसीलिए तो कह रहा हूँ।

राम : क्या ? (आप यह क्या कह रहे हैं ?) (जब यह संसार भी नाशवान् है तो) क्या हम अथवा हमारा राज्य नष्ट होने से बच जाता ?

जावालि : मैं तो यह कहता हूँ कि जब सब कुछ ही जल कर राख हो जाना है तो अरे लोगो! तुम दुःख छोड़कर सुख ही क्यों नहीं भोगते ?

राम : हे मुने! आप यह तो बताइये कि सुख किस बात में निहित है ?

जावालि : सब लोग जिस बात में मानें वहीं सुख है।

राम : परन्तु आप हमें साधारण मनुष्य न समझिए। आप चाहें तो जन-साधारण के लिए (सबके हितैषी अथवा जन-हित-रत) अवश्य मान सकते हैं परन्तु साधारण जन नहीं मान सकते।

जावालि : यह भावुकता है।

राम : हमें तो इसी भावुकता में सुख मिलता है। हे चारुवाक्य! (मधुर वाक्य बोलने वाले) फिर दूसरे के सुख में इस प्रकार दुःख क्यों ?

इस अवसर पर 'वाल्मीकि रामायण' के जावालि राम से कहते हैं :

साधु राघव मा भूत्ते बुद्धिरेवं निरर्थिका।
प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धे मनस्विनः ॥
कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित्।
यदेको जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ॥
तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः।
उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित् ॥....
पित्र्यं राज्यं परित्यज्य स नार्हसि नरोत्तम।
अस्थातुं कापथं दुःखं विषमं बहुकंटकम् ॥
समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिषेचय ।
एकवेणीधरा हि त्वां नगरी सम्प्रतीक्षते ॥

राजभोगाननुभवन्महार्हान्पार्थिवात्मज ।
विहर त्वमयोध्यायां यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ॥····
अर्थधर्मपरा ये ये तांस्तां शोचामि नेतरान् ।
ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य भेजिरे ॥····
स नास्ति परमित्येव कुरु बुद्धिं महामते ।
प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥
सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम् ।
राज्यं त्वं प्रतिगृह्णीष्व भरतेन प्रसादितः ॥

(वाह महाराज ! आपकी तो पामरों जैसी निरर्थक बुद्धि न होनी चाहिए क्योंकि आप केवल श्रेष्ठ बुद्धि वाले ही नहीं किन्तु मनस्वी भी हैं। भला सोचिये तो सही कि कौन किसका बन्धु है और कौन किसका क्या बना-बिगाड़ सकता है ? यह प्राणी अकेला ही जन्म लेता है और फिर अकेला ही नष्ट भी होता है ···· ···· अतः यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है, ऐसा सम्बन्ध मान कर जो पुरुष इन सम्बन्धों में आसक्त होता है, उसे पागल ही समझना चाहिए क्योंकि विचारपूर्वक देखा जाय तो सचमुच कोई किसी का नहीं है ···· ···· अतएव हे नरोत्तम ! आप पिता का राज्य छोड़ कर इस कुमार्ग पर आरूढ़ होने योग्य नहीं हैं जो दुःख देने वाला, युवावस्था के अयोग्य और बहु कंटकों से परिपूर्ण है। आप तो चल कर अब धन-धान्य युक्त अयोध्या में अपना अभिषेक करवाइये क्योंकि अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी पातिव्रत धारण कर आपके आगमन की बाट जोह रही है। हे राजकुमार ! आप बढ़िया-बढ़िया राजाओं के भोगने योग्य भोगों का उपभोग करें और अयोध्या में उसी प्रकार विहार करें जिस प्रकार इन्द्र अमरावती में करते हैं ···· ···· जो लोग प्रत्यक्ष मिलते हुए सुख को त्याग कर आगे सुख मिलने की आशा से कष्ट भोग कर धनोपार्जन करते हैं और ऐसा करते-करते नष्ट हो जाते हैं, मुझे उन्हीं लोगों के लिए दुःख है, औरों के लिए नहीं ···· ···· हे महामते ! वास्तव में इस लोक के अतिरिक्त परलोक आदि कुछ भी नहीं हैं। इसे भली-भाँति समझ लीजिए। अतः जो सामने है, उसे ग्रहण कीजिए और जो परोक्ष है, उसे पीठ पीछे कीजिए। देखिए, भरत जी आपसे प्रार्थना करते हैं अतः सर्वजनानुमोदित सज्जनों के मत को स्वीकार कर राज्य ग्रहण कीजिए।)※

महर्षि वाल्मीकि के राम जाबालि को यह उत्तर देते हैं :

भवान्मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान् ।
अकार्यं कार्यसंकाशमपथ्यं पथ्यसम्मितम् ॥

※ वाल्मीकि रामायण, अयो०, सर्ग १०८, श्लोक २-४, ७-६, १३, १७, १८।

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥
कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाऽशुचिम् ॥ ...
कस्य धारयाम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम् ।
अनया वर्तमानो हि वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥
कामवृत्तस्त्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते ।
यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ॥....
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्यं पद्मा श्रिता सदा ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम ॥ ...
नैव लोभान्न मोहाद्वा न ह्यज्ञानात्तमोन्वितः ।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः ॥....

(आपने मुझे प्रसन्न करने के लिए जो बातें कहीं, वे कार्य रूप में परिणत करने के लिए अनुपयुक्त और न्याय मार्ग के विरुद्ध होने पर भी, साधारण दृष्टि से देखने पर न्यायानुमोदित और करने योग्य जान पड़ती हैं। मर्यादारहित, पापाचरण से युक्त और साधु सम्मत शास्त्रों के विरुद्ध आचरण वाले पुरुष का सज्जनों के समाज में कोई आदर नहीं होता। चरित्र ही अकुलीन को कुलीन, भीरु को वीर और अपावन को पावन सिद्ध करता है .... यदि आपके उपदेशानुसार मैं इस सत्य-प्रतिज्ञा-पालन-हीन वृत्ति का अवलम्बन कर लूँ तो मुझे स्वर्ग किस प्रकार प्राप्त हो सकेगा ? जब मैं ही स्वेच्छाचारी हो गया तो और सब लोग भी मनमाना काम करने लगेंगे क्योंकि राजा के अनुरूप ही प्रजा का आचरण होता है .... सत्य ही से ईश्वर की प्राप्ति होती है, सत्य ही से लक्ष्मी (धन-धान्य) मिलता है, सत्य ही सब सुखों का मूल है, सत्य से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है जिसका आश्रय लिया जाए .... अतः मैं तो राज्य पाने के लोभ से, न लोगों के भुलावे में आकर और न क्रोध के कारण पिता की सत्य रूपी मर्यादा को तोड़ूंगा क्योंकि मैं स्वयं सत्य-प्रतिज्ञ हूँ।)❀

'साकेत-सन्त' में :

बोल उठे जावालि मुनीश्वर, "मैंने जो सोचा समझा है ।
और जगत के अथ का इति का, मुझको जो कुछ मिला पता है ॥

❀ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकांड, श्लोक २-४, ८-६, १३, १७ ।

उसके बल पर कह सकता हूँ, राम! न आई लक्ष्मी टालो।
नर प्रभुता से प्रभु होता है, प्रभुता यदि मिल रही, सम्हालो॥
इस प्रभुता के हेतु, न जाने कहाँ-कहाँ हैं छिड़ी लड़ाई।
इस प्रभुता के हेतु भिड़ पड़ा, इस जग में भाई से भाई॥
किन्तु वही प्रभुता लौटाने, आज एक भाई जब आया।
बड़ी भूल होगी यदि तुमने, उसे न सुख से गले लगाया॥
दुनिया में जब सब नश्वर है, 'यथापूर्व' जब बन्धन-माला—
किसकी है अत्यन्त-मुक्ति फिर, किसके यश का अमिट उजाला?
बँधा न जो आदर्शवाद से, परलोकों का ध्यान न लाता—
हाय-हाय से मुक्त सदा जो, मुक्त वही जीवन कहलाता॥
ग्रन्थों के बहुपंथ फंसाते, मनुज-बुद्धि कोरी उलझन में।
जीवन का रस नहीं मिला है, उन सूखे रेतों के कन में॥
मरे सभी परलोक-विचारक, मरे सभी सच्चित् अवतारी।
जिया वही, जिसने इस जग में, मस्ती से निज आयु सँवारी॥
दो दिन का तो यह जीवन है, वह भी तप ही करके बीते?
तप वे बेचारे करते हैं, जिनको जीवन के न सुभीते॥
यौवन की ये नयी उमंगें, दुनिया से उफ़! दूर न भागो।
ईश्वरता के सुख को भोगो, इस नन्दन में कुछ तो जागो॥
औरों को न सता कर भी है, निभ सकती मनमानी भू पर।
बस सकते हैं इन्द्रिय-सुख भी, टिक कर सदा न्याय के ऊपर॥
न्याय्य राज्य का भोग तुम्हारा, पास तुम्हारे जब यों आया।
कौन तुम्हें तब सुज्ञ कहेगा, यदि तुमने उसको ठुकराया॥
प्रकृति, पुरुष के लिए भोग्य बन, नित्य नयी छवि है दिखलाती।
शब्द, स्पर्श, रूप, रस, सौरभ, के पंचामृत-पात्र सजाती॥
सबको मिले सुधा-सुख मंजुल, राजा वह सुविधा छाता है।
इसीलिए भोगों का भाजन, जग का इन्द्र कहा जाता है॥
सुख-सुविधा-साधन देती है, एक गाँव की भी ठकुराई।
तुमने जो उत्तर-कोसल की, अनुपम चक्रवर्तिता पाई॥
ऐसे महाराज हो कर भी, यदि तुम हो यों वल्कलधारी।
और न कुछ कह यही कहूँगा, आह! गयी है मति ही मारी॥

गई पिता के साथ वरों की कथा, अम्ब की बातें मानों।
धर्म-तत्व कहता है, सुख ही एक ध्येय जीवन का जानो॥✻

'साकेत' के जावाली *भाषण* नहीं देते। यहाँ तो *जरठ* और *तरुण* के बीच गरमागरम बहस होती है। अपनी बात पर दृढ़ रह कर भी राम प्रस्तुत वाद-विवाद में जिस *विनयशीलता* का परिचय देते हैं, वह वास्तव में अत्यन्त श्लाघ्य है। राम अपनी ओर से कोई नया तर्क उपस्थित नहीं करते, वह तो जावालि के तर्कों से ही उन्हें परास्त करते चले जाते हैं :

"हे तरुण, तुम्हें संकोच और भय किसका?"
"हे जरठ, नहीं इस समय आपको जिसका!"
"पशु-पक्षी तक हे वीर, स्वार्थ-लक्षी हैं!"
"हे वीर, किन्तु मैं पशु न आप पक्षी हैं!"

जावालि के शब्दों में चार्वाक के सिद्धांतों का सारांश निहित है। (*'चारुवाक्य'* में ध्वनि-साम्य द्वारा इन्हीं चार्वाक की ओर संकेत है।) चार्वाक एक अनीश्वरवादी और नास्तिक तार्किक थे। संक्षेप में, उनका कथन था :

.... सब भस्मशेष जब लोगो,
तब दुःख छोड़ कर क्यों न सौख्य ही भोगो ?

एक अंग्रेज कवि 'लार्ड टेनिसन' ने इसी भाव की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है :

Death is the end of life; ah, why
Should life all labour be ?†

तब वामदेव ने कहा .... संसार असार मान रोते हैं।"

तब वामदेव ऋषि ने कहा, "यह भावुकता धन्य है! इसका मूल्य भला कौन चुका सकता है? (इसका उचित प्रतिदान किसी प्रकार भी सम्भव नहीं)। भावुक मनुष्य ही (इस संसार में) बड़े-बड़े कार्य करते हैं। इसके विपरीत ज्ञानी (केवल बाल की खाल निकालने वाले अथवा आवश्यकता से अधिक चिन्तन करने वाले) तो इस संसार को असार (सारहीन) समझ कर रोते-झींकते ही रहते हैं।"

"किनसे विवाद हे आर्य, आप .... वह भी न फूल कर उले।"

लक्ष्मण ने राम से कहा, "आप किनसे (व्यर्थ ही जावालि मुनि से)

✻ साकेत सन्त, सर्ग १२, पृष्ठ १६३-६६।

† Lord Tennyson, The Lotus-eaters.

विवाद कर रहे हैं ? (ऐसे मनुष्यों से बहस करना व्यर्थ है) ये तो सुख खोज कर मरते हैं। अस्तु, जिसे जहाँ सुख मिलता दिखाई दे, वह उसी में सुखी रहे परन्तु कृपा करके वह दूसरों का भी ध्यान अवश्य रखे। (सर्वथा स्वार्थी होकर दूसरे के सुख की ओर से उदासीन न हो)। किसी को भी यह बात न भूलनी चाहिए कि सबके ऊपर (एक उच्च सत्ता का) शासन है, स्वयं शासक भी इसका अपवाद नहीं अतः उसे भी गर्व अथवा अहंकार से दूर ही रहना चाहिए।"

"हँस कर जावालि वसिष्ठ ओर तब ··· ··· ··· स्वदीक्षा दीजे।"

यह सुन कर जावालि ने वसिष्ठ की ओर देखा। कुल-गुरु ने मुस्करा कर कहा, "ये मेरे शिष्य है। (इतना ही नहीं) आप (और भी) चाहे जिस प्रकार परीक्षा लेकर देख लीजिए। आवश्यकता समझें तो स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार इन्हें दीक्षा भी दे दीजिए।"

जावालि की इस *हँसी* में अपनी पराजय की मधुर स्वीकृति है। उधर कुल-गुरु की *मुस्कान* में एक उल्लासपूर्ण गर्व निहित है। शिष्यों की विजय गुरु की विजय है। गुरु को अपने शिष्यों की योग्यता पर पूर्ण विश्वास है :

मन चाहे जैसे और परीक्षा लीजे।

इतना ही नहीं—

आवश्यक हो तो स्वयं स्वदीक्षा दीजे।

प्रभु बोले, "शिक्षा वस्तु सदैव ··· ···· ···· ··· हो बात तुम्हारी पूरी।"

श्री रामचन्द्र जी ने उत्तर दिया, "शिक्षा नाम की वस्तु सदा अधूरी है।" फिर उन्होंने भरत को सम्बोधित करके कहा, "हे भरतभद्र! तुम्हारी बात पूरी हो (तुम अपनी बात पूरी करो)।"

"हे देव, विफल हो बार-बार ··· ··· ··· स्वराज संभालें।"

भरत ने कहा, "हे देव! बार-बार असफल होकर भी इस सेवक की आशा तो अभी यहाँ ही अटकी हुई है। जब तक आप यहाँ रह कर पिता की आज्ञा का पालन करना चाहते हैं तब तक आर्या (सीता जी) ही अयोध्या चल कर अपना राज्य सम्हाल लें।"

'रामचरितमानस' के भरत भी विविध संभावनाओं पर प्रकाश डालते हैं :

देव एक विनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी॥

तिलक समाजु साजि सबु आना । करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना ॥

सानुज पठइअ मोहि बन, कीजिअ सबहि सनाथ ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ, नाथ चलौं मैं साथ ॥

नतरु जाहिं बन तिनिउ भाई । बहुरिअ सीय सहित रघुराई ॥
जेहि विधि प्रभु प्रसन्न मन होई । करुना सागर कीजिअ सोई ॥

"भाई, अच्छा प्रस्ताव और क्या .... सभी को जिससे ।"

भरत का यह सुझाव सुन कर राम ने कहा, "भाई ! इससे अच्छा प्रस्ताव और क्या होगा जिससे हमें, तुम्हें और सबको ही सन्तोष प्राप्त हो सकता है ?"

"पर मुझको भी हो तब न .... यहाँ मुझी को लेखें ।"

मैथिली ने कहा, "पर मुझे इस प्रस्ताव से सन्तोष हो तभी तो !" यह कहते कहते सीता की सरल तथा भोली निगाहें कुछ कुटिल (टेढ़ी) सी हो गयीं। सीता ने फिर कहा, "अभी-अभी मुनि (जावालि) यह कह चुके हैं कि सबको स्वार्थ-साधन ही करना चाहिए। वे यहाँ मुझे ही अपने इस मत की अनुयायिनी मान सकते हैं (मेरा स्वार्थ यहाँ रहने में ही है)।"

"भाभी, तुम पर है मुझे भरोसा .... चिह्न शेष ये उनके ?"

सीता को अपने प्रस्ताव का विरोध करते देख कर भरत ने कहा, "भाभी मुझे तुम पर तो (भाई से भी) दुगुना भरोसा है अतः तुम अयोध्या लौट कर भरत का अधूरा मातृ-पद पूर्ण कर दो। हाय ! कोसलेश्वरी के आज ये वेश हैं ? ये आभूषण (शृङ्गार के उपकरण) हैं अथवा उनके चिह्न बाकी रह गये हैं ?"

"देवर, न रुलाओ आह .... स्वयं ही त्यागे ?

सीता बोलीं, "देवर ! इस तरह स्वयं रोकर मुझे न रुलाओ (तुम्हें रोता देख कर मुझे भी दुःख होता है)। हे तात ! तुम पुरुष होकर इस तरह बेचैन तथा दुःखी हो रहे हो ? तुम तो स्वयं राज्य का (वास्तविक) मूल्य जानते हो, फिर उसी धूल में मुझे क्यों सान रहे हो ? मेरे इस आभूषण—सुहाग-बिन्दु की ओर देखो, तुम इसे सैंकड़ों रत्नों से भी अधिक मूल्यवान् समझो (इसके सम्मुख सैंकड़ों रत्न भी कोई मूल्य नहीं रखते)। इस एक अरुण (सिन्दूर-बिन्दु तथा प्रभातकालीन सूर्य) के सामने क्या स्वयं प्रकृति ने भी सदा ही अपने आप (स्वेच्छापूर्वक) सैंकड़ों चन्द्रहार (चाँद तथा

तारे) नहीं त्यागे हैं ? (सूर्योदय होने पर चाँद तथा तारे सर्वथा आभा-हीन हो जाते हैं इसी प्रकार सिन्दूर-विन्दु के सामने चन्द्रहार (नौलखा हार) तथा अन्य आभूषणों का कोई महत्व नहीं)।

सीता को उस वेश में देख कर भरत का हृदय रो उठा। *कोसलेश्वरी* के ये वेश ! इस असह्य स्थिति ने उन्हें *कातर* कर दिया। सीता उन्हें सान्त्वना भी देती हैं और शक्ति भी। सीता के शरीर पर आभूषण भले ही न हों परन्तु उनके माथे पर *सिन्दूर-बिन्दु* तो है और—

सौ-सौ रत्नों से उसे अधिक तुम लेखो

इस कथन के प्रमाण स्वरूप सीता एक प्राकृतिक सत्य का उल्लेख करती हैं :

शत चन्द्र-हार उस एक अरुण के आगे ,
कब स्वयं प्रकृति ने नहीं स्वयं ही त्यागे ?

(यहाँ 'चन्द्रहार' तथा 'अरुण' शब्दों में श्लेष हैं; 'चन्द्रहार' का अर्थ है : चाँद-तारे और नौलखा हार; 'अरुण' का अर्थ है : बाल-रवि और सुहाग-विन्दु।)

'महाभिनिष्क्रमण' के उपरान्त यशोधरा ने एक अवसर पर कहा था :

कसें न और मुझे अब आकर हेम, हीर, मणिमाल ,
चार चूड़ियाँ ही हाथों में पड़ी रहें चिरकाल।....
बस सिंदूर-बिन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल ,
*वह जलता अङ्गार जला दे उनका सब जंजाल॥**

"*इस निज सुहाग की सुप्रभात ... . सुयश तुम पाओ।*"

"अपने सुहाग के सुप्रभात की इन घड़ियों में तथा जाग्रत (उद्‌बुद्ध) जीवन की इस मिठास भरी क्रीड़ा (के क्षणों) में, आओ, मैं तुम्हें अम्बा की भाँति आशीर्वाद दूँ। (मेरा आशीर्वाद है कि) तुम अपने बड़े भाई से भी अधिक निर्मल तथा श्रेष्ठ यश के भागी बनो।"

इस निज सुहाग की सुप्रभात वेला में : वनवास की ये घड़ियाँ वास्तव में सीता के सुहाग की *सुप्रभात वेला* हैं। उन्होंने अन्यत्र भी कहा है :

वन में ही तो गार्हस्थ्य जगा है मेरा।
वह वधू जानकी बनी आज यह जाया॥

जाग्रत जीवन की खंडमयी खेला में : वन में सीता का जीवन जाग्रत

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३४।

और विनोदपूर्ण है :

तनु लता-सफलता-स्वादु आज ही आया।

× ×

जब देव कि देवर विचर-विचर आते हैं,
तब नित्य नये दो-एक द्रव्य लाते हैं।
उनका वर्णन ही बना विनोद सवाया॥

× ×

मुनि बालाएँ हैं यहाँ आलियाँ मेरी,
तटिनी की लहरें और तालियाँ मेरी,
क्रीड़ा-सामग्री बनी स्वयं निज छाया।

निज अग्रज से भी शुभ्र सुयश तुम पाओ : 'रामचरितमानस' में :

सानुज भरत उमगि अनुरागा।
धरि सिर सिय पद पदुम परागा॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए।
सिर कर कमल परसि बैठाए॥
सीयँ असीस दीन्हि मन माहीं।
मगन सनेहँ देह सुधि नाहीं॥

"मैं अनुगृहीत हूँ, अधिक कहूँ क्या .... अन्त में न्यायी।"

भरत ने सीता का आशीर्वाद ग्रहण करते हुए कहा, "मैं कृतार्थ हूँ। (छोटे 'अनुगृहीतोस्मि' कह कह कर ही बड़ों का आशीर्वाद स्वीकार करते हैं।) हे देवी ! मैं और क्या कहूँ (केवल यही कामना है कि) अपने प्रत्येक जन्म (जन्मजन्मान्तर) में मैं (आप के) इन्हीं चरणों का सेवक बना रह सकूँ। हे यशस्विनी ! तुम मुझे यश से (भी अधिक) मान्य (आदरणीय) हो परन्तु मैं अब जो निवेदन करने वाला हूँ वह तुम्हें कर्कश (कठोर) न जान पड़े। तुमने अभी-अभी अपने श्री मुख से मुझे यश प्रदान किया है अब आर्य (श्री राम प्रस्तुत) दुःख से मेरा उद्धार करके मुझे सुख प्रदान करें।" श्री राम को सम्बोधित करके भरत ने कहा, "हे राघवेन्द्र ! यह सेवक तो सदा आपका अनुचर (पीछे चलने वाला) (रहा) है। (इस समय इसे उस अधिकार से वंचित क्यों कर रहे हैं ?) हे न्यायी ! अन्त में दण्ड की अपेक्षा दया ही कठिन सिद्ध होती है।"

क्या कुछ दिन तक भी राज्य ··· ··· ··· ··· अर्द्धरात्रि हो आई।"

राम ने भरत से कहा, "हे भाई, क्या कुछ दिन के लिए भी राज्य भार (भारी पड़ रहा) है ? आधी रात हो गयी है परन्तु अभी तक सब जाग रहे हैं (अतः हमें शीघ्र ही कुछ फैसला कर लेना चाहिए)।

"हे देव, भार के लिए नहीं ···· ··· ···· ···· सकूँ मैं सब से।"

भरत ने उत्तर दिया, "हे देव ! मैं भार के लिए नहीं रोता हूँ (भार अथवा उत्तरदायित्व से नहीं घबरा रहा हूँ), मैं तो (तुम्हारे) इन चरणों के लिए ही विकल हो रहा हूँ। यदि तुम्हारे हृदय में इस दया-धृष्ट-लक्षण (भरत) के प्रति प्रेम बना रहा तो राज्य की रक्षा (देख-भाल) तो तुम्हारी पादुका भी कर लेगी। अस्तु, जैसी आपकी आज्ञा। आर्य वन में सुखपूर्वक वास करें, यह दास (भरत) भवन (अयोध्या) में उदास रह कर प्रस्तुत दुःख से जूझेगा (इसका सामना करेगा)। बस, मुझे खड़ाऊँ मिल जावें ताकि मैं उन्हें (अपने साथ अयोध्या) ले जाऊँ और उन्हीं के सहारे यह अवधि पार कर सकूँ। इस समय से सम्पूर्ण अयोध्या ही अवधिमय हो जावे। (मुझे इस योग्य तो कर दीजिए कि मैं) मुख खोल कर सबसे कुछ कह तो सकूँ (कुछ बोल तो सकूँ)।"

राम ने भरत से पूछा था—"क्या कुछ दिन के लिए भी राज्य भार है ?" नहीं, क्षत्रिय भरत *भार* के लिए नहीं रो रहे। उनमें राज्य-भार उठाने के लिए आवश्यक योग्यता तथा बल की भी कमी नहीं। यहाँ तो प्रश्न ही दूसरा है :

इन चरणों पर ही मैं अधीर होता हूँ।

सदा ही भरत पर अत्यधिक *दया* रख कर अग्रज ने अनुज को *धृष्ट-लक्षण* (ढीठ) बना दिया है। अस्तु, आज तो भरत केवल राम के मुख से यह आश्वासन प्राप्त करना चाहते हैं कि किसी ज्ञात अथवा अज्ञात कारण से अब वह दया-धृष्ट-लक्षण (अत्यधिक दया के कारण ढिठाई के लक्षणों वाला) भरत राम को अप्रिय तो नहीं हो गया है ? यदि यह ढीठ भरत राम से प्रेम का प्रसाद पा सके तो राज्य-संरक्षण तो बहुत ही मामूली बात है। वह काम तो प्रभु की पादुका, *उनके पैर की जूतियाँ* भी कर लेंगी। अस्तु, यदि आर्य वन में रहना चाहते हैं तो सुखपूर्वक वहाँ रहें

जूझेगा दुःख से दास उदास भवन में।

दास उदास में केवल यमक न होकर असीम विवशता भी है। कोई और

उपाय न रहने पर भरत को लाचार होकर अयोध्या में रह कर प्रस्तुत वस्तु-स्थिति से जूझना ही होगा। चित्रकूट से वापिस जाने से पहले भरत को कोई ऐसा सहारा मिलना ही चाहिए, जिसके बल पर वह *अवधि-पार* पा सकें और सबसे मुख खोल कर कुछ बोल सकें। अस्तु—

बस, मिलें पादुका मुझे, उन्हें ले जाऊँ।

इस अवसर पर महर्षि वाल्मीकि के भरत राम से निवेदन करते हैं :

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः॥

(हे आर्य ! इन सुवर्णभूषित पादुकाओं पर आप अपने चरण रखिए, क्योंकि ये ही दोनों खड़ाऊँ सबके योगक्षेम का निर्वाह करेंगी।)※

'अध्यात्म रामायण' के भरत कहते हैं :

पादुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते।
तयोः सेवां करोम्येव यावदागमनं तव॥

(हे राजेन्द्र ! आप मुझे राज्य-शासन के लिए अपनी जगत्पूज्य चरण-पादुकाएँ दीजिए। जब तक आप लौटेंगे, तब तक मैं उन्हीं की सेवा करता रहूँगा।)†

'रामचरितमानस' में :

भरत सील गुरु सचिव समाजू। सकुच सनेह बिबस रघुराजू॥
प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥‡

'गीतावली' में :

तुलसीदास अनुजहि प्रबोधि प्रभु चरन पीठ निज दीन्हें।
मनहु सबनिके प्रान-पाहरू भरत सीस धरि लीन्हें॥¶

'रामचन्द्रिका' में :

*भरत कह्यौ तब राम सों देहु पादुका इष्ट।*φ

※ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या०, सर्ग ११२, श्लोक २१।
† अध्यात्म रामायण, अयोध्या०, सर्ग ९, श्लोक ४६।
‡ रामचरितमानस, अयोध्याकांड।
¶ गीतावली, अयोध्याकांड, पद ७५।
φ रामचन्द्रिका, प्रकाश १०, छन्द ४३।

'साकेत-सन्त' के भरत का कथन है :

आया था अपनी इच्छा से, जाऊँगा प्रभु-इच्छा लेकर।
मैंने क्या-क्या आज न पाया, इस वन में अपनापन देकर॥
राज्य उन्हीं का यहाँ वहाँ भी, मैं तो केवल आज्ञाकारी।
चौदह वर्ष धरोहर सँभले, बल संबल पाऊँ दुःखहारी॥
चरण-पीठ करुणानिधान के, रहें सदा आँखों के आगे।
मैं समझूँगा प्रभु-पद पंकज, ही हैं सिंहासन पर जागे॥
उनसे जो प्रेरणा मिलेगी, तदनुकूल सब कार्य करूँगा।
उन्हें अवधि-आधार जानकर, उन पर नित्य निछावर हूँगा॥
आशीर्वाद मिले वह जिससे, प्रभु में जीवन स्रोत मिला लूँ।
उनके लिए उन्हीं की चीजें, पा उनका आदेश सँभालूँ॥
फूले फले जगत् यह उनका, इसीलिए, बस, प्यार करूँ मैं।
*और अवधि ज्यों ही पूरी हो, सारा भार उतार धरूँ मैं॥**

और 'विदेह' में :

मानव का आकुल प्रेम सत्य को देख रहा
प्रिय चरण-पादुका माँग रहे हैं भरत राम से विनयपूर्ण....†

'बच उनके बल पर, अवधि-पार मैं पाऊँ' :

सो अवलंब देव मोहि देई।
अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥

—रामचरितमानस

"रे भाई, तूने रुला दिया ... . वचन सिद्ध हैं त्यागी!"

भरत की प्रार्थना सुन कर राम बोले, "हे भाई—(इस प्रकार तो) तूने मुझे भी रुला दिया है। अरे अलोभी (जिसे कोई लोभ न हो—निःस्वार्थ) तुझसे (मुझे) यही अनोखी शंका (भय) थी, (अथवा 'अरे अपूर्व अलोभी, तुझसे यही शका थी) अरे अनुरागी, तुझे यही अभीप्सित था (तेरी आकांक्षा यही थी)। हे त्यागी! तेरी आर्या के वचन ("निज अग्रज से भी शुभ्र सुयश तुम पाओ") सिद्ध (सत्य) हैं!"

महात्मा गाँधी के नाम लिखे गये एक पत्र में गुप्त जी ने लिखा था :

* साकेत सन्त, सर्ग १३, पृष्ठ १७७–७८।

† विदेह, सर्ग ६, पृष्ठ १५६–६०।

" 'साकेत' के पात्रों ने मानों हठ कर लिया है कि इन्हें (राम को) रुला कर ही छोड़ेंगे। हम रोते रहें और ये हँसते रहें, यह नहीं हो सकता। अस्तु, भरत ने राम को रुला कर ही छोड़ा और धोखा देकर नहीं, डंके की चोट। इसे राम ने स्वीकार किया है :

"रे भाई, तूने रुला दिया मुझको भी,
शंका थी तुझसे यहीं अपूर्व अलोभी।"

दूसरी पंक्ति से स्पष्ट है कि उन्हें पहले ही इसकी शंका थी और वे मानों अपनी व्यथा को विनोद में छिपा कर सामना करने के लिए प्रस्तुत थे। परन्तु भरत के आगे उनकी एक न चली।"*

था यही अभीप्सित तुझे अरे अनुरागी : सभा आरम्भ होने पर राम ने भरत से कहा था :

हे भरत भद्र ! अब कहो अभीप्सित अपना !

इसी '*अभीप्सित*' शब्द को आधार बना कर भरत ने राम के सम्मुख आत्म-ग्लानि अभिव्यक्त की थी। यहाँ फिर राम ने उसी शब्द का प्रयोग करके उस बातचीत को समाप्त (Wind up) कर दिया है, जिसका आरम्भ स्वयं उन्होंने किया था। वस्तु-विधान का यह सूक्ष्म कौशल श्लाघ्य है।

भरत को चरण-पादुका प्रदान करते हुए 'साकेत-संत' में :

बोले राम, धर्म-संकट से, आज भरत ने जगत उबारा।
सबका दुख अपने में लेकर, सबको सुख का दिया सहारा॥
वह अनुराग त्याग-मय अनुपम, बड़ भाग्य यदि कोई पाये।
देव मनुज की महिमा समझें सुर-नर के दर्शन कर जाये॥...
आज भरत खोकर भी जीते, और जीत कर भी मैं हारा।
मेरे ही कंधों पर पटका, उनने बोझ राज्य का सारा॥†

"अभिषेक अम्बु हो कहाँ अधिष्ठित .... तपोवन-यात्रा।"

भरत ने राम से पूछा, "यह बताइये कि अभिषेक का यह जल कहाँ स्थापित किया जाए ? उसकी (जल की) तो यह इच्छा है कि वह यहीं तीर्थ बन कर रहे। हम सब भी यही चाहते हैं कि कुछ (समय यहाँ रह कर) तपोवन की यात्रा कर लें।"

---

* 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव' से उद्धृत।

† साकेत-सन्त, सर्ग १३, पृष्ठ १७६—८०।

'अभिषेक-अम्बु हो कहाँ अधिष्ठित, कहिए' : 'रामचरितमानस' के भरत भी राम से पूछते हैं :

देव-देव अभिषेक हित गुर अनुसासनु पाइ।
आनेउं सब तीरथ सलिलु तेहि कहँ काह रजाइ ॥

'हम सब भी कर लें तनिक तपोवन-यात्रा' : गोस्वामी जी के भरत :

बोले बानि सनेह सुहाई ॥
चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन।
खग मृग सर सरि निर्झर गिरिगन ॥
प्रभु पद अंकित अवनि विशेषी।
आयसु होइ त आवौं देखी ॥

"जैसी इच्छा ··· ··· ··· ··· पर रहे नियत ही मात्रा।"

राम ने उत्तर दिया, "जैसी (तुम्हारी इच्छा) परन्तु मात्रा (अवधि) नियत (सीमित) ही रहे (तुम्हारे लिए यहाँ अवधि अथवा अनिश्चित समय तक रहना उचित नहीं)।"

'रामचरितमानस' के राम ने कहा था :

तात बिगतभय कानन चरहू ॥

तब सबने जय-जयकार किया ··· ···· ···· ···· श्लाघ्य भरत का जाना।

तब सबने जी भर कर (भरत तथा राम का) जय-जयकार किया और भरत का वंचित (इच्छित वस्तु से रहित) होना भी श्लाघ्य (सराहनीय) ही माना। (भरत ने इच्छित वस्तु न पाकर भी मानों बहुत कुछ पा लिया था)।

'रामचरितमानस' में :

धन्य भरत जय राम गोसाईं। कहत देव हरषत बरिआईं ॥
मति अनुसार सराहन लागे। सचिव सभासद सब अनुरागे ॥

पाया अपूर्व विश्राम साँस सी ··· ···· ··· ··· प्रकृति-दृश्य मिलते थे।

सबने (सन्तोष की) साँस-सी लेकर अनुपम विश्राम पाया। गिरि (चित्रकूट) ने उन सबको शुद्ध हवा तथा पानी देकर उनकी सेवा (अतिथि-सत्कार) की। अनन्त (आकाश) ने उस (अपूर्व) दृश्य को अपने नेत्रों में धारण करके उन्हें (नेत्रों को) बन्द कर लिया। चन्द्रमा चिन्तामुक्त होकर बाँकी हँसी हँस कर खिसक गया। पक्षी चहचहाने लगे, नव प्रभात हो गया। पर्वत-माला सोने के वस्त्र पहने दिखाई दी। सिंदूर-चढ़ा (सिंदूरी रङ्ग का)

आदर्श-दिनेश (सूर्य के रूप में आदर्श) उदय हो गया था। प्रत्येक व्यक्ति (उस प्रकाश में) अपने को देख-देख कर प्रसन्न हो रहा था। सब अतिथि घूम कर तथा गा कर आनन्द प्राप्त कर रहे थे। वे गा-गा कर कह रहे थे—"हम इस पुण्य भूमि पर आकर कृताथ हो गये।" इस प्रकार नये-नये मुनियों के दर्शन करके तथा प्राकृतिक दृश्य देखकर सब लोगों के मन-कमल खिल रहे थे (जैसे सवेरा होने पर कमल खिल जाते हैं)।

चित्रकूट की सभा में जो निर्णय हुआ उसने दोनों पक्षों को सन्तुष्ट कर दिया। फलत: समस्त उपस्थित व्यक्तियों ने जय-जयकार करके अपना सन्तोष प्रकट किया। इतना ही नहीं, उन्होंने तो—

वंचित होना भी श्लाघ्य भरत का जाना

सब चिन्तामुक्त हो गये। सबने चैन की साँस ली। *विश्राम* का यह भाव धरती तक ही सीमित न रहा। *अनन्त* ने भी उस अनुपम शोभा को अपने नेत्रों में धारण करके नेत्र मूँद लिए—कहीं वह दृश्य नेत्रों से निकल न जाए। चन्द्रमा निश्चिन्त होकर बाँकी हँसी हँस कर खिसक गया। सबके हृदय का बोझ उतर गया था। प्रसन्न प्रकृति अयोध्यावासियों की सुखद मन:स्थिति की साक्षी बन गयी।

अब तक भरत का भाग्य अनिश्चित था, सम्पूर्ण अयोध्या का भाग्य *अन्धकार* में छिपा था। चित्रकूट में *नया उजाला* हुआ, *आदर्श-दिनेश* उदित हुआ। सब लोगों ने अन्धकार त्याग कर प्रकाश-लोक में प्रवेश किया। ग्लानि की भावनाओं से ग्रस्त प्राणी भी अपने को निहार मुदित हो गये। उनके हृदयस्थित भाव गीत बन कर गूँजने लगे। उल्लास की उन रश्मियों ने पृथ्वी और आकाश का अन्तर मिटा दिया और दोनों को एक साथ ही हर्ष-विभोर कर दिया।

गुरु-जन-समीप थे एक समय ···· ···· ··· ··· उसी में है सन्तोष।"

एक अवसर पर जब श्री राम गुरु-जन के समीप थे तो जनकसुता ने लाघव (धोखे अथवा फुर्ती) से लक्ष्मण से कहा, "तात! ज़रा (कुटी में से) ताल संपुटक (दोने) तो ले आओ। मैं बहनों को वन के उपहार भेंट करना चाहती हूँ।"

"जो आज्ञा" कह कर लक्ष्मण इसी प्रकार तुरन्त कुटिया में चले गये जैसे सूर्य की किरण कमल के संपुट में प्रविष्ट होती है। जब लक्ष्मण भीतर पहुँचे तो उन्हें कोने में ऊर्मिला-रेखा (क्षीण काया ऊर्मिला की रेखा मात्र) दिखायी दी। पल भर तक वह निश्चय न कर सके कि वह ऊर्मिला की काया (शरीर) है अथवा उसकी छाया ही बाकी रह गयी है।

ऊर्मिला ने कहा, "मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी (वनवासी) हो गये हैं (तुम) अत्यधिक भय त्याग दो (इतना डरने की आवश्यकता नहीं) मैं तुम्हें बाँध न लूँगी।"

(यह सुनते ही) लक्ष्मण दौड़ कर पत्नी के चरणों पर जा गिरे और वह भी नेत्र-जल (आँसुओं) में प्रियतम के चरणों को धारण करके भीग उठी (पुलकित हो गयी)।

लक्ष्मण बोले, "कुछ समय तक वन में रह कर तथा तपस्या करके मुझे अपने योग्य बनने दो। भाभी की बहिन! तुम मेरे लिए केवल उपभोग्य ही नहीं हो।"

ऊर्मिला ने उत्तर दिया, "हा स्वामी! न जाने क्या-क्या कहना था (इस अवसर पर कहना तो बहुत कुछ था) परन्तु कह न सकी। यह मेरे कर्मों का दोष (भाग्य) ही तो है। परन्तु जिस बात में तुम्हें सन्तोष है, उसी में मैं भी सन्तुष्ट हूँ।"

"चित्रकूट में एक बार फिर सीता के लाघव से ऊर्मिला और लक्ष्मण का क्षणिक मिलन होता है। स्त्री का हृदय ही स्त्री के हृदय को पहचानता है। आजकल भी कभी परिवारों में इस प्रकार के मिलन का माध्यम स्त्रियाँ, विशेषकर भाभियाँ ही होती हैं। सीता ऊर्मिला की वेदना पहचानती हैं अतः वे लक्ष्मण को धोखे से, जैसा कि प्रायः स्त्रियाँ करती हैं; कुटिया में भेजती हैं। प्रवेश करते ही लक्ष्मण कोने में ऊर्मिला को देखते हैं, जो वियोग में कृश होते-होते अब केवल ऊर्मिला रेखा-मात्र रह गयी है। वे क्षण भर के लिए विमूढ़-से हो जाते हैं और निश्चय नहीं कर पाते कि वह ऊर्मिला ही है अथवा उसकी छाया। आखिर ऊर्मिला ही लक्ष्मण की इस अवस्था को देख कर पुकार उठती है :

मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजो भय भारी।

उसके उपवन का हरिण आज वनचारी हो गया है—इसलिए कदाचित् उपवन में आने से डरता है कि बाँध न लिया जाऊँ। वह विश्वास दिलाती है—"नहीं, मैंने अपनी मरजी से ही तुम्हें छोड़ा है, मैं नहीं बाँधूँगी, डरो न! लक्ष्मण के हृदय का तूफान शब्दातीत था—अतः

गिर पड़े दौड़ सौमित्रि प्रिया-पद-तल में,
वह भीग उठी प्रिय-चरण धरे दृग-जल में।

यह आवेश का आवेश से मिलन था। दो हृदयों के अथाह सागर आपस में मिल गये—संसार लय हो गया। लक्ष्मण का हृदय अपराधी है, वह जानता है कि ऊर्मिला के साथ अन्याय हुआ है। उधर ऊर्मिला की उदारता देख कर वह और लज्जित हो जाता है। लक्ष्मण अपने आप को ऊर्मिला से कहीं नीचा मानते हैं और कह उठते हैं :

"वन में तनिक तपस्या करके
बनने दो मुझको निज योग्य।
भाभी की भगिनी, तुम मेरे
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य॥"

ऊर्मिला को बहुत कुछ कहना था। वे सभी बातें, जो पहली बार नहीं कही जा सकती थीं अब कही जा सकती थीं परन्तु क्या उसमें इतनी शक्ति थी। बस बेचारी—

"हा स्वामी! कहना था क्या-क्या
कह न सकी, कर्मों का दोष।
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो
मुझे उसी में है सन्तोष॥"

कह कर विवश हो जाती है। इस प्रकार कवि ने विच्छेद के अवसरों पर अनुभावों से ही काम लिया है; व्यथा ध्वनित की गयी है, अभिव्यक्त नहीं। अभिव्यक्ति तो ऐसे अवसरों पर असम्भव भी है और अप्राकृतिक भी।"*

एक घड़ी भी बीत न .... पितृपद भी मेरे।

(लक्ष्मण को ऊर्मिला के पास) एक घड़ी भी न बीत पायी थी कि बाहर से कुछ आवाज़ आयी। सीता कह रही थीं—"अरे! अरे!! मेरे पिता भी आ गये।"

.... और इस *वाणी* ने ऊर्मिला-लक्ष्मण का वह क्षणिक स्वप्न भंग कर दिया!

* साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ५७, ५८।

नवम सर्ग

दो वंशों में प्रकट करके ··· ··· ··· ··· वे पुण्यदेही, विदेही।

सौ (सैकड़ों) पुत्रों से भी अधिक पवित्र चरित्र वाली जिनकी पुत्रियों ने दो वंशों (पिता तथा पति-कुल) में अपनी पवित्र करने वाली मानव-लीला दिखाई, बड़े-बड़े त्यागी भी जिनके शरण हैं (जिनकी महानता को स्वीकार करते हैं), जो गृहस्थी होकर भी अनासक्त हैं, उन राजर्षि, पुण्यात्मा तथा विदेह जनक की जय हो।

नवम सर्ग में विदेह जनक की पूतशीला पुत्री, ऊर्मिला, की भावनाओं की अभिव्यक्ति है अतः इसके आरम्भ में जनक जी की स्तुति की गयी है।

'पूत' का अर्थ है—पुत्र तथा पवित्र। महाराज जनक की पुत्रियाँ सौ पूतों से भी अधिक पवित्र, *अधिक पूतशीला*, हैं। मानव-रूप में किये गये उनके कार्य केवल स्वयं ही पवित्र नहीं, दूसरों को भी पावन करने वाले हैं। उनकी *पावनी लोक-लीला* पिता तथा पति—दोनों के कुल में समान रूप से प्रकट हुई है, उन्होंने दोनों वंशों को धन्य तथा गौरवान्वित किया है।

जनक राजर्षि हैं, पुण्यात्मा हैं, देहधारी होकर भी विदेह हैं और गृहस्थी होकर भी अनासक्त। 'विदेह' के कवि के शब्दों में :

मनुज के सिंहासन पर बैठ कौन करता है योग महान
व्योम को भी सांसों में बांध फूँकता है मिट्टी में प्राण!····
देह लेकर भी जो कि विदेह सूक्ष्म है जो लेकर भी स्थूल
शून्य है जिसका जीवन-सिन्धु ध्वनित हैं उनके दोनों कूल
सुरभि में जो कि सदा है लीन विश्व के शूल-फूल हैं मौन
सहज सुख-दुख से जो अति दूर महात्मा योगी, हे तुम कौन····
योग में भोग, भोग में योग कठिन कितना है मानव-कर्म
जानते वाल्मीकि औ' व्यास तुम्हारे तप के अक्षय मर्म
सिन्धु को बिन्दु, बिन्दु को सिन्धु समझने वाले हो तुम कौन
स्वयं बन कर मिट्टी की ज्योति बिखरने वाले हो तुम कौन···
मरण को लिए मरण से दूर कौन तुम जीवनमय संगीत
दिव्य-इतिहास क्षितिज पर खड़े धरा को देते ज्योति अतीत

नीति को कर्मासन पर बिठा कर रहा कौन आत्म-सन्धान
मनुज के सिंहासन पर बैठ कौन तुम करते योग महान ![*]

विफल जीवन व्यर्थ बहा, बहा ... ... श्रम भी सुख-सा रहा ।

(मेरे कवि–) जीवन (का प्रवाह) व्यर्थ ही बहता रहा (मैंने जिन कविताओं की रचना की उनमें से) दो छन्द भी सरस न हो सके। कविते, (सत्य तो यह है कि) तेरी भूमि (क्षेत्र) ही अत्यन्त कठिन है परन्तु (दो पद भी सरस न होने पर भी) इस दिशा में किया जाने वाला परिश्रम (कष्ट-कर न होकर) सुखप्रद-सा ही रहा।

यहाँ 'जीवन', 'पद' तथा 'भूमि' श्लिष्ट शब्द हैं। 'जीवन' का अर्थ है—जिन्दगी और जल, 'पद' का अर्थ है—छन्द और प्रदेश, 'भूमि' का अर्थ है—काव्य-क्षेत्र और पृथ्वी। इस प्रकार उक्त उद्धरण में यह ध्वनित होता है कि जिस प्रकार कड़ी भूमि पर जल सिंचन व्यर्थ रहता है, वहाँ जल का प्रवाह थोड़े से भू-भाग को भी प्लावित नहीं कर पाता, उसी प्रकार इस कठिन काव्य-भूमि पर कवि का जीवन व्यर्थ ही बहता रहा, उसके दो छन्द भी रसपूर्ण न हो सके। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस सम्बन्ध में किया जाने वाला परिश्रम भी सुखकर ही रहा।

'साकेत' के कवि के इस कथन में वही विनयशीलता तथा विनम्रता है, जिसकी अभिव्यक्ति गोस्वामी जी ने इस प्रकार की थी :

कवि न होउँ नहि बचन प्रबीनू । सकल कला सब बिद्या हीनू ॥....
कबित बिबेक एक नहिं मोरें । सत्य कहउँ लिखि कागद कोरें ॥

"करुणे, क्यों रोती है ... ... भव-भूति क्यों कहे कोई ?"

कवि करुणा को सम्बोधित करके पूछता है, "करुणे ! तू क्यों रोती है ? (भवभूति के) 'उत्तर' (रामचरित) में तो तू पहले ही बहुत अधिक रो चुकी है।"

करुणा का उत्तर है : "मेरी विभूति (ऐश्वर्य अथवा सम्पदा) को लोग भवभूति (संसार का ऐश्वर्य अथवा शिव की विभूति) क्यों बताते हैं ?" (मेरे रोने का कारण यही है कि मेरी विभूति को लोग भवभूति बताते हैं।)

नवम सर्ग में करुण रस की प्रधानता है अतः कवि ने यहाँ करुणा को सम्बोधित किया है।

---

[*] पोद्दार रामावतार 'अरुण', विदेह, सर्ग १, पृष्ठ १५ से १८।

उपर्युक्त उद्धरण में 'उत्तर' तथा 'भवभूति' शब्दों में श्लेष है। 'उत्तर' के अर्थ हैं—जवाब और भवभूति कृत 'उत्तररामचरित', 'भवभूति' के अर्थ हैं—'उत्तररामचरित' के रचयिता भवभूति, संसार का ऐश्वर्य और शिव की विभूति (भभूत)। 'उत्तररामचरित' में करुण रस की प्रधानता है।

'उत्तर में और अधिक तू रोई' : रोते हुए व्यक्ति से सहानुभूतिवश उसके रोने का कारण पूछा जाय तो वह और भी ज़ोर ज़ोर से रोने लगता है।

अवध को अपना कर त्याग से ··· ··· ···· वन का व्रत ले लिया !

प्रभु (श्री रामचन्द्र जी) ने अयोध्या को अपने त्याग से अपना कर (अपने त्याग के कारण अयोध्यावासियों की अपार श्रद्धा अर्जित करके) वन को तपोवन (तपस्वियों के रहने अथवा तपस्या करने योग्य वन) सा बना लिया। उधर भरत ने (राम के प्रति) असीम अनुराग के कारण ही (राज) भवन में भी वन का व्रत ले लिया (वनवासियों की भाँति रहने लगे)!

'अवध को अपनाकर त्याग से' : राम ने रूठ कर अथवा घृणा से अयोध्या का त्याग नहीं किया :

मैं वन जाता नहीं रूठ कर गेह से,
*अथवा भय, दौर्बल्य तथा निःस्नेह से !**

उनका तो यह स्पष्ट कथन है :

तुमसे प्यारा मुझे कौन कातर न हो,
*मैं अपना भी त्याग करूँ तुम पर कहो !**

अस्तु, इस त्याग से तो राम अवध से दूर होने के बदले सन्निकट ही आये हैं। (यहाँ त्याग करने और अपनाने का विरोधाभास भी द्रष्टव्य है।)

'वन तपोवन सा प्रभु ने किया' : राम के वहाँ जाने से पूर्व वन जङ्गल-मात्र था जहाँ—

बहु जन वन में हैं बने ऋक्ष वानर से

असभ्य जातियों से बसे इसी वन को राम ने तपोवन-सा बना दिया। जहाँ—

उच्चारित होती चले वेद की वाणी,
गूँजे गिरि-कानन-सिन्धु-पार कल्याणी।
अम्बर में पावन होम-धूप घहरावे ···· ···†

---

* साकेत, सर्ग ५।

† साकेत, सर्ग ८।

'भरत ने उनके अनुराग से, भवन में वन का व्रत ले लिया':
'रामचरितमानस' में—

नंदिगावं करि परन कुटीरा। कीन्ह निवासु धरम धुर धीरा॥
जटाजूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी॥....

स्वामि-सहित सीता ने नन्दन .... हितार्थ निज उपवन भी।

पति के साथ रहने के कारण सीता ने घने तथा बीहड़ वन को भी नन्दन (इन्द्र का उपवन) मान लिया। इधर ऊर्मिला वधू ने उन्हीं के लिए अपने उपवन को वन में परिणत कर लिया।

अपने अतुलित कुल में प्रकट हुआ था .... धो डाला।

उस कुल-बाला (ऊर्मिला) ने अपने अतुलनीय कुल पर लगने वाला कालिमामय कलङ्क अपने नेत्रों के अनवरत जल से पूर्णतः धो दिया।

अपने ही आँसुओं से अपने कुल पर लगे कलंक को धोने वाली ऊर्मिला को *कुल-बाला* कहा गया है।

भूल अवधि सुध प्रिय से कहती ••• ••• ••• बोल कर 'जाओ।'

चौदह वर्ष की अवधि का स्मरण न रहने पर ऊर्मिला कभी तो जागृत अवस्था में पति को आमन्त्रित करती हुई कहती थी 'आओ!' परन्तु सुप्तावस्था में (स्वप्न में पति को वहाँ देख कर) सहसा चौंक जाती और कहने लगती 'जाओ!' (तुम लौट जाओ। अवधि पूरी होने से पूर्व ही तुम क्यों आ गये?)

ऊर्मिला जागृत अवस्था में तो कभी-कभी *अवधि-सुध भूल* जाती थी परन्तु सोते हुए उसे यह ध्यान बराबर रहता था।

श्री कन्हैयालाल सहल का विचार है कि इन पंक्तियों में कवि ने मध्या नायिका की भाँति ऊर्मिला का चित्रण किया है। वे लिखते हैं: "जागृतावस्था में भी जब ऊर्मिला को १४ वर्षों की अवधि का स्मरण न रहता तो वह अपने प्रिय को संयोग-सुख के लिए आमन्त्रित करती थी। निद्रा की अवस्था में जब कभी स्वप्न से उसका मिलन होता तो वह मध्या नायिका की भाँति चौंक कर 'जाओ' कह उठती थी। 'आओ' और 'जाओ' क्रमशः काम और लज्जा के द्योतक हैं। ध्वनि यह है कि ऊर्मिला को सोते-जागते पति का ही ध्यान है।"*

---

* साकेत के नवम सर्ग का 'काव्य-वैभव', पृष्ठ ८, ९।

डा० नगेन्द्र के शब्दों में : "उसकी मनोदशा में इस समय एक प्रकार की जटिलता है, वहाँ आदर्श और कामना के बीच में संघर्ष है। आदर्श कहता है, 'जाओ' भाव कहता है 'आओ'।"※

और स्वयं कवि के शब्दों में—"मैंने तो यहाँ यही कहना चाहा था कि जागते में ऊर्मिला भले ही अवधि की सुध भूल कर पीड़ा के कारण कभी अपने प्रिय को पुकार उठती थी, परन्तु स्वप्न में भी वह अवधि के पहले उनका आना नहीं चाहती थी। यदि वे कभी स्वप्न में आ जाते तो 'जाओ' कह कर वह जाग उठती थी।"†

मानस-मन्दिर में सती ··· ···· ···· ···· बनी आरती आप!

सती (ऊर्मिला) ने मन-मन्दिर में पति की मूर्ति स्थापित कर ली और विरह के कारण जलती-सी हुई ऊर्मिला (उस प्रतिमा की उपासना के लिए) आरती बन गयी!

इन पंक्तियों में निहित ऊहा ने स्वाभाविकता एवं सम्भाव्यता की सीमा का उल्लंघन नहीं किया है।

महादेवी की विरहिणी शून्य-मंदिर में अपने प्रियतम की प्रतिमा बन जाती है :

शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी!
अर्चना हों शूल भोले,
क्षार दृग-जल अर्घ्य हो ले,
आज करुणा-स्नात उजला,
दुःख हो मेरा पुजारी!···‡

आँखों में प्रिय मूर्त्ति थी ··· ··· ··· ···· उसका विषम-वियोग!

ऊर्मिला के नेत्रों में सदा अपने पति की ही मूर्ति रहती थी। उसने समस्त सुख-भोग भुला दिये थे। उसका यह कठोर वियोग तो योग से भी बढ़ गया था।

योग में समस्त चित्तवृत्तियाँ किसी एक लक्ष्य विशेष पर केन्द्रित हो जाती हैं। ऊर्मिला की चित्तवृत्तियाँ भी एकमात्र अपने पति में ही केन्द्रित थीं। यहाँ व्यतिरेक द्वारा कवि ने *वियोग* को *योग* से भी अधिक ठहरा दिया है।

※ साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ७१।

† साकेत के नवम सर्ग का 'काव्य-वैभव', पृष्ठ १५७–१५८ से उद्धृत।

‡ यामा (सान्ध्यगीत), पृष्ठ २१२।

'वियोगिनी योगिनी' यशोधरा का चित्र अंकित करते हुए अनूप जी ने लिखा है :

विषय-संग हुआ सब अस्त था,
नयन-उत्पल अर्ध खुले हुए,
श्वसन-श्वासन ध्यान-समाधि से,
बन गई कि वियोगिनि योगिनी।*

आठ पहर चौंसठ घड़ी ··· ··· ··· ··· उससे आत्मज्ञान !

ऊर्मिला को आठ पहर तथा चौंसठ घड़ी (सदा ही) अपने पति का ध्यान रहता था। (ऐसा जान पड़ता था मानों) आत्म-ज्ञान तो स्वयं उससे पीछे रह गया था।

यहाँ 'आत्म-ज्ञान' में श्लेष है; अर्थ है—१. तत्त्व-चिन्तन अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार और २. अपनी सुधि। ऊर्मिला हर समय अपने पति के ध्यान में इतनी निमग्न रहती थी कि उसे अपनी सुधि ही न रह गयी थी। व्यतिरेक द्वारा इस पंक्ति का यह अर्थ ध्वनित होता है कि ऊर्मिला के इस पति-स्मरण (ध्यान) से तो आत्म ज्ञान (तत्त्व-चिन्तन) भी पीछे छूट गया था (हलका पड़ गया था)।

उस रुदन्ती विरहिणी के ···· ···· ···· ···· ताम्रपत्र सुवर्ण के ?

जिन कवियों का एक-एक अक्षर कानों को सुख देने वाला (कर्ण-सुखद) होता है, उनके ताम्रपत्र भी उस रुदन्ती विरहिणी (ऊर्मिला) के अश्रु-रस का लेप होने तथा उसके पति-वियोग-जन्य भावातिरेक का ताप (गरमी) पाकर (उसकी वियोग-व्यथा का वर्णन करके) सुवर्ण के क्यों न बन जाते ?

'रुदन्ती' एक औषधि का नाम है। कहा जाता है कि यदि इसका रस ताँबे पर मल दिया जाए और उसे आँच पर तपा लिया जाए तो ताँबा सोना बन जाता है। यहाँ कवि वास्तव में विरहिणी ऊर्मिला के आँसुओं और ताप को अत्यन्त प्रभावोत्पादक बना कर प्रस्तुत कर रहा है। जिस प्रकार रुदन्ती (औषधि) का रस ताँबे पर मल कर तपाने से ताँबा सोना हो जाता है ठीक उसी प्रकार विरहिणी ऊर्मिला के रुदन-रस के लेप और प्रिय-विरह-विक्षेप से कवि जनों के वर्ण-वर्ण सुवर्ण के बन गये हैं।

अलङ्कार—रूपक, श्लेष, काकुवक्रोक्ति।

पहले आँखों में थे, मानस में ··· ··· ···· ··· अश्रु वे कब थे ?

पहले (प्रियतम) आँखों में (बसे हुए) थे, अब वे मानस (मन) में कूद

* श्री अनूप शर्मा, सिद्धार्थ, सर्ग १६, पृष्ठ २४४।

कर मग्न हो रहे हैं। अस्तु, ये बड़े बड़े आँसू न होकर वे छींटे ही हैं (जो उनके मानस में कूदने पर उड़े हैं)।

पहले (संयोगावस्था में) लक्ष्मण ऊर्मिला के सामने थे—आँखों में थे। अब (विरह की अवस्था में) वे मानस (यहाँ मानस में श्लेष है; अर्थ है—मन तथा मानसरोवर) में कूद कर मग्न हो रहे हैं। सरोवर में कूदने पर छींटें उड़ती हैं। लक्ष्मण ऊर्मिला के मानस-सरोवर में कूदे तो छींटें उठना स्वाभाविक था। ये वही तो छींटें हैं, बड़े-बड़े आँसू कहाँ हैं? (नहीं हैं।) (अलंकार—हेत्वपह्नुति)।

उसे बहुत थी विरह के ··· ··· ··· ·· निज यत्नों की ओट।

उसे (ऊर्मिला को) विरह के एक दण्ड की चोट ही बहुत थी। (उसी चोट से उसे बचाने के लिए) सखी अपने प्रयत्नों की ओट देती रही (भाँति-भाँति के प्रयत्न करती रही)।

"'दण्ड' शब्द यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—१. डण्डा और २. साठ पल का समय। श्लेष के कारण इस दोहे में बड़ी मार्मिकता आ गयी है तथा रूपक का भी अच्छा निर्वाह हो गया है। डण्डे की चोट से बचने के लिए ओट की आवश्यकता होती है; विरह के एक दण्ड की चोट भी ऊर्मिला सहन नहीं कर पाती, यत्नों की ओट से किसी प्रकार सखी उसकी रक्षा कर रही है। इस दोहे में 'दण्ड की चोट' इस पहले रूपक के आधार पर 'यत्नों की ओट' इस दूसरे रूपक का निरूपण हुआ है। इसीलिए यहाँ परम्परित रूपक है जिसका आधार 'दण्ड' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग है।"*

मिलाप था दूर अभी धनी ···· ···· ···· ···· दिर दार दारा!

धनी (पति) से मिलने (मिलाप) का समय अभी दूर था; (अभी तो) विलाप (रुदन) मात्र ही अपने वश तथा सामर्थ्य की बात थी। वीणा से निकलने वाले 'दिर दार दारा' की ध्वनि की भाँति यह विलाप ही हमारा (ऊर्मिला का) अनोखा आलाप (स्वर साधना अथवा तान) बन गया।

स्वर-साधना करते समय गायक की अंगुलियाँ वीणा के तारों का स्पर्श करती हैं तो उन तारों में से 'दिर दार दारा' की ध्वनि निकलती है। इसी प्रकार वियोगिनी ऊर्मिला का विलाप ही उसका आलाप बन गया है। 'विलाप' और 'आलाप' के विरोधात्मक प्रयोग से यहाँ काव्य-सौन्दर्य की तो वृद्धि हुई ही है, इसके साथ-ही-साथ ऊर्मिला की वियोग-साधना पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उसने *विलाप* को भी *आलाप* के रूप में ही स्वीकार किया है।

---

* श्री कन्हैयालाल 'सहल', साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृष्ठ ११।

गुप्त जी की यशोधरा ने भी तो कहा है :

रुदन का हँसना ही तो गान ।
गा-गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान ॥
मीड़-मसक है कसक हमारी, और गमक है हूक ।
चातक की हुत-हृदय-हूति जो, सो कोइल की कूक ॥
राग हैं सब मूर्च्छित आह्वान ।
रुदन का हँसना ही तो गान ॥....*

सींचें ही बस मालिनें, कलश लें ... ... सोता भिगोता बहे ।

ऊर्मिला कहती है, "मालिनें कलश लेकर केवल पौधों की सिंचाई करें, कैंची लेकर उनकी कटाई-छँटाई न करें। वृक्ष फूल-फल कर अपनी इच्छानुसार जिधर चाहें बढ़ें। हरी शाखाएँ भी स्वेच्छापूर्वक विकसित हों। क्रीड़ा-कानन (आमोद-कुञ्ज) का पर्वत भी फव्वारे के जल से सींचा जाता रहे। हे सखी! चलो, मेरे जीवन का सोता (निर्झर) भी भिगोता (सींचता) हुआ वहीं (क्रीड़ा-कानन में) बहता रहे।"

सामान्य विरहिणियों की भाँति ऊर्मिला वियोग की घड़ियों में उद्दीपन विभावों को उपालम्भ देकर कोसती नहीं, विरह ने तो उसकी चित्तवृत्तियों को असाधारण रूप से कोमल तथा उदार बना दिया है।

क्या-क्या होगा साथ में क्या .... पाँचवीं तू प्रवीणा ।

"हे सखी! (इन दिनों अथवा घड़ियों में) मेरे साथ क्या-क्या होगा (मैं किस-किस वस्तु को साथ रखूँगी) यह मैं कैसे बताऊँ? आज मेरा है ही क्या जिस पर मैं अपना स्वत्व जताऊँ? तथापि तूलिका है, पुस्तिका है, वीणा है, चौथी मैं हूँ और प्रवीणा, पाँचवी तू है (यही पाँच वस्तुएँ मेरे साथ रहेंगी)।"

पति की अनुपस्थिति में पत्नी के पास आज है ही क्या, जिस पर वह अधिकार जताए? तथापि वियोग की इस लम्बी अवधि में वह तूलिका, वीणा, पुस्तिका तथा अपनी सखी प्रवीणा को अपने साथ रखना चाहती है।

हुआ एक दुःस्वप्न-सा .... वैसा ही दिन रात !

"हे सखी! बुरे स्वप्न जैसा यह क्या उपद्रव हुआ है जो जाग जाने पर भी दिन-रात वैसा ही (कष्टप्रद) बना रहता है!"

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ६८।

खान-पान तो ठीक है ... . उसका कौन उपाय ?

ऊर्मिला कहती है, "मेरा खान-पान तो ठीक है (यन्त्रवत् यथासमय होता रहता है) परन्तु उसके उपरान्त जो विश्राम आवश्यक है उसका क्या उपाय ? (वह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं हो पाता) (दूसरों के अनुरोध पर ऊर्मिला को समय पर भोजन आदि तो कर लेना पड़ता है परन्तु विश्राम का सम्बन्ध तो उसके मन से है, वही मन जिसकी विश्रान्ति भाग्य ने चौदह वर्षों की सुदीर्घ अवधि के लिए उससे छीन ली है) ।"

अरी, व्यर्थ है व्यंजनों की ... ... उसे कौन खावे ?

"अरी सखी ! (भाँति-भाँति के) व्यञ्जनों (खाने के लिए प्रस्तुत पदार्थों) की प्रशंसा व्यर्थ है । तू (भोजन का यह) थाल हटा ले । तू इसे अपने आप ही क्यों ले आयी है ? पाक (भोजन) तो (वास्तव में) वही है जो बिना भूख अच्छा लगे परन्तु तू ही बता कि अब (प्रस्तुत परिस्थिति में) उसे कौन खावे ?"

सखी भोजन के लिए प्रस्तुत विविध व्यञ्जनों की प्रशंसा करके ऊर्मिला को उस ओर प्रवृत्त करना चाहती है परन्तु ऊर्मिला को उनमें कोई रुचि नहीं, वह इस *बड़ाई* को *व्यर्थ* समझती है । एक बात और भी है । ऊर्मिला ने सखी से भोजन लाने के लिए नहीं कहा था । वह तो इसे *आप लाई* है ।

इन पंक्तियों की मार्मिकता असन्दिग्ध है ।

वही पाक है जो बिना भूख भावे : बिना भूख अच्छा लगने वाला भोजन ही वास्तव में पाक (भोजन) है अन्यथा कहावत है कि *'भूख में तो किवाड़ भी पापड़ लगते हैं ।'*

बनाती रसोई, सभी को .... मैं अलोना-सलोना ?

"यदि मैं आज अपने हाथ से रसोई बना कर सभी को खिलाती तो मुझे आज कितनी तृप्ति होती ! परन्तु मेरे लिए तो अब रोना ही शेष रह गया है । मैं अपना अलोना-सलोना (पाक) (आँसू) (आँसुओं का स्वाद हलका नमकीन होता है) किसे खिलाऊँ ?"

वन में सीता का गार्हस्थ्य जाग गया है; ऊर्मिला का गार्हस्थ्य *भवन में भी* तड़प रहा है । कितना अच्छा होता यदि वह आज अपने हाथ से भोजन बना कर सबको खिलाती । परन्तु वह *तृप्ति* उसके भाग्य में कहाँ ?

वन की भेंट मिली है ··· ··· ··· ··· स्वयं ही जी से !

"हे सखी ! मुझे जीजी (सीता) ने वन की भेंट के रूप में एक नयी जड़ी दी है । इसे खा लेने से गुड़ (स्वादिष्ट पदार्थ) भी स्वयमेव गोबर-सा (अस्वादिष्ट) जान पड़ने लगता है ।"

कहा जाता है कि 'गुड़मार' नामक बूटी को खा लेने पर गुड़ का स्वाद भी मिट्टी जैसा हो जाता है । यह बूटी बुंदेलखण्ड में बहुत पायी जाती है । कदाचित् चित्रकूट में सीता ने ऊर्मिला के सामने उस बूटी का उल्लेख किया हो अथवा वन की भेंट के रूप में वह विचित्र बूटी अपनी बहिन को दे भी दी हो ।

ऊर्मिला के इस कथन का भाव यह है कि पति के वियोग में मेरी भूख तथा जिह्वा का स्वाद, दोनों ही नष्ट हो गये हैं, मानों मैंने 'गुड़मार' बूटी ही खा ली हो ।

रस हैं बहुत सखी ··· ··· ···· ···· यहाँ भोग भी रोग !

"हे सखी ! रस तो बहुत हैं परन्तु उनका विषम (असंगत) प्रयोग तो विष-तुल्य (हानिकारक) है । प्रयोक्ता के बिना तो यहाँ (रस) भोग भी रोग (तुल्य) हो गये हैं ।"

यहाँ 'रस' तथा 'प्रयोक्ता' श्लिष्ट शब्द हैं; 'रस' के अर्थ हैं : (मधुर, तिक्त, अम्ल आदि) भोजन के षड्रस तथा रसौषध; 'प्रयोक्ता' के अर्थ हैं : प्रिय और रसवैद्य ।

रसौषधों का प्रयोग रसवैद्य के आदेश के अनुसार ही करना उचित है । रसवैद्य के निर्देश के बिना स्वेच्छा से ही उनका प्रयोग करने से *रस* भी *विष* तुल्य हो जाता है । इसी प्रकार आज ऊर्मिला के लिए भी किसी रस (भोजन के षट्रस) की कमी नहीं, आवश्यकता तो *प्रयोक्ता* की है जो उन रसों के प्रयोग के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश दे सके । प्रयोक्ता की अनुपस्थिति में तो *भोग* भी *रोग* तुल्य ही हैं ।

लाई है क्षीर क्यों तू ? ···· ···· ···· ···· चाहिए और क्या हा !

सखी ऊर्मिला के लिए दूध लायी है । ऊर्मिला कहती है, "तू दूध क्यों लाई है ? हे सखी ! (इस प्रकार पिलाने के लिए) हठ न कर, मैं नहीं पिऊँगी । (तनिक यह तो बता कि क्या) तूने मुझे कोई सफल हठी शिशु समझ रखा है को रङ्क होकर भी राज्यशाली है ? तूने (ही) तो मुझे तरुण विरहिणी माना है जिसका विवाह एक वीर के साथ हुआ है । (यह तो बता कि) क्या फिर मेरे (पास पीने के लिए) आँखों का पानी ही कम है ? हाय,

(आँसुओं के रहते) मुझे और क्या चाहिए (वियोग-वेला में तो आँसू ही पर्याप्त हैं, हाँ मिलन की घड़ियों में, जब आँखों का नीर उल्लास में परिवर्तित हो जाएगा तब मुझे एक बार फिर प्रत्येक वस्तु की आवश्यकता तथा कामना होगी)।"

चाहे फटा-फटा हो, मेरा अम्बर ··· ··· ··· यहाँ धूलि तो डाली !

ऊर्मिला की सखी उसे फटे वस्त्रों का स्मरण दिलाती है। उसका उत्तर है, "हे सखी ! मेरा वस्त्र फटा-फटा भले ही हो तथापि यह शून्य (आकाश के समान सूना) नहीं है क्योंकि किसी वायु ने आकर यहाँ (मेरे इस वस्त्र पर) धूल तो डाली !"

'अम्बर' और 'शून्य' दोनों शब्द 'आकाश' के पर्यायवाची हैं। 'अम्बर' का प्रयोग वस्त्र के लिए भी होता है। 'शून्य' श्लिष्ट शब्द है; अर्थ है : सूना तथा रिक्त। ऊर्मिला का आशय यह है कि मेरा वस्त्र (अम्बर तुल्य होकर भी उसकी भाँति) शून्य (रिक्त) नहीं है अथवा मेरा आकाश (अदृष्ट) फटा-फटा (रूठा हुआ) भले ही हो परन्तु वह रिक्त नहीं है (इसका परिणाम अच्छा ही होगा) !"

धूलि-धूसर हैं तो क्या ··· ··· ···· ···· हैं सुरम्य, सुपात्र भी !

(ऊर्मिला के वस्त्र धूलि-धूसरित हैं। सखी को यह देख कर दुःख होता है।) ऊर्मिला कहती है, "मेरे वस्त्र मिट्टी से भरे (मैले) हैं तो क्या (डर) है ? ऐसे तो यह शरीर भी मिट्टी मात्र ही है और फिर ये वस्त्र वल्कलों से तो अच्छे ही हैं (मैं तो चाहती हूँ कि पति की भाँति वल्कल ही धारण कर सकूँ)।"

फटते हैं, मैले होते हैं ···· ··· ··· ···· हम सब इसी विचार से ?

"सभी वस्त्र व्यवहार (इस्तेमाल में आने) से मैले भी होते हैं और फटते भी हैं परन्तु क्या हम सब उन्हें इसी विचार से पहनते हैं (भाव यह है कि फटना तथा मैला होना वस्त्रों का सामान्य धर्म है, इसे गम्भीर चिंतन का विषय बनाना व्यर्थ है)।"

ऊर्मिला आज अपने वस्त्राभूषणों की ओर से सर्वथा उदासीन है। वह फटे हैं, धूलि-धूसरित हैं, मैले हैं परन्तु इन सब बातों की ओर आज उसका ध्यान नहीं जाता क्योंकि, विरहिणी यशोधरा के शब्दों में :

कह आली, क्या फल है
अब तेरी उस अमूल्य सज्जा का ?

मूल्य नहीं क्या कुछ भी
*मेरी इस नग्न लज्जा का?**

पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि ··· ··· ··· वे पद मरूँ।

सखी बार-बार ऊर्मिला से कुछ खाने अथवा पीने के लिए अनुरोध करती है; वह खीझ कर कहती है) "ला पी लूँ, खा लूँ, पहन लूँ; जैसे भी हो मैं जीवित रह कर अवधि का यह समुद्र पार करूँ। जो तू कहेगी मैं वही मानूँगी परन्तु यह तो बता कि मैं किस प्रकार धैर्य धारण करूँ? अरी, किसी-न-किसी उपाय से तो मैं (पतिदेव के) वे ही चरण पकड़ कर मर सकूँ।"

पति-दर्शन की अन्तिम अभिलाषा पूरी करने के लिए—पति के वही चरण पकड़ कर मरने के लिए—ऊर्मिला सब कुछ सहने तथा करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है।

रोती हैं दूनी निरख कर मुझे ···· ··· ··· ··· शान्ति दूँ और पाऊँ?

"मुझे (इस दशा में) देख कर तीनों सासें दीन-सी होकर और भी दुगुनी दुःखी होकर रोने लगती हैं, देवर शत्रुघ्न (लज्जावश) नत हो जाते हैं; (सन्तप्त तथा दुःखी) बहनें (माण्डवी तथा श्रुतकीर्त्ति) आहें भरने लगती हैं। हे सखी! तू ही बता, इस विजन को छोड़ कर आज मैं और कहाँ जाऊँ, जहाँ ठहर कर दीना, हीना तथा पराश्रिता मैं दूसरों को शान्ति दे सकूँ तथा स्वयं भी शान्ति पा सकूँ?"

ऊर्मिला की दशा देखकर परिवार के सभी सदस्य दुगुने दुःखी हैं। ऊर्मिला इस सत्य से अनवगत नहीं परन्तु वह विवश है। *दीना, हीना, अधीना* ऊर्मिला वह *विजन* छोड़कर और कहाँ जाय, जहाँ रह कर वह स्वयं शान्ति पा सके और दूसरों को भी शान्ति प्रदान कर सके।

यहाँ '*विजन*' शब्द अत्यन्त साभिप्राय है। ऊर्मिला के पति वन में हैं, इसीलिए—

ऊर्मिला वधू ने वन
किया उन्हीं के हितार्थ निज उपवन भी।

अस्तु, जब तक लक्ष्मण वन में हैं तब तक वह इस '*विजन*' को कैसे छोड़ सकती है?

---

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३४।

यशोधरा ने भी अपनी सखी से कहा :

मरने से बढ़ कर यह जीना।
अप्रिय आशंकाएँ करना,
भय खाना हा! आँसू पीना।
फिर भी बता, करे क्या आली,
यशोधरा है अवश-अधीना।
कहाँ जाय यह दीना-हीना,
*उन चरणों में ही चिर लीना।**

आई थी सखि, मैं यहाँ .... फिरना होगा आप।

"हे सखी! हर्ष तथा उल्लास साथ लेकर मैं यहाँ (अयोध्या में) आयी थी। अब भला ये निःश्वास (आहें) देकर यहाँ से कैसे जाऊँगी? इतना ताप (वेदना का गुरुभार साथ) लेकर यह प्राण भला कहाँ जावेंगे (कहीं न जा सकेंगे)? (यदि ये कहीं चले भी गये तो भी) प्रिय के यहाँ लौट आने पर तो इन्हें भी यहाँ अपने आप लौटना ही पड़ेगा।"

"साल रही सखि, माँ की ... ... न भवन ही तुझको।"

"हे सखी! माँ की (चित्रकूट में जनक के साथ ऊर्मिला की माता भी गयी थीं) वह चित्रकूट वाली झाँकी मुझे व्यथित कर रही है जब उन्होंने मुझसे कहा था, 'तुझे न वन ही मिला न भवन (घर) ही'।"

'मिला न वन ही न भवन ही तुझको' : सीता ने भी तो कहा था :

"आज भाग्य जो है मेरा,
वह भी हुआ न हा! तेरा!"

और श्री राम के शब्दों में :

"लक्ष्मण! तुम हो तपस्पृही,
मैं वन में भी रहा गृही।
वनवासी हे निर्मोही,
हुए वस्तुतः तुम दो ही।"†

जात तथा जामाता समान ही ... ... वे प्रदान कर पाये!

"मेरे पिता (जनक) पुत्र तथा जामाता को समान मान कर ही (भरत

---

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १०६।

† साकेत, सर्ग ४।

अथवा भरत की माँ को अपना राज्य देने की इच्छा से ही) आये थे परन्तु वह मंझली माँ कैकेयी को (लज्जावश) अपना राज्य दे न पाये।"

('साकेत' के नवीन संस्करण में "पर निज ... ..." वाली पंक्ति के अन्त में प्रश्नवाचक चिह्न लगा है इसके स्थान पर विस्मयादिबोधक चिह्न (!) शुद्ध है।)

ऊर्मिला की उपर्युक्त उक्ति में कैकेयी की राज्यलिप्सा पर बहुत तीखा व्यंग्य है।

मिली मैं स्वामी से ... ... मुझे हा! रह गया!

"जब मैं चित्रकूट में अपने पति से मिली तो क्या संभल कर (होश-हवास ठिकाने रख कर) कुछ कह सकी? (नहीं कह सकी)। हे सखी! उस समय तो सारे उपालम्भ (ताने) गल (पसीज कर) आँसू बन कर बह गये। मुझे इस प्रकार चुप देखकर उन्हें जो मुझ पर दया हो आयी उसी की पीड़ा का अनुभव मेरे पास शेष रह गया।"

चित्रकूट जाने से पूर्व ऊर्मिला सोचा करती थी कि वह पति से मिलन होने पर यह कहेगी, वह कहेगी परन्तु जब मिलन की वह चिर अभिलाषित घड़ी आयी तो वह अपने को ही संभाले न रह सकी और उसके वे *उपालम्भ* तो गल कर आँसू बन कर बह गये।

'यशोधरा' में भी :

मेरे स्वप्न आज ये जागे,
अब वे उपालम्भ क्यों भागे?
पाकर भी अपना धन आगे,
*भूली-सी मैं भान!**

न कुछ कह सकी ... ... उठे सखेद हृदय से।

"चित्रकूट में न तो मैं अपने हृदय की कोई बात उनसे कह सकी न, भय के कारण, उन्हीं की कुछ पूछ सकी; अपने को भूलकर (अपने मन की कोई बात न कह कर) वह भी दुखी हृदय से मेरी ही बात कह उठे (मेरे ही मन की बात उन्होंने कह दी)।"

यहाँ ऊर्मिला तथा लक्ष्मण की विरह-व्यथा की एकरूपता स्पष्ट है। ऊर्मिला अपनी न कह सकी, भय के कारण उनकी पूछ न सकी। उधर अपने को भूल कर ऊर्मिला के दुख से दुखी हो होकर लक्ष्मण ऊर्मिला के हृदय की बात ही कह उठे—

तासीरे इश्क होती है दोनों तरफ, जनाब,
मुमकिन नहीं कि दर्द इधर हो उधर न हो।

---

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १४४।

मिथिला मेरा मूल है ... ... रह जाती हूँ भूल।

"मिथिला मेरा मूल (जन्म-स्थान) है और अयोध्या फूल (विकसित होने का स्थान), परन्तु चित्रकूट को क्या कहूँ ? (इस सम्बन्ध में कुछ निर्णय करने से पूर्व ही) मैं भूल (सुध-बुध खो) कर रह जाती हूँ।"

ऊर्मिला के जीवन में चित्रकूट का महत्व सर्वाधिक है परन्तु वह शब्दों द्वारा इस महत्व की अभिव्यक्ति करने में सर्वथा असमर्थ है। उसकी यह असमर्थता ही उस महत्व के आधिक्य पर सम्यक् प्रकाश डाल देती है।

सिद्ध-शिलाओं के आधार ... . गौरव-गिरि, उच्च उदार !

चित्रकूट (पर्वत) को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे सिद्ध-शिलाओं के आधार, उच्च उदार गौरव-गिरि ! तुझ पर ऊँचे-ऊँचे झाड़ हैं और छत्र (छतरी) की भाँति पत्तों से युक्त पेड़ पौधे तने (खड़े हैं)। तेरी आड़ (छाया) कितनी अनोखी है ! हे उच्च तथा उदार गौरव-गिरि ! तुझ पर (अथवा तेरी आड़ में) भाँति-भाँति के जीव विचरते हैं।

"हे उच्च तथा उदार गौरव-गिरि ! तेरे चारों ओर घिरकर बादल कितना गर्जन करते हैं ! (तुझ पर) गा-गा कर मोर नाचते हैं तथा (भौंरों अथवा अन्य पक्षियों की ध्वनियों के कारण) गहरी गुञ्जार उठती रहती है।

"हे उच्च तथा उदार गौरव गिरि ! आकाश से बरसने वाला जल तुझे स्नान कराता है, धूप तेरा शरीर पोंछती है (धूप के कारण वर्षा का जल सूख जाता है)। चन्द्रमा दृष्टि को शीतल करता (शीतलता प्रदान करता) है और ऋतुराज वसंत तेरा शृङ्गार करता है।

"हे उच्च तथा उदार गौरव-गिरि ! तू निर्झर (झरने) का दुपट्टा डालकर, दरियों (गुफाओं) के द्वार खोलकर तथा कंदमूल-फल-फूल ('साकेत' के नवीन संस्करण में कंद-मूल-फल-कूल छपा है। यहाँ कूल के स्थान पर फूल शुद्ध है।) लेकर सबके अनुकूल होकर स्वागत के लिए खड़ा है।

"हे उच्च तथा उदार गौरव-गिरि ! तेरा शरीर सुदृढ़, पत्थर एवं धातु का बना हुआ है परन्तु तेरे हृदय में निर्मल जल ही प्रवाहित होता रहता है (तू बाहर से कठोर होकर भी भीतर से कोमल है)। तू अटल, अचल और धीर गम्भीर है, सरदी तथा गरमी में एक समान (अप्रभावित) है। शान्ति तथा सुख का सार (केन्द्र) है।

"हे उच्च तथा उदार गौरव-गिरि ! तू भाँति-भाँति के रंगों से रंगा है

(रंग-रंग के पत्र-पुष्प-फल युक्त है), नेत्रों को सुहाने वाला है, वैराग्य का साधन है (यहाँ रह कर वैराग्य सहज प्राप्य हो जाता है), वन-धाम है (वन में तो पर्वतों की कन्दराएं ही घर का काम देती हैं), तू कामद होकर भी स्वयं अकाम (निष्काम) है (जहाँ 'कामद' श्लिष्ट शब्द है। 'कामद' चित्रकूट का एक नाम भी है और इसका अर्थ 'दूसरों की कामनायें पूर्ण करने वाला, भी है भाव यह है कि अरे कामद (चित्रकूटपर्वत) तू दूसरों की इच्छाएं पूर्ण करने के लिए सदैव कटिबद्ध हो कर भी स्वयं निष्काम (कामनारहित) ही है) ('कामद' तथा 'अकाम' का विरोधाभास भी द्रष्टव्य है) तुझे (हम) सैंकड़ों वार नमस्कार (करते हैं)।"

राम तथा सीता—और उनके साथ लक्ष्मण ने चित्रकूट में निवास किया है। तभी तो चित्रकूट ने ऊर्मिला के जीवन में भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है! अतः आज वह ऊर्मिला के सामने एक *उच्च उदार गौरव गिरि* के रूप में ही आता है। चित्रकूट सिद्ध शिलाओं का—उन शिलाओं का आधार है जिन पर बैठकर योगियों ने सिद्धि प्राप्त की।

चित्रकूट का वैभव भी अनुपम है। पत्तों से लदे पेड़-पौधे इस पर छतरी की तरह तने हैं, बादल इसके चारों ओर घुमड़-घुमड़ कर घनघोर गर्जन करते हैं, भाँति-भाँति के जीव इस पर विचरते हैं। इतना ही नहीं, नदी इसे नहलाती है, धूप इसका गीला शरीर पोंछती है, चन्द्रमा दृष्टि को शीतलता प्रदान करता है और स्वयं ऋतुपति शृंगार करता है। चित्रकूट का यह कितना वैभव-सम्पन्न एवं भव्य स्वरूप है!

अतिथि-सत्कार भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है। चित्रकूट उसी आतिथ्य का प्रतीक बना हुआ है। अतिथि सत्कार के लिए वह आवश्यक तैयारी के बिना (Unprepared) ही नहीं आ खड़ा हुआ। वह तो भली प्रकार अतिथि के सम्मुख उपस्थित होने के योग्य वस्त्र धारण करके (निर्झर का डाल दुकूल) आवश्यक भेंट साथ लेकर (लेकर कंद-मूल-फल-फूल) तथा सब दरवाज़े खोल कर (खोल दरियों के द्वार) अतिथि की बाट जोह रहा है।

चित्रकूट का शरीर धातु तथा पत्थर का बना (सुदृढ़) है परन्तु उसके

अन्तःस्तल में निर्मल नीर

है 'सुदृढ़' द्वारा उसकी पर-सेवा-क्षमता एवं सन्नद्धता का अंकन किया गया है और '*निर्मल-नीर*' द्वारा उसकी परदुःखकातरता तथा सदयता आदि गुणों का।

सरदी तथा गरमी (दुःख तथा सुख) में समान रूप से (अप्रभावित) रहने वाला अटल, अचल तथा धीर-गम्भीर चित्रकूट दूसरों को भी शान्ति तथा सुख प्रदान करने वाला है। नेत्रों को भाने वाले अनेक रंगों से रंजित चित्रकूट *'कामद'* नाम धारी होकर भी सर्वथा *निष्काम* है।

प्रोषितपतिकाएँ हों जितनी भी ···· ··· ···· ···· प्रणय पुरस्सर ले आ।

"हे सखी! (नगर में) जितनी भी प्रोषितपतिकाएं हों उन्हें (यहाँ मेरे पास आने के लिए) निमंत्रण दे आ। समदुःखिनियाँ (समान दुःख से दुःखी) मिलें तो दुःख बँट जाएँ। अतः तू जा और समस्त प्रोषितपतिकाओं को प्रेमपूर्वक यहाँ ले आ।"

प्रोषितपतिका : वह नायिका जो अपने पति के परदेश में होने के कारण दुःखी हो।

दुःखी प्राणी अपने ही को संसार में सबसे अधिक भाग्यहीन मानता है। वह अपने (प्रायः साधारण) दुःख को भी असाधारण तथा अधिकतम समझता है परन्तु अपनी ही भाँति अन्य व्यक्तियों को दुःखी देखकर उसे अपना दुःख हलका जान पड़ता है—उसका दुःख कुछ बँट-सा जाता है। ऊर्मिला आज प्रोषितपतिका है; उसका पति आज बहुत दूर—वन में है। वह इस तथ्य से अवगत है कि—

समदुःखिनी मिलें तो दुःख बँटे

इसीलिए ऊर्मिला अपनी सखी से कहती है कि वह उसकी ओर से समस्त प्रोषितपतिकाओं को निमन्त्रण दे आवे। राज-परिवार की यह सदस्या इस अवसर पर, अपने अधिकार का प्रयोग करके *'आदेश'* नहीं देती *'निमन्त्रण'* भेजती है। ऊर्मिला की विरह-वेदना ने आज उसे जन-साधारण के बहुत ही समीप ला बिठाया है; ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, राजा-प्रजा का अन्तर मिटा-सा दिया है। समानता-सूचक 'निमन्त्रण' इसी भाव का द्योतक है। इतना ही नहीं, *'निमन्त्रण दे आ'* के साथ ही *'जा प्रणय पुरस्सर ले आ'* भी कहा गया है। केवल निमन्त्रण दे देने से ही सखी का कार्य पूरा नहीं हो जाता, उसे उन दुःखिनियों को प्रेमपूर्वक ऊर्मिला के पास लाना भी है। इसीलिए तो ऊर्मिला यह कार्य किसी साधारण दूती पर न छोड़ कर स्वयं *अपनी सखी* को सौंपती है।

सुख दे सकते हैं तो ···· ··· ···· ···· कोई अभाव मैं भी मेटूँ?

"इस समय तो यदि मैं दुःखियों से मिलूँगी तो वे ही मुझे सुख दे सकते हैं। क्या यहाँ ऐसा कोई भी नहीं है जिसका कोई अभाव मैं दूर कर सकूँ?"

विरह ने ऊर्मिला को अत्यधिक उदार बना दिया है। स्वयं आहत होने के कारण दूसरों की पीड़ा आज उसे अपनी पीड़ा से भी अधिक कष्टप्रद जान पड़ रही है। उसका हृदय *किसी का कोई अभाव मेटने* के लिए तड़प रहा है।

इतनी बड़ी पुरी में क्या ··· ··· ··· ···· मुझ-सी हो हँसी-रोई ?

"क्या इतनी बड़ी पुरी में ऐसी (मुझ जैसी) दुःखिनी कोई नहीं है, जिसकी मैं सखी बन सकूँ और जो मेरी ही भाँति हँसी-रोई हो (सुखी तथा दुःखी हुई हो) ?"

वियोगिनी ऊर्मिला नगर की समस्त प्रोषितपतिकाओं से मिलना चाहती थी, सब समदुःखिनियों से भेंट करना चाहती थी, दुःखी-जन का कोई अभाव मेटना चाहती थी परन्तु यह जानकर तो उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रहती कि इतनी बड़ी नगरी में ऐसी दुःखिनी कोई भी नहीं, जो उसी की भाँति *हँसी तथा रोई* हो।

इन पंक्तियों द्वारा एक ओर तो अयोध्या में सब ओर व्याप्त सुख-संतोष (दुःखाभाव) पर प्रकाश पड़ता है और दूसरी ओर ऊर्मिला के सुख-दुःख की गरिमा बहुत अधिक हो जाती है। ऊर्मिला ने संयोग-काल में जो सुख भोग किया, वह *अनुपम* था और अब, विरहावस्था में, वह जो दुःख सह रही है, वह भी *अतुलनीय* है। इतनी बड़ी पुरी में भी ऊर्मिला के सुख-दुःख की समानता कर सकने वाली संयोगिनी-वियोगिनी कोई नहीं।

मैं निज ललित कलाएँ ··· ···· ···· ··· क्यों न उपवन में ?

"हे सखी ! कहीं मैं वियोग की वेदना में अपनी ललित कलाएं न भूल जाऊँ अतः उपवन में ही पुर-बालाओं के लिए एक शाला क्यों न खुलवा दें (जहाँ ललित कलाओं का अभ्यास जारी रहे) ?"

संयोगावस्था में ऊर्मिला के जीवन में ललितकलाओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ('साकेत' का प्रथम सर्ग इसका सुन्दर प्रमाण है।) अवधि पूरी होने पर— मिलन के उन सुमधुर क्षणों में--ऊर्मिला को इन कलाओं की एक बार फिर आवश्यकता होगी। कहीं ऐसा न हो कि विरह-वेदना में वह अपनी ललित कलाएँ ही भूल बैठे ! दूसरे ही क्षण ऊर्मिला को इस समस्या का एक क्रियात्मक और परोपकारपूर्ण हल दिखायी देता है—

सखि, पुरबाला-शाला खुलवादे क्यों न उपवन में ?

इस प्रकार वह ललित कलाओं का अभ्यास भी करती रह सकेगी और पुर-बालाओं को ललितकलाओं की शिक्षा भी प्राप्त हो जावेगी।

कौन-सा दिखाऊँ दृश्य वन का ··· ··· ··· ··· दे रहे हों वाह वाह?

"हे सखी! आज मेरे हृदय में चित्र-रचना की चाह बलवती हो उठी है, बता मैं वन का कौनसा चित्र दिखाऊँ (अंकित करूँ)? क्या यह दृश्य दिखाऊँ कि मार्ग में (सामने) एक नाला पड़ा (आ गया) है, जेठ तथा जीजी उसके तट पर खड़े हैं और आर्य-पुत्र जल में प्रवेश करके उसकी गहराई का अनुमान लगा रहे हैं (यह जानने का प्रयत्न कर रहे हैं कि उसे पैदल ही पार किया जा सकेगा अथवा नहीं) अथवा (यह दृश्य चित्रित करूँ कि) जीजी (सीता) घूम कर प्रभु का सहारा लेकर खड़ी हैं और ये (लक्ष्मण) कराह कर (मानों सीता के पैर का काँटा लक्ष्मण के ही पैर का काँटा हो) सीता के तलवे में से काँटा निकाल रहे हैं; अथवा (यह दृश्य अंकित करूँ कि) ये (लक्ष्मण) बेल को झुकाये खड़े हैं; जीजी (सीता) उस पर से फूल तोड़ रही हैं और प्रभु (यह दृश्य देखकर तथा प्रसन्न होकर) 'वाह वाह' कर रहे हैं?"

ऊर्मिला के प्रत्येक कल्पना-चित्र में लक्ष्मण, भाई तथा भाभी की सेवा में ही निरत हैं। ऊर्मिला ने अपने पति से सदा यही तो चाहा है—

भ्रातृ-स्नेह-सुधा बरसे,
*भू पर स्वर्ग-भाव सरसे।**

और—

यह भ्रातृ-स्नेह न ऊना हो,
लोगों के लिए नमूना हो।†

प्रिय ने सहज गुणों से ··· ··· ··· ··· वे यहाँ परीक्षा मेरी!

प्रणय को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे मेरे प्रणय (प्रेम)! प्रियतम ने अपने सहज गुणों से जो मुझे तेरी दीक्षा दी थी आज प्रतीक्षा द्वारा वे यहाँ (उसी प्रणय की) परीक्षा ले रहे हैं!"

सहज गुणों से दीक्षा दी थी : लक्ष्मण ने शब्दों द्वारा (कह कर) कभी ऊर्मिला को *दीक्षा* नहीं दी थी, उन्होंने तो अपने *सहज गुणों से ही* उसके हृदय में प्रेम का अंकुर पल्लवित किया था।

* साकेत, सर्ग ४।
† साकेत, सर्ग ६।

यहाँ परीक्षा मेरी : यशोधरा भी विरह-अवधि को परीक्षा का समय मानती है :

इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी।
*आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी॥...**

जीवन के पहले प्रभात में ... ... मैंने हृद्‌गति हेरी।

"जीवन के पहले प्रभात में जब मेरी आँख खुली (जब मैंने सर्वप्रथम होश सँभाला) तब हरी भूमि के पत्ते-पत्ते में मैंने अपने ही हृदय की गति देखी (अपनी हृदय-गति का ही अनुभव किया; अपने हृदयस्थित उल्लास तथा विकास को ही मैंने हरी भूमि के पात-पात में मूर्तिमान् पाया।)

खींच रही थी दृष्टि सृष्टि ... ... आँख खुली जब मेरी।

"जीवन के प्रथम प्रभात में जब मेरी आँख खुली उस समय स्वर्ण-रश्मियाँ लेकर मेरी दृष्टि सृष्टि का चित्र खींच रही थी (उस समय मेरे सामने सृष्टि का एक सुनहरा तथा सुखपूर्ण स्वरूप ही था) और प्रकृति सदय (दया-परिपूर्ण) हृदय में सेकर ब्रह्माण्ड (सम्पूर्ण सृष्टि) का पालन कर रही थी (प्रकृति का पालनकारी रूप ही मेरे के नेत्रों के समक्ष था) (पक्षी अंडे को सेते हैं, प्रकृति भी सेकर ब्रह्माण्ड का पालन कर रही थी) आकाश बूँद-बूँद रस (जल) देकर तिनके-तिनके को सींच रहा था और समय रूपी वायु मेरी सुख की नौका को बढ़ा रहा था (समय के साथ-ही-साथ मेरा सुख भी उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था)। पक्षी भी अपने दल-बल के साथ (मंगल तथा प्रसन्नतासूचक) शुभ भावों की भेरी (तुरही) सी बजा रहे थे।

वह जीवन मध्याह्न सखी ... ... आँख खुली जब मेरी।

"(जीवन-प्रभात के उपरान्त) हे सखी! जीवन का यह मध्याह्न (दोपहरी) थकावट तथा परिश्रम लेकर आया है (जीवन-प्रभात का वह सुखोल्लास श्रांति तथा क्लांति में परिवर्तित हो गया है)। इस समय खेद (दुःख) और प्रस्वेद (पसीना) पूर्ण तीव्र ताप छाया हुआ है (प्रातःकाल की तुलना में दोपहर के समय सूर्य की स्वर्ण-रश्मियों में ताप की तीव्रता कहीं अधिक होती है। इसी प्रकार ऊर्मिला के जीवन में भी अब दुःख तथा संताप का प्रवेश हो गया है) हमने जो (सुख) पाया था, वह खो दिया, क्या खोकर, क्या पाया? (जो कुछ खोया उससे सर्वथा विरुद्ध वस्तु ही बदले में प्राप्त की अथवा सर्वस्व खोकर व्यथा ही पायी)। न हमारे राम ही हममें

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३७।

रह सके, न माया ही मिली (दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम) जीवन के प्रथम प्रभात की वेला में जो हर्ष फेरी लगाता रहता था (सदा साथ रहता था) वह कहाँ है ? अब तो उसके स्थान पर यह (प्रस्तुत) विषाद (दुःख) ही है।

वह कोइल, जो कूक रही थी ··· ··· ··· ···आँख खुली जब मेरी।

"जीवन के प्रथम प्रभात में जब मेरी आँख खुली थी उस समय कोयल कूक रही थी, आज वही कोयल हूक भर रही है। पूर्व और पश्चिम की लाली (जीवन-प्रभात की भाँति अनुराग-सुहाग की वर्षा नहीं कर रही, वह तो) क्रोध की ही वर्षा कर रही है (क्रुद्ध व्यक्ति के नेत्र लाल हो जाते हैं तथा मुख भी तमतमाने लगता है), हवा (पहले की तरह सुख की नौका न खेकर) ठंडी सांसें ही भर रही है, सुरभि (सुगंधि) धूल फाँकती जान पड़ रही है (असीम ताप के कारण) जल की धार उबल-उबल कर सूखती जा रही है। फलतः पृथ्वी मृत-तुल्य हो गयी है। पत्ते तथा फूल (टूट-टूट कर) इधर-उधर बिखर रहे हैं। हे सखी ! मेरी अथवा तेरी (किसी की भी) कुशल जान नहीं पड़ती।

आगे जीवन की सन्ध्या है ··· ···· ··· ···· आँख खुली जब मेरी।

(मध्याह्न के उपरांत संध्या आती है। ऊर्मिला कहती है कि) "हे सखी ! आगे जीवन की संध्या (आने वाली) है। देखें तब क्या होता है ? (अतीत–जीवन-प्रभात–और वर्तमान–मध्याह्न–के चित्र तो ऊर्मिला के नेत्रों के सम्मुख आ चुके हैं, भविष्य—संध्या—का चित्र शेष है) तू कहती है—"(संध्या होने पर) चन्द्रमा का उदय होगा और अंधेरे में उजाला छा जाएगा।" (तू मेरे भविष्य का सुखद एवं आशाप्रद चित्र ही प्रस्तुत कर रही है) (यदि तेरा यह विश्वास सत्य निकला) तो कुमुदिनी चन्द्र-किरण पाकर अवश्य उस पद-लाली को अपने सिर आँखों पर ले लेगी (चन्द्रमा का प्रकाश पाकर संतुष्ट हो जायेगी किन्तु सूर्योदय के बिना) मेरे शोक रूपी चक्रवाक की रखवाली तो तारे ही करेंगे (सूर्योदय के बिना चक्रवाक प्रसन्न नहीं हो सकता, ऊर्मिला का शोक भी पुनः प्रभात होने पर ही दूर हो सकता है। तब तक तारे—नयन-तारक—आँख की पुतलियाँ—ही तो उस शोक को सम्हाले रहेंगे) ?" (यह सुनकर ऊर्मिला की सखी कहती है—) "फिर प्रभात होगा।" (ऊर्मिला यह सुनकर कहती है—) "यदि ऐसा है (कि सचमुच मुझे फिर वही जीवन-प्रभात पुनः प्राप्त हो जावेगा जिसमें मैंने सर्वप्रथम आँख खोली थी) तो

यह दासी सर्वथा कृतार्थ हो जाएगी (मेरे जीवन का वास्तविक लक्ष्य मुझे प्राप्त हो जाएगा) ।"

'किन्तु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली' :

"इस उद्धरण में शब्द-शक्ति का पूर्ण वैभव मिलेगा । बात साधारण-सी है । तारों के न छिपने से रात का अवसान नहीं हो रहा । इसी को कवि बड़े सुन्दर ढङ्ग से अभिव्यक्त करता है । उसका कहना है कि तारे कोक-शोक की रखवाली कर रहे हैं—मानों विधाता ने कोक को रात्रि भर वियोग-पीड़ा सहने का दण्ड दिया हो और उसका निरीक्षण करने के लिए तारों को नियुक्त कर दिया हो अथवा कोक-शोक भावुक जीवन की निधि हैं और तारे उसके संरक्षक । कथन का मार्मिक संकेत अपूर्व है, जो लक्षणा व्यञ्जना के घेरे में नहीं आ सकता ।"❀

"ऊर्मिला के इस गीत में प्रेरक-भाव प्रेम है । स्थायी-भाव रति के कारण अनेक अन्तर्भावनाएँ संचारी के रूप में आयी हैं । स्मृति-संचारी तो स्पष्ट ही है ।"†

ऊर्मिला का जीवन-प्रभात—शैशव—सुनहरे सपनों तथा मधुमयी कल्पनाओं में बीता, मध्याह्न आया तो अपने साथ श्रान्ति क्लान्ति भी ले आया और संध्या ? वह तो आगे की बात है, उसका रहस्य तो भविष्य के गर्भ में छिपा है......

'सिद्धार्थ' की यशोधरा 'सरोज की अर्ध-प्रफुल्लिता कली' को सम्बोधित करके लगभग इसी प्रकार की भावनाएँ अभिव्यक्त करती है :

...त्वदीय जैसा मम बाल्य-काल था, न ज्ञात था संसृति कौन वस्तु है,
समीर-दोला तुझको मिला यथा, तथा हिंडोला सुख का मिला मुझे ।
यथैव तू तोय-तलोपरस्थिता न जानती है महि को, न व्योम को,
तथैव मैं संसृति-सिन्धु-मज्जिता न जानती थी सुख को, न दुःख को ।
परन्तु देखा जब नेत्र खोल के लखा सभी विश्व प्रपंच-पूर्ण है,
यहाँ न है केवल प्रेम-वंचना, वियोग है, वेपथु है, विषाद है ।...
रुके सुने, मैं तुझ-सी रही कभी, तड़ाग-सा आंगन था निकेत का,
सखी मिली थीं सकला कली-समा, मनोहरा शैशव की तरंग थी ।
शनैः शनैः ज्ञान-प्रभात हो चला, गता तमिस्रा अनभिज्ञता हुई;
उषा स-रागा हृदयाचलस्थिता प्रकाशिता शीघ्र हुई मनोहरा ।....

❀ डा० नगेन्द्र, साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ १६१ ।

† श्री कन्हैयालाल सहल, साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृष्ठ २६ ।

विलोक तेरे इस रक्त रंग को स-राग मेरे युग नेत्र हो रहे,
न बिम्ब तेरा, प्रतिबिम्ब है, प्रिये, उसी धनी के अनुराग-रंग का।
परन्तु मेरे इस विप्रयोग ने किये महा पाण्डुर अंग-अंग हैं,
समान ही दुःखद था मुझे, सखी, सरोज होता यदि पीत वर्ण का।....
यथैव संध्यागम से स-दुःख तू मलीन होती रवि के वियोग में।
तथैव मैं हूँ अति दुःख-पीड़िता विषाद-मग्ना पति-विप्रयोग में।
परन्तु होते फिर शुभ्र प्रात के अहो! बनेगा अति सौख्य-पूर्ण तू।
अभागिनी केवल मैं, प्रसून हूँ न अन्त मेरे इस विप्रयोग का।
विलोक जो अन्त-विहीन मार्ग को महा दुखी होकर दीर्घ श्वास ले,
हताश हो बैठ गया विषाद में, प्रसून रो तू उसके कुभाग्य पै।...❀

सखि, विहग उड़ा दे ··· ··· ··· त्यक्त हूँ दारिका मैं।

ऊर्मिला सखी से कहती है. "हे सखी! (पिंजरे में पले हुए) पक्षियों को उड़ा दे, (आज) ये सब भी अपनी स्वतंत्रता का गर्व कर सकें। इस दुष्ट तोते की बात तो मन: कह रहा है—"हाय रूठो न रानी!" (लक्ष्मण ने कभी तोते के सामने ऊर्मिला से इस प्रकार कहा होगा। तोता उसी की नकल कर रहा है। तोते के ये शब्द प्रसंगानुकूल भी हैं। ऊर्मिला ने अपनी सखी से कहा है कि इन पक्षियों को छोड़ दे। तोता समझता है कि इसका कारण यह है कि ऊर्मिला उन पक्षियों से रूठकर उन्हें अपने से अलग कर रही है। ऊर्मिला के स्नेह के भूखे पक्षी यह सहन नहीं कर सकते कि वह उनसे रूठ जावे।) (तोते को सम्बोधित करके ऊर्मिला पूछती है) "हे तोते! तेरा विवाह जनकपुरी की मैना के साथ कर दूँ? तथापि मैं स्वयं वहीं की परित्यक्ता पुत्री तो हूँ।" (ऊर्मिला को तुरन्त अपनी स्थिति का भान हो आता है और वह इस आशंका से काँप जाती है कि कहीं जनकपुरी की सारिका को भी उसी की भाँति परित्यक्ता न होना पड़े)।

कह विहग, कहाँ हैं आज ··· ··· ··· ··· छोड़ यों ही गये वे?

ऊर्मिला तोते से पूछती है, "अरे पक्षी (तोते) तेरे वे आचार्य (जिन्होंने तुझे बोलना सिखाया है) कहाँ हैं जो प्रसन्न मुख वाले तथा मेरे कर्मण्य पति हैं?" तोता उत्तर देता है—'मृगया में' (वह शिकार खेलने गये हैं)। यह सुनकर ऊर्मिला कहती है, "क्या वास्तव में वह शिकार खेलने गये हैं? यदि वास्तविक बात यही है तो वे नये (अथवा अनाड़ी) शिकारी हैं (यदि वे नये

❀ श्री अनूपशर्मा, सिद्धार्थ, सर्ग १६, पृष्ठ २४६ से ५२।

शिकारी न होते तो) इस हत (मरी हुई) हरिणी (ऊर्मिला) को यों ही छोड़ कर कैसे चले जाते ? (शिकारी मरा हुआ शिकार छोड़ कर नहीं जाते)।"

प्रायः लोग शिकार खेलने के लिए ही तो वन में जाते हैं (राम लक्ष्मण को वन में देखकर 'साकेत' के गुहराज ने भी सर्वप्रथम यही समझा था कि वे शिकार खेलने के लिए ही वन में आये हैं)। अतः ऊर्मिला के यह पूछने पर कि—

कह विहग, कहाँ हैं आज आचार्य तेरे ?

तोते ने इसी सामान्य भाव से कह दिया था—'*मृगया में*।' उस अबोध पक्षी को भला क्या पता था कि उसके वे दो शब्द ऊर्मिला के अन्तस्तल को छू लेंगे, उसके हृदय को झकझोर देंगे। परन्तु हुआ यही। लक्ष्मण को यदि वास्तव में शिकार का शौक था तो सबसे पहले उन्हें इस '*हत हरिणी*' को अपनाना चाहिए था। फिर भला वह उसे छोड़ क्यों गए ?

'*हत हरिणी*' में ऊर्मिला की समस्त शारीरिक तथा मानसिक स्थिति का सम्पूर्ण चित्र उतर आया है।

निहार सखि, सारिका कुछ कहे .... लिये गये हैं धनी।

'हे सखी ! इधर देख, यह मैना बिना कुछ कहे शांत-सी हो रही है और इसने मेरी ही ओर कान लगा रखे हैं (मेरी ही ओर ध्यान लगा रखा है)। इधर मैं (विरह के कारण) बावली-सी हो रही हूँ (हो सकता है कि मेरे मुख से कोई अकथनीय बात निकल जाए और यह उसे सुनकर समय-असमय का ध्यान किए बिना उसी को दोहराया करे)। यह बड़ी सुभाषिणी बनी है (यह मधुरभाषिणी होने का ढोंग ही रचती है परन्तु वास्तव में) तू इसे चुगलखोर ही जान। (ऊर्मिला की बात सुनकर सखी उससे कहती है, "धैर्य धरो।" (सखी द्वारा उच्चारित 'धरो' शब्द को सारिका भी दोहराने लगती है। यह सुनकर ऊर्मिला कहती है), "हे पक्षिणी ! किसे धरूँ ? धृति (धैर्य अथवा मन की दृढ़ता) तो स्वामी अपने साथ ही ले गये हैं।"

राज-भवन में पले हुए पक्षी भी राज-परिवार के ही सदस्य बन गये हैं। वे भी अपनी शक्ति तथा सामर्थ्य के अनुसार वस्तु-स्थिति में योग प्रदान करते हैं।

तुझपर-मुझपर हाथ फेरते .... ऊर्मिला कूर वहीं।

ऊर्मिला खरगोश से कहती है, "अरे शशक ! क्या तुझे पता है कि इस समय वे नाथ कहाँ हैं, जो यहाँ तुझ पर और मुझ पर एक साथ ही

हाथ फेरा करते थे ? वे तेरो ही प्रिय जन्मभूमि (वन) में हैं, कहीं दूर नहीं गये हैं। अस्तु, तू भो वहीं चला जा और जाकर उनसे यह कह दे कि क्रूर ऊर्मिला यहाँ (अयोध्या में ही) है।"

लेते गये क्यों न तुम्हें ··· ··· ··· ··· जो बनते सहारे।

"हे कपोत (कबूतर) जो स्वामी (तुम्हारे जो पालन कर्त्ता) सदा तुम्हारे गुण गाया करते थे (प्रशंसा किया करते थे) वे तुम्हें भी अपने साथ (वन में) क्यों न ले गये ? (कदाचित् तुमसे भी उन्हें वास्तविक प्रेम न था अन्यथा वे तुम्हें अपने साथ लेकर ही कहीं जाते।) यदि तुम इस समय उनके साथ होते तो प्रियतम के पत्र रूपी जहाज़ों को यहाँ ले आते जो (जहाज़) दुःख का यह समुद्र पार करने में मुझे सहारा देते (जिनके बल पर मैं दुःख का यह अन्तहीन सागर पार कर लेती) परन्तु हा ! (तुम्हें तो वे यहीं छोड़ गये हैं)।"

यहाँ कबूतर के लिए पर्यायवाची शब्द '*कपोत*' का प्रयोग किया गया है। ऊर्मिला *दुखाब्धि* में डूब रही है। इस गहरे सागर को पार करने के लिए उसे '*पोत*'—जहाज़—की आवश्यकता है। '*कपोत*' यह कार्य कर सकता था। यदि वह इस समय लक्ष्मण के पास होता तो लक्ष्मण उसके हाथ ऊर्मिला के पास संदेश भेज देते और कबूतर का यह नाम '*क पोत*' सार्थक हो जाता।

संदेश एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने के प्राचीन साधनों में कबूतर का स्थान महत्त्वपूर्ण है। कबूतर द्वारा की जाने वाली इसी सेवा का उल्लेख इन पंक्तियों में किया गया है :

ख़त कबूतर किस तरह ले जाए बामे यार पर,
नस्ब कर दीं हर सिमत हैं कैंचियाँ दीवार पर।

औरों की क्या कहिये ··· ··· ··· ··· अंगार है चखती।

"औरों की भला क्या बात कही जाय, अपनी ही रुचि सदा एक सी नहीं रहती। हे चकोरी ! तू (कभी) चन्द्रामृत (चन्द्र की किरणों द्वारा प्राप्त होने वाला अमृत) पीकर (कभी) अंगारे चखने लगती है।"

चन्द्रामृत पान करने वाली चकोरी अंगारे भी चखती है। ऊर्मिला ने भी संयोगावस्था में *चन्द्रामृत* का पान किया था और अब, वियोगावस्था में, *अंगार* चख रही है।

विहग उड़ना भी ये हो बद्ध .... सभी इनके रहे ।

(ऊर्मिला पक्षियों पर दया करके उन्हें छोड़ देना चाहती है परन्तु तभी उसके हृदय में इस विचार का उदय होता है कि) "अरे ! बहुत समय तक पिंजरे में बंद रहने के कारण ये पक्षी उड़ना भी भूल गये हैं। हे दये ! यदि (मैं तुम्हारी बात मानकर—दया से प्रेरित होकर इन्हें छोड़ देती हूँ तो (इस प्रकार इनके प्रति) और (अधिक) अन्याय ही होगा (उड़ने में असमर्थ रहने के कारण इनका जीवन और भी संकट-ग्रस्त हो जाएगा)। इनके परिवार के अन्य सदस्य इन्हें भूल गये हैं, इन्हें भी अब उनका स्मरण नहीं रहा, (काल के इस अनवरत प्रवाह में) सब (स्मृतियाँ) बह गये हैं। अब तो केवल हम ही इनके संगी-साथी रह गये हैं (अस्तु, ऐसी दशा में इन्हें छोड़ देना उचित नहीं)।"

मेरे उर-अंगार के ... . पले रहो तुम लाल !

लाल नामक पक्षी को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे 'लाल' पक्षियो ! तुम मेरे हृदय रूपी अंगार के ही बाल-गोपाल (अंश) बने (जान पड़ते) हो अतः (मेरे हृदय के ताप के मूर्तिमान् प्रतीक होने के कारण) तुम अपनी मुनियों (मादाओं) के साथ यहीं पले रहो।"

'*लाल*' एक छोटी सी चिड़िया होती है। इसका रंग कुछ भूरापन लिए लाल होता है। इसके शरीर पर छोटी-छोटी सफेद बुँदकियाँ भी होती हैं। 'लाल' की मादा को '*मुनियाँ*' कहकर पुकारा जाता है।

'*लाल*' और '*बाल-गोपाल*' स्नेह-सूचक शब्द भी हैं। अपने ही उर के टुकड़ों के लिए इन वात्सल्य परिपूर्ण शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक भी है और सर्वथा समीचीन भी।

'अपनी मुनियों से मिले पले रहो तुम लाल !' : ऊर्मिला आज वियोगिनी है—प्रोषितपतिका है परन्तु वह लाल पक्षियों को यही आशीर्वाद देती है कि वे सदा अपनी मादाओं के साथ ही पले रहें (उनकी मादाओं को उनका वियोग कभी न सहना पड़े।) 'साकेत' की ऊर्मिला की यह उदार-हृदयता वास्तव में अपूर्व है।

वेदने, तू भी भली बनी ... . पाऊँ प्राण-धनी ।

ऊर्मिला वेदना (पीड़ा) से कहती है, "वेदने (दूसरे चाहे तेरी कितनी भी निन्दा करें परन्तु मेरे लिए तो) तू भी भली (सुखप्रद अथवा प्रिय) ही है

(क्योंकि) आज मैंने तुझ में ही अपनी घनी (केन्द्रीभूत) इच्छा को प्राप्त किया है। तू उस हीर-कनी (हीरे के टुकड़े) के समान है जिसने (मेरे हृदय में) एक नयी किरण छोड़ी है (ऊर्मिला वेदना से चिरपरिचित नहीं, वह तो उसके लिए नयी वस्तु ही है)। प्रिय के धनुष की नोंक की भाँति मेरे हृदय में कसकने वाली हे वेदने ! तू मेरा हृदय सालती रह ताकि मैं सजग बनी रहूँ (असावधान अथवा अचेतन न हो सकूँ)। मेरी देह निरंतर बहने वाले आँसुओं के कारण चाहे जितनी भी गीली क्यों न हो जाए परन्तु वह ठंढी न होगी क्योंकि हे मेरी सूर्यकांत मणि (वेदने) तू सदा ही (अपने ताप से) उसे गरम ही बनाए रखेगी (ठण्डी न होने देगी)। वेदने आ ! अभाव तेरा पिता है, (जिसकी तू एकमात्र पुत्री है) और अदृष्टि (अदर्शन) तेरी माता (प्रिय अथवा वांछित वस्तु के अभाव तथा अदर्शन से ही वेदना का जन्म होता है।) वास्तव में तेरी छाती को ही स्तनों की उपमा देना उचित है (माता की छाती से लग कर बच्चे को चैन मिलता है, दुःखी ऊर्मिला को वेदना ही चैन पहुँचा रही है)। अरी अनोखी वियोग समाधि (समाधिस्थ योगी का ध्यान सब ओर से हट कर अपने लक्ष्य पर ही केन्द्रित हो जाता है, वियोग ने ऊर्मिला का ध्यान भी सब ओर से हटा कर लक्ष्मण में ही केन्द्रित कर दिया है) तूने भी क्या ठाठ बनाया है कि मैं अपने को, प्रिय को तथा संसार को--सब को ही कुछ दूर-दूर (अलग अलग करके) देख रही हूँ (वेदना के कारण ऊर्मिला का दृष्टिकोण ही बदल गया है)। हे रत्नों की खान वेदने ! मुझे तेरे से ही मन जैसा माणिक्य प्राप्त हुआ है अतः हे सजनी ! तुझे तो मैं उसी समय छोड़ूँगी (उससे पहले न छोड़ूँगी) जब मेरे प्राण-धनी (प्राणपति) मुझे मिल जावेंगे (प्रियतम का मिलन होने पर ही वेदना का त्याग—अन्त होगा)।"

विरहिणी यशोधरा ने वेदना का महत्व इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है :

होता सुख का क्या मूल्य, जो न दुख रहता ?
प्रिय हृदय सदय हो तपस्ताप क्यों सहता ?
मेरे नयनों से नीर न यदि यह बहता।
तो शुष्क प्रेम की बात कौन फिर कहता।
रह दुःख ! प्रेम परमार्थ दया मैं लाऊँ।
*कह मुक्ति, भला, किस लिए तुझे मैं पाऊँ ?**

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १०८।

विरह संग अभिसार भी .... और एक संसार भी !

ऊर्मिला कहती है, "विरह के साथ (अवधि रूपी) अभिसार (सहारा) भी है; जहाँ भार है वहाँ आभार (कृतज्ञता) भी है। मैं पिंजरे में पड़ी हुई हूँ परन्तु द्वार खुला ही हुआ है (विरह का यह) काल (समय) चाहे कितना भी कठिन (असहनीय) क्यों न हो, परन्तु मेरे लिए तो यह उदार भी है और इस ने यदि एक ओर (मेरे शरीर को) गला दिया है तो दूसरी ओर मुझ पर एक उपकार भी किया है। इसने मेरी सुध-बुध अवश्य नष्ट कर दी है (इन दिनों मुझे अपनी सुध बुध तो अवश्य नहीं रही) परन्तु इसके साथ ही साथ काल-ज्ञान-विचार भी दे दिया है (जीवन की कटु तथा मधुर परिस्थितियों का अथवा समय की गतिशीलता का सम्यक् ज्ञान भी करा दिया है)। इस विरह ने मुझे (एक यह महत्वपूर्ण सत्य भी) सिखा दिया है कि मानव-जीवन (केवल आमोद-प्रमोद ही न होकर) एक भार (उत्तरदायित्व) भी है। इतना ही नहीं, इसने तो मुझे यह भी बता दिया है कि (कुछ विशेष परिस्थितियों में तो) मरण (मृत्यु) भी हृदय का हार बन जाता है (जीवित रहने की अपेक्षा हँसते-हँसते मर जाना अधिक वांछनीय हो जाता है)। विरह की इन घड़ियों में ही मुझे इस बात का पता चला है कि मेरे इस हृदय में एक ज्वाला (आग अथवा तपन) थी और (उसे शांत करने के लिए) जल की धार भी। इन दिनों में ही मैंने यह भी समझा है कि केवल प्रिय ही नहीं, (यहाँ इस धरती पर अथवा मेरे जीवन में) मेरा तथा इस संसार का (अलग) भी (कोई) अस्तित्व था (संयोग के क्षणों में ऊर्मिला का अपना कोई अस्तित्व नहीं था, उसका व्यक्तित्व—उसका संसार लक्ष्मण में ही समा गया था। वियोग में ही उसे यह पता चला कि लक्ष्मण से अलग भी उसका तथा इस संसार का कोई अस्तित्व है)।

गुप्तजी की दो विरहिणी नायिकाओं—यशोधरा तथा ऊर्मिला—की स्थिति में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि यशोधरा के विरह की अवधि *अनिश्चित* है और ऊर्मिला की *निश्चित*। यह एक बहुत बड़ी बात है। ऊर्मिला इस गीत में इसी तथ्य के महत्व की स्थापना करती है। यह सत्य है कि इस समय उसके जीवन में विरह है परन्तु इस विरह के साथ अवधि (सीमा) का सहारा भी तो है (यह वियोग अनिश्चित काल तक के लिए न होकर निश्चित अवधि तक ही है) अतः इसकी समाप्ति में संदेह की कोई बात नहीं। यह सत्य है कि पति की अनुपस्थिति

में वह आज पिंजरे में पड़ी है (वन्दिनी-सी हो गयी है) परन्तु उसे इस बंधन में किसी और ने नहीं बाँधा है, यह तो उसका अपना ही बनाया पिंजरा है; संसार की ओर से तो उसके लिए समस्त द्वार खुले हैं। यहाँ एक बार फिर हमारा ध्यान यशोधरा की ओर चला जाता है जो '*वंदिनी ही*' है और जिसके लिए *कोई भी* द्वार खुला नहीं है। यहाँ तक कि, स्वयं उसी के शब्दों में—

स्वामी मुझको मरने का भी दे न गये अधिकार,
छोड़ गये मुझ पर अपने इस राहुल का सब भार।
जिये जल जल कर काया री!
*मरण सुन्दर बन आया री!**

अस्तु, विरह का यह समय *कठिन* होकर भी ऊर्मिला के लिए अपेक्षाकृत *उदार* ही है। यह सत्य है कि विरह ने ऊर्मिला का शरीर गला डाला है परन्तु उसने ऊर्मिला के साथ कुछ उपकार भी किया है। इन दिनों में ही तो उसने समझा है कि जीवन आमोद-प्रमोद मात्र न होकर एक भार, एक उत्तरदायित्व भी है। इसीलिए कभी कभी मृत्यु जीवन से अधिक वांछनीय हो जाती है। ऊर्मिला तो कभी यह कल्पना भी न कर सकती थी कि उसके हृदय में एक ज्वाला भी है और जलधार भी। अपने हृदय में छिपे इन परस्पर विरोधी तत्वों का बोध उसे विरह ने ही कराया है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि विरह ने ही लक्ष्मण से अलग ऊर्मिला और शेष संसार का एक अस्तित्व भी सिद्ध कर दिया है (अन्यथा प्रियतम से अलग होते ही ऊर्मिला का जीवन समाप्त हो जाता)। इस पंक्ति में ऊर्मिला प्रशंसा के बहाने वास्तव में उस विरह की निन्दा ही कर रही है जिसने यह सिद्ध कर दिया है कि—

प्रिय ही नहीं, यहाँ मैं भी थी और एक संसार भी।

इसी विरह ने तो दोनों की एकाकारिता को मिथ्या-सा ठहरा कर उनका अलग-अलग अस्तित्व स्थापित कर दिया है!

'और-मरण? वह बन जाता है कभी हिये का हार भी': वियोगिनी यशोधरा ने एक स्थान पर कहा है:

मरण सुन्दर बन आया री!
शरण मेरे मन भाया री!
आली, मेरे मनस्ताप से पिघला वह इस बार!
रहा कराल कठोर काल सो हुआ सदय सुकुमार!

---

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४०।

नर्म सहचर सा छाया री!
मरण सुन्दर बन आया री!
अपने हाथों किया विरह ने उसका सब शृंगार,
पहना दिया उसे उसने मृदु मानस-मुक्ता-हार।
विरुद विहगों ने गाया री!
मरण सुन्दर बन आया री?❀

लिखकर लोहित लेख .... तारक बुद्बुद दे रहा!

"हे सखी! देख, लोहित (रक्त के समान अथवा लाल) लेख लिख कर दिन भी डूब गया। उसके डूबने से आकाश रूपी सिन्धु तारों के रूप में बुलबुले उठा रहा है।"

लोहित लेख : दुःख की बात रुधिर से लिखी मानी जाती है।

सूर्यास्त हुआ। आज सन्ध्या की उस लालिमा में अनुराग अथवा उल्लास की लाली नहीं। आज तो वह *लोहित लेख* है जिसे लिखकर दिन—सूर्य—भी *डूब गया है।* कदाचित् दिन भी उस लोहित लेख में निहित वेदना न सह सकने के कारण डूब गया है। (कहा जाता है कि न्यायाधीश जिस कलम से किसी व्यक्ति के लिए प्राण-दंड का आदेश लिखता है वह तोड़ दी जाती है)। दिन डूब गया; इसका प्रमाण हैं *व्योम-सिन्धु* में उठने वाले *तारक-बुद्बुद*।

दीपक संग शलभ भी ... ... प्रकाश का हमको?

"हे सखी! दीपक जला कर पतंगों को भी न जला (पतंगों को जलने के लिए प्रेरित न कर)। तम (अन्धकार तथा तमोगुण) को सत्व (सतोगुण) की सहायता से जीत (लेना ही उचित है)। (यदि तू इस विचार से दीपक जला रही है कि इस प्रकार मैं कुछ देख सकूँगी, तो इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं क्योंकि प्रियतम की अनुपस्थिति में) मुझे क्या देखना और दिखाना है (प्रियतम के अतिरिक्त मैं किसी को देखना नहीं चाहती और उनके अतिरिक्त किसी और के सामने मैं अपने आप को लाना नहीं चाहती) अतः हमें प्रकाश का क्या करना है?"

ऊर्मिला का हृदय आज सर्वथा पर-दुःख-कातर हो गया है। उसके भाग्य में अन्धकार ही लिखा है तो वह इस परिस्थिति को सहन क्यों न करे? दीपक जलाकर पतंगों को उसमें जलने की प्रेरणा देना आज उसे सह्य नहीं। वह भी तो

❀ श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४०।

जल रही है प्रेम-प्रदीप पर—पतंग की भाँति। तभी तो उसे शलभ के दुःख का इतना प्रत्यक्ष अनुभव और उसके प्रति इतनी गहरी सहानुभूति है :

घायल की गति घायल जाणै
की जिन लाई होय ? —मीरा

दोनों ओर प्रेम पलता है .... प्रेम पलता है।

"प्रेम दोनों ओर (प्रेमी तथा प्रेमिका अथवा आराधक तथा आराध्य) (समान रूप से) पलता (पल्लवित अथवा विकसित होता) है। हे सखी ! (इस बात का प्रमाण यह है कि) पतंग भी जलता है और दीपक भी। दीपक सीस (लौ) हिला-हिलाकर पतंग से कहता है कि हे बन्धु ! तू व्यर्थ ही अपने को क्यों जला रहा है ? परन्तु फिर भी पतंग दीप-शिखा में पड़कर (जलकर) ही मानता है। उसकी यह (प्रेम-जन्य) कितनी (अथवा कैसी) विह्वलता है ! (जब तक पतंग दीप-शिखा में जल नहीं जाता, तब तक वह बेचैन ही रहता है)। प्रेम दोनों ओर समान रूप से पलता है !"

"हाय ! पतंग बचकर क्या मर जाए ? (बचना—प्रेम की वेदी पर किये जाने वाले आत्म-समर्पण से अपनी रक्षा करना—तो पतंग के लिए मृत्यु से भी कठोर है, वह जलने में जीवन समझता है और बचने में मृत्यु)। क्या वह प्रेम छोड़कर प्राणों की रक्षा कर ले (प्राणों की रक्षा करने के लिए प्यार का पथ त्याग दे ?) जले नहीं तो मरा पतंगा और क्या करे ? (पतंग के पास जलने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या है ?) क्या यह असफलता है (पतंग के इस सर्वस्व-विसर्जन को क्या उसकी असफलता माना जा सकता है ?) (नहीं, यह तो उसके जीवन की महान् सफलता है क्योंकि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' :—गीता), प्रेम दोनों ओर समान रूप से पल्लवित होता है।

"पतंग मन मार कर (दबे स्वर में) दीपक से कहता है—'तुम महान हो और मैं लघु, परन्तु हे प्रिय, क्या मरण भी हमारे बस में नहीं (क्या हम तुम्हारे लिए-प्रेम के लिए-अपने को निछावर भी नहीं कर सकते) ? शरण किसे छलता है (शरण—आश्रय किसी को नहीं छलता। भाव यह है कि जिसकी शरण ली जाती है यह धोखा नहीं देता)। प्रेम दोनों ओर समान रूप से पल्लवित होता है।

"हे सखी ! दीपक के तो जलने में भी जीवन की लाली (अनुपम गरिमा) है परन्तु पतंग का भाग्य तो (उज्वल न हो कर) काला ही है (दीपक जल कर

प्रकाश बिखेरता है, पतंग जल कर राख हो जाता है) परन्तु इसमें भला किसका वश चलता है (इस वस्तुस्थिति को कौन बदल सकता है; यह किसी के वश की बात नहीं) वैसे प्रेम तो दोनों ओर समान रूप से पल्लवित होता है।

"*संसार में तो सब लोग वणिग्वृत्ति ही रखते हैं* (*संसार में बदले की भावना ही मुख्य है।* जिससे लाभ होने की आशा होती है उसका हित करना चाहते हैं दूसरों का अहित) लोग तो उसी को पसन्द करते (सराहते) हैं जिससे उन्हें कुछ लाभ होता है (दीपक से लाभ होता है अतः सब उसकी प्रशंसा करते हैं पतंग से उन्हें कोई लाभ नहीं पहुँचता अतः वे पतंग के महानतम त्याग की तनिक भी सराहना नहीं करते)। संसार काम नहीं देखता परिणाम देखता है (भावना अथवा प्रयत्न का कोई मूल्य नहीं समझता परिणाम अथवा अन्त के अनुसार ही प्रयत्न का मूल्यांकन करता है) मुझे यही बात अखरती है। प्रेम का विकास दोनों ओर समान रूप से ही होता है।"

यहाँ दीपक तथा पतंग की प्रणय-कथा के माध्यम द्वारा ऊर्मिला ने स्वयं अपनी (ऊर्मिला तथा लक्ष्मण की) प्रेम-गाथा का निरूपण किया है। प्रस्तुत गीत में *पतंग* के स्थान पर *ऊर्मिला* और *दीपक* के स्थान पर *लक्ष्मण* को मान लेने पर इसका महत्त्व इसकी मार्मिकता—में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। लक्ष्मण—तपस्पृही लक्ष्मण—वन में तपस्या कर रहे हैं परन्तु उनकी इस तपस्या में—दीपक के उस जलने में—*जीवन की लाली* है। दूसरी ओर पतंग की, ऊर्मिला की—*भाग्य-लिपि-काली* है। परन्तु कुछ भी हो, दीपक जल रहा है तो पतंग को भी जलना ही होगा क्योंकि—

जले नहीं तो मरा करें क्या ?

पतंग मन मार कर यह बात तो स्वीकार कर लेता है कि 'तुम महान्, मैं लघु' परन्तु अपना *जल मरने का अधिकार* छोड़ने के लिए वह तैयार नहीं। उसकी यही *असफलता* उसके जीवन की एकमात्र *सफलता* है।

बता अरी, अब क्या करूँ ? ··· ··· ··· ··· मन मारूँ झखमार !

ऊर्मिला सखी से पूछती है. "अरी, यह तो बता अब मैं क्या करूँ ? इस रुपी (अड़ी अथवा ठहरी हुई। विरह के कारण रात बीतने के बदले ठहरी हुई जान पड़ती है) रात से झगड़ूँ, भय खाऊँ (डरूँ), आँसू पिऊँ या झखमार (हार) कर मन मार कर रह जाऊँ ?"

क्या क्षण क्षण में ··· ··· ··· ··· को विफल बनाऊँ ?

ऊर्मिला पल-पल पर चौंक रही है। सखी इस ओर संकेत करती है। ऊर्मिला कहती है) क्या (वास्तव में) मैं पल-पल पर चौंक रही हूँ ? तुझसे तो मैं आज यही सुन रही हूँ (तू तो मुझ से आज यही कह रही है) (यदि यह सत्य है तो भी मुझे यह तो बता कि) हे सखी, क्या मैं इस प्रकार अपने को जीवित सिद्ध न करूँ (यदि मैं पल-पल पर न चौंकूँ तो सब लोग मुझे मृत समझेंगे) क्या मैं इस क्षणदा (रात्रि) को व्यर्थ कर दूँ ? (भाव यही है कि यदि मैं चौंक चौंक कर इस प्रकार अपने को जीवित सिद्ध न करूँगी तो मेरे जीवन की यह क्षणदायिनी रात्रि भी व्यर्थ ही हो जायेगी।)

अरी, सुरभि जा, लौट जा ··· ··· ···· ···· यह काँटों की सेज !

ऊर्मिला कहती है, "अरी सुरभि (सुगन्धि) तू यहाँ से लौट जा (दूर चली जा), अपने अंग सम्हाल ले। तू फूलों में पली है (सदा फूलों पर ही रही है) और यह काँटों की सेज है; यहाँ रहने पर तेरे अंग क्षत-विक्षत हो जावेंगे।"

संयोग काल में सुरभि वांछनीय थी, आज उसका क्या मूल्य ? क्या महत्व ? इसीलिए ऊर्मिला *सुरभि* से अनुरोध करती है कि वह उस *काँटों की सेज* के पास न आए; *फूलों में पली* सुरभि यदि उन काँटों में उलझ पड़ी तो उसके अंग छिल जावेंगे।

स्वयं फूलों में पली ऊर्मिला आज एक पल के लिए भी काँटों की सेज छोड़ने के लिए तैयार नहीं। वह स्वयं उन्हीं *काँटों* में रहकर सुरभि को उनसे दूर रखना चाहती है। ऊर्मिला की यह उदारहृदयता 'साकेत' की अपनी ही वस्तु है।

यथार्थ था सो सपना ···· ··· ···· ··· नई-पुरानी।

"हे सखी ! यथार्थ (संयोग की वे हर्षोल्लास परिपूर्ण घड़ियाँ) सपना (स्वप्नवत्) हो गयीं और जो असत्य (अकल्पनीय) था वह इस जीवन में अपना (सत्य) हो गया है (जिस वियोग की कभी कल्पना भी न की थी वह सत्य बन कर जीवन में प्रविष्ट हो गया)। (उस 'यथार्थ' की तो) केवल कहानी (स्मृति) मात्र रह गयी है। वही नई-पुरानी (पुरानी हो कर भी चिर-नवीन) कहानी मुझे सुना।"

विधि का यह वैषम्य कितना विचित्र है ! *यथार्थ सपना* बन गया, *अलीक* (असत्य) ने सत्य (वास्तविकता) का रूप धारण कर लिया तथापि आज भी

ऊर्मिला का *रुझान* उस *अलीक* की ओर नहीं, जो *अपना* हो गया है उसका हृदय-पंछी तो बार बार उड़ कर उसी *यथार्थ* पर मँडराता रहता है जिसकी आज *कहानी* ही शेष रह गयी है। यह कहानी *पुरानी* होकर भी *नितनवीन* है।

आओ हो, आओ, तुम्हीं ... ... हेर रही हैं बाट।

"हे प्रिय के विराट् स्वप्न तुम आ रहे हो तो तुम्हीं आओ। (मेरी) आँखें (आँसुओं का) अर्घ्य लेकर तुम्हारी बाट जोह रही हैं।"

प्रिय नहीं आते तो प्रिय के विराट् स्वप्न का स्वागत करने के लिए ही ऊर्मिला के नेत्र अर्घ्य के लिए जल भरे स्वागतार्थ खड़े बाट जोह रहे हैं! स्वप्न में ही प्रिय को पाकर वह कृतार्थ हो जाना चाहती है।

यहाँ स्वप्न के विशेषण रूप में '*विराट*' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस एक शब्द में ऊर्मिला के हृदय में निहित अपने पति के प्रति अपार श्रद्धा बोल उठी है। *महान्* प्रिय का स्वप्न भी *विराट* है, ठीक उसी प्रकार जैसे बड़ी वस्तु की परछाँई बड़ी होती है और छोटी वस्तु की छोटी।

आजा, मेरी निंदिया गूँगी ... ... निंदिया गूँगी।

नींद को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे मेरी गूँगी निंदिया, आजा। मैं तुझे सिर आँखों पर लेकर (तेरा सप्रेम स्वागत करके) तुझे चन्द्र-खिलौना प्रदान करूँगी। यदि तू प्रिय के यहाँ लौट आने के उपरान्त (मेरे पास) आवेगी तो अर्द्धचन्द्र ही तो पावेगी (तब तो तुझे गरदन पकड़ कर निकाल दिया जावेगा। भाव यह है कि तब तो प्रेम-संलाप में ही रात बीत जावेगी, निद्रा की कोई आवश्यकता ही न रहेगी) परन्तु यदि आज तू (स्वप्न में) प्रिय को ले आवेगी तो (उन्हें) तुझ से ही प्राप्त कर लूँगी (क्योंकि मैं यह नहीं चाहती कि वे अपना व्रत पूर्ण करने से पूर्व यहाँ आवें अतः मैं स्वप्न में ही उन्हें पा कर सन्तुष्ट हो जाऊँगी) हे मेरी गूँगी निंदिया, तू आजा!

"तू मेरे पलक-रूपी पाँवड़ों (पायदानों) पर पैर रख कर (इनमें निहित) सलोना रस (आँसू) भी तो चख कर देख। आ, तू कृपा करके मुझ दुखिया की ओर देख (मुझ पर दया कर) मैं तुझ पर न्योछावर हो जाऊँगी (अपने को वार दूँगी) हे गूँगी निंदिया, तू आ जा।"

निंदिया गूँगी : नींद आ जाने पर प्रायः मनुष्य कुछ बोलते नहीं हैं कदाचित् इसीलिए निंदिया को 'गूँगी' कहा गया है। एक बात और भी है। ऊर्मिला नींद को उसी प्रकार बहला-फुसला रही है जैसे छोटे बालक को मनाया

बहलाया जाता है। इस दृष्टि से भी '*निंदिया गूँगी*' का प्रयोग उपयुक्त ही है।

'चन्द्र खिलौना' और 'अर्द्धचन्द्र' : बालकों को प्रायः चन्द्र-खिलौना देने का प्रलोभन दिया जाता है। 'अर्द्धचन्द्र' का अर्थ है 'गरदन पकड़ कर या गरदन में हाथ डालकर निकाल बाहर करना'। इसे 'गर्दनिया देना' भी कहते हैं। अस्तु, इन पंक्तियों का सामान्य अर्थ तो यह है कि यदि तू प्रियतम के यहाँ आ जाने पर मेरे पास आवेगी तो तुझे *आधा* चाँद मिलेगा और यदि अभी आ जाएगी तो मैं तुझे पुरस्कार में *पूरा* चाँद दे दूँगी। उधर, श्लेष के आधार पर, अर्थ यह होगा कि प्रियतम के आने पर तुझे गर्दन पकड़कर निकाल बाहर किया जाएगा परन्तु यदि अभी आ कर अपने साथ (स्वप्न में) प्रियतम को भी मेरे पास ले आएगी तो मैं तुझे सिर आँखों पर लूँगी और चन्द्र-खिलौना दूँगी।

तनिक सलोना रस भी चख तू : दुःख में नींद नहीं आती। नींद निश्चिन्तता की निशानी है। अस्तु, *मधुर* निद्रा का प्रिय रस है। तभी तो ऊर्मिला कहती है कि ज़रा यह *सलोना* रस भी तो चख कर देख ; मधुर रस तो तू सदा ही चखती रहती है !

आ दुखिया की ओर निरख तू, मैं न्योछावर हूँगी: दुखी व्यक्ति के प्रति कोई सहानुभुति अथवा दया प्रकट करे तो वह अपने हितैषी पर निछावर सा हो जाता है।

प्रियतम के वियोग में ऊर्मिला के नेत्रों की नींद उड़ गयी है। दुखिया ऊर्मिला नींद को छोटे बालकों की भाँति बहला-फुसला रही है ताकि नींद आए तो स्वप्न आवें और स्वप्न आवें तो वे आवें। उर्दू के एक कवि ने कहा है—

जो नींद आती तो ख्वाब आते,
जो ख्वाब आते तो वह आते ;
मगर उनकी जुदाई में
न नींद आती न ख्वाब आते।

हाय ! हृदय को थाम ... ... सखि, तू वहाँ।

(ऊर्मिला हृदय को थाम कर (छाती पर हाथ रख कर) लेटना चाहती है। सखी उसे यह कह कर ऐसा करने से रोक देती है कि छाती पर हाथ रख कर सोने से बुरे-बुरे स्वप्न दिखायी देते हैं। विवश ऊर्मिला कहती है) "हे सखी ! बुरे स्वप्नों का नाम लेकर—तू मुझे छाती पर हाथ रख कर सोने से रोकती है। हाय ! इस प्रकार तो मैं (अपनी असह्य वेदना को दबा कर) हृदय थाम कर (कलेजा हाथों से दबा कर) पड़ रहने भी नहीं पाती (जब मैं

लेट ही नहीं सकूँगी तो नींद कहाँ से आवेगी और नींद न आएगी तो स्वप्न—दुःस्वप्न—कैसे दिखायी देंगे ?)

स्नेह जलाता है यह बत्ती ··· ···· ···· ··· जलाता है यह बत्ती !

"तेल दीपक की बत्ती को जलाता है; फिर भी उसमें वह शक्ति (विशेषता) है जिसके कारण सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी दिखाई दे जाती है (यहाँ 'स्नेह' श्लिष्ट शब्द हैं अर्थ हैं 'तेल' और 'प्रेम' । श्लेष के आधार पर—इस पंक्ति का दूसरा अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है ; हृदय-मन्दिर में प्रेम-रूपी दीपक प्रज्वलित हो जाने पर मनुष्य का अन्तःकरण स्वच्छ हो जाता है और उसकी दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है ।)

बत्ती (दीप-शिखा) को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे सखी ! इस अन्धकार में भी तू अपनी साख (प्रतिष्ठा) बनाए रखती है (प्रकाश बिखेरती रहती है) और (प्रातः काल होने पर) अपने को राख करके सूर्य के चरणों में विलीन हो जाती है फलतः पत्ती–पत्ती (सूर्य के प्रकाश के कारण) खिल जाती है । स्नेह बत्ती (दीप-शिखा) को जलाता है !

"तू अपनी शिखा को चंचल न होने दे (मैं तुझे बुझने न दूँगी) तू मेरे अंचल की ओट ले ले (हवा के वेग से बचने के लिए मेरे अंचल में छिप जा) । एक-एक ईंट ले कर हम कोसों तक फैला हुआ किला चुन लेते हैं (तेरा साधारण प्रकाश भी एक दिन महत्वपूर्ण प्रकाश-पुञ्ज का रूप धारण कर सकता है) अतः तू ठंढी न पड़, गरम (प्रकाशमान) ही बनी रह; स्नेह (तेल) बत्ती को जला रहा है ।"

ऊर्मिला की दशा भी तो प्रेम (स्नेह) में जलने वाली दीप-शिखा से भिन्न नहीं :

मानस - मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप ।
जलती - सी उस विरह में, बनी आरती आप !

हाय ! न आया स्वप्न भी ··· ··· ··· ··· अब क्या गिनूँ प्रभात ?

"हाय, स्वप्न भी न आया और रात बीत गयी (ऊर्मिला ने सारी रात आँखों ही में–जागते ही काट दी) हे सखी ! (प्रभात होने के कारण) तारे भी उड़ चले (बहुत तेजी से विलीन होते जा रहे हैं) । अब (सवेरा हो जाने पर) क्या गिनूँ (रात तो तारे गिन-गिन कर बिता दी अब सवेरा होने पर क्या गिनूँ) ?"

चंचल भी किरणों का ... ... लाल-लाल वह गोला।

"चंचल होने पर भी इन किरणों का चरित्र कितना भोला-भाला तथा पवित्र है! (बालारुण के रूप में) यह लाल-लाल गोला (दहकता हुआ गोला) उठा कर ये मानों (अपने चरित्र की पवित्रता की) साख (साक्षी) भर रही हैं।"

प्रो० नरोत्तमदास जी स्वामी के शब्दों में "प्राचीन काल में सतीत्व की साक्षी देने के लिए कई 'दिव्यों' का उपयोग किया जाता था जिनमें एक था जलते गोले को हथेली में लेकर नियत दूरी तक चलना। यदि उतनी दूरी तक अभियुक्त स्त्री गोले को उठाये हुए सही सलामत चली जाती तो पवित्र समझी जाती थी। ये किरणें सूर्य रूपी जलते गोले को उठा कर चलती ही रहती हैं। जो नारी चंचल होती है वह पवित्र या सरल चरित्र वाली नहीं होती पर ये किरणें यद्यपि चंचल हैं, फिर भी दुष्ट चरित्र वाली नहीं।"❀

चंचल और पवित्र (भोला) चरित्र का विरोधाभास भी द्रष्टव्य है।

'चंचल भी किरणों का' प्रसाद-जी ने भी इन पंक्तियों में किरण के लिए 'चंचल' (चपल) विशेषण का प्रयोग किया है :

> *चपल! ठहरो, कुछ लो विश्राम,*
> *चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त;*
> *सुमन-मन्दिर के खोलो द्वार,*
> *जगे फिर सोया यहाँ वसन्त!*†

सखि, नील नभस्सर से उतरा ... ... डरता-डरता!

"हे सखि! इस आकाश रूपी नील सरोवर में (सरोवर के जल और आकाश में वर्ण साम्य भी है) यह सूर्य रूपी हंस तैरता-तैरता उतर आया है। जिन (तारे रूपी) मोतियों को यह चरता (अथवा चुगता) हुआ निकला (उदित हुआ) था वे भी अब शेष नहीं रहे (विलीन हो गये। सूर्योदय होने पर तारे छिप जाते हैं)। ओस की (मोती-जैसी) जो बूँदें बाकी रह गयी थीं; इसने उनका भी सफ़ाया कर दिया (धूप से ओस की बूँदें सूख जाती हैं) इस पृथ्वी के काँटे ("काँटों का भी भार मही माता सहे"—साकेत, सर्ग ५) कहीं चुभ न जावें इसलिए यह (हंस) बहुत डर-डर कर अपने (किरण-रूपी) हाथ डाल (बढ़ा) रहा है।"

❀ 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव', पृष्ठ ४१ से उद्धृत।

† श्री जयशंकर प्रसाद, झरना, पृष्ठ १५।

"ऊपर के सवैये में श्लेष-लाघव से रूपक तो सिद्ध हो गया (नहीं तो कहना पड़ता सूर्य-रूपी हंस) पर बेचारे हंस की दुर्दशा हो गयी। दूसरी पंक्ति में कहा गया है कि हंस तारे-रूपी मोतियों को चरता-चरता निकला। 'चरना' शब्द बैलों के लिए आता है, हंसों के लिए तो मोती चुगना ही प्रयुक्त होता है। 'कर डाल रहा डरता डरता' में भी कर श्लिष्ट शब्द है जो हाथ और किरण दोनों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, पर यहाँ भी देखने की बात यह है कि हंस पंजे से मोती नहीं चुग सकता, चोंच से ही चुग सकता है। वैसे नाद सौन्दर्य आदि की दृष्टि से यह दुर्मिल सवैया बड़ा सुन्दर बन पड़ा है।"*

भींगी या रज में सनी .... नलिनी की वह आँख ?

" (हे सखी, यह तो बता कि) भ्रमरी (भौंरी) की यह पाँख धूल (पुष्प-पराग) में सनी है अथवा भीगी (ओस अथवा प्रेम-रस में डूबी) है ? हे सखी, कमलिनी की वह आँख खुली है या लगी है (वह आँख खोल कर अपने आराध्य (सूर्य) की ओर देख रही है अथवा उसके नेत्र सूर्य के नेत्रों में उलझ (लग) गये हैं)।

ऊर्मिला भी तो प्रेम-रस *भीगी* है; उसकी *आँख* भी तो निरन्तर अपने आराध्य की ओर ही *लगी* है। भौंह की उपमा प्रायः भ्रमर के साथ की जाती है। (भौंह भ्रमर नासापुट सुन्दर—विद्यापति) इस प्रकार यदि पलकों को "अलिनी की यह पाँख" मान लिया जावे तो प्रथम पंक्ति में ऊर्मिला को, आँसुओं से अथवा प्रेम-जल से भीगी पलकों का पूरा चित्र उतर आता है और दूसरी पंक्ति में "नलिनी की वह आँख" (नेत्रों की तुलना कमल के साथ की भी जाती है) द्वारा स्वयं ऊर्मिला की उस आँख की ओर हमारा ध्यान जाता है, जो देखने में *खुली* होकर भी *लगी* (बन्द) ही है (इस संसार की किसी भी वस्तु को न देखकर अपने आराध्य में ही लीन है)।

प्रस्तुत अवतरण में विरोधाभास अलंकार भी है। '*रज*' और '*लगी*' श्लिष्ट शब्द हैं। 'रज' का अर्थ है 'धूल' और 'पुष्प-पराग' तथा 'लगी' का अर्थ है 'लगी हुई' और 'बन्द'।

बिहारीलाल के इस दोहे में 'आँख लगी' का प्रयोग देखिए :

जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाँहि।
आँखिनु आँखि लगी रहैं आँखैं लागति नाहिं॥†

* श्री कन्हैयालाल सहल, 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव', पृष्ठ ४२।

† बिहारी सतसई, दोहा ६२।

बो बो कर कुछ काटते ... . खो खो कर स्वर-ताल !

"हम कुछ समय बो-बो कर (प्रयत्न अथवा उद्यम करके) काट (बिता) देते और कुछ सो सो कर (विश्राम करके) ('बो-बो कर कुछ काटते' का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है : यदि हम कुछ बोते—प्रयत्न करते—तो काटते भी— उसका फल भी प्राप्त करते) परन्तु हम तो समस्त स्वर-ताल खो-खो कर तथा रो-रो कर ही मरते रहे (रोने में ही समय नष्ट करते रहे) !"

ओहो ! मरा वह वराक ... . उसकी चलने लगी है !

ऊर्मिला अपनी सखी से कहती है, "ओहो ! वह बेचारा वसन्त मरा जा रहा है ! अन्त (मृत्यु) समय की भाँति (जिस प्रकार मरणासन्न व्यक्ति का गला बन्द हो जाता है उसी प्रकार) इसका ऊँचा गला रुँध गया है (उच्च स्वर—कोयल का पंचम स्वर—कहीं सुनायी नहीं देता) देखो, इसका ज्वर बढ़ रहा है (ज्वर यहाँ 'बुखार' और ताप' दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है । मरने से पहले ज्वर (बुखार) की तेज़ी बढ़ जाती है, वसंत का आगमन होते-होते गरमी का वेग बढ़ने लगता है) और वृद्धावस्था की सी गतिहीनता (अचेतनता) जागती जा रही है । यह लो, इसकी तो साँस भी बहुत जोर से चलने लगी (पवन-गति में तीव्रता आ गयी है उधर मरणासन्न व्यक्ति की भी साँस चलने लगती है) !

'सिद्धार्थ' की विरहिणी यशोधरा 'वसन्त' को देखती है तो—

दुखद मधु लगा पै सुप्रबुद्धात्मजा को ,
वह विरह-व्यथा से पीड़िता हो रही थी ,
तरु-विटप-लताएं रक्तपर्णा बनीं जो ,
वह अनल लगाके नेत्र ही दाहती थीं ।
अलि-अवलि बनों में घूमती भ्रान्त-सी थी ,
विरस बन चुकी थीं कोकिला की अलापें ,
हृदय मथ रही थी पुष्प की मंजु शोभा ,
*विदलित करता था वायु आमोदवाही ।**

तपोयोगि, आओ तुम्हीं .... करो जला कर छार ।

'हे ग्रीष्म रूपी योगी, तुम्हीं आओ, तुम सब खेतों के सार (आधार) हो (तुम्हारी अनुपस्थिति में खेतों की उर्वरा-शक्ति नष्ट हो जाती है), जहाँ

* सिद्धार्थ, 'अनूप' शर्मा, सर्ग १६, पृष्ठ २४७ ।

जहाँ कूड़ा-कर्कट हो, उसे जला कर भस्म कर दो (योगी मानसिक विकारों को भस्म कर देता है)।"

ग्रीष्म आया, ताप लेकर। ऊर्मिला के 'उपवन' का 'हरिण' भी तो 'वनचारी' होकर 'तनिक तपस्या करके' ऊर्मिला के 'योग्य' बनना चाहता है! *तपोयोगी* में ऊर्मिला अपने उसी तपस्वी के तो दर्शन कर रही है! यह तो हुई निजी बात। ग्रीष्म '*सब खेतों का सार*' भी है। परहित-चिन्तन-रता ऊर्मिला इस नाते भी ग्रीष्म का हृदय से स्वागत करती है।

आया अपने द्वार तप ···· ··· ••• ··· ले उशीर की आड़?

(सखी ऊर्मिला को समझाती है कि वह गर्मी से बचने के लिए खस की टट्टी के पीछे जा बैठे। ऊर्मिला का उत्तर है) ग्रीष्म रूपी तपस्वी अपने दरवाजे पर आया (खड़ा) है, तू (उसका उचित स्वागत करने के स्थान पर) किवाड़ (दरवाजा) ही बंद कर रही है! (ऐसा करना उचित नहीं) हे सखी, क्या मैं खस की टट्टी के पीछे छिप कर (इस तपस्वी से) विमुख हो कर बैठ रहूँ? (यह असम्भव है। तपस्वी का अनादर किसी दशा में भी उचित नहीं।)

तप अतिथि बनकर ऊर्मिला के *द्वार पर* आया है। ऊर्मिला उसका अनादर करके यह अपूर्व अवसर खो नहीं देना चाहती। यशोधरा से अनजाने में ही यह अवसर छिन गया था। उसे सदा ही यह बात खलती रही:

तप मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया,
हाय! विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया।
सूखा कंठ, पसीना छूटा, मृगतृष्णा की माया,
झुलसी दृष्टि, अंधेरा दीखा, दूर गई वह छाया।

मेरा ताप और तप उनका,
जलती है हा! जठर मही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने,
*मेरी बाधा - व्यथा सही।**

ठेल मुझे न अकेली ··· ••• ···· ···· हिमांशु-मुख की अपूर्व उजियाली?

"हे सखी! (गरमी से बचने के लिए) अकेली मुझे इस अँधियारे तहखाने में न धकेल! आज उस (तहखाने) में प्रियतम के चन्द्र-मुख का अपूर्व प्रकाश कहाँ है?"

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४२।

ऊर्मिला की सखी ऊर्मिला को गरमी से बचाने के लिए बलपूर्वक उसे तहखाने में डाल रही है। ऊर्मिला यह पसन्द नहीं करती कि उसे वहाँ *ठेला जाय*, आज ऊर्मिला के लिए उस तहखाने में भी शीतलता नहीं है, आज वहाँ *हिमांशु-मुख की अपूर्व उजियाली* कहाँ है? शीतलता पर बल देने के भाव से ही यहाँ चन्द्रमा के लिए *हिमांशु* शब्द का प्रयोग किया गया है। ऊर्मिला के लिए लक्ष्मण के मुख-चन्द्र की उजियाली *अपूर्व* है, कोई भी अन्य वस्तु उसकी समता नहीं कर सकती। इस उजियाली के अभाव में वह *अकेली* उस *अन्धकूप*—अँधियारे अवनि-गर्भ-गेह में जाकर क्या करेगी?

आकाश-जाल सब ओर तना ···· ···· ··· ···· भिन्ना रही मही!

"सूर्य आज तन्तुवाय (मकड़ा) बन गया (सा जान पड़ता) है। आकाश उसी मकड़े के जाले की भाँति सब ओर तना हुआ है। (मक्खी की तरह इस जाल में फँसी) पृथ्वी को सूर्य (रूपी मकड़ा) पैरों से (अपनी किरणों अथवा तन्तुओं द्वारा) पैर मार रहा है, फलतः पृथ्वी मक्खी की भाँति भिनभिना रही है (व्यग्र हो रही है)!"

पृथ्वी (अथवा पृथ्वी-तल के वासियों) की विवशता यहाँ अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से अभिव्यक्त की गयी है (विवश प्राणियों के उस समुदाय में स्वयं ऊर्मिला भी सम्मिलित है)। रूपक के आधार पर चित्रित इस चित्र में पृथ्वी मकड़े के जाले में फँसी एक मक्खी के समान है जिस पर मकड़े (सूर्य) के पैरों (किरनों) की चोट पड़ रही है। सूर्य की किरणों का यह चित्र प्रसादजी द्वारा प्रस्तुत किरणों के इस सुनहरे चित्र से कितना भिन्न है :

किरण! तुम क्यों बिखरी हो आज
रंगी हो तुम किस के अनुराग?

× ×

स्वर्ण - सरसिज - किंजल्क समान
*उड़ाती हो परमाणु-पराग**

कहने की आवश्यकता नहीं कि वियोग की घड़ियों में किरण का प्रस्तुत ('साकेत' का) रूप-परिवर्तन अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ा है!

लपट से झट रूख जले ···· ···· ··· ···· दृग दीन भरे, भरे।

"(गर्मी की) लपटों से वृक्ष जला ही चाहते हैं। नदियाँ तथा नद भी

* श्री जयशंकरप्रसाद, झरना।

(क्रमशः) घट कर सूखते जा रहे हैं। (जल के अभाव में) वे हरिण तथा मीन (मछलियाँ) बेचैन होकर मरे-से जा रहे हैं (जल के अभाव में उनका जीवन असम्भव-सा हो गया है)! (इधर) ये मेरे दीन नेत्र व्यर्थ ही भरे भरे (जल परिपूर्ण) हैं।"

सहलजी ने लिखा है, "अंतिम दो पंक्तियों से तात्पर्य यह है कि मृग और मीन जो मेरे नेत्रों के उपमान हैं, जल के अभाव में मरणासन्न हैं पर मेरी ये आँखें जो उपमेय हैं, आँसुओं से भरी हैं। उपमान और उपमेय दोनों विरुद्ध दशा में हैं!"❀

मुझे तो प्रस्तुत उद्धरण का एक शब्द *'विफल'* इसकी कुंजी जान पड़ता है। ऊर्मिला देख रही है कि गर्मी अपनी लपटों से पेड़ जला रही है। नद-नदियों का जल सूखता जा रहा है। फलतः हरिण तथा मीन विकल हैं। उधर ऊर्मिला के नेत्रों का अनवरत जल *व्यर्थ ही* बह रहा है। ऊर्मिला को अपनी इस विफलता—दीनता पर दुःख हो रहा है। कितना अच्छा होता यदि उसके नेत्रों का यह जल किसी प्यासे की प्यास बुझा सकता, किसी के कुछ काम आ सकता!

या तो पेड़ उखाड़ेगा ···· ···· ···· ··· ऊष्मानिल न जायगा!

"गर्मी की हवा या तो (बहुत तेज़ चल कर बड़े-बड़े) पेड़ों को उखाड़ देती है और या (बिलकुल ठहर कर) पत्ता भी नहीं हिलाती (दोनों दशाओं में यह 'अति सर्वत्र वर्जयेत' का उल्लंघन करती है)। हाय! यह गरम हवा (मेरी) धूल उड़ाये बिना न जाएगी (गरमी में धूल बहुत उड़ती है। 'धूल उड़ाना' का प्रयोग मुहावरे के रूप में भी होता है जिसका अर्थ है 'हँसी उड़ाना')।

ऊर्मिला तो पहले ही विरह-ताप में जल रही है। यह ऊष्मानिल तो विरह-दग्धा ऊर्मिला को मानो जलाकर राख ही कर देगा। इतना ही नहीं, हवा के साथ उस राख को उड़ा कर भी ले जाएगा।

गृहवापी कहती है ···· ··· ··· ···किसे पंक आज मैं दूँगी?

ऊर्मिला कहती है, "गृहवापी (महल की बावली) कहती है कि जब मैं भरी (जल से परिपूर्ण) रही हूँ तो अब रीती भी क्यों न हूँगी! मैंने (अपने) पंकज (कमल) तुम्हें दिये हैं तो अब यह पंक (कीचड़) और किसे दूँगी?

गर्मी के कारण गृहवापी का जल सूख गया है, अब वहाँ *पंकज* न रहकर पंक ही रह गया है परन्तु ऊर्मिला आज उस पंक का भी तिरस्कार कैसे करे? अपनी ही उदार भावना के कारण ऊर्मिला को गृहवापी यह कहती जान पड़ती

❀ साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृष्ठ ४५।

है—'पंकज तुम्हें दिये हैं और किसे पंक आज मैं दूँगी ?' जहाँ सुख का समय बिताया जाता है, दुःख की घड़ियां भी तो वहीं रह कर काटनी होती हैं। इसीलिए तो स्वयं ऊर्मिला ने भी एक बार सखी से पूछा था :

आली, तू ही बता दे, इस विजन बिना
मैं कहाँ आज जाऊँ ?
दीना, हीना, अधीना ठहर कर जहां
शान्ति दूँ और पाऊँ ?

…… और दुःख के पीछे सुख तथा सुख के उपरान्त दुःख यह तो स्वाभाविक-सी बात है—भरी रही, रिक्त क्यों न अब हूँगी ?

दिन जो मुझको देंगे …… …… दुःख भला क्यों न भोगूँगी ?

"हे सखि, समय (भाग्य) मुझे (सुख अथवा दुःख) जो कुछ देगा वह मैं अवश्य ही शिरोधार्य करूँगी। मैंने (यहाँ) सुख भोगे हैं तो भला (अब) दुःख क्यों न भोगूँगी ?"

'समदुःखिनी मिलें तो दुःख बँटे'—जलरहिता पंकिला वापी को देखकर ऊर्मिला को पर्याप्त शक्ति भी प्राप्त होती है और प्रेरणा भी। ऊर्मिला गृहवापी का सन्देश स्वीकार कर लेती है। ऊर्मिला और गृहवापी के शब्दों की समानता इसकी पुष्टि करती है :

पंकज तुम्हें दिये हैं,
और किसे पंक आज मैं दूँगी ?
× ×
सुख भोगे हैं मैंने,
दुःख भला क्यों न भोगूँगी ?

आलि, इसी वापी में …… …… ये अंग आज भी सिहरे।

"हे सखि, उसी बावली में हम (ऊर्मिला तथा लक्ष्मण) ने बार-बार हंसों की भाँति जल-विहार किया है (जल-क्रीड़ा के समय शरीर पर पड़ने वाले) उन छींटों का ध्यान करके आज भी मेरे इन अंगों में सिहरन (कम्प) सी हो रही है।"

संयोगावस्था की मधुर घड़ियाँ वियोग-वेला में स्मृतियों का रूप धारण कर करके आती हैं और वैषम्य द्वारा विरह-वेदना को और भी तीव्र कर देती हैं।

वियोगिनी यशोधरा संयोगावस्था की जल-केलि की ओर संकेत करके कहती है :

स्मरण आप करें जल-केलि में
हृदय पै जब कंज-कली लगी,
बहुत-ही प्रभु क्लेशित हो उठे
अधिक कर्कश थी मम पाणि से।
कर वही तजके—जिसको कभी
स-रति नाथ, किया धृत आपने—
चल दिये चुपके पर-देश को
कर मुझे असहाय - अनाथिनी। *

चन्द्रकान्त मणियाँ हटा ···· ···· ··· ··· जो सबके शृंगार।

(सखि ऊर्मिला को शीतलता तथा सुख प्रदान करने की इच्छा से उसे चन्द्रकान्त-मणियों से युक्त आभूषण पहनाना चाहती है। ऊर्मिला रोक कर कहती है) "ये चन्द्रकान्ता मणियाँ हटा ले। इस प्रकार मुझे (इन मणियों के रूप में) पत्थर न मार। पहले चन्द्रमा की शोभा वाले तथा सबके शृंगार वे (लक्ष्मण) तो यहाँ लौट आवें (उनकी अनुपस्थिति में तो ये मणियाँ पत्थर हैं और आभूषण भार-तुल्य)।

'चन्द्रकान्त' शब्द के आधार पर प्रस्तुत अवतरण में आलंकारिक चमत्कार भी उत्पन्न हो गया है।

हृदयस्थित स्वामी की ··· ··· ··· ···· चन्दन की एक क्या चर्चा ?

"हे प्रिय सखी, हृदयस्थित (हृदय में निरन्तर वास करने वाले) स्वामी का पूजन उचित क्यों नहीं ? (अर्थात् सर्वथा उचित है) परन्तु (इस पूजा में) केवल चन्दन ही (का प्रयोग) क्यों (किया जाए) ? मन (सर्वस्व) ही उन्हें क्यों न चढ़ावें (अथवा सम्पूर्ण मन ही उन पर निछावर क्यों न कर दिया जावे) ?

विरह-ताप से ऊर्मिला की रक्षा करने के लिए सखि उसके हृदय पर चन्दन लगाती है। ऊर्मिला उसे रोकती है। सखी उससे कहती है कि इस प्रकार चन्दन लगाने से तो हृदयस्थित स्वामी की पूजा ही होगी। सखी समझती थी कि उसने ऊर्मिला के सम्मुख एक अकाट्य तर्क उपस्थित कर दिया है परन्तु ऊर्मिला का उत्तर

* सिद्धार्थ, श्री अनूप शर्मा, सर्ग १३, पृष्ठ १६६।

है कि हृदयस्थित स्वामी की अर्चा तो उचित है परन्तु इसके लिए केवल चन्दन से ही सन्तोष क्यों कर लिया जावे। उचित तो यह है कि—

मन सब उन्हें चढ़ावे

बँधकर घुलना अथवा .... मुझको कर्पूरवर्त्ति, बस घुलना !

कपूर की बत्ती को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे कर्पूरवर्त्तिके ! तू बन्द रह कर तो घुल (गल) जाती है (बन्द रह कर कपूर घुल जाता है) परन्तु (बाहर निकलने का अवसर पा कर) तू खुल कर एक पल के लिए जल कर प्रकाश बिखेर देती है ! (तेरी ही तरह) मेरे भाग्य में (केवल) घुलना तो लिखा है (परन्तु पल भर प्रकाश बिखेरने का अवसर मेरे भाग्य में कहाँ ?)"

करो किसी की दृष्टि को ... . नीर भरा भरपूर ।

"हे दयालु कपूर, तुम किसी (और ही) की दृष्टि को शीतल करो। इन (मेरी) आँखों में तो पहले ही भरपूर जल भरा है (उन्हें शीतलता की कोई आवश्यकता नहीं)।

दीना, हीना, अधीना होकर भी ऊर्मिला किसी की दया की भिखारिन बनने के लिए तैयार नहीं, वियोगावस्था में भी वह अक्षय निधि की स्वामिनी है अतः उसे *सदय कपूर* से शीतलता नहीं लेनी, उसके तो अपने ही नेत्रों में *भरपूर* जल भरा है !

मन को यों मत जीतो ... ... यों मत जीतो !

"हे प्रिय, मन को इस प्रकार (इतनी कठोर तपस्या द्वारा) न जीतो ! यहाँ (अयोध्या में) जो मानिनी (ऊर्मिला) बैठी है, तनिक उसकी भी तो सुध लो (उसकी ओर भी तो ध्यान दो) ! प्रियतम, तुम इतनी कठोर तपस्या न करो जिसके कारण आग-सी जल जावे (सब ओर अत्यधिक ताप बढ़ जावे)। देखो, तुम्हारे (कठोर तप के कारण ही) ग्रीष्म ने इतना भीष्म (भयंकर) रूप धारण कर लिया है (इतनी अधिक गरमी पड़ रही है) इस दासी की अभिलाषा भी पूर्ण होने दो ! इस प्रकार मन को न जीतो !

"हे प्रियतम, (संसार के) सब प्राणी प्यासे हैं। हे दानी, उन पर दया करो (तप से उन्हें और न तपाओ) इन प्यासी आँखों का पानी न सुखाओ (संसार की प्यास बुझाने के लिए इन्हें निरन्तर बहता रहने दो) मेरे इस मन (रूपी मानसरोवर) को कभी रीता न करो ! मन को इस प्रकार न जीतो !

"धूप ने इस पृथ्वी को दबोचा हुआ है। यह आँधी भी धूल उड़ा रही

है। कौन जाने प्रलय ने आज किस के विरुद्ध कमर कसी है (वह किसका अथवा सबका ही सर्वनाश करना चाहती है) अरे दिन, तुम जड़ (गतिहीन) न बनो, बीतो ! हे स्वामी, तुम मन को इस प्रकार न जीतो !"

ग्रीष्म ऋतु में गरमी से सब संसार झुलस रहा है नदियाँ आदि सूख गयी हैं, लोग प्यास से बिलख रहे हैं, धूप प्रखर हो गयी है, आँधी धूल उड़ा रही है, सब ओर प्रलय-सी मच रही है और दिन ? वह तो पहाड़ हो गया है ; काटे नहीं कटता। ऊर्मिला समझती है कि ताप का यह आधिक्य लक्ष्मण के तप के कारण ही है। वह अनुरोध-भरे स्वर में स्वामी से निवेदन करती है—मन को इस प्रकार न जीतो ! मन को जीतने का *यह* ढंग अच्छा नहीं। और फिर लक्ष्मण अपने मन को जीत लेंगे तो उस *मानिनी* का क्या होगा जो यहां—अयोध्या में—आशा का दीप संजोये निरन्तर अपलक नेत्रों से उन की बाट जोह रही है। *लक्ष्मण के मन* और इस *मानिनी* का अभिन्न सम्बन्ध है। लक्ष्मण ने यदि मन पर विजय पाली तो वह विजय इस मानिनी को कहीं का भी न रखेगी, फिर इस मानिनी को कौन मनावेगा, इसके मान का मूल्य कौन चुकता करेगा ? अस्तु, ऊर्मिला का निवेदन है—सुध लो इस की भी तो। यहाँ *भी* शब्द द्रष्टव्य है। ऊर्मिला एकाधिकार का दावा नहीं करती परन्तु वह अपना अधिकार भी नहीं खोना चाहती। वह यशोधरा के स्वर में स्वर मिला कर यह तो नहीं कहती :

पहले हो तुम यशोधरा के,
पीछे होगे किसी परा के।

× ×

*भूले हो पहचानो।**

ऊर्मिला तो केवल इतना ही चाहती है कि प्रियतम *उसकी भी तो* सुधि लें—वह भी तो उन्हीं की आश्रिता है, उसने भी तो *अपना आन्तरिक सुख-दुःख* उसी *आश्रय में धरा* है !

एक बात और भी है। यदि *वन में कठिन तपस्या करके* लक्ष्मण अपने को ऊर्मिला के *योग्य* बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं तो ऊर्मिला ने भी अपने *स्व* को *पर* की स्थिति तक विस्तीर्ण कर लिया है उसने अपने व्यक्तित्व का विकास समस्त ब्रह्मांड तक कर लिया है। अस्तु, अपने से अधिक उसे दूसरों की चिन्ता है। आज सारा संसार तृषित है। ताप ने नदियों का जल सुखा दिया है। ऊर्मिला को भय है कि कहीं प्रिय का तप उसकी *प्यासी* आँखों का पानी भी न सुखा दे ; फिर प्यासों की

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ११३।

प्यास कैसे बुझेगी ? ऊर्मिला के नेत्रों का जल *अपनी प्यास* बुझाने में तो असमर्थ है परन्तु *विश्व की* तृषा शान्त करने के लिए तो वह उन्हें सूखने नहीं देना चाहती और फिर—लक्ष्मण तो मन को यों जीत कर मानो ऊर्मिला के *मानस* को ही *रीता* (जल-विहीन अथवा सूखा) कर देना चाहते हैं। मानसरोवर सूखने पर नदियों को जल कहाँ से प्राप्त होगा ? मन (शुष्क) रीता हो जाएगा तो आँसुओं का यह प्रवाह कहाँ से जल प्राप्त करेगा ?

धर कर धरा धूपने बाँधी : अनुप्रास की मनोरम छटा के साथ ही इस पंक्ति में एक विशेष भाव-सौन्दर्य भी निहित है। सबको धारण करने वाली '*धरा*' को भी आज धूप ने *धर पकड़ा* है।

जड़ न बनो, दिन, बीतो : गरमियों में दिन बहुत लम्बे हो जाते हैं और फिर वियोग की घड़ियाँ तो और भी 'जड़' जान पड़ती हैं।

मेरी चिन्ता छोड़ो ···· ··· ···· ··· नृप निकेतन में।

"हे नाथ, तुम मेरी चिन्ता छोड़ कर आत्म-चिन्तन में निमग्न रहो। (तुम वन में हो) मैं तो फिर भी अपने इस राज-महल में ही बैठी हूँ (मुझे अपेक्षाकृत सुख के अधिक साधन उपलब्ध हैं अतः मेरी चिन्ता करना व्यर्थ है। इस तपस्या-वेला में तो तुम्हें निर्विघ्न हो कर आत्म-चिन्तन ही करना चाहिए)।

ऊर्मिला ने अन्यत्र भी कहा है :

करना न सोच मेरा इससे,
व्रत में कुछ विघ्न पड़े जिससे।
आने का दिन है दूर सही,
*पर है, मुझको अवलम्ब यही।**

यशोधरा ने भी कहा है :

जाँय, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से।†

नयन-नीर-पर ही सखी ···· ··· ···· ··· रोम-रोम से स्वेद।

"हे सखी, तू तो मेरे नयन-नीर (आँसुओं) पर ही खेद (दुःख प्रकट) करती थी; देख, अब तो मेरे रोम रोम से पसीना (पानी) टपक रहा है!"

* साकेत, सर्ग ६।

† श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ २२।

रोम-रोम से बहने वाला यह पानी (पसीना) स्वयं जल होकर भी अत्यधिक ताप का ही द्योतक है !

ठहर अरी, इस हृदय में ···· ··· ··· ···· और भी धधक उठेगी आग !

(ऊर्मिला के रोम-रोम से पसीना टपक रहा है, सखी पंखा झलना चाहती है। ऊर्मिला उसे रोक कर कहती है) "अरी ठहर, इस (मेरे) हृदय में विरह की आग लग रही है, तालवृन्त (ताड़ का पंखा) झलने से तो वह आग धधक कर और भी वेग के साथ जल उठेगी (पंखा झलने से आग भड़क उठती है) !"

प्रियतम के गौरव ने ··· ···· ···· ··· मधुर स्मृति की मिठास, मैं बलिहारी !

"दिन भारी (जो सुख से न काटे जा सकें) भले ही रहें मुझे तो प्रिय के गौरव ने लघुता प्रदान की है। हे सखि, इस कटुता में भी मधुर स्मृति की जो मिठास है, मैं उसी पर न्योछावर हो रही हूँ ! "

विरहावस्था के दिन काटे नहीं कटते, *भारी* पड़ गये हैं। दूसरी ओर इस भारीपन के मुकाबले में ऊर्मिला हलकी पड़ गयी है, उसमें इन भारी दिनों का सामना करने की क्षमता नहीं। ऊर्मिला अपनी इस *लघुता*—इस कमजोरी—से अवगत है परन्तु उसे इसका दुःख नहीं। यह तो प्रियतम के *गौरव* का प्रसाद है। लक्ष्मण गौरव के शुभ्र पथ पर न बढ़ निकलते तो ऊर्मिला को इस स्थिति का सामना कैसे और क्यों करना पड़ता ? अस्तु, वह लघु रहे और दिन भले ही *भारी* रहें, ऊर्मिला को इसकी तनिक परवाह नहीं। इस *कटुता* में—इस तीखेपन में—भी तो एक *मिठास* ही है !

'गौरव' और 'लघुता' तथा 'कटुता' और 'मिठास' में विरोधाभास है।

तप तुझसे परिपक्वता ···· ··· ··· ··· प्रिय के ही उपहार।

"तप, तुझसे भली प्रकार परिपक्वता पाकर (तेरे कारण पक कर तथा मीठे बन कर) हमारे समस्त फल प्रिय के ही उपहार—बनें।"

यहाँ '*तप*' श्लिष्ट शब्द है। इसका अर्थ है—ग्रीष्म ऋतु और तपस्या। ग्रीष्म का ताप फलों को पकाता है, तपस्या से मानव-जीवन में परिपक्वता आती है। ऊर्मिला वे ही परिपक्व फल लक्ष्मण को भेंट करना चाहती है। *वनचारी* के लिए '*फल*' से अधिक उपयुक्त भेंट और क्या हो सकती है ?

इन पंक्तियों द्वारा एक अन्य अर्थ भी ध्वनित होता है। ऊर्मिला विरह-तप

द्वारा अपने कर्म (भाग्य) फलों को परिपक्व करके उन्हें अपने प्रियतम के चरणों पर ही समर्पित कर देना चाहती है !

पड़ी है लम्बी-सी अवधि .... प्रिय का नाम जपना ।

सारंग (मोर) को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे सारंग (मोर) मेरे (मिलन-) मार्ग में तो अभी लम्बी-सी अवधि पड़ी है (मेरी मिलन-वेला तो अभी बहुत दूर है), (इसीलिए) मेरा मन भी अत्यन्त व्यग्र हो रहा है और गला भी रूखा (सूखा) है, (मेरे प्रिय अभी मुझ से दूर हैं परन्तु इसके विपरीत) तेरे घन (बादल अथवा वर्षा) समीप ही हैं (शीघ्र ही तेरी प्यास बुझने वाली है । इसीलिए तो तू इतने ज़ोर-ज़ोर से—उत्साहपूर्वक—प्रिय की रट लगा रहा है) ! हे सारंग, तू तनिक मुझे भी अपना स्वर दे दे (ताकि) मैं भी (तेरी ही भाँति) जोर-जोर से प्रिय का नाम जपने लगूँ ।"

'*सारंग*' शब्द के अनेक अर्थ हैं ; यथा—मृग, कोकिल, हंस, मयूर, चातक, भ्रमर, मधुमक्खी आदि आदि । घन अथवा बादल को प्रायः मोर का आराध्य माना जाता है । 'सारंग' शब्द मोर के वर्ण-सौन्दर्य पर भी समुचित प्रकाश डालता है । मयूर अपने स्वर (कण्ठ) के लिए भी स्मरण किया जाता है ; 'केकी कण्ठ' इसका प्रमाण है । इन्हीं सब कारणों से यहाँ 'सारंग' का अर्थ 'मयूर' किया गया है । वैसे प्रस्तुत अवतरण में 'सारंग' का अर्थ 'चातक' भी किया जा सकता है । महाकवि विद्यापति ने 'सारंग' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में, एक साथ इस प्रकार किया है :

सारंग[१] नयन बयन पुनि सारंग[२]
सारंग[३] तसु समधाने ।
सारंग[४] उपर उगल दस सारंग[५]
*केलि करथि मधुपाने ॥**

[१]हरिण, [२]कोकिल, [३]कामदेव, [४]कमल और [५]भ्रमर ।

'सारंग' का आराध्य—घन—*समीप* ही है परन्तु ऊर्मिला और उसके आराध्य—लक्ष्मण—के बीच, उनके *पथ में* तो *लम्बी-सी अवधि* पड़ी है ! प्रिय के आगमन के संकेत पाकर सारंग उल्लास भरे स्वर में उन्हीं का स्मरण कर रहा है । परन्तु ऊर्मिला के मन की व्यग्रता और कण्ठ की शुष्कता ने उसकी पुकारने की शक्ति भी छीन ली है । तभी तो वह सारंग से निवेदन करती है कि वह तनिक

* विद्यापति की पदावली, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, पृष्ठ २१ ।

अपना स्वर उसे भी दे दे ताकि वह प्रियतम का नाम-संकीर्तन कर सके। जिस ऊर्मिला को, शैशव में, उसके पिता अत्यन्त प्यार से '*निज साम-संहिता*'❀ कहते थे; यौवन में जो बोल कर '*अमृत बरसाती*' और '*रसिकता में सुरस सरसाती*'† थी, आज उसी ऊर्मिला का *गला रूखा* और *मन व्यग्र* है। क्रूर विरह ने '*निरुपमा*'† ऊर्मिला को *स्वर-याचना* करने के लिए बाध्य कर दिया है !!

कहती मैं, चातकि, ··· ···· ·· ··· उर में कल-कल्लोल !

ऊर्मिला कहती है, "हे चातकी, यदि मेरे नेत्रों की ये खारी बूँदें (आँसू) (तेरे स्वर का) मूल्य दे (चुका) सकतीं तो मैं तुझसे फिर (बार-बार) बोलने के लिए कहती (मैं बार-बार तेरा स्वर सुनना चाहती हूँ परन्तु इन आँसुओं के अतिरिक्त मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिससे मैं तेरे बोल का मोल चुका सकूँ। ये आँसू भी वह मूल्य चुका सकेंगे, इसमें भी मुझे सन्देह ही है। इसीलिए मैं तुझसे, बोलने के लिए, बार-बार अनुरोध नहीं कर पाती।) क्या मोती भी तेरे उन बोलों (स्वरों) की समानता कर सकते हैं (फिर भला आँसू वह मूल्य कैसे चुका सकेंगे ?) फिर भी (अपनी मूल्य चुकाने की असमर्थता से अवगत होकर भी) मैं तुझसे यही अनुरोध करती हूँ कि तू बार-बार झाड़ी के इस झुरमुट पर बैठी रस घोलती रह (मधुर स्वर में बोलती रह)। (तेरा स्वर सुनने के लिए) पूर्व स्मृतियाँ (संयोगावस्था की मधुर स्मृतियाँ) श्रुति-पुट लेकर (उत्कर्ण हो कर) पट खोले (उत्सुकतापूर्वक) खड़ी हैं (पूर्व स्मृतियाँ साकार होकर तेरा स्वर सुनने के लिए आतुर हो रही हैं) देख, उनके जो गाल पीले पड़ गये थे, वे (संयोग-वेला की स्मृतियों के कारण) आप-ही-आप लाल हो उठे हैं (तेरे स्वर ने मेरी क्षीणप्राय पूर्व स्मृतियों में पुनः नवजीवन का संचार कर दिया है), (फलतः) मेरे सैंकड़ों स्वप्न (हृदय के सैंकड़ों प्रसुप्त भाव) अपने-आप ही हिल-डोल कर जाग उठे हैं फिर भी बाह्य जगत् (ब्रह्माण्ड) तो मेरे लिए अब भी सन्न (सन्नाटे में निमग्न) है। तू मुझे वेदना-सुख से रहित न कर (यह सुख मुझसे न छीन) अपना हृदय-रूपी हिंडोला (पींग) बढ़ा (स्वाधीनतापूर्वक "पीऊ-पीऊ" की रट लगा) तेरे स्वर में जो (आराध्य के प्रति) प्रेम-लहरियाँ अभिव्यक्त हो रही हैं, मेरे उर में भी वे ही (प्रेम-लहरियाँ) उठ रही हैं (आराध्य के प्रति जो अनुराग तेरे स्वर में है, वही मेरे हृदय में भी है)।"

❀ साकेत, सर्ग १०।

† साकेत, सर्ग १।

ये खारी आँसू की बूँदें दे सकतीं यदि मोल ! : चातक पक्षी स्वाति नक्षत्र का ही जल पीता है, स्वाति की वही बूँद जो सीप में पड़कर मोती का रूप धारण कर लेती है :

चातक सुतहिं सिखावहीं, आन धर्म जिन लेहु ।
मेरे कुल की बानि है स्वाँति बूँद सों नेहु ॥

फिर भला खारी आँसू की बूँदें उस बोल का मोल कैसे चुकावें ?

श्रुति पुट लेकर······उनके पांडु कपोल ! : यहाँ छायावादी शैली पर पूर्वस्मृतियों का मानवीकरण किया गया है ।

जाग उठे हैं मेरे सौ-सौ स्वप्न स्वयं हिल-डोल : सोता हुआ व्यक्ति जब स्वयं (स्वेच्छा से) जागता है तो पहले हिलता-डुलता है ।

'न कर वेदना-सुख से वंचित' : ऊर्मिला ने अन्यत्र भी कहा है :

वेदने, तू भी भली बनी !
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी ।
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर-कनी,
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय-विशिख-अनी !

चातकि, मुझको आज ही ··· ··· ···· ···· मैं समझी थी गान !

ऊर्मिला कहती है कि "हे चातकी, तेरे शब्दों (वाणी) के वास्तविक भाव का अनुभव मुझे आज (विरहावस्था में) ही हुआ है । हाय ! (स्वयं संयोग-सुख निमग्ना होने के कारण) मैं जिसे (तेरे जिस स्वर को) गीत (हर्षोद्गार) समझा करती थी, वह वास्तव में तेरा रुदन (करुण-क्रन्दन) ही था ! "

चातकी के हृदय तक यशोधरा की पहुँच भी वियोग के दिनों में ही होती है :

बलि जाऊँ, बलि जाऊँ चातकि, बलि जाऊँ इस रट की !
मेरे रोम-रोम में आकर यह काँटे-सी खटकी !
भटकी हाय कहाँ घन की सुध, तू आशा पर अटकी,
*मुझसे पहले तू सनाथ हो, यही विनय इस घट की ।**

घूम उठे हैं शून्य में ··· ··· ···· ··· छाये हैं सब ओर ?

ऊर्मिला कहती है कि "आकाश में उमड़-घुमड़ कर घोर बादल छा गये हैं । सब ओर ये किसके उच्छ्वास (आह अथवा गरम साँस) से छा रहे हैं ?"

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४५ ।

यहाँ '*शून्य*' श्लिष्ट शब्द है; अर्थ हैं : आकाश और सूना अथवा रिक्त (हृदय)। आकाश पर बादल छा रहे हैं—वर्षा जो होने वाली है ! आँसुओं के रूप में बरसने से पूर्व उच्छ्वास भी तो रिक्त हृदय में ऐसे ही भावान्दोलन की सृष्टि करते हैं। अस्तु, विरहिणी ऊर्मिला को ये *बादल* (हृदय में उठने वाले) *उछ्वास-से* जान पड़ते हैं।

घनघोर घटा देखकर विरहिणी यशोधरा के हृदय में इन भावों का उदय होता है :

जागी किसकी बाष्प राशि, जो सूने में सोती थी?
किसकी स्मृति के बीज उगे ये, सृष्टि जिन्हें बोती थी?
अरी वृष्टि, ऐसी ही उनकी दया-दृष्टि रोती थी,
विश्व-वेदना की ऐसी ही चमक उन्हें होती थी!
किसके भरे हृदय की धारा,
शतधा होकर आज बही?
मैंने हा क्या सहा, सभी ने
*मेरी बाधा - व्यथा सही।**

मेरी ही पृथिवी का पानी ....पृथिवी का पानी।

"हे सखी, मेरी ही पृथिवी का पानी लेकर (तथा उसे बरसा कर) यह आकाश आज दानी बना है ! और यह गतिशील बादल भी तो मेरी ही पृथ्वी के धुँए से बना है जो हाथी की तरह झूम-झूम कर अभिमानपूर्वक गरज रहा है और मद (जल) बरसा रहा है ! यह मेरी ही पृथ्वी का तो पानी है !

"अब सूर्य तथा चन्द्रमा विश्राम करें (बादलों ने आकाश को ढक लिया है अतः सूर्य तथा चन्द्रमा अब विश्राम कर सकते हैं)। (धरती की गोद में) सोये हुए अंकुर (नयी कोंपलें) तन्द्रारहित होकर उग आवें (वर्षा के जल से नयी कोंपलें फूट पड़ती हैं)। हे भाई बादल, तुम मुझे अपने मृदु मन्द्र स्वर में कोई नयी कहानी सुनाओ। यह मेरी ही तो पृथ्वी का पानी है !

"अरी घटा, तू बरस, मैं भी तेरे साथ बरसूँगी (आँसू बहाऊँगी). (हम दोनों द्वारा बरसाये गये जल से) पृथ्वी के सब अंग सरसें (हरे-भरे हो सकें)। सबके साथ मुझे भी कभी सयानी (परिपक्व) उमंग प्राप्त हो (वर्षा के फलस्वरूप धरती के अंग हरे-भरे होंगे ; कदाचित् इसी प्रकार ऊर्मिला के नेत्रों

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४२।

से बहते हुए अश्रु-प्रवाह की भी उमंग में परिणति हो सके)। यह मेरी ही तो पृथ्वी का पानी है!"

आकाश में घनघोर घटा उठ रही है। बादल मस्त हाथियों की तरह साभिमान झूम रहे हैं। ऊर्मिला को उनके इस मिथ्या अभिमान पर हँसी आती है। वास्तव में तो वह ऊर्मिला की धरती का—ऊर्मिला की *भाव-भूमि* का—ही पानी है, जिसे ले लेकर यह आकाश *दानी* बनने का *ढोंग* कर रहा है। कुछ भी हो, वर्षातुर बादलों को देखकर वह उन्हें कोसती नहीं, सन्तोष का-सा ही अनुभव करती है। उसे यह कल्पना करके सुख ही होता है कि इस प्रकार शीघ्र ही नये अंकुर निस्तन्द्र होकर जाग उठेंगे। प्रकृति के इस भाग्योदय—मानवता के इस नवोत्थान—विश्व के इस कल्याण-कार्य में ऊर्मिला केवल *तटस्थ दर्शिका* मात्र न रहकर अपना *सक्रिय सहयोग* भी देती है। वह घटा से बरसने के लिए कहकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाती, *स्वयं भी* बरस कर अवनी के अंग सरस करने में योगदान करना चाहती है। वह अपने लिए भी कुछ *फल* अवश्य चाहती है परन्तु वह मुख्य बात न होकर गौण वस्तु ही है। वह *उमंग* की आकांक्षिणी अवश्य है परन्तु सबसे *आगे* रहकर नहीं, सबके साथ रह कर ही।

मृदुमन्द्र : संगीत में मध्यम से उतरे हुए स्वर को मन्द्र-स्वर कहते हैं।

दरसो परसो घन बरसो ··· ··· ··· ··· जन जन के जन, बरसो।

बादलों को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे बादलो, तुम (हमें) दर्शन दो, हमारा स्पर्श करो और बरसो। तुम्हीं तो इस जीर्ण-शीर्ण (दुर्बल तथा जर्जर) संसार के नवयौवन हो (तुम्हीं ग्रीष्म के ताप से जर्जरित वसुन्धरा को पुनः नवजीवन प्रदान करते हो) अतः तुम बरसो। हे आषाढ़, तुम उमड़ कर घुमड़ उठो! हे पवित्र सावन, तुम बरसो (प्रायः आषाढ़ में आकाश बादलों से घिरा रहता है तथा सावन में वर्षा होती है), हे भाद्र (भाद्रपद) के भद्र (हाथी) आश्विन के चित्रित हस्ति और स्वाति के धन, तुम बरसो। संसार की दृष्टि को अंजन (सुरमे) की भाँति आनन्द तथा सुख देने वाले तथा पृथ्वी का ताप शान्त करने वाले, तुम बरसो। व्यस्त तथा प्रचंड जगज्जननी (कालिका) के अग्रस्तन रूपी बादल, तुम बरसो! गत (पिछले) सुकाल के प्रत्यावर्त्तन (पुनः लेकर आने वाले) तथा शिखिनर्तन! बरसो! अरे उद्बोधन! तुम जड़ तथा चेतन सबमें बिजली (नवजीवन अथवा नव-चेतना) भर दो और बरसने लगो। हमारी धरती के (पुलक रूपी) अंकुर तुम्हारे कारण ही तो चिन्मय (ज्ञान अथवा चेतनामय) बनेंगे अतः तुम

बरसो। तुम मन्त्र पढ़ कर छींटे दोगे तभी तो (संसार का) प्रसुप्त जीवन जाग सकेगा (उद्बुद्ध होगा) अतः तुम बरसो। हे बादल, तुम कन-कन छन छन बरस कर तीनों लोकों का मानस-घट रस से परिपूर्ण कर दो। आज जन-जन के प्रेमीजन भीगते हुए ही घर पहुँचें। अतः हे बादल, तुम बरसो।"

सरसो जीर्ण-शीर्ण जगती के तुम नव-यौवन : ग्रीष्म ऋतु में पृथ्वी जर्जरित-सी हो जाती है। वर्षा का जल उसे फिर नव-यौवन प्रदान कर देता है।

व्यग्र उदग्र जगज्जननी के, अयि अग्रस्तन : स्तन का अग्रभाग श्याम-वर्ण का होता है। बादलों का रंग भी काला है। एक बात और भी है—गर्भवती होने पर ही स्त्री के स्तन का अग्रभाग श्यामता समन्वित होता है। इस दृष्टि से '*जगज्जननी*' शब्द का महत्व बहुत बढ़ जाता है।

गत सुकाल के प्रत्यावर्तन : बादल जल लाते हैं। जल से खेत लहलहाते हैं। लहलहाते खेत सुकाल के प्रतीक हैं।

शिखिनर्तन : बादलों को देखकर मोर प्रसन्न हो-हो कर नाचते हैं।

लछिमन देखहु मोर गन नाचत बारिद पेखि।

—रामचरितमानस

जड़-चेतन में बिजली भर दो : बादलों में बिजली होती है। कवि ने उन्हें यहाँ '*उद्बोधन*' के रूप में देखा है। अतः यहाँ 'बिजली' का दूसरा अर्थ '*शक्ति*' अथवा '*उत्साह*' है।

चिन्मय बनें हमारे मृण्मय पुलकांकुर बन : बादल ही तो जड़ (निर्जीव) पृथ्वी को चेतन बनाते हैं। वर्षा के जल से पल्लवित होने वाले अंकुर मानो पृथ्वी के साकार पुलक भाव ही हैं।

मन्त्र पढ़ो, छींटे दो, जागे सोये जीवन : माना जाता है कि कुछ विशेष मन्त्रों का उच्चारण करके जल के छींटे देने से मृत व्यक्ति भी जीवित हो जाते हैं।

"इस गीत में चौमासे के चारों महीनों—आषाढ़, श्रावण, भाद्र और आश्विन का उल्लेख कर दिया है जो वर्षा-वर्णन के प्रसंग में सर्वथा उचित है। जहाँ आषाढ़ और सावन को बरसने के लिए कहा गया है वहाँ लक्षणा से आषाढ़ श्रावण के बादलों से तात्पर्य है। भाद्र को भद्र कहने में जहां अनुप्रास का सम्यक् निर्वाह है, वहाँ कवि के शब्द-कोष का भी अच्छा परिचय मिल जाता है। 'बरसो' की आवृत्ति से ऐसा लगता है जैसे वर्षा की झड़ी लग रही हो। 'कन कन छन छन बरसो' से

जान पड़ता है जैसे टप-टप ऊपर से बूँदें गिर रही हों। ऊपर के गीत में ऊँचे उठे हुए बादलों को 'जगज्जननी के अग्रस्तन' कहा गया है। महाकवि केशवदास ने भी वर्षा और कालिका का रूपक बाँधते हुए बादलों को इसी रूप में देखा है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्ति को लीजिये—

भौहैं सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर,
भूखन जराय जोति तड़ित रलाई है।

"अर्थात् इन्द्र-धनुष ही कालिका की सुन्दर भौंहें हैं, घने और बड़े बादल (पयोधर) ही जिसके उन्नत स्तन हैं और बिज्ज-छटा ही जिसके जड़ाऊ जेवरों की चमक है। किन्तु गुप्तजी के रूपक में 'अग्रस्तन' के प्रयोग द्वारा सादृश्य का अच्छा निर्वाह हो गया है। इस गीत में नकार के अनेकशः प्रयोग तथा आन्तरिक तुक-साम्य के कारण जो नाद-सौन्दर्य की छटा दिखलाई पड़ती है, उसकी ओर हमारा ध्यान गये बिना नहीं रहता। आंतरिक तुक-साम्य के उदाहरण लीजिये—

दरसो परसो बरसो
जीर्ण शीर्ण
यौवन पावन सावन
भाद्र भद्र
सृष्टि दृष्टि
अंजन रंजन विभंजन स्वातिधन अग्रस्तन
व्यग्र उदग्र
प्रत्यावर्तन शिखिनर्तन उद्बोधन जीवन
कन कन छन छन जन जन के जन
चिन्मय मृण्मय

"तुक का जितना सफल प्रयोग श्रीगुप्तजी द्वारा हुआ है, खड़ी बोली के शायद ही किसी कवि द्वारा तुक का उतना समर्थ प्रयोग हुआ हो। तुक तो कवि के इशारों पर नृत्य करती हुई जान पड़ती है। माधुर्य गुण का उत्कृष्ट उदाहरण है यह गीत। इस गीत की अन्तिम पंक्ति 'आज भीगते ही घर पहुँचे, जन जन के जन, बरसो' को पढ़ कर राजस्थानी के निम्नलिखित दोहे की ओर बरबस हमारा ध्यान चला जाता है—

आज धुराऊ गाजियौ, काली कांठल मेह।
भीगी पाग पधारस्यौ, तो जाणूँली नेह॥

"प्रोषितपतिका नायिका की उक्ति है कि आज उत्तर की तरफ का बादल गरजने लगा है; श्याम घटा वर्षा की सूचना दे रही है। हे प्रियतम ! यदि आप भीगी हुई पाग (पगड़ी) से पधारेंगे तभी मैं समझूँगी कि आपका मुझसे सच्चा प्रेम है।"*

घटना हो चाहे घटा ··· ··· ··· ··· छाकर चन्द्रादित्य !

"हे सखी, घटना और घटा सदा ही नीचे से ऊपर की ओर उठ कर सूर्य तथा चन्द्रमा तक छा जाती है (भाव यह है कि घटना तथा घटा का विस्तार क्रमशः होता है, साधारण-सी घटा बढ़ते-बढ़ते सूर्य तथा चन्द्रमा तक को ढक लेती है, इसी प्रकार साधारण-सी बात बड़ी घटना का रूप धारण कर लेती है—बात का बतंगड़ हो जाता है)।"

तरसूँ मुझसी मैं ही ···· ···· ··· ··· मेरी भी आयगी बारी।

"अपनी भाँति मैं ही तरसूँ (मेरी तरह और कोई न तरसे)। प्यारी प्रकृति तो सरसित तथा हर्षित ही रहे (फूले-फले) सबको सुख होगा तो (यथा समय) मेरी भी बारी आ ही जाएगी।"

वियोगावस्था में भी *हर्षित* प्रकृति को देखकर ऊर्मिला के हृदय में *ईर्ष्या* का उदय नहीं होता। वह दूसरों को अपने दुःख से *दूर* रखकर सुखी तथा प्रसन्न ही देखना चाहती है। सब प्रसन्न होंगे तो कभी-न-कभी उसकी *बारी* भी आ ही जाएगी। ऊर्मिला की यह उदारहृदयता धन्य है !

बुँदियों को भी आज इस ···· ··· ···· ··· गिरकर अपने आप !

"वर्षा की (छोटी-छोटी) बुँदियों को भी आज इस (मेरे) शरीर को छू कर ताप (गरमी) का अनुभव हो रहा है। वे अपने आप गिर कर (मेरा तप्त शरीर छू कर) भाप-सी बन कर उठ जाती हैं।"

यहाँ विरह-जन्य ताप का ऊहात्मक वर्णन है।

न जा उधर हे सखी ··· ··· ··· ··· अहह इष्ट एकान्त ही।

(वर्षा ऋतु में मोर प्रसन्न हो कर नाच रहे हैं। ऊर्मिला उनके हर्षोल्लास में विघ्न नहीं डालना चाहती, उनका सुख-संसार नष्ट-भ्रष्ट नहीं करना चाहती तभी तो वह सखी से कहती है) "हे सखी, उधर (जिस ओर मोर नाच रहा है न जा, उस मोर को (स्वाधीनता तथा) सुखपूर्वक नाचने दे। (तेरे उस ओर

* श्री कन्हैयालाल सहल, साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृष्ठ ५६—५७।

जाने से) कहीं वह सकुचा न जाए! उसे प्रसन्न हो कर लास्य-लीला करने दे ('लास्य' एक उल्लास-परिपूर्ण नृत्य होता है)। अब तो मुझे यही इष्ट है कि मैं किसी के सुख में बाधक न बनूँ। वैराग्य तथा अनुराग दोनों दशाओं में सब एकान्त ही पसन्द करते हैं (मुझे वियोगिनी होने के कारण किसी का साथ नहीं सुहाता, मोर अनुराग मग्न होकर नाच रहा है। उसे भी इस समय अकेला—निर्विघ्न—छोड़ देना ही उचित है)।"

इन्द्रवधू आने लगी ··· ···· ··· ··· निकल पड़ा यह हाय!

('यहाँ इन्द्रवधू' श्लिष्ट शब्द है, अर्थ हैं: देवराज इन्द्र की पत्नी शची और वीरबहूटी। वीरबहूटी के इसी नाम को लक्ष्य करके ऊर्मिला अपनी सखी से कह रही है,) "भला इन्द्रवधू अपना स्वर्ग छोड़कर यहाँ पृथ्वी पर क्यों आने लगी? हाय! (जिसे संसार—इन्द्रवधू—वीरबहूटी—कहता है वह तो) नन्हीं दूबा का हृदय निकल पड़ा है!"

ऊर्मिला के हृदय में आज सबके लिए अपार सहानुभूति है। *'नन्हीं दूबा'* भी उसकी अपवाद नहीं।

इस अवतरण में श्लेष तथा अपह्नुति अलंकार हैं।

बता मुझे नखरंजिनी ··· ··· ··· ··· अरुण बाहर हरी हरी?

"अरी मेंहदी! मुझे (भी वह रहस्य) बता तो सही कि तू किस प्रकार (भीतर से आग की भाँति) अरुण होकर बाहर से हरी-हरी (प्रफुल्लित) दिखायी देती (बनी रहती) है?"

नखरञ्जनी भीतर से *अरुण* है। ऊर्मिला समझती है कि यह अरुणिमा उसके हृदय में सुलगती दुःख अथवा वेदना की आग की लाली है। तथापि वह बाहर से *हरी-हरी* ही दिखाई देती है (अपने हृदयस्थित दुःख को प्रकट नहीं होने देती)। ऊर्मिला भी मेंहदी से यह रहस्य सीख लेना चाहती है। विरहणी यशोधरा ने यह रहस्य सीख लिया था तभी तो उसके *'आँचल में दूध'* था और *'आँखों में पानी'*। स्वयं उसी के शब्दों में—

> *"रोना-गाना बस यही जीवन के दो अंग;*
> *एक संग मैं ले रही दोनों का रस-रंग!"*❀

अवसर न खो निठल्ली ··· ··· ··· ···· कदम्ब-अवलम्ब तू मल्ली।

"हे वल्लरी! तू व्यर्थ ही अवसर न खो; बढ़ कर वृक्ष के निकट चली जा (वृक्ष का संयोग-सुख प्राप्त कर ले) हे मल्लिका, हे लल्ली ('लल्ली' स्नेह

❀ श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ११७।

सूचक शब्द है), अब (एक बार पा कर) तुम कदम्ब (वृक्ष) का आश्रय न छोड़ना (सदा संयोगिनी ही बनी रहना)।"

त्रिविध पवन ही था ···· ···· ··· ···· आ रहा जो उन्हीं-सा !

ऊर्मिला कहती है कि "उन्हीं (लक्ष्मण के स्पर्श) की भाँति जो (इधर) आ रहा था वह त्रिविध (शीतल, मन्द, सुगन्ध) पवन ही था (स्वयं प्रिय यहाँ न आये थे)। उन्हीं के समान गम्भीर स्वर से जो गरज रहा था वह (स्वयं प्रियतम न हो कर) बादलों का गम्भीर गर्जन ही था। प्रियतम के समान हँसने वाला नीप (कदम्ब का पुष्प) ही था; वे (प्रियतम) भला यहाँ कहाँ ? (एक बात अवश्य है) प्रिय की स्वाभाविक (अथवा समुचित) ख्याति सब ओर फैल रही है; प्रिय का यह सुकृत (यश) मुझे उनके समान ही अच्छा (तथा सुखप्रद) जान पड़ रहा है।"

'प्रिय-प्रवास' की राधा भी प्रकृति के त्रिविध अङ्ग-उपाङ्गों में अपने आराध्य का ही अनुभव करती है :

छू देती है मृदु-पवन जो पास आ गात मेरा।
तो हो जाती परस-सुधि है श्याम-प्यारे करों की।
ले पुष्पों की सुरभि वह जो कुंज में डोलती है।
तो गंधों से वलित मुख की वास है याद आती॥
ऊँचे-ऊँचे शिखर चित की उच्चता हैं दिखाते।
ला देता है परम दृढ़ता मेरु आगे दृगों के।
नाना-क्रीड़ा-निलय-झरना चारु छींटें उड़ाता।
*उल्लासों को कुँवर-वर के चक्षु में है लसाता॥ ···**

सफल हैं उन्हीं घनों का ···· ···· ··· ··· घनों का घोष।

"वास्तव में उन्हीं बादलों का गर्जन सफल (अथवा उपयुक्त) है जो वंश-वंश (प्रत्येक वंश) को विकास, ऐश्वर्य तथा सन्तोष प्रदान करते हैं (सबके विकास एवं ऐश्वर्य में सहायक होते हैं) जो स्वयं आकाश में विचरण करते हैं परन्तु पृथ्वी को हरा-भरा करते हैं (दूर रह कर भी वसुंधरा को शस्य-श्यामल बनाते हैं); जो जल में मोती भरते हैं (जल को मोती का स्वरूप देते हैं। स्वाति नक्षत्र के जल की बूँद सीपी में पड़ कर मोती बन जाती है) तथा

* प्रिय-प्रवास, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', सर्ग १३, पृष्ठ ३०१।

जिनका कोष (खजाना) अक्षय (कभी समाप्त अथवा नष्ट न होने वाला) है; वास्तव में उन्हीं बादलों का घोष सफल है।"

कहावत है कि 'जो गरजते हैं, वे बरसते नहीं।' ऊर्मिला केवल *गरजने वाले* बादलों का जीवन—उनका घोष—सर्वथा व्यर्थ, निरर्थक, महत्वहीन मानती है। घोष—गर्जन—उन्हीं बादलों का उपयुक्त है जो सबके हित तथा विकास में सहयोग देते हैं। दूसरे शब्दों में, मानव-जीवन वही सार्थक तथा श्लाघ्य है जो पर-हित-निरत हो।

इस अवतरण का परोक्ष सम्बन्ध इससे पहले उद्धरण की इस पंक्ति के साथ भी है :

यह घन-रव ही था, छा रहा जो उन्हीं-सा !

बादलों की गर्जना सुनकर ऊर्मिला को लक्ष्मण के *गम्भीर गर्जन* का स्मरण हो आता है अतः दूसरे ही क्षण ऊर्मिला यह बात स्पष्ट कर देने के लिए उतावली हो उठती है कि—

सफल है, उन्हीं घनों का घोष,
वंश-वंश को देते हैं जो वृद्धि, विभव, संतोष।

ऊर्मिला के इन शब्दों में *घनों* के बहाने से *लक्ष्मण* की ही स्तुति निहित है—उन्हीं लक्ष्मण की स्तुति जो *वंश* की *वृद्धि, विभव तथा संतोष* के लिए वनचारी हो गये हैं।

'वंश' शब्द का अर्थ 'बाँस' भी होता है। ग्रीष्म ऋतु में दावानल के कारण बाँस जल जाते हैं। वर्षा उन बाँसों को फिर नवजीवन-सा प्रदान करती है।

नंगी पीठ बैठकर घोड़े को ··· ··· ···· ···· भीतर से फूले-से !

(ऊर्मिला और लक्ष्मण की संयोगावस्था की बात है। वर्षा-ऋतु में एक बार ऊर्मिला और लक्ष्मण एक साथ झूला झूल रहे थे। ऊर्मिला को वियोग की इन घड़ियों में उन्हीं मादक क्षणों का स्मरण हो रहा है। उस दिन लक्ष्मण ने कहा था—) "प्रिये, तुम कहो तो मैं नंगी पीठ (जीन कसे बिना ही) अपने घोड़े को हवा की चाल से दौड़ा सकता हूँ परन्तु तुम्हारे इस झूले से तो मुझे डर ही लगता है। यदि कभी असावधानी के कारण मेरे घोड़े की लगाम टूट जाए तो मैं उसे अपने जाँघों के बल से ही रोक सकता हूँ परन्तु यहाँ क्या करूँगा (इस झूले को कैसे रोकूँगा ? यह तो मेरे वश से बाहर ही की बात

हैं)"—ऊर्मिला कहती है कि "यह सुन कर मैंने उत्तर में हँस कर दोनों ओर झोंके के साथ और भी जोर से पैंग बढ़ा दिये। उसी समय (भयभीत-से हो कर) प्राणेश्वर वहीं (विस्मय तथा भय-भरे स्वर में) "है हैं", कह कर हृदय में अत्यधिक प्रसन्न तथा बाहर (दिखावे में) सकुचाते हुए (मेरे साथ) लिपट गये थे।"

संयोगावस्था की यह स्मृति आज ऊर्मिला के हृदय में एक गहरी और असह्य हूक-सी उठा देती है।

सखी, आशांकुर मेरे ··· ··· ···· ··· चढ़ा सकी फूल भी न मनभाये !

ऊर्मिला कहती है, "हे सखी, इस मिट्टी (अयोध्या) में मेरे आशा-रूपी अंकुर न पनप सके (आशा पूरी न हो सकी)। मेरे हृदय में फल की कामना न थी, परन्तु मैं तो (अपनी इच्छा तथा आशा के अनुसार) फूल भी (पति-चरणों पर) न चढ़ा सकी !"

ऊर्मिला वह *एक आशा* लेकर अयोध्या में आयी थी। इस आशा में सकामता न थी, उसमें किसी '*फल*' की कामना न थी, वह तो अपने *मनभाये फूल* ही अपने पति के चरणों पर चढ़ाना चाहती थी परन्तु *सफल*, फलयुक्त, होना तो दूर की बात है, उसके *आशांकुर* तो *पनप (फूल)* भी न सके !

कुलिश, किसी पर कड़क ···· ··· ···· ··· जो भड़क रहे हैं !

(वर्षा ऋतु में आकाश में बिजली चमक रही है और बादल कड़क रहे हैं। यह देख कर ऊर्मिला अपनी सखी से कहती है।) "हे सखी, बादल कड़क-कड़क कर किसी पर बिजली गिरा रहे हैं। उधर बेल के वे लाल होंठ कुछ (मन की बात) कहने के लिए फड़क रहे हैं। मैं तो यह कहती (मानती) हूँ कि (वास्तव में) हृदय वही हैं जो धड़क रहे हैं (जिनमें धड़कन है) और भाव (वास्तव में) वही हैं जो अटक अटक तथा भटक-भटक कर भी भड़कते (विषम परिस्थितियों के बावजूद उद्बुद्ध होते) रहें !"

"आसमान में बिजली कड़क रही है, बादल तड़क रहे हैं। ऊर्मिला कहती है कि ये बादल नहीं, किसी के हृदय थे जो धड़क रहे हैं और ये जो अटक-अटक कर, भटक-भटक कर, तेज हो रहे हैं, वास्तव में किसी के हृदय हैं। मन्द-मन्द हवा से लताओं के लाल-लाल पत्ते जो हिलते हैं वे मानो उनके अरुण अधर हैं, जो कुछ कहना चाहते हैं। ··· ···· जहाँ तक मैं समझता हूँ 'रहें किसी के हृदय वही' के स्थान में 'रहे किसी के हृदय वही' होना चाहिए था। यहाँ पर अपह्नुति

अलंकार है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये बादल नहीं, किसी के हृदय थे जो धड़क रहे हैं। 'कुछ कहने के लिए लता के अरुण अधर वे फड़क रहे हैं' में फलोत्प्रेक्षा है।"※

मैं निज अलिन्द में ... ... उसी छाती में छिपाई थी !

(रिमझिम-रिमझिम बूंदें पड़ रही हैं। बादल छाये हुए हैं। इस वातावरण को चीरता हुआ ऊर्मिला का हृदय-पंछी अतीत की उस वेला में जा पहुँचता है जब ऊर्मिला संयोग-सुख का उपभोग कर रही थी (उसी समय की एक घटना का उल्लेख करती हुई ऊर्मिला अपनी सखी से कहती है) "हे सखी एक रात मैं अपने अलिन्द (भवन का बाहरी भाग) में खड़ी थी। रिमझिम रिमझिम बूँदें पड़ रही थीं। सब ओर घटा छायी हुई थी। केतकी का गन्ध सब ओर फैला हुआ था। झींगुरों की झंकार मेरे मन को भा रही थी। मैं अपने नूपुरों से (पायजेब को बजा कर—नाच-नाच कर) उसी झंकार का अनुकरण करने लगी। उस समय मेघ छाये हुए थे। (अकस्मात्) बिजली चमकी और मैंने (अन्धकार में बिजली का प्रकाश होने पर) कोने में चुपचाप खड़े प्रियतम को देखा। यह देखते ही मैं चौंक गयी थी! उइ माँ! (मैंने) अपनी मुख-लज्जा (लज्जा में डूबा मुख) उन्हीं की छाती में छिपा लिया (था)!"

"उक्त पद के रस-सम्बन्धी अवयवों का विश्लेषण करते हुए पं० रामदहिन मिश्र लिखते हैं—

"इसमें ऊर्मिला आलम्बन विभाव है, उद्दीपन है बूँदों का पड़ना, घटा का छाना, फूल का गमकना, झिल्लियों का झनकारना आदि। छाती में मुँह छिपाना आदि अनुभाव हैं। लज्जा, स्मृति, हर्ष, विबोध आदि संचारी भाव हैं। इन भावों से परिपुष्ट रति स्थायीभाव विप्रलम्भ शृङ्गार रस में परिणत होकर ध्वनित होता है।"†

तम में तू भी कम नहीं ... ... जा, वन वन में जाग।

जुगनू को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे जुगनू, अन्धकार में (अँधेरा हो तो) तू (तेरा महत्व) भी कम नहीं (ऐसी दशा में तू भी यथाशक्ति अन्धकार दूर करने और प्रकाश बिखेरने में सहायक होता है) अतः हे बड़-भाग (पर-सेवा-रत होने के कारण सौभाग्यशाली) तू चिरजीवी हो। परन्तु यहाँ (अयोध्या में) तो घर-घर में दीपकों का प्रकाश है (तेरे प्रकाश का पूरा

※ श्री कन्हैयालाल सहल, साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृष्ठ ६३—६४।
† वही, पृष्ठ ६४।

उपयोग तो उन वनों में ही हो सकता है, जहाँ घनान्धकार है) अतः तू जा कर वन-वन (विभिन्न वनों) में जाग (प्रकाश फैला)।"

हा ! वह सुहृदयता ... . घनालिंगिता तड़िता !

"हे सखी ! कभी-कभी रसिकता (सुहृदयतापूर्णता) की क्रीड़ा (विनोद) भी अत्यन्त कठोर (सिद्ध) होती है। घन (बादल) के घने (कठोर अथवा गाढ़) आलिंगन के कारण बिजली तड़प-तड़प उठती है।"

बिजली कड़कने का यह कितना काव्यमय कारण है !

गाढ़ तिमिर की बाढ़ में ... . चकराती है दृष्टि ।

(घटाओं के कारण सब ओर अन्धेरा छा रहा है। उसी की ओर संकेत करके ऊर्मिला अपनी सखी से कहती है—) "सारी सृष्टि सघन अन्धकार की बाढ़ में डूबी हुई है। जान पड़ता है मानो चक्कर में पड़ कर दृष्टि चकरा रही है।"

लाईं सखि, मालिनें थीं .... विनोद भी विषाद है !

"हे सखी, तुझे वह (घटना) याद है जब एक बार मालिनें फलों की डालियाँ लेकर आयी थीं। जीजी (सीता) ने (उन फलों में से) जामुन पसन्द किये थे और मैंने आम लिये थे। उस समय देवर (शत्रुघ्न) भी वहीं खड़े थे (हम दोनों की रुचि की इस विभिन्नता को देख कर) वह हँस कर कहने लगे 'अपना-अपना स्वाद है (सबका स्वाद—रुचि—अलग-अलग होता है) !' मैंने देवर से पूछा था, "रसिक, तुम्हारी रुचि काहे पर है (तुम्हें क्या पसन्द है) ?" उन्होंने उत्तर दिया, "देवि, मेरा रस-वाद तो दोनों ही ओर है क्योंकि मैं दोनों का कृपापात्र हूँ (अथवा दोनों के प्रसाद—भोग लगा हुआ भोजन—का अधिकारी हूँ)।" हे सखी, विधाता के प्रमाद (लापरवाही) के कारण आज वह विनोद (उस परिहास की स्मृति भी) विषाद (कष्टप्रद) बन गया है !"

जम्बूफल अथवा जामुन का रंग श्यामता समन्वित होता है और रसाल (आम) का अपेक्षाकृत धवल। तभी तो *श्याम-वर्ण* राम की पत्नी सीता *जम्बूफल* की ओर आकृष्ट होती है और *गौर-वर्ण* लक्ष्मण की पत्नी ऊर्मिला *रसाल* की ओर। 'रसाल' में *रसिकता* का भाव भी है अस्तु, 'रसाल' ऊर्मिला तथा लक्ष्मण के सुमधुर दाम्पत्य जीवन का भी प्रतीक है और उन दोनों के स्वभाव की मधुरता—रसिकता का भी।

यहाँ ऊर्मिला द्वारा शत्रुघ्न के लिए प्रयुक्त 'रसिक' शब्द बहुत ही प्रसङ्गा-

नुकूल है। शत्रुघ्न ने हँस कर कहा था—'निज निज स्वाद है'। इस प्रकार उन्होंने सीता तथा ऊर्मिला की रुचि—स्वाद—रस की व्यंग्यपूर्ण मीमांसा की थी। '*रसिक*' उसी उपहास का प्रत्युत्तर है परन्तु शत्रुघ्न का *रस-वाद* तो *दोनों ही* ओर है, वह तो *दोनों* के प्रसाद-भागी—सीता तथा ऊर्मिला अथवा राम तथा लक्ष्मण दोनों के कृपापात्र—हैं। *लक्ष्मणानुज* का यह चित्र उनके सर्वथा अनुरूप है।

निचोड़ पृथ्वी पर वृष्टि पानी ··· ···· ···· ···· अंचल सिक्त मेरा।

ऊर्मिला कहती है, "सृष्टि-रानी, तुमने वर्षा के रूप में आकाश-रूपी विचित्र (रंग-बिरंगे) वस्त्र का पानी पृथ्वी पर निचोड़ कर अपना वह वस्त्र सुखा लिया है परन्तु क्या तुम्हारा मानस (मन अथवा मानसरोवर) रीता हो सका है (सूख गया है, भाव यही है कि वस्त्र सूख जाने पर भी मन नहीं सूखा है)? (अनवरत बहते आँसुओं के कारण अथवा परिपूर्ण मानस--मन--के कारण) मेरा अंचल तो अभी गीला ही है (सूखा नहीं है)।"

यहाँ 'अम्बर' तथा 'मानस' श्लिष्ट शब्द हैं, 'अम्बर' के अर्थ हैं आकाश और वस्त्र तथा 'मानस' के अर्थ हैं मन और मानसरोवर नामक झील।

सखि, छिन धूप ··· ··· ··· सब चौमासे की माया!

"हे सखी पल भर में धूप निकल आती है और दूसरे ही क्षण फिर छाया (अँधेरा) हो जाती है। *यह सब* चौमासे की माया है (चौमासे में ऐसा ही होता है—जीवन में आने वाले दुःख-सुख भी चौमासे की छाया तथा प्रकाश के ही समान हैं)।

"गया श्वास यदि फिर आजावे (श्वास-प्रक्रिया बन्द न हो) तो अत्यन्त कृश (दुबला अथवा दुर्बल) होकर भी यह शरीर जीवित रहेगा परन्तु यदि हम उसे रोक न सके (वह हमें छोड़ कर चला गया अथवा श्वास-प्रश्वास की गति रुक गयी) तो हमें प्रियतम के दर्शन का सुअवसर भी गँवाना पड़ेगा (मर गये तो प्रियतम के दर्शन न कर सकेंगे) अतः भाग्य जो कुछ भेंट दे वही स्वीकार कर लो। यह सब तो (वास्तव में) चौमासे की माया है (छाया के बाद प्रकाश, दुख के बाद सुख, वियोग के बाद संयोग अवश्यम्भावी है)!"

'हमने उसको रोक न पाया' तो निज-दर्शन-योग गमाया' में प्राणायाम अथवा श्वास निरोध की उस क्रिया की ओर भी संकेत है जिसके द्वारा साधक आत्म-साक्षात्कार करता है।

पथ तक जकड़े हैं ··· ·· मुझसे वे लौटकर क्या कहेंगे?

(लक्ष्मण के वनवासी हो जाने पर ऊर्मिला का ध्यान अपने उस उपवन

की ओर से हट गया था जो संयोगावस्था में उनके परम प्रिय स्थानों में से एक था। फलतः वह उपवन वन-तुल्य हो गया है। सहसा ऊर्मिला के हृदय में इस विचार का उदय होता है कि जब प्रियतम लौट कर घर आवेंगे तो अपने उस उपवन को वन-तुल्य देख कर कितने दुःखी होंगे! अपना यही भाव अभिव्यक्त करते हुए वह सखी से कहती है) 'हमारी वाटिका की झाड़ियों ने घेरा डाल कर (अव्यवस्थित ढंग से बढ़ तथा फैल कर) मार्ग तक जकड़ (बन्द कर) लिये हैं। हाय! मेरा वह उपवन आज वन-तुल्य हो गया है। इस समय वन में रहने वाले प्रियतम (कभी) घर में भी तो रहेंगे (अवधि पूरी होने पर अयोध्या में भी तो आवेंगे) सखी, बता तो सही (इस उपवन की यह दशा देख कर) वह लौट कर मुझ से क्या कहेंगे (यह सब देख कर वे कितने दुःखी होंगे क्योंकि वन से लौटने पर भी उन्हें वन-तुल्य उपवन ही मिलेगा)।"

करें परिष्कृत मालिनें ···· ···· ···· ···· रखती है ज्यों गेह।

ऊर्मिला कहती है, "हे सखी, मालिनों से कह दे कि वे यह वाटिका साफ कर दें। प्रियतम वन में इस उपवन का ध्यान करते होंगे (अतः इसे इस दशा में रहने देना अनुचित है)। (ऊर्मिला की यह बात सुन कर सखी उत्तर देती है कि मालिनें क्यों, स्वयं उसकी (सखी की) देह इस कार्य के लिए उपस्थित है। भाव यह है कि सखी स्वयं अपने को इस सेवा के लिए प्रस्तुत करती है। यह सुन कर ऊर्मिला कहती है), "हे सखी, तूने यह उचित ही कहा कि 'यह देह अर्पित है।' अस्तु, तू ही इस उपवन को उसी प्रकार संभाल कर रख जैसे इस घर को संभालती है (इस घर की देख-भाल का भार तुझ पर ही है, अब उपवन की देख-भाल भी तू ही किया कर)।"

रह चिरदिन तू हरी-भरी ···· ···· ···· ···· जन-जीवन-दान का तुझे।

"हे सृष्टि सुन्दरी, तू सदा ही हरी-भरी रह और सुखपूर्वक विकास को प्राप्त हो। (तेरे से ही) मुझे प्रियतम की सुध मिलती रहे और तुझे जन (इस सेविका) को जीवन-प्रदान करने (जीवित रखने) का फल प्राप्त हो सके (प्रियतम की सुधि के बल पर ही मैं जीवित रह सकूँगी। इस प्रकार मुझे जीवित रखने का श्रेय तुझे ही मिलेगा)।"

हँसो-हँसो हे शशि ···· ···· ···· ···· इतना पिये हूँ।

ऊर्मिला कहती है, "हे चन्द्रमा! तुम सदा हँसते ही रहो (वियोगावस्था में नायिकाएँ प्रायः चन्द्रमा को कोसती हैं। 'साकेत' की ऊर्मिला इसकी

अपवाद है)। हे फूल ! तुम भी खिलो तथा डाली रूपी हिंडोले पर बैठ कर प्रसन्नतापूर्वक झूलो। (तुम्हें रोने अथवा दुःखी होने की कोई आवश्यकता नहीं। तुम्हारे बदले) रोने के लिए मैं ही पर्याप्त हूँ; मुझमें इतना जल है (अथवा मेरे हृदय में वेदना का इतना अनवरत स्रोत है) कि मैं आँसुओं की झड़ी लगा सकती हूँ (निरंतर रो सकती हूँ)।"

ऊर्मिला केवल अपना ही नहीं, दूसरों का दुःख भी अपने ऊपर ले लेना चाहती है। वह स्वयं चाहे कितनी भी दुःखी क्यों न हो परन्तु और सबको तो सब प्रकार प्रसन्न ही देखना चाहती है। वियोगिनी यशोधरा ने भी कहा है :

मेरे फूल, रहो तुम फूले।
*तुम्हें झुलाता रहे समीरण झोंटे देकर झूले।**

प्रकृति तू प्रिय की ... . तू उनकी कथा।

"प्रकृति ! तू प्रियतम की ही स्मृति-मूर्ति है (प्रकृति के विभिन्न अंग-उपांगों में ऊर्मिला को लक्ष्मण का ही भान होता है।) तू जड़ हो जाने वाले चेतन (जीवन) को फिर से सजीव करने वाली है (प्रिय का स्मरण ही मृत-तुल्य प्राणों में नव-जीवन का संचार कर देता है)। अरी मन की वेदना, तू मुझे सदा जीवित रख। हे सखी ! (मुझे तो प्रियतम की बातें ही कहने-सुनने में सुख का अनुभव होता है अतः) तू उन्हीं की कथा (बातें) सुना।"

निरख सखी, ये खंजन .... ये अश्रु अर्घ्य भर लाये !

"सखी ! देख, ये खञ्जन (पक्षी) आये हैं (मैं तो समझती हूँ कि इन खञ्जनों के रूप में) मेरे प्रिय ने ही (मेरे) मन को भाने वाले नेत्र इधर (मेरी ओर) फेरे हैं (आँखों की तुलना खञ्जन से की जाती है)। उनके शरीर का (तप-जन्य) आतप (गर्मी) (धूप के रूप में) फैल रहा है और (उनके) मन (की सरसता, स्निग्धता तथा शीतलता) के कारण तालाब सरसित हो गये हैं (ऊर्मिला सर्वत्र बिखरी शरत्कालीन धूप में प्रियतम के तप का आतप और सरसित सरों में उनके मन के दर्शन करती है)। वहाँ (वन में) वे इस ओर (अयोध्या की ओर) घूमे (वे अयोध्या का—ऊर्मिला का स्मरण कर रहे होंगे। इसका प्रमाण यह है कि) ये हंस उड़कर यहाँ आ गये हैं। यह निश्चित बात है कि आज वे इस दासी (ऊर्मिला) का स्मरण करके मुस्कराये हैं तभी

---

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ६४।

तो ये कमल फूल उठे हैं और ठीक उनके होठों की भाँति ये लाल-लाल दुपहरिया के फूल शोभायमान हो रहे हैं। हे शरद् ! आओ तुम्हारा स्वागत है, तुम्हारे आगमन के फलस्वरूप तो मैंने भाग्य से ही (प्रियतम के) दर्शन पा लिये। (तुम्हारे स्वागत के लिए) आकाश ने (ओस की बूँदों के रूप में मोती वारे हैं, लो, (इसी अभिप्राय से) मेरे नेत्र आँसुओं का अर्घ्य लेकर स्वागतार्थ प्रस्तुत हैं!"

वर्षा बीती। शरद् ऋतु आयी। खञ्जन पक्षी में प्रियतम के नेत्रों का, धूप में उनकी कठोर साधना का, तालाबों में मन का, हंसों में गति अथवा चाल का, कमलों में मुस्कराहट और बन्धूक पुष्पों में प्रिय के होठों का आभास पाकर मानो ऊर्मिला ने चौदह वर्ष की अवधि पूर्ण होने से पूर्व ही लक्ष्मण के दर्शन कर लिये। अपने इस सौभाग्य पर उसे गर्व है। शरत् की इस कृपा के लिए वह उसकी कृतज्ञ भी है परन्तु अपने उस उपकारी पर निछावर करने के लिए वियोगिनी ऊर्मिला के पास अश्रु अर्घ्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

शरदागम पर विरहिणी यशोधरा ने अपने भाव इन शब्दों में अभिव्यक्त किये हैं :

उनकी शान्ति-कान्ति की ज्योत्स्ना जगती है पल पल में,
शरदातप उनके विकास का सूचक है थल थल में,
नाच उठी आशा प्रति दल पर किरणों की झल झल में,
खुला सलिल का हृदय-कमल खिल हंसों के कल-कल में।

पर मेरे मध्याह्न ! बता क्यों
तेरी मूर्च्छा बनी वही ?
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
*मेरी बाधा-व्यथा सही।**

अपने प्रेम-हिमाश्रु ही ... ... पाकर यह पद-भार !

"दूब ने (तुच्छ) ओस के रूप में अपने प्रेमाश्रु ही (सूर्य को) दिये थे, सूर्य ने उन्हें रत्न-कण की (भाँति मूल्यवान्) बनाकर समेट लिया (उस तुच्छ भेंट को भी इतना आदर दिया मानो वह कोई अत्यन्त मूल्यवान् पदार्थ हो) (उधर) मैंने (एक बार) प्रिय को कमल के फूलों का हार भेंट किया तब वे बोले, "मैं यह पद-भार (आदर अथवा गौरव) पाकर आभारी (कृतार्थ) हूँ।"

---

* श्री मैथिली शरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४२।

'पद' शब्द का अर्थ उच्च स्थान अथवा प्रतिष्ठा भी होता है और पैर भी। 'प्रतिष्ठा' के अनुसार चौथी पंक्ति का अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। 'पद' का अर्थ 'पैर' मानने पर इस पंक्ति का अर्थ यह होगा—"मैं यह चरण-भार पाकर आभारी हुआ।" पैरों की तुलना प्रायः कमल के साथ की जाती है अतः यहाँ 'पद' का सम्बन्ध एक ओर 'पद्म' के साथ है, दूसरी ओर चरण के साथ। लक्ष्मण द्वारा प्रयुक्त शब्दों '*आभारी*' और '*पद-भार*' में छिपा परिहास उनकी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है। प्रथम सर्ग में भी उन्होंने इसी वाक्-कौशल का परिचय दिया था।

अम्बु, अवनि, अम्बर में ··· ··· ··· ··· अवधि पित्त-पीड़ा-सी !

"जल, स्थल (पृथ्वी) तथा आकाश—सब स्थानों पर स्वच्छ (धूल रहित तथा निर्मल) शरत् की पवित्र क्रीड़ा-सी हो रही है परन्तु, हे सखी! अपने (हमारे) पीछे तो चौदह वर्ष की अवधि पित्त-पीड़ा की भाँति पड़ गयी है!"

हुआ विदीर्ण जहाँ-तहाँ ··· ··· ··· ··· विषधर-सा विस्तीर्ण !

"आकाश का यह सफेद, परन्तु पुराना आवरण (वस्त्र) जहाँ-तहाँ (स्थान-स्थान पर) फट गया है (सफेद बादलों का आवरण बीच-बीच में से फट गया है फलतः उन रिक्त स्थानों में से आकाश का नीला रंग दिखायी दे रहा है। यह आकाश फटी हुई केंचुली धारण किये हुए सर्प की तरह फैला है।"

शरद् ऋतु में आकाश बादलों से ढका नहीं रहा। अब तो केवल कहीं-कहीं बादलों के खण्ड मात्र रह गये हैं। ऊर्मिला को वह विदीर्ण आवरणधारी आकाश जीर्ण-शीर्ण केंचुली धारण करने वाले विषधर (सर्प) जैसा जान पड़ता है। वियोगिनी के नेत्रों के सम्मुख शरत्कालीन आकाश का मोहक तथा मनोमुग्धकारी रूप न आकर भयंकर स्वरूप ही आता है।

शफरी, अरी बता तू ··· ··· ··· ··· नहीं स्वयं सागर में !

मछली को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "अरी शफरी (छोटे ताल अथवा कुंड में रहने वाली मछली), तू इस तालाब (के जल) में निमग्न होने पर भी तड़प क्यों रही है (असन्तोष तथा पीड़ा का सा अनुभव क्यों कर रही है) ? (ठीक ही तो है) जो रस अपनी गागर में है वह रस गो-रस तो स्वयं सागर में भी नहीं है (अपने वास-स्थान अथवा परिचित वातावरण में जो सुख निहित है वह पराये अथवा अपरिचित वातावरण में प्राप्त नहीं होता)।"

गागर की मछली को गागर से निकालकर विस्तृत सर (तालाब) में छोड़ दिया गया है परन्तु उसे वहाँ चैन कैसे मिल सकता है ? ऊर्मिला की भी तो यही दशा है। पति-प्रेम की गगरी से निकालकर इस शफरी को इस विस्तृत विश्व-ताल में छोड़ दिया गया है परन्तु *अपनी गागर का रस गो रस* तो स्वयं *सागर* में भी प्राप्य नहीं; फिर तालाब का तो महत्त्व ही क्या है ?

बिहारीलाल ने लिखा है :

अति अगाधु अति ओथरौ, नदी कूपु सरु बाइ।
*सो ताकौ सागरु जहाँ, जाकी प्यास बुझाइ॥**

अब्दुर्रहीम खानखाना ने इसी भाव की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है :

यद्यपि अवनि अनेक हैं कूपवंत सरि ताल।
रहिमन मानसरोवरहिं, मनसा करत मराल॥†

भ्रमरी, इस मोहन मानस के .... जन का सुख भोग कभी !

भ्रमरी को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे भ्रमरी, मोहित करने वाले इस (विश्व रूपी) मानसरोवर (अथवा मन) के समस्त रस तथा भाव मादक (मस्त करने वाले अथवा अपने में फँसा लेने वाले) हैं। तूने कमलों का मधुपान कर लिया (अब उसी से संतुष्ट हो जा) मदांध, (मद के कारण असावधान) न बन (अधिक लालच न कर) और यहाँ से उड़ जा (दूर चली जा) तेरा कुशल इसी में है। अभी तो रात्रि कुछ दूर है। (यदि इस अवसर से तूने लाभ न उठाया तो रात होने पर कमल बंद हो जावेंगे तब) कहीं तू भी इसी पंकज के बंधन में न जकड़ जाए (बन्द न हो जाए) दिन (समय) किसी को विशेष रूप से सुख का आनंद लूटते नहीं देख सकते (समय बहुत ईर्ष्यालु होता है। वह किसी को सुखी देख ही नहीं सकता)।"

ऊर्मिला के जीवन में *सविशेष सुख-भोग* का अवसर आया। उसने मधुपान भी किया परन्तु दिन भला यह कैसे देख सकते ? और ऊर्मिला का जीवन-प्रभात निशा में तिरोहित हो गया। कहीं इस बेचारी भ्रमरी की भी यही दशा न हो, इसीलिए ऊर्मिला उसे सावधान कर देती है।

ऊर्मिला की इस उक्ति में मानव के लिए एक कल्याणकारी सन्देश भी निहित है। विश्वरूपी मानसरोवर अथवा हमारा यह चञ्चल मन भाँति-भाँति के रस-

* बिहारी सतसई, दोहा ४११।
† रहीम रत्नावली, पृष्ठ १५।

भावों से भरा है। मानस के इन भाव-कमलों का मधुपान जीवन का अनिवार्य अंग है, इनसे छुटकारा पाना तो जीवन से ही छुटकारा पाने के समान है अतः मधु तो पीना ही है परन्तु इस *मानस* के *सम्मोहन* में *ग्रस्त* होना, इस मकड़ी के जाले में फँसना, मदान्ध हो जाना तो संकटों को ही निमन्त्रण देना है। ऐसी दशा में लिप्त होना ही नाश का मूल कारण है। रात्रि—जीवन का अन्त—मृत्यु-काल जब तक दूर है तभी इस सत्य को समझ लेना चाहिए ताकि *दिन रहते-रहते* इस सिद्धान्त का पालन किया जाए। अन्यथा ये ईर्ष्यालु *दिन* (समय) भला किसे सुखी देख सकते हैं!

इस उत्पल-से काय में ··· ··· ··· ··· पावें ये दृग त्राण!

(बगुला नेत्र बंद किये मछलियां की घात लगाये बैठा है। ऊर्मिला के नेत्र यह नहीं देख पाते कि बगुला इस प्रकार ध्यानस्थ होने का ढोंग करके निरपराध मछलियों को खाता रहे। इसलिए वह बगुले को सम्बोधित करके कहती है), "हाय! तेरे (श्वेत) कमल जैसे (सुन्दर तथा सुकोमल) शरीर में पत्थर जैसे प्राण (हृदय) छिपे हैं (भाव यह है कि तू देखने में अत्यन्त सुन्दर होकर भी अत्यन्त क्रूर तथा कठोर-हृदय है। अरे बगुले! यह (झूठा) ध्यान रहने दे। (अपनी आँखें खोल ले ताकि मछलियाँ धोखे में तेरे पास न आवें) ताकि मेरे इन नेत्रों को चैन मिल सके (तुझे धोखे से मछलियाँ पकड़ते तथा खाते देखकर मेरे नेत्रों को अपार दुःख हो रहा है। तू अपना यह झूठा ध्यान छोड़ देगा और नेत्र खोल लेगा तो मछलियाँ तेरे पास ही न आवेंगी और उन्हें पकड़-पकड़ कर न खा सकेगा। इस प्रकार मेरे नेत्रों को सुख प्राप्त होगा)।"

हंस, छोड़ आये कहाँ ··· ··· ··· ···· लाये क्या सन्देश?

हंसों को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे हंस! तुम अपना मुक्ताओं (मोतियों) का देश (मानसरोवर) कहाँ छोड़ आये? यहाँ इस वन्दिनी (ऊर्मिला) के लिए क्या संदेश लेकर आये हो?"

हंस मानसरोवर में रहते और मोती चुगते हैं। '*मुक्ताओं का देश*' से यहाँ अभिप्राय मोतियों का देश अथवा मानसरोवर है। इतना ही नहीं श्लेष के आधार पर '*मुक्ता*' का अर्थ '*स्वाधीना*' भी होता है। हंस वह देश छोड़ कर आये हैं जहाँ स्वाधीन तथा स्वतन्त्र लोगों का वास है और यहाँ वह '*वन्दिनी*' के देश में आये हैं। अस्तु, 'मुक्ताओं' शब्द यहाँ 'वन्दिनी' को अत्यधिक प्रभावशाली बना देता है।

हंस को *दूत* बनाकर उसके द्वारा संदेश भेजना भारतीय साहित्य की एक चिरपरिचित प्रथा है। *'लाये क्या सन्देश'* उसी परम्परा की ओर संकेत करता है। इसी आधार पर ऊर्मिला समझती है कि हंस का वहाँ आना अकारण न होगा, हंस-दूत अवश्य ही उसके लिए कुछ सन्देश लाया होगा। कदाचित् मुक्ताओं के देश से आने वाला हंस इस बन्दिनी को भी मुक्ति-सन्देश सुना सके!

हंस, हहा! तेरा भी ··· ··· ··· आँसू हैं ऊर्मिला जन के!

"अरे हंस! बन-बन कर (संभल-संभल कर) तेरा (नीर-क्षीर) विवेक भी बिगड़ गया (फलतः तू आँसू की बूँदों को मोती समझ कर चुग रहा है। अरे) ये मोती नहीं हैं, ये तो ऊर्मिला जन (दासी अथवा साधारण नारी) के आँसू हैं (फिर तू अविवेकी बनकर इन्हें मोतियों का स्थान क्यों दे रहा है)?"

चली क्रौंच माला कहाँ ··· ···· ··· ··· जहाँ मंगलाचार!

"यह क्रौंच माला (कराँकुल नामक पक्षियों का दल) वन्दनवार-सी लेकर कहाँ चली जा रही है? किस पुण्यात्मा के द्वार पर मंगलाचार हो रहा है (जिसकी ओर यह वन्दनवार बढ़ी चली जा रही है)?"

ऊर्मिला आकाश में कराँकुल पक्षियों के झुंड उड़ते देखती है। एक ही क्रम से उड़ते हुए ये पक्षी ऐसे जान पड़ते हैं मानों *वन्दनवार* ही उड़ी जा रही हो। यह वन्दनवार किस के द्वार की ओर जा रही है? किस पुण्यात्मा के घर में मंगलाचार हो रहा है (द्वार पर वन्दनवार बाँधना मांगलिक कृत्य का सूचक है)? अवश्य ही वह कोई *सुकृती* होगा तभी तो उसके द्वार पर *मंगलाचार* हो रहा है (यहाँ विरोधी वातावरण द्वारा ऊर्मिला स्वयं परोक्ष रूप से अपने जीवन में सर्वत्र छाये विषाद के प्रति खेद प्रकट कर रही है)।

सखि, गोमुखी गंगा रहे ·· ···· ··· ···· जा रही करुणा वहाँ!

"हे सखी! गंगा गोमुखी रहे, यहाँ तो कुररीमुखी करुणा ही है। गंगा जहाँ (आकाश) से (धरती की ओर) आ रही है। करुणा (धरती से) उसी (आकाश की) ओर जा रही है!"

गोमुखी गंगा: गंगोतरी का वह स्थान जहाँ से गंगा निकलती है गौ के मुँह के आकार का है। अतः गंगा को गोमुखी गंगा कहा गया है। गाय के मुख का झुकाव नीचे की ओर होता है। गंगा भी देवलोक (स्वर्ग) से ही पृथ्वी पर आयी है।

कुररीमुखी करुणा: 'कुररी' का अर्थ है टिटिहरी अथवा क्रौंच पक्षी।

टिटिहरी का मुख धरती की ओर न रह कर आकाश की ही ओर रहता है। इतना ही नहीं, वह तो यह समझती है कि आकाश उस पर ही टिका है। क्रौंच के स्वर में कारुण्य का आधिक्य होता है। करुणा का वेग भी धरती से आकाश की ओर होता है (संतप्त प्राणी करुण-स्वर में आकाश की ओर देख कर परमात्मा से सहायता की याचना करता है)। इसीलिए करुणा को *कुररीमुखी* कहा गया है और उसका वेग (गंगा के विपरीत) धरती से आकाश की ओर माना गया है।

ऊर्मिला के कथन का अभिप्राय यही है कि वह इस समय जिस वातावरण में जीवन-यापन कर रही है उसमें कारुण्य का ही आधिक्य है।

कोक, शोक मत कर ···· ···· ··· ···· तेरी सुख-सुहाग की रात !

ऊर्मिला कहती है, "हे बन्धु ! (विरह के समान शोक ने ऊर्मिला तथा चक्रवाक पक्षी के बीच एक आत्मीयता का-सा सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। 'तात' शब्द इसका प्रमाण है) चक्रवाक (चकवा), तू शोक न कर, हे चकवी ! तेरी ही भाँति मैं भी तो कष्ट में (वियोगावस्था में) हूँ अतः तू मेरी बात सुन (मान)। तू धैर्य धारण करके अवसर (मिलन-वेला) की प्रतीक्षा कर और यह समस्त उत्पात (परिस्थितियों की विषमता) सह ले (यह तो निश्चित ही है कि वियोग की यह रात्रि समाप्त होगी और मिलन प्रभात होगा) मेरा यही सुप्रभात तेरे सुख सुहाग की रात बनेगा। (उसी समय तेरा भी अपने प्रियतम के साथ मधुर-मिलन हो जावेगा) (चकवा-चकवी रात भर अलग-अलग रहते हैं। सवेरा होने पर ही उनका मिलन हो पाता है)।"

हा ! मेरे कुंजों का कूजन ···· ··· ···· ···· धवल वसन-सा धोया।

"हाय ! मेरे कुञ्जों का कूजन (भौंरों आदि की गुञ्जार) रोकर तथा निराश होकर सो गया है। उदित चन्द्रमा अपनी चाँदनी के रूप में उस पर धुला हुआ-सा सफेद वस्त्र उढ़ा (ढक) रहा है।"

लक्ष्मण की अनुपस्थिति में ऊर्मिला के उपवन के समस्त कुञ्ज सुनसान पड़े हैं। उन कुंजों के कूजन ने लक्ष्मण के वियोग में पर्याप्त आँसू बहाए परन्तु लक्ष्मण न लौटे। हार-थक कर बेचारा कूजन रोते-रोते सो गया (कूजन का मानवीकरण छायावादी प्रयोग है) वह तनिक विश्रामपूर्वक कुछ देर सो सके इसी उद्देश्य से मानों चन्द्रमा ने अपनी चाँदनी के रूप में सफेद धुला हुआ वस्त्र उस पर ढक दिया है।

सखि. मेरी धरती के ··· ··· ··· ··· अस्थिसार देता है !

"हे सखी ! वियोग मेरी धरती के करुणाङ्कुरों को ही से रहा है (करुणा

का ही प्राबल्य कर रहा है) यह ओषधीश (वनस्पतियों का स्वामी, चन्द्रमा) स्वयं अपने ही करों (किरणों अथवा हाथों) से उन अङ्कुरों (को पल्लवित करने के लिए उन) में हड्डियों की खाद दे रहा है (वर्ण-साम्य के आधार पर चन्द्रमा की चाँदनी को अस्थिसार कहा गया है। हड्डियों की खाद से अङ्कुर बहुत तेजी से बढ़ते हैं। चाँदनी ऊर्मिला के हृदय में करुणा को बढ़ा रही है, उसकी वियोग-वेदना को बढ़ा कर उसकी स्थिति को करुण से करुणतर कर रही है)।"

जन प्राची जननी ने .... यह भी मानों कठोर टौना है !

ऊर्मिला कहती है, "पूर्व दिशा रूपी जननी ने चन्द्रमा रूपी बालक को जन्म देकर (उसे नज़र लगने से बचाने के लिए) यह जो डिठौना लगा दिया है उसे कलंक कहना भी मानों कोई कठोर टोना (जादू) ही है (दुरात्माओं तथा दुराशयों की दृष्टि से बचाने के लिए ही इस डिठौने को कलंक कह दिया जाता है)।"

सजनी, मेरा मत यही ... ... अपना राज्य-कलंक !

"हे सखी ! मेरा विचार तो यही है कि चन्द्रमा तो वास्तव में एक स्वच्छ दर्पण है जिसमें हमें (प्रतिच्छाया के रूप में) अपना ही राज्य-कलंक (राज्य-लिप्सा-जन्य वही कलंक जो कैकयी की संकीर्णहृदयता ने रघुवंश और अयोध्या के माथे पर लगा दिया है) दिखायी दे रहा है।"

ऊर्मिला उस स्थिति तक पहुँच गयी है जहाँ मनुष्य दूसरे के दोषों में भी अपने ही दोषों की प्रतिच्छाया देखता है; दूसरों को निर्दोष तथा अपने को सदोष देखता है—वही स्थिति जहाँ पहुँच कर वह कहने लगता है :

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो उर देखा आपना, मो सो बुरा न कोय॥

ऊर्मिला के इस कथन से यह स्पष्ट है कि इस कलंक के कारण उसके हृदय में कितनी असीम वेदना और कितनी अपार ग्लानि है !

किसने मेरी स्मृति को ... . उफन रही वह हाला !

"इस (श्री-सम्पन्ना) रात्रि में किसने मेरी स्मृति को मतवाला बना दिया है (मुझे मदहोश-सा कर दिया है) (अँधेरे नीले आकाश में तारे ऐसे जान पड़ रहे हैं मानों) नीलम के प्याले में शराब झाग उठा कर उफन रही हो !"

रात्रि की शोभा ने वियोगिनी ऊर्मिला को *मतवाला* बना दिया है। तभी तो

उसे *निशीथ* की वह मादक शोभा *हाला* जैसी, आकाश *नीलम* के *प्याले* के समान और चमकते हुए तारे शराब पर उठने वाले झाग—बुद्बुद जैसे जान पड़ते हैं।

कामायनी के कवि ने भी आकाश के लिए 'इन्द्रनील मणि महा चषक' और तारों के लिए बुद्बुद का प्रयोग किया है :

इन्द्रनील मणि महा चषक था
सोम रहित उलटा लटका ;
आज पवन मृदु साँस ले रहा
*जैसे बीत गया खटका।**

× × ×

उस विराट आलोड़न में, ग्रह
तारा बुद - बुद से लगते।
प्रखर प्रलय पावस में जगमग,
ज्योतिरिंगणों से जगते।†

सखि निरख नदी की धारा .... निरख नदी की धारा।

नदी की धारा की ओर सखी का ध्यान आकृष्ट करके ऊर्मिला कहती है, "हे सखी, नदी की इस धारा को देख, इसका चंचल अंचल ढलमल-ढलमल कर रहा है और उसमें (आकाश स्थित) तारे (तारों का प्रतिबिम्ब) झलमला रहा है। नदी की यह धारा तारों से जड़े आकाश की परछाँई के कारण इसी तरह झिलमला रही है जैसे सितारों से जड़ा वस्त्र।

"(नदी का) स्वच्छ जल अन्तस्तल (हृदय) भर कर छल-छल करता हुआ उछल-उछल कर स्थान-स्थान से होता तथा गड्ढों आदि को भरता हुआ तथा कल-कल की मधुर ध्वनि करके पारे की भाँति बिखर रहा है। हे सखी, नदी की इस धारा को तो देख !

"नदी की सुन्दर तथा चंचल लहरें धनुषाकार भौंहों के हिलने-डुलने का आनन्द दे रही हैं। जान पड़ता है कि वे इशारे ही इशारे में कुछ कह रही हैं। (इन्हीं इंगितों के प्रत्युत्तर में) नदी के किनारे (पक्षियों के स्वर तथा जल-धारा के कल-कल नाद की प्रतिध्वनि आदि से) गूँज रहे हैं। हे सखी, नदी की इस धारा को तो देख !

"(तारों के आशामय प्रकाश में) चमकती हुई नदी अपने आप (समुद्र

* श्री जयशंकर प्रसाद, कामायनी, आशा सर्ग।
† वही, चिन्ता सर्ग।

की ओर) बढ़ी चली जा रही है और ऐसा लगता है मानो वह अपने प्रेमी समुद्र से अब मिली अब मिली। मेरे प्रियतम अवधि रूपी दूती द्वारा कब तक आवेंगे ? हे सखी ! नदी की इस धारा को तो देख !"

' (नदी की धारा को देखकर) मेरी छाती फटी जा रही है, मेरे मन रूपी शफरी (मछली) जल (प्रियतम) से अलग होने के कारण ललक रही है (जल में कूद पड़ने के लिए आतुर हो रही है) और लोचन-सीमा (नेत्रों का छोर) छलका रही है (आँसू बहा रहो है)। मुझे सामने कोई सहारा भी दिखायी नहीं देता। हे सखी, नदी की इस धारा को तो देख !"

गुप्तजी के प्रकृति-वर्णन में नदी के प्रस्तुत चित्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। '*ढलमल-ढलमल, चंचल-अंचल, झलमल-झलमल तारा*' में कवि ने ध्वननशील शब्दों की सहायता से तारों के प्रकाश में झलमलाती जल-धार का बहुत ही हृदयग्राही रूप प्रस्तुत किया है। '*उछल-उछल कर छल-छल भरके, थल-थल तरके, कल-कल धरके*' आदि पंक्तियों का पाठ करते-करते तो पाठक नदी के उठते-गिरते धारा प्रवाह के साथ ही डूबने, उतराने तथा नदी के कलकल निनाद में ही आत्म-विभोर होने लगता है। प्रभाव-साम्य के कारण बिखरते जल और बिखरते पारे की समानता बहुत ही सजीव एवं स्वाभाविक बन पड़ी है। डोलती हुई लोल-लहरियाँ इशारों ही इशारों में कुछ कहती हैं और '*मुखर*' कूल, किनारे उत्तर में गूंज उठते हैं। नदी निरन्तर स्वच्छन्दतापूर्वक सागर की ओर बढ़ी चली जा रही है और देखते-ही-देखते वह अपने प्रियतम के गाढ़ालिंगन में आबद्ध हो जावेगी परन्तु ऊर्मिला की दशा इससे कितनी भिन्न है ! ऊर्मिला अपने आप अपने *नागर* की ओर कहाँ जा सकती है। उन्हें तो *अवधि दूतिका* लावेगी। अवधि का छोर आने पर ही उसके प्रियतम लौटेंगे। तब तक—न जाने कब तक—ऊर्मिला को इसी दशा में रहना होगा। उसकी आज की दशा अत्यन्त सकरुण है। उसकी छाती दलक रही है, मानस शफरी ललक रही है, लोचन सीमा झलक रही हैं (नेत्र इतने अधिक जल-परिपूर्ण हो गये कि अब वे अपने पात्रों—लोचनों—की सीमा से छलक-छलक कर नीचे गिरने लग गये हैं) और आगे कोई सहारा भी नहीं दीख रहा। इस प्रकार गीत की अन्तिम पंक्तियों द्वारा ऊर्मिला का परिस्थिति-वैषम्य अभिव्यक्त करके कवि ने इस गीत को '*प्रकृति वर्णन*' *मात्र* के धरातल से बहुत ऊपर उठा कर *वस्तुस्थिति का अनिवार्य अंग* ही बना दिया है। झलमलाती हुई नदी की धारा परोक्ष रूप से, अकुलाती हुई विरहिणी की दशा का ही चित्रण करती है, उसी पर प्रकाश डालती है।

सखी, सत्य क्या मैं ··· ··· ···· ··· आज मेरे धनी।

"हे सखी! क्या मैं वास्तव में घुली जा रही हूँ? यदि मैं चाँदनी में ही मिल जाऊँ तो इसमें क्या बुराई है? ··· ··· परन्तु मेरे स्वामी तपस्या में निमग्न हैं, उन्हें चाँदनी पसंद नहीं।"

विरह ने ऊर्मिला को गार दिया है। वह *घुली* जा रही है। सखी उसका ध्यान उसकी निरन्तर क्षीण होती काया की ओर आकृष्ट करती है। ऊर्मिला को तो इसमें भी कोई बुराई की बात नहीं जान पड़ती। वह घुलते-घुलते इस चाँदनी में ही मिल जावे तो इसमें बुराई ही क्या है? परन्तु तभी उसे ध्यान आता है कि जिस स्वामी से मिलने के लिए वह चाँदनी में समाना चाहती है वह तो *तपोमग्न* हैं. *तप* के साथ *चाँदनी* (शीतलता) का मेल कैसे होगा; ध्यानस्थित व्यक्ति को प्रकाश क्यों भायेगा? यह सोच कर ऊर्मिला के हृदय में भी चाँदनी के प्रति कोई आकर्षण शेष नहीं रहता।

नैश गगन के गात्र में ···· ··· ··· ··· करूँ आज निरुपाय?

(विरह-वेदना से दुःखी होकर ऊर्मिला आहें भर रही है। उसी गरम साँस के स्पर्श से आकाश के शरीर में फफोले पड़ गये हैं। सखी के इसी कथन का उत्तर देती हुई ऊर्मिला कहती है,) ("तू कहती है कि मेरी आहों के स्पर्श से) रात्रि के इस आकाश के शरीर पर फफोले पड़ गये हैं (ये तारे नहीं हैं, आकाश के शरीर पर पड़े फफोले हैं)। अरी, तो क्या (इस भय से) मैं आज सर्वथा असहाय होकर आह भी न भरूँ?"

व्यञ्जना की प्रधानता होने के कारण यह दोहा ध्वनि का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। जायसी की 'नागमती' की आह से भी आग लग उठती है:

आहि जो मारै, बिरह कै, आगि उठै तेहि लागि।
*हंस जो रहा सरीर महँ, पांख जरा, गा भागि॥**

तारक-चिन्हदुकूलिनी ···· ···· ···· ··· रिक्त सुधाधर-पात्र।

"तारों के चिह्नों (सितारों) से युक्त साड़ी पहनने वाली रात्रि (स्वरूपिणी स्त्री) सम्पूर्ण मधु (मद्य) पीकर यहाँ (आकाश पर) सुधाधर (चन्द्रमा) रूपी पात्र को उलटा (अथवा रीता) कर गयी।"

"आजकल काव्य में प्रकृति-चित्रों की विशेषता होने के कारण हमें प्रायः एक बड़ा विचित्र अप्रस्तुत विधान मिलता है। यहाँ प्रस्तुत होती है प्रकृति और

---

* श्री मलिक मोहम्मद जायसी, जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ १५१।

अप्रस्तुत रूप में उसके पीछे नारी अथवा कोई अन्य चेतन चित्र झाँकता रहता है। प्रकृति में मानव-व्यापारियों की योजना द्वारा यह विधान किया जाता है। हमारे साहित्य में समासोक्ति द्वारा इनकी सिद्धि होती है, पश्चिम में प्रायः मानवीकरण की सहायता से। 'साकेत' में ऐसे चित्र स्थान-स्थान पर मिलते हैं :

तारक-चिन्ह-दुकूलिनी पी पीकर मधु पात्र,
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र।

"इस दोहे में प्रधान रूप से तो चन्द्रमा पर उत्प्रेक्षा है। विरहिणी को चन्द्रमा ऐसा प्रतीत होता है मानों रीता सुधा-पात्र हो। उसकी सहायता के लिए श्लेष और समासोक्ति को ग्रहण किया गया है परन्तु वास्तव में वर्णन मुख्य है रात्रि का। उसके पीछे गणिका का चित्र झाँक रहा है।"*

आलि, काल है काल अन्त में ····· ··· ··· देख हमें सन्तप्त सभीत।

ऊर्मिला कहती है "हे सखी, चाहे वह गरम रहे चाहे ठंढा परन्तु काल (समय) आखिर काल (गतिशील अथवा परिवर्तनशील) ही है। हमें (गरमी से) सन्तप्त (तपा हुआ अथवा दुःखी) और भयभीत देख कर यह हेमन्त दया करके (हमें उस सन्ताप तथा भय से मुक्त करने के लिए) आया है।

"आये हुए (अथवा अतिथि) का स्वागत तो उचित ही है परन्तु क्या मैं (अपने नेत्रों में) आँसू ले (भर) कर उसका स्वागत करूँ? यदि प्रियतम इस समय यहाँ होते तो मैं घी-गुड़ दे कर (अत्यन्त सम्मान तथा उल्लासपूर्वक। अतिथि को मधुपर्क देना भारतीय शिष्टाचार का एक प्रमुख अंग रहा है) इसे लेती (इसका अभिनन्दन करती) अब (प्रियतम की अनुपस्थिति में) पाक और पकवान व्यर्थ है। (जान पड़ता है कि) स्वाद का अवसर अब समाप्त होगया। हमें तपा हुआ तथा भयभीत जान कर, हम पर दया करके ही यह हेमन्त आया है।

"हे ऋतुवर्य, मेरी प्रस्तुत दीनता देख कर (उचित अभ्यर्थना न कर सकने के कारण) मुझे क्षमा करदे और प्रतिवर्ष तू बार-बार (अनेक वर्षों तक) यहाँ चक्कर लगाता रह। हे मित्र, तू ज़रा उनको आ जाने दे, मैं ब्याज सहित यह ऋण चुका दूँगी। यह हेमन्त हमें तपा हुआ तथा भयभीत जान कर हम पर दया करके ही यहाँ आया है!"

ऊर्मिला समझती है कि हेमन्त उन्हें *संतप्त* तथा *सभीत* जान कर उन पर

* डा० नगेन्द्र, साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ १८१–६।

दया करके ही वहाँ आया है। इसीलिए वह *'मीत'* कह कर हेमन्त को सम्बोधित करती है। आगत का स्वागत समुचित होते पर भी उसके पास आँसुओं की खारी बूँदों के अतिरिक्त है ही क्या उसकी अभ्यर्थना करने के लिए? प्रियतम यहाँ होते तो वह अवश्य उसका उचित सत्कार करती। अस्तु, इस दीनावस्था में वह अतिथि ऋण से मुक्त होने में असमर्थ है परन्तु वह इस ऋण को स्वीकार और शिरोधार्य ही करती है तथा अपने उपकारी अतिथि को विश्वास दिला देती है कि—

ब्याज - सहित ऋण भर दूँगी मैं,
आने दे उनको हे मीत।

प्रियतम के लौट आने पर वह केवल मूल ऋण ही नहीं, ब्याज की भी पाई-पाई चुका देगी।

सी-सी करती हुई पार्श्व में ··· ··· ··· ··· देख हमें सन्तप्त-सभीत।

"यदा कदा (शीत के कारण) 'सी-सी' करती हुई जब मैं (प्रियतम के) पार्श्व में जा छिपती थी तब मेरे प्रियतम (मुझे अपने पार्श्व में पाकर) तुझे अपना उपकारी कहते (मानते) थे परन्तु (अब शीत से अपनी रक्षा करने के लिए प्रिय का पार्श्व कहाँ) अब तो कंबल ही एकमात्र सहारा है अतः तू भी आज पुनीत आसन ही स्वीकार कर ले (वियोगिनी के पास आज तो अपने अतिथि के लिए आसन मात्र ही है। हमें तपा हुआ तथा भयभीत जान कर हम पर दया करके ही हेमन्त यहाँ आया है।"

'सी-सी करती हुई ··· ···· मेरे प्रियतम तुझको': इन पंक्तियों की स्वाभाविकता तथा मार्मिकता पर प्रकाश डालते हुए डा० नगेन्द्र ने कहा है: "संयोग का कितना स्वाभाविक और मार्मिक चित्र है—कितना सच्चा! 'साकेत' के इन स्थलों पर कुछ प्यूरीटन समीक्षकों ने आक्षेप किए हैं। उनका कहना है कि इस शृंगार में कामुकता की गंध है परन्तु वास्तव में ये चित्र सर्वथा स्वस्थ शरीर-सुख की अभिव्यक्ति करते हैं। मानव-जीवन में आत्मा का निदर्शन शरीर है और उसकी उपेक्षा करना या तो दम्भ है या प्रकृति-विरोध! साथ ही यह भी स्पष्ट है कि शरीर-सुख की प्रधानता होते हुए भी इनमें मानसिक उल्लास का आभास है और शील मर्यादा का किसी प्रकार भी उल्लंघन नहीं है। जिस प्रकार शरीर-सुख के बिना दाम्पत्य जीवन अपूर्ण है, इसी प्रकार इन चित्रों के बिना 'साकेत' का संयोग-वर्णन भी अपूर्ण रह जाता—और उसमें ऐन्द्रिकता का अभाव होता।"

संयोगिनी के जीवन का वही मधुर रस विरह की दारुण-ज्वाला के लिए घृताहुति बन गया ··· ···

कालागरु की सुरभि उड़ा कर ···· ··· ··· ··· देख हमें सन्तप्त सभीत।

"मंगल तारे के समान लाल-लाल आग के फूल—अंगारे—हसन्ती (अँगीठी) में खिल-खिल कर कालागरु (एक पदार्थ जिसे सुगन्धि के लिए विशेषतः हेमन्त ऋतु में आग में डाला जाता है) की सुगन्धि उड़ा रहे हैं। (मेरे हृदय में होने वाली) धुकधुकी (धड़कन) में मेरा अतीत भी तो इन्हीं अंगारों की भाँति धधक रहा है। हमें संतप्त तथा भयभीत जानकर हम पर दया करके ही हेमन्त यहाँ आया है!"

अँगीठी में अंगारे खिल-खिल कर हँस रहे हैं—ठीक इसी प्रकार जैसे क्यारी में फूल खिलते हैं। तभी तो अँगीठी को '*हँसन्ती*' कहा गया है! अनल कुसुम इन अंगारों का रंग लाल है। मंगल तारे का रंग भी लाल ही माना जाता है। पुष्प सुरभि उड़ाते हैं, ये अनल-कुसुम—मंगल तारे—कालागरु की सुरभि उड़ा रहे हैं और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि जिस प्रकार अंगीठी में अंगारे धधक रहे हैं ठीक उसी प्रकार ऊर्मिला के हृदय रूपी अँगीठी में उसका अतीत धधक रहा है!

हेमन्त में अग्नि तापना प्रायः अच्छा लगता है (अमृतं शिशिरे वह्नि ···· ····) परन्तु विरहिणी को आग के ये हँसते हुए फूल—अंगारे—अपने हृदय में धधकते अंगारों का स्मरण करा देते हैं। इस प्रकार उसकी विह्वलता और भी बढ़ जाती है!

अब आतप-सेवन में ··· ···· ··· ···· चाहे तो वहीं चल तू।

(ऊर्मिला की सखी सरदी से उसकी रक्षा करना चाहती है। तप और आतप (धूप) में ताप की समानता पर प्रकाश डाल कर सखी इस प्रकार ऊर्मिला को धूप में बैठने के लिए कहती है। ऊर्मिला का उत्तर है,) "हे सखी (हेमन्त ऋतु में) धूप का सेवन करने में भला क्या तपस्या है (भाव यह है कि इसमें तपस्या अथवा आत्म-साधना की कोई बात नहीं)? मुझे इस प्रकार न छल। (इस ऋतु में तो) तप ने पानी में प्रवेश कर लिया है (हेमंत ऋतु में आतप का सेवन करने में कोई तपस्या नहीं, जल का सेवन करने—जल में रहने—में अवश्य तपस्या है) अतः हे सखी! यदि तेरी इच्छा हो (तू मुझसे सच्ची तपस्या ही कराना चाहती है) तो वहीं (जल में) चलें!"

"प्रिय-वियोग में ऊर्मिला किसी भी प्रकार के सुख-साधन का प्रयोग नहीं करना चाहती। प्रिय जब राजसी सुखों को छोड़ कर तपस्वी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं; तब पतिप्राणा ऊर्मिला ही सुख का जीवन क्योंकर व्यतीत करने लगी! ऊपर की पंक्तियों में 'आतप' शब्द का प्रयोग साभिप्राय है।"*

नाइन, रहने दे तू ···· ···· ···· मन तो सुस्नेहपूर्ण है मेरा।

(नाइन ऊर्मिला के सिर तथा शरीर पर तेल लगाना चाहती है। ऊर्मिला उसे रोक कर कहती है,) "अरी नाइन! रहने दे, मुझे तेरा तेल नहीं चाहिए। (मेरा) शरीर भले ही रूखा रहे परन्तु मेरा मन तो सुस्नेहपूर्ण ही है।"

'सुस्नेहपूर्ण' में स्नेह शब्द श्लिष्ट है। अर्थ हैं—तेल और प्रेम।

हमारे देश की प्राचीन प्रथा है कि सर्दियों के आरम्भ में नाइनें बड़े घरों की बहुओं आदि को तेल लगाने आती हैं।

मेरी दुर्बलता क्या ···· ···· ··· धुंधला हुआ स्वयं ही क्षण में।

(ऊर्मिला बहुत कमज़ोर हो गयी है परन्तु वह स्वयं इस बात को स्वीकार नहीं करती। सखी दर्पण में उसका मुख दिखा कर उसे उसको वास्तविक दशा का बोध कराना चाहती है। ऊर्मिला का उत्तर है,) "अरी तू मुझे शीशे में (शीशा दिखा कर) मेरी दुर्बलता क्या दिखा रही है? देख, बिचारा दर्पण तो मेरा मुख देख कर (अथवा मेरी संतप्त आहों के कारण) स्वयं ही पल भर में धुंधला पड़ गया है।"

एक अनोखी मैं ही क्या ··· ··· नाल शेष निज सर में।

ऊर्मिला अपनी सखी से कहती है, "हे सखी! क्या अकेली मैं ही अनोखी घर में दुबली हो गयी हूँ? (भाव यह है कि केवल मेरी ही यह दशा नहीं हो गयी है अपितु) देख, कमलिनी भी तो आज अपने तालाब में (रह कर भी) नाल शेष (डण्डी मात्र) रह गयी है (भाव यह है कि मेरे इस प्रकार दुबले हो जाने में कोई अनोखापन नहीं है यह तो कुछ समय ही ऐसा है। इसका प्रभाव दूसरों पर भी पड़ रहा है यहाँ तक कि 'निज सर में' रहने वाली कमलिनी भी इसका अपवाद नहीं है)।"

हेमन्त में कमलिनी की डंडी मात्र रह जाती है।

पूछी थी सुकाल-दशा आज ··· ··· ···· एक अबला किसान की!

ऊर्मिला कहती है, "आज मैंने सुकाल-दशा जानने के अभिप्राय से

---

* श्री कन्हैयालाल सहल, साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृष्ठ ८३।

देवर शत्रुघ्न से यह पूछा था कि (इस वर्ष) कपास, ईख, धान आदि की उपज कैसी हुई ? उन्होंने उत्तर दिया, 'देवि, देखने में तो इस वर्ष इन्द्र भगवान् ने पृथ्वी पर पहले से दुगुनी दया ही दिखायी है (भाव यही है कि इस वर्ष फसल बहुत अच्छी हुई है)।' यही प्रश्न जब मैंने गांव में पूछा तो किसानों ने (इस वर्ष) अन्न, गुड़ तथा गोरस आदि की वृद्धि का ही बखान किया (यही बताया कि इस वर्ष ये सब पदार्थ प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हैं) परन्तु किसान की एक अबला यह कह कर रो पड़ी कि 'हाय ! न जाने इस वर्ष (अन्न, गुड़ आदि का) स्वाद कैसा है !'

ऊर्मिला के विरह-वर्णन में प्रस्तुत अवतरण का विशेष स्थान है। 'साकेत' की ऊर्मिला अपने चारों ओर के संसार से सर्वथा उदासीन केवल आत्मरत वियोगिनी नहीं है। इसके विपरीत उसका हृदय तो आज पहले से भी अधिक उदार, सदा से अधिक पर-दुःख–कातर हो गया है। उसे परिवार के अन्य सदस्यों की भी चिन्ता है और प्रजा-जन की भी; वह एक ओर तोते और शशक को यथा-संभव सुख पहुँचाना चाहती है तो दूसरी ओर निज उपवन में 'पुरबाला-शाला' खुलवाना चाहती है। राज्य की आर्थिक तथा सामाजिक दशा में भी उसकी पूरी रुचि है। तभी तो वह देवर से *सुकाल-दशा* पूछती है। देवर उसे बताते हैं कि—

इस बार देवि, देखने में भूमि पर
दुगुनी दया सी हुई इन्द्र भगवान् की।

शत्रुघ्न के मुख से कपास, ईख, धान आदि की वृद्धि का समाचार पाकर ऊर्मिला को संतोष ही होता है। फिर भी वह उस 'सरकारी सूचना' (Official Report) पर ही पूर्णतया विश्वास नहीं कर लेती, स्वयं घर से निकलकर '*ग्राम*' में जाकर कृषकों से यही प्रश्न करती है। कृषकों से प्राप्त होने वाला उत्तर भी शत्रुघ्न के उत्तर का ही समर्थन करता है।

राम-लक्ष्मण के वनवासी हो जाने के उपरान्त अयोध्यावासी अकर्मण्य होकर हाथ पर हाथ अथवा माथे पर हाथ रख कर बैठ नहीं गये। कर्त्तव्यनिष्ठ नरेश की कर्त्तव्यनिष्ठ प्रजा यह कैसे कर सकती थी ? अस्तु, प्रजा-जन ने और भी अधिक दत्त-चित्त होकर, असाधारण परिश्रमपूर्वक अपने सामान्य कर्त्तव्यों का पालन किया। देवताओं ने भी कर्त्तव्यनिरत इन प्रजा जनों को यथोचित फल प्रदान किया—'दुगुनी दया-सी हुई इन्द्र भगवान् की।' इसका प्रमाण है—'*अन्न, गुण, गोरस की वृद्धि।*'

परन्तु राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में खाद्य-पदार्थों का *स्वाद* ही नष्ट हो

गया है। अयोध्यावासी उनके दर्शनों की आशा से, जीवित रहने के लिए, भोजन अवश्य करते हैं परन्तु उस भोजन में उनके लिए कोई *स्वाद* कोई रुचि अथवा आकर्षण नहीं है। कृषक तथा किसानों की अबलाएँ लहलहाते खेत देख कर संतुष्ट अवश्य हैं परन्तु इस सन्तोष में हृदयोल्लास कहाँ? इस वर्ष होने वाली *दुगुनी* फसल तो केवल *देखने में* ही दुगुनी है। अपने परिश्रम में *सफल* हो जाने पर भी अयोध्यावासी इस *फल* के *स्वाद* से वंचित हैं—उसका आनन्दोपभोग करने में असमर्थ हैं। '*स्वाद कैसा है, न जाने, हाय!*' कह कर रो पड़ने वाली किसान की अबला इसी सर्वव्यापिनी असमर्थता का प्रतिनिधित्व करती है।

हम राज्य लिए मरते हैं ··· ··· ··· ··· राज्य लिए मरते हैं!

ऊर्मिला कहती है, "हम राज्य लिए मरते हैं (राज्य के लिए मरते हैं अथवा राज्य-सम्पन्न होकर भी दुःखी रहते हैं) परन्तु सच्चा राज्य तो (वास्तव में) हमारे किसान ही करते हैं। जिनके खेतों में अन्न (भरा) है उनसे अधिक सम्पन्न भला और कौन हो सकता है? वे सपत्नीक सर्वत्र विचरण करते (पत्नी सहित समस्त कार्य करते) तथा इस संसार में ऐश्वर्य (धन-धान्यादि) की वृद्धि करते हैं। हम (व्यर्थ ही) राज्य (के) लिए मरते रहते हैं!

"वे उदार किसान गो-धन के धनी हैं (गो-धन ही उनका प्रमुख धन है) (दूध आदि के रूप में) उन्हें तो अमृत की धारा ही सदा प्राप्त है। सहनशीलता के समुद्र वे कृषक (इसी सहनशीलता के कारण) परिश्रम रूपी अथाह सागर को पार कर लेते हैं (बहुत ही कड़ा परिश्रम करते हैं)! हम (व्यर्थ ही) राज्य (के) लिए मरते रहते हैं।

"यदि वे लोग घमण्ड करें तो यह सर्वथा उचित है क्योंकि उनके यहाँ तो बात-बात में उत्सव तथा पर्व मनाये जाते हैं और हम जैसे रखवाले जिनकी रक्षा करने के लिए तैयार हैं, फिर भला वे किससे डरते हैं? (किसी से नहीं डरते।) हम (व्यर्थ ही) राज्य (के) लिए मरते रहते हैं!

"बुद्धिमान् व्यक्ति मीन-मेख (अनावश्यक तर्क-वितर्क) करके कठोर वाद-विवाद करते रहें परन्तु वे (किसान) तो शाखामयी बुद्धि को छोड़ कर मूल धर्म (धर्म के वास्तविक तत्व) को ही ग्रहण करते हैं। हम (व्यर्थ ही) राज्य (के) लिए मरते हैं।

"यदि हम भी उन्हीं की तरह (किसान) होते तो भाग्य के ये भोग (प्रस्तुत दुःख) कौन भोगता? (हमें नहीं भोगने पड़ते।) आज भी उन्हीं

अन्नदाताओं के सुख हमारा दुःख दूर कर रहे हैं। हम तो (व्यर्थ ही) राज्य (के) लिए मरते रहते हैं!"

ऊर्मिला के नेत्रों के सम्मुख अपना (तथा राज-परिवार का) जीवन भी है और कृषकों (प्रजा-जन) का जीवन भी। कितना अन्तर है दोनों में! राज्य ने राज-परिवार को दुःख की दारुण ज्वाला में ही झोंक दिया है। इसी सर्वनाशिनी वस्तु पर लोग इतना गर्व करते हैं; सब झगड़ों के मूल और सब कष्टों के इसी कारण के लिए इतने प्रयत्नशील रहते हैं! इस तुच्छ वस्तु पर *प्राण* तक निछावर कर देते हैं! राज्य अपने भयंकरतम स्वरूप में ऊर्मिला के सामने खड़ा है। उसके पाशविक अट्टहास में ऊर्मिला को आज कोई रुचि नहीं, यह मृग-मरीचिका आज उसे लुभा सकने में असमर्थ है, इस राज्य से उसे आज घृणा है। *'हम राज्य लिये मरते हैं'* में इसी *तिरस्कार* की अभिव्यक्ति है।

.... दूसरी ओर हैं किसान—जिनके खेतों में अनाज (भोजन) भरा है, जिनकी पत्नियाँ प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में उनके साथ हैं, जो गो-धन के धनी हैं, उदार हैं, जिन्हें सुधा की धार भी सुलभ है, जो अनुपम सहनशील हैं, परिश्रम का सागर अपने ही बल-बूते पर पार कर लेते हैं और *राजा नाम धारी* व्यक्ति जिनकी चौकसी, जिनकी *चाकरी* के लिए सदा उपस्थित हैं! वास्तव में *सच्चा राज्य* तो उन्हीं लोगों को प्राप्त है। उन्हें गर्व नहीं—वे घमण्डी नहीं; परन्तु यदि वे अपनी इस सुख-वैभव-गौरव-परिपूर्ण स्थिति पर गर्व करें तो यह कोई अनुचित बात नहीं। आवश्यक तर्क-कुतर्क से सर्वथा मुक्त सरल जीवन बिताने वाले वे कृषक वास्तव में इतना सुखी जीवन बिता रहे हैं कि उनके सुख राज-परिवार के भी दुःख दूर करने में समर्थ हैं।

'पत्नी सहित विचरते हैं वे' : ऊर्मिला के लिए यह बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अयोध्या के (झूठे) राज्य ने पति-पत्नी (ऊर्मिला-लक्ष्मण) को अलग-अलग कर दिया है परन्तु कृषकों का सच्चा राज्य उन्हें सदा तथा सर्वत्र *'पत्नी सहित'* ही रखता है।

भव-वैभव भरते हैं' : इन सच्चे राजाओं का *लौकिक* अथवा भौतिक जीवन अत्यन्त सुखपूर्ण है। संसार में भी यह भौतिक सुख की वृद्धि ही करते हैं—पारलौकिक सुख की खोज में ये लौकिक सुख-शान्ति की अवहेलना नहीं करते; *'भू पर स्वर्ग-भाव सरसे'* की चिन्ता इनके नित्य के सांसारिक जीवन को नीरस नहीं बना देती।

पारलौकिकता के मुकाबले में *लौकिकता* का महत्त्व स्थापित करते हुए यशोधरा ने कहा है :

आओ, प्रिय ! भव में भाव-विभाव भरें हम ,
डूबेंगे नहीं कदापि, तरें न तरें हम ।
कैवल्य-काम भी काम, स्वधर्म धरें हम ,
संसार-हेतु शत वार, सहर्ष मरें हम ।
तुम सुनो क्षेम से, प्रेम-गीत मैं गाऊँ ,
*कह मुक्ति, भला, किस लिए तुझे मैं पाऊँ ?**

सहनशीलता के आगर वे श्रम-सागर तरते हैं :

बरसा रहा है रवि अनल, भूतल तवा-सा जल रहा ,
है चल रहा सन-सन पवन, तन से पसीना ढल रहा ।
देखो, कृषक शोणित सुखा कर हल तथापि चला रहे ,
किस लोभ से इस आँच में वे निज शरीर जला रहे ?†

× ×

घनघोर वर्षा हो रही है, गगन गर्जन कर रहा,
घर से निकलने को कड़क कर वज्र वर्जन कर रहा ।
तो भी कृषक मैदान में करते निरन्तर काम हैं ,
किस लोभ से वे आज भी लेते नहीं विश्राम हैं ?…†

'हमसे प्रहरी रक्षक जिनके' : प्रजा-जन—कृषक आदि की रक्षा करना राजा का धर्म है परन्तु ऊर्मिला द्वारा कहे गये इन शब्दों में यह ध्वनि भी है कि तथाकथित *राजा* तो इन वास्तविक राजाओं के सामने *'रखवाला'*, *'चौकीदार'* मात्र है ।

'किया करें बुध-वाद कठोर' : बुद्धिमान् लोग—अनावश्यक तर्क-वितर्क करने वाले लोग, व्यर्थ बाल की खाल निकालने में ही लगे रहते हैं । कदाचित् ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके कहा गया है :

विद्या विवादाय, धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।

कैकेयी के इस कथन में भी तर्क-प्रधान इन्हीं ज्ञानियों की ओर संकेत जान पड़ता है :

आगत ज्ञानीजन उच्च भाल ले-ले कर ,
समझावें तुमको अतुल युक्तियाँ देकर ।…‡

---

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १०६ ।

† श्री मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती, पृष्ठ ६४, ६५ ।

‡ साकेत, सर्ग ८ ।

'शाखामयी बुद्धि तज कर वे मूल-धर्म धरते हैं' : सत्य ही तो है :

जो तू सेवै मूल को, फूलै फलै अघाय ।

प्रभु को निष्कासन मिला ··· ···· ··· ··· राज्य तुझे धिक्कार !

ऊर्मिला तिरस्कार पूर्वक कहती है, "अरे राज्य ! तुझे धिक्कार है क्योंकि तेरे ही कारण प्रभु (श्री राम) (और उनके साथ लक्ष्मण तथा सीता) को देश-निकाला (वनवास मिला) और मुझे यह कारागार—तेरे ही कारण उन पिता (महाराज दशरथ) को मृत्यु-दण्ड प्राप्त हुआ !"

अयोध्या में घटित होने वाली घटनाओं का निरूपण होने के अतिरिक्त इन पंक्तियों में सामान्यतः एक महत्त्वपूर्ण सत्य भी निहित है । राजा के प्रधान शस्त्र—राजा अथवा शासन द्वारा दिये जाने वाले दण्ड के मुख्य साधन—तीन ही तो हैं : *निष्कासन, कारागार और मृत्यु-दण्ड* ! राज्य—दण्डनीति—इन्हीं तीन स्तम्भों पर तो टिकी है !

'साकेत' के रचना-काल को सामने रखा जाए तो इन पंक्तियों में कवि के अपने देश-काल की भी स्पष्ट प्रतिच्छाया देखी जा सकती है ।

'प्रभु को निष्कासन मिला' : '*प्रभु*' आदरवाचक होने के साथ-ही-साथ '*अयोध्या के वास्तविक नरेश*' का भाव भी ध्वनित करता है । देश के वास्तविक स्वामी को '*राज्य*' ने देश से निकलवा दिया ।

'मृत्यु-दण्ड उन तात को' : यहाँ '*उन*' शब्द द्रष्टव्य है । *दशरथ जैसे* पिता को भी 'राज्य' ने मृत्यु-दण्ड दिलाया !

चौदह चक्कर खायगी ···· ··· ··· ··· भूमि लगावे चौदह चक्कर !

चौदह वर्ष की दीर्घकालीन अवधि की ओर संकेत करके ऊर्मिला कहती है, "जब यह पृथ्वी अखण्डित रूप से चौदह चक्कर खायेगी तब (कहीं जाकर) प्रियतम प्रभु के साथ इस ओर लौटेंगे । हे सजनी ! तब प्रियतम प्रभु के साथ अयोध्या लौटेंगे । अब तो (अभी तो) दिन पर दिन गिनो और रात पर रात ! (यह तो सत्य है कि यह लम्बी अवधि पार करने के लिए दिन पर दिन और रात पर रात गिनना अनिवार्य है) परन्तु यहाँ तो एक-एक पल प्राणों से टक्कर ले रहा है (एक-एक पल काटना दूभर हो रहा है) । झगड़े की जड़ यह भूमि चौदह चक्कर लगावे (इसके लिए तो बहुत समय तक यह वेदना सहनी होगी) !"

पृथ्वी का घूमना एक भौगोलिक सत्य है । अपनी ही धुरी पर लगाया गया जमीन का एक चक्कर एक वर्ष में पूरा होता है । यह तो साधारण ही बात

है परन्तु काव्य में आते-आते भूगोल के '*पृथ्वी का घूमना*' ने '*पृथ्वी का चक्कर खाना*' का रूप धारण कर लिया। '*चक्कर खाना*' घूमने का भाव रख कर भी घूमने से कितना भिन्न है! मुहावरे के रूप में 'चक्कर खाना' का प्रयोग भटकना, भ्रान्त अथवा हैरान होना आदि अर्थों में किया जाता है। ऐसा तो *एक* चक्कर खा लेना भी बहुत है, परन्तु इस पृथ्वी को तो *चौदह चक्कर* खाने हैं। तब कहीं जाकर लक्ष्मण लौटेंगे। अवधि की दीर्घता और कष्टसाध्यता का कितना प्रभावोत्पादक निरूपण है!

गुप्त जी ने बताया है कि बुन्देलखण्ड में '*चौदह चक्कर खाना*' का प्रयोग एक मुहावरे के रूप में '*हारने, झक मारने*' के अर्थ में होता है। इस प्रकार '*चौदह चक्कर*' चौदह वर्ष की निश्चित अवधि के सूचक होने के साथ-ही-साथ यह भाव भी प्रकट करते हैं कि जब धरती *झक मार कर* बार-बार राम-लक्ष्मण की *खुशामद* करेगी तब कहीं जाकर वे इस ओर *घूमेंगे*—इधर नज़र डालेंगे।

'कलह-मूल यह भूमि' : भूमि (राज्य) ही तो प्रस्तुत कलह का कारण है। वैसे कहा भी यही जाता है कि 'ज़र', 'जमीन' और 'जोरू' ही झगड़े अथवा कलह के मूल कारण हैं।

प्रस्तुत अवतरण में कवि ने कुण्डलिया छन्द का प्रयोग किया है। कुण्डलिया में छः पद होते हैं, जिनमें से पहले दो चरण दोहा के दो 'दल' होते हैं और शेष चार रोला के चारों चरण। इसमें पहले चरण का पहला शब्द (या पहले कुछ शब्द) और अन्तिम चरण का अन्तिम शब्द एक ही होता है (या अन्त के कुछ शब्द एक समान होते हैं)। साथ ही दोहा का चौथा चरण रोला का पहला चरण हुआ करता है।

कुण्डलिया छन्द की इतनी व्याख्या करने का आशय इस तथ्य पर प्रकाश डालना है कि इन्हीं परम्परागत नियमों ने प्रस्तुत अवतरण में भावों की प्रभावोत्पादकता में असाधारण अभिवृद्धि कर दी है। यहाँ पहले चरण के पहले शब्द हैं "*चौदह चक्कर*"। पाठक देखेंगे कि '*पर पल-पल ले रहा यहाँ प्राणों से टक्कर*' वाली पंक्ति के बाद अन्तिम चरण के अन्तिम शब्दों के रूप में आने पर *इन्हीं दो शब्दों* का महत्व तथा इनकी भाव-प्रकाशन-क्षमता में कितनी वृद्धि हो गयी है! '*प्रियतम प्रभु के संग*' की पुनरुक्ति भी इसी प्रकार परम्परागत नियम पालन मात्र न होकर भावाभिव्यक्ति में सहायक ही हुई है। अस्तु, प्रस्तुत अवतरण में कवि के छन्द-निर्वाचन की इस सूक्ष्म परख की सराहना किये बिना नहीं रहा जाता।

इस उद्धरण की दूसरी पंक्ति में '*घूमेंगे*' का प्रयोग है और अगली (तीसरी) पंक्ति में '*आयँगे*' का। प्रियतम चौदह वर्ष समाप्त होते ही अयोध्या नहीं पहुँच जावेंगे। उन्हें १४ वर्ष तक तो वन में ही रहना है, इस अरसे में धरती को चौदह चक्कर खाने हैं। जब वह चौदहवाँ चक्कर खा लेगी तब 'प्रभु के संग प्रियतम' इस ओर '*घूमेंगे*' (आधार—पृथ्वी के घूमने पर आधेय—लक्ष्मण आदि—का घूमना कितना स्वाभाविक है!) परन्तु इस '*घूमेंगे*' की स्थिति से '*आयँगे*' तक पहुँचने के लिए भी तो *कुछ समय* लगेगा। प्रस्तुत उद्धरण में 'घूमेंगे' और 'आयँगे' के बीच आने वाली (११ शब्दों की) दूरी उसी '*समय*' का बोध करा रही है!

सिकुड़ा-सिकुड़ा दिन था ···· ··· ··· ··· जम बैठी विषम पाले से!

(सरदी में दिन छोटे होते हैं और रातें बहुत बड़ी और फिर वियोग में तो समय काटना और भी दूभर हो जाता है। ऊर्मिला कहती है,) "दिन तो कड़ाके की सरदी के कारण डरे हुए (व्यक्ति) की तरह सिकुड़-सा रहा था परन्तु हे सखी! अत्यधिक पाले के कारण यह रात तो जम ही गयी है (इसे काटना तो दिन से भी अधिक कठिन हो गया है)।"

यहाँ उत्प्रेक्षा का आधार लेकर हमारे कवि ने सरदी के दिनों की अल्पता और रात्रिओं की दीर्घता का प्रसङ्गानुकूल तथा काव्योचित कारण प्रस्तुत किया है।

आये सखि, द्वार-पटी हाथ से ···· ··· ···· ··· बाहु-बन्धन के मोद में!

(संयोगावस्था की एक शिशिर कालीन घटना की स्मृति आ जाने पर ऊर्मिला अपनी सखी के सम्मुख उसका उल्लेख करके कहती है,) "हे सखी! (शिशिर ऋतु में एक दिन) प्रियतम मेरे भवन के द्वार पर पड़ा परदा अपने हाथ से हटा कर भीतर आये। वंचक होकर भी (मुझे छलने के उद्देश्य से वहाँ आने पर भी) वे वंचित (ठगे हुए) से जान पड़ रहे थे (ऐसे भाव प्रदर्शित कर रहे थे मानों स्वयं वे ही ठगे गये हों)। वे विनोद में काँप रहे थे (सरदी के आधिक्य का-सा भाव प्रदर्शित कर रहे थे)। मेरी इस गोद में रोमपट (रुएँ वाला कम्बल अथवा ऊनी वस्त्र) डाल कर बोले, 'तनिक तुम्हीं इस वस्त्र को तो ओढ़ कर देखो।' (जानती है) फिर क्या हुआ? मैं तुरन्त अपना प्रावरण (ऊपर ओढ़ा हुआ वस्त्र) छोड़ कर उठ खड़ी हुई। उस समय हवा ने चाबुक (हंटर) का रूप धारण कर लिया था (हवा बहुत ज़ोर से चल रही थी और उस का तीव्र स्पर्श ऐसा जान पड़ रहा था मानों शरीर पर चाबुक पड़ रहे हों) तथापि उस समय बाहु-बंधन (गाढ़ालिंगन) के आनंद में निमग्न होने के कारण हम दम्पति (पति-पत्नी) के रोम-रोम हर्षित हो रहे थे।"

शिशिर की रात थी। बहुत तेज हवा चल रही थी। लक्ष्मण सोने का उपक्रम कर रहे थे परन्तु नींद थी कि आना ही न चाहती थी। उधर, ऊर्मिला अपने भवन में थी। वहाँ तक जाने का कोई बहाना भी तो होना चाहिए। लक्ष्मण को बहाना ढूँढते देर न लगी और वे *वंचक होकर* (ऊर्मिला को ठगने के लिए तत्पर होकर भी) *वंचित* (ठगे हुए व्यक्ति) की भाँति झूठ-मूठ काँपते हुए (यह भाव प्रकट करने के उद्देश्य से कि ऊर्मिला ने लक्ष्मण को, ओढ़ने के लिए जो रोम-पट दिया है उससे सरदी दूर नहीं हो सकती। इस प्रकार ऊर्मिला ने उन्हें ठग लिया है। यदि वह यह बात नहीं मानती तो स्वयं रोम-पट ओढ़ कर देख ले) द्वार पर पड़ा परदा हटा कर ऊर्मिला के भवन में जा पहुँचे और रोम-पट उसकी गोद में डाल कर बोले, "*ओढ़ देखो तनिक तुम्हीं तो परिधान यह*" अर्थात् 'आपने जो अत्यन्त कृपापूर्वक यह वस्त्र मुझे ओढ़ने के लिए दिया है तनिक स्वयं इसे ओढ़ कर तो देखो कि इसमें, इस कड़ाके की सरदी में, गरमाई—आवश्यक सुख—पहुँचाने की क्षमता भी है अथवा नहीं।' रोम-पट ओढ़ देखने के लिए ऊर्मिला तुरन्त प्रावरण छोड़ कर उठ खड़ी हुई। लक्ष्मण वास्तव में यही तो चाहते थे; इसी अवसर की खोज में तो यहाँ तक आये थे। साँय-साँय करती हुई हवा के तीव्र प्रहारों से पत्नी की रक्षा करने के लिए उन्होंने उसे अपनी भुजाओं में जकड़ लिया—अपने ही में छिपा लिया। दोनों के *रोम-रोम* हर्षित थे और उस हर्ष का तात्कालिक माध्यम—*रोम-पट*—अपना कर्त्तव्य पूरा करके मानों धरती पर लेटा चैन के साँस ले रहा था!

'बोले डाल रोम-पट मेरी इस गोद में' : इस पंक्ति में '*इस*' शब्द अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इससे दो मुख्य प्रयोजनों की सिद्धि होती है। एक तो यह कि यह एक ही शब्द अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से ऊर्मिला के *भूत* को *वर्तमान* से सम्बद्ध कर देता है (ऊर्मिला एक बीती बात सुना रही है अपनी *इस गोद* की ओर संकेत करके वह गत और प्रस्तुत में तारतम्य स्थापित कर देती है) और दूसरे 'इस' शब्द द्वारा ऊर्मिला की प्रस्तुत वेदना की तीव्रता बढ़ जाती है। *यही तो* वह गोद है जिसमें प्रिय ने विनोदपूर्वक रोमपट डाला था, *यही तो* वह ऊर्मिला है जो झट प्रावरण छोड़ कर उठ खड़ी हुई थी और *ये ही* तो वे रोम-रोम हैं जो प्रिय के बाहु-बन्धन में कर्षित होकर हर्षित हो गये थे और अब? कितना वैषम्य है दोनों दशाओं में! '*इस*' उसी वैषम्य का प्रतीक है!

करती है तू शिशिर का ··· ···· ···· ··· धुँवाधार यह देख।

"हे सखी! तू बार-बार शिशिर का उल्लेख कर रही है परन्तु मैं तो

जल-सी रही हूँ । तू (मेरे जलने के कारण उठने वाले) इस धुँवाधार को तो देख !"

सचमुच यह नीहार तो ···· ··· ··· ···· श्वेत हुआ इस बार !

"क्या यह वास्तव में नीहार (कोहरा) है ? यदि ऐसा है तो अब तू तनिक इस ओर तो देख ! इस बार तो मानों अन्धेरा भी सरदी से (ठिठुर जाने के कारण कोहरे के रूप में) सफेद हो गया है !"

ऊर्मिला की सखी बार-बार शिशिर का उल्लेख करती है परन्तु वह तो जली-सी जा रही है, वह भला सखी की यह बात कैसे मान ले ? चारों ओर दिखायी देने वाला धुँवा इसका प्रमाण है । सखी उसे समझाती है कि वह धुँवा नहीं, नीहार (कोहरा) है । इस पर ऊर्मिला कहती है कि इस बार तो शीत के आधिक्य के कारण अँधेरा भी सफेद पड़ गया है ।

'प्रसाद' जी ने लिखा है :

उसी तपस्वी से लम्बे, थे
देवदारु दो चार खड़े ;
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर
*बन कर ठिठुरे रहे अड़े ।**

'साकेत' में काले अंधेरे का अत्यधिक शीत के कारण *श्वेत* हो जाना तो मानो 'प्रसाद' जी की कल्पना से भी एक पग आगे बढ़ गया है ।

कभी गमकता था जहाँ ···· ···· ··· ···· आज मनोमृग अन्ध !

"हे सखी ! जहाँ कभी कस्तूरी का गंध गमकता (फैला) रहता था, वहीं आज मन-रूपी अन्धा मृग चौंक-चौंक कर चमक रहा है !"

कस्तूरी-मृग अपनी ही नाभि में स्थित कस्तूरी की खोज में सर्वत्र भटकता फिरता है । अपने ही में स्थित कस्तूरी की सुगन्ध से *चौंकता चमकता* वह उसी की खोज में मारा-मारा फिरता है । ऊर्मिला की दशा तो आज उससे भी करुणतर है । उसका *मनोमृग* तो *अन्ध* भी है । यही अन्ध मृग भटक कर उस कस्तूरी की खोज कर रहा है, जिसकी सुगन्ध ऊर्मिला के *तन, मन और भवन* सबमें ही रम गयी है । '*चौंक चमकता*' उसकी अधीरता का प्रतीक है और *अन्ध* उसकी असहायता का ।

शिशिर, न फिर ··· ··· · ··· क्या हो भाव-भुवन में !

शिशिर को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे शिशिर ! तू पहाड़ों तथा वनों में न फिर, मैं तुझे अपने इसी नंदन (-कानन जैसे उपवन में) यथेष्ट

* श्री जयशंकर 'प्रसाद', कामायनी, चिन्ता सर्ग ।

पतझड़ दे दूँगी। तुझे जितने कम्पन (कँपकँपी) की आवश्यकता है वह मेरे इस शरीर से ले-ले। मेरी सखी कह रही है कि मेरे मुख पर पीलेपन का भी कोई अभाव नहीं है (तू जितना चाहे पीलापन भी यहीं प्राप्त कर सकता है)। हे भाई शिशिर, यदि तू मेरे मन रूपी पात्र में मेरे नेत्रों का जल जमा दे तो मैं अकिंचना उस नेत्र-जल को मोती की तरह—अपने मन में सम्हाल कर रख लूँगी। मेरी हँसी तो अब मुझसे छिन ही चुकी है, यदि मैं अपने जीवन में रो भी न सकूँ (रोना भी समाप्त होजाने पर) तो मैं यह देखने (जानने) को आतुर हूँ कि फिर-इस भाव रूपी—भुवन (भाव-जगत्) में क्या शेष रह जावेगा (रुदन और हास्य, दोनों के अभाव में इस भाव-जगत् की क्या दशा होगी)?"

लक्ष्मण की अनुपस्थिति के कारण ऊर्मिला के उपवन में आज वसन्त के बदले पतझड़ हो रहा है, स्वयं उसका शरीर काँप रहा है, मुख पीला पड़ गया है। शिशिर को *पतझड़, कम्प और पीलेपन* की ही तो आवश्यकता है? ये तीनों वस्तुएँ तो उसे यथेष्ट मात्रा में ऊर्मिला के पास अयोध्या में ही मिल सकती हैं। अतः शिशिर के लिए इनकी खोज में वन तथा पहाड़ों का फेरा लगाना व्यर्थ ही है। ऊर्मिला सुना करती थी कि सरदी के कारण बरतनों में रखा पानी जम जाता है। वह तो इस कथन की सत्यता पर तब विश्वास करे जब शिशिर उसके *नेत्र रूपी पात्र* में रखा *आँसू रूपी पानी* जमा दे। पानी की जमी हुई बूँद ही तो मोती कहलाती है! जमे हुए अश्रु-बिन्दु को वह निर्धन वियोगिनी *मोती* की भाँति सम्हाल कर रखेगी ताकि उचित अवसर पर उसे पति के श्री चरणों पर चढ़ा सके। एक बात और भी है। *हँसी* उसके जीवन से जा चुकी है अब यदि नेत्रों के *आँसू* भी जम गये तो उसे यह देखने का अवसर प्राप्त हो जाएगा कि आँसू और हँसी, दोनों के *अभाव* में *भाव-जगत्* की क्या दशा होती है!

सखि, न हटा मकड़ी को .... हम दोनों की यहाँ समान दशा!

"हे सखी, मकड़ी को न हटा। वह तो (मेरे पास) सहानुभूति से प्रेरित होकर ही आयी है। मैं भी तो मकड़ी की भाँति (दुःख के) जाल में फँसी हुई हूँ; हम दोनों की दशा एक सी ही है।"

मकड़ी प्रायः *उपेक्षित* स्थानों में ही अपना जाला बनाती है, उपेक्षित स्थलों की ओर ही आकृष्ट होती है। कदाचित् इसीलिए तो मकड़ी उस ओर (उपेक्षिता ऊर्मिला की ओर) आयी है परन्तु अपनी उदारता के ही कारण ऊर्मिला मकड़ी के उस ओर आने में *सहानुभूति* का ही अनुभव करती है। इतना ही नहीं उसे तो यह समझने में भी देर नहीं लगती कि—

हम दोनों की यहाँ समान दशा !

"काव्य में मकड़ी जैसे जीवों से सहानुभूति दिखाने का यह कदाचित् पहला अवसर है। लक्ष्मण की रानी ऊर्मिला की उदारता का विस्तार आज महत्तम से लेकर लघुत्तम तक है – आज महान् और लघु का अन्तर ही मिट गया है।"*

भूल पड़ी तू किरण, ... भूल पड़ी तू किरण, कहाँ ?

(शरद् ऋतु के प्रभातकालीन सूर्य की रश्मियों को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है) "हे किरण तू यहाँ कहाँ भूल पड़ी ? तू मेरे इस झरोखे (खिड़की) में से न झाँक; यहाँ से लौट कर ऐसे स्थान पर चली जा जहाँ तेरे जैसे तार गूँज सकें (किरणें वीणा के तारों जैसी ही जान पड़ती हैं)। मेरी वीणा तो (निरन्तर मेरे नेत्रों से बहते आँसुओं के कारण गीली-गीली सी हो रही है और वह ढीली-ढीली सी भी है (उसके तार कसे हुए नहीं हैं जिन्हें बजा कर सुमधुर स्वर—निकाले जा सकें)। तू लाल, हरी, पीली तथा नीली (बहुरंगिणी) है परन्तु यहाँ (मेरे जीवन में) तो न कोई राग है, न रंग (किसी प्रकार क. कोई हर्षोल्लास नहीं है)। तू यहाँ कहाँ भूल पड़ी ?

"सरदी का मौसम है और सवेरे का समय; मेरा मन (रूपी मानसरोवर) उछल रहा है; कहीं (पानी उछलने के कारण पड़ने वाले) छींटों से तेरा शरीर न भर जाए (तर न हो जाए)। जहाँ रुदन है, वहाँ गान किस प्रकार हो सकता है ? अरी किरण, तू यहाँ कहाँ भूल पड़ी (भूल कर आ गयी) ?

"मेरी दशा तो (इस समय) कुछ ऐसी हो रही है जैसी (वीणा के) तारों पर (नाचती, थिरकती) अँगुली की होती है। कसक तो है परन्तु यह मींड़ (गमक) भी कैसी (विचित्र) है कि मैं 'नहीं', अथवा 'हाँ' कुछ भी नहीं कह सकती ! अरी किरण, तू यहाँ कहाँ भूल पड़ी (भूल कर आ गयी) ?"

'मींड़ अथवा गमक' ; संगीत में एक स्वर से दूसरे स्वर तक जाते समय मध्य का अंश इस सुन्दरता से कहना जिसमें दोनों स्वरों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाए।

किरण, विकास तथा उल्लास की संदेशवाहिका है ! यह सतरंगिणी जहाँ भी जाती है वहीं *राग-रंग* छा जाता है परन्तु यह आज *पथ भूल कर* ऊर्मिला के भवन में कैसे आना चाह रही है ? उसकी वीणा तो आज *गीली* भी है और *ढीली* भी। उसके जीवन में तो आज कोई *राग-रंग*—कोई आमोद-प्रमोद—नहीं है। तभी तो

* डा० नगेन्द्र, साकेत एक अध्ययन, पृष्ठ ६७।

ऊर्मिला को यह देख कर आश्चर्य होता है कि किरण वहाँ कैसे आ गयी ? कदाचित् वह भूल कर ही उस ओर आ गयी है !

ऊर्मिला के जीवन में इस समय दुःख और रुदन ही है परन्तु वह किरण के *हर्षोत्सव* में बाधा नहीं डालना चाहती, उसे अपने दुःख से दुःखी नहीं करना चाहती अपने *उछलते मानस* के *छींटों* से वह किरण का तन नहीं सानना चाहती, तभी तो वह उससे अनुरोध करती है :

झांक झरोखे से न, लौट जा, गूँजे तुझ से तार जहाँ ।

स्वयं ऊर्मिला के शब्दों में, उसकी दशा तो आज वैसी ही है—

तारों पर अंगुली की जैसी ।

एक तार से दूसरे पर थिरकती अँगुलियाँ एक के उपरान्त दूसरे स्वर की सृष्टि करती हैं । (उन्हीं विभिन्न स्वरों का संयोग संगीत है) ऊर्मिला की जीवन-वीणा भी आज एक नवीन (करुण) स्वर सुना रही है । एक तार से दूसरे तार तक जाने में अंगुली में एक हल्की सी पीड़ा—कसक—होती है । ऊर्मिला भी उस *कसक* का अनुभव कर रही है परन्तु यह सब होने पर भी वह आज स्वयं अपने जीवन का सही मूल्यांकन कर सकने में सर्वथा असमर्थ है—

कह सकती हूँ नहीं न हाँ ।

न तो अगति ही है न गति ··· ··· ··· रही एक झकझोर ।

ऊर्मिला कहती है, "इस जीवन के झाड़ में (जीवन रूपी वृक्ष में) न तो अगति (गतिहीनता अथवा स्थायित्व) ही है और न गति (अस्थायित्व) इसमें तो बस एक झकझोर (झटका) शेष रह गया है !"

ऊर्मिला आज परिस्थितियों के वात-चक्र में ग्रस्त है ; वह जहाँ है वहाँ चैन से बैठ नहीं सकती और जहाँ मनचाहा सुख चैन पा सकती है वहाँ जा नहीं सकती । तभी तो वह इतनी विकल है ! उसका जीवन-झाड़ (*वृक्ष* के स्थान पर *झाड़* का प्रयोग ऊर्मिला की प्रस्तुत दशा का चित्रण अधिक भली प्रकार करता है ।) अचल होते हुए भी पवन के झटकों के कारण विवश हो कर इधर से उधर और उधर से इधर भटक (मँडरा) रहा है । इन्हीं परस्पर विरोधिनी शक्तियों के बीच पड़ जाने के कारण ऊर्मिला को आज किसी भी ओर न तो *गति* दिखाई देती है, न *अगति* ।

पाऊँ मैं तुम्हें आज ··· ··· ···· ···· पीत पत्र, आओ ।

ऊर्मिला कहती है, "हे पीले पत्तो, आओ, आज मैं तुम्हें प्राप्त कर लूँ (अपना बना लूँ) और तुम मुझे पालो ! तुम आओ, और मैं अपना अंचल फैला कर तुम्हें उस में ले लूँ ।

"हाय ! फूल तथा फल के लिए अपना रस रूपी धन निछावर करके सर्वथा निश्चिन्त भाव से इस प्रकार उड़ो नहीं ! हे पीले पत्तो तुम आओ और मैं अपना अंचल फैला कर तुम्हें उस में ले लूँ !

"तुम्हारा शरीर रस-विहीन (जल के अभाव के कारण शुष्क) है, मेरे पास अध्यधिक नेत्र-जल है, हे भाई, मुझे इस जल का कुछ (उचित) उपयोग तो बताओ; हे पीले पत्तो, तुम आओ और मैं अपना अंचल फैला कर तुम्हें उसमें ले लूं !"

पतझड़ आया। पेड़ों के सूखे पत्ते गिरकर धूल में मिलने लगे। इन्होंने *अपना रस* नयी कोंपलों को अर्पित कर दिया—पेड़ पर *फूल* तथा *फल* लगने में अपना सहयोग दे दिया—अपना कर्त्तव्य पूरा करके वे *निश्चिन्त* हो गये। अब वे वहाँ क्यों ठहरें ? अब उनका वहाँ काम ही क्या है ? अतः वे निश्चिन्त हो कर उड़ जाना चाहते हैं, नये पत्तों, फूल तथा फलों को अपना स्थान देकर स्वयं विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो जाना चाहते हैं। कवि पंत के शब्दों में :

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिम ताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन !
निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग,
जग नीड़ शब्द औ' श्वास हीन,
च्युत, अस्त व्यस्त पंखों से तुम,
*झर झर अनंत में हो विलीन !**

परन्तु 'साकेत' की ऊर्मिला उन पीले पत्तों को फूल--और फल निमित्त स्वरस की बलि देने वाले धर्मवीरों को—इस प्रकार झड़ जाने देना नहीं चाहती (उसके हृदय में आज यह इच्छा अत्यन्त बलवती हो उठी है कि वह उन पीले पत्तों को पावे (समझे) और पीले पत्ते उसे पावें—वह पीले पत्तों के साथ एक *तादात्म्य* स्थापित करना चाहती है, उन *गिरते हुए* पत्तों को *अपने अंचल में* भर लेना चाहती है...

क्यों ? इस प्रश्न का एक उत्तर तो यही है कि आज उपेक्षित तथा तिरस्कृतों के प्रति उसके हृदय में अपार स्नेह उमड़ रहा है, वह गिरे हुओं को उठाना और—पद-दलितों को हृदय से लगाना चाहती है; परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। ऊर्मिला और पीत पत्र के बीच समनता भी बहुत है। पीत पत्र *पीले* पड़ गये हैं

* श्री सुमित्रानन्दन पंत, पल्लविनी, पृष्ठ २४१ ।

ऊर्मिला की '*सखी कह रही पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में ?*' पत्तों ने फूल और फल निमित्त *स्वरस* बलि चढ़ा दिया है, ऊर्मिला ने भी पति की *सफलता*, उनकी कीर्ति के लिए अपने सुख-विलास, अपने *राग रंग* को निछावर कर दिया है।....परन्तु इन समानताओं के साथ ही दोनों में कुछ विषमताएँ भी हैं। पीत पत्र *निश्चिन्त चित्त* हैं, उनका काम पूरा होगया है परन्तु ऊर्मिला का कार्य अभी अधूरा है। पत्ते *नीरस शरीर* हैं, उसके नेत्रों में *अपरिचित जल* है। उस जल को व्यर्थ न बहा कर वह उससे उन पीले पत्तों को सरस करना चाहती है, अपने आँसुओं का भी *सदुपयोग* ही करना चाहती है!

जो प्राप्ति हो फूल तथा ··· ···· ··· ···· तो वह भी निगोड़ी।

महुए के पेड़ को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "यदि (पत्तों के गिर जाने से) फूल तथा फल प्राप्त होते हों तो पत्तों की (हानि की) चिन्ता (परवाह) न करो क्योंकि यदि अधिक लाभ के लिए थोड़ी हानि हो तो निगोड़ी हुआ करे।"

पेड़ों के पत्ते गिर रहे हैं परन्तु इसकी चिन्ता क्यों? *फूल* तथा *फलों* की प्राप्ति के लिए *पत्तों* की तो उपेक्षा करनी ही होगी। ऊर्मिला के इस कथन में यह ध्वनि भी है कि उसके जीवन-वृक्ष के पत्ते—उमंगें, आशाएं तथा आकांक्षाएं—गिर रहे हैं परन्तु फूल तथा फल—लक्ष्मण की कर्त्तव्यनिष्ठा, उनकी सफलता तथा उस सफलता से प्राप्त होने वाली कीर्ति आदि—की प्राप्ति के लिए इस हानि की चिन्ता नहीं की जानी चाहिए। उस *पूरे लाभ* के सामने यह *निगोड़ी हानि* क्या है—बहुत ही साधारण है, नगण्य है!

श्लाघनीय हैं एक से ··· ··· ···· ···· वही शिशिर का अन्त।

ऊर्मिला कहती है कि शिशिर तथा वसन्त दोनों ही समान रूप से शोभाशाली तथा प्रशंसनीय हैं क्योंकि जो वसन्त का आरम्भ है वही शिशिर का अन्त है।"

समय के अनवरत चक्र में प्रत्येक क्षण प्रत्येक ऋतु—समान रूप से श्लाघ्य है क्योंकि एक ऋतु का अन्त वास्तव में दूसरी का आरम्भ है—एक ऋतु मानों स्वयं मिट कर दूसरी को अपना स्थानापन्न बना देती है और काल की यह सरिता निरन्तर इसी प्रकार बढ़ती रहती है, एक क्षण से दूसरे क्षण में—एक ऋतु से दूसरी ऋतु में—पदार्पण करती हुई!

जो वसन्त का आदि है वही शिशिर का अन्त: महाकवि शेली

(Shelley) के शब्दों में—

If Winter comes, can Spring be far behind ?*

ज्वलित जीवन धूम कि धूप है ········ ··· ···· दाँत दिखा रहा।

धूप को लक्ष्य करके ऊर्मिला कहती है, "यह जलते हुए जीवन से उठने वाला धुँआ है या धूप (शिशिर में कोहरा छाया रहता है, वसन्त में धूप उसका स्थान ले लेती है)? सत्य तो यह है कि संसार मन के ही अनुरूप है (मन सुखी हो तो संसार सुखद जान पड़ता है और मन दुःखी हो तो संसार भी दुःखदायी ही लगता है) (इसका प्रमाण यह है कि) कवियों के शब्दों में कुन्द भले ही हँसता हुआ कहा जाता रहे, हे सखी, मुझे तो (अपनी मनःस्थिति के अनुरूप) वह दाँत दिखाता (अपनी ही भाँति दीन) जान पड़ता है।

भुवन तो मन के अनुरूप है : Nothing is good or bad but thinking makes it so. —Shakespeare

'*दाँत दिखा रहा*' : '*दाँत दिखाना*' का प्रयोग गिड़गिड़ाने अथवा दीनता प्रदर्शित करने के अर्थ में किया जाता है। हँसने वाले व्यक्ति के भी दाँत दिखायी देते हैं। परन्तु हास और दीनता—दोनों स्थितियों में दाँत दिखायी देने पर भी उनमें परस्पर बहुत अन्तर होता है। वही अन्तर यहाँ '*हसित*' और '*दाँत दिखा रहा*' द्वारा स्पष्ट किया गया है।

हाय! अर्थ की उष्णता ···· ··· ···· आतप-पति भी आप?

"हाय! धन की गरमी का प्रभाव किस पर नहीं होता (अर्थात् सब पर होता है)? स्वयं आतप-पति (सूर्य) ही धनद-दिशा (उत्तर दिशा) में तप उठे हैं!"

ग्रीष्म ऋतु में जब सूर्य उत्तरायण होते हैं तो गरमी बढ़ जाती है। इसी सत्य के आधार पर यहाँ उस अर्थ-लिप्सा—अर्थ से होने वाले उस अनर्थ—पर चोट की गयी है जो राम-वनगमन और ऊर्मिला के प्रस्तुत वियोग का मूल कारण है।

यहाँ '*धनददिशा*' श्लिष्ट शब्द है; अर्थ है धन देने वाली दिशा और उत्तर दिशा। सूर्य के लिए '*आतप पति*' शब्द का प्रयोग किया गया है। भाव यह है कि जब स्वयं गरमी अथवा धूप का स्वामी भी धनदायिनी अथवा उत्तर दिशा में पहुँच कर (धन की) उस गरमी को न सह सका—उस ताप से तप उठा—तो फिर सामान्य जनों का तो कहना ही क्या?

---

* Ode to the West Wind, by P. B. Shelley.

अपना सुमन लता ने ···· ···· ···· झड़ने के पूर्व झाँक ही जो ले।

ऊर्मिला कहती है, "हे सखी, लता ने अपना सुमन चुपचाप निकाल कर रख दिया है परन्तु वनमाली (यहाँ) कहाँ है जो झड़ने से पूर्व (उसे) तनिक झांक (देख) ही ले ?"

यहाँ *'सुमन'* 'फूल' तथा 'श्रेष्ठ मन' इन दोनों अर्थों का द्योतक है। लता ने *बिना बोले*—चुपचाप—किसी भी प्रकार के प्रदर्शन के बिना ही—अपना सुमन—फूल के रूप में अपना कलेजा ही निकाल कर रख दिया है वनमाली के लिए। वनमाली कहाँ है जो उस सुमन के *झड़ने से पूर्व*, उस कोमल हृदय के मुरझा जाने से पूर्व झाँक ही ले ?

ऊर्मिला ने भी तो बिना बोले अपना 'सुमन' निकाल कर रख दिया है अपने वनमाली के लिए !

'वनमाली' माली के अतिरिक्त *वनवासी* लक्ष्मण का भी बोध कराता है।

'झाँक ही जो ले' : भाव यह है कि वनमाली को यदि लता के इस सुमन को अपनाने अथवा उसकी ओर जी भर कर देख लेने का अवकाश नहीं है तो वह उस ओर झाँक ही ले। सुमन के झड़ने से पूर्व वनमाली उधर झाँक भी लेगा तो लता धन्य—कृतकृत्य—हो जाएगी।

काली-काली कोइल बोली ··· ···· ··· ··· होली—होली—होली।

"काली-काली कोयल कहने लगी : होली—होली—होली ! (कोयल ने मधुर स्वर में प्रकृति को होली के आगमन का संदेश सुना दिया। यह सुन कर) हरियाली (हरी-भरी डाली) अपने लाल लाल होठों पर (कोमल कोंपलों अथवा फूल की पंखड़ियों के रूप में) हँस कर (हवा में) हिलने-डुलने लगी, पीली-पीली चोली फाड़ कर प्रकृति का नव यौवन फूट पड़ा (कलियाँ खिल कर फूल के रूप में प्रस्फुटित हो गयीं)। होली—होली—होली ! (पक्षियों आदि का) कलरव (मधुर शब्द) सुन कर कमलिनी ने अलसा कर अपनी नशीली आँखें खोल लीं। उधर उषा ने आकाश में (पूर्व दिशा की प्रातः-कालीन लालिमा के रूप में) दिन के मुख पर रोली मल दी। होली—होली—होली ! रागी (यहां 'रागी' शब्द श्लिष्ट है; इसके अर्थ हैं अनुरागी अथवा प्रेमी, और रँगने वाला। होली के अवसर पर दूसरों को रँगने की इच्छा रखने वाले रसिक युवक अबीर-गुलाल से अपनी झोली भर लेते हैं। प्रकृति के इस होलिकोत्सव में रागी फूल उन रसिक तथा प्रेमी नवयुवकों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।) फूलों ने पराग से अपनी झोली भर ली और ओस ने फूलों की

स्फुट पँखड़ियों के पात्रों में केसर ही घोल दी। होली—होली—होली! ऋतु ने रवि तथा चन्द्र के पलड़ों पर अपनी तुल्य प्रकृति तोल ली (न अधिक गरमी रही न सरदी, दोनों बराबर सी हो गईं—मौसम अत्यन्त सुहावना हो गया) परन्तु (इस सुहावनी ऋतु में भी) मेरी (ऊर्मिला की) भोली भुवन-भावना क्यों सहसा सिहर (काँप) उठी? होली—होली—होली! खिलती हुई कलियों पर भौंरों की टोली गूँजने लगी (मलय-पवन के रूप में) दक्षिण की ओर से प्रियतम के श्वास की अनमोल सुरभि आ रही है। होली—होली—होली।"

वसंत आया, कोयल की काकली गूँजने लगी, हरियाली हिलने-डोलने लगी, नयी कोंपलें फूटीं, लाल-लाल होठों पर हँसी झलक आयी, पीली-पीली चोली फाड़ कर प्रकृति का यौवन फूट पड़ा। आज सब ओर अनोखी मादकता छायी है। कमलिनी अलसा कर, अपनी, नशे में डूबी, आँखें खोल रही है। उधर उषा (स्त्रीलिङ्ग) और दिन (पुल्लिङ्ग) परस्पर होली खेलने में संलग्न हैं। लाल-लाल तथा अनुराग भरे फूल भला पीछे क्यों रहते? वे भी पराग से झोली भर तैयार हो गये (ठीक उसी प्रकार जैसे होली के अवसर पर लोग अबीर-गुलाल की झोली भर लेते हैं) फूल (पुल्लिङ्ग) पराग से झोली भर कर अपने को तैयार कर ही रहे थे कि ओस (स्त्रीलिङ्ग) ने उनके स्फुट-सम्पुट में केसर घोल कर उन्हें रंग से सराबोर कर भी दिया। सब ओर एक अनोखा उत्साह है और विचित्र उमंग। और मौसम? उसे तो प्रकृति ने रवि-शशि के पलड़ों पर रखकर तोल ही दिया है—न गरमी ही रही न सरदी। मादकता के इन्हीं दिव्य क्षणों में अलियों की टोली ने खिलती कलियों का मुख चूम लिया ··· ···

परन्तु यह देख कर ऊर्मिला की *भोली भुवन-भावना* क्यों *सिहर* उठी? उसके हृदय में कँपकँपी-सी क्यों होने लगी? नेत्रों के सम्मुख आते अतीत के चलचित्रों ने उसे आकुल क्यों कर दिया?

हर्षोल्लासनिमग्ना प्रकृति की अत्यन्त स्वाभाविक पृष्ठभूमि के कारण यहाँ ऊर्मिला का करुण चित्र और भी उभर आया है। केवल प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से भी यह गीत अत्यन्त सुन्दर है।

जा मलयानिल लौट जा ···· ···· ···· ··· तू अपने को आप।

वसन्त आते ही सुगन्धित हवा चलने लगी। उसी मलयानिल को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "अरे मलयानिल, तू यहां से लौट जा (इधर मेरी ओर न आ) यहां (मुझ पर) तो अवधि का शाप है कहीं (मुझसे प्रभावित होकर) तू भी लू होकर अपने आप को न लग जाए।"

अवधि के शाप में ग्रस्त ऊर्मिला विरह की आग में जल रही है। मलयानिल उस ओर आएगा तो उस ज्वाला के कारण वह लू में परिवर्तित हो कर अपने ही को लग जाएगा (उसकी शीतलता नष्ट हो जाएगी)।

भ्रमर, इधर मत भटकना ··· ··· ···· ···· किन्तु दूर ही दूर।

भ्रमर को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे भ्रमर, तुम इधर (चंपक फूलों की ओर) न भटकना, ये तो खट्टे अंगूर हैं। तुम चम्पक फूलों की सुगन्ध तो अवश्य लेना परन्तु इनसे दूर ही दूर रहना।"

चम्पे के फूल हलके पीले रंग के और कड़ी महक वाले होते हैं परन्तु कमल से इस फूल का क्या मुकाबला? इसीलिए इसे 'खट्टे अंगूर' कहा गया है।

सहज मातृगुण गन्ध था ··· ··· ··· ··· अर्थ न हो यह त्याग!

"मातृ (पृथ्वी का) गुण (गन्ध) तो कर्णिकार (कनियारी अथवा कनीर के फूल) को सहज (स्वाभाविक रूप से अथवा जन्माधिकार द्वारा) प्राप्य था। कहीं उसने यह सिद्ध करने के उद्देश्य से तो यह (इस अधिकार-गन्ध का) त्याग नहीं किया कि गुण के बिना भी रूप सम्भव है (रूप तथा गुण का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नहीं)!"

कनीर का फूल देखने में बहुत सुन्दर होता है परन्तु उसमें सुगंध बिलकुल नहीं होती। ऊर्मिला (अथवा कवि) की कल्पना है कि कनीर ने अपने जन्मजात गुण—गंध—का त्याग इस आदर्श की स्थापना के लिए ही किया है कि बिना गुण के भी रूप सम्भव है!

त्यागमयी ऊर्मिला को आज सब ओर '*त्याग*' ही दृष्टिगोचर हो रहा है।

मुझे फूल मत मारो ···· ··· ···· ··· उस रति के सिर पर धारो।

कामदेव को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे कामदेव! मुझे फूल न मारो (मुझे अपने वश में करने का प्रयत्न न करो) मैं अबला, बाला और फिर वियोगिनी हूँ, कुछ तो दया दिखाओ। हे मदन (कामदेव) मधु (वसन्त) के मित्र तथा सर्वथा योग्य होकर भी तुम मुझ पर यह कटु विष क्यों गिरा रहे हो (मेरे प्रति इतनी निर्दयता क्यों प्रदर्शित कर रहे हो)? (यदि तुमने अपने फूलों के बाण चलाना बन्द न किया तो) मुझे बेचैनी होगी और तुम्हें विफलता (अपने उद्देश्य में असफलता) अतः ठहरो, यह (व्यर्थ) श्रम (प्रयत्न) छोड़ दो। मैं कोई भोगिनी (विषयाधीना) नहीं हूँ जो तुम मुझे अपने जाल में फँसा सको। यदि तुममें शक्ति है तो मेरे इस सिंदूर-विन्दु की

ओर—शिव के इस तीसरे नेत्र की ओर--तो देखो। हे कन्दर्प (कामदेव) यदि तुम्हें अपने सौन्दर्य का दर्प (घमंड) है तो उसे मेरे पति पर से वार दो (निछावर कर दो) लो, मेरी यह चरण-धूलि उस रति के मस्तक पर अधिष्ठित कर दो!"

नागमती का वियोग-वर्णन करते हुए मलिक मौहम्मद जायसी ने लिखा था :

अधिक काम दाधै सो रामा।

संयोग की अपेक्षा वियोग में कामदेव कुछ अधिक दाहक हो जाता है। साहित्य में इसके प्रमाण स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह बात अस्वाभाविक भी नहीं जान पड़ती परन्तु हमारे कवि को इसमें शील की हानि, मर्यादा का उल्लङ्घन दिखायी देता है। इसीलिए 'साकेत' की वियोगिनी ऊर्मिला कामदेव के सम्मुख आत्म-समर्पण न करके उसके निरर्थक प्रयत्नों और मिथ्याभिमान को धूल में मिला देती है।

ऊर्मिला *बाला* है, उसके पास हृदय है और उस हृदय में उमंगें। विरह की इन कठोर घड़ियों में, जबकि विगत जीवन के संयोग-सुख और प्रियतम का गुण-गान तथा स्मरण ही उसका एकमात्र सहारा है तो कामदेव भी, अवसर पाकर, उस पर अपने *फूलों के बाण* चलाता है (कामदेव के धनुष फूलों के माने गये हैं। इसीलिए उसे '*पुष्प बाण*' अथवा '*पुष्प शर*' भी कहा जाता है)। ऊर्मिला सर्वप्रथम कातर वाणी में कामदेव से अनुनय करती है कि वह उस पर अपने पुष्प-शर के तीर न चलावे, फूल न मारे। उसके इन शब्दों में विनयपूर्ण अनुरोध स्पष्टतः व्यञ्जित है :

मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।

विनय से अगला कदम है *तर्क*। विनय का मनोवांछित फल होता न देख कर ऊर्मिला तर्क का सहारा लेती है, "हे कामदेव! तुम तो *मधु के मीत* भी हो और स्वयं भी सब प्रकार से *निपुण*—सर्वथा योग्य—होकर यह *कटु गरल* क्यों बरसा रहे हो?" कामदेव वसंत का मित्र प्रसिद्ध है। ऊर्मिला यहाँ 'वसंत' के लिए '*मधु*' शब्द का प्रयोग करती है। 'मधु' में श्लेष है; इसके अर्थ हैं—वसंत और अमृत। '*मधुर अमृत*' का *मित्र* होकर कामदेव *कटु गरल* बरसा रहा है? ऊर्मिला के लिए नहीं तो कम-से-कम मधु के साथ अपनी *मित्रता* के लिए ही उसे विष नहीं बरसाना चाहिए ···· ···

परन्तु कामदेव पर इस अकाट्य तर्क का भी कोई प्रभाव नहीं होता। फलतः ऊर्मिला के शब्दों में भी कुछ अधिक दृढ़ता—कुछ अधिक कठोरता—आ जाती है।

यदि कामदेव ने अपना यह *श्रम*—व्यर्थ प्रयत्न—न छोड़ा तो ऊर्मिला को कुछ समय के लिए *विकलता* तो अवश्य होगी (अपनी स्वाभाविक भावनाओं का दमन करने के लिए कुछ कष्ट तो अवश्य सहना पड़ेगा) परन्तु इसमें उसे तनिक भी सन्देह नहीं कि वह कामदेव को *पराजित* कर ही लेगी। (ऊर्मिला का यह आत्म-विश्वास धन्य है !) तभी तो वह अन्तिम रूप से कुछ कहने अथवा कामदेव के प्रहार का सामना करने से पूर्व उसे एक अवसर और देती है ताकि वह चाहे तो उस निरर्थक परिश्रम से बच कर *अवश्यम्भावी विफलता* से अपनी रक्षा कर ले। आखिर उसने ऊर्मिला को समझा क्या है ? वह ऐसी कोई *भोगिनी* नहीं है जो (समय-असमय अथवा उचित-अनुचित का विचार छोड़ कर) उसके जाल में फँस जाए। यहीं ऊर्मिला का आत्माभिमान जागृत हो जाता है। उसे साधारण भोगिनी समझ कर कामदेव ने उसका अपमान किया है—एक अक्षम्य अपराध किया है अतः सती ऊर्मिला कामदेव को चुनौती दे कर कहती है—

चल हो तो सिन्दूर-विन्दु यह—यह हर-नेत्र निहारो।

कामदेव एक बार पहले शिव के तीसरे नेत्र से भस्म हो चुका है ; यदि फिर से भस्म होने की इच्छा उसके हृदय में जाग उठी है तो वह अपनी झूठी शक्ति की परख करने के लिए ऊर्मिला के माथे पर लगे *सिन्दूर-विन्दु* की ओर नज़र उठावे। उसे पता चल जावेगा कि सती ऊर्मिला का वह सिन्दूर-विन्दु कामदेव के लिए शिव के तीसरे नेत्र की भाँति प्राणघातक सिद्ध होता है या नहीं। यदि *कन्दर्प* को *रूप-दर्प* है तो उसका यह दर्प भी मिथ्या है। लक्ष्मण के रूप के सम्मुख वह तुच्छ है और उसकी पत्नी रति ! उसके *माथे* के लिए तो ऊर्मिला के पास अपनी *चरण-धूलि* ही है। *रति* (यहाँ 'रति' का अर्थ कामदेव की पत्नी के अतिरिक्त 'प्रीति' अथवा दाम्पत्य-प्रेम भी है) को तो वर्षों तक ऊर्मिला के चरणों में बैठ कर *दाम्पत्य-प्रेम* की दीक्षा लेनी होगी !

फूल खिलो आनन्द से ···· ··· ···· ···· दोष देख कर रोष।

फूलों को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "फूल, मैं तुम से सन्तुष्ट हूँ (मैं तुम पर रुष्ट नहीं हूँ); मुझे तो कामदेव को ही दोषपूर्ण देख कर इस पर क्रोध आ रहा है।"

'दोष देख कर रोष' : यदि कामदेव निर्दोष होकर ऊर्मिला के समीप आता तो उसे क्रोध न आता परन्तु वह *सदोष* है—ऊर्मिला को भी अकर्त्तव्य, असंयम के पथ पर ले आना चाहता है, तभी तो ऊर्मिला को उस पर *रोष* है।

आई हूँ सशोक मैं ···· ···· ···· ···· प्रीति पद-जलजात की !

ऊर्मिला कहती है, "अरे अशोक (वृक्ष) मैं आज सशोक (शोकपूर्वक) तेरे तले (तेरी छाया में) आयी हूँ (सशोक ऊर्मिला शोक-निवारण के लिए अशोक के आश्रय में आयी है) । हाय ! क्या तुझे उस बात (अवसर) का ध्यान आता है जब प्रियतम ने कहा था, "प्रिये ! तुम्हारे पैर की चोट से भयभीत होने के कारण यह (अशोक) पहले ही से फूल गया है !" उसी समय अचानक मैंने (प्रियतम की बहिन) देवी शान्ता को लक्ष्य करके तथा जी भर कर हँसी करते हुए कहा था; "हे नाथ, आप भूलते हैं; यदि ननद (शान्ता) इन्हें अपने चरण-कमलों की प्रीति न देतीं तो ये फूल कैसे फूलते (इनके चरण-कमलों के प्रति प्रेम होने के कारण ये फूल फूले हैं मेरे पदाघात से डर कर नहीं) ।

प्रसिद्ध है कि अशोक स्त्रियों के पद-प्रहार से ही फूलता है ।

सूखा है यह मुख यहाँ ···· ···· ···· ···· प्रिय का वकुल-समाज ।

"आज यह (मेरा) मुख (प्रिय के वियोग में) सूखा है और मन रूखा (नीरस) है परन्तु प्रिय का यह मौलसिरी का समूह फूलों से भरा ही रहे (कभी मेरी तरह रूखा अथवा सूखा न हो) ।"

लक्ष्मण की प्रियतमा ऊर्मिला को आज प्रिय की अनुपस्थिति में प्रिय के वकुल-समाज की चिन्ता *अपने से भी अधिक* है !

करूँ बड़ाई फूल की ···· ···· ···· ···· तू ही यहाँ रसाल !

रसाल (आम) के पेड़ को लक्ष्य करके ऊर्मिला कहती है, "मैं सदा तेरे फूल की प्रशंसा करूँ अथवा फल की ? अरे रसाल ! फूलने तथा फलने का गौरव तो वास्तव में तुझे ही मिला है !"

देखूँ मैं तुझको सविलास ···· ···· ···· ···· सहस्रदल सरस, सुवास !

कमल को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे सरस तथा सुगन्धित सहस्रदल, तू खिलता रह और मैं तुझे स-विलास (विलास युक्त) देखा करूँ । अम्बु कुल (जल का कुल) से अधिक निर्मल तथा अतुलनीय (अथवा अतुलित निर्मलता-सम्पन्न) वंश भला और कौन सा है ? (कोई नहीं है) हे अम्बुज (जल से उत्पन्न होने के कारण—अम्बु-कुल के साथ कमल के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करने के लिए ही यहाँ कमल के पर्यायवाची 'अम्बुज' शब्द का प्रयोग किया गया है) तू उसी कुल की सन्तान है अतः तू धन्य है, धन्य है,

वास्तव में धन्य है। हे सरोवर (तालाब) के वैभव (विभूति, ऐश्वर्य) के विकास (साकार स्वरूप) (कमल) तू धन्य है अतः हे सरस तथा सुगन्धित सहस्र दल, तू सदा खिलता रह।

"क्या कभी फूल के साथ फल अथवा फलों के साथ फूल लगते हैं? (वृक्ष पर फल फूलों का स्थान ले लेते हैं अथवा फूल फलों में अपना अस्तित्व मिला देते हैं) परन्तु तू ही एक मात्र ऐसा फूल है जिसका फल (कमल-गट्टा) उसके साथ ही रहता है (कमल के फूल के स्थान पर फल नहीं आता, फूल के साथ ही फल लगता है)। अरे मधु (मकरंद) के अनोखे भंडार तथा सरस और सुगंधित सहस्रदल, तू सदा खिलता रह।

"तेरे उपमेय तो अनेक हैं परन्तु उपमान तू अकेला ही है क्योंकि वास्तव में रूप (सौन्दर्य), रंग-गुण तथा गंध सबमें तू ही सब (फूलों) से श्रेष्ठ और उल्लेखनीय है (तेरी प्रशंसा के गीत सर्वत्र गाये जाते हैं) हे उनके (लक्ष्मण के) अंगों के आभास (झलक अथवा स्मरण कराने वाले) तथा सरस और सुगंधित सहस्रदल, तू सदा खिलता रह।

"हे कमल, तू सौंदर्य का हाथ है, रति का उठा हुआ मुख है, तू क्रीड़ा का नेत्र है और प्रभु का चरण है। तू लहरों के साथ (लहरों में) रास रचा कर; हे सरस तथा सुगंधित सहस्रदल, तू सदा खिलता रह।

"हे पद्म, तू सहज (स्वाभाविक अथवा नैसर्गिक) तथा सजल (आबदार-कांतियुक्त) सौंदर्य का जीवन-धन है तथा आर्य जाति के जगत् की लक्ष्मी का शुभ वासस्थान है। क्या यह विश्वास सत्य है? हे सरस तथा सुगन्धित सहस्रदल, तू खिलता रह।

"जल (लहरों) के जाल में ग्रस्त (फँसा) होकर भी हे अरविंद, तू उससे अलिप्त ही है फिर (तेरी इस विशेषता के कारण) तुझ पर कवियों के मन रूपी भौंरे क्यों न गूँजें (कवि हृदय से तेरी प्रशंसा क्यों न करें)? दानी की दासता कौन स्वीकार न करेगा? (दानी का महत्व सब ही को स्वीकार करना पड़ता है।) हे सरस तथा सुगंधित सहस्रदल, तू सदा खिलता रह।

"दिनकर (सूर्य अथवा प्रातःकालीन किरण) स्वयं (तेरे पास) आकर तेरे द्वार खोलता है; तू स्वयं पापरहित रह कर सब के कष्ट दूर करता रह। हे मेरे मानस (मन तथा मानसरोवर) के हास (उल्लास) (कमल तालाब के

हास जैसे जान पड़ते हैं) तथा सरस और सुगंधित सहस्रदल, तू सदा खिलता रह।"

'सरोवर-विभव-विकास' : खिले हुए कमल सरोवर के ऐश्वर्य के प्रतीक जान पड़ते हैं।

'एकमात्र उपमान तू, हैं अनेक उपमेय': कमल कवियों द्वारा हाथ, मुख, नेत्र, तथा चरण आदि अनेक उपमेयों के लिए उपमान के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। उदाहरणार्थ :

श्री रामचन्द्र कृपालु भज मन हरण भव भय दारुणम्।
नव कंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुणम्॥*

'ओ उन अंगों के आभास': कमल के गुणों का बखान करते-करते ऊर्मिला को लक्ष्मण के कमल-तुल्य अंग-उपांगों का स्मरण हो आता है परन्तु तभी ऊर्मिला को अनुभव होता है कि लक्ष्मण के अंग-प्रत्यंग कमल से—रूप-रंग, गुण-गंध में गुरुतम गेय सहस्रदल से—कहीं अधिक सुन्दर हैं ; अतुल अम्बु-कुल का जन्य अम्बुज तो उन अँगों का *आभास*—झलक—छाया मात्र है !

'तू सुषमा का कर कमल' : हाथों की तुलना कमल के साथ की जाती है :

क्यों न अब मैं मत्त-गज सा झूम लूँ,
कर - कमल लाओ तुम्हारा चूम लूँ ?†

'रति-मुखाब्ज उद्ग्रीव': कमल का प्रयोग मुख के उपमान के रूप में भी किया जाता है :

सुन्दर बदन चारु अरु लोचन,
काजर - रंजित भेला।
कनक-कमल माझ काल-भुजंगिनि
स्रीयुत खंजन खेला॥‡

'तू लीला-लोचन नलिन': कमल नेत्रों का भी उपमान माना जाता है :

दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल।$

---

* गोस्वामी तुलसीदास।
† साकेत, सर्ग १।
‡ विद्यापति पदावली, सं० बेनीपुरी, पृष्ठ २४।
$ कामायनी, इड़ा सर्ग।

'प्रभु-पद राजीव': चरणों के उपमान के रूप में कमल का प्रयोग इतना लोकप्रिय हो गया है कि 'चरण-कमल' एक मुहावरा-सा बन गया है :

*चरणकमल वन्दौं हरि राई।**

'लक्ष्मी का शुभसद्म': लक्ष्मी का वास कमल में माना जाता है। इसीलिए लक्ष्मी को *पद्मालया* भी कहते हैं।

'तेरे पद हैं खोलता आकर दिनकर आप' : सूर्योदय होने पर ही कमल खिलते हैं।

पैठी है तू षट्पदी ···· ··· ···· ··· बैठी मैं गति हीन।

भ्रमरी को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "हे षट्पदी (भ्रमरी)! तूने (छः पैर वाली हो कर भी) अपने कमल के अन्तरतम में प्रवेश कर लिया है परंतु इधर मैं सप्तपदी देकर भी गतिहीन बैठी हूँ!"

षट्पदी और *सप्तपदी* का प्रयोग साभिप्राय है। 'षट्पदी' का शाब्दिक अर्थ है, छः पैर-वाली, और यह भ्रमरी का पर्यायवाची शब्द है। 'सप्तपदी' विवाह की एक रीति होती है जिसमें वर और वधू गठ बन्धन करके अग्नि के सांनिध्य में सात पद (कदम) चलते हैं जिससे विवाह पक्का हो जाता है। "ऊर्मिला के कहने का तात्पर्य यह है कि भ्रमरी तो षट्पदी हो कर ही अपने प्रिय कमल के साथ संयोग-सुख अनुभव करती है; किन्तु सप्तपदी देकर भी मैं आज अपने प्रियतम के पास नहीं पहुँच पाती! *षट्पदी* तो उड़ कर-अपने प्रियतम के पास पहुँच जाय और *सप्तपदी* देने वाली यों ही गतिहीन बैठी रहे, इसे दैव-दुर्विपाक के अतिरिक्त और क्या कहा जाय?"†

"इस उक्ति में विशेषोक्ति का चमत्कार श्लेष पर अवलम्बित है। उधर सप्तपदी देकर भी गति-हीन बैठने में विशेषोक्ति फिर दोहरा दी गई है।"‡

बिखर कली झड़ती है ··· ··· ···· ···· कुछ रह गया, यही रोना!

ऊर्मिला कहती है, "कली बिखर कर (प्रस्फुटित हो कर) झड़ जाती है परंतु उसने संकुचित होना (संकोच करना) कब सीखा है (भाव यही है कि कली प्रस्फुटित हो कर निस्संकोच झड़ जाती है) मैंने संकोच किया इसी लिए मेरे मन में (भीतर) कुछ (अपूर्णता अथवा अतृप्ति का भाव) शेष रह गया। इसी कारण अब यह समस्त रोना (दुःख) है!"

* सूरदास जी।

† साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृष्ठ ६८।

‡ साकेत एक अध्ययन, पृष्ठ १६४।

कलिका प्रस्फुटित होकर—*निस्संकोच अपने हृदय की पूर्णतः अभिव्यक्ति करके*—झड़ जाती है, अपना अस्तित्व सहर्ष मिटा देती है, हँसते-हँसते धूल में मिल जाती है। इसके विपरीत प्रियतम के वन-गमन के समय ऊर्मिला ने *संकोच* किया, लज्जा का पल्ला पकड़ा अतः वह हृदय की बात न कह सकी। तभी तो उस समय—

निज चिर गति भी चुन सकी न मैं।

वही संकोच आज ऊर्मिला के हृदय को विदीर्ण किये डाल रहा है।

अरी, गूँजती मधुमक्खी ··· ··· ···· ··· अरी, गूँजती मधुमक्खी।

मधुमक्खी को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "अरी गूँजती हुई मधुमक्खी, यह तो बता कि तूने रस की यह मटकी किसके लिए रक्खी है (तूने अपने छत्ते में किसके लिए शहद इकट्ठा किया है)? भाग्य किसका संचय सहेगा? (भाव यही है कि भाग्य किसी का भी संचय सहन नहीं करता।) अस्तु, काल अपनी घात लगाए रहेगा और हे गूँजती हुई मधुमक्खी! व्याध (शहद निकालने वाली जंगली जाति के लोग) तुझे बताए बिना ही तेरा यह लाखों का घर लूट लेगा।

"तुम इस लूट को त्याग का रंग न देना (क्योंकि तुम स्वेच्छापूर्वक वह त्याग नहीं करोगी), हाँ, जो अपनी मेहनत का फल है वह अवश्य लेना और, हे मधुमक्खी, उस पुष्प का जय-जयकार अवश्य करना (उसकी कृतज्ञता अवश्य स्वीकार करना) जहाँ तुमने अमृत-तुल्य मकरन्द का रसास्वादन किया है।"

स्वयं ऊर्मिला की दशा उस मधुमक्खी से भिन्न नहीं जिसका *वर्षों का संचय* भाग्य ने *अकस्मात्*—बात भी कहे बिना—*लूट* लिया है। भाग्य के क्रूर प्रहार से बुरी तरह आहत हो कर भी ऊर्मिला आज उस *कुसुम* (लक्ष्मण) का *जयजयकार* ही कर रही है जहाँ उसने *सुधा-सी चक्खी*!

सखि मैं, भव-कानन में ··· ···· ··· ··· गया वह छोड़ छली?

ऊर्मिला कहती है, "हे सखी, मैं इस संसार रूपी वन में इस (वन) की ऐसी (वह) कली बन कर आयी थी जिसके खिलते-खिलते (पूर्णतः विकसित होने से पूर्व) ही प्रेमी स्वर्ण-भ्रमर उसके पास आ पहुँचा। हे सखी, जब तक मैंने मुसकाकर उसका स्वागत किया तभी न जाने कौनसी (बाधक) हवा चलने लगी और (उसी हवा के कारण) वह छली (भ्रमर) गूँजकर यह कहता

हुआ मुझे छोड़ कर कहीं चला गया कि "मेरी प्रतीक्षा में ही जीती रहो ?"

ऊर्मिला ने एक कली की भाँति इस विश्व कानन में प्रवेश किया था :

वर - देव अवश्य हैं, बढ़ें,
*अपनी ये कलियाँ जिन्हें चढ़ें ॥**

यौवन के प्रांगण में पदार्पण करते-करते उसका विवाह हो गया :

झलकता आता अभी तारुण्य है,
आ गुराई से मिला आरुण्य है।†

× × ×

'मत रो'—कह आप रो उठीं,
तुम क्यों माँ, यह धैर्य खो उठीं ?
'यह मैं जानती प्रपीड़िता,
पर तू है शिशु आप क्रीड़िता !'‡

अस्तु, कली के *खिलते-खिलते* ही उससे मिलने के लिए *स्वर्ण-भ्रमर स्वयं उड़ कर* वहाँ जा पहुँचा (कहने की आवश्यकता नहीं कि 'उड़ आ पहुँचा' विश्वामित्र जी के साथ राम-लक्ष्मण के अकस्मात् मिथिला जा पहुँचने का कितना मनोरम प्रकाशन करता है !) ऊर्मिला ने लक्ष्मण को *हेम-अली* कहा है। अली अथवा भ्रमर कलिका के प्रति प्रेम का प्रतीक है परन्तु *गोरे* लक्ष्मण की समानता *काले* भ्रमर से कैसे की जाती ? इसी लिए *अली* के साथ विशेषण के रूप में *हेम* शब्द जोड़ दिया गया है। इसी पंक्ति का '*हिल*' शब्द लक्ष्मण तथा ऊर्मिला के *पूर्व राग* का द्योतक है।

कलिका ने मुसकाकर हेम-अली का स्वागत किया परन्तु तभी —

विमाता बन गई आंधी भयावह।$

और वह *आँधी* भ्रमर को कली से बहुत दूर ले गयी। जाते-जाते वह कली को इतना ही सन्देश दे सका कि '*पथ देख जियो*', कि :

* साकेत, सर्ग १०।
† वही, सर्ग १।
‡ वही, सर्ग १०।
$ वही, सर्ग ३।

रहो, रहो, हे प्रिये ! रहो।
यह भी मेरे लिए सहो,
*और अधिक क्या कहूँ, कहो ?**

छोड़, छोड़, फूल मत तोड़ ··· ···· गौरव के संग चढ़ने के लिये जाये हैं।

सखी फूल तोड़ना चाहती है। ऊर्मिला उसे रोक कर कहती है, "इन्हें छोड़ दे, छोड़ दे, हे सखी, ये फूल न तोड़, देख तो सही मेरा हाथ लगते ही ये कैसे (कितने) कुम्हला गये हैं ? हमारे इस क्षणिक (पल भर के) विनोद में इन फूलों का कितना विनाश (सर्वनाश) निहित है (इसी सर्वनाश की कल्पना के कारण ही) दुःखिनी लता के लाल (पुत्र—फूल) (ओस की बूंदों के रूप में) आँसुओं से भरे हैं··· ···परंतु नहीं, तू वे सब फूल सहर्ष चुन ले जो अपने रूप गुण अथवा गंध के कारण तेरे मन को भा रहे हैं क्योंकि बेल ने अपने ये पुत्र (सूख कर) झड़ने के लिए नहीं उत्पन्न किये हैं, उसने तो गौरवपूर्वक (पूज्य चरणों पर) चढ़ने के लिए ही उन्हें जन्म दिया है।"

सखी को फूल तोड़ते देख कर ऊर्मिला के हृदय में उनके प्रति दया का अनन्त सागर उमड़ पड़ता है। अपने *पल भर के* विनोद के लिए फूलों का इस प्रकार *विनाश* कैसे होने दिया जाए ? ओस के रूप में आँसू बहाते फूल मानो उसी विनाश से बचने के लिए कातर होकर विनय कर रहे हैं परन्तु दूसरे ही क्षण ऊर्मिला के हृदय में एक अन्य भाव का उदय होता है :

जाये नहीं लाल लतिका ने झड़ने के लिए,
गौरव के संग चढ़ने के लिए जाये हैं।

और वह सखी से कहती है कि वह सहर्ष रूप, गुण, गन्ध के कारण मन को भाने वाले फूल तोड़ सकती है ताकि उन्हें *गौरव संग चढ़ने* का वाँछित अवसर प्राप्त हो सके। ····स्वयं ऊर्मिला के माता पिता भी तो यही चाहते थे :

अपनी ये कलियाँ जिन्हें चढ़ें।

परन्तु

सखि, आशांकुर मेरे इस मिट्टी में पनप नहीं पाये,
फल कामना न थी, चढ़ा सकी फूल भी न मन भाये।†

* साकेत, सर्ग ४।
† साकेत, सर्ग ६।

कैसी हिलती-डुलती अभिलाषा है ···· ··· ···· भली मुझे मिलने की।

उर्मिला कहती है, "हे कली तेरे हृदय में खिलने की कैसी (वैसी ही) हिलती डुलती (सक्रिय) अभिलाषा है जैसी (जिससे मिलती जुलती) तथा भली पूर्ण आशा मुझे (प्रियतम से) मिलने की है!"

कली *हिल-डुल* कर अपनी *खिलने* की उत्कंठा अभिव्यक्त कर रही है। ऊर्मिला भी अपने पति से *मिलने* के लिये उतावली हो रही है। ऊर्मिला को पूर्ण आशा है (उसकी यह आशा *उच्च* तथा *भली* भी है) कि प्रियतम के साथ उसका मिलन अवश्य हो सकेगा। कली का उद्देश्य है खिलना, ऊर्मिला का उद्देश्य है प्रियतम से मिलना। उद्देश्य भिन्न होकर भी दोनों के प्रयत्न समान ही हैं।

इस अवतरण में क्रमशः 'कैसी' और 'जैसी', 'हिलती' और 'मिलती', 'डुलती' और 'जुलती', 'अभिलाषा' और 'उच्चाशा', 'है कली' और 'है भली' 'तुझे' और 'मुझे' तथा 'खिलने की' और 'मिलने की' की आन्तरिक तुक द्रष्टव्य है। तुक का इतना सफल प्रयोग गुप्त जी की अनुपम विशेषता है।

मान छोड़ दे ···· ··· ···· ··· यदि है भीतर धूलि भरी!

ऊर्मिला कली से कहती है, "अरी, मेरी बात मान ले और मान छोड़ दे। भौंरा आया है, प्रसन्नतापूर्वक उसका स्वागत कर, यह अवसर फिर कहाँ से आवेगा? पवन के झोंकों में पड़ कर सिर न हिला (नकारात्मक भाव प्रकट न कर—सिर हिलाना = मना करना) तू अपनी सहृदयता सदा हरी बनाए रख (सदा सहृदय बनी रह, कठोरता अथवा अनावश्यक मान का आश्रय न ले) यदि तेरे भीतर धूलि ('धूलि' श्लिष्ट शब्द है अर्थ हैं— पुष्प-पराग और धूल। कलिका के भीतर पराग भरा है; धूलि के दूसरे अर्थ धूल को आधार बना कर उर्मिला कहती है कि यदि तुझमें धूल मिट्टी) भी भरी है (कुछ दोष भी है) तब उसे भी अपने प्रियतम से न छिपा, (उनके सम्मुख अपने दोष स्पष्ट कर देना उचित है, दोष छिपाना अनुचित)।

संकोच (अथवा परिस्थितियों) के कारण ऊर्मिला हाथ में आया अवसर-अपने जीवन की चढ़ती बेला—खो चुकी है, वह यह नहीं चाहती कि कलिका *मान* के कारण उपर्युक्त अवसर हाथ से निकल जाने दे। और यदि कलिका अपने किसी अभाव, अपनी किसी न्यूनता के कारण अपने भ्रमर का समुचित स्वागत करने में सकुचा रही है तो यह तो और भी बुरी बात है। प्रियतम से तो अपनी *कमियां*, अपनी कमज़ोरियाँ छिपाना अनुचित है, उर्मिला के ही शब्दों में—

नहीं, नहीं, प्राणेश मुझी से छले न जावें,
*जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें।**

भिन्न भी भाव-भंगी में ... ... आमोदप्रद है सदा।

"रूप-सम्पदा भिन्न भाव-भंगी में भी भली ही लगती है (रूप-सम्पन्न द्वारा की गयी सामान्यतया अप्रिय चेष्टाएं भी मोहक ही जान पड़ती हैं) जिस प्रकार फूल धूल (पुष्प-पराग) उड़ा कर भी सदा प्रसन्नता का ही कारण बनता है (आनन्द ही देता है)।"

यहाँ 'धूल' तथा 'आमोद' शब्दों में श्लेष है, 'धूल' के अर्थ हैं धूल (मिट्टी) और पुष्प पराग तथा 'आमोद' के अर्थ हैं प्रसन्नता तथा सुगन्ध।

'भिन्न भी भाव भंगी में भाती है रूप-सम्पदा' : उर्दू के एक कवि ने लगभग इसी भाव की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है :

एक से हैं एक बढ़ कर सब अदायें आप की,
जान लेती है मगर तेवर चढ़ाने की अदा।

फूल, रूप-गुण में कहीं ... ... अपना आसन छोड़।

उर्मिला कहती है, "हे फूल, रूप-गुण में तो तेरा कोई जोड़ नहीं मिला (तू अनुपम ही है) परन्तु फिर भी फल के लिए तुझे अपना आसन छोड़ना ही होगा (फल का महत्व स्वीकार करना ही होगा)।"

रूप-*गुण* में तो फूल का मुकाबला कोई नहीं कर सकता परन्तु सौन्दर्य के साथ उपयोगिता—*सुन्दर* के साथ *शिव*—का भी तो संयोग आवश्यक है। इस दृष्टि से फल का महत्व फूल से बहुत बढ़ जाता है। वैसे फल के लिए फूल को अपना *आसन* छोड़ना भी पड़ता है। फूल अपने को फल में विलीन कर लेता है। यह प्रकृति का अटल नियम है। हमारा कवि अन्यत्र इस नियम—तथा इसके एक मात्र अपवाद (कमल)—का उल्लेख कर चुका है :

कब फूलों के साथ फल. फूल फलों के साथ?
तू ही ऐसा फूल है फल है जिसके हाथ।†

सखि, बिखर गई हैं कलियां .... जो थी रंगस्थलियाँ।

"हे सखी, कलियाँ बिखर गयी हैं। झुकामुकी (प्रातः काल अथवा सन्ध्या का वह सन्धि-काल जिस समय अन्धकार के कारण किसी व्यक्ति या पदार्थ को पहचानने में कठिनाई हो। देश के कुछ भागों में 'झुकामुकी'

* साकेत, सर्ग १२।
† साकेत, सर्ग ९।

के लिए 'झुटपुटा' का प्रयोग किया जाता है) में इन कलियों के साथ रंगरलियाँ करके इनका प्रिय (भ्रमर) कहाँ चला गया ? इनकी गलियाँ अब क्या फिर पवन को भुला सकेंगी ? (क्या पवन कभी फिर उपवन की इन गलियों की ओर आकृष्ट होगा) ? अस्तु, अब तो यदि ये अपनी उन्हीं रंगस्थलियों में ही समा (मुरझा) भी सकें तो इनके लिए यही पर्याप्त है।"

ऊर्मिला के जीवन की *झुकामुकी—वयः सन्धि* — में लक्ष्मण ने प्रवेश किया। कुछ क्षण *रंगरलियों* में बीत गये परन्तु वे गलियां चंचल पवन को बहुत समय तक भुलावे में न डाल सकीं। पवन चला गया; ऊर्मिला की जीवन-वाटिका की कलियाँ बिखर गयीं। अब तो उसकी एक-मात्र कामना यही है कि अपनी उसी *रंगस्थली*, मधुर तथा कोमल स्मृतियों से भरी उसी क्रीड़ास्थली में उसके *प्राण*—उसका जीवन—समा जाएं; वह सदा-सदा के लिए उन्हीं में *विलीन* हो जाए।

कह कथा अपनी इस घ्राण से ... ... सब त्राण से।

उर्मिला कहती है, "हे सखी, नाक से अपनी कथा कह कर (सुगन्ध का अनुभव नाक से ही किया जाता है) फूलों की मधुमय सुगन्ध प्राणों की भाँति चली गयी। हे सखी, हमें तुम्हें (सबको) वृक्षों के फल तो अवश्य प्राप्त होते रहें परन्तु बीजों की रक्षा अवश्य होनी चाहिए (ताकि वृक्षों की वंश-वृद्धि में बाधा न पड़े)।"

उठती है उर में हाय ! हूक .... यह कौन कूक ?

कोयल को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "अरी कोयल, यह तो बता कि तेरी यह कैसी कूक है (जिसे सुन कर) हृदय में एक हूक-सी उठ रही है ? कितनी अधिक करुणा, दारुणता तथा गम्भीरता है तेरी इस कूक में ? यह तो आकाश का हृदय चीरती हुई आ रही है ! तेरे स्वर (लय) की एक लूक (लपट) लगते ही दो-दो नेत्रों से जल बहने लगता है। अरी कोयल बता तो सही, तेरी यह कैसी कूक है ?

"संसार (वासियों) के कुटिल कान तेरे (करुण) क्रन्दन तक में सु-गान (श्रेष्ठ अथवा मधुर संगीत) ही सुनते हैं। हम चतुर (व्यवहार निपुण—expert) ऐसा महान् रस लेने में भला किस प्रकार भूल कर सकते हैं ? अरी कोयल, यह तो बता कि तेरी यह कैसी कूक है ?

"अरी कोयल, फिर भी वसन्त आवेगा ही, ठीक उसी प्रकार जैसे (निश्चित रूप से) यथासमय मेरे प्रिय पति आवेंगे। दुःखों का भी कभी न

कभी अन्त होता ही है अतः खोटे दिन देख कर चुप हो कर (धैर्य धारण करके) बैठ रहना चाहिए। अरी कोयल, यह तो बता, तेरी यह कैसी कूक है ?"

उठती है उर में हाय ! हूक, ओ कोइल, कह यह कौन कूक ? : ऊर्मिला ने अन्यत्र भी तो कहा है :

वह कोइल, जो कूक रही थी,
आज हूक भरती है।

होते हैं दो-दो दृग सनीर, लगती है लय की एक लूक : यहां लूक (ज्वाला) लगने और सनीर होने का 'विरोध' द्रष्टव्य है।

हम चतुर करें किस भाँति चूक ! : ऊर्मिला के इन शब्दों में व्यंग्य की ही प्रधानता है : *'चतुर' (?) संसारी भला दूसरों के क्रन्दन में रस क्यों न लें ? वे ऐसे* अवसरों पर भला कैसे चूक सकते हैं ?

री, आवेगा फिर भी वसंत :

एहि आसा अटक्यौ रहै, अलि गुलाब के मूल ।
*ऐहैं बहुरि बसन्त ऋतु, इन डारन वे फूल ॥**

हो रहिये दुर्दिन देख मूक :

रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन को फेर ।
जब नीके दिन आइ हैं, बनत न लगि है देर ॥†

अरे एक मन ... ... भरम खो दिया, रो दिया !

"अरे एक मात्र मन, तुझे तो मैंने (जैसे तैसे) रोक थाम लिया (अपनी बात प्रकट न करने दिया) परन्तु दुःख की बात है कि मेरे दो नेत्रों ने रोकर सब (मन का) रहस्य खोल दिया।"

ऊर्मिला लक्ष्मण के प्रति अपने प्रेम को अथवा उनके वियोग के कारण होने वाले दुःख को संसार के सामने प्रकट नहीं होने देना चाहती थी। मन एक था उसे तो उसने जैसे-तैसे समझा लिया परन्तु दो नेत्रों को वह अपने वश में न रख सकी और उन्होंने रोकर सब भंडाफोड़ कर दिया। दो की अपेक्षा एक को समझाना अपेक्षाकृत सरल भी होता है।

* बिहारीलाल।

† अब्दुर्रहीम खानखाना।

हे मानस के मोती ···· ···· ···· ··· पथ में है कौन जो तुम्हें पहचाने ?

अपने आँसुओं को सम्बोधित करके उर्मिला कहती है, "हे मेरे मानस (मन तथा मानसरोवर) के मोतियो, तुम बिना कुछ जाने (कुछ सोचे-समझे बिना ही) ढलक कर कहाँ (किस ओर) चल पड़े ? प्रियतम तो दूर वन में हैं; मार्ग में ऐसा कौन व्यक्ति है (अर्थात ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है) जो तुम्हें पहचान सके (तुम्हारा उपयुक्त मूल्यांकन कर सके) !

न जा अधीर धूल मे ··· ··· ··· दृगम्बु, आ, दुकूल में ।

"अरे (मेरी आँखों के) आँसू, तू विकल होकर इस प्रकार धूल में न गिर, आ मेरे अंचल में आ जा । चाहे हम दोनों (उर्मिला और लता) के मूल में (तत्व के रूप में) एक ही पानी रहे (लता पानी से सींची जाती है, उर्मिला के शरीर में भी जल-तत्व विद्यमान है परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि) मेरे (हृदयस्थित) भाव आँसुओं के रूप में अभिव्यक्त होते हैं और लता के फूलों के रूप में । नेत्र-बिंदु, आ मेरे अंचल में आ जा ।

"फूल तथा आँसू दोनों ही हृदय की हूल (मनोवेग) से उत्पन्न होते हैं (लता के हृदय की हूल फूलों का रूप धारण करती है और मानव के हृदय की हूल आँसुओं का) परंतु क्या विरह के शूल की नोक फूलों को धागे द्वारा एक-दूसरे के साथ पिरो देने वाली सुई से कम है (भाव यही है कि जिस प्रकार सुई धागे द्वारा फूलों को परस्पर मिला देती है, उसी प्रकार विरह के इस काँटे की नोक द्वारा आँसू भी तो लड़ियों के रूप में गूँथे जा सकते हैं ।) अरे आँखों से बहते बिन्दु, आ, मेरे अंचल में आ जा ।

हँसने में मधु (मधुरता) है और रोने में लवण (खारीपन) (आँसू खारी होते हैं) इस संबंध में किसी को कोई भ्रम न हो परन्तु वास्तविक आनन्द या तो बीच मँझधार में है या किनारे पर । अरे नेत्रों के जल, आ, मेरे अंचल में आ जा ।"

मिलन-सूत्र-सूची से कम क्या अनी विरह के शूल में : धागे के माध्यम से सुई दो फूलों को एक साथ गूँथ देती है । ऊर्मिला का प्रस्तुत *विरह-शूल* उस सुई का काम कर रहा है और *अवधि* उस *धागे* का । विरह के इस शूल (सूची) में से निकल कर तथा सूत्र (अवधि) को पार करके ही तो ऊर्मिला की हृदय-कलिका लक्ष्मण के हृदय सुमन के समीप तक पहुँच पावेगी ।

मौज किंतु मंझधार बीच है किंवा है वह कूल में : मधु अथवा लवण—

हास अथवा रुदन—की आवश्यकता से अधिक मात्रा में सुख अथवा मौज नहीं : वास्तविक मौज, जीवन का सच्चा आनन्द या तो *मंझधार*-मध्यवर्ती मार्ग—'मज्झम निकाय'—'मध्यमा प्रतिपदा'—में ही है क्योंकि

जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ।

अथवा तटस्थ रहने में क्योंकि—

Cnlookers see most of the game.

(खेल का अधिकतम आनन्द दर्शकों को ही प्राप्त होता है।)

नयनों को रोने दे ··· ··· ··· ··· गये नहीं वे कहीं, यहीं बैठे हैं।

उर्मिला कहती है, "अरे मन, नेत्रों को रोने दे परन्तु तू संकीर्ण न बन क्योंकि तुझमें प्रियतम बसे हुए हैं। वे आँखों से ओझल भले ही हों परन्तु कहीं गये नहीं हैं, यहीं (मन में ही) प्रविष्ट हैं।"

प्रियतम *आंखों से ओझल*—दूर—हैं अतः नेत्रों का रोना उचित है, उन्हें लक्ष्मण के दर्शन जो नहीं होते! परन्तु मन तो आँखों की देखा-देखी दुखी हो रहा है। पगला यह भी भूल गया कि प्रियतम कहीं गये नहीं हैं वहीं (मन में ही) प्रविष्ट हो गये हैं (*नेत्रों के सामने* से हट कर *हृदय में* उतर आये हैं) अतः मन तो व्यर्थ ही दुखी होकर अपनी *संकीर्णता*—अपनी अदूरदर्शिता—ही प्रकट कर रहा है।

आँख, बता दे तू ही ···· ··· ···· ···· या तू भर अश्रु-बिन्दु ढोती है?

उर्मिला अपने नेत्रों से पूछती है, "अरी आँख, तू स्वयं ही यह बात बता दे कि तू वास्तव में हँस रही है अथवा रो रही है? (ये आँसू) वास्तव में (हँसी के कारण दिखाई देने वाले) तेरे दाँत और (लाल आँखें) तेरे लाल होंठ हैं अथवा तू इस प्रकार (रोने के कारण लाल आँखों में शोक के प्रतीक) आँसुओं को भर कर उनका भार ढो रही है?"

आँसू अत्यधिक दुख के समय भी निकल आते हैं और हर्षातिरेक के कारण भी।

बने रहो मेरे नयन ···· ···· ···· ··· अपना क्रीड़ा-मीन।

ऊर्मिला कहती है, "अरे मेरे नेत्रो, तुम सदा (मेरे मन रूपी) मानसरोवर (आँसुओं) में लीन बने (डूबे) रहो क्योंकि प्रियतम ने तुम्हें अपना क्रीड़ा-मीन माना है (नेत्रों के उपमान के रूप में 'मीन' का प्रयोग होता है)।

लक्ष्मण ने ऊर्मिला के नेत्रों को अपना *क्रीड़ा-मीन* माना है। ऊर्मिला के नेत्र लक्ष्मण के लिए मनोविनोद के साधन रहे हैं, उन्हें प्रसन्नता प्रदान करते रहे हैं। अतः अपने लिए नहीं तो लक्ष्मण के लिए तो उनकी रक्षा करनी ही होगी। परन्तु मछली तो जल के बिना जीवित नहीं रह सकती। ऊर्मिला आँसुओं के रूप में अपने *मानस का जल* प्रस्तुत करती है उन *क्रीड़ा-मीन* की रक्षा के लिए।

सखे, जाओ तुम हँस कर भूल ··· ···· ···· हमारे रोने में मोती !

अपने प्रिय को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है, "तुम हँस कर (भले ही) भूल जाओ परन्तु मैं (तुम्हारी उस मादक मुसकान का) स्मरण करके रोती रहूँ। (लेकिन मेरे रुदन का मूल्य भी तुम्हारे हास्य से कम नहीं है) तुम्हारे हँसने में यदि फूल हैं (तुम्हारा हास्य यदि फूलों के विकास के समान है) तो हमारे रुदन में मोती हैं (मेरे आँसू मोतियों के समान हैं)।

"मैं (यह) मानती (स्वीकार करती) हूँ कि तुम (तुम्हीं) मेरे (एकमात्र) साध्य (जिसकी साधना की जाए) हो और दिन-रात तुम्हीं मेरे आराध्य हो (रात दिन मैं तुम्हारी ही आराधना किया करती हूँ परन्तु मैं भी जागृत तथा सुप्त अवस्था में निरन्तर तुम्हारी ही साधिका हूँ। तुम्हारी हँसी में फूल हैं तो मेरे रोने में मोती !

"तुम्हारा सहज त्याग सफल हो परन्तु मेरा प्रेम भी व्यर्थ अथवा निष्फल नहीं है। मेरे लिए तो साधना का यह (मेरा) भाग ही स्वयं सिद्धि के समान है। यदि अमृत की भूख (इच्छा अथवा आवश्यकता) न होती तो उसका मूल्य (महत्त्व) ही क्या रहता ? (वास्तव में सुधा के प्रति लोगों की तीव्र उत्कण्ठा अपरिमित क्षुधा—ही उसके मूल्य अथवा महत्व का मूल कारण है)। तुम्हारे हास्य में फूल (झड़ते) हैं, मेरे रोने (आँसुओं) में मोती !

"समय की गति भले ही न रुके (समय की गतिशीलता के कारण विरह की अवधि प्रतिपल कम होती जाती है) परन्तु फिर भी विरह का समय (अवधि) मिलन से बड़ा है (अथवा वियोग का महत्त्व संयोग से भी अधिक है)। वहाँ (संयोग में) केवल लय है (तादात्म्य है) परन्तु विरह में तो लय से कहीं अधिक विशाल प्रलय (का अन्तर्भाव) है (और फिर आँसू बहा कर तो) मैं तुम्हारे दर्शन करने के लिए अपनी दृष्टि (नेत्रों) को धो रही (पवित्र कर रही) हूँ ! तुम्हारे हास्य में यदि फूल हैं तो हमारे रुदन में मोती !"

भ्रातृभक्त लक्ष्मण हृदय पर पत्थर रखकर—हँस कर—भले ही ऊर्मिला को

भुला दें परन्तु पतिप्राणा ऊर्मिला ऐसा कैसे कर सकती है ? यह सत्य है कि लक्ष्मण ऊर्मिला के साध्य हैं, अहर्निशि उसके एकमात्र आराध्य हैं परन्तु इससे भी अधिक सत्य यह है कि जागते हुए भी और सोते हुए भी, ऊर्मिला उनकी *अबाध्य साधिका* है :

भूल अवधि - सुध प्रिय से
कहती जगती हुई कभी–'आओ !'
किन्तु कभी सोती तो
उठती वह चौंक बोल कर—'जाओ !'

लक्ष्मण का त्याग *सहज* है, स्वाभाविक भ्रातृप्रेम-जन्य है । ऊर्मिला हृदय से उसकी *सफलता* चाहती है परन्तु स्वयं उसका *अनुराग* भी *निष्फल* नहीं ; *क्षुधा* के बिना *सुधा* का क्या मूल्य ? ऊर्मिला के *अनुराग* के अभाव में लक्ष्मण के सहज *त्याग* का क्या महत्व रह जाता ?

एक बात और भी है । संयोग की अपेक्षा विरह अधिक बड़ा है । तभी तो विरह को '*प्रेम का तप्त स्वर्ण*' कहा जाता है । संयोग में यदि *लय* है तो वियोग में *सुविशाल प्रलय* ।

काव्याचार्यों ने '*प्रलय*' की गणना सात्विक अनुभावों में की है—"सुख अथवा दुःख के कारण चेष्टा और ज्ञान के नष्ट होजाने का नाम 'प्रलय' है ।" —साहित्यदर्पण ।

अर्थ, तुझे भी हो रही .... और नहीं निर्वाह ?

ऊर्मिला के मन का भाव शब्दों के रूप में अभिव्यक्त हो जाना चाहता है । इस पर ऊर्मिला कहती है, "अरे अर्थ (भाव) तुझे भी पद (शब्द) को प्राप्त करने की इच्छा हो रही है ('शब्दों' द्वारा अभिव्यक्त होना चाहता है) ? क्या इस जलते हुए (विरह-दग्ध) हृदय में अब तू और अधिक समय तक नहीं रह सकता ? (क्या अब तू इस जलते हृदय में निर्वाह करना असम्भव समझने लगा है जो बाहर निकलकर शब्दों के रूप में प्रकट हो जाना चाहता है !)"

ऊर्मिला की वेदना उस स्थिति तक पहुँच गयी है जहाँ उसे हृदय में ही छिपाये रखना, प्रकाशित न होने देना असम्भव हो जाता है । उसके हृदयस्थित भाव अब उस जलते हृदय में निर्वाह करने में असमर्थ हैं ; वे शब्दों का रूप धारण कर लेना चाहते हैं ।

इस उद्धरण में '*अर्थ*' तथा '*पदप्राप्ति*' शब्दों में श्लेष है ; *अर्थ* 'अर्थ' तथा 'धन' का द्योतक है और *पद* 'शब्द' तथा 'उच्च स्थान' का। धन (धनी व्यक्ति) सदा उच्च स्थान (पद) पाने के लिए लालायित रहता है। वैसे शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध अटूट है ही !

" '*अर्थ*' का दूसरा अर्थ किया जा सकता है 'हृदय की बात'। 'पद-प्राप्ति' से प्रिय के चरणों का सामीप्य भी ध्वनित होता है किन्तु यह अर्थ केवल व्यंजित ही है, अन्वित नहीं। ऊपर के दोहे में 'भी' शब्द से निम्नलिखित भाव ध्वनित होता है :

" '*अर्थ*' को तो शब्द का अर्थ लेना ही पड़ता है किन्तु हे मेरे अर्थ ! (मेरे हृदय के मनोरथ !) यह कैसी बात है कि तू भी पद-प्राप्ति (शब्द द्वारा अभिव्यक्ति अथवा प्रिय-चरण सामीप्य) की चाह करने लगा ! हे मेरे मन के अभिलाष ! तू तो मन में ही निहित रहता तो अच्छा था किन्तु जान पड़ता है, हृदय की बात को प्रकट किये बिना गुज़ारा नहीं।

इस दोहे का उक्ति-वैचित्र्य द्रष्टव्य है।"*

स्वजनि रोता है मेरा गान .... रोता है मेरा गान।

ऊर्मिला कहती है, "हे सखी ! मेरा गान रोता है (मेरा गायन भी रुदन बन गया है)। दुःख भरे इस गान की कोई तान प्रियतम तक नहीं पहुँच पाती। मेरे हृदय के जंजाल (मेरी इस करुणापूर्ण स्वर-लहरी) का बोझ समीर से नहीं उठाया जाता अतः (मेरे) समस्त स्वर-ताल बिखर कर शून्य में ही झड़ पड़ते हैं (अस्त-व्यस्त हो जाते हैं और प्रियतम तक नहीं पहुँच पाते) मेरा आलाप (गाना) तथा विलाप (रोना) समान रूप से विफल है (क्योंकि न तो मेरे गायन का स्वर उन तक पहुँच पाता है न रुदन का)। हे सखी, मेरा गान रो रहा है।

"मेरा भावानन्द (हृदय की उमंग) उड़ने (स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने के लिए तड़प रहा है परन्तु छन्द उसे व्यर्थ ही पद-गौरव का ध्यान दिला कर पुचकार-पुचकार कर फुसलाने का प्रयत्न कर रहे हैं (यहाँ 'छन्द' तथा 'पद-गौरव' में श्लेष है ; 'छन्द' के अर्थ हैं काव्य में व्यवहृत छन्द और हृदयाभिलाषा। पद-गौरव के अर्थ हैं 'शब्द-सौष्ठव' तथा राजपुत्री तथा राजवधू आदि के नाते ऊर्मिला की सामाजिक स्थिति)। हे सखी, मेरा गायन रो रहा है।

---

* साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृष्ठ १११–१२।

"अपना पानी (आँसू) भी अपनी बात नहीं रखता (गुप्त नहीं रहने देता), अपनी ही आँखें दिन रात पानी ढाल रही हैं (आँसू बहा रही हैं)। ये मूर्ख आँसू ही सब (न बतायी जाने वाली बातें भी) बता देते हैं (हृदय के गुप्त अथवा गोपनीय भाव भी प्रकट कर देते हैं)। हे सखी, मेरा गायन रो रहा है।

"कहीं मेरे दुःख भी मुझसे विमुख (नाराज़) हो कर कहीं और न चले जावें। आज उन (दुःखों) में ही तो मेरे ये प्राण तनिक अटके हुए हैं। अरे मान! तू ही विरह में (मेरे समीप) आ जा। हे सखी, मेरा गान रो रहा है।"

ऊर्मिला अपने भावों को प्रियतम तक पहुँचाने के उद्देश्य से रोती है, गाती है परन्तु उसकी विकल स्वर-लहरी बीच ही में भंग हो जाती है। समीर उसके हृदय के उस *जंजाल* का बोझ सहने में असमर्थ ही रहता है। फलतः उसका रुदन तथा गान दोनों ही निष्फल रह जाते हैं, प्रिय तक नहीं पहुँच पाते।

ऊर्मिला का मन-विहग स्वाधीनतापूर्वक विचरण करना चाहता है; उसके भाव उड़कर प्रिय तक पहुँच जाना चाहते हैं परन्तु *छन्द* उसे *प्रतिष्ठा* तथा उसकी *सामाजिक स्थिति* का ध्यान दिला कर बहला-फुसलाकर रोक लेते हैं। इस समय तो ऊर्मिला का *पानी* भी उसकी बात न बनाकर बात बिगाड़ ही रहा है। (पानी शब्द 'प्रतिष्ठा' का भी द्योतक है) सुख उससे दूर चले गये हैं, अब तो दुःखों में ही उसके प्राण अटक रहे हैं। यदि दुःखों ने भी उसका साथ छोड़ दिया तो उस वियोगिनी का क्या होगा, उसके प्राण किसके सहारे टिकेंगे?

यही आता है इस मन में ··· ···· ··· ···· आता है इस मन में।

ऊर्मिला कहती है, "मेरे मन में तो यही आता है (मेरे मन में यह इच्छा उत्पन्न हो रही है) कि यह सब धन-धाम (अयोध्या तथा यहाँ का भौतिक वैभव) छोड़-छाड़ कर मैं भी उसी वन में जाकर बस जाऊँ (जहाँ इस समय प्रिय रह रहे हैं)। मैं वहाँ जाकर भी प्रियतम के व्रत में विघ्न नहीं डालना चाहती, मैं तो वहाँ उनके पास रह कर भी उनसे (शारीरिक रूप से) दूर ही रहना चाहती हूँ। मेरी तो यही इच्छा है कि व्यथा (वेदना) भले ही रहे परन्तु उसका पूर्ण समाधान भी तो उसके साथ ही रहे (प्रत्यक्ष रूप से न मिल पाने की व्यथा भले ही रहे परन्तु दूर-दूर से ही प्रियतम का दर्शन पाकर शान्ति-लाभ करने का अवसर तो प्राप्त हो सके)। हर्ष रोदन में

डूबा रहे (पूर्ण हर्ष तो वहाँ प्राप्त न हो सकेगा परन्तु रोदन-मिश्रित हर्ष तो मिल ही सकेगा। यहाँ (अयोध्या में) रह कर तो वह भी सम्भव नहीं रह गया है) मेरे मन में तो यही इच्छा उत्पन्न हो रही है।

"(वन में रह कर) मैं बीच-बीच में (कभी-कभी) उन्हें झुरमुट की ओट में से देख लूँ, जब वे उस पथ से निकल जावें तो मैं उन्हीं के चरणों की उस धूल में लोट जाऊँ और वे अपनी साधना में ही संलग्न रहें। आज मेरे मन में तो यही इच्छा उत्पन्न हो रही है।

"जाती-जाती, गाती-गाती यह बात कहती जाऊँ (सब को सुनादूँ) कि अरे मनुष्यो, धन के लिए इस संसार में इतना उत्पात (झगड़ा अथवा बखेड़ा) उचित नहीं है। (वास्तव में) जीवन में प्रेम की ही जय (होती) है। आज मेरे मन में यही इच्छा उत्पन्न हो रही है।"

"प्रत्येक विरही को अपने प्रिय से मिलने की अभिलाषा होती है। वास्तव में विरह में यह सबसे प्रधान भावना भी है और अन्य काम-दशाओं का जन्म इसी से होता है—अतः इसका स्थान प्रथम है। सभी विप्रलंभ के कवियों ने इसका वर्णन किया है। ऊर्मिला की अभिलाषा में देखिए कितना भोलापन है—

यही आता है इस मन में,
छोड़ धाम धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में।
बीच-बीच में उन्हें देख लूँ मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायं तब लेटूँ उसी धूल में लोट।

उसका यह कथन नागमती की याद दिलाता है—

रात दिवस बस यह जिउ मोरे,
लगौं निहोर कंत अब तोरे।

× × ×

यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाय,
*मकु तेहि मारग गिरि परै कंत धरैं जिहि पाँव।**

अब जो प्रियतम को पाऊँ .... कह तो हाहा खाऊँ ?

"यदि मैं अब प्रियतम को पा सकूँ तो यही इच्छा है कि उनके चरणों की रज (धूल) (अपने शरीर पर) रमा लूँ (मल लूँ अथवा उनकी चरण-रज में ही रम जाऊँ)! यदि मेरे लिए अवधि बन सकना सम्भव हो तो क्या मैं ऐसा करने में कुछ देर लगाऊँ (भाव यह कि यदि यह सम्भव हो तो मैं एक पल का भी

* साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ६८–६६।

विलम्ब किये बिना इसे कार्य रूप में परिणत कर दूँ) ? तब तो मैं तुरन्त अपने को स्वयं मिटा कर वन में जाकर प्रियतम को ले आऊँ (अवधि समाप्त होने से पूर्व तो वह आ ही नहीं सकते। यदि ऊर्मिला अवधि बन सके तो अवधि समाप्त करने के लिए स्वयं अपने आप को मिटा कर भी प्रियतम को लौटा लावे। उसकी उत्कण्ठा में कितना आवेग है!) मैं उषा-की भाँति इस संसार (जीवन) में प्रविष्ट हुई थी क्या सन्ध्या की भाँति (इस संसार से) चली जाऊँ (जीवन-लीला समाप्त कर दूँ) ? (नहीं, मैं तो यह चाहती हूँ कि) श्रान्त (थके हुए) पवन की भाँति वे (वन से लौट कर अयोध्या में) आवें और (उस थकान को दूर करके) मैं सुरभि (फूलों की सुगन्धि) की भाँति उस पवन (अपने प्रियतम) में विलीन हो जाऊँ। मेरा रोदन मचल कर मुझसे कुछ गाने के लिए अनुरोध कर रहा है (मेरे हृदय की अपार वेदना शब्दों के रूप में प्रकट होने के लिए व्यग्र हो रही है) उधर गान यह कहता है कि रोना आवे तभी तो मैं आऊँ (जब रोना ही नहीं आता तो गाना कैसे आए) ? इधर (हृदय में) (विरह की) आग है और उधर आँखों में पानी (आँसू) भरा है, हाय! मैं इन दोनों में से किसकी ओर जाऊँ! (हृदय की आग और नेत्रों के जल के संयोग से बनने वाली) प्रबल भाफ से कहीं मेरा यह शरीर (अथवा हृदय) रूपी पात्र फट (फूट) न जाए! हे सखी, बता मैं हा-हा खाऊँ (विनती करूँ अथवा गिड़गिड़ाऊँ) ?"

उठ अवार न पार जाकर ···· ··· ··· ··· इस भवार्णव की नई !

ऊर्मिला कहती है, "मैं तो इस संसार-सागर की वह नयी (विचित्र) तरंग हूँ जो इस किनारे से उठ कर गयी भी परन्तु पार (दूसरे तट) तक न पहुँच सकी (इस समुद्र को पार न कर सकी)!

"जीवन के विशेष विचार में अटक कर ('जीवन' में श्लेष है; अर्थ है 'जिंदगी' और 'जल'। अस्तु, प्रस्तुत अंश का अर्थ इस प्रकार किया जाएगा: "जीवन अथवा जिन्दगी की विशेष परिस्थिति के कारण अटक कर"; उधर लहर पक्ष में इसका अर्थ होगा "जल की विशेष क्रिया के कारण रुककर") अब मैं स्वयं मँझधार में भटकती फिर रही हूँ। कूल (किनारा), कुंज (केलि-गृह—अथवा लता-वितान) तथा कछार (समुद्र अथवा नदी तट की तर और नीची भूमि) के प्रति (मेरे हृदय में) स्वाभाविक आकर्षण होने पर भी वायु-विकार के कारण (वायु का विकार—प्रकोप होजाने के कारण शरीर रोगी हो जाता

है और शरीर रोगी हो तो सुन्दर वस्तुएँ भी अच्छी नहीं लगतीं। 'वायु विकार' में यह ध्वनि भी है कि वायु की प्रतिकूलता के कारण लहर इच्छा होने पर भी कूल, कुंज और कछार तक पहुँचने में असमर्थ है—काल अथवा परिस्थितियों की विषमता के कारण ही ऊर्मिला यह भवार्णव पार नहीं कर पा रही।) वे आज अनुकूल (अथवा आकर्षक) नहीं जान पड़ रहे। (केवल वायु की प्रतिकूलता नहीं) चारों ओर और भी कई चक्कर (जल-भँवर अथवा बाधायें) हैं (जो पार तक नहीं पहुँचने देते) मैं तो इस संसार-सागर की एक नवीन (विचित्र) लहर हूँ!

"मैं गतिहीन भले ही रहूँ (आगे बढ़ कर पार–प्रियतम—तक भले ही न पहुँच सकूँ) परन्तु फिर भी मैं (इस समुद्र में) विलीन नहीं हो गयी हूँ (अपना व्यक्तित्व नहीं मिटा दिया है)। इस समय मैं दीन अवश्य हो गयी हूँ परन्तु मैं ऐसी दीना हूँ जो दीनता के बोझ से कभी दबती नहीं है (परिस्थितियों के कारण दीन होकर भी अपनी महानता का त्याग नहीं करती)। (यह सत्य है कि) मैं इस समय सर्वथा विवश (निरुपाय) हूँ परन्तु फिर भी मैं आत्म-अधीन ही हूँ (विवश होकर भी मैंने किसी की अधीनता स्वीकार नहीं की है इसके विपरीत मैं तो अपने ही अधीन हूँ अथवा मैंने अपनी आत्मा को भी वश में कर लिया है)। हे सखी! मैं तो (अवधि समाप्त होने के उपरान्त होने वाले) मिलन से भी पहले अपने प्रियतम में लीन हो गयी हूँ (फिर भला भाग्य अथवा विषम परिस्थितियाँ मेरा क्या बना-बिगाड़ सकती हैं?) भाग्य तो (अधिक-से-अधिक) जो कुछ कर सकता था (मुझे जो अधिकतम कष्ट पहुँचा सकता था) वह कर चुका (जब मैंने उन परिस्थितियों में ही पराजय स्वीकार न की तो भला भाग्य मेरा और क्या बिगाड़ सकता है?) मैं तो इस संसार-सागर की एक नवीन (विचित्र) लहर हूँ।"

ऊर्मिला इस संसार-सागर की एक *ऊर्मि* है, परन्तु वह कोई *सामान्य* लहर नहीं जो जल-प्रवाह, वायु-प्रकोप, भँवर-चक्र अथवा अन्य लहरों की चोट खा कर अपना अस्तित्व ही मिटा दे। *ऊर्मिला* एक *नयी*—असाधारण—*ऊर्मि* है।

यह सत्य है कि वह इस पार से उठ कर भी उस पार तक न पहुँच सकी परन्तु उसकी यह असफलता किसी दुर्बलता के कारण न होकर *जीवन* के एक *विशेष विचार* के कारण ही थी। राम-वन-गमन के समय उसके सम्मुख एक विशेष विचार आया था—एक गम्भीर प्रश्न उठा था :

मैं क्या करूँ ? चलूँ कि रहूँ ?
हाय ! और क्या आज कहूँ ?

और उस समय ऊर्मिला स्वयं पार तक पहुँचने का मोह छोड़ कर *अटक* कर *रह* गयी थी; प्रिय का पथ निर्विघ्न कर देने के लिए उसने अपने को भाग्य की कुटिल लहरों के बीच छोड़ दिया था :

हे मन !
तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन ।

इस प्रकार उसने स्वयं—जान बूझ कर—*मँझधार* में भटकना स्वीकार किया था *पार* जाने के बदले ! उस पार के *कूल*, *कुंज तथा कछार* के प्रति ऊर्मिला के हृदय में आज भी अपार आकर्षण है परन्तु वह जानती है कि *समय* उसके *अनुकूल* नहीं ।

अस्तु, आगे न बढ़ सकने के कारण ऊर्मिला कुछ समय के लिए *गतिहीन* अवश्य हो गयी है परन्तु इसका आशय यह नहीं कि उसने भाग्य के समक्ष *आत्म-समर्पण* करके *अपना अस्तित्व ही* मिटा दिया है । आज *दीन* होकर भी वह *दीनता* से मुक्त है, उसकी दीनता में भी गरिमा है, असाधारणता है; सर्वथा *अवश* हो कर भी वह *आत्म-अधीन* है । और भाग्य ? उसके प्रहार का सामना तो ऊर्मिला ने अनोखी सफलतापूर्वक किया है । भाग्य ने लक्ष्मण और ऊर्मिला के बीच अवधि का सागर प्रवाहित करके उनके मिलन में बाधा डाल दी; ऊर्मिला ने *मिलन* से *पूर्व* ही *प्रिय-लीन* हो कर भाग्य का वह भागीरथ प्रयत्न धूल में मिला दिया—भाग्य पर भी अभूतपूर्व विजय प्राप्त कर ली !

आये एक बार प्रिय ... ... रीझ उठी उस मुसकान में ।

ऊर्मिला संयोगावस्था की एक घटना का उल्लेख करके कहती है, "हे सखी, एक बार प्रिय मेरे पास आये और बोले : "एक बात कहूँ ...... परन्तु विषय कुछ गोपनीय (प्राइवेट) है अतः कान में सुनो !" मैंने कहा—यहाँ (हमारे अतिरिक्त) और कौन है ?" (इस पर उन्होंने कहा : "प्रिये ! यहाँ चित्र तो हैं । राजनीति के विधान में तो यह माना जाता है कि चित्र भी सुनते हैं (दीवार के भी कान होते हैं) ।" कानों के मूल (नीचे का भाग) लाल करके (प्रेम पूर्वक समीप आकर) उन्होंने कहा— "क्या कहूँ मैं भी छद(रदच्छद-होंठ) दान में सगद्गद हूँ परन्तु कृती (क्षमतावान व्यक्ति) कहते नहीं, करते हैं ।" हे सखी, उस मुसकान से मैं खीझ कर भी रीझ उठी थी !"

"वास्तव में यह गोपनीय रहस्य और इसकी अभिव्यक्ति बड़ी मनोहर है। 'कामिनोऽपि रहस्याख्यानं व्याजश्चुम्बनमेव प्रधानम्' के अनुसार क्रियाविदग्ध नायक की यह करतूत खीझ कर भी रीझने योग्य थी।"*

मेरे चपल यौवन-बाल ! ... ... एक तू ही लाल !

(ऊर्मिला नवयुवती है। उसने जीवन का शारीरिक तथा मानसिक सुख भोग किया है—वह दोनों का मूल्य जानती है। वियोग के दिनों में भी कभी-कभी उसका यौवन मचलने लगता है। वह अत्यन्त स्नेहपूर्वक उसे समझाती है) "हे मेरे चंचल यौवन रूपी शिशु ! तू (मेरे) अंचल में निश्चल सोया रह (इस प्रकार मचल कर) मुझे व्यथित न कर। रात बीतने दे (वियोग की अवधि समाप्त हो जाने दे) फिर विशाल सुप्रभात होगा उस समय मणियों की माला पहन कर तू भी मन के खेल खेलना (जी भर कर मनोरथ पूर्ण कर लेना)। तेरे सुन्दर तथा मधुर-भाग्य-फल पक रहे हैं (शीघ्र ही तेरा भाग्योदय होने वाला है) तू डर नहीं, (मनचाहा) अवसर आ रहा है और यह (दुःख-पूर्ण) समय जा (बीत) रहा है। इस दुःखिनी का (मेरा) मन पुजारी है और तन पूजा का थाल। हे लाल ! (अरे मेरे यौवन रूपी माणिक्य !) तू ही तो वह एक मात्र उपयुक्त उपहार है (जो शरीर रूपी थाली में रख कर मन रूपी पुजारी द्वारा प्रिय को भेंट किया जा सकता है) !"

अन्तिम दो पंक्तियों में निहित सांग रूपक अत्यन्त हृदय-ग्राही है।

यही वाटिका थी, यही थी ... ... चाप की कोटियों से झिला।'

एक बीती बात का उल्लेख करती हुई ऊर्मिला कहती है, "यही वाटिका थी (मैं अब जिस वाटिका में बैठी हूँ उस समय भी इसी वाटिका में बैठी थी) पृथ्वी भी यही थी, चन्द्रमा भी यही था और चाँदनी भी यही थी। यही वल्लकी (वीणा) गोद में लेकर मैं अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक इसे छेड़ (बजा) रही थी। कंठ भी तो यही था, भला गीत कौनसा था ?—वह गीत था—

न था दुर्ग तू, मानिनी-मान था !

अत्यन्त तन्मय हो कर (बेसुध अथवा आत्म-विभोर हो कर) मैं प्रिय (लक्ष्मण) की ओर से यही (उपर्युक्त) गान छेड़ने लगी। अकस्मात् जयी (लक्ष्मण) चुपचाप वहाँ आये। उस समय स्वामी की मनोवृत्ति (मानसिक प्रवाह) मन्मयी (अन्तर्मुखी अथवा ऊर्मिला में लीन) थी। हे सखी, यह कह

* साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ३०।

कर कि 'बड़े वीर थे, आज अच्छे फँसे' वह स्वयं अपने ही पर हँस पड़े! मैंने भी हँस कर कहा, 'अजी मानिनी तो चली गयी (इस समय मैं मान किये नहीं बैठी हूँ) बधाई है आपको यों ही (अनायास ही) यह नयी विजय प्राप्त हो गयी।' उन्होंने कहा, 'प्रिये यहाँ तो हार में ही जीत है परन्तु तुम्हारा यह नवीन गीत क्यों बन्द हो गया?' मैं बोली, 'जहाँ धनुष की टंकार आ गयी वहाँ वीणा की झंकार तो स्वयमेव व्यर्थ सी-हो गयी।' उन्होंने कहा, 'प्रिये! धनुष की टंकार तो सो रही है; इतना ही नहीं, वह तो स्वयं इस झंकार में निमग्न ही हो रही है।' मैंने पूछा, 'ठीक है परन्तु प्रश्न तो यह है कि इस संसार में टंकार और झंकार में से किसका अस्तित्व अधिक उपयुक्त है?' उन्होंने उत्तर दिया, 'शुभे, धाम (घर) में झंकार धन्य है और युद्ध-भूमि पर टंकार (अपने-अपने स्थान पर दोनों ही भली हैं) (और सत्य तो यह है कि) टंकार का जन्म (अस्तित्व) तो इसी लिए है कि झंकार का तार कभी न टूटे (सब ओर सुख शान्ति का प्रतीक, संगीत गूँजता रह सके) अस्तु, यही उचित है कि टंकार सोती रहे (हिंसा अथवा आक्रमण की भावना बलवती न हो) और सब ओर झंकार होती रहे (सब प्रसन्नता तथा सुख का जीवन व्यतीत करते रहें) परन्तु सुनो, इस संसार में (सन्तोष के स्थान पर) लोभ ही (का प्राबल्य) है इसी लिए तो संसार में इतना क्षोभ (शोक, भय आदि) है, अतः हमें जो शान्ति (स्थापन) का भार (दायित्व) मिला है उसे हम इसी चाप की कोटियों (सिरों) पर हो तो झेलते हैं!'

'यही वाटिका···यही कंठ था': वातावरण की समानता के कारण ऊर्मिला का ध्यान अत्यन्त स्वाभाविक रूप से वर्तमान से अतीत तक जा पहुँचता है। उधर समानता—फिर भी विषमता—समन्वित अतीत परोक्ष रूप से वर्तमान की करुणता में अत्यधिक वृद्धि कर देता है।

'न था दुर्ग तू, मानिनी मान था': संयोगावस्था में भी यदि उर्मिला पल भर के लिए पति से अलग होती तो उसे समय काटना दूभर हो जाता और वह प्रिय के ध्यान में ही विलीन हो जाया करती थी। उस अवसर पर भी वह स्वयं अपनी ओर से कुछ न गा कर—गीत के रूप में अपने हृदयोद्गार अभिव्यक्त न करके—लक्ष्मण के शब्द ही दोहराती : 'न था दुर्ग तू, मानिनी-मान था।' (वीर नायक दुर्ग को संबोधित करके कह रहा था 'अरे तू दुर्ग नहीं है, दुर्ग होता तो तुझे वीरता के बल पर आसानी से ही गिरा देता, तू तो मानिनी का वह मान है जिसे भंग

करना दुर्ग ढहाने से भी अधिक कठिन होता है।') स्पष्टतः जब लक्ष्मण ने इस भाव की अभिव्यक्ति की होगी तब उनके मुख से ये शब्द सुनकर मानिनी ऊर्मिला के मान का रंग और भी अधिक गाढ़ा हो गया होगा। तभी तो वह एकांत में बैठी पति द्वारा कही गयी इस पंक्ति को दोहरा कर अपने आत्माभिमान को तृप्त किया करती थी।

सखी, आप ही आप को वे हँसे–'बड़े वीर थे, आज अच्छे फँसे !' : ऊर्मिला के मुख से अपने ही गीत की एक पंक्ति (न था दुर्ग⋯) सुन कर लक्ष्मण आप ही आप अपने पर हँस पड़े और अनायास उनके मुख से उसी गीत की एक और पंक्ति निकल पड़ी : 'बड़े वीर थे, आज अच्छे फँसे !' अर्थात् बड़े बड़े दुर्ग ढहाते समय तो वीरता ने कभी साथ नहीं छोड़ा परन्तु आज मानिनी-मान रूपी दुर्ग ने हमारे भी छक्के छुड़ा दिये !

'भला—प्रश्न है किन्तु संसार में—भली कौन झंकार टंकार में ?' : पारस्परिक हास-परिहास—नोंक-झोंक करते-करते इस प्रकार ऊर्मिला ने एक गम्भीर प्रश्न पति के सम्मुख उपस्थित कर दिया था। ऊर्मिला इस प्रश्न पर लक्ष्मण के विचार जानना चाहती थी कि *लोक-कल्याण* की दृष्टि से *झंकार* का महत्व अधिक है अथवा *टंकार* का ? लक्ष्मण उसे समझाते हैं कि झंकार और टंकार—वीणा और धनुष—संगीत और संग्राम दोनों ही अनिवार्य हैं समाज के सम्यक् विकासोत्थान के लिए। दोनों के अपने-अपने क्षेत्र हैं, अपना-अपना महत्व है। घर में झंकार (सुख-शान्ति तथा उल्लास) आवश्यक है और युद्ध में (यदि-युद्ध अनिवार्य हो जाए तो) टंकार। विश्व की स्थायी-शान्ति पल-भर के लिये भी भंग न हो, जीवन-वीणा का स्वर निरन्तर सुनाई देता रहे—इसीलिए टंकार का जन्म होता है, टंकार की आवश्यकता होती है। अच्छा तो यही है कि सर्वत्र तथा सर्वदा झंकार ही होती रहे 'शुभ सुख-चैन की वर्षा ही होती रहे' और टंकार इसी झंकार में मग्न पड़ी सोती रहे परन्तु संसार में जब तक लोभ है तब तक विश्व-शान्ति खतरे में है। अस्तु, जिन पर विश्व-शान्ति का दायित्व है उन्हें संसार से यह लोभ—यह क्षोभ नष्ट करने के लिए शस्त्र उठाने ही होंगे ! तभी तो विश्व-शान्ति स्थापित हो सकेगी।

लक्ष्मण-ऊर्मिला के उस प्रश्नोत्तर में कवि के अपने युग का एक महानतम प्रश्न निहित है। 'साकेत' गांधी-युग की रचना है। विश्व-शान्ति का प्रश्न इस युग की जटिलतम समस्या रहा है। क्या भयंकरतम विश्व-युद्ध इस समस्या को हल

कर सकेंगे ? क्या निःशस्त्रीकरण से यह झंझट दूर हो जायगा ? क्या हिंसा की आधार-शिला पर, ऐटम तथा हाइड्रोजन बमों के ईंट-गारे से विश्व-शान्ति का सुदृढ़ तथा अटल भवन निर्मित किया जा सकेगा ? अथवा उसके लिए विश्व का नैतिक उत्थान करना होगा ? हिंसावृत्ति को शान्त करके अहिंसा और प्रेम का प्रचार करना होगा ? युद्ध-क्षेत्र के स्थान पर पारस्परिक विचार-विनिमयों द्वारा यह प्रश्न हल किया जा सकेगा ? गाँधीजी ने तो इसका एकमात्र उपाय सुझाया है—अहिंसा। 'साकेत' का कवि सादर युग-पुरुष बापू के इस महामन्त्र को स्वीकार करता है परन्तु हिंसा की सर्वथा अमान्यता से वह सहमत नहीं। वह किसी पर आक्रमण करने, अत्याचार अथवा शोषण करने, Offensive युद्ध करने के लिए कभी प्रस्तुत नहीं परन्तु स्थायी *विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए* वह *शस्त्र उठाने* के लिए भी तैयार है क्योंकि उसका विश्वास है :

हमें शान्ति का भार है जो मिला
इसी चाप की कोटियों से झिला

पिछले कुछ वर्षों में विश्व-शान्ति के अग्रदूत जवाहरलाल जी मनसा-वाचा-कर्मणा इसी '*सूत्र*' की तो '*व्याख्या*' करते रहे हैं !

हुआ,—किन्तु कोदण्ड-विद्या-कला ··· ··· ··· ··· रही मैं शिला !

ऊर्मिला ने कहा, 'अस्तु—किन्तु मेरे लिए तो धनुर्विद्या व्यर्थ है फिर मैं भला इसे और क्यों सीखूँ ? ऊर्मिला के (मेरे) लिए तो ये गान (झंकार) ही भले, मैं तो यही चाहती हूँ कि (कलह और अशांति के) विवादी स्वरों से कान बचे रहें तो ही अच्छा है ! (फिर भला) मैं तुम्हारी शिष्यता क्यों स्वीकार करूँ (तुम्हारी शिष्या बनकर धनुर्विद्या क्यों सीखूँ) ? कहो तो (तुम संगीत सीखना चाहो तो) वीणा बजाना सिखाने वाली मैं ही तुम्हारी शिक्षिक बन जाऊँ (झंकार टंकार की शिष्या क्यों बने ? उचित तो यह है कि टंकार झंकार से मधुर स्वरों की दीक्षा ले) (श्लेष के आधार पर 'तान्त्रिकी' का अर्थ 'मंत्र फूँकने वाली' अथवा 'मोहिनी विद्या सिखाने वाली' भी किया जा सकता है।) जरा तुम धनुष के बल से हरिणों को पकड़ कर तो दिखाओ (तुम धनुष से उनका वध कर सकते हो परन्तु उन्हें मंत्र-मुग्ध अथवा मोहित नहीं कर सकते) यदि मुझसे कहो तो मैं अभी स्वरालाप (संगीत की शक्ति से) उन्हें अपनी ओर खींचकर (आकर्षित करके) दिखा दूँ ?'

(लक्ष्मण ने कहा), 'बस, बस, (अपने स्वरालाप से तो) हरिणों को

तुमने अभी खींच कर दिखा दिया है; शिष्या बनते-बनते शिक्षिका बन बैठीं (धनुर्विद्या सीखते-सीखते संगीत-विद्या सिखाने की इच्छा जाग उठी); ठीक ही तो है ! (मेरी तो यही कामना है कि) तुम्हारे स्वरों की धारा निर्बाध प्रवाहित होती रहे और मेरा यह धनुष एक किनारे पड़ा (विश्राम करता) रहे ।'

(ऊर्मिला कहती है), "हे सखी ! इसी प्रकार आलाप (गाना) और संलाप (बातचीत) में ही हमारा समय बीता करता था, आजकल की तरह शाप अथवा ताप में नहीं । उस समय हमारे संतोष का कोष कभी खाली न होता था (हम पूर्णतः संतोषपूर्वक जीवन बिता रहे थे) परंतु हे भगवान् ! यहाँ क्या से क्या हो गया ? मंथरा ने सुआ (हमारे हाथों का तोता) उड़ा ही दिया ! (तोता उड़ जाने पर) माँ (कैकयी) का सूना हृदय रूपी पिंजरा मिला, उधर मेरा सिद्ध चला गया तथा मैं शिला यहां पड़ी रह गयी !"

'उड़ा ही दिया मंथरा ने सुआ' : "किसी-किसी सीधी-सादी उक्ति में एक अद्भुत वक्रता आ जाती है जिसके आधार का पता लगाना सहज संभव नहीं होता । ऐसी उक्तियाँ काव्य की विभूति होती हैं, उनमें अपूर्व मर्मस्पर्शिता मिलती है—'उड़ा ही दिया मंथरा ने सुआ' में यही गुण है । ऊर्मिला यह नहीं कहती कि मंथरा ने सभी सुख स्वप्नों पर पानी फेर दिया । उसका तो कहना है—'उड़ा ही दिया मंथरा ने सुआ ' जिससे कथन में जादू का प्रभाव आ गया है । यह उक्ति सर्वथा स्वच्छ है, अलंकार का आवरण इस पर नहीं है । इसमें मुहावरा मान कर लक्षणा का आधार माना जा सकता है, परन्तु सहृदयता विचारे कि क्या इस उक्ति का सौन्दर्य मुहावरे की संकीर्ण परिधि में ही सीमित किया जा सकता है ? निस्संदेह इसमें मुहावरे से अधिक कुछ और भी है जो अनिर्वचनीय रहेगा ।"❀

'गया सिद्ध मेरा, रही मैं शिला' : "यह पंक्ति बड़ी मार्मिक है । सिद्ध-शिला से तात्पर्य उस शिला से है जिस पर योगी सिद्धि प्राप्त करता है । जब तक योगी रहता है तब तक तो वह सिद्ध-शिला है, जब योगी चला जाता है तब वह कोरी शिला रह जाती है । अपने प्रियतम के बिना ऊर्मिला उस शिला की तरह हो गयी है जिसे उसका योगी (सिद्ध) छोड़कर चला गया है ।"†

❀ साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ १६०, ६१ ।

† साकेत के नवम सर्ग का 'काव्य-वैभव', पृष्ठ १२४—२५ ।

स्वप्न था वह जो देखा ... . मेरा परित्राण कहाँ अभी ?

ऊर्मिला कहती है, "(भूतकाल में) जो कुछ देखा वह तो स्वप्न था (स्वप्नवत् ही हो गया है); क्या मैं वह स्वप्न फिर देख सकूँगी ? (कदाचित अभी इसकी कोई संभावना नहीं है क्योंकि) इस प्रत्यक्ष (वर्तमान दुःख) से अभी मेरा छुटकारा कहाँ है (अभी मुझे मुक्ति कहाँ मिल सकती है) ?"

कूड़े से भी आगे ... ... सुने गये हैं फिरते ?

ऊर्मिला कहती है, "अपना (हमारा) अदृष्ट (भाग्य) तो गिरते-गिरते कूड़े से भी अधिक आगे जा पहुँचा। सुना जाता है कि बारह वर्ष में तो घूड़े के दिन भी फिर (बदल) जाते हैं !"

कहावत है कि बारह बरस में तो घूरे के दिन भी बदल जाते हैं। ऊर्मिला का दुर्भाग्य तो घूरे—कूड़े—से भी अधिक गिर गया क्योंकि उसे बदलने में १४ वर्ष लगेंगे। अपनी दृष्टि में आज ऊर्मिला निम्नतम से भी निम्न हो गयी है।

रस पिया सखि, ... कह, कौन भाग्य-मय भोग सखी ?

ऊर्मिला अपने अतीत तथा वर्तमान के वैपम्य पर प्रकाश डालकर कहती है, "हे सखी ! जहाँ (मैंने) नित्य ही नया रस पिया (नित नवीन आनंद का उपभोग किया) वहाँ मुझे अब विष भी अलभ्य हो गया (मरने तक का भी अधिकार न रहा) ! जीवन-मृत्यु की यह संगिनी ऊर्मिला वन में विहंगिनी (पक्षिणी) की भाँति अपने पति के साथ न रह सकी। हे सखी ! तू इस ओर यहाँ सब ओर देख ले (मेरी वर्तमान स्थिति का भली प्रकार निरीक्षण कर ले) फिर तनिक मेरे उस विहार (सुखोपभोग की ओर ध्यान दे जिसका आनंद मैंने भूतकाल में प्राप्त किया है। जो हास-विलास (आनंद-उमङ्ग) पहले (भूतकाल में) प्रत्यक्ष प्रकाशित थे, वे ही सब इस समय उदास होकर रो-से रहे हैं। हे स्वजनि ! (इस समय तो) यदि मैं पागल हो सकूँ तो उसमें मेरी कुशलता ही है क्योंकि इस प्रकार (पागल होकर) मैं अपना-पन (अपनी सुध-बुध) खोने में समर्थ हो सकूँगी। तुझे सौगंध है (यदि मैं वास्तव में पागल हो जाऊँ तो) मेरा इलाज न करियो। तुम तो अवधि की ही सुध लेती रहना (यही प्रयत्न करना कि अवधि शीघ्रातिशीघ्र समाप्त हो जावे) (मैं पागल हो जाऊँ तो) मुझे तो बस प्रिय के इसी कुञ्ज में—जिसमें हमारे मिलन तथा वार्तालाप की अनेक स्मृतियाँ छिपी हैं--निर्भय होकर छोड़ देना और मेरे हँसने अथवा रोने से बिलकुल न पसीजना (तनिक भी

प्रभावित न होना)। हे सखी! तुम मेरे पागलपन को मृत्यु, आधि (मानसिक रोग) व्याधि (शारीरिक रोग) आदि कुछ भी न समझना, उसे तो केवल स्वप्न-समाधि ही समझना। ह ह ह ह ....! यदि ऊर्मिला पागल हो जाए तो विरह रूपी सर्प तो अपने आप वश में आ जाए (शक्तिहीन हो जाए)। जब प्रियतम वन से लौट कर यहाँ (अयोध्या में) आ जावेंगे तो समस्त विकार (पागलपन आदि) आप-से-आप नष्ट हो जावेंगे। तब (मेरे) सपने स्वप्नमात्र न रह कर वास्तविकता का रूप धारण कर प्रत्यक्ष हो जावेंगे।

(उन्मादवश ऊर्मिला यह सोचने लगती है कि) अब भी नाथ सामने ही खड़े हैं परन्तु जब मैं उन्हें पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाती हूँ तो मेरे हाथ खाली ही रह जाते हैं। हे सखी! यह न तो वियोग ही है (क्योंकि प्रियतम सामने प्रत्यक्ष दिखायी दे रहे हैं) और न इसे संयोग ही कहा जा सकता है (प्रियतम सामने खड़े हैं तो मेरे बाहु-पाश में आबद्ध क्यों नहीं होते)? यह तो बता कि मैं इस प्रकार अपने कौन-से भाग्य का फल भोग रही हूँ?"

विचारती हूँ सखि मैं .... स्वयं भी कुछ दीख जाते!

"हे सखी! मैं कभी-कभी यह समझती हूँ (कल्पना करती हूँ) कि प्रिय वन से लौट आते हैं और छिपे-छिपे ही यहाँ आकर हमारी सब दशा देखते हैं और कभी-कभी अपनी भी तनिक झलक-सी दिखा देते हैं!"

आते यहाँ नाथ निहारने हमें .... हम अश्रु पी रहे!

"हे सखी! प्रिय हमें देखने के लिए यहाँ आते हैं अथवा हमें उद्धारने या तारने के लिए? या वे यह जानने के लिए यहाँ आते हैं कि हम किस प्रकार जो (जीवन व्यतीत कर) रहे हैं? (यदि वे यह जानने के लिए यहाँ आते हैं कि हम किस प्रकार जीवन-यापन कर रहे हैं तो) वह यह जान लें कि हम आँसू पी (पीकर जी) रहे हैं (रो-रो कर समय काट रहे हैं)।"

सखि, विचार कभी उठता यही .... कहाँ कौन अन्य है?

"हे सखी! कभी-कभी मेरे (हृदय में) यह विचार उठता है कि मानो अवधि पूरी हो गयी है और प्रिय (वन से लौट कर) आ गये हैं तथापि मैं उनसे मिलने में सकुचा (लज्जा अथवा संकोच कर रही) हूँ; वे वही होकर भी आज कुछ नये-नये से जान पड़ते हैं। हे सखी! आज मैं जहाँ (जिस ओर) देखती हूँ उधर प्रिय की ही कांति (शोभा) दिखायी देती है। (ऊर्मिला की यह उन्मादपरिपूर्ण बातें सुनकर सखी कहती है कि वह भ्रांत हो गयी है।

इस पर ऊर्मिला कहती है) हहह! तू कहती है कि मैं उद्भ्रांत हो गयी हूँ। यदि यह सत्य है तो वह सत्य बना ही रहे और यदि यह असत्य है तो मुझे (किसी अन्य) सत्य की कोई आवश्यकता नहीं है।

"प्रियतम आ गये! स्वामी आ गये! जलते हुए प्राणों को भी प्राण (नवजीवन) प्राप्त हो गया। हंस जैसे (शुभ्र वर्ण वाले) मेरे प्रियतम केकि कुंज (केलि-कुञ्ज) से निकल कर प्रेम पुंज के समान खड़े हैं। चारु चन्द्र की चन्द्रिका सब ओर छिटक रही है और माधवी (मल्लिका) लता अपने अशोक (वृक्ष) में मिल रही है। आखिर अवधि भी पूरी हो ही गयी। आकाश में (सर्वत्र) प्रियतम का सुयश छा रहा है। हे स्वजनी, आज की घड़ी धन्य है, फिर भी तू इस प्रकार उदास-सी होकर क्यों खड़ी है? शीघ्र आरती ला; मैं प्रिय की आरती उतारूँगी। उनके चरण तो अपने नेत्र-नीर से ही पखारूँगी। देख तो सही, उनके चरण धूल से भरे हैं परन्तु विरह-समुद्र में डूबती ऊर्मिला के (मेरे) लिए तो ये चरण मानों स्वयमेव प्राप्त हो जाने वाले किनारे के ही समान हैं। देख, उनका जटाजूट कैसा विकट है (जटायें कितनी बढ़ गयी हैं), दोनों भवों के रूप में मानों दो धनुप ही तने हुए हैं, उनके मुख पर मन्द मुसकान खेल रही है, उनकी शोभा के सामने तो चन्द्रमा भी फीका पड़ गया है। उनकी कन्धरा (कन्धा) अत्यन्त सुन्दर है, कंठ (गला) शंख जैसा है, नेत्र कमल के समान और उनकी कान्ति (शोभा) (निर्मल) जल जैसी है। उनका शरीर तपे हुए पवित्र सोने के समान है। योग और क्षेम (नए पदार्थ की प्राप्ति तथा मिले हुए पदार्थ की रक्षा) दोनों ही आज मेरे लिए सुलभ (सहज प्राप्य) हो गये हैं। ऊर्मिला का (मेरा) उदित भाग्य धन्य है, यह तो बता कि आज उस (ऊर्मिला) जैसा कृती (सौभाग्यशाली अथवा पुण्यात्मा) और कौन है? (कोई नहीं है।)"

अपने अतीत और वर्तमान पर विचार करते-करते ऊर्मिला की हार्दिक वेदना उन्माद की दशा तक पहुँच जाती है।

विजय नाथ की हो सभी कहीं ···· ···· ···· ···· मैं सती रहूँ।

ऊर्मिला कहती है, "हे नाथ! तुम्हें सर्वत्र विजय (सफलता) ही प्राप्त हो परन्तु फिर भी तुम वहीं (मुझसे दूर ही) क्यों खड़े रह गये (मेरे निकट क्यों नहीं आ रहे)? हे प्रिय, आओ (मेरे हृदय का) द्वार (तुम्हारे लिए) खुला है (पति-पत्नी होने के कारण) हमारा मिलन तो सर्वदा उचित ही है। (मैं जानती हूँ कि) तुम महान् हो और मैं हीन (तुच्छ) फिर भी मैं धूल की तरह

आपके ही चरणों में लगी हुई हूँ। हे स्वामी! देवता तो भक्ति (भाव) को ही देखते हैं, व्यक्ति को नहीं देखते। तुम (पहले ही) बड़े (महान्) थे, अब (वन-वास के उपरान्त) और भी बड़े (उच्च) हो गये तथापि तुम ऊर्मिला के ही भाग में आये हो अतः जब तुम ही मुझे प्राप्त हो गये तो मानो मुझे सब कुछ मिल गया और तुम्हें पाकर—अब मैं दीन कभी नहीं रही। (परन्तु यह तो बताओ कि) वे प्रभु और मेरी वह बड़ी बहिन कहाँ हैं जिनके लिए तुमने मुझे छोड़ा था? क्या वे नहीं लौटे? तुम अकेले ही लौटे हो? हाय! हमारा पतन हुआ तो इतनी बुरी तरह! हे नाथ, क्या महाराज (राम) ने मुझे दुःखी समझ कर और मुझ पर दया करके तुम्हें घर वापिस भेज दिया? परन्तु इससे तो (तुम्हारे इस तरह लौटने से तो) मेरे दुःख में और भी अधिक वृद्धि ही हुई है। हे प्रिय, तुम तुरन्त वन में लौट जाओ, तुरन्त लौट जाओ, (मेरे) इस मोह-चक्र में न पड़ो। मैं (इस समय) यहाँ बेचैन अवश्य हूँ परन्तु (इसके साथ ही साथ) गर्विणी भी हूँ (मुझे इस बात का गर्व है कि मेरा पति आदर्श के पथ पर निरन्तर बढ़ रहा है और मैं भी एक आदर्श के ही लिए कष्ट सह रही हूँ) परन्तु इस प्रकार लौट कर मेरे हार्दिक गर्व, वास्तविक हर्षोल्लास को—मेरे इस महान् यज्ञ को—नष्ट न करो। यदि तुम मेरे प्रति मोह (आसक्ति) के कारण ही घर लौट आये हो, तो क्या तप से गिर नहीं गये? हे नाथ! यदि तुम इस प्रकार तप-भ्रष्ट हो गये हो तो ऊर्मिला की यह समस्त वेदना व्यर्थ हो गयी (मैंने व्यर्थ ही यह इतना कष्ट सहा) मेरी इस वेदना को धिक्कार है! हाय! अभी समय है (कुछ नहीं बिगड़ा है) लौट जाओ, लौट जाओ; तुम इस प्रकार यश रूपी स्वर्ग से न गिरो। प्रभु दयावान् हैं (क्षमा कर देंगे), लौट कर उन्हीं के पास जा पहुँचो और (अवधि समाप्त होने से पूर्व किसी दशा में भी) उनकी कुटिया के दरवाजे से न हिलो (उनकी सेवा का त्याग न करो), अभी तो केवल मैं ही तुम्हें देख रही हूँ (मैंने ही तुम्हें देखा है और लोगों को तुम्हारे इस प्रकार यहाँ लौट आने का कुछ पता नहीं) परन्तु मेरा क्या, मैं तो तुमसे अभिन्न तुम्हारी ही अर्धाङ्गिनी हूँ। अतः इससे पूर्व कि सब लोगों को तुम्हारे आ जाने का पता चले, तुम तुरन्त यहाँ से लौट जाओ। मेरी यह सखी मुझे पागल समझती है। मैं तो इसी में आज अपनी कुशल समझती हूँ (कहीं यह मुझे पागल न समझती तो इसे भी तुम्हारे लौट आने का पता चल जाता और हमें अपयश का भागी होना पड़ता परन्तु यह तो मुझे पागल और मेरी बातों को पगली का प्रलाप ही समझ रही है। यह भी

मेरे लिए मंगलप्रद ही बात है।) मेरे ये प्राण सर्वथा आपे से बाहर हो कर बुरी तरह दुःखी हो रहे हैं परन्तु ऐसी दशा में कोई मुझ पर हँस नहीं सकता (मेरी हँसी नहीं उड़ा सकता) मैं, और क्या कहूँ (यही निवेदन करती हूँ), अब और हँसी न हो (ऐसा काम नहीं किया जाना चाहिए जिससे हमारी हँसी उड़े अथवा हमारा अपयश हो) (मैं तो यही चाहती हूँ कि) तुम व्रती बने रहो, मैं सती बनी रहूँ।"

धिक्! तथापि हो सामने .... सही जायगी भला?

"हे प्रिय, धिक्कार है, तुम फिर भी सामने ही खड़े हो! तुम इस प्रकार निर्लज्जतापूर्वक यहाँ क्यों अड़े हो? मैं जिधर भी मुड़ कर अपनी दृष्टि फेरती हूँ, हे ढीठ! तुम उधर ही दिखलाई पड़ते हो! तुम अपना धर्म छोड़ कर मुझसे मिलो (मुझसे मिलने के लिए आओ) तो (मेरे लिए इससे अधिक दुःख और अपमान की बात और क्या होगी?) ऐसी दशा में मैं अपना सिर फोड़ कर क्यों न मर जाऊँ? (इससे तो यह अच्छा है कि मैं आत्महत्या कर लूँ।) मेरा शरीर ही चाहते हो तो ले लो; ये निर्जीव प्राण भी ले लो (ऊर्मिला आत्महत्या करने के लिए उद्यत हो जाती है तो सखी उसका हाथ पकड़ कर रोक लेती है। उस पर ऊर्मिला कहती है—) हे सखी, मुझे इस प्रकार न पकड़, छोड़ दे। हे स्वजनि तूने क्या कहा—'वे यहाँ कहाँ हैं?' फिर भी वे इधर और उधर सब ओर ही दिखायी कैसे दे रहे हैं? क्या यह वास्तव में मेरा पागलपन अथवा भ्रम ही है? यदि यह सचमुच मेरा भ्रम था (प्रिय वास्तव में यहाँ नहीं आये थे) तो ठहर, इस प्रकार मेरा समस्त क्षोभ मिट गया —और मुझे शान्ति प्राप्त हो गयी। (प्रियतम पर मिथ्या सन्देह करने के कारण अपने को धिक्कारती हुई ऊर्मिला कहती है—) मुझे धिक्कार है! मैंने अपने स्वामी पर भी विश्वास न किया! परन्तु हे सखी, वह मेरे हाथ की बात न थी (उस समय मैं अपने आपे में नहीं रही थी)। फिर भी यह तो बता कि मैं (इस अपराध का) क्या प्रायश्चित करूँ? इस अनर्थ का भी कहीं कोई ठिकाना है? अरी नीच तथा निर्दया ऊर्मिला, क्या तेरे नाथ पतित हैं? (भाव यह है कि वास्तव में वे अत्यन्त महान् हैं और मैंने अपनी नीचता के कारण उन पर सन्देह किया) और तू बहुत सच्चरित्रा (बनी) है! नियमों (अपने धर्म) का पालन तो बस अकेली तू ही करती है; और सब अयोग्य हैं, एक तू ही तो योग्य है! (यहाँ वक्रोक्ति का आश्रय ले कर ऊर्मिला प्रशंसा के बहाने अपनी निन्दा—आत्म-तिरस्कार कर रही है)! अरी,

अब तू उन्हें अपना यह मुँह कैसे दिखाएगी, अरी ससंशया (पति पर सन्देह करने वाली) तू मर क्यों न गयी ? वे तो दयावान् हैं (अपनी उदारता के कारण यह गुरुतर अपराध भी क्षमा कर देंगे) परन्तु अरी चंचला (मानसिक दृढ़ता न रखने वाली) (तू यह तो बता कि क्या तेरे से) वह क्षमा सही भी जा सकेगी ?"

रात-दिन—आठ पहर चौसठ घड़ी—पति के ही ध्यान में लीन ऊर्मिला को सब ओर अपने प्रिय ही के दर्शन होते हैं। कभी-कभी उसे ऐसा लगता है मानो उसके प्रियतम वन से लौट आये हैं और छिपे-छिपे अपनी ऊर्मिला की वास्तविक दशा देख रहे हैं। उसे जान पड़ता है मानो अवधि पूरी हो गयी है और प्रियतम लौट आये हैं। उसकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती। वह उल्लास भरे स्वर में कहती है :

सुभग आ गये, कान्त, आ गये !

आज की घड़ी धन्य है ! आखिर अवधि पूरी हुई और सारे दिगन्त में यश फैलाते हुए लक्ष्मण अयोध्या लौट आये। एक ही पल में वह लक्ष्मण को नीचे से ऊपर तक देख जाती है। उसकी आतुर दृष्टि धूल से भरे चरणों से उठ कर जटाजूट, भृकुटि युग्म, हास भरे मुख, कन्धरा, कंठ, नेत्र, और समस्त शरीर पर दौड़ जाती है। आज तो मानो उसे श्रेयस् और प्रेयस् सभी कुछ प्राप्त हो गया। आज उसे

सुलभ योग है और क्षेम है

ऊर्मिला से अधिक *कृती*, उससे अधिक पुण्यात्मा आज कोई नहीं।

........परन्तु लक्ष्मण मूर्ति बने क्यों खड़े हैं ? आगे बढ़ कर अपनी ऊर्मिला के समीप तक क्यों नहीं आते ? यह सत्य है कि उनकी तुलना में ऊर्मिला का महत्व कुछ नहीं परन्तु वे भी तो ऊर्मिला के ही भाग में पड़े हैं, अस्तु

अब नहीं रही दीन मैं कभी,
तुम मुझे मिले तो मिला सभी।

ऊर्मिला का आत्म-सन्तोष और आत्म-गौरव यहाँ अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है। उसी समय उसके हृदय में एक प्रश्न उठता है—

प्रभु, कहाँ, कहाँ किन्तु अग्रजा,
कि जिनके लिए था मुझे तजा ?

और अकस्मात् ऊर्मिला का हृदय काँप उठता है। क्या लक्ष्मण धर्म-विमुख हो कर लौट आये ? यह तो अधिकतम अधःपतन है। क्या राजा राम ने ऊर्मिला

को दुखी जान कर तथा उस पर दया करके लक्ष्मण को अयोध्या भेज दिया ? यदि यह बात है तो इससे तो ऊर्मिला का दुःख पहले से कहीं अधिक बढ़ गया ! उसके कारण उसके पति को अधर्म का पथ अपनाना पड़ा ! नहीं, नहीं, यह कभी नहीं हो सकता। लक्ष्मण को *अभी* लौटना होगा, हाँ, पल भर का भी विलम्ब किये बिना यहाँ से चला जाना होगा। ऊर्मिला लक्ष्मण को अयोध्या में रहने देकर अपना *गर्व* नष्ट नहीं होने देगी, साधना-यज्ञ विध्वंस नहीं होने देगी, *नष्ट पर्विणी* नहीं बनेगी ! वह अपने पति को *यशः स्वर्ग* से कभी नहीं गिरने देगी। वह अपने को अथवा अपने पति को उपहास, निन्दा अथवा तिरस्कार का विषय कभी न बनने देगी। लक्ष्मण को लौटना ही होगा। तभी तो लक्ष्मण *व्रती* बने रह सकेंगे और ऊर्मिला *सती*.....

परन्तु लक्ष्मण तो ऊर्मिला के सामने से हटते ही नहीं। वह झुंझला कर अपना सिर फोड़ने के लिए तैयार हो जाती है। सखी उसे समझाती है कि लक्ष्मण लौटे नहीं हैं, ऊर्मिला *भ्रम* अथवा *उन्माद* वश ही ऐसा समझ रही है। ऊर्मिला को यह जान कर *सन्तोष* होता है और अब उसका भाव-प्रवाह अपने ही विरुद्ध बह निकलता है। कितनी *अधम* है वह, कितनी *निर्दया* है वह, जो उसने अपने पति पर *अविश्वास* किया ! अपने को *सदाशया* और अपने स्वामी को *पतित* माना ! अपने को *योग्य* और सब लोगों को *अयोग्य* माना ! ऊर्मिला अपने ही नेत्रों में गिर जाती है....

'साकेत' के इन अवतरणों से स्पष्ट है कि हमारा कवि भावों के आरोह-अवरोह तथा भावनाओं के रूप-परिवर्तन का चित्रण करने में अत्यन्त सिद्ध-हस्त है।

बिसरता नहीं न्याय भी दया ... ... आलि, क्या कहा ?

(ऊर्मिला कल्पना करती है कि लक्ष्मण उससे कह रहे हैं—) "न्याय भी दया को नहीं भूलता। हे प्रिये, बस शान्त हो जाओ; मैं सब कुछ जान (समझ) गया, इतने साधारण ताप (वेदना) से बेचैन हो कर तुम अपने आपे में भी न रहीं (तुम्हारे जैसी नारी के लिए तो यह योग्य नहीं कि वह अपने साधारण सन्ताप के कारण इस प्रकार अपने होश-हवास खो बैठे) ! तुम्हें मेरी तरह उस (वन की) धूप अथवा वर्षा में नहीं रहना पड़ा; तुम तो यहाँ राज-महल में ही रहीं। हे देवि, तुम भला क्या जानो कि वन में क्या हुआ (मुझे किन किन कष्टों का सामना करना पड़ा) ? वहाँ तो मानो पसीने के रूप में खून ही बहाना पड़ा। वन में मैं कभी सो न सका, अधिक क्या कहूँ मैं तो

वहाँ (तुम्हारी तरह) रो भी न सका (रो कर भी दिल हलका न कर सका)। हाय ऊर्मिले, इस पर भी तुमने ये (इतने कठोर) शब्द मुझे पुरस्कार के रूप में दिये (मेरे उन कष्टों की ओर तनिक ध्यान न देकर इस प्रकार के मिथ्या सन्देह करके मेरे प्रति इतने कठोर शब्दों का प्रयोग किया)! यदि तुममें शक्ति है तो उन काँटों की गिनती करलो जो (वनवास की इस अवधि) में मेरे शरीर में चुभे हैं। हे शुभे, (किसी भी व्यक्ति, वस्तु अथवा घटना की) समालोचना कर देना सरल है परन्तु तत्व (वास्तविकता) की साधना अत्यन्त कठिन कार्य है। तत्व की साधना करने के लिए सब से पहले (राजस और तामस को विजित करके) सत्व (सतोगुण) की सिद्धि करनी पड़ती है। वहाँ (वन में) तो अत्यन्त कठिन कर्म-क्षेत्र था परन्तु हे देवी, यहाँ क्या (कष्ट) था? (यहाँ रह कर तुमने यही तो किया कि) कभी भाग्य को उलहना दे दिया (बुरा-भला कह दिया) और अधिक-से-अधिक कुछ देर रो लीं। मैं सदा ही पुण्य तथा पाप दोनों में तुम्हें अपनी संगिनी ही समझता रहा (अपना ही एक अंग मानता रहा)। तुम्हें तो अपने पति का पुण्य ही इष्ट था (पाप नहीं) अतः मुझे कटु (कड़वा) और तुम्हें मधुर (मीठा) ही तो इष्ट था? प्रियतमे! मैं तपोभ्रष्ट हूँ (मुझे तुमने तपोभ्रष्ट माना है)? तो ठीक है, मुझे न छुओ (मेरा स्पर्श न करना, अन्यथा तुम्हें पाप होगा)। यह लो, मैं लौट जाता हूँ। हे वैरागिनी, तुम सुखी रहो तथा हे पुण्यभागिनी, तुम मुझे (मुझ पाप-भागी को) बस विदा दे दो। सुलक्षणे, अलग हट जा, इस प्रकार मेरा मार्ग न रोक (मुझे जाने से न रोक) मैं पतित हूँ अतः मुझे इस प्रकार रोकना-टोकना व्यर्थ है। विवश लक्—" (पति के नाम का उच्चारण करते-करते ऊर्मिला की अनभ्यस्त जिह्वा अचानक रुक जाती है, उसी समय सखी कहती है) "हाय-हाय, लक्ष्मण नहीं, ऊर्मिला!" यह सुन कर ऊर्मिला पूछती है, "किधर ऊर्मिला? हे सखी, तू क्या कह रही है?"

ऊर्मिला पल भर के लिए लक्ष्मण की स्थिति में जा पहुँचती है। तब उसे यह समझने में कुछ भी देर नहीं लगती कि स्वयं लक्ष्मण द्वारा वन में रह कर सहे जाने वाले कष्टों की तुलना में उसके कष्ट तो '*तुच्छ ताप*' मात्र हैं। लक्ष्मण वन में धूप और *मेह* में रहे हैं और स्वयं वह *राजमहल* में। लक्ष्मण वन में पसीने के रूप में अपना रुधिर बहाते रहे और ऊर्मिला ने उनके उस समस्त धैर्य, उस कठोर तप-साधना का *यह* पुरस्कार दिया! एक बात और भी है। ऊर्मिला को तो अपने पति का *पुण्य मात्र* ही इष्ट था—वह केवल *पुण्यभागिनी* ही थी—परन्तु

लक्ष्मण तो सतत *पाप तथा पुण्य* दोनों में ऊर्मिला को *अभिन्न* मानते रहे। इस पर भी यदि वह लक्ष्मण को तपोभ्रष्ट मान कर वन में लौट जाने के लिए कह रही है तो उन्हें यह भी करना ही होगा।

सूरदास जी की गोपियाँ भी विरहावस्था में अपने को श्रीकृष्ण समझ कर अनेक प्रकार की लीलाएँ करती हैं।

फिर हुई अहा! ... ... प्रियमयी सदा ऊर्मिला रहे।

(लक्ष्मण का नाम लेते-लेते ऊर्मिला रुक गयी थी। सखी ने उसे बताया कि वहाँ लक्ष्मण न थे, वह तो स्वयं ऊर्मिला ही थी। *प्रियमयी* ऊर्मिला सखी की बात सुन कर ऊर्मिला को ढूँढने लगती है—'किधर ऊर्मिला ?' सखी उसे वास्तविक बात बताती है। ऊर्मिला कहती है—) "अहा! ऊर्मिला फिर मतवाली (पागल) हो गयी! हे सखी! क्या मुझे (वास्तव में) प्रियत्व मिल गया था (क्या मेरा व्यक्तित्व सचमुच प्रिय का व्यक्तित्व बन गया था)? (यदि यह सत्य है तो फिर) चाहे यह रोग (पागलपन) हो चाहे वियोग (जन्य भ्रम) इसे कुछ भी कहो (मैं तो बस यही चाहती हूँ कि) ऊर्मिला सदा ही इसी प्रकार प्रियमयी बनी रहे।"

उन्मादिनी कभी थी .... स्वयं अहं भी कब है?

ऊर्मिला कहती है, "हे सखी! ऊर्मिला (मैं) कभी उन्मादिनी (मत्त) थी परन्तु अब तो वह विवेकिनी हो गयी है (उसे अपना अथवा भले-बुरे का ज्ञान हो गया है)। (हे सखी! तूने मुझे मेरे कल्पना-लोक से निकाल कर वास्तविकता का भान करा दिया है परन्तु इस ज्ञान से तो) अज्ञान ही भला जिसमें सोहं तो क्या अहं भी कहाँ होता है? (अज्ञान की दशा में सोऽहं—अपने को (जीव को) परमात्मा का ही एक अंश मानना अथवा परमात्मा और आत्मा में अभेद स्थापित कर लेने की तो बात ही क्या 'अहं'—अहंकार—अहं ब्रह्मोस्मि—तक भी नहीं होता, मनुष्य ज्ञान और अहंभाव दोनों से ही सर्वथा मुक्त होता है)।

लाना, लाना, सखि, तूली .... लाना, सखि, तूली!

"हे सखी, तनिक मेरी तूलिका तो लाना। मेरे नेत्रों में उनकी छवि झूल रही है (तूलिका दे दे ताकि मैं उस छवि का चित्रण कर सकूँ)। आ, वह छवि (चित्र के रूप में) अंकित करके तुझे दिखाऊँ और इस (प्रस्तुत) चिन्ता से मुक्त हो जाऊँ। (प्रिय का चित्र सामने होगा तो विरह-जन्य इस

चिन्ता से छुटकारा मिल जाएगा)। मैं भूली-भूली-सी हूँ (अपनी सुध-बुध भूल कर खो-सी रही हूँ)। कहीं ऐसा न हो कि फिर (कुछ समय बीत जाने पर) मैं इसे भूल जाऊँ। अतः हे सखी! शीघ्र ही मेरी तूलिका लाना!

"जब विरहिणी बाला (वियोग की प्रचण्ड अग्नि में) जल (कर भस्म हो) गयी और चिता की ज्वाला भी ठण्डी पड़ने लगी (तब कहीं जाकर) मतवाला (मस्त) विरही इस प्रकार वहाँ पहुँचा मानो वह सती (पार्वती) रहित शिव हो (पार्वती ने दक्ष के यज्ञ-कुंड में अपने को जला दिया था। जिस समय शिव वहाँ पहुँचे पार्वती भस्म हो चुकी थीं। ऊर्मिला के कथन का भाव यह है कि क्या प्रियतम उस समय लौटेंगे जब मैं विरह की इस आग में जल कर भस्म हो जाऊँगी?)

"(आग में) झुलसा हुआ वृक्ष मरमर कर रहा था (सूखे पत्तों में हवा का प्रवेश होने पर पत्ते मर्मर ध्वनि कर रहे थे अथवा इस प्रकार लता के जल जाने पर वृक्ष भी 'मर मर' कह कर मृत्यु को आमंत्रण दे रहा था)। निर्झर (झरना) झड़ कर झर-झर कर रहा था (विरही के नेत्रों से भी अनवरत जल-धारा बह रही थी) और हत (मृत-तुल्य) विरही (शोक के अतिरेक से) हरहर कर रहा था। उस समय पृथ्वी की भी धूल उड़ रही थी (अथवा दिन का प्रकाश दूर हो रहा था और रात्रि का अन्धकार समीप आता जा रहा था—गोधूली बहुत तेजी से उड़ी जा रही थी)! हे सखी तुरंत मेरी तूलिका तो लाना!

"जैसे ही (विरही का) आँसू चिता (की राख) पर गिरा उसी समय (जल तथा मिट्टी का संयोग होने पर) उसमें से अंकुर (अँखुवा) फूट निकला और पत्तों से आच्छादित हो गया। उन्हीं पल्लवों में (प्रिय के) मुख के आकार का फूल खिला और (उस फूल को देखकर) फूली (प्रसन्न अथवा पुष्पवती) लतिका (पौधे अथवा वृक्ष से) लिपट गयी। (भाव यह है कि विरहिणी चाहे वियोग की ज्वाला में जलकर भस्म ही क्यों न हो जाए परंतु संयोग अथवा मिलन का अवसर आने पर वह फिर यथापूर्व हरी-भरी हो जाती है) अतः हे सखी! तुरंत मेरी तूलिका ले आ!"

ऊर्मिला के नेत्रों में प्रिय की छवि झूल रही है। वह उस छवि को तूलिका द्वारा पटल पर उतार लेना चाहती है। उसे भय है कि कहीं '*भूली*' ऊर्मिला उसे भी न भुला बैठे! विरही (लक्ष्मण) विरहिणी की ओर ही तो आ रहा है परन्तु वह तो उस समय वहाँ पहुँचा है (पहुँचेगा) जब विरहिणी बाला जल चुकी और चिता की ज्वाला बुझने लग गयी। चारों ओर एक शोक तथा वेदना का वातावरण

है। मुलसा तरु मरमर कर रहा है, निर्झर झर-झर कर रहा है और विरही हाथ मल कर भाग्य को कोस रहा है परन्तु उसकी आँखों से गिरने वाले आँसू ने तो एक अनोखा चमत्कार कर दिखाया। चिता पर अश्रु गिरते ही चिता की उस धूल में से एक अंकुर फूट पड़ा। उन्हीं पत्तों के फूल के रूप में प्रिय का सुन्दर मुखड़ा खिल उठा। फूली लता वृक्ष से लिपट गयी! जल जाने (मर जाने) के उपरान्त भी विरही तथा विरहिणी (दो सच्चे प्रेमियों) का मिलन हो गया!

सिर माथे तेरा यह दान .... हे मेरे प्रेरक भगवान् !

ऊर्मिला कहती है, "हे मेरे प्रेरक (प्रेरणा देने वाले) भगवान्! तेरा यह दान (प्रस्तुत वियोग) भी मैं शिरोधार्य करती हूँ। अब भला मैं अपने ये हाथ फैला कर और क्या याचना करूँ? (मैं तो केवल यही माँगती अथवा प्रार्थना करती हूँ कि) मुझे भूल कर (मेरी चिंता न करके) ही मेरे स्वामी त्रिभुवन (अथवा विश्व रूपी वन) में विचरण करें (सबके प्रति कर्त्तव्यों का पालन करें) परन्तु हे मेरे प्रेरक भगवान्! मुझे (पल भर के लिए भी) उनका ध्यान न भूले।

"लक्ष्मी ने पानी (समुद्र) में डूब कर (नारद के शाप से) अपनी रक्षा की। उधर, सती (पार्वती) ने (अपने पिता दक्ष द्वारा आयोजित यज्ञ की) अग्नि में प्रविष्ट होकर अपने आप को (पति के अपमान-जन्य शोक से) बचाया (मुक्त किया)। (किन्तु ऊर्मिला प्रस्तुत परिस्थितियों से पराजय स्वीकार करके आत्म-हत्या करने को प्रस्तुत नहीं है, वह कायरतापूर्वक मरना नहीं, वीरतापूर्वक जीवित रहना चाहती है अतः उसकी यही कामना एवं प्रार्थना है कि) ऊर्मिला जीवित रहे, प्रिय की बाट देखे तथा घर में बैठकर सब कुछ सहे और ईश्वरीय विधान विधिपूर्वक चलता रहे।

"हे मेरे प्रेरक भगवान! जब तूने मुझे दहन दिया है (विरह की इस प्रचण्ड ज्वाला में झोंक दिया है) तो क्या तू सहन (उपयुक्त सहन-शक्ति) न दे सकेगा? (अवश्य दे सकेगा।) अस्तु, प्रभु की ही इच्छा पूरी हो, उसी में सबका हित निहित है। हे मेरे प्रेरक भगवान्! यही रुदन आज मेरा गायन है।"

महात्मा गाँधी के नाम लिखे गए एक पत्र में गुप्त जी ने लिखा है: "वह (ऊर्मिला) तो यह कहती है कि 'साकेत' में रहने का उसका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह बना रहे—

"डूब बची लक्ष्मी पानी में, सती आग में पैठ,
जिये ऊर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ।"

वह सहना चाहती है। दुःख की तो बात ही क्या, उसके पिता ने सुख के विषय में भी उसे यही उपदेश दिया था—'सुख को भी सहनीय जानियो।' पहले उसे एक कामना भी थी, अपने स्वामी से वह इतना चाहती थी—

"आराध्य युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर,
तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।"

परन्तु अपने स्वामी को स्मृतिजन्य वेदना से बचाने के लिए वह उस चाह को भी छोड़ देती है और कहती है: 'मुझे भूल कर ही विभु-वन में विचरें मेरे नाथ।'—परन्तु 'मुझे न भूले उनका ध्यान।' 'साकेत' के एक कोने में बैठ कर इतनी-सी प्रार्थना करने का स्थान भी क्या उसे दुर्लभ होगा? वह रोती है, परन्तु अन्य की किसी मर्यादा को भंग तो नहीं करती। जिस प्रियतम के लिए वह रोती है, उसके लिए स्वयं उसी को जाने देती है। सीता से जैसी शिक्षा उसने पाई है, वैसी ही गुरुदक्षिणा भी उन्हें चुकाई है। मेरी तो यही भावना है कि यदि स्वर्ग में भगवान् की करुणा के लिए स्थान है; तो 'साकेत' में ऊर्मिला के विषाद के लिए भी वह निश्चित है।"

'मुझे भूल कर ही विभु-वन में विचरें मेरे नाथ': वियोगिनी यशोधरा का कथन है:

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुःख से।*

और विरहिणी राधा कहती है:

प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें।†

क्योंकि राधा ने तो अपने श्याम तथा जगत्पति में एकरूपता ही स्थापित कर ली है:

मैंने की हैं कथन जितनी शास्त्र-विज्ञात बातें।
वे बातें हैं प्रकट करती ब्रह्म है विश्व रूपी।
व्यापी है विश्व प्रियतम में विश्व में प्राण प्यारा।
यों ही मैंने जगत-पति को श्याम में है विलोका।।†

---

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ २५।

† प्रिय-प्रवास, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', सर्ग १६, पृष्ठ ३०४, ३०७।

मैं होती हूँ सुखित यह जो तत्वतः देखती हूँ।
*प्यारे की औ परम-प्रभु की भक्तियाँ हैं अभिन्ना ॥**

'प्रभु की ही इच्छा पूरी हो, जिसमें सबका श्रेय' : यशोधरा ने एक स्थान पर कहा है :

सोने का संसार मिला मिट्टी में मेरा,
इसमें भी भगवान्, भेद होगा कुछ तेरा।
देखूँ मैं किस भाँति, आज छा रहा अँधेरा,
फिर भी स्थिर है जीव किसी प्रत्यय का प्रेरा।
तेरी करुणा का एक कण बरस पड़े अब भी कहीं,
तो ऐसा फल है कौन, जो मिट्टी में फलता नहीं ?†

अवधि-शिला का उर पर था ···· ··· ···· ··· दृग-जल-धार।

ऊर्मिला के हृदय पर अवधि रूपी शिला का (भारी) बोझ पड़ा था। उसके नेत्रों से बहती हुई जल (आँसुओं की) धार उसे (उस शिला को) तिल-तिल करके काट रही थी।

"शिला और जल-धार का यह रूपक भावाभिव्यक्ति में अत्यन्त सहायक है। प्रिय के वियोग में आँसू बहाकर ऊर्मिला अपने पहाड़-से भारी दिनों को किसी प्रकार काट रही है। नेत्रों से अजस्र जल-धारा भी बहती रहे तो भी वह एक भारी शिला को कब तक काट सकेगी! निष्ठुर नियति के आगे किसका वश चलता है! कवि की यह उक्ति पाठकों के हृदय पर एक गहरी अवसाद की रेखा छोड़ जाती है।"‡

* श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', प्रियप्रवास, सर्ग १६, पृष्ठ ३०७।
† श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ४२।
‡ श्री कन्हैयालाल सहल, साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृष्ठ १३६।

दशम सर्ग

चिरकाल रसाल ही रहा ·········· कविता-केलि-कला-विलास की !

जिस भावज्ञ (भावों के ज्ञाता) कवीन्द्र का कथन (काव्य) बहुत समय तक मधुर ही बना रहा उस कविता-केलि-कला-विलास महाकवि कालिदास की जय हो !

'कवीन्द्र' : महाकवि कालिदास को कवि-कुल-गुरु माना जाता है।

'कविता-केलि-कला-विलास' : कालिदास को कविता-कामिनी का 'विलास' माना गया है :

··· भासो हासः कविकुलगुरुकालिदासो विलासः

उपर्युक्त पंक्तियों द्वारा 'साकेत' के कवि ने महाकवि कालिदास की स्तुति की है। "दशम सर्ग में, जिसके प्रारम्भ में ही कवि ने कालिदास की जय मनाई है, मुझे ऐसा लगता है जैसे मेघदूत की कल्पना का गुप्तजी ने उपयोग किया हो। जैसे यक्ष अपनी जीवन-गाथा मेघ को सुनाता है, उसी प्रकार ऊर्मिला अपनी जीवन-गाथा सरयू को सुनाती है और जैसे यक्ष उसकी मौनता को सज्जन की मौनता मान कर यह विश्वास कर लेता है कि मेघ ने उसके कार्य को सहर्ष स्वीकार कर लिया, उसी प्रकार लक्ष्मण की चरण-रज छूने की अभिलाषा में अपने आँसुओं को भेंट करती हुई ऊर्मिला यक्ष का-सा यह विश्वास प्रकट करती है—

अनुमोदन या विरोध है ?
मुझको क्या यह आज बोध है ?
मन के प्रतिकूल तो कहीं,
करते लोग कुभावना नहीं।
तुझको कल-कान्त-नादिनी,
*गिनती हूँ अनुकूल-वादिनी।"**

रजनी, उस पार कोक है ·········· स्थित नक्षत्र अदृष्ट-जाल-से !

रजनी, कोक (चकवा) उस पार है और हत (वंचिता अथवा पीड़िता) कोकी (चकवी) इस पार ! यह कितनी शोक (दुःख) पूर्ण बात है ! (चकवा तथा चकवी के बीच में व्यवधान के रूप में पड़ी रात रूपी जल-धार

---

* श्री विश्वम्भर 'मानव', खड़ी बोली के गौरव ग्रन्थ, पृष्ठ १८०।

के) बीच में, जहाँ उन दोनों के हाहाकार के शब्द मिलते हैं वहाँ चीत्कार-सा करती हुई सैंकड़ों लहरें उठ रही हैं (मानो जल की वे लहरियाँ भी चकवा-चकवी के करुण-क्रन्दन से विकल होकर चीख रही हैं)। (अन्य) लहरें उठ कर *(हा-रव अथवा अन्य लहरों को)* लथेड़ देती हैं और उन्हें पकड़-पकड़ कर जल में बहुत नीचे ले जाकर पटक देती हैं परन्तु (इन सब बातों से सर्वथा उदासीन तथा अप्रभावित) तारे भाग्य-जाल के समान ऊपर (आकाश में) एक ही चाल से (ज्यों के त्यों) स्थित (ठहरे हुए) हैं!

यहाँ परोक्ष रूप से—प्रकृति के माध्यम द्वारा—ऊर्मिला तथा लक्ष्मण की विरह-जन्य करुणावस्था का चित्रण किया गया है। आरम्भ में कवि ने *रजनी* को सम्बोधित किया है। रात होने पर चकवा और चकवी अलग-अलग हो जाते हैं। लक्ष्मण और ऊर्मिला के बीच में भी अवधि रूपी रात है। दोनों में से एक (लक्ष्मण) *उस* पार (वन में) है और दूसरा (ऊर्मिला) *इस* पार (अयोध्या में)। दोनों के चीत्कार दोनों ओर से चलकर बीच में एक दूसरे से जा मिलते हैं किन्तु काल-सरिता की क्रूर लहरें उन पर भी दया नहीं करतीं और उन्हें लथेड़ कर बहुत नीचे धर पटकती हैं। हृदयहीन भाग्य (नक्षत्र) तो इन वियोगियों पर तनिक भी तरस नहीं खाता।

तम में क्षिति-लोक लुप्त यों ···· ··· ···· ····उसके ऊपर है नभस्थली।

इस समय सारा संसार (पृथ्वी लोक) अन्धकार में इस प्रकार लीन हो रहा है जैसे नीले कमल में भ्रमर सोया हुआ हो। उसके ऊपर हिम-बिन्दु-मयी (तारों से भरी) तथा गली-ढली (द्रवित) गगन-स्थली (आकाश) है।

सारा संसार गाढ़ान्धकार में निमग्न है अतः यहाँ क्षिति-लोक की तुलना श्याम-वर्ण अलि के साथ की गयी है। धरती नीले आकाश के आवरण में लिपटी हुई है, ठीक उसी प्रकार जैसे काला भौंरा नीले कमल में सो जाता है। कमल पर ओस (अथवा जल) की बूँदें होती हैं, उधर नभ-स्थली में गलने - ढलने वाले हिम-बिन्दु (तारे) इसी भाव की पूर्ति कर रहे हैं।

यहाँ हमारे कवि ने अत्यन्त विराट् दृश्य को लघु चित्र में बाँधने का सफल प्रयत्न किया है।

निज स्वप्न-निमग्न भोग है ···· ···· ··· ··· अब जो जागृत है, वियोग है!

भोग (विलास) इस समय अपने सपनों में डूबा हुआ है, योग शांति की गहरी नींद में निमग्न है, राग (अनुराग) और रोग थक कर तन्द्रित

(उनींदा) सा हो रहा है ; अब तो केवल वियोग (विरह) ही जाग रहा है !

प्राणियों की चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। रात्रि के इन प्रहरों में योग सुषुप्तावस्था में शान्ति प्राप्त कर रहा है, भोग स्वप्नावस्था में है, राग और रोग तन्द्रा में निमग्न हैं, केवल वियोग जाग्रत है। इस प्रकार रात्रि की नीरवता योगी को परम शान्ति प्राप्त करने में सहायता देती है, भोगियों को अपने ही मादक तथा सुनहरे स्वप्नों में लीन कर देती है, थके हुए (संयोगी) प्रेमियों और रोगियों को सुलाने का सा प्रयत्न करती है (संयोग-सुख का आनन्द लूटने वाले प्रेमी रात को रति-श्रम से थक कर उनींदे से हो जाते हैं। उधर, दिन भर की वेदना से थक कर रात्रि के समय रोगियों की भी आँखें झँपने लगती हैं) परन्तु यही रात्रि वियोगी के नेत्रों की नींद भी छीन लेती है अतः जिस समय संसार के अन्य प्राणी स्वप्न, सुषुप्ति अथवा तुरीयावस्था का आनन्द ले रहे होते हैं, वियोगी जागता है। *इस वियोगी* की दशा *उस संयमी* से अधिक भिन्न नहीं जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(सम्पूर्ण भूत प्राणियों के लिए जो रात्रि है उस में नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्द में भगवत् को प्राप्त हुआ योगी पुरुष जागता है और जिस नाशवान्, क्षण-भंगुर सांसारिक सुख में सब भूत प्राणी जागते हैं, तत्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि है।)❀

जल से तट है सटा पड़ा ··· ···· ···· ···· देह स्वयं द्विधा हुई।

(सरयू के) जल से (उसका) तट सटा हुआ (संलग्न) है और तट पर अटारी है। (उसी अटारी की) खिड़की पर ऊर्मिला खड़ी है। उसका मुँह छोटा है परन्तु अँखियाँ बड़ी-बड़ी हैं; शरीर (विरह के कारण) दुबला है परन्तु उसमें से दीप्ति फूटी पड़ रही है, उसका धैर्य सूख गया है (नष्टप्राय हो गया है) परन्तु (प्रिय की) स्मृति (उसके हृदय में) हरी-हरी (जाग्रत) है ! जटाओं की भाँति पुंजीभूत उसकी अलकें (बाल) प्रिय के चरणों की मार्जनी ('मार्जनी का अर्थ है झाड़ू। यहाँ इसका अर्थ 'पायदान' ही उपयुक्त जान पड़ता है) बनने के लिए उड़ रही हैं। उसकी सखी उसके अत्यन्त ही समीप (ऊर्मिला से सटकर) चुप चाप खड़ी है अथवा मानो स्वयं ऊर्मिला की देह ही (सखी के रूप में) दो खंडों में विभाजित हो गयी है।

❀ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ६९।

दशम सर्ग में ऊर्मिला *साकेत-निकेत-अङ्गिनी* सरयू को अपनी जीवन गाथा सुनाती है। केवल सखी इस अवसर पर उसके साथ है। वास्तविक वृत्तान्त आरम्भ करने से पूर्व कवि *ऊर्मिला, सरयू* और *सखी* के बीच एक अभिन्न तथा अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित कर देता है। इस कार्य के लिए हमारे कवि ने एक विशेष पद्धति का अवलंबन किया है। वह स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ा है। कवि सर्वप्रथम (सरयू के) जल का उल्लेख करता है। इतने स्थूल—स्पष्ट—प्रत्यक्ष पदार्थ (Object) को देखने-समझने में भला किसे कठिनाई होगी ! इस *जल* से सटा हुआ है *तट*, तट पर खड़ा है *अटा*, अटा में है *खिड़की* और खिड़की पर खड़ी है *ऊर्मिला*। हमारे कवि की प्रतिभा ने इस प्रकार अन्योन्याश्रित कड़ियों द्वारा सरयू और ऊर्मिला के बीच एक अटूट सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। यह सम्बन्ध केवल शारीरिक ही नहीं, मानसिक भी है; इसमें विस्तार भी है और गम्भीरता भी। रह गयी सखी। उसके रूप में तो मानों ऊर्मिला ही की देह दो भागों में विभक्त हो गयी है। '*द्विधा*' का ध्वनि-साम्य '*द्विविधा*' के साथ भी है जिसका अर्थ होता है अनिश्चय। यहाँ भी यह निश्चिय नहीं हो पा रहा कि वह सखी है अथवा ऊर्मिला की देह का ही एक खंड। इस प्रकार ऊर्मिला की सखी तो '*अन्तरङ्ग*' की स्थिति से भी बहुत ऊपर उठ जाती है।

स्वयं ऊर्मिला के चित्रण में भी कवि ने थोड़े परन्तु अर्थ-गर्भित शब्दों का प्रयोग किया है। उसका *मुँह छोटा* है। छोटा मुँह दीनता का द्योतक होता है। (कहावत भी है, छोटा मुँह बड़ी बात)। प्रिय की अनुपस्थिति में आज ऊर्मिला अत्यधिक दीन हो गयी है परन्तु उसकी स्वभावतः बड़ी आँखें ('जान पड़ता नेत्र देख बड़े बड़े, हीरकों में गोल नीलम हैं जड़े'—साकेत, सर्ग १) प्रिय की प्रतीक्षा करते करते *और भी बड़ी* हो गयी हैं अथवा वह आँखें फाड़ फाड़ कर प्रिय की बाट देख रही है। विरह ने उसके शरीर को *कृश* (अत्यन्त दुर्बल) बना दिया है परन्तु इस तपस्या ने उसके शरीर की दीप्ति *पहले से कहीं अधिक* बढ़ा दी है। उसका धैर्य सूख गया है, वह *निराधार* सी हो गयी है परन्तु *स्मृति* ने अभी उसका साथ नहीं छोड़ा। *अतीत* की वे ही सुमधुर स्मृतियाँ *भविष्य* की कल्पनाएँ—आशाएँ—बनकर ऊर्मिला के *निराधार* प्राणों को *आश्रय* प्रदान कर रही हैं।

खिड़की पर ऊर्मिला खड़ी : 'अरुण' जी के शब्दों में —

हे राम ! ऊर्मिला को एकाकी देख हुई चिन्ता कि नहीं ?
वह देख रही है एक अटारी पर चढ़ कर,

वह झाँक रही है निज पति को, पर हाय, देख पाती न तनिक
*आँसू की इतनी घटा उमड़ती है दृग में !**

तब बोल उठी वियोगिनी .... यह तारे मुँद तो न जायेंगे।

तब वियोगिनी ऊर्मिला (जिसके सामने योगिनी भी तुच्छ थी) बोल उठी, "पुंजीभूत न रह कर अन्धकार फूट पड़ा, यह ब्रह्माण्ड फटा जा रहा है। हे सखी, अपनी अविचल प्रकाश-समाधि वन के किस कोने में (लगी) है ? (मेरे जीवन के गहन अन्धकार के प्रकाश, मेरे पति, वन के किस कोने में तपस्या-निरत हैं ?) हे सखी, देख आकाश खुल गया है। अन्धकार तो (अब भी) है परन्तु वह प्रकाश से धुला है (अत्यन्त सघन नहीं है) (आकाश) में) ये जो खचित तारे दिखाई दे रहे हैं ये तो रात्रि (के अन्धकार) में दिन (प्रकाश) के बीजों की भाँति बच रहे हैं। क्या अपने (सुख के) दिन फिर न आयेंगे ? क्या ये नेत्र उन्हें (उन दिनों को अथवा प्रिय को) फिर न देख सकेंगे ? जब तक प्रिय लक्ष्य (अभिलषित सिद्धि) साथ लेकर यहाँ आयेंगे तब तक ये तारे (नयन-तारक) मुँद तो न जायेंगे (मेरी जीवन-लीला समाप्त तो न हो जाएगी) ?"

तब बोल उठी वियोगिनी, जिसके सम्मुख तुच्छ योगिनी : 'वि' उपसर्ग शब्द से पहले आकर 'विशेष' का अर्थ देता है। तभी तो '*वि योगिनी*' के सम्मुख '*योगिनी*' तुच्छ—विशेषता रहित—है। हमारे कवि ने अन्यत्र भी कहा है—

आँखों में प्रिय-मूर्ति थी, भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग !
आठ पहर चौंसठ घड़ी स्वामी का ही ध्यान,
छूट गया पीछे स्वयं उससे आत्म-ज्ञान !

तम फूट पड़ा, नहीं अटा, यह ब्रह्माण्ड फटा, फटा, फटा : गुब्बारे में अधिक हवा भरने से वह फूट जाता है। अन्धकार इतना अधिक बढ़ गया कि वह ब्रह्माण्ड को फाड़े डाल रहा है। विरहिणी को समस्त संसार अन्धकारमय और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड फटा फटा जान पड़ता है। यदि 'तम' का अर्थ तमस् अथवा तामसिक भावनाएँ मान लिया जाए तो इन पंक्तियों से यह ध्वनि भी निकलती है कि कैकेयी की प्रच्छन्न तामसिक भावनाओं ने ही प्रकट होकर ऊर्मिला का ब्रह्माण्ड—*यह ब्रह्माण्ड*—तहस-नहस कर दिया।

---

* पोद्दार रामावतार 'अरुण', विदेह, सर्ग १०, पृष्ठ १६६।

किस कानन-कोण में, हला, निज आलोक-समाधि निश्चला : अन्धकार का शत्रु है प्रकाश। उस विश्व-व्यापी अन्धकार अथवा तमस् को निर्मूल करने के लिए ही तो लक्ष्मण ने वन में निश्चल *आलोक-समाधि* लगायी है, संसार के सम्मुख भ्रातृ-भक्ति का एक अपूर्व आदर्श रखा है! उस समाधि से उर्मिला असम्बद्ध नहीं, 'निज' द्वारा यही भाव प्रकट किया गया है।

यह तारक जो खचे रचे, निशि में वासर बीज से बचे : तारों को *वासर-बीज* मानना वास्तव में एक अपूर्व कल्पना है। निशि में बीज-रूप शेष रह जाने वाले ये तारे विकसित होकर दिन बनते हैं फिर रात आती है और फिर ये बीज नये दिन की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार समय का यह अनवरत चक्र चलता रहता है। ऊर्मिला की विरह-निशा में उसके नयन-तारक भी तो इसी प्रकार टिमटिमा रहे हैं। क्या वे भी '*निज वासर*' देख सकेंगे?

जब लौं प्रिय लक्ष लायँगे,
यह तारे मुँद तो न जाएँगे?

इस अनिश्चय अथवा आशंका में कितनी विकलता है, उस विकलता में कितनी वेदना और उस वेदना में कितनी तीव्रता!

अलि, मैं बलि ठीक बात है ··· ··· ··· बस डूब ही मरूँ?

(ऊर्मिला को आश्वासन देकर सखी ने कहा कि रात के उपरांत दिन और अन्धकार के उपरान्त प्रकाश अवश्यम्भावी है। यह सुन कर ऊर्मिला कहती है) "हे सखी, मैं बलिहारी जाती हूँ; तूने ठीक ही कहा है कि आज रात है, कल दिन होगा। अस्तु, मेरी दृष्टियाँ उडु (तारों के रूप में)-बीज चुग न लें और सूर्य तथा चन्द्र का उदय हो सके इसलिए मैं ऊपर की ओर देखूँ ही क्यों? नीचे यह सरयू बह रही है, इसे ही क्यों न धारण करलूँ? मैं इसका मधुर स्वर कानों में क्यों न भर लूँ? जल क्या है, इसमें तो बस डूब मरने को ही जी चाहता है!

अँधियारी रात में टिमटिमाते तारे ऊर्मिला को *वासर-बीज* से जान पड़ते हैं। उसे भय होता है कि यदि उन तारों की ओर देख कर उसकी दृष्टियों ने वे *बीज* ही चुग लिए तो फिर दिन कैसे निकलेगा; सूर्य और चन्द्र का उदय कैसे होगा, उसकी जीवन-निशा का प्रभात कैसे होगा? अतः ऊर्मिला ऊपर की ओर न देख कर नीचे सरयू की ओर ही ध्यान लगाना चाहती है।

धर यों मत, बात थी अरी ···· ···· ···· बैठें हम, नेक बैठ जा।

ऊर्मिला के मुख से 'बस डूब ही मरूँ' शब्द सुन कर सखी इस भय से

उसे पकड़ लेती है कि कहीं ऊर्मिला सरयू के जल में कूद कर आत्म-हत्या न कर ले। इस पर ऊर्मिला कहती है, "अरी, मुझे इस प्रकार पकड़ नहीं, यह तो बात (ही) थी (मैं वास्तव में डूबना तो नहीं चाहती) मैं मरी-मरी (मृत-तुल्य होकर भी) मरती कहाँ हूँ (मेरे भाग्य में तो मरना भी नहीं बदा)? मैं भला इस प्रकार कैसे डूब सकती हूँ? मेरे भाग्य में तो बस इस प्रकार ऊबना ही लिखा है (फिर इससे छुटकारा पाने के लिए मर कैसे सकती हूँ?) भाग्य मुझे बच्चों की तरह खिला (बहला) रहा है और (प्रियतम के प्रति) ध्रुव (अटल) विश्वास मुझे अमृत पिला रहा है (जिसके कारण मैं मरी-मरी होकर भी मर नहीं पाती) वह लोभ (प्रिय की सिद्धि अथवा उद्देश्य-पूर्ति से प्राप्त होने वाले गौरव तथा हर्ष का लोभ) मुझे हिला रहा (परचा रहा) है और प्रिय का ध्यान ही मुझे जीवित रक्खे है। यह (मेरी) प्रीति (पति-प्रेम) रूपी पक्षिणी उनके (प्रिय के) गुण रूपी जाल में (जिसकी प्रत्येक कड़ी प्रिय की ही स्मृति में बँधी है) फँसी चाहे कितनी भी तड़पती रहे परन्तु प्रतीति (विश्वास) उसकी रक्षिका है। काल अत्यन्त भयंकर तथा कुटिल है और वह अपने हाथ में एक बहुत बड़ा डंडा (अथवा दंड) भी लिए है परन्तु यहाँ (मेरे पास) भी तो जला देने वाली आह और चबा जाने वाली चाह है (अतः उस काल का अन्त अवश्य होगा)। हे सखी, भय में स्वयं प्रवेश न कर (तू डर नहीं, इसी विश्वास के कारण मैं डूब कर नहीं मरूँगी) आ, कुछ देर बैठ जावें।

ऊर्मिला डूबने की बात करती है। चिन्तित सखी उसे पकड़ लेती है। ऊर्मिला कहती है—

धर यों मत, बात थी अरी!

ऊर्मिला के ये शब्द एक नाटकीय प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं और साथ ही साथ अत्यधिक चिन्तित सखी को भी पर्याप्त शान्ति प्रदान करते हैं। यह सब होने पर भी स्वयं ऊर्मिला की वेदना इस प्रकार और भी बढ़ जाती है। उस *मरी-मरी* के भाग्य में तो *मरना* भी नहीं बदा! जिसकी क़िस्मत में इस तरह *ऊबना* लिखा है वह डूब कैसे सकती है? यह सत्य है कि भाग्य अथवा विधाता उसे बालिका की भाँति बहला-फुसला रहा है परन्तु प्रिय के प्रति अटल विश्वास ऊर्मिला को अमृत सा पिला कर उसे मरने से बचा रहा है। यह तो अवश्य है कि प्रिय का स्मरण ही उसे यहाँ जिला रहा है परन्तु उसे लोभ भी है—पति की सफलता, उनकी कीर्ति, उनको उद्देश्य-सिद्धि में भाग लेने का लोभ! ऐसी दशा में वह कैसे मर

सकती है ? ऊर्मिला की *प्रीति-पक्षिणी* प्रिय के गुण-जाल की बन्दिनी है, उसी गुण-जाल की—

स्मृतिबद्धा जिसकी कड़ी कड़ी—

जिसकी कड़ी-कड़ी प्रिय की मधुर स्मृतियों से बँधी है । अस्तु, यह पक्षिणी चाहे उस जाल में कितनी भी क्यों न तड़पे परन्तु वह उससे मुक्त नहीं हो सकती, होना भी नहीं चाहती । हाँ, उसे यह पूर्ण विश्वास है कि उसके दुःखों का अन्त अवश्य होगा ।

यशोधरा को भी, अवधि-सीमा न होने पर भी, यह अटल विश्वास था कि—

गये, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व, अनुपम लावेंगे ।

और—

उन्हें समर्पित कर दिये, यदि मैंने सब काम ,
तो आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम ।
यहीं, इसी आँगन में ,
*सखि, प्रियतम हैं वन में ?**

यह गन्ध नहीं बिखेरता ··· ··· ··· ··· हम जागें सब और सो रहे !

"(प्रिय की अनुपस्थिति में) हमारी वाटिका का यह स्रोत (जल की छोटी धारा अथवा झरना) अब (पहले की भाँति) (फूलों की) सुगन्ध नहीं बिखेरता (फैलाता) (अब उसका जल फूलों की सुगन्ध के युक्त नहीं है) यह तो उस वन की ओर ही पार्श्व फेर रहा है (करवट ले रहा है) । समस्त घाट तथा रास्ते जनविहीन, सुनसान तथा सपाट हैं । जान पड़ता है कि जड़ तथा चेतन (इस समय) एक (एकाकार) हो रहे हैं (चेतन प्राणी भी जड़ तुल्य हो रहे हैं) हम जाग रहे हैं, अन्य सब लोग सो रहे हैं !

'वन-सोता वन-पार्श्व फेरता' में प्रथम 'वन' का अर्थ है (ऊर्मिला की) वाटिका और दूसरे 'वन' का अर्थ है (वह) जंगल (जिसमें लक्ष्मण रह रहे हैं) । ऊर्मिला के कहने का आशय यह है कि इस समय जड़ तथा चेतन सब का ही ध्यान उसी वन की ओर लगा हुआ है ।

निधि निर्जन में निहारती ··· ··· ··· ··· जितनी हा लघु लोक-दृष्टि है ।

"एकांत में अपने वैभव को देख कर अपने ऊपर रत्न (हीरे मोती)

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ३९ ।

निछावर करती हुई यह सृष्टि कितनी अधिक विशाल (बड़ी अथवा विस्तृत) है ! यह उतनी ही विशाल है जितनी सीमित (संकीर्ण) इस संसार में रहने वालों की दृष्टि है ।

भाव यह है कि सृष्टि अधिकतम विशाल है और विश्व (मानव) की दृष्टि अधिकतम संकीर्ण ।

निधि निर्जन में निहारती— धनी प्रायः अपने धन को एकान्त में—सबकी आँख बचा कर—ही देखते हैं । निर्जन में अपने यौवन-धन का निरीक्षण करती एक नवयुवती का चित्रण करते हुए महाकवि विद्यापति ने कहा है :

निरजन उरज हेरइ कत बेरि ।
*हसइ से अपन पयोधर हेरि ॥**

तम भूतल-वस्त्र है बना ... ... बस दो हैं जल-वायु साख में ।

"अंधकार ने पृथ्वी के वस्त्र (आवरण) का रूप धारण कर लिया है उधर आकाश पृथ्वी पर चंदोवे की तरह छाया हुआ है । आग राख में सो रही है । अब तो केवल दो (तत्व) अर्थात् जल और वायु ही साख में (तत्त्वों की उपस्थिति के साक्षी स्वरूप) उपस्थित हैं ।

सरयू कब क्लान्ति पा रही ... ... जीवन-सार है यही ।

"परंतु सरयू कब थकती है; वह तो अब भी निरंतर (अपने प्रिय) सागर की ओर बढ़ रही है । हे सखी मानव-जीवन का सार, मनुष्य का सहारा, यही (अनन्य प्रेम) तो है ।

रात्रि की इस नीरवता में जब सारा संसार सो रहा है, सब ओर सन्नाटा है, जड़ तथा चेतन एकाकार होते जान पड़ रहे हैं उस समय भी सरयू किसी प्रकार की क्लान्ति का अनुभव किये बिना निरन्तर चुपचाप अभिसारिका नायिका की भाँति अपने प्रेमी की ओर बढ़ी चली जा रही है । उधर, जब सब सो रहे हैं उस समय ऊर्मिला भी तो जाग रही है—उसकी हृदय-सरिता भी तो निरन्तर, अहर्निशि अपने सागर की ओर बढ़ी चली जा रही है !

सरयू, रघुराज वंश की .... उसका हो सुभविष्य सौ गुना ।

ऊर्मिला कहती है, "हे साकेत-निकेत-अंगिनी (साकेत रूपी भवन में वास करने वाली अथवा साकेत के राज-भवन में वास करने वाली—साकेत के राज-परिवार की ही एक सदस्या) सरयू, सुन, तू रवि (सूर्य) के

---

* विद्यापति की पदावली, सं० बेनीपुरी, पृ० ६ ।

उज्ज्वल तथा उस अंश—रघुवंश—की बहुत ही पुरानी संगिनी है ! तू उस श्रेष्ठ (रघु—) वंश की परम्परा की भी ध्रुव (अटल) तथा सच्ची साक्षिणी है जिसने सागर सहित (पर्यन्त) धरणी को धन्य किया है और देव-लोक (देवता) भी जिस वंश का ऋणी है।

"वह कौन सी नदी है जिसके तट पर सर्व-प्रथम मानव-धर्म का उदय हुआ ? वह (मानव-धर्म) सबसे पहले यहीं (तेरे ही तट पर) तो पला है ! हे सरयू, (इसीलिए) तू (मानव-धर्म के संस्थापक) मनु की मंगलकारिणी-कीर्ति है !

(अपने पूर्वजों के महच्चरित्रों का स्मरण करके ऊर्मिला कहती है) "उनका तेज तथा प्रताप कितना अधिक था जो स्वयं ही प्रधान रूप से युद्ध का संचालन किया करते थे (इन्द्र न होने पर भी वे अपने तेज तथा प्रताप के कारण इन्द्र का कार्य—देवताओं की सेना का संचालन—किया करते थे) देव-पत्नियाँ भी उनके यश (गुण) का गान कर करके कहती हैं कि हम उन महापुरुषों पर निछावर होती हैं। (तनिक बता तो सही) किसने अपने पुत्र तक का त्याग करके अपनी प्रजा को कृतार्थ किया (भाव यह है कि हमारे पूर्वज महाराज सगर ही ने तो प्रजा के लिए अपने पुत्र का त्याग करके प्रजा-वत्सलता का अपूर्व आदर्श स्थापित किया है) ? (हमारे पूर्वज महाराज दिलीप के अतिरिक्त और) किसने इन्द्र की पदवी लिए बिना ही (इन्द्र का पद प्राप्त करने के लोभ के बिना ही) सौ यज्ञ किये हैं ? हे सरयू, सुन, पुण्यात्मा कवि कहते हैं कि यदि तेरे सखा तथा हमारे पूर्वज महाराज भगीरथ प्रयत्न (कठोर तपस्या) न करते तो जाह्नवी (देव-नदी गंगा) (पृथ्वी पर बह कर) सागर को कभी न मिल पाती। (यह तो बता कि महाराज रघु के अतिरिक्त और) किसने विश्वजित् यज्ञ में अपने पास केवल मिट्टी का एक बरतन रख कर और सब कुछ दान कर दिया ? नहीं, नहीं, इतना ही नहीं (और किसने सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र की भाँति) दान व्रत का मान (गौरव) रख कर ही अपना शरीर तक (चांडाल के हाथ) बेच दिया ? जिस (रघुवंश) का गत (बीता हुआ समय अथवा भूतकाल) इतना महान् है उसका वर्तमान (महाराज दशरथ, श्री राम, लक्ष्मण, भरत आदि के अनुकरणीय चरित्र) सबके सम्मुख है। जिस वंश का प्रस्तुत गौरव विगत से चौगुना है, उसका भविष्य वर्तमान से भी सौगुना गौरव-पूर्ण हो।

सरयू की लहरों में ऊर्मिला को विगत युगों की छाया दिखाई देती है। सरयू एक *नदी मात्र* नहीं है। वह रवि के उज्ज्वल उच्च अंश—रघुवंश—की *चिरकाल संगिनी* और *साकेत-निकेत-अंगिनी* है! सरयू उसी सत्कुल की परम्परा की *ध्रुव सत्य साक्षिणी* है जिसके साथ ऊर्मिला का अभिन्न तथा अटूट सम्बन्ध है, जिस उच्च वंश की वह वधू है। अस्तु, सरयू को देख कर ऊर्मिला के नेत्रों के सम्मुख इतिहास के विगत चित्र आने लगते हैं। यही तो वह नदी है जहाँ मानव-धर्म सर्व प्रथम पला। यही तो वह पुण्य-सरिता है जिसने युग-युग से अपने प्रतापी नरेशों—महाराज सगर, दिलीप, भगीरथ, रघु तथा हरिश्चन्द्र आदि के महच्चरित्रों की साक्षी दी है। रघुवंश के इस गौरवपूर्ण अतीत का सिंहावलोकन करते-करते ऊर्मिला का हृदय श्रद्धा और गर्व से भर जाता है। क्रमशः उसकी दृष्टि अतीत से वर्तमान पर आ कर टिकती है और उसे यह देख कर अपार गर्व तथा हर्ष होता है कि

कल से यह आज चौगुना।

अस्तु, अपार आत्म-विश्वास भरे शब्दों में वह यही कामना करती है कि

उसका हो सुभविष्य सौगुना।

'जिसका सुरलोक भी ऋणी': सूर्य-वंशी नरेशों ने अनेक अवसरों पर देवताओं को सहायता दी थी। (एक देवासुर-संग्राम में ही तो महाराज दशरथ ने कैकेयी को दो वरदान देने का वचन दिया था।) श्री राम ने भी इस *ऋण* की ओर संकेत करते हुए प्रजा-जन से कहा:

तुम हो ऐसे प्रजा वृन्द, भूलो न हे,
जिनके राजा देव-कार्य साधक रहे।
गये छोड़ सुख-धाम दैत्य-संग्राम में,
*धैर्य धरो तुम, वही वीर्य है राम में।**

किसने निज पुत्र भी तजा? किसने यों कृतकृत्य की प्रजा?:

महाराज स्वर्गीय सगर ने राज्य कर,
*तजा तुम्हारे लिए पुत्र भी त्याज्य कर।**

किसने शत यज्ञ हैं किये, पदवी वासव की बिना लिए?: 'रघुवंश' में महाकवि कालिदास ने महाराज दिलीप के इन यज्ञों का विस्तृत वर्णन किया है। 'साकेत' के प्रस्तुत उद्धरण से सम्बन्धित 'रघुवंश' के कुछ श्लोकों का भावार्थ आगे दिया जा रहा है:

---

* साकेत, सर्ग ५।

"इन्द्र के समान प्रभावशाली दिलीप ने यज्ञ के घोड़ों की रक्षा का भार रघु और अन्य धनुर्धर राजकुमारों को सौंप कर निन्नानवे अश्वमेध यज्ञ बिना बाधा के पूरे कर लिये। तब दिलीप ने सौवाँ यज्ञ करने के लिए घोड़ा छोड़ा। इन्द्र को यह बात खटकी और उन्होंने अपने को छिपा कर धनुषधारी रक्षकों के देखते-देखते उस घोड़े को चुरा लिया।........अश्व के रक्षक रघु ने निडर हो कर हँसते हुए इन्द्र से कहा, 'यदि आपने यही निश्चय किया है तो शस्त्र उठाइए और युद्ध कीजिए। रघु को जीते बिना आप घोड़ा ले कर नहीं जा सकते।...' इन्द्र ने कहा,-- हे राजकुमार पर्वतों के पंख काटने वाले मेरे कठोर वज्र की चोट को तुम्हें छोड़ कर आज तक किसी ने नहीं सहा। मैं तुम्हारी वीरता पर प्रसन्न हूँ। तुम इस घोड़े को छोड़ कर और जो कुछ मुझसे माँगना चाहो, माँग लो।'........रघु बोले, 'हे इन्द्र, यदि आप घोड़ा नहीं देना चाहते तो यही वरदान दीजिए कि मेरे पिता यज्ञ को समाप्त करके इस घोड़े के बिना ही सौ अश्वमेध यज्ञ करने का फल पा जावें।'.... ...इन्द्र ने कहा 'ऐसा ही होगा........'।"*

किसने मख विश्वजित् किया ? रख मृत्पात्र सभी लुटा दिया :

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तु-शिष्यः ॥
स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥

(जिस समय रघु विश्वजित् यज्ञ में अपना सब कुछ दान किये बैठे थे उसी समय वरतन्तु के शिष्य कौत्स ऋषि गुरुदक्षिणा के लिए धन माँगने के लिए उनके पास आ पहुँचे। अतिथि का सत्कार करने वाले, अत्यन्त शीलवान् और यशस्वी रघु मिट्टी का पात्र लेकर विद्वान् अतिथि की पूजा करने चले क्योंकि सोने चाँदी के पात्र तो उन्होंने सब दान ही कर डाले थे।)†

वश में जिसका भविष्य है .... अपनी ही करनी, न क्यों सहूँ ?

"(अपना) भविष्य जिनके वश में है और वेदों के ज्ञाता मुनियों का संमूह जिनका शिष्य है, 'जनक' नाम से प्रसिद्ध उन्हीं विदेह की मैं पुत्री हूँ। (बाल्य-काल में मैं पिता के) घर में सबकी लाड़ली रही। ऐसी मैं इस वंश (रघुकुल) की वधू बनी (वास्तव में यह सम्बन्ध बहुत ही मधुर रहा)। (रघुवंश

* महाकवि कालिदास, रघुवंश, सर्ग ३, श्लोक ३८, ३९, ५१, ६३, ६५, ६७।
† वही, सर्ग ५, श्लोक १—२।

के एक सुयोग्य वंशज की पत्नी का) जो पद मुझे मिला वह (मुझे) देकर विधाता और ऊर्मिला दोनों ही अपने को कृतार्थ मानते थे (विधाता ऊर्मिला को वह पद देकर कृतकृत्य था और ऊर्मिला वह पद प्राप्त करके।) परन्तु हाय ! (यह सब) सुन कर भी सृष्टि मौन है, आज मुझ जैसा भाग्यहीन और कौन है ? सरयू, इस (प्रस्तुत) दुःख का वर्णन क्या (किस प्रकार) करूँ, अपनी ही करनी (का फल) है फिर उसे कैसे न सहूँगी ?

ऊर्मिला एक उच्च कुल की पुत्री और एक महान् वंश की वधू है। वह पितृ-कुल में अत्यन्त लाड़-प्यार में पली और पति-कुल में भी उसने सबका स्नेह ही संपादित किया। दोनों कुलों पर ऊर्मिला को असीम गर्व है। ऊर्मिला और लक्ष्मण के इस श्लाघ्य संबंध से स्वयं भाग्य ने भी अपने को धन्य माना और ऊर्मिला ने भी परन्तु आज उसका सुख बीती बात बन गया—असह्य दुःख में परिवर्तित हो गया है। आज उस जैसा *दुर्विध* कोई नहीं। हाँ, यह उसकी *अपनी ही करनी* अवश्य है–उसने स्वेच्छा-पूर्वक ही इन परिस्थितियों को निमन्त्रित किया है; फिर वह किसी से क्या कहे-सुने ?

कहला कर दिश्य सम्पदा ···· ···· ···· ···· गति में मैं अति दुर्मिला हुई।

(अपने बाल्यकाल का स्मरण करके ऊर्मिला कहती है कि उस समय) दिश्य सम्पदा कहला कर हम चारों (बहनें) सदैव अत्यन्त सुख (लाड़-प्यार) से पलीं। मुझे पिता अत्यन्त प्यार से अपनी साम-संहिता कहा करते थे। मैं सदा (आरम्भ) से ही (अन्य तीन बहिनों की अपेक्षा) कुछ चंचल रही अतः मैं अपनी ही भाँति (कुछ अनोखे ढंग से) वहीं-वहीं फिरती थी। गति (चाल) में भी मैं अत्यन्त दुर्मिला (अलभ्या) थी। इसीलिए मेरा नाम 'ऊर्मिला' (तरंगित होने वाली) हुआ।

कहला कर दिश्य सम्पदा : दिशायें चार हैं। सीता, ऊर्मिला , माण्डवी, श्रुतकीर्ति भी चार बहनें थीं। इसी लिए माता-पिता उन्हें 'दिश्य-सम्पदा' कहा करते थे। दूसरे शब्दों में, वे यह माना करते थे कि उन चार पुत्रियों के रूप में उन्हें चारों दिशाओं की ही सम्पत्ति प्राप्त हो गयी।

कहते थे निज सामसंहिता : सामवेद में उन स्तोत्रों आदि का संग्रह है जो यज्ञों के अवसर पर गाये जाते हैं। ऊर्मिला को नाचना-गाना विशेष रूप से प्रिय था इसीलिये पिता उसे प्यार से निज 'साम-संहिता' कहा करते थे। बच्चों के लाड़ के नाम रखना उनके प्रति स्नेहाधिक्य का ही सूचक है।

नचती श्रुतिकीर्ति ताण्डवी ···· ···· ···· गढ़ती गीत गभीर अग्रजा।

"श्रुतकीर्ति बहुत उछल कूद कर नाचती थी। सरयू ! माण्डवी (उस

समय) तालियाँ बजाती थी, ऊर्मिला (मैं) स्वर भरती (खुले स्वर में गाती) थी, बड़ी बहन (सीता) गंभीर गीत गढ़-गढ़ कर हमें दिया करती थीं।

'विदेह' की सीता, माण्डवी, ऊर्मिला तथा श्रुतिकीर्ति को भी चित्र तथा संगीत कला बहुत प्रिय हैं :

पुष्पित - उद्यान - निकुंज - कला - गृह में बैठी
सीता, श्रुतिकीर्ति बनाती हैं कल्पना-चित्र····
× × ×
तीसरा चित्र ऊर्मिला स्वयं लेकर आई
जो चम्पक की प्रिय छाया में थी बना रही
यह चित्र बाल युवती का है
अरुणिम सुहाग के फूल खिले हैं प्राणों पर
एकान्त कक्ष में चुपके दीपक जला रही···
× × ×
देखने लगीं तीनों बहिनें तीनों चित्रों को एक साथ
इतने में प्रिय मांडवी वहाँ आकर बैठी
औ' वीणा में गूँजने लगी संगीत - कला
स्वर ने दो हिरणी को लहरों से खींच लिया
दो गायें भी आकर बैठीं चरना तज कर
*कुछ तोते भी पतली डाली पर बैठ गये····**

सरयू, बिसरा विवेक है ···· ···· ··· ···· पुतली, जी उठ, जीव बाँट लें।

"सरयू, इस समय (अपनी अथवा उस समय की) पूरी सुध तो नहीं रही है तथापि तू सुन ले, (बाल्यावस्था में मैं जो गीत गाती थी उनमें से) एक गीत यह है :

(पुतली अथवा गुड़िया को सम्बोधित करके ऊर्मिला कहती है) 'पुतली, मेरे प्राणों को (दो भागों में) बाँट कर तथा उनमें से अपनी इच्छानुसार (एक) सम भाग लेकर तू भी सजीव हो जा। जीवित होकर तू स्वयं अपना मूल्य (महत्त्व) बता, अपने ही पैरों पर उठ तथा खेल-कूद, कुछ बोल कर अपने मन की बात कह और यह प्राण-हीन समाधि खोल ले। तू चाहे मुझे पुचकार अथवा डाँट परन्तु तू (मेरे) प्राणों का बटवारा करके (स्वयं भी) जी उठ!

"तेरे पास कान भी हैं और नेत्र भी, फिर तू (इनकी सहायता से इस

* पोद्दार रामावतार अरुण, विदेह, सर्ग ७, पृ० ११५—१७।

सृष्टि का सौन्दर्य) क्यों नहीं देखती तथा (इस विश्व का मधुर नाद क्यों नहीं) सुनती ? मेरे हृदय के उल्लास के कारण आँगन में सुख की वर्षा-सी हो रही है तू भी स्वयं अपने रस में निमग्न हो जा, पुतली, तू (मेरे) प्राणों का बटवारा करके (स्वयं भी) जी उठ !'

बालिकाओं को गुड़ियों के खेल बहुत प्रिय होते हैं। वे भाँति-भाँति से उन्हें सजाती-सँवारती हैं, उन्हें सुलाती जगाती हैं, उन्हें खिलाती मनाती हैं, बहुत धूम-धाम से उनके विवाह रचाती हैं। ऊर्मिला को भी बाल्यकाल में अपनी गुड़िया—अपनी पुतली—से अत्यधिक स्नेह था। वह तो यह तक चाहती थी कि उसकी गुड़िया उसके प्राणों का बटवारा करके अपनी इच्छानुसार उन दोनों समान भागों में से कोई एक ले ले और इस प्रकार वह भी जीवित हो जाए। तभी तो वह अपने हाथ, पैर, मुँह, नाक, कान आदि का समुचित प्रयोग कर सकेगी, अपना दुःख सुख—अपने मन की बात—कह सकेगी। (कहावत है कि 'पूत के पैर पालने में ही पहचान लिये जाते हैं'। ऊर्मिला की यही स्वाभाविक उदारता आगे चलकर भिन्न-भिन्न स्रोतों में प्रवाहित होती है।)

फिरती सब घूम चौक में ···· ··· ···· ··· घर की ही यह नाट्य-मंडली।

"हम सब बहनें घूमती, झुकती, झूमती तथा गिरती और उठती हुई चौक में फिरती थीं। इस प्रकार कुछ ऐसी धूम मच जाती थी कि स्वयं माँ भी (प्रसन्नता तथा दुलारवश हमारा मुँह) चूम-चूम कर (हमारे ही साथ) नाचने लगती थीं। अपने हाथ (संकेत) से (हमारा) वह दृश्य अपने मग्न स्वामी (हमारे पिता) को दिखा कर वह (माँ) कहती थीं, 'यह लो, अब तो यह घर की ही नाट्य-मंडली बन गई।'

'दिखला कर दृश्य हाथ से' : हाव-भाव अथवा मुद्राएँ काव्य को अत्यधिक स्वाभाविक एवं प्रभावशाली बना देती हैं। प्रस्तुत स्थल इसका एक सुन्दर उदाहरण है।

'कहतीं वे निज मग्न नाथ से' : केवल जननी ही नहीं, जनक भी अपनी इस नाट्य-मंडली की लीलाओं को देख कर मग्न हो जाया करते थे।

कर छोड़, शरीर तोल के ···· ··· ···· ···· क्या घट-तृप्ति पूर्ति है ?

"हाथ छोड़ कर तथा शरीर साध कर हम खेलती हुई छलांग लगाती थीं। यह देख कर भयभीत माताएं कहा करती थीं—'(नारी के स्वाभाविक)

गुण को छोड़ कर पात्रियाँ (अभिनेत्रियाँ अथवा नटनियाँ) न बनो ?' हे नदी (सरयू), हम अपनी विद्या तथा हाथ और गले की कला (कला-कौशल तथा ललित कलाओं) का क्या वर्णन करें ? वह ज्ञान समुद्र के समान है फिर भी क्या उससे इस हृदय (रूपी पात्र) की तृप्ति अथवा संतुष्टि होती है ?

वह बोध पयोधिमूर्ति है; फिर भी क्या घट-तृप्ति पूर्ति है ? : विद्या अथवा कला समुद्र की भाँति अनन्त तथा अथाह हैं परन्तु विचित्र बात तो यह है कि उस *समुद्र* से भी *घट-तृप्ति पूर्ति* नहीं होती, यह छोटा-सा हृदय रूपी पात्र भी नहीं भर पाता। मनुष्य विद्या और कला *जितनी अधिक* प्राप्त करता जाता है, उसकी जिज्ञासा, पिपासा और उत्कंठा भी *उतनी ही अधिक* बढ़ती जाती है। एक दार्शनिक का कथन है, "जब मैं कुछ भी नहीं जानता था उस समय समझता था कि *सब* कुछ जानता हूँ, जब कुछ-कुछ ज्ञान होने लगा तब समझा कि मैं भी कुछ जानता हूँ परन्तु जब ज्ञान का क्षेत्र बहुत बढ़ गया तब मैं यह समझने लगा कि मैं तो कुछ *भी नहीं* जानता।"

मिथिलापुर धन्य धाम की ···· ··· ···· ··· सखियाँ भी ससुराल जा रहीं।

"श्रेष्ठ मिथिलापुरी में कमला नाम से प्रसिद्ध एक नदी है। वह भी बस सदा हमारे अनुकूल ही रहा करती थी। वह हमारे प्रसन्नता-रूपी मूल को सदा सींचती रहती थी। हे सरयू, तुझमें (तेरे जल में) बहुत से (जल के) भँवर हैं, अनेक कछुए तथा मगरमच्छ हैं परन्तु कमला (नदी) तो सदा से बालिका (छोटी) ही है, उसमें छोटी-छोटी मछलियाँ हैं, छोटी-छोटी लहरें उठती हैं। (जब हम बाल्यावस्था में कमला के तट पर जाती थीं तो हमारे) पास ही बहुत सी मछलियाँ घूमा करती थीं और बहुत से हंस हमें घेर कर बोला करते थे। पक्षी हों, चाहे हरिण और चाहे मछलियाँ (जल के जीव हों, चाहे पृथ्वी-तल के पशु अथवा आकाश-विहारी पक्षी) सब विश्वास के ही अधीन हैं (उन्हें विश्वास हो जाय तो वे निर्भय होकर मनुष्यों के समीप आकर डोलते-खेलते रहते हैं)। रेत पर बनाये जाने वाले वे अनेक कलापूर्ण नमूने तथा मोतियों से भी कहीं अधिक मूल्यवान (कमला-तट की) वे शंख-सीपियाँ सब वहीं (मिथिला) में ही रह गयीं (शैशव के साथ ही साथ हमसे छिन गयीं) और सखियाँ भी (धीरे-धीरे) ससुराल जाने लगीं (सखियों का साथ भी छूटने लगा)।

अयोध्या-नरेश महाराज दशरथ के पुत्र सरयू तट पर भाँति-भाँति की शिशु लीलाएं करते थे, इधर महाराज जनक की पुत्रियाँ कमला नदी के तट पर खेला-कूदा करती थीं। सरयू राम-बन्धुओं को हर्षोल्लास प्रदान करती थी, कमला जनक-पुत्रियों को। अपने वीर बालकों की धनुर्विद्या के अभ्यास के लिए सरयू ने अपने जल में अनेक विशालकाय जल-जन्तुओं को स्थान दिया हुआ था परन्तु उन बालिकाओं की क्रीड़ा-भूमि—कमला—तो *चिरकाल बालिका* ही रही, *लघु-मीना* तथा *लघु वीचिमालिका* ही बनी रही। इसी नदी के तट पर बैठ कर इन बालिकाओं ने न जाने कितनी बार रेत पर भाँति-भाँति के नमूने बनाये, सीपियाँ बटोरीं, शंख संगृहीत किये परन्तु आज तो वे सब बीती बातें हैं--एक मधुर स्मृति-मात्र बन कर रह गई हैं।

कमला-तट वाटिका बड़ी ··· ··· ··· सुख का तो फिर पार था कहीं ?

"कमला के तट पर एक बड़ी वाटिका है जिसमें कई तालाब, कुएँ और बावड़ियाँ हैं। (इसी वाटिका में) मणियों से बने एक मन्दिर में महासती-गिरिजा (हिमवत् की पुत्री) पार्वती विराजमान हैं। (उस वाटिका में) पक्षियों के दल नित्य चहचहाया करते थे और (हमारी) माता नित्य (पार्वती की) पवित्र मूर्ति का पूजन किया करती थीं। (पूजा के उपरान्त) हम सबको प्रसाद मिलता था। वास्तव में वही तो सच्चा सुख और स्वाद था (जो हमें उस समय प्राप्त था)! यह यौवन तो स्वयं ही भोग है, (यौवन तो) सुख और शैशव का योग (मिलन) है। हाय ! वह शैशव चला गया, चला गया अब तो उस शैशव का स्थान यौवन के नवीन भोग ने ले लिया है। तितली उड़-उड़ कर तथा नाच-नाच कर नित्य ही फूलों के समस्त रंगों की परख करती रहती है। उधर, जड़ (गतिहीन) पुष्प उसे देख-देख कर उस पर सदा अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं। हे खिलती हुई कली, यदि तू भी उड़ कर भौंरे के साथ-साथ सर्वत्र जा सकती तो फिर क्या तेरे सुख की कोई सीमा रहती ?

ऊर्मिला की माँ नित्य महासती गिरिजा हैमवती की पावन मूर्ति का पूजन किया करती थीं। उस *पूजन* का *प्रसाद*—माँ की साधना का फल—पुत्रियों में बाँट दिया जाता। समय बीतता गया और ऊर्मिला आदि के शैशव में यौवन ने प्रवेश करना आरम्भ किया। धीरे-धीरे शैशव के साथ सुख का संयोग हो गया, बालिकाओं को यौवन भोग—प्रसाद—रूप में प्राप्त हो गया परन्तु उस *प्राप्ति* के साथ ही साथ एक *क्षति* भी तो हुई—

वह शैशव हा! गया-गया

अस्तु, यह नया यौवन-भोग एक बहुत बड़े त्याग का ही फल है।

अब तितली, सुमन, कली और भ्रमर भी उन्हें एक सर्वथा *नवीन* सन्देश सुनाने लगे, उनके सम्मुख एक नूतन रहस्य का उद्‌घाटन करने लगे। तितली उड़-उड़ कर पुष्पों के प्रत्येक रंग की, इन 'सुमनों' की प्रत्येक अव्यक्त ध्वनि ('वर्ण' का अर्थ अक्षर अथवा ध्वनि भी होता है) की जांच-परख करती और जड़ (निश्चेष्ट अथवा स्तब्ध) पुष्प भी उसे निहार कर उस पर अपना सर्वस्व निछावर कर देते। दूसरी ओर है कली और भ्रमर का अनुराग-दृश्य। भ्रमर खिलती हुई कली का मुँह चूम कर किसी अज्ञात दिशा की ओर उड़ जाता है और कली उस निर्मम की बाट ही जोहती रहती है। कितना अच्छा होता यदि वह भी उड़ कर सब जगह अपने भ्रमर के साथ जा सकती! फिर तो उन दोनों के सुख का कोई पार ही न रहता।

ऊर्मिला का *अली* भी आज उसे छोड़ कर चला गया है! वह *खिलती हुई कली* उड़ कर वहाँ नहीं जा सकती। यदि यह सम्भव होता तो क्या उसके सुख की कोई सीमा शेष रह जाती?

अब भी वह वाटिका वहाँ ··· ··· ··· गिरिजा भी बन मूर्ति घूरती।

"वह वाटिका तो अब भी वहाँ है परन्तु ऊर्मिला तो यहाँ बैठी है। दया स्वरूपिणी माँ दुःखी अथवा चिन्तित हो रही है और गिरिजा भी (अब मानों) मूर्ति-मात्र रह कर घूर-सी रही है।

देखने में तो अब भी सब कुछ ज्यों-का-त्यों है परन्तु समय तथा बदली हुई परिस्थितियों के कारण प्रत्येक वस्तु में—ऊर्मिला के जीवन के प्रत्येक अंग में—आमूलचूल परिवर्तन हो गया है।

सुनती कितने प्रसंग मैं ··· ··· ··· सबकी सुन्दर भाव-वन्दिनी।

"(शैशव में) मैं (माँ के मुख से) अनेक प्रसंग (कथाएँ आदि) सुना करती थी। उन्हें सुनते-सुनते मैं कभी-कभी (बीच में कुछ बोल कर) रंग में भंग भी कर देती थी। मैं मानव-चरित्र तो बहुत प्रसन्नतापूर्वक चुना (अपनाया) करती थी परन्तु देवताओं की कथा सुनकर मुझे प्रायः हँसी ही आती थी (और माँ से कह भी दिया करती थी कि) 'शिवि अथवा दधीचि की व्यथा न सुना कर तुम यह किस (देवराज) इन्द्र की कथा सुनाने-

लगीं ! यदि एक भी राक्षस से साक्षात्कार हो गया तो देवताओं का तो मानों मन्त्र ही प्रभावहीन-सा हो जाएगा !' इस पर (मेरे द्वारा देवताओं पर टीका-टिप्पणी की जाने पर) श्रेष्ठ माँ खीझ कर मुझे 'नास्तिक' कह उठती थीं। यह सुन कर मैं हँस कर कहती, 'माँ यदि मुझे प्रसाद दो तो मैं यह नास्तिक-वाद (नास्तिकता) अभी त्याग दूँ ! (आश्चर्य की बात है कि) आप वैसे तो पितृ-पूजन (हमारे पिता की ही पूजा) करती हैं परन्तु फिर भी देवताओं को ही पूज्य ठहराती हैं ।'

यह सुन कर दयामयी माँ कहतीं—'अरी, वह तेरे पितृदेव हैं । सुन, मैं पति-देव (पति रूपी देवता) की सेविका हूँ तभी तो तुम्हें मातृदेविका (देवी पार्वती) की भाँति प्रिय हूँ। (पार्वती को अपने पति शिव के प्रति अनन्य प्रेम था। इसी लिए वह विश्व-वन्दिता हुई। पातिव्रत अथवा पति-प्रेम के उसी आदर्श का अनुकरण करने के कारण ही मैं तुम्हारे लिए माता पार्वती के समान प्रिय हो सकी हूँ)।

इस पर मेरी बड़ी बहिन (सीता) माँ को सम्बोधित करके कहतीं, 'हे प्रजा-व्रजा (अपनी सन्तति का पालन तथा रक्षण करने वाली) तुम तो (हमारे लिए) देवताओं (तथा देवियों) से भी अधिक (पूज्या) हो।'

(इसके पश्चात् ऊर्मिला फिर सरयू को सम्बोधित करके कहती है) चाहे देवता हों, मनुष्य हों अथवा देवताओं के शत्रु राक्षस; ब्रह्मा हों, विष्णु हों अथवा शिव परन्तु सरयू, यह राजनन्दिनी तो सबकी ही सुन्दर भाव-वन्दिनी है (सब की ही प्रीति तथा सद्भावनाओं की केन्द्र है)।

शैशव से ही ऊर्मिला को *देव-कथा* की अपेक्षा *मानव-चरित्रों* में ही अधिक रुचि रही, स्वर्ग की अपेक्षा धरती के प्रति उसके हृदय में अधिक आकर्षण रहा। वह इन्द्र—देवराज इन्द्र—को शिवि तथा दधीचि जैसे महापुरुषों के सम्मुख सदा तुच्छ समझती रही। समय और आयु के साथ-साथ ऊर्मिला का यह मानव-प्रेम—यह मानववाद भी अधिक परिपक्व होता गया और लक्ष्मण के रूप में तो ऊर्मिला को मानो वही महापुरुष प्राप्त हो गया जिसकी वह निरन्तर खोज करती रही थी।

'शिवि' : राजा उशीनर के पुत्र तथा ययाति के दौहित्र एक राजा जो अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध हैं।

'दधीचि' : एक वैदिक ऋषि जो यास्क के मत से अथर्व के पुत्र थे और इसीलिए 'अथर्वि' कहलाते थे। एक बार वृत्रासुर के उपद्रव करने पर इन्द्र ने अस्त्र

बनाने के लिए दधीचि से उनकी हड्डियाँ माँगीं। दधीचि ने इसके लिए सहर्ष अपने प्राण त्याग दिये। तभी से ये बड़े भारी दानी प्रसिद्ध हैं।

सुनती जब मैं उमा-कथा .... उनमें दीख पड़ी सभी समा !!

"जब मैं (माँ के मुख से) उमा (पार्वती) की (तपस्या की) कथा सुनती थी तब मुझे बहुत व्यथा (दुख) होती। यह देख कर माँ कहा करती थीं, 'अरी, तूने तो अपनी सुध ही खो दी! यह तो देव-चरित्र है, इसे सुन कर ही तू रो पड़ी!' शंकरी (पार्वती) ने अपने शङ्कर के लिए कितनी भयंकर (कठोर) तपस्या की। उनकी वही शिव-साधना इस समय मुझे सान्त्वना प्रदान कर रही है। जब भयंकर कालिका (चंडिका) स्वर्ग त्याग कर डरे हुए (अथवा साहसहीन) व्यक्तियों का पालन करने वाली बन जातीं तब मैं उछल-उछल कर तथा निर्भय हो-होकर उनका जय-जयकार किया करती थी। जिस समय शुम्भ तथा निशुम्भ (नामक राक्षसों) का वध करने वाली देवी (शक्ति) दुर्गा का मनोवांछित स्वरूप धारण करतीं तब हमारा शिशु-हृदय उन माता के स्तन-पान की लालसा कर उठता (और मैं कहने लगती कि) हम सब भी तो क्षत्रिय-पुत्रियाँ हैं फिर हम भी अपने-अपने स्वर्ग की रक्षिका क्यों न बन जावें? परन्तु (हमारे पास आवश्यक) अस्त्र (साधन) कहाँ हैं? (उस समय मेरी यह बात सुन कर जीजी ने) आगे बढ़ कर कहा था, 'अस्त्र तो सब जगह मौजूद हैं—यहाँ भी हैं' यह कहते-कहते उन्होंने शिव का धनुष अपने हाथ में उठा लिया। हम सब लोग आश्चर्य चकित रह गये। उस समय गिरा (सरस्वती), उमा (पार्वती) और रमा (लक्ष्मी) आदि सब देवियाँ एक साथ ही उन (सीता) में दिखायी दे रही थीं।

ऊर्मिला तथा उसकी बहनों को महासतियों—विशेषतः पार्वती—की कथा सुनायी जाती (आज भी हमारे देश में ऐसे हिन्दू घरों का अभाव नहीं है जहाँ कन्याओं को पार्वती की कथा सुनाई जाती है)। शैशव में माँ के मुख से सुनी वही कथा—शिव को प्राप्त करने के लिए की जाने वाली पार्वती की कठोरतम तपस्या की कथा—वियोग के इस अन्धकारमय वातावरण में ऊर्मिला को सान्त्वना दे रही है, उसका पथ-प्रदर्शन कर रही है।

पार्वती के अतिरिक्त ऊर्मिला आदि को चण्डिका और दुर्गा की कथा सुनायी जाती। ये चरित्र सुन कर इनके हृदय में भी अपने स्वर्ग—अपने छोटे-से संसार - की रक्षा — आत्म-रक्षा का भाव उदित होता। परन्तु आत्म-रक्षा के लिए

तो अन्न चाहिए। अन्न कहाँ मिलेंगे? ऊर्मिला की बड़ी बहन, सीता का उत्तर है :

'सभी कहीं'—

और यह कहते-कहते 'साकेत' की सीता अनायास ही शिव का धनुष उठा लेती हैं। इस प्रकार गुप्तजी ने राम-कथा के प्रायः सभी प्रमुख अंशों को अपने काव्यानुकूल बनाकर 'साकेत' में समाविष्ट कर लिया है।

'उस काल गिरा, उमा, रमा उनमें दीख पड़ी सभी समा' : गोस्वामीजी ने सीता के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहा है :

गिरा मुखर तनु अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
विष बारुनी बंधु प्रिय जेहि।
*कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥**

'साकेत' की सीता में ये समस्त देवियाँ एक साथ ही दिखायी देती हैं।

सबने कल नाद-सा किया ···· ···· अपनी ये कलियाँ जिन्हें चढ़ें।

(जीजी के हाथ में धनुष देख कर) सबने मधुर स्वर में कहा, 'कलिका ने आकाश को उठा लिया, कन ने मन की तोल माप करली, यह (सीता) अपने सौभाग्यशाली पिता की योग्य पुत्री है!' जीजीधन (सीता) ने यह दिखा दिया कि जन ने मन को हाथ (मुट्ठी) में ले लिया (अपने वश में कर लिया)। वह (सीता वैसे भी तो) संसार में अपराजिता (किसी से पराजित न होने वाली) ही हैं। सरयू, (यह सब देख-सुन कर) पिता हर्ष-विभोर हो गये और बोले, 'मैं तो अपने मन रूपी मानसरोवर में निमग्न मछली की भाँति सदा आत्म-लीन (आत्म-चिन्तन-रत) प्रसिद्ध हूँ परन्तु मैथिली (सीता) के रूप में तो मानों अत्यन्त विचित्र माया ही पुत्री बनकर मुझे प्राप्त हो गयी है।' हे सरयू, इस प्रकार पिता को अत्यधिक प्रसन्नता थी परन्तु माँ को चिन्ता थी (वह प्रार्थना कर रही थीं कि) 'हे वरदायिनी माँ (गिरिजा) आप ही मेरा यह कार्य सम्पन्न कीजिये; मुझे वर—ऐसे (इन पुत्रियों के योग्य) चार वर-चाहिएँ!' यह सुन कर पिता ने माँ से कहा, 'अरे, तुम व्यर्थ ही चिन्ता क्यों कर रही हो? देव-तुल्य वर (कहीं न कहीं) अवश्य हैं जिन पर अपनी ये कलियाँ चढ़ाई जा सकेंगी। अतः इन्हें बढ़ने तो दो।'

सीता के हाथ में धनुष देखकर सम्पूर्ण दल पल भर के लिए तो विस्मय से

* रामचरितमानस, बालकांड।

अवाक् रह गया। फिर सबने हर्ष और प्रशंसा भरे शब्दों में एक साथ ही *कलनाद-सा* किया। पहली बार अवाक् रह जाने से विस्मय की अतिशयता का सफल निरूपण हो सका है और दूसरे ही क्षण सबके एक साथ बोल उठने से हृदय में सीमित न रह पाने वाले हर्ष का। *विदेह* जनक भी गद्‌गद् हो गये, उन्हें अपार हर्ष था परन्तु माँ के हृदय में तो एक *नयी चिन्ता* उत्पन्न हो गयी। इन पुत्रियों के योग्य जामाता कहाँ मिलेंगे ? और फिर एक अथवा दो नहीं, उन्हें तो *चार* वरदेव चाहिएँ अपनी चार सुपुत्रियों के लिए ! विवाह-योग्य हिन्दू-कन्याओं की माता का यह कितना स्वाभाविक चित्र है !

सरिते ! वरदेव भी मिले ···· ···· फल चारों फल क्यों न फूलता ?

"हे सरयू, देव-तुल्य सुयोग्य वर भी मिल गये। वे तेरे ही तो प्रफुल्लित पद्म थे। साँवले तथा गोरे शरीरों वाले उन महानुभावों से अधिक योग्य वर और कौन से हो सकते थे ? (कोई नहीं हो सकते थे) पाप से रहित तथा पुण्य से युक्त वे चारों तो पहले ही (पृथ्वी पर) अवतार ले चुके थे। वे दुगुने धीरता तथा वीरता युक्त थे। (उनके यहीं अवतरित होने के कारण) ये (तेरे) मधुर जल के तट भी पुण्यात्मा (सौभाग्यशाली) हो गये थे। उदार प्रभु की कृपा से तीन माताओं के वे चार सुपुत्र थे। वंश (रघुवंश) रूपी वृक्ष का मूल-भूत पुण्य चार पुत्रों के रूप में चारों फल (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) भेंट क्यों न करता ?

वह बाल्य-कथा विनोदिनी ··· ··· जब तूने, शर ने उड़ा दिया !

"हे सरयू, माधुर्य (अथवा सौंदर्य) की मूर्ति और प्रसन्नता प्रदान करने वाली (विनोद-पूर्ण) वह (राम-बन्धुओं की) बाल्य-कथा (बाल-लीलाओं की कहानी) तू ही सुना सकती है। मैं तो केवल वे सब बातें तुझसे सुन ही सकती हूँ जिन्हें तू अपनी आँखों से देख चुकी है। हे प्रवाहिणी (नदी), मैं अब इस बात का रहस्य समझ सकी हूँ कि तूने अपनी लहरों में अनेक मगरमच्छ (अथवा घड़ियाल) क्यों धारण किये हुए हैं ? बात यह है कि ये मगरमच्छ तेरे अपने वीर-विनोद-पक्ष के सुन्दर लक्ष (निशाना) के साधन हैं (भाव यह है कि तेरे अपने ही वीर, राम लक्ष्मण आदि खिलवाड़ द्वारा अपना मनोविनोद करने के लिए इन ग्राहों को अपना सुन्दर निशाना बनाते रहे हैं अतः उन वीरों को समुचित लक्ष प्रदान करने के लिए ही तूने अपने जल में अनेक मगरमच्छों को धारण किया हुआ है)। (राम-बन्धु जब मगर-मच्छों को निशाना बनाने के लिए तेरी ओर तीर छोड़ते थे उस समय) क्या

वे तीर, जो पत्थरों को भी फाड़ (बींध) डालने में समर्थ थे, तुझे कष्ट न पहुँचाते थे (तेरी कोमल लहरों को नहीं चीर देते थे) ? (भाव यह है कि वे तीर तुझे अत्यधिक कष्ट अवश्य पहुँचाते थे परन्तु तुझे यह वेदना भी प्रिय ही जान पड़ती थी क्योंकि) सैंकड़ों वर्ष काँटों जैसे तीव्र दुख सहने के उपरान्त ही तो फूल जैसे लाल (पुत्र) फलते (बढ़ते) हैं। सरयू, तेरे तट पर स्वतन्त्रतापूर्वक कितने खेल खेले गये, कितनी बाल-सुलभ लड़ाइयाँ तथा सन्धियाँ हुई और कितना शोर-गुल मचा है इसका यथोचित वर्णन नहीं किया जा सकता। इन फूलों के सम्बन्ध में तो अब कल्पना ही शेष रह गयी है (राम-बन्धुओं की बाल-लीला का अब अनुमान ही लगाया जा सकता है)। सरयू, तेरी एक स्मृति (एक ऐसी घटना जिसका तुझे भली प्रकार स्मरण है) कह दूँ ? लड्डू के आकार की उछलती हुई गेंद को जब तक तूने अपने अंचल लहरों में लेने (छिपाने) का प्रयत्न किया था तब तक तेरे वीरों ने अपने तीर से उसे उड़ा दिया था (इससे पूर्व कि उछाली गई गेंद लहरों तक पहुँच सके, उसे अपने तीर का निशाना बना कर बहुत दूर फेंक दिया था)।

राम-लक्ष्मण आदि की बाल-लीलाएँ ऊर्मिला के लिए केवल श्रव्य होकर भी अपार आह्लाददायिनी हैं। विशेषतः अपने जीवननायक लक्ष्मण की वीरतापूर्ण बाल-कथा में तो उसकी रुचि अत्यधिक है, उसमें ऊर्मिला के लिए माधुर्यपूर्ण गौरव निहित है। उधर, सरयू ने वह सब कुछ अपनी आँखों से देखा है, उसका पूर्णतः रसास्वादन किया है। अपने वीरों के लक्ष्य-साधन के रूप में उसने स्नेहवश अनेक भयंकर ग्राहों को अपनी लहरों में स्थान दिया, अपने लाड़लों की धनुर्विद्या सफल करने के लिए तीर सहे, ऐसे तीव्र तीर सहे जो 'पत्थर फाड़ डालते'। माँ पुत्रों के लिए कौन-सा कष्ट नहीं सहती ? फूल जैसे पुत्रों के विकास के लिए माँ का हृदय कौन-से काँटों का आलिङ्गन करना स्वीकार नहीं करता ? सरयू ने भी सब कुछ सहा है। न जाने कितने खेल कूद, विग्रह, मेल और ध्वनि-धूम की साक्षिणी है वह ! एक समय था जब—

सरजू बर तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर सखा अरु बीर सबै।
धनुहीं कर तीर, निषंग कसें, कटि पीत दुकूल नवीन फबै॥
तुलसी तेहि औसर लावनिता दस चारि नौ तीन इकीस सबै।
*मति भारति पंगु भई जो निहारि बिचारि फिरी उपमा न पबै॥**

* गोस्वामी तुलसीदास, कवितावली, बालकांड, पद ७।

परन्तु आज वह धूम कहाँ ? वे फूल तो अब वन में खिल रहे हैं। बीते दिनों की उन घटनाओं की स्मृति आज वेदना की तीव्रता को और भी बढ़ा रही है। कहाँ वह उल्लास और कहाँ यह नैराश्य ! वातावरण का यह अन्तर अकल्पनीय हो कर भी आज तो कटु सत्य ही बन बैठा है।

जननी इस सौध धाम में ···· ···· ··· कुल के दीप अखण्ड जागते।

"माताएँ इसी राज-भवन में अपने पुत्रों के सुख तथा मंगल की कामना से प्रेरित होकर कितने ही (अनेक) प्रयोग (पूजन, जप, यज्ञ आदि) किया करती थीं और उनके लिए भाँति-भाँति के स्वादिष्ट तथा प्रिय भोजन बनाती थीं। वे पुत्रों पर अपने प्राण ही निछावर करती रहती थीं और (स्नेह-विवश) माताओं को अपने शरीर की भी सुध न रहती थी। उनकी (पुत्रों की) मंगल कामना से वे नित्य नये-नये व्रत किया करती थीं और इस प्रकार (उपवास आदि के कारण) दुबली होकर भी वे अत्यधिक प्रसन्न ही होती थीं। उनके अंचल अपने शिशुओं के शरीर पर लगी धूल पोंछते थे और हाथ कंघी से उनके बाल सँवारा करते थे। उस समय बालक विनोदपूर्वक हँस-हँस कर भाग जाया करते थे। इस प्रकार कुल के वे अखंड दीपक (राम-लक्ष्मण आदि) जागते (अपनी आभा बिखेरते) रहते थे।

अपने पुत्रों के कुशल-मंगल के लिए मातायें क्या नहीं करतीं ? पूजन, जप तप, उपवास आदि द्वारा अपने शरीर को कष्ट देकर भी उन्हें यह समझ कर संतोष तथा सुख ही होता है कि उन प्रयत्नों का सुफल उनके पुत्रों के लिए कल्याणप्रद होगा। कौशल्या आदि मातायें भी इसी भावना से प्रेरित होकर नित नये-नये व्रत आदि किया करतीं और अपने बच्चों को स्वच्छ, स्वस्थ तथा सुखी रखने के लिए दिन-रात प्रयत्नशील रहती थीं। भोले शिशु भी अपनी बाल-लीलाओं से माताओं को अपूर्व सुख प्रदान करते थे।

तटिनी, उन तात की कथा ··· ···· अब सी हंत न किन्तु वीक्ष्य थी !

"हे तटिनी (नदी), उन तात (पिता महाराज दशरथ) की कथा क्या कही जाय ? उन्हें तो अपने पुत्रों के समान अपना प्राण भी प्रिय न था, वैसे तो वह (महाराज दशरथ) एक ही नभोमयंक (आकाश स्थित मृगांक अथवा चन्द्रमा) के समान थे परन्तु (मृगांक के विपरीत) वे चार उदार अंक (गोदियाँ) रखते थे। शिव के दो पुत्र हैं : कार्तिकेय और गणेश। लक्ष्मी-पति विष्णु के एक ही पुत्र है, प्रद्युम्न; परन्तु कौशलराज के चुने हुए पुत्र (गुण

तथा संख्या दोनों ही की दृष्टि से) उनके (शिव के पुत्रों से) दुगुने और (विष्णु के पुत्र से) चौगुने थे। वे मोतियों की माला तोड़ देते और फिर उन मोतियों को इधर-उधर बिखेर कर कहा करते थे, 'हम चौक पूर रहे हैं।' उस समय अविचल दृष्टि से उनकी ओर देखकर पिता कहते थे, "क्या तुम लड़की हो जो चौक पूर रहे हो?' इधर, जब मैं लकड़ी की तलवार लेकर वीर बालक का सा अभिनय किया करती थी तब अत्यन्त प्रसन्न होकर माँ मुझे 'लड़का' कह कर पुकारती थीं। वहाँ (अयोध्या में) (महाराज दशरथ के) पुत्र थे और (मिथिला में) हम (महाराज जनक की) पुत्रियाँ थीं; केवल मिलन-वेला की ही प्रतीक्षा थी परन्तु हाय, उस समय की वह प्रतीक्षा इस समय की जाने वाली प्रतीक्षा जैसी (कष्टप्रद) न थी।

'बस एक नभोमयंक था, रखता चार उदार अंक था' : माना जाता है कि चन्द्रमा की गोद में एक हरिण का बच्चा है। वही दूर से देखने पर धब्बे जैसा दिखाई देता है। इसीलिए चन्द्रमा का एक पर्यायवाची *मृगांक* अथवा *मयंक* भी है। यहाँ बालकों को प्रेमपूर्वक अपनी गोद में बिठाने वाले महाराज दशरथ की तुलना भी उसी मृगांक के साथ की गयी है परन्तु व्यतिरेक का आश्रय लेकर दूसरे ही क्षण कवि यह स्पष्ट कर देता है कि चन्द्रमा की तो *एक* ही गोद है परन्तु महाराज दशरथ की *चार* गोदियाँ हैं अपने चार पुत्रों के लिए। एक बात और है। वे अंक उदार भी हैं अर्थात् महाराज को अपने चारों पुत्र *समान रूप से* ही प्रिय हैं।

वह जो शुभ भाग्य था छिपा .... यह राखी जब बाँध तू चुकी।

"छिपा हुआ शुभ-भाग्य (सौभाग्य) विश्वामित्र जी के रूप में दीप्तिमान् होकर प्रकट हुआ। स्वर्ग में (अथवा स्वर्गवासी) वे राक्षस सुखी रहें जिनसे दुःखी होकर मुनि (विश्वामित्र जो महाराज दशरथ के पास) आये! जिन दो पुत्रों के बिना पिता अपना जीवन भी त्याज्य (तिरस्करणीय अथवा छोड़ देने योग्य) समझते थे उन्होंने अपने वे दोनों पुत्र भी मुनिवर को सौंप दिये। तात ने उस समय यह कितना कठिन कार्य किया था! उस समय माताएँ यद्यपि कुल-धर्म का पालन कर रही थीं तथापि वात्सल्य-वश वे सब रो रही थीं। सरयू, तू भाव-विभोर बनी रह क्योंकि रघुवंशी तो सदा ही धर्म पर निछावर होते रहे हैं। छोटी माँ (सुमित्रा) पुत्रों की कमर कस रही थीं (उन्हें तैयार कर रही थीं), मंझली तथा घनिष्ठ माँ (कैकेयी) उन्हें तलवार सौंप रही थीं, 'हमें भी प्रजा क्यों न बना दिया?'—यह कह कर बड़ी माँ

(कौशल्या) स्रजा (माला) पहना रही थीं। प्रभु ने चलते समय कहा, 'बहिन शान्ते, जब तूने स्वयं जयमूर्ति की भाँति झुक कर राखी बाँध दी तो फिर अब चिन्ता अथवा भय की क्या बात शेष रही ?'

वह जो शुभ भाग्य था छिपा : विश्वामित्र जी यज्ञ-रक्षार्थ राम-लक्ष्मण को माँगने के लिए न आते, तो दोनों भाइयों को मिथिला जाने का अवसर कैसे प्राप्त होता ? वे मिथिला ही न जाते तो राम-सीता तथा लक्ष्मण-ऊर्मिला आदि का विवाह कैसे होता ? इसीलिए तो ऊर्मिला यह समझती है कि कौशिक के रूप में तो मानो उसका सौभाग्य ही प्रकट हो गया था।

कसती कटि थीं··· ···बाँध तू चुकी : महर्षि वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण जब विश्वामित्र जी के साथ जाने के लिए उद्यत होते हैं तो :

कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च ।
पुरोधसा वसिष्ठेन मंगलैरभिमन्त्रितम् ॥
स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथः प्रियम् ।
*ददौ कुशिकपुत्राय सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥**

(उनको भेजते समय कौसल्या, महाराज दशरथ तथा कुल पुरोहित वसिष्ठ जी ने स्वस्तिवाचन और मंगलाचार किया। महाराज दशरथ ने प्रसन्न होकर और पुत्रों के माथे सूँघ कर उन्हें विश्वामित्र जी को सौंपा)।*

'रामचरितमानस' में :

अति आदर दोउ तनय बोलाए ।
हृदयँ लाइ बहु भाँति सिखाए ॥
मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ ॥
सौंपे भूप रिषिहि सुत, बहु विधि देइ असीस ।
जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस ॥

'साकेत' में इस अवसर पर पूरा दशरथ-परिवार उपस्थित है। यहाँ कनिष्ठ माँ कटि कसती हैं तो मंझली घनिष्ठ माँ (राम अन्य माताओं की अपेक्षा कैकेयी से अधिक प्रेम करते थे। 'घनिष्ट' द्वारा कवि ने यही भाव प्रकट किया है।) असि देती हैं। 'हमें प्रजा क्यों न बना दिया', माता कौसल्या के ये शब्द कितने भावपूर्ण हैं ! प्रजा की रक्षा के लिए राजपुत्र माताओं को भी त्याग कर चले जा रहे हैं। कितना अच्छा होता यदि कौसल्या इस समय प्रजा मात्र होतीं। उस दशा में राम उनके समीप तो रहते। वात्सल्यमयी माँ पुत्र के समीप रहने के लिए *महारानी* का पद

* वाल्मीकि रामायण, बालकांड, सर्ग २२, श्लोक २, ३।

छोड़ कर प्रजा बनने के लिए भी प्रस्तुत हैं।

'साकेत' के कवि ने इस अवसर पर राम की बहिन शान्ता को भी नहीं भुलाया है। निश्चित रूप से यह कहना तो कठिन है कि राखी बाँधने की प्रथा राम के समय से चली आ रही है या नहीं परन्तु राम-कथा के उपेक्षित पात्रों को प्रकाश में लाने में प्रयत्नशील साकेतकार ने इस प्रकार अपने काव्य में शान्ता के लिए भी उपयुक्त स्थान निकाल ही लिया है।

कृति में दृढ़, कोमलाकृति ... . वर लेगा यह मैथिली-मणि !

आकार (देखने) में अत्यन्त कोमल परन्तु कार्य (कार्य-क्षमता अथवा वास्तव) में दृढ़ (अत्यधिक धैर्य सम्पन्न) दोनों भाई मुनि विश्वामित्र जी के साथ चले गये। भय की विस्तृत परिकल्पना के समान ताड़का उनके मार्ग में बाधा बन कर अड़ गयी। प्रभु ने विश्व का संहार करने वाली उस कुलक्षणा ताड़का को अबला (नारी अतः अवध्या) ही समझा परन्तु अत्याचारिणी होने के कारण उस डायन का वध कैसे न किया जाता ? क्षात्र-वेश (क्षत्रिय) की वास्तविक शोभा तो इसी बात में है कि स्वदेश की सुख-शान्ति में कोई बाधा न आए, खेती, गौ, ब्राह्मण तथा धर्म का निरन्तर विकास होता रहे और राज्य का बढ़ता हुआ ऐश्वर्य शत्रु से सुरक्षित रखा जा सके। अस्तु, प्रभु ने उस भय-मूर्त्ति को बींध दिया (ताड़का को मार दिया) और मुनि विश्वामित्र जी ने भी निर्विघ्न अपना यज्ञ-पूर्ण कर लिया। यद्यपि अनेक राक्षसों ने मुनियों द्वारा किये जाने वाले यज्ञों में विघ्न डालने का प्रयत्न किया परन्तु उन दोनों (राम-लक्ष्मण) ने अपने सम्मुख आने वाले समस्त राक्षसों का वध कर दिया। सुबाहु अत्यन्त भयंकर तथा बलवान् राक्षस था परन्तु ये चन्द्रमा के समान थे न, और सुबाहु राहु के समान था। सुबाहु की भुजाएँ केतु के समान (कटी) पड़ी थीं परन्तु प्रभु (श्रीराम) सूर्य से भी बढ़ कर थे। अस्तु, समस्त राक्षस दल वहाँ पराजित हो गया। दुष्ट मारीच तो उड़ कर न जाने कहाँ चला गया ? उस समय मुनि अत्यधिक प्रसन्न थे परन्तु उन्हें यही चिन्ता थी कि उन्हें (राम-लक्ष्मण को) उपहार-स्वरूप क्या भेंट दें ? प्रभु का (वास्तविक) उपहार तो धर्म ही था (उनका सबसे बड़ा पुरस्कार तो) अविचल निष्काम भाव से किया गया अपना वह काय ही था ('स्वयीय कर्म' के स्थान पर 'स्वकीय कर्म' पाठ शुद्ध है।) मुनि का स्वर विजय-पूर्ण था (उनकी विजय हो गयी थी) परन्तु

उन्हें इतने से ही संतुष्टि नहीं हुई थी। सरयू, देव-तुल्य वर यही तो थे। (हमारे लिए) उपयुक्त वरों की खोज करने वाले हमारे पिता ने ठीक ही तो कहा था 'ऐसे देव-तुल्य वर अवश्य हैं जिन्हें अपनी ये कलियाँ समर्पित की जा सकें। अतः ये बढ़ें।' साँच को आँच कहाँ? फिर भी वरों की योग्यता की परख आवश्यक समझी गयी। शिव का वह सिद्ध धनुष स्वयं परीक्षक बना। पिता ने यह निश्चय किया था कि जो व्यक्ति शिव का वह धनुष खींच कर चढ़ा देगा वही वीर-शिरोमणि बदले में मैथिली-मणि (सीता) को पत्नी रूप में प्राप्त कर लेगा!'

प्रभु ने वह लोक-भक्षिणी...फिर क्यों न डाइनी : मर्यादापुरुषोत्तम राम को एक नारी पर शस्त्र उठाना चाहिए था या नहीं?—पाठक के मन में इस शंका का उदय होना स्वाभाविक ही है। 'साकेत' के कवि ने इसी शंका का समाधान करने के लिए कहा है :

पर थी वह आततायिनी, हत होती फिर क्यों न डाइनी?

'प्रदक्षिणा' में गुप्त जी ने इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक प्रकाश डाला है :

तम की कल्पित विभीषिका-सी मिली ताड़का जब वन में,
प्रबला होकर भी अबला है, सोचा नरहरि ने मन में।
तब तक बोल उठे मुनि—"मारो, निस्संकोच इसे हे तात,
अधम-आततायी जो भी हो समुचित है उसका अभिघात।"
"मुझे आत्म-रक्षा के पहले है स्वदेश-रक्षा कर्त्तव्य"—
कहते-कहते उस पर प्रभु ने छोड़ी विशिख-शिखा निज नव्य।
क्रव्यों की उस प्रथम शक्ति का किया उन्होंने यों संहार,
*राक्षस-वक्ष विदीर्ण हुआ वा खुला आर्य-जय का यह द्वार।**

सुख शान्ति रहे स्वदेश की, यह सच्ची छवि क्षात्र वेश की : भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अनुसार देश की सुख-शान्ति की रक्षा का भार क्षत्रिय पर ही है। जो इस कर्त्तव्य का पालन नहीं करता वह क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर भी क्षत्रिय कहलाने का अधिकारी नहीं है।

कृषि-गो-द्विज-धर्म वृद्धि हो, रिपु से रक्षित राज्य ऋद्धि हो : राष्ट्र की शारीरिक उन्नति के लिए कृषि तथा गौ (दूध, घी आदि), और मानसिक तथा चारित्रिक उत्थान के लिए द्विज तथा धर्म की वृद्धि आवश्यक है। इस प्रकार होने

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रदक्षिणा', पृष्ठ ११।

वाली राज्य-ऋद्धि की रक्षा करना—उसे शत्रु से बचाना—क्षत्रिय का प्रधान धर्म है।

इन पंक्तियों में राष्ट्रीय सुरक्षा (National Defence) का सर्वाधिक महत्व स्पष्ट है।

अब भूपति-वृन्द आ चला .... जिनसे थे सुर-शक्र भी हटे !

"अब (महाराज जनक का निश्चय सुन कर) राजाओं के झुण्ड मिथिला की ओर आने लगे और इस प्रकार अत्यन्त अविचला मिथिला विचलित-सी हो गई। सब ओर से आने वाले मानव-समूह रूपी समुद्र की तरंगों से ढकी हुई सी नगरी अब एक द्वीप जैसी जान पड़ रही थी (जैसे द्वीप के सब किनारों पर समुद्र की लहरें थपेड़े मारती रहती हैं उसी प्रकार जन-समूह रूपी समुद्र की लहरें सब ओर से निरन्तर मिथिला की ओर बढ़ी चली आ रही थीं)। (वे लोग मानों कह रहे थे कि) 'समस्त संसार का ऐश्वर्य हमसे भेंट में ले लो और मुक्ति-स्वरूपिणी सीता हमें बदले में दे दो'। मन उड़ा-उड़ा फिर रहा था (अत्यधिक कुतूहलपूर्ण था)। मिथिला में तो मानों विश्व-संघ ही जुड़ गया था। शिव-धनुष मानो समस्त आगन्तुकों से कह रहा था 'मुझ जैसा अविचल (स्थिर) चित्त लेकर ही इस ओर कदम बढ़ाइये। केवल शारीरिक बल की परीक्षा करना पर्याप्त नहीं, तनिक मन की वह गाँठ भी तो खोलिए!' (भाव यही है कि केवल शारीरिक बल से काम न चलेगा, मानसिक अथवा चारित्रिक बल की भी आवश्यकता होगी)। वह धनुष तो मानों स्वयं भगवान् शिव का कटाक्ष ही था। किस राजा में इतनी शक्ति थी जो महादेव जी का वह कटाक्ष सहन कर लेता? रावण तथा बाणासुर जैसे योद्धा भी (जिनसे स्वयं देवराज इन्द्र भी घबराते थे) उस कटाक्ष से कट गये (धनुष न हिला सके)।

विचली सी मिथिला महाचला : भूपति वृन्द आ जाने के कारण *महाचला* मिथिला *विचलित* सी हो गई। उस समय में भी तो अधिक विलम्ब नहीं जब राम लक्ष्मण को देख कर *महाचला* मैथिली और ऊर्मिला भी *विचली सी* हो जावेंगी।

वह रौद्र कटाक्ष रूप था, सहता जो कौन भूप था : 'प्रदक्षिणा' के अनुसार :

मध्य भाग में कुटिल भाग्य सा
रक्खा था हर का कोदंड,

कोई भी भट उठा न पाया
करता क्या उसके दो खंड ![*]

भट रावण-बाण से कटे :

नृप भुजबलु बिधु सिव धनु राहू ।
गरुअ कठोर बिदित सब काहू ।।
रावनु बानु महाभट भारे ।
देखि सरासन गवँहिं सिधारे ।।[†]

हँसतीं हम, खेल लेखतीं .... वर आये नर-रूप धार के !

"हम सब ऊँची अटारियों पर चढ़-चढ़ कर यह सब दृश्य देख रही थीं और हँस-हँस कर इस खेल को देख कर आनन्दित हो रही थीं परन्तु हा, माँ का वह हृदय तो उस समय अपनी पुत्रियों के लिए चलायमान हो रहा था (अपनी पुत्रियों के भविष्य के लिए चिन्तित हो रहा था) । सब मातायें हम सबका शृङ्गार करके हमें पूजन के लिए भेज रही थीं । वर-दायिनी (माता गिरिजा) ने (कृपा करके) सुयोग्य वर भी बुला दिये थे और हमने कृतार्थ होकर वे वर (वरदान अथवा पति) अंगीकृत कर लिये । ऋषियों के यज्ञ-कार्य में आने वाले विघ्न दूर करके, अपने वीर-व्रत का पूर्णतः पालन करके और मुनि-पत्नी अहल्या का उद्धार करके वे वर मनुष्य का रूप धारण करके मिथिला में आये थे !

बड़े-बड़े योद्धाओं का धनुष उठाने के लिए जाना और सर्वथा विफल होकर लौट आना ऊर्मिला आदि के लिए तो एक खेल अथवा मनोविनोद का ही विषय था परन्तु इस प्रकार उनकी माताओं का हृदय तो अत्यन्त चिन्तित होता जा रहा था । माताओं के लिए तो वह जीवन-मरण का ही प्रश्न बन गया था अतः वे स्वयं भी मन ही मन परमात्मा से प्रार्थना कर रही थीं और अपनी पुत्रियों को भी *वरदा* से *वर-याचना* करने के लिए भेज रही थीं ।

सरयू, वह फुल्ल वाटिका .... प्रकटा कौन रहस्य गूढ़ था !

"सरयू, वह पुण्य-वाटिका तो वर-वीथि नाटिका (वर-प्राप्ति के लिए उपयुक्त रंगशाला अथवा वरागमन के लिए उचित मार्ग) ही बन बैठी (पुष्प-वाटिका में ही तो सीता तथा ऊर्मिला के हृदय—उनके जीवन—में राम तथा

[*] प्रदक्षिणा, पृष्ठ १३ ।
[†] रामचरितमानस, बालकांड ।

लक्ष्मण जैसे वरों ने प्रवेश किया था) ! साँवली तथा गोरी वे दोनों मूर्तियाँ (राम-लक्ष्मण) हम दोनों के सैंकड़ों पुण्यों की पूर्तियाँ थीं (उन दोनों के रूप में हमारे सैंकड़ों पुण्य पूर्ण हो गये थे)। जिस समय और सब तुच्छ राजा अपने को सजा-सँवार (कर स्वयम्बर-सभा के लिए तैयार कर) रहे थे (अपनी स्वाभाविक न्यूनताओं को वस्त्राभूषण तथा साज-शृंगार द्वारा छिपाने में प्रयत्नशील थे) उस समय (महान्) वे (राम-लक्ष्मण) मुनि के लिए फूल चुन रहे थे (सब प्रकार से सहज सुन्दर होने के कारण उन्हें बनने-ठनने की न तो आवश्यकता ही थी, न अवकाश ही ; वे तो उस समय गुरु-जन की सेवा—मुनि हेतु पुष्प-चयन—में ही संलग्न थे)। (बात यह है कि) सूर्य तो स्वयं ही अपना भूषण है। क्या अग्नि में भी कोई दोष रह सकता है ? (भाव यह है कि जिस प्रकार सूर्य को किसी भूषण की आवश्यकता नहीं और अग्नि में कोई दोष शेष नहीं रहता उसी प्रकार रघु-वंशगौरव राम-लक्ष्मण स्वाभाविक रूप से तेज तथा सौन्दर्य-सम्पन्न और दोष-रहित थे अतः उन्हें बनाव-शृंगार की आवश्यकता ही न थी)। (हमारे) नेत्र उनके, दर्शन करने के लिए आगे क्या बढ़े, वे तो फूलों की भाँति उनके चरणों पर ही चढ़ गये ! उनकी मुसकान देखकर मानो हमने स्वयं अपनी ही (अपने इस सर्वस्व समर्पण की) स्वीकृति प्राप्त कर ली। जीजी (सीता) ने मुझे (ऊर्मिला को) पकड़ कर कहा, 'अहा ! नीला आकाश अन्त-रहित है ; अपनी जगती (संसार—सर्वस्व) अधीन-सी (उसी अनन्त आकाश के वश में हो कर) चुपचाप (उसके) चरणों (आश्रय) में लीन सी हो रही है।'

"यह कहकर उन्होंने (सीता ने) एक आह-सी भरी जिसने (जिस आह ने) मानो उनके साथ संवेदना प्रकट करते हुए कहा, 'यदि मैं उनकी (राम की) चरण-धूलि धारण कर सकूँ तो अहल्या को मिलने वाले अपयश से भी न डरूँ (यदि उनकी चरण-धूलि पाने के लिए अहल्या की भाँति अपयश सहन करना अनिवार्य है तो मैं वह कठोरतम शर्त भी पूरी करने के लिए तैयार हूँ) !'

"मुझको (मेरे हृदय में) कुछ आत्म-गर्व था परन्तु उस समय तो वह देखते ही देखते खील-खील हो गया। सरयू, उस समय मेरी यह देह पूर्णतः उनके सम्मुख ठीक उसी प्रकार झुक गयी थी जैसे तू समुद्र के समीप पहुँचकर नत हो जाती है (अत्यन्त नम्रता तथा प्रेमपूर्वक उस अपार जल-

राशि में समा जाती है)। कामदेव के झंडे (मेरे नेत्र) लज्जा-वश झुक गये थे। उस समय मेरे ये नेत्र मीन की सी शोभा वाले थे (आजकल जैसे विरहतप्त अथवा अश्रु-सजल न थे)। वर विजयी थे (उनकी जीत हो गई थी) परन्तु क्या वे विनीत थे ? (भाव यह है कि वे विजयी तो थे परन्तु विनीत न थे) उधर हम हार तो गयीं थीं परन्तु उस हार की तुलना में तुच्छ जीत भला क्या थी ? (जीत तो उस हार के सामने तुच्छ थी।) धीरता तथा वीरता पूर्वक वर उस ओर से निकल कर गम्भीरतापूर्वक अकस्मात् वहाँ से चले गये (साधारण नायकों की भाँति वे चंचल न हुए और अधिक देर तक वहाँ ठहरे भी नहीं)। जाते समय टूटे हुए (अथवा चुने हुए) फूल उनके हाथ में थे और हमारे हृदय (रूपी फूल) उनके चरणों से लिपट कर साथ ही चले गये।

"मर्म (मर्मस्थल—प्राणियों के शरीर का वह भाग जहाँ सुख-दुःख की अनुभूति सर्वाधिक होती है) में कुछ मर्म (एक अव्यक्त मधुर ध्वनि) सा होने लगा। किसी प्रकार का श्रम (परिश्रम) न होने पर भी गरमी (पसीने) का-सा अनुभव हो रहा था (सारा शरीर पुलकित होकर पसीज रहा था), सारा चर्म (चमड़ी अथवा खाल) कंटकपूर्ण थी (रोमांच हो आने के कारण समस्त रोम काँटों की भाँति खड़े हो गये थे)। वह भाव विभोर प्रेम-धर्म तो एक रोग सा बन गया था (एक ऐसा रोग जिसमें हृदय में पीड़ा का अनुभव हो, शरीर को गरमी लगे और खाल में काँटे से चुभने लगें)!

"न जाने वह अल्हड़ (भोला-भाला) बचपन कहाँ चला गया और नेत्रों में कुछ जल सा छलक आया। इस यौवन ने मुझे धर पकड़ा और एक अभिनव संकोच (मुझमें) भर दिया। एक नूतन दृश्य दिखा कर यह संसार (एक सर्वथा नवीन रूप में मेरे नेत्रों के सम्मुख आ गया। दूर कहीं बैठा काला कौवा काँय-काँय करके शोर मचा रहा था परन्तु मैं तो उस समय कहीं एक कोने (एकान्त स्थान) में जाकर बैठ जाना चाहती थी। मेरी दृष्टि आप ही आप कुछ तिरछी हो उठी (नेत्रों में तनिक बाँकपन आ गया) और समस्त संसार मुझे अपनी ही ओर घूरता जान पड़ने लगा। मुग्ध-सा होकर मेरा मन विमूढ़ (बेसुध) सा हो रहा था। यह कौनसा गम्भीर रहस्य प्रकट हो गया था ?

सरयू, वह फुल्ल-वाटिका, बन बैठी वर-वीथि-वाटिका : यहाँ 'वीथि'

और '*नाटिका*' शब्दों का प्रयोग सप्रयोजन है। 'वीथी' रूपक का एक भेद होता है जिसमें एक ही अंक और एक ही नायक होता है, आकाश भाषित के द्वारा उक्ति-प्रत्युक्ति होती है और शृङ्गार रस का बाहुल्य रहता है। 'नाटिका' उपरूपक का एक भेद है जिसमें स्त्री पात्र अधिक होते हैं, नायक धीरललित राजा होता है, रनिवास से सम्बन्ध रखने वाली या राज-वंश की कोई गायन-प्रवीणा अनुरागवती कन्या नायिका होती है और प्रधान रस शृंगार होता है।

पुष्प-वाटिका प्रसंग भी राम-सीता तथा लक्ष्मण-ऊर्मिला के जीवन-नाटक का एक छोटा-सा स्वतंत्र अंक है जिसमें शृंगार की प्रमुखता है, एक ही नायक है (यहाँ सीता के लिए लक्ष्मण की उपस्थिति नहीं के बराबर है और ऊर्मिला के लिए राम की) आकाश-भाषित द्वारा होने वाली उक्ति-प्रत्युक्ति के स्थान पर संकेतों की भाषा तथा आन्तरिक—दिव्य—प्रेरणाओं द्वारा अनुप्राणित मौन वार्तालाप है। राज-पुत्रियाँ तथा संगीत-नृत्य-निपुणा (ऊर्मिला तो 'सामवेद संहिता' ही है) नवानुरागिणी कन्यायें नायिका हैं।

'उनकी पद-धूलि जो धरूँ, न अहल्या-अपकीर्त्ति से डरूँ !' : सीता के अन्तरतम में निहित यह भाव 'साकेत' के कवि ने सीता के शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कराया। ऐसा होता तो शील की हानि हो जाती। सीता आज बड़े से बड़ा त्याग करके, कठोरतम शर्त पूरी करके—अहल्या के चरित्र पर लगा कलंक भी सह कर—राम की पद-धूलि पाने को तैयार है तथापि हमारे कवि ने *सीता के ही मुख से* ये भाव अभिव्यक्त कराना उचित नहीं समझा, उनके मन का यह भाव तो हृदय-देश से निकल कर उस प्रदेश की सब गुप्त बातें कह देने वाली *उसाँस* ही प्रकट करती है।

'विजयी वर थे विनीत क्या' : विनय वीर का विभूषण है। विजयी और फिर भी विनयी होकर ही वीर वास्तव में वन्दनीय होते हैं परन्तु यहाँ राम-लक्ष्मण विजयी तो हैं, विनयी नहीं हैं। इसका कारण यह है कि इस समय उन्होंने अपने ही हृदय की कुछ विद्रोहिणी भावनाओं को पराभूत किया है—अविवेक को विवेक से जीता है, असंयम को संयम से परास्त किया है। इसीलिए वे *विजयी* होकर भी *विनयी* नहीं हैं। किसी *बाहरी* शत्रु को पराजित करके उसके प्रति नम्रता अथवा सद् भावना प्रकट करना *शिष्टाचार* है परन्तु अपने ही *भीतरी* शत्रुओं—असामयिक अथवा अनुचित भावनाओं—को जीत कर उनके प्रति नम्रता प्रकट करना

चरित्र की शिथिलता का ही सूचक होता है। प्यार का यह किला जीत कर जिस समय साधारण प्रेमी विनीत होकर अपनी प्रेमिकाओं की चापलूसी में लग जाते उन्हीं परिस्थितियों में राम-लक्ष्मण अपनी धीरता, वीरता तथा गम्भीरता का त्याग नहीं करते।

'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' में पुष्प-वाटिका-प्रसंग नहीं है। गोस्वामी जी ने इसका उल्लेख किया है :

समय जानि गुर आयसु पाई।
लेने प्रसून चले दोउ भाई॥
× × ×
तेहि अवसर सीता तँह आई।
गिरिजा पूजन जननि पठाई॥

'रामचरितमानस' की सीता के साथ इस समय सब 'सुभग सयानी सखी' तो हैं परन्तु ऊर्मिला नहीं है। 'साकेत' में सीता के साथ ऊर्मिला भी है और वे दोनों एक साथ ही क्रमशः राम और लक्ष्मण को देख कर उन पर मुग्ध हो जाती हैं।

'रामचरितमानस' के राम—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व विजय कहँ कीन्ही॥

और लक्ष्मण से यह कह कर राम के नेत्र—

सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।*

यहाँ राम पल भर के लिए यह भूल जाते हैं कि उनके साथ इस समय जो युवक है वह उन्हीं का छोटा भाई है। बहुत समय के उपरान्त राम को इसका ध्यान आता है और वे अपने आचरण का औचित्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं :

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
सो सबु कारन जान बिधाता।
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥*

* गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकांड।

परन्तु अब भी, लक्ष्मण को इस प्रकार बातों में लगा कर 'रामचरितमानस' के राम निर्विघ्न सीता की रूप-माधुरी का पान ही करते रहते हैं :

करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लोभान ।
मुख सरोज मकरंद छवि, करइ मधुप इव पान ॥

'साकेत' के राम-लक्ष्मण क्रमशः सीता तथा ऊर्मिला पर मोहित होकर—इतना ही नहीं मन्द मुसकान द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करके भी—अपनी धीरता और वीरता का त्याग नहीं करते। वे तो वहाँ अधिक समय तक ठहरते भी नहीं और

सहसा लौट गये गभीर से

इस एक ही पंक्ति में राम तथा लक्ष्मण की *शालीनता* मूर्तिमती हो उठी है। कितना गहरा प्रभाव डाला होगा सीता तथा ऊर्मिला के हृदय पर राम-लक्ष्मण की इस *गभीरता* ने !

'रामचरितमानस' की अपेक्षा, 'साकेत' की सीता, अधिक स्वतन्त्र वातावरण में राम के दर्शन करती हैं। 'रामचरितमानस' की सीता :

देखि रूप लोचन ललचाने ।
हरषे जनु निज निधि पहचाने ॥
थके नयन रघुपति छवि देखें ।
पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें ॥
अधिक सनेहँ देह भै भोरी ।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥
लोचन मग रामहि उर आनी ।
दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥

'साकेत' की सीता सखियों से घिरी हुई नहीं है। वह अधिक स्वच्छन्दतापूर्वक राम की रूप-छटा निहार सकती हैं। इतना ही नहीं, वह राम के प्रति अपने प्रेम को शब्दों में भी अभिव्यक्त करती हैं :

नभ नील अनन्त है अहा !
अपनी जगती अधीन-सी,
चरणों में चुपचाप लीन-सी।

सीता ने ये शब्द अपनी छोटी बहिन *ऊर्मिला* के सामने कहे हैं। सीता के इस कथन का उचित मूल्यांकन करने के लिए इसकी तुलना *अनुज लक्ष्मण* के प्रति कहे गये 'मानस' के राम के इन शब्दों के साथ करनी होगी :

मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही...

'साकेत' की सीता के शब्दों में अपूर्व संयम है ।

अस्तु, *नीलवर्ण* राम के *अनन्त* शील-सौन्दर्य में सीता की *जगती*—सीता का स्वत्व—*चुपचाप लीन-सा* हो जाता है। प्रथम दर्शन के अवसर पर सीता के *मूक सर्वस्व समर्पण* का यह कितना सफल चित्रण है !

······उधर ऊर्मिला का *आत्म-गर्व* भी *खर्व* हो चुका था । उस समय तो मानो उसे अपने ढंग का प्रथम ही अनुभव हो रहा था । भोले शैशव ने उसका साथ छोड़ दिया और यौवन ने उसे धर पकड़ा। न जाने किस अज्ञात दिशा से आकर *नव संकोच* उसके रोम-रोम में भर गया। उसकी *देह नत* थी और *चर्म कंटकपूर्ण*। आज तो उसका दृष्टिकोण ही बदल-सा गया, न जाने कौन-सा *गूढ़ रहस्य* प्रकट हो रहा था····

पंत जी ने अपनी एक कविता में *प्रथम दर्शन* के अवसर पर नायक तथा नायिका की मनोदशा का निरूपण इस प्रकार किया है :

इन्दु पर, उस इन्दु मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।
बाल रजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में,
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।
एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।
लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब-से,
छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की
*अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप-से····**

* श्री सुमित्रानन्दन पन्त, ग्रन्थि (पल्लविनी), पृष्ठ १६५ ।

घर था भरपूर पूर्व-सा .... तब मैं स्वप्न निहारने लगी।

"हमारा घर अब भी पहले ही की तरह भरा-पूरा था परन्तु विश्राम तो सुदूर पूर्व जैसा हो गया था (विश्राम तो बहुत ही दूर की वस्तु बन गया था)! क्या मन में किसी वस्तु की कमी का अनुभव हो रहा था? शरीर में भी अब कौनसा नया हाव (चेष्टा) था। मेरी देह रूपी लता छुई-मुई सी हो गयी। रात आयी परन्तु नींद को न जाने क्या हो गया (नींद आती ही न थी)। मेरा यह प्रथम वियोग था (प्रिय के वियोग का यह मेरा पहला अनुभव था) जिसका यह समस्त भोग (अथवा फल) था (उसी प्रथम वियोग के कारण मेरी आँखों में नींद न थी)। चुपचाप खिड़की खोल कर तथा अपने आप अपने नये नेत्र खोल कर मैं रात्रि का चन्द्रमा देखने लगी। सब सो चुके थे परन्तु मैं जाग ही रही थी। (भोर होने पर) जब और सब जागने लगे, रात्रि में विचरण करने वाले उल्लू डर-डर कर भागने लगे और रात्रि अपने (चन्द्र-तारक) हार उतारने लगी, उस समय मैं स्वप्न देखने लगी। पौ फट कर अपना हृदय दिखा रही थी। उधर कली प्रस्फुटित होकर मानों फूटने की उचित विधि सिखा रही थी। दीपक की लौ बढ़ रही थी और कमलिनी अलि-लेखा लिखा रही थी (भौरों के समूह कमलिनी की पंखड़ियों पर अपना अनुराग-लेख लिख रहे थे)। कलियाँ फूटने लगीं, भ्रमरों के समूह उड़-उड़ कर कलियों पर टूटने (गिरने) लगे, (पौ फटने के साथ ही साथ) आकाश की स्याही (रात्रि का अन्धकार) छूटने (दूर होने) लगी और हरियाली (वनस्पतियाँ) (ओस-बिन्दुओं के रूप में) हिम लूटने लगीं। पक्षियों के दल चहचहाने लगे और प्राची अपने पट (द्वार) खोलने लगी। अटवी (जंगल अथवा पेड़-पौधे) (पवन द्वारा प्रेरित हो कर) हिलने-डुलने लगे। सरसी (छोटी तलैया) सुगन्ध घोलने लगी (पुष्पों की सुगन्ध फैल कर सरसी के जल में भी घुलने लगी)। (रात्रि भर वियोग में रहने के कारण) मृत-तुल्य कोकी (प्रभात होने पर) वियोग के दुःख तथा शोक से मुक्ति पाकर अपने कोक से मिल रही थी। (सूर्योदय होने के कारण) सूर्यमुखी (का पुष्प) प्रसन्न थी फिर भी चेतन (चैतन्य अथवा प्राणवान्) सृष्टि सन्न ही थी। जमा हुआ दही अभी मथा नहीं गया था (दधि-विलोड़न का शब्द अभी नहीं सुन पड़ रहा था) परन्तु पृथ्वी अन्धकार रूपी समुद्र से निकल आयी थी। मृदु (मन्द मन्द) वायु विचरण करने लगी (मन्थर गति से चलने लगी)। उस समय उस वातावरण में) मैं स्वप्न निहारने (देखने) लगी (रात्रि के जिन नीरव क्षणों

में सब सुख की नींद सो रहे थे उस समय मैं जगी-जगी थी, जब सबके जागने का समय हुआ तब मैं स्वप्न निहारने लगी)।

दर्शन-हेतु बढ़ कर ऊर्मिला के *दृग* लक्ष्मण के पैरों पर *फूल* की भाँति चढ़ गये। फलस्वरूप उसका संसार ही बदल गया। घर वही होकर भी वह न रहा; मन और तन भी पहले से कुछ भिन्न, कुछ *नवीन* से जान पड़ने लगे। ऊर्मिला के मन में एक विचित्र अभाव का अनुभव हो रहा था और तन पर एक नवीन हाव ने आधिपत्य जमा लिया था। ऊर्मिला की देह-लता छुई-मुई सी हो गई। सोने का समय आया परन्तु उसकी आँखों में नींद न थी। वियोग का यह *पहला* अनुभव था ऊर्मिला के लिए—सर्वथा नवीन, सर्वथा अभूतपूर्व! निशि का शशि निहारते-निहारते ही रात्रि बीत गयी। पौ फटी और प्रभात की प्रभाती गूँजने लगी। सबके जागने का समय था। उसी सुरम्य वातावरण में ऊर्मिला का मन-विहग कल्पनाओं के पंख लगाकर स्वप्नलोक में विचरण करने लगा।

घर था भरपूर पूर्व-सा, पर विश्राम सुदूर पूर्व सा: यहाँ 'पूर्व-सा' में अभंग पद सार्थक यमक है, प्रथम पूर्व-सा का अर्थ है 'पहले जैसा' और द्वितीय का 'पूर्व दिशा के समान'।

सुदूर पूर्व सा: भूगोल तथा इतिहास के विद्यार्थी सुदूर पूर्व (Far East) से अपरिचित न होंगे। परन्तु यहाँ पाठक को यह अनुभव करने में तनिक भी विलम्ब न होगा कि काव्य के '*सुदूर पूर्व*' ने भूगोल के '*सुदूर पूर्व*' को कितना पीछे छोड़ दिया है। भूगोल के 'सुदूर पूर्व' में जितनी अधिक संकीर्णता है, काव्य के 'सुदूर पूर्व' में उतनी ही अधिक विशालता, व्यापकता है। कवि का 'सुदूर पूर्व' तो हमें एक ऐसे लोक में ले आता है जहाँ देशों की संकुचित सीमाएँ अस्तित्व ही नहीं रखतीं और जिस *एक विश्व* (One World) में दूरी का भाव केवल दिशाओं द्वारा ही अभिव्यक्त किया जा सकता है।

तन में भी अब कौन हाव था: 'हाव' संयोगावस्था में नायिका द्वारा की जाने वाली वे चेष्टाएं हैं जो नायक को आकर्षित करती हैं। वे संख्या में ११ हैं।

अपने आप नवाक्ष खोलकर: ऊर्मिला के नेत्र अब *नये* हो गये हैं क्योंकि—

> *दिखला कर दृश्य ही नया,*
> *यह संसार समक्ष आ गया।*

नवाक्ष ऊर्मिला के तन तथा मन में होने वाले इसी परिवर्तन, इसी नवीनता का

द्योतक है। 'अज' का एक अर्थ 'आत्मा' भी होता है।

निशि का शशि देखने लगी : ऊर्मिला ने पहले भी सैकड़ों बार चन्द्रमा को देखा है। आज उसके हृदय में प्रणय का अंकुर प्रस्फुटित हो चुका है, उस *चकोरी* को अब *अपना* चन्द्र प्राप्त हो चुका है अतः उसका *नवाक्ष* चन्द्रमा और निशा के बीच भी वही सम्बन्ध स्थापित देख रहा है जो स्वयं उसके और लक्ष्मण के बीच स्थापित हो गया है। तन-मन-धन लक्ष्मण के चरणों पर समर्पित कर देने वाली ऊर्मिला का *उस* आकाश-स्थित शशि के साथ *अपना* कोई सम्बन्ध नहीं रहा। अब तो वह शशि *निशि का* है, ठीक उसी प्रकार जैसे लक्ष्मण ऊर्मिला के हैं।

फट पौ उठ थी ··· सूर्यमुखी प्रसन्न थी : इन पंक्तियों में प्रभात का अत्यन्त स्वाभाविक एवं सजीव वर्णन किया गया है। इस अवतरण में "शब्दावली स्फीत है। उसमें संकुलता का अभाव होने के कारण स्वच्छता है। शब्द एक दूसरे से पृथक् असंयुक्त हैं परन्तु उनका क्रम बड़ा सुन्दर है। ये मानो एक दूसरे से पग मिला कर बढ़ रहे हों।"

इन विशेषताओं के अतिरिक्त प्रस्तुत अवतरण शृंगार के उद्दीपन का कार्य भी अत्यन्त सफलतापूर्वक निष्पन्न करता है। फट कर हृदय दिखाती पौ, फूटना सिखाने के लिए आतुर कलिका, दीपक की बढ़ती शिखा, अलि-लेखा लिखाती नलिनी, फूटती कलियों का मुँह चूमती भ्रमरावली, हिम लूटती हरियाली, सौरभ घोलती सरसी और, इन सब से अधिक, रात भर के असह्य वियोग के उपरान्त सवेरा होने पर अपने प्रिय की भुजाओं में आबद्ध हो जाने वाली कोकी तथा रवि-रश्मि-चुम्बिता सूर्यमुखी जो दृश्य मूर्तिमंत कर रही है, वही सब तो ऊर्मिला के हृदय के भीतर भी हो रहा है!

वह सूर्यमुखी प्रसन्न थी : 'सूर्यमुखी' वास्तव में पुल्लिंग शब्द है। यहाँ इसका प्रयोग स्त्रीलिंग की भाँति किया गया है। कवि ने रवि के प्रति इस पुष्प का नारी-सुलभ अनुराग प्रदर्शित करने के अभिप्राय से ही यह परिवर्तन किया है।

फिर भी चेतन सृष्टि सन्न थी : महाकवि वर्ड्सवर्थ के शब्दों में :

Dear God! the very houses seem asleep;
And all that mighty heart is lying still!*

अविलोड़ित था जमा दही, तिमिराम्बोधि समुद्धृता मही : दधि-विलोडन

* William Wordsworth, Lines Composed Upon West-Minister Bridge.

तो अभी आरम्भ भी नहीं हुआ था परन्तु अन्धकाररूपी समुद्र का मन्थन हो चुका था और उस मन्थन के परिणाम-स्वरूप पृथ्वी समुद्र से बाहर निकल आयी थी। (पुराणानुसार पृथ्वी समुद्र-मंथन के फलस्वरूप समुद्र से बाहर निकली थी)।

यह स्वप्न कि सत्य क्या कहूँ ···· ··· ··· पर आगे यह काल शेष था !

"सरयू, क्या कहूँ कि वह स्वप्न था कि सत्य ? बस, तू बहती रह और मैं भी (प्रिय की अनुराग-सरिता में) बहती रहूँ। न जाने कब वह रोदिता (रोती हुई) दृष्टि सो गयी (आँख लग गयी)। स्वप्न में मुझे प्रसन्न-मुख प्रिय की मूर्ति के दर्शन हुए। (उन्हें अपने समक्ष पा कर) मेरा मन लास्य-पूर्ण था (अत्यन्त प्रसन्नता के कारण नाच-सा रहा था) उधर, प्रिय का कमल जैसा मुख मुसकान-युक्त था (उनके मुख पर मुसकान खेल रही थी)। अंशु (किरणों) का चूर्ण उड़ कर झड़ रहा था (कण-कण में स्वर्णिम आभा थी), इस प्रकार मेरे नेत्रों के सम्मुख स्वर्ग ही घूम रहा था। (उसी अवसर के स्मरण से) अब भी मेरी यह देह-लता कितनी कँटीली, झुकी हुई और चोट खाई हुई (प्रभावित) है। उस समय तो केवल पैर (बेंत की तरह) काँप रहे थे और इन नेत्रों में तो झुकने की शक्ति भी शेष न रह गई थी (नेत्र सर्वथा अचल हो गये थे), इस प्रकार मेरी चेतना निष्क्रिय (गतिहीन) हो गयी थी। प्रिय ने हँस कर प्रेमपूर्वक कहा, 'प्रिये'। यह एक शब्द कान में पड़ते ही मेरा प्रत्येक रोम एक स्वतन्त्र तंत्र (वाद्य-यंत्र) की भाँति सिद्धि-मंत्र सुन कर (मनो-वाँछित सिद्धि प्राप्त करके) झंकृत हो रहा था। हे तटिनी (नदी), यह तो कैसा कि यह तुच्छ सेविका (ऊर्मिला) उस समय सुखपूर्वक वहीं मर क्यों न गयी ? (यदि ऐसा हो जाता तो यह दुःख न सहना पड़ता।) वास्तव में वही क्षण तो जीवन का क्षण था परन्तु आगे यह समय भी तो देखना शेष था (यह दुःख भी तो सहना था अतः उस समय कैसे मर सकती थी) !"

ऊर्मिला ने स्वप्न (वह *स्वप्न* ऊर्मिला के लिए *सत्य* से भी अधिक सत्य था) में देखा कि पद्मानन तथा हास्यपूर्ण मोदिता प्रियमूर्ति उसके सम्मुख खड़ी है। उसका मानस लास्य-परिपूर्ण हो गया, उसका स्वर्ग धरती पर उतर आया और अणु-परमाणु स्वर्णिम आभामय होकर उसके चारों ओर नाचने थिरकने लगे। अपरिमित उल्लास ने उसकी चेतन वृत्ति को निष्क्रिय-सा कर दिया···यहाँ तक कि उसके नेत्रों में झुकने की भी शक्ति शेष न रही। तभी प्रिय ने हँस कर कहा, 'प्रिये' और इस एक ही शब्द ने उसकी सर्वथा निष्क्रिय-चेतना में प्राणों का संचार कर

दिया। यह शब्द सुनकर उसका प्रत्येक रोम, स्वतन्त्र यन्त्र की भाँति, इसी प्रकार बज उठा जैसे सिद्धि-मन्त्र सुन कर वाद्य-यन्त्र आप-ही-आप बज उठते हैं। वास्तविक जीवन का क्षण वही तो था। कितना अच्छा होता यदि उस समय—जीवन के उस एक मात्र क्षण में—ऊर्मिला मर सकती, मर कर सदा-सदा के लिए जी सकती! परन्तु उसका यह सौभाग्य कहाँ था? उसे तो उस सुख के उपरान्त यह दुःख सहना था, वह कष्ट भोगना था!

वह जीवन का निमेष था: एक अन्य प्रसंग में जीवन के एक ऐसे ही निमेष का उल्लेख करते हुए अंग्रेज़ कवि राबर्ट ब्राउनिंग ने लिखा है:

What if Heaven be that, fair and strong,
At life's best, with our eyes up turned,
Whither life's flower is first discerned,
We, fixed so, ever should so abide?*

कितनी उस इन्दु में सुधा ... ... सब मिथ्या, ध्रुव सत्य था वही।

"सरयू, मैं असत्य नहीं कहती, उस इन्दु (चन्द्र-मुख) में कितनी (इतनी अधिक) सुधा (अमृत) थी (चन्द्रमा में अमृत माना जाता है इसीलिए उसे 'सुधांशु' अथवा 'सुधाधर' भी कहते हैं) कि उसी रूप-समुद्र का पान कर लेने के कारण मैं इस समय तक जीवित हूँ (अन्यथा मैं विरह की यह अवधि जीवित रह कर पार नहीं कर सकती थी। इस समय प्रिय का वही रूपामृत मुझे मृत्यु से बचा रहा है)। प्रिय स्वप्न में मेरे समीप आये और बोले, 'हाय ऊर्मिले, वर अवश्य हूँ (मैं तुम्हारा पाणिग्रहण करने के लिए उद्यत हूँ) परन्तु वीर हूँ अतः यदि तुममें भी (वीरांगनोचित) धैर्य हो तो मुझे स्वीकार कर सकती हो (मुझे वर सकती हो)।' (प्रिय की यह बात सुन कर) मेरी मुखरा (वाचाल अथवा बहुत बोलने वाली) मति भी उस समय मौन (निरुत्तर) ही रही परंतु मेरा वह मौन ही सम्मति-सूचक सिद्ध हुआ (मौनं सम्मति सूचकम्) (इस पर लक्ष्मण ने ऊर्मिला से कहा था) 'तुम अबला हो!' (ऊर्मिला ने उत्तर दिया था) 'हाय रे छली, स्वयं अबला होने के कारण ही तो मैं तुम जैसे महाबली को पति रूप में वरण करना चाहती हूँ।' (प्रिय ने पूछा था) 'क्या तुम्हारा मन रूपी मानसरोवर गंभीर (गहरा) है? उसमें इतना पानी है कि स्नान किया जा सके (भाव यह है कि क्या तुम्हारे मन में पर्याप्त गंभीरता

* Robert Browning, The Last Ride Together.

है ?) ? (ऊर्मिला का विनम्रता परिपूर्ण उत्तर था) 'मेरा मानस तो लघु है (गहरा नहीं है), तुम इसकी थाह लो; परंतु यह (गहरा अथवा उथला) जैसा भी है अब तो इसे निभा ही लो।' (यह सुनकर लक्ष्मण ने पूछा) 'अच्छा तो यह बताओ कि तुम्हें क्या भेंट दूँ ? धन क्या, मैं तो तुम पर अपना मन ही निछावर करना चाहता हूँ परंतु मेरे हाथ में तो शर (तीर) है अथवा शूल (कांटा या भाला) (भाव यह है कि यद्यपि मैं तुम पर मन की समस्त कोमलतम भावनायें निछावर कर देना चाहता हूँ परन्तु मेरे पास तो कठोर कर्त्तव्य ही है तुम्हें देने के लिए)। मैंने उधर देखा तो प्रिय के हाथ में एक फूल पाया। प्रिय ने अपना हाथ बढ़ा दिया और मैंने वह फूल लेकर उसे अपने सिर पर चढ़ा लिया। परंतु हाय, (श्रद्धा अथवा लज्जा के कारण) मेरी पलकें जब ढलक कर अचानक खुल गयीं, उस समय किरणें परस्पर हिलमिल कर हँस रही थीं। अरे, अचानक यह क्या हो गया ? ये मेरे (भाग्यहीन) नेत्र खुल क्यों गये ? बस केवल वह स्वप्न ही सत्य था, बाकी सब झूठ है, ध्रुव सत्य तो वही था।

प्रथम दर्शन के उपरान्त और गठ-बन्धन से पूर्व ऊर्मिला ने स्वप्न में लक्ष्मण को देखा। लक्ष्मण ऊर्मिला को पत्नी के रूप में स्वीकार करने को प्रस्तुत थे परन्तु एक शर्त पर—

धर लो धीरज तो मुझे वरो।

वियोग की इन असह्य घड़ियों में ऊर्मिला के उसी धीरज की तो परीक्षा हो रही है !

जिसने मम यातना सही ········ करती हा ! वह मूर्त हास थी !

"इस समय जो सुलक्षणा मेरे पास बैठी है और जिसने मेरे साथ मेरा दुख सहा है, यह भी उस समय मुझे बहुत खली (बुरी लगी) थी क्योंकि यह मुझे पकड़ कर साथ ले आयी थी। सब ओर असाधारण धूम मच रही थी परन्तु मेरे हृदय में तो एक ही घूम (चक्कर) थी। (लक्ष्मण की) जिस मूर्ति के आसपास (चारों ओर) मेरा हृदय चक्कर लगा रहा था, वह हँस रही थी।

'जिसने मम यातना सही' द्वारा ऊर्मिला सुलक्षणा के प्रति समुचित कृतज्ञता प्रकाशित कर देती है।

निज सौध-समक्ष ही भली ···· ···· ··· गुरु तो भी वह शम्भु चाप था।

"अपने (हमारे) महल के सामने ही वह सुखद तथा सुविशाल स्वयंवर-स्थली स्थित थी जहाँ (वधू को अपनी इच्छानुसार वर का चुनाव नहीं

करना था अपितु) निर्धारित धीरता-सम्पन्न वर को ही वधू का वरण करना था। मेरे यह नयन-दीप बुझे-बुझे-से हो रहे थे। मेरे हृदय में सर्वप्रथम यही चिन्ता उत्पन्न हुई कि यदि प्रभु चाप न चढ़ा सके तो क्या होगा ? यह सोचते ही मेरा मन उड़ने लगा और सब अंग थक गये (हतोत्साहित से हो गये)। उस समय मैं अत्यधिक आकुल हो गयी और मैंने अपने आँसुओं से जीजी-मणि (मणि-तुल्य श्रेष्ठ बहिन सीता) को भिगो दिया।

उन्होंने हँस कर कहा, 'अरी, तू इस प्रकार भयभीत-सी क्यों हो रही है ? यदि उनसे यह धनुष न चढ़ना होता और वह स्वयं यह कार्य करने में समर्थ न होते तो मेरी यह अचंचला (कभी चंचल अथवा विचलित न होने वाली) भौंह भी भला उन पर उठती (उनकी ओर आकृष्ट होती !)! दृढ़ प्रत्यय (ध्रुव-विश्वास) के बिना यह (हमारे जैसा) आत्मार्पण (आत्मा का समर्पण) सम्भव ही नहीं होता। यह तो बता कि लता पहले ही से मधु (वसंत) को अपने पत्ते क्यों अर्पित कर देती है ? (वसंत आने से पूर्व ही पतझड़ में लता-वृक्षों के पत्ते टूट कर गिर जाते हैं।) स्वयं ही अपने-आप को अर्पित कर देने वाली वह बत्ती जब वह स्नेह-तर्पिता (स्नेह में डूबी, तेल में भीगी) बत्ती बन जाती है (यहाँ 'स्नेह' श्लिष्ट शब्द है इस के अर्थ हैं 'प्रेम' तथा 'तेल') तो पहले उसे हृदय से लगा लेने के उपरांत ही दीपक अन्धकार दूर करता (अंधकार दूर करने में समर्थ होता) है। फिर तूने अपना निश्चय (आत्म-विश्वास) क्यों खो दिया ? तुझे भी इस प्रकार की ग्लानि (अनुत्साह अथवा खेद) क्यों हुई ? पगली, बता तो सही, यह क्या बात है ? क्या रात को धृति (धैर्य) भी अर्पित कर बैठी (त्याग बैठी ?)' ? यह कह कर विश्वास तथा प्रेम में पगीं जीजी मुझे अपनी छाती से लगाने लगीं। उस समय विस्मयविमूढ़-सी होकर मैं चुपचाप उनके चरणों में गिर पड़ी। उनकी (सीता की) छोटी बहिन तथा उपासिका होकर भी क्या मैं उनकी दासी कम हूँ ? अस्तु, (उनका आश्वासन पाकर) मेरा हृदय हलका हो गया और मैं ताप (चिन्ता अथवा दुःख) से सर्वथा मुक्त हो गयी परन्तु फिर भी शिव का वह धनुष तो भारी ही था।

'रामचरितमानस' में मिथिलावासी तो मन-ही-मन विधाता से यह विनय करते ही हैं कि—

हरु विधि बेगि जनक जड़ताई।
मति हमारि असि देहि सुहाई॥

बिनु बिचार पनु तजि नरनाहू ।
*सीय राम कर करै बिबाहू ॥**

स्वयं सीता के हृदय में भी पिता के प्रण का स्मरण करके क्षोभ ही होता है :

*सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा ।**

और

जानि कठिन सिवचाप बिसूरति ।
*चली राखि उर स्यामल मूरति ॥**

इसके विपरीत, 'साकेत' की सीता को ध्रुव-विश्वास है कि—

चढ़ता उनसे न चाप जो,
वह होते न समर्थ आप जो,
उठती यह भौंह भी भला,
उनके ऊपर तो अचंचला !

यदि राम में धनुष चढ़ाने की शक्ति न होती तो सीता के नेत्रों की तो बात ही क्या, उनकी *अचंचला भौंह भी* राम के ऊपर न उठती । सीता का यह अपरिमित आत्म-विश्वास 'साकेत' की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है । इसी आत्म-विश्वास के आधार पर तो वह ऊर्मिला की *प्रथम* चिन्ता (राज-पुत्री ऊर्मिला के लिए चिन्ता का यह प्रथम ही अवसर था) को हँसी में टाल कर सर्वथा निश्चिन्त भाव से यह कह पाती हैं :

निज निश्चय हानि क्यों हुई ?
तुझको भी यह ग्लानि क्यों हुई ?
पगली, कह, बात क्या हुई ?
धृति भी अर्पित रात क्या हुई ?

अग्रजा के ये शब्द सुनकर अनुजा विस्मयविमूढ़ हो गई, उसे स्वयं अपनी उस *निश्चय-हानि*, अपनी उस *मानसिक दुर्बलता*, उस *अनुचित ग्लानि* पर खेद होने लगा और वह लजा कर चुपचाप सीता के चरणों में जा गिरी···उसका चित्त बिल्कुल *हलका* हो गया, वह सर्वथा निश्चिन्त हो गयी ।

चढ़ता उनसे न चाप ···उनके ऊपर तो अचंचला : महाकवि कालिदास के दुष्यन्त के इन शब्दों में भी यही आत्म-विश्वास निहित है :

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।

---

* रामचरितमानस, बालकांड ।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

(जब मेरा शुद्ध मन भी इस (शकुन्तला) पर रीझ उठा है तब यह निश्चय है कि इसका विवाह क्षत्रिय के साथ हो सकता है क्योंकि सज्जनों के मन में जिस बात पर शङ्का हो, वहाँ जो कुछ उनका मन कहे, वही ठीक मान लेना चाहिए) ।*

तब प्रस्तुत रंगभूमि में .... पहुँचीं वे प्रभु-प्रेम-पद्मिनी ।

"तब अपने ही मानस-हंस पर वास करने वाली तथा प्रभु के प्रेम में निमग्न पद्मिनी (सीता) ने उस रंग-भूमि अथवा अनेक नरेशों की भाव-लहरियों की उस आधार-भूमि में प्रवेश किया ।

यहाँ रंगभूमि को *नृप-भावाम्बु-तरङ्ग-भूमि* कहा गया है । इस समय वहाँ बैठे हुए विभिन्न नरेशों के हृदय में भिन्न-भिन्न भावों का उदय तथा अस्त हो रहा है ('रामचरितमानस' में इन भावों का विशद वर्णन भी किया गया है) परन्तु जिस प्रकार लहरें परस्पर एक दूसरे से टकरा कर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार इन नरेशों के भाव भी एक दूसरे से टकरा कर अस्त-व्यस्त हो रहे हैं, उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं बन पा रही है । सीता इसी *तरङ्ग-भूमि* में प्रवेश करती हैं । यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि हमारे कवि ने रंग-भूमि को तो नृप-भावाम्बु-तरंग-भूमि कहा है परन्तु सीता को उस तरंग-भूमि की पद्मिनी नहीं कहा । सीता तो *प्रभु-प्रेम-पद्मिनी* हैं, इतना ही नहीं, वह तो नृप-भावाम्बु-तरंग-भूमि की *कीचड़* से सर्वथा अप्रभावित *निज मानस-हंस-सद्मिनी* हैं । कर्त्तव्य-विवश होने के कारण सीता को उन नरेशों के सम्मुख आना अवश्य पड़ा है परन्तु उनके प्रति सीता के हृदय में लेशमात्र भी आकर्षण नहीं । उस विशाल नृप-समूह में आकर भी इस प्रकार की *तटस्थता*, इस प्रकार की *आत्मलीनता* तो वैदेही द्वारा ही सम्भव है ।

वरमाल्य-पराग छोड़ के .... सजनी चामर से परे उड़े !

"वरमाला का पराग छोड़ कर राजाओं के जो नेत्र-भ्रमर सेना की सी भाँति उन सीता पर जुड़ (एकत्रित हो) गये थे, हे सखी, वे तो ऊपर-ही-ऊपर चँवर की भाँति उड़ते रहे (चँवर-सा डुलाते रहे) ।

यहाँ राजाओं के नेत्रों को *भ्रमर* माना गया है । यह तो प्रसिद्ध ही है कि भ्रमर के प्रेम में गम्भीरता नहीं होती, परन्तु ये भौंरे तो *वर-माल्य पराग* भी छोड़ चुके हैं; अपनी सहज प्राप्य वस्तु को भी छोड़ कर स्वयं ही अपनी *अयोग्यता*, अपनी *पराजय* स्वीकार कर चुके हैं । वर-माल्य-पराग से वंचित होकर रूप-लुब्ध राजाओं के नेत्र-भ्रमरों ने सैन्य-दल का सा संगठन करके सीता के सौन्दर्य पर

* अभिज्ञान शाकुन्तलम्, अंक १, श्लोक २१ ।

आक्रमण करने का *कुटिल* प्रयत्न अवश्य किया परन्तु वे तो सीता पर *चँवर-सा डुला कर रह* गये। उनके नेत्र सीता की रूप–छटा का *स्पर्श मात्र* भी न कर सके। इसके विपरीत 'रामचरितमानस' में :

रंगभूमि जब सिय पगु धारी।
देखि रूप मोहे नर नारी॥

और

पानि सरोज सोह जयमाला।
अवचट चितए सकल भुआला॥

बल-यौवन-रूप-वेश का .... न रही नाक, पिनाक था डटा।

"शक्ति, यौवन, रूप, वेश तथा अपने शिष्ट एवं विशिष्ट (खास–खास) देश का लोभ दिखा कर राज–समाज लुब्ध तो था (सीता को पाने का लोभ तो अवश्य कर रहा था) परन्तु (महाराज जनक की कठोर प्रतिज्ञा और उसकी पूर्त्ति में अपनी असमर्थता का स्मरण करके) उन राजाओं में क्षोभ का ही आधिक्य था। (विनय-मूर्त्ति सीता के रूप में) राजाओं के सम्मुख स्वर्ग ही नम्र (झुका हुआ) था परन्तु बीच में (उस स्वर्ग—सीता—तथा राजाओं के बीच में अपरिहार्य बाधा बन कर) वह महापिनाक (शिव का वह महान धनुष) पड़ा था (उसे उठाए बिना सीता तक पहुँचना सम्भव न था। सब राजा सिर मार कर मर गये (हार गये) परन्तु वह धनुष टस-से-मस न हुआ। उनकी नाक (प्रतिष्ठा) न रही परन्तु पिनाक ज्यों का त्यों डटा था।

नृप सम्मुख नम्र...पिनाक था डटा : यहां 'नाक' शब्द में यमक है। प्रथम पंक्ति में नाक का अर्थ है 'स्वर्ग', द्वितीय तथा चतुर्थ पंक्ति में पिनाक में भंग पद यमक है और चतुर्थ पंक्ति में 'नाक' का अर्थ है 'प्रतिष्ठा' अथवा 'आबरू'।

'रामचरितमानस' में :

भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥
डगइ न संभु सरासनु कैसे। कामी बचन सती मनु जैसे॥
सब नृप भए जोगु उपहासी। जैसे बिनु बिराग सन्यासी॥
कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी॥
श्रीहत भए हारि हियँ राजा। बैठे निज निज जाइ समाजा॥

सबका बल व्यर्थ ही बहा .... वसुधा वीर-विहीन दीन है!'

"समस्त राजाओं का बल व्यर्थ ही बहा (रहा) (कोई भी धनुष को न

हिला सका)। तब (यह देख कर) पिता ने अत्यन्त दुखी होकर कहा, 'बस, क्षत्रियत्व समाप्त हो गया, पृथ्वी वीर-विहीन होकर दीन हो गयी।'

'रामचरितमानस' के जनक इन शब्दों में अपना क्रोध तथा दुख प्रकट करते हैं :

कहहु काहु यहु लाभु न भावा। काहु न संकर चाप चढ़ावा॥
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छुड़ाई॥
अब जनि कोउ माखै भटमानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज-निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥

और 'प्रदक्षिणा' के जनक का कथन है :

वीर-विहीन हो गई वसुधा,
आज हो गया मुझको ज्ञात।
रहे कुमारी ही वैदेही,
लौट जायँ सब पृथ्वीपाल;
जान लिया मैंने, जगती में
नहीं कहीं माई का लाल!⊛

कहता यह बात कौन है ... ... घन को रोहित-दीप्ति दीजिये।'

'(पिता के ये शब्द सुन कर) मंच पर बैठे कान्त (लक्ष्मण) ने पर्वत-शिखर पर बैठे सिंह के समान गरज कर अपना क्रोध प्रकट करते हुए कहा, 'यह बात कौन कहता है? और कौन श्रेष्ठ वंश का वंशज इसे चुपचाप सुन रहा है?' आग की भाँति उस सूर्य को उदित देख कर कौनसा मनुष्य न जाग गया था? सरयू, जिस समय प्रिय ने मंच पर से इस प्रकार गर्जना की थी, उस समय मेरे ये हत-नेत्र वहीं थे। उन्होंने कहा, 'नहीं, नहीं, अब भी सूर्य का विकास है, अब भी समुद्र में रत्न मौजूद हैं, अब भी रघुवंश बाकी है, पृथ्वी भी अभी शेष है और वृहद्‌दंश (विशाल कंधों वाला अथवा अत्यन्त बलिष्ठ) शेषनाग भी। गंगा जल से परिपूर्ण है और अब भी श्री रामचंद्र जी की अत्यधिक बलवान भुजाएं मौजूद हैं। ऐसे सैंकड़ों धनुषों को ईख की तरह तोड़ डालने में समर्थ हाथी की सूँड के समान मेरी भुजाएं भी अभी शेष हैं। महाराज जनक ने यह बहुत ही अपमानजनक बात कही है

⊛ श्री मैथिलीशरण गुप्त, प्रदक्षिणा, पृष्ठ १४-१५।

परन्तु जानकी मेरी आर्या (पूज्या) हैं (अतः मैं समर्थ होने पर भी यह चाप नहीं चढ़ाऊँगा)। (राम को सम्बोधित करके उन्होंने कहा था) हे आर्य, उठ कर अपना कार्य कीजिए और (इस धनुष को ऊपर उठाकर बादलों जैसे अपने श्यामल शरीर को) इन्द्र-धनुष की-सी शोभा प्रदान कीजिए।'

'रामचरितमानस' के लक्ष्मण इस अवसर पर इन शब्दों में अपना क्रोध अभिव्यक्त करते हैं :

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुलमनि जानी॥
सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। को बापुरो पिनाक पुराना॥
नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुक करौं बिलोकिअ सोऊ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥

तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
*जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥**

निस्सन्देह लक्ष्मण का यह वीर–रूप अत्यन्त भव्य है परन्तु खेद यही है कि 'रामचरितमानस' में लक्ष्मण का यह रूप देख कर '*हृत*' हो जाने वाले ऊर्मिला के नेत्र नहीं हैं।

'प्रदक्षिणा' के लक्ष्मण यह कह कर राम से धनुष तोड़ने के लिए अनुरोध करते हैं :

"क्या कहते हैं ये मिथिलेश्वर,
आर्य, इसे सुनते हैं आप ?
मैं सुन सकता नहीं तनिक भी,
क्या है यह घूर्णित-सा चाप।
स्वयं कलभ-सा इक्षु-दंड सम,
इसको जान चुका हूँ मैं।
किन्तु जानकी को पहले ही,
आर्या मान चुका हूँ मैं।

* रामचरितमानस, बालकांड।

उठिए, अभी सरस श्यामल घन ,
इन्द्र - धनुष से अंकित हो ,
नीरव उत्तर पाकर नृप का ,
*अस्थिर हृदय अशंकित हो।"**

सुनते सब लोग सन्न थे ··· ··· ··· धनुरुल्लोल उठा कि भंग था!

"सब लोग सन्न-से होकर यह सुन रहे थे। पिता नत होकर (इस प्रकार चुनौती पाकर) भी अत्यंत प्रसन्न थे (उस पराजय में भी विजय का अनुभव कर रहे थे)। हे नदि, उस समय यह सुध किसे थी कि यदि प्रभु चाप न चढ़ा सके तो? उस समय किस राजा का घमंड शेष रहा था (सबका ही घमंड नष्ट हो गया था।)? जीजी मणि थीं और शिव-चाप (उस मणि का रक्षक) सर्प। प्रभु ने कुछ गारुड़-मंत्र (सर्प को वश में करने वाला मंत्र)-सा करके उस मणि (सीता) को प्राप्त कर लिया। रस का (पूर्ण) परिपाक हो गया। प्रभु ने चाप चढ़ाना चाहा तो वह तुरंत (अनायास ही) टूट गया। उस समय प्रभु समुद्र के समान जान पड़ रहे थे और धनुष लहर की भाँति। (जिस प्रकार लहर के उठते ही समुद्र, उसे खील-खील कर देता है उसी प्रकार) प्रभु के हाथ में आते ही वह धनुष टूट गया।

सब हर्ष निमग्न हो गये ···· ···· ···· उसके ऊपर वाम पाद है!"

"(प्रिय का यह कथन सुन कर) सब लोग आनंद-मग्न हो गये और (धनुष के साथ-ही-साथ) समस्त राजाओं के हृदय भी खंड-खंड हो गये। कुछ लोग कहने लगे, 'वह तो बल ही था, इसमें वीरता की कोई बात न थी।' इस प्रकार किसका लोभ रो उठा? मुझे भी यह बात सुन कर अत्यंत क्षोभ हुआ परन्तु इससे पूर्व कि (क्रोध के कारण) इस ओर मेरी भवें तिरछी हों, उधर प्रिय ने (उन राजाओं से युद्ध करने की इच्छा से) धनुष चढ़ा लिया और उस कोलाहल में भी उनकी आवाज़ गूँज गयी : 'वह वीर्य-वीरता किसमें है? जिसे अपनी वीरता का घमंड है, उस पर हम अपना यह बाँया पैर रखते हैं (उसे चुनौती देकर हम कहते हैं कि वह तो हमारे बाँए पैर के नीचे रहने योग्य है)।'

ध्वनि मंडप-मध्य छा गई ···· ···· ··· वध में है कब दोष-दायिनी?

"मंडप में प्रिय की ध्वनि गूँज गयी। तब तक वहाँ भार्गव (परशुराम) आ गए। प्रभु ने शिव-चाप तोड़ दिया था (इसी [illegible] में) प्रिय और भार्गव

* प्रदक्षिणा, पृष्ठ १५–१६।

के बीच बातचीत हो रही थी। मुनि ने अपनी गर्वपूर्ण गर्जना की, प्रिय ने उसी समय उसका उचित प्रतिरोध किया, प्रभु ने अत्यन्त सौम्य (शान्त) भाव से प्रिय को रोका (शान्त कर दिया)। उस समय सबकी एक ही आकांक्षा थी (कि वह संकट किसी प्रकार टल जाए)। प्रिय ने भार्गव से कहा, 'हे मुनि, हमें अपने धनुष से न डराइए (हम धनुष से नहीं डरते) हम तो धर्म के शाप से डरते हैं। दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाली द्विजता (ब्राह्मण) का वध करने में भी भला क्या दोष है (कुछ भी दोष नहीं है।)'

लक्ष्मण-परशुराम-संवाद 'रामचरितमानस' का एक अत्यन्त मनोहर अंश है। लक्ष्मण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण 'साकेत' में इस प्रसंग को कुछ अधिक स्थान दिया जा सकता था। 'प्रदक्षिणा' में गुप्त जी ने इस सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकाश डाला भी है :

"मैं वह परशुराम हूँ जिसने, किया क्षत्रियों का संहार।"
बोले झट सौमित्र—"राम ने लिया नहीं था तब अवतार।
द्विज दयनीय! शान्त हो, सोचो, रहने दो यह निष्फल रोष,
तुम अपने उस प्रिय पिनाक का प्रभु के मत्थे मढ़ो न दोष...।" ※

परन्तु 'रामचरितमानस' के सम्मुख 'साकेत' अथवा 'प्रदक्षिणा' का लक्ष्मण-परशुराम-संवाद निर्जीव ही है।

द्विजता तक आततायिनी, वध में है कब दोषदायिनी : 'रामचरित-मानस' के लक्ष्मण परशुराम से कहते हैं :

सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरें कुल इन्ह पर न सुराई॥
बधें पापु अपकीरति हारें। मारतहूँ पा परिअ तुम्हारें॥ †

'साकेत' में वर्ण-व्यवस्था का गौरव तो स्वीकार किया गया है परन्तु यहाँ वह अपने शुद्ध रूप में ही दृष्टिगोचर होती है। ब्राह्मण उसी समय तक पूज्य हैं जब तक वे अपने आदर्श पर स्थित हैं। परशुराम की *मुनिता* पूज्य है, *द्विजता मात्र* पूजनीय नहीं है। साकेतकार का विश्वास है कि यदि ब्राह्मण भी आततायी हो जाएगा तो उस पर शस्त्र उठाना भी पाप न होकर पुण्य बन जाएगा।

सुन देख हुई विभोर मैं···· ···· ··· ···· वह व्रज्या-व्रत धन्य-धन्य है।

"वह सब देख सुन कर मैं मग्न हो गयी और अपनी साड़ी का किनारा

※ पृष्ठ १७।
† रामचरितमानस, बालकांड।

बटने लगी। अब भी वही ऐंठ मेरे नेत्रों के सम्मुख है। तभी तो मैं आज (इन विषम परिस्थितियों से) युद्ध कर रही हूँ! परशुराम मुनि प्रभु को अपना चाप देकर (अपने क्षत्रियोचित गुणों का विसर्जन करके) तथा केवल मुनिता (शान्ति एवं सौम्यता) ही साथ लेकर वहाँ से चले गये। सन्यास का वह व्रत वास्तव में धन्य है जिसके सामने स्वर्ग भी तुच्छ है।

धनुष तो राम ने ही तोड़ा था परन्तु स्वयंवर-सभा में सबसे अधिक प्रभावोत्पादक Role लक्ष्मण का ही रहा। निस्संदेह, उनके व्यक्तित्व के सम्मुख तो कुछ समय के लिए स्वयं रघु-वंश-भूषण श्री राम का व्यक्तित्व भी हलका-सा पड़ गया। अपने जीवन-नायक को इस प्रकार सबके हृदयासनों पर विराजमान देख कर ऊर्मिला का आत्म-विभोर हो जाना स्वाभाविक ही था। लक्ष्मण की उस ऐंठ (अकड़)—समुचित स्वाभिमान—ने ऊर्मिला को मुग्ध कर दिया, उसका सर्वस्व उस सर्वविजयी व्यक्तित्व के चरणों पर निछावर हो गया। वही ऐंठ—प्रिय का वही स्वाभिमान—आज भी, एक प्रकाश स्तम्भ की भाँति, उस अन्धकारमय जीवन में, ऊर्मिला का पथ-प्रदर्शन कर रहा है। वह भी तो उसी पति की पत्नी है; फिर वह परिस्थितियों से हार कैसे मान ले? भाग्य की दासता क्योंकर स्वीकार कर ले?

सरयू, जय दुन्दुभी बजी .... जब माँ से हम छूटने लगीं।

"सरयू, (परशुराम के चले जाने के उपरान्त) मिथिला में विजय के नगाड़े बजने लगे। इधर, अयोध्या में वह विशाल बारात सजी। वहाँ (मिथिला में) हमारी दो बहिनें माण्डवी और श्रुतिकीर्ति और थीं, यहाँ (अयोध्या में) दो श्रेष्ठ भाई (भरत तथा शत्रुघ्न) और थे। पाणि-ग्रहण संस्कार तो प्रेम-यज्ञ ही था। बता, उसे स्वीकार(प्राप्ति)कहूँ या त्याग? (विवाह में पति-पत्नी एक दूसरे को पाते और अपने आपको एक-दूसरे को सौंपते हैं, इसीलिए उसे 'स्वीकार' भी कहा जा सकता है, 'त्याग' भी)। आनन्द तथा हँसी-खुशी के उस वातावरण में दुःख तो सर्वथा विलीन सा हो गया था। वह तो बन्धन और मुक्ति का मेल सा था (हम एक स्वतंत्र जीवन में प्रवेश कर रहे थे परन्तु इसके साथ ही साथ कुछ नवीन उत्तरदायित्वों में बँध भी रहे थे विधाता का सत्य (भाग्य द्वारा पहले से निर्धारित सत्य) होकर भी वह खेल (मनोविनोद) सा ही लग रहा था (भाग्य द्वारा थोपा गया न लग कर स्वेच्छापूर्वक अपनाया गया ही जान पड़ रहा था)। वह पाणि-ग्रहण नर का अमरत्व तत्त्व था (है) (विवाह ही तो पुरुष के वंश-वृक्ष,

अमर वंश-वल्लरी, का मूल है) और नारी जाति का महत्व। हमारे नेत्रों में अनेक नये-नयें स्वप्न जाग रहे थे। न जाने दिन कब आये और कब चले गये। हमारा वह स्वप्न तो उसी समय टूटा जब माँ से विदा होने का समय आ पहुँचा।

बिछुड़ा बिछुड़ा विषाद है ... . कितनी हाय पछाड़, क्या पता।

"(माता-पिता से विदा होते समय का वह) विषाद (दुःख) भी बिछुड़ चुका है (माता पिता से बिछुड़ने की बात भी पुरानी पड़ गयी है)। हे सरयू, तुझे तो अपना वह वियोग का अवसर याद है न, जब तू इस गीले (सजल) शरीर से अपना घर छोड़ कर अपने पति (समुद्र) के घर की ओर चली थी? हे सरिते, क्या तू उस समय सहस्रों धाराओं में फूट तथा वह कर न जाने कितनी पछाड़ें खाए बिना उस घर से चल सकी थी?

पर्वत से उतर कर नदी आरम्भ में अनगिनत छोटी-छोटी धाराओं में बँटकर तथा पत्थरों से टकरा कर पछाड़े-सी खाती हुई आगे बढ़ती है परन्तु 'शतधा', 'स्रविता', 'द्रविता' आदि शब्दों द्वारा केवल इस कटु सत्य की अभिव्यक्ति नहीं हुई है। इस प्रकार तो कवि ने सरिता को पितृगृह से पतिगृह की ओर जाती नव विवाहिता के रूप में ही प्रस्तुत कर दिया है। जलमयी होने के कारण नदी के लिए 'शतधा', 'स्रविता' और 'द्रविता' होना स्वाभाविक ही है। परन्तु कवि की तो यह कल्पना है कि यह सब जलमयी होने के कारण नहीं, मातृ-पितृ-स्नेह-मयी होने के कारण ही होता है—ठीक उसी प्रकार जैसे पितृकुल से विदा होते समय पुत्री में यही लक्षण (रोना, विह्वल होना, पसीने से लथपथ हो जाना, पछाड़ खाना आदि) दिखाई दिया करते हैं। इन पंक्तियों में यह ध्वनि भी है कि जब पितृ गृह से विदा होते समय सरिता की ऐसी दशा हो जाती है तो फिर मानव-कुलोत्पन्ना बालिका को तो कितनी अधिक वेदना होती होगी!

'मत रो'—कह आप रो उठीं ... . थल भूलीं तुम आज बेटियो।'

"(विदा होते समय हम रो रही थीं। माँ ने हमें धैर्य बँधाते हुए कहा) 'न रो'। (इस प्रकार हमें रोने के लिए मना करके) स्वयं माँ रा पड़ीं। इस पर मैंने कहा था, 'माँ, तुमने इस भाँति अपना धीरज क्यों गँवा दिया? माँ ने उत्तर दिया, 'पुत्री, मैं तो दुखी माँ हूँ परन्तु तू तो अभी क्रीड़ा-मग्ना बालिका ही है (अतः तुझे विदा करते हुए मुझे बहुत दुःख हो रहा है)। मैंने कहा, 'फिर इस अबोध शिशु को (मुझे) अपने से दूर क्यों कर रही हो? तुम इस

प्रकार माँ की ममता कम क्यों कर रही हो ? इस पर माँ ने उत्तर दिया, 'मैं तुम्हें अपने से दूर नहीं हटा रही, स्वयं ही तुम से अलग हट रही हूँ। वहाँ (श्वसुर-गृह में) तो तुम यहाँ से भी अधिक सुखपूर्वक रह सकोगी, सुनो, यहाँ तो अकेली दीन मैं ही तुम्हारी माँ हूँ परन्तु अब तो तुम्हें (तीन सासों के रूप में) एक के बदले तीन माताएं प्राप्त हो गयी हैं। सदा पति का सुख ही मुख्य मानना'। उस समय हमें उपदेश देते हुए पिता ने कहा था 'सुख को भी सहनीय समझना' (सुख में भी अपनी सहनशीलता का त्याग न कर देना) पिता का वह उपदेश और उनका आत्म-विस्मृत-सा वेश अब भी याद आ रहा है और इस प्रकार सब होश-हवास भूलता-सा जा रहा है। वे लोभ-मोह से कब प्रभावित होते थे परन्तु दारुण विछोह उस समय भाँ-भाँ कर रहा था। हम तो उनकी गोद में ही रहीं। उनकी ब्रह्म-दया (अनुकम्पा अथवा आशीर्वाद) कहाँ नहीं हैं (सर्वत्र ही है)। विदा होते समय हम पिता के चरण पलोटने लगीं और उन्हीं चरणों में लोटने लगीं। उस समय उन्होंने कहा, 'बेटियो, तुम आज स्थान भूल गयी हो (तुम्हारा स्थान मेरे पैरों में नहीं, मेरी गोद में है) अतः तुम फिर आकर मेरी गोद में बैठना (मुझे भुला न देना)'।

सुख को भी सहनीय जानियो : दुःख में तो *सहनशीलता* आवश्यक है ही परन्तु जीवन को सुखी बनाने के लिए *सुख* में भी इसकी *उतनी ही* आवश्यकता है। सहनशीलता का अभाव होने पर सुखी मनुष्य मदान्ध तथा अविवेकी हो जाता है। स्थितप्रज्ञ के लिए सुख तथा दुःख दोनों में ही *समान रूप से* सहनशील रहना आवश्यक है क्योंकि गीता के अनुसार 'स्थितप्रज्ञ' की तो परिभाषा ही यह है :

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
*वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥**

उनको कब लोभ मोह था, पर भाँ भाँ करता बिछोह था : 'रामचरित मानस' में :

बंधु समेत जनकु तब आए। प्रेम उमगि लोचन जल छाए॥
सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥
लीन्हि रांय उर लाइ जानकी। मिटी महामरजाद ग्यान की॥†

* श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ५६।
† रामचरितमानस, बालकांड।

उस आँगन में खड़ी खड़ी ··· ··· ··· ··· पड़ते हैं बस अश्रु टूट के ।

"उसी आँगन में खड़ी-खड़ी तथा अपनी बड़ी-बड़ी आँखें भर-भर कर माँ अब भी (हमारे विदा हो जाने के उपरान्त भी) अपनी सुध गँवा रही थीं और अकस्मात् चौंक-चौंक कर हमें पुकार रही थीं। परन्तु अब आँगन तो भाँय-भाँय कर रहा था (सूना हो गया था) और पवन साँय-साँय। जहाँ सब फूल फूट-फूट कर गिरा करते थे (हम सबकी हँसी-खुशी के फूल झड़ा करते थे), वहीं अब बस (माँ के) आँसू ही टूट-टूट कर गिर रहे थे।

प्रिय आप न जो उबार लें·········मुझको शान्ति अशान्ति में मिले।

"यदि प्रिय स्वयं हमें न बचा लेते (अपरिमित प्रणय द्वारा हमारा वह दुःख न भुला देते) तो मातृ-वियोग में हमारी तो मृत्यु ही हो जाती। तटिनी, यह तो तू जानती ही है कि प्रिय ने अपने प्रेम से मेरे हृदय का वह समस्त दुःख भुला दिया था। सरयू, उस सुख का मैं क्या वर्णन करूँ (जो मैंने विवाह के उपरान्त अपने पति के साथ रह कर भोगा है)? अब तो मुझे यह दुःख ही सहना है। जिसने उतना सुखोपभोग किया (इतना अधिक सुखपूर्ण जीवन बिताया), उसे इस प्रकार दुर्भाग्य के आँसुओं का भी पान करना पड़ा! मैं ही वह अभागिनी हूँ (जिसे उतना सुखभोग करने के उपरान्त आँसू पीने पड़े हैं) जिसने अपना-सा (अनुपम) धन पाकर अपने आप ही उसे त्याग भी दिया। विष के समान जो यह वियोग है यह मेरे अपने कर्मों का ही तो फल है। मैं हाथ जोड़ कर (अत्यन्त विनयपूर्वक) तुझ से यह पूछ रही हूँ, तू सच-सच बता, मैंने प्रिय का साथ छोड़ कर कहीं कुल-परम्परा के विरुद्ध आचरण करके अपना धर्म घटा तो नहीं दिया? इस प्रतिष्ठित घर की श्रेष्ठ वधू और विदेह (जैसे पिता) की पुत्री होकर क्या मैं केवल अपने शारीरिक भोगों के लिए ही अपने पति को यहाँ रोक कर इस अपूर्व अवसर से वंचित कर देती? यदि नाथ (भाई के साथ न जाकर) घर रहते तो स्वयं मैं ही उन्हें निरा स्त्रैण (स्त्री-रत) कहती (समझती)। (तभी तो भाई के साथ जाने का उनका) वह अवसर जिसमें वास्तव में पुरुषार्थ का सच्चा गर्व था (भाई के साथ जाने में ही सच्चा पुरुषार्थ था) मेरे लिए तो एक पर्व के समान ही था। अस्तु, (यदि मैं उस समय उन्हें न जाने देती तो) तू सुखी होकर मधुर ध्वनि करती या दुःखी होती? बता, तू मेरे इस कार्य से सहमत है अथवा असहमत? परन्तु मुझे

स्वयं ही आज यह ज्ञान कहाँ है ? कहीं लोग अपने मन के विरुद्ध ही तो बुरी भावनायें नहीं कर बैठते ! प्रिय तथा मधुर शब्द करने वाली सरयू, मैं तो तेरे इस स्वर को अपने कार्य का समर्थन ही करता पाती हूँ। प्रस्तुत दुःख की इस अत्यधिक कठोरता से तो मेरे विश्वास में और भी अभिवृद्धि हुई है। यदि मैं लीक पर न चल सकी (सामान्य-परम्परा अथवा लोक-प्रथा का पालन करके पति को अपने साथ ही न रख सकी) तो यही सही, अब लोक-(परम्परा) ही मुझे धारण करे (मेरे द्वारा स्वीकृत पथ ही परम्परा में परिवर्तित हो अथवा दूसरे भी उसी का अवलम्बन करें) (पति से अलग होने के कारण) इस समय मुझे सुख तथा शान्ति प्राप्य नहीं हैं तो न सही (मुझे यहाँ सुख शान्ति भले ही प्राप्य न हो) परन्तु सन्तोष, तुम मेरा साथ न छोड़ना। सुख की भाँति यह दुःख भी सह लिया जाएगा, अतः मुझे इस अशान्ति में ही शान्ति मिले।

ऊर्मिला के चरित्र-चित्रण में 'साकेत' के प्रस्तुत उद्धरण का विशेष स्थान है। ऊर्मिला चाहती तो पति को वन जाने से रोक सकती थी। लीक धरने वाली कोई भी सामान्य स्त्री कदाचित् यही करती परन्तु ऊर्मिला सामान्य स्त्री नहीं, वह एक *गण्य गेह* की *सु-वधू* है और *विदेह* की *दुहिता*। फिर वह केवल *देह भोग*, अपने शारीरिक सुखमात्र, के लिए अपने पति को उस *सुअवसर* से वंचित कैसे कर देती ? इतना ही नहीं, यदि स्वयं लक्ष्मण उस समय घर रह जाते तो इससे ऊर्मिला को हार्दिक दुःख होता, तब वह उन्हें *निरा स्त्रैण* ही मानती, उनमें पुरुषार्थ का सर्वथा अभाव ही समझती। परन्तु उसके पति ने कर्तव्य-पथ का त्याग नहीं किया और स्वयं वह भी प्रिय-पथ का विघ्न न बनी। उसे आज *यही सन्तोष* है। उसे *सुख शान्ति* नहीं मिलती तो न मिले परन्तु *यह सन्तोष* तो है कि उसने अपने पति को कर्त्तव्य-विमुख न किया। इसीलिए तो यह *अशान्ति* उसे *शान्ति से भी अधिक* प्रिय है, यह दुःख सुख से भी अधिक रुचिकर है और यह वियोग संयोग से भी अधिक गौरवमय जान पड़ रहा है।

तब जा सुख-नाट्य-नर्त्तिनी ···· ··· ···· ···· ध्रुव-से धीर गंभीर वृन्द का।"

"अस्तु, हे सुखपूर्वक (अथवा सुख का) अभिनय तथा नृत्य करने वाली, तू जा और जाकर अपने सागर के पार्श्व में पहुँच जा। तेरे साथ ही क्रीड़ा करने वाली त्रिपथा (गङ्गा) जैसी वह तरङ्गिणी (नदी) तेरी बाट जोह रही है (सरयू समुद्र में विलीन होने से पहले गङ्गा में मिल जाती है)। तेरा

यह बहाव (प्रवाह) व्यर्थ न जाएगा, पान्थ (यहाँ 'पान्थ' श्लिष्ट शब्द है, अर्थ हैं पथिक और विरही) तो अपना मार्ग स्वयं ही बनाता है (अतः तू भी अपना रास्ता स्वयं बनाती हुई आगे बढ़ कर समुद्र तक पहुँच जा)। चल (चंचल अथवा गतिशील) चित्त तुझे चला रहा है (निरन्तर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित कर रहा है) इधर जलता स्नेह (मेरे जीवन-दीप में जलता हुआ यह स्नेह अथवा तेल) मुझे जला रहा है। हे सरिते, तुझे अपने जीवन में गति (स्वच्छन्दतापूर्वक आगे बढ़ने की छूट) प्राप्त हुई है और मुझे बन्धन की वेदना; परन्तु शरीर से भले ही न हों (शारीरिक रूप से हम दोनों में यह महत्त्वपूर्ण अन्तर अवश्य है) किन्तु हे अविनाशिनी, हम दोनों मन से (मानसिक रूप से) एक दूसरे के साथ (परस्पर अभिन्न) ही हैं अतः बता, मैं (इस मित्रता अथवा आत्मीयता के नाते) तुझे क्या उपहार भेंट में दूँ ? मुझे तो यह अलकें (केश) ही उपहार में दी जाने योग्य दिखाई देती हैं अतः तू प्रेमपूर्वक मेरी एक लट (बालों का गुच्छा) ले ले और इस राखी को सदा सम्हाल कर रख (ऊर्मिला के ये शब्द सुन कर सुलक्षणा यह सोच कर भयभीत हो जाती है कि कहीं ऊर्मिला इस प्रकार अपने बाल ही न नोच डाले। इसी भय से वह उसे पकड़ने का प्रयत्न करती है। इस पर ऊर्मिला कहती है) यह सखी तो व्यर्थ ही मुझे कोंच रही है, मैं इस बहाने से अपने बाल कहाँ नोचती हूँ ? (नहीं नोच रही हूँ !) यह राखी तो प्रेम का बन्धन है, इसमें डर की भला क्या बात है ? हे शुक्तिमयी (सीपियाँ धारण करने वाली), तू अपनी सीपियों में मेरे ये आँसू रूपी मोती पाल कर इन्हें धरोहर के रूप में सम्हाल कर रख ले। यदि (प्रिय के लौटने तक) मैं जीवित न रह सकूँ तो न सही (उस समय) मेरे ये अश्रु-मुक्ता ही (मेरी ओर से) प्रिय की भेंट बनें। अथवा मेरे नेत्रों का यह खारी जल है और तुझे गम्भीर खारी समुद्र प्रिय है; तू इसी नाते मेरे इन खारी आँसुओं को अपना ले। अतः तू मेरे ये क्षुद्र (तुच्छ) नेत्र-बिन्दु (आँसू) ही ले ले ताकि यह यथा-समय बढ़ कर स्वयं समुद्र बन जाएँ। इस प्रकार कभी दूसरों का हित करने वाले बादल इनका पान करेंगे और (वर्षा के रूप में बरस कर तथा) संसार के लिए लाभदायक सिद्ध होकर ये भी धन्य हो सकेंगे। अथवा पराग-युक्त कमलों के समान, प्रियतम के धूल से भरे चरण जहाँ पड़ें ये भी उसी धूल में गिर जाँय (गिर जाएँगे) और इस तरह इनके दिन भी फिर जाँय (फिर जाँयगे) (इनके सौभाग्य का भी उदय हो जाएगा)। इस प्रकार प्रिय के चरण-कमलों

पर जमी धूल (उन आँसुओं के रूप में) स्वयं मैं समेट लूँ और तुझे तो अपने 'फूल' (आँसू) ही भेंट में दूँ । तू अपने ध्रुव की भाँति अविचल धैर्यशाली तथा गम्भीर वीर-वृन्द (वीरों) का यश-गान ही करती रह।"

ऊर्मिला सरयू के सामने राम-चरित्र के बाल कांड की घटनाओं का सिंहावलोकन सा कर देती है। इस प्रकार यथासंभव अधिकतम राम-कथा को अपने काव्य में समाविष्ट करने का प्रयोजन तो सिद्ध हुआ ही है, ऊर्मिला के चरित्र-चित्रण की अपूर्ण रेखाएँ भी पूर्ण हो सकी हैं । ऊर्मिला का बाल्य-काल, 'साम संहिता' की शिशु-सुलभ उछल-कूद, उसका नास्ति-वाद, देव-कथा की अपेक्षा नर-वृत्त में उसकी रुचि, शैशव से ऊर्मिला के मन पर पड़ने वाले प्रभाव, उसकी रुचि-अरुचि, शैशव के उपरान्त उसका यौवन में प्रवेश, पुष्प-वाटिका में लक्ष्मण-दर्शन, दर्शन-हेतु बढ़कर उसके नेत्रों का लक्ष्मण के पैरों पर फूल की भाँति चढ़ जाना, ऊर्मिला के जीवन का पहला अनुभव, उसके तन, मन में होने वाला अभूतपूर्व परिवर्तन, संकोच का आधिक्य, एकान्त के प्रति आकर्षण, दिन रात दिखाई देने वाले सुनहरे सपने, स्वयंवर, ऊर्मिला के नेत्रों के सम्मुख ही शिखरस्थित सिंह के समान लक्ष्मण की गर्जना, बरात का आगमन, लक्ष्मण-ऊर्मिला तथा सीता-राम आदि का पाणिग्रहण, नये-नये जाग्रत् स्वप्न, माता-पिता से विदा, प्रिय के साथ रहकर प्राप्त होने वाले अनुपम सुख-भोग आदि सब मिलकर ऊर्मिला का चित्र पूर्ण करने में सहायता ही प्रदान करते हैं । इसके साथ ही साथ ऊर्मिला के विगत जीवन की ये सब विशेषताएँ उसकी प्रस्तुत वेदना को और भी तीव्र कर देती हैं। यह अपार आश्चर्य की बात तो अवश्य है कि—

उतना रस भोग जो जिए,
वह दुर्दैव दृगाम्बु भी पिए!

परन्तु यह है कटु-सत्य ही—

वह हूँ यह मैं अभागिनी,
अपना-सा धन आप त्यागिनी!

हाँ, यह सब होने पर भी ऊर्मिला ने उन विषम परिस्थितियों के सम्मुख आत्म-समर्पण नहीं किया है, भाग्य से हार नहीं मानी है । इसके विपरीत, वह गौरव-पूर्ण अतीत तो आज भी उसे साहस तथा बल ही प्रदान कर रहा है :

अब भी वह ऐंठ सूझती,
तब तो हूँ यह आज जूझती!

यह तो सत्य है कि ऊर्मिला को आज सुख-शान्ति प्राप्त नहीं परन्तु उसे इसकी चिन्ता नहीं, उसे इस बात का सन्तोष है कि उसने *गण्य गेह* की *सु-वधू* और *विदेह* की *दुहिता* का कर्त्तव्य पालन किया और उसके पति ने *संसार* के समक्ष भ्रातृ-भक्ति का आदर्श उपस्थित किया। प्रस्तुत दुःख की कठोरता तो *उसी अनुपात में* इस विश्वास में वृद्धि ही करती है, वह इसी अशान्ति में शान्ति और इसी दुःख में सुख का अनुभव कर रही है।

अस्तु, ऊर्मिला अपने जीवन के महानतम कर्त्तव्य का पालन कर चुकी है वह कह नहीं सकती कि प्रिय के लौटने तक उसके प्राण उसका साथ देंगे या नहीं। परन्तु इसमें भी चिन्ता की क्या बात है? ऊर्मिला—स्वयं सिद्धा ऊर्मिला—मृत्यु से नहीं डरती। यशोधरा की भाँति उसका यह विश्वास भी अक्षुण्ण है कि—

मुझे मिलोगे भला कहीं तो,
*वहाँ सही यदि यहाँ नहीं तो।**

परन्तु प्रिय के यहाँ आने पर उसकी ओर से कुछ भेंट तो होनी ही चाहिए। इसीलिए वह *शुक्तिमयी* सरयू के पास अपने *आँसू*, अपने ये *मोती*, धरोहर के रूप में रख देती है। आज उसके हृदय में लोक-कल्याण की भावना का स्थान सर्वोपरि है। उसकी कामना है कि उसकी आँखों की खारी बूँदें यथासमय विशाल समुद्र का रूप धारण करें, फिर बादल उस जल को सोख लें और वर्षा के रूप में बरस कर तथा वसुन्धरा को शस्यश्यामला करके वे बूँदें धन्य हो सकें। इसमें उसका निजी प्रयोजन भी है। लक्ष्मण वन से लौटेंगे तो उनके पैर धूलि-धूसरित होंगे। ऊर्मिला के वे नेत्र-बिन्दु उस धूल को समेट लेंगे। *इस जन्म की सहचरी* इसी प्रकार तो *जन्म-जन्मान्तर की संगिनी* बन सकेगी!

टप टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा में ···· ··· ···· शून्य की साँस आती।

नीचे निशा में ऊर्मिला के आँसू टप-टप करके (सरयू के जल में) गिर रहे थे (रात्रि की उस निस्तब्धता में ऊर्मिला के आँसूओं की टप-टप ध्वनि भी सुनाई दे रही थी) उधर तुच्छ तारे दिशा (चारों दिशाओं) में टूट-टूट कर झड़ रहे थे। निम्नगा ('निम्नगा' का अर्थ है नदी। यहाँ इसका प्रयोग सरयू के लिए हुआ है। वैसे सरयू ऊर्मिला की अटारी के नीचे ही बह रही है इस दृष्टि से भी 'निम्नगा' का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है) छाती पीट-पीट कर

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ ११२।

हाथ (लहरें) पटक रही थी और शून्य (आकाश) की साँस (हवा) सन-सन कर रही थी।

यहाँ तारों का विशेषण है 'तुच्छ'। टप-टप करके गिरते ऊर्मिला के आँसुओं का महत्त्व उन टूटते तारों से बहुत अधिक ठहराने के उद्देश्य से ही तारों को 'तुच्छ' कहा गया है।

कर पटक रही थी निम्नगा .... शून्य की साँस आती : केवल भूलोक ही नहीं, आकाश तथा पाताल भी ऊर्मिला के दुःख से दुःखी हैं।

सखी ने अंक में खींचा ... ... सखी थी देख रो रही।

सखी सुलक्षणा ने ऊर्मिला को अपनी गोद में खींच लिया, दुःखिनी उस गोद में गिर कर सो गयी। वह (ऊर्मिला) स्वप्न में हँस रही थी और सखी (उसकी पागलों जैसी यह दशा) देख कर रो रही थी।

इन *उन्नीस* शब्दों में ही 'साकेत' के कवि ने जो दृश्य उपस्थित कर दिया है उससे ऊर्मिला के जीवन-नाटक के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंक का समुचित पटाक्षेप हो जाता है।

एकादश सर्ग

जयति कपिध्वज के कृपालु कवि ···· ···· ···· धर्म, नीति, दर्शन, इतिहास।

कपिध्वज के कृपालु कवि उन भगवान् व्यासदेव जी की जय हो जो वेद तथा पुराणों के निर्माता (रचयिता) हैं और कभी नष्ट न होने वाले धर्म, नीति, दर्शन तथा इतिहास जिनकी वाणी के अधीन हैं।

महाभारत युद्ध में अर्जुन तथा श्री कृष्ण जिस रथ पर बैठ कर युद्ध-भूमि पर आये थे उसकी ध्वजा पर कपि (स्वयं हनूमान् जी) विराजमान थे। (इसी लिए अर्जुन को '*कपिध्वज*' कहा जाता है।) व्यासदेव जी ने कौरव-पांडव-युद्ध को 'महाभारत' काव्य के रूप में लिपिबद्ध किया इसीलिए उन्हें 'कपिध्वज के कृपालु कवि' कहा गया है। 'कपिध्वज के कृपालु कवि' में अनुप्रास भी है। 'कपिध्वज' में 'कपि' द्वारा उन हनूमान् जी की ओर भी संकेत है जो (प्रस्तुत सर्ग में) भरत आदि को श्री राम-लक्ष्मण का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाते हैं।

व्यास जी ने ही वेदों का संग्रह, विभाग और संपादन किया था। कहा जाता है कि महाभारत के साथ ही साथ अठारहों पुराणों, भागवत और वेदांग आदि की रचना भी उन्हीं ने की। 'वेद-पुराण-विधाता' तथा 'जिनके अमर ··· दर्शन, इतिहास' द्वारा इसी मान्यता का प्रतिपादन किया गया है।

युद्ध आदि का वर्णन प्रधान होने के कारण इस सर्ग के आरम्भ में महाभारत के रचयिता व्यासदेव जी की स्तुति की गयी है। वैसे इस सर्ग में स्वयं साकेतकार भी (हनूमान् जी के रूप में) कवि की अपेक्षा *व्यास* (कथावाचक) ही अधिक रहा है।

बरसें बीत गईं पर अब भी ··· ··· ··· उसके पीछे एक प्रभात।

कितने ही वर्ष बीत गये, परन्तु (सूर्यवंश के सूर्य, श्री राम, की अनुपस्थिति के कारण) साकेत पुरी में अब तक रात (अन्धकार) ही छाई हुई है। तथापि रात चाहे कितनी भी लम्बी क्यों न हो उसके उपरान्त प्रभात होना अनिवार्य ही है (यह तो निश्चित है कि रात बीतेगी और सवेरा होगा ही)।

ग्रास हुआ आकाश, भूमि क्या···· ····मुक्ता-फल खाती और खिलाती है।

अन्धकार ने पृथ्वी को भी निगल लिया और आकाश को भी, कोई न बचा (अन्धेरे ने किसी को भी न छोड़ा) उसी (अन्धकार) के शरीर से फूट निकलने वाले कच्चे पारे के समान ये तारे निकल आये हैं। ऐसा जान पड़ता

है मानो यह सुकोमल हवा इस खिले हुए आकाश वृक्ष को हिला (झुला) रही है और अपनी झोली भर-भर कर ये मुक्ता-फल (मोती अथवा तारे रूपी फल) खा तथा खिला रही है।

सर्वव्यापी अन्धकार में केवल तारे टिमटिमा रहे हैं। कवि की कल्पना (उत्प्रेक्षा) है कि या तो इस प्रकार अन्धकार के शरीर को फाड़कर कच्चा पारा फूट निकला है (कच्चा पारा फोड़े—फुन्सियों के रूप में सारे शरीर से फूट निकलता है) अथवा इस प्रकार मानों मृदुल बयार अंचल भर-भर कर स्वयं भी मुक्ता-फल (मोती) खा रही है और आकाश रूपी वृक्ष को भी खिला रही है।

सौध पार्श्व में पर्ण-कुटी है ···· ···· ···· दोनों के दायें-बायें।

महल के समीप ही एक पर्ण-कुटी (पत्तों की कुटिया) है और उस कुटिया में एक सोने का मन्दिर है। इस स्वर्ण-मन्दिर में मणियों से युक्त एक ऐसा पादपीठ (चौकी) है जैसा न कभी (पहले कहीं) हुआ है, न (भविष्य में) कहीं हो सकता है। उस मन्दिर में केवल वह पादपीठ ही है। उस पर वे दोनों पादुकाएँ (खड़ाऊँ) रखी हैं जिनकी (नित्य) पूजा की जाती है। उन दोनों पादुकाओं के दोनों ओर स्वयं प्रकाशित (अपने आप ही निरन्तर प्रकाश फैलाने वाले) रत्न-दीप रखे हैं।

महल के समीप ही *पर्णकुटी* है और उस *पर्णकुटी* के भीतर एक *स्वर्ण-मन्दिर*। महल त्याग कर राजर्षि भरत ने अपने लिए पर्णकुटी बनायी है परन्तु अपने भगवान्—अयोध्या नरेश—के लिए स्वर्ण-मन्दिर। कैकेयी ने भरत को राजा बनाकर राज-महलों का वास और राम को बनवास दिलाया, कैकेयी-पुत्र भरत ने स्वयं पर्णकुटीर का वास ले लिया और श्री राम को—उनकी पादुकाओं को—स्वर्ण-मन्दिर में राजोचित मणिमय पादपीठ पर अधिष्ठित किया। कवि एक बार फिर यह स्पष्ट कर देता है कि उस स्वर्ण-मन्दिर में *केवल पादपीठ* है, केवल आराध्य है, आराधक तो स्वर्ण-मन्दिर से बाहर है और पर्णकुटी के भीतर।

'रामचरितमानस' में :

सिंघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि

और स्वयं भरत :

नंदिगाँव करि परन कुटीरा।
*कीन्ह निवासु धरम धुर धीरा॥**

* गोस्वामी तुलसीदास- रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

उटज अजिर में पूज्य पुजारी .... वही जटाएँ, वही सभी !

कुटिया (अथवा पत्तों से बने घर) में पूज्य पुजारी (भरत) उदासीन (सर्वथा तटस्थ, अनासक्त) सा बैठा है। ऐसा लगता है मानों स्वयं देवता ही शरीर धारण करके (साकार हो कर—यहाँ 'विग्रह' का अर्थ है शरीर। अस्तु, देव-विग्रह का अर्थ हुआ 'साकार रूप में देवता') (स्वर्ण) मन्दिर से निकल कर (पर्ण कुटीर में) लीन (साधना में निमग्न) सा बैठा हुआ है। भरत को चाहे जब (कभी भी) राम मिलें परन्तु हमें तो भरत में ही (अपने) राम मिल गये। वही रूप है, वही रंग, वैसी ही जटायें हैं, सब कुछ ठीक राम के समान ही तो है।

इस अवतरण में भरत तथा राम की एक-रूपता तथा एकाकारिता का निरूपण किया गया है। भरत और राम में वर्ण-साम्य तो जन्म से ही है, इस समय वनवासियों की भाँति जीवन बिताने वाले भरत का वेश भी बिल्कुल राम के समान ही हो गया है। अस्तु :

मिले भरत में राम हमें तो ,
मिले भरत को राम कभी !

दोनों की इसी एकरूपता के कारण यह निश्चय करना भी कठिन हो गया है कि उनमें से कौन साधक है, कौन साध्य ; कौन आराधक है, कौन आराध्य । यहाँ तो पुजारी में ही पूज्य का समाहार हो गया है । उटज-अजिर में पुजारी लीन नहीं बैठा, इस प्रकार तो मानो स्वयं देव-विग्रह ही मन्दिर से निकल कर ध्यानस्थ हो गया है; पूज्य और पुजारी का अन्तर ही मिट गया है, राम और भरत में केवल नामभेद ही शेष रह गया है।

बायीं ओर धनुष की शोभा .... पर दक्षिण में एक जटा !

बायीं ओर (भरत के बाएँ कंधे पर) धनुप शोभायमान है और दायीं ओर (दाँए कंधे पर) तरकश सुशोभित है। उनके बाँए हाथ में प्रत्यंचा (धनुष की डोर) है परन्तु दाँए हाथ में (अपनी ही) एक जटा।

'आठ मास चातक जीता है .... हमने बरसों बिता दिये !'

"चातक तो केवल आठ महीने तक ही अपने घन का ध्यान करके जीता है (उसे आठ महीने के उपरांत ही अपना प्रिय पुनः प्राप्त हो जाता है) परन्तु अपने घनश्याम (राम) (घनश्याम और राम में वर्ण-साम्य है) की आशा करते-करते हमने तो बरसों बिता दिये (इतने वर्ष बीत जाने पर भी हमारे घनश्याम—राम—हमें पुनः प्राप्त नहीं हुए)।"

आठ मास चातक जीता है : चौमासे अथवा वर्षा-काल के चार महीनों—आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन—में तो बादल रहते ही हैं अतः चातक को अपने प्रिय के लिए वर्ष के केवल शेष आठ महीनों में ही प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

सहसा शब्द हुआ कुछ बाहर ··· ··· ··· हुआ न उनको इसका ज्ञान।

अचानक बाहर कुछ शब्द हुआ (बाहर से कुछ ध्वनि आयी) परन्तु (उस ध्वनि से) भरत का ध्यान न टूटा। (ध्यानस्थित होने के कारण) उन्हें तो इस बात का भी पता न चला कि माण्डवी कब वहाँ आ पहुँची।

चार चूड़ियाँ थीं हाथों में ··· ··· ··· पति-दर्शन कर जाती थी।

माण्डवी के हाथों में चार चूड़ियाँ थीं और माथे पर सिन्दूर-विन्दु। सुमुखी माण्डवी ने पीताम्बर धारण किया हुआ था, काले आकाश के उस चन्द्रमा के साथ भला माण्डवी (के मुख) की क्या तुलना ? फिर भी (इस स्वाभाविक सौन्दर्य के होते हुए भी) माण्डवी के मुख पर फैले तप-जन्य (तपस्या के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले) तेज में एक विषाद (विषाद अथवा दुःख की एक क्षीण झलक) इस प्रकार झलक रहा था मानो लोहे के एक तार ने मोती को बींध कर उसी में आसन जमा लिया हो। माण्डवी के हाथ में सोने का एक थाल था जिस पर (पत्तों की बनी) एक पत्तल ढकी थी। (उस थाल में) वह पुजारिन अपने प्रभु (भरत) के लिए फलाहार सजा कर लायी थी। कुछ ठिठक कर, दायीं ओर तनिक मुड़ कर और कुटिया में बैठे भरत की ओर देख कर तथा अपने हृदय को एक झटका-सा देकर वह मन्दिर के भीतर चली गयी। माण्डवी ने हाथ बढ़ा कर वह थाल पादपीठ के सामने रख दिया और फिर घुटनों के बल झुक कर मन्दिर के दरवाजे की दहलीज (चौखट) पर अपना माथा टेका। उस समय उसके नेत्रों से (आँसुओं की दो चार बड़ी-बड़ी बूँदें टपक पड़ीं (रत्नदीपों तथा मणिमय पादपीठ आदि में लगे) रत्नों की किरणें उन बूँदों में डुबकी मार कर और भी दुगुनी चमक उठीं। माण्डवी का यह नित्य कर्म था (वह नित्य ही यही सब करती थी) वह (नित्य) राज-भवन से (उस मन्दिर में) आती थी और सासों की सेवा करने वाली माँडवी अन्त में (अन्य सब कर्त्तव्यों से निवृत्त होने के उपरान्त) अपने पति के दर्शन कर जाया करती थी।

ऊर्मिला की भाँति, माण्डवी भी काव्य की उपेक्षिता ही रही है। आधार-ग्रन्थों में भरत को नन्दिग्राम में भेज कर तथा उनकी समुचित प्रशंसा-स्तुति करके

ही सन्तोष कर लिया गया है। भरत की अर्द्धांगिनी माण्डवी के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया। गुप्त जी ने राम-कथा के अन्य उपेक्षित पात्रों की भाँति माण्डवी के चरित्र पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। बाद में तो डा० बलदेवप्रसाद मिश्र ने भी अपने काव्य—साकेत सन्त—में माण्डवी का चरित्र चित्रण किया।

सर्वप्रथम 'साकेत' का कवि माण्डवी का चित्र उतारता है। उसके हाथों में चार चूड़ियाँ हैं और माथे पर सिन्दूर-बिन्दु। सुहाग के इन पुण्य प्रतीकों के रहते अन्य आभूषणों की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसके शरीर पर पीताम्बर है, वही पीताम्बर जो पवित्रतम वस्त्र माना जाता है और जिसे आज भी पूजन अथवा अन्य पवित्र अवसरों पर धारण किया जाता है। साधक की साधिका-पत्नी के मुख पर अपूर्व *तप-जन्य तेज* है परन्तु हर्ष का स्थान *विषाद* ने छीना हुआ है। राम-वनवास और भरत की प्रस्तुत उदासीनता के उपरान्त शोक में डूबे पूरे घर का भार माण्डवी पर ही तो है! इस विषाद ने उसके वदन को—उसके हृदय को—इसी प्रकार बींध दिया है जैसे लोहे का निर्मम तार निर्मलता के प्रतीक मोती को बींध देता है और उसी में बैठ भी जाता है। मोती में से झलकता हुआ वह तार मोती के स्वाभाविक सौन्दर्य, उसकी स्वाभाविक चमक के प्रकाशन में बाधा ही डालता है, ठीक इसी प्रकार मोती जैसे उस मुख की स्वाभाविक कान्ति और तप-जन्य तेज में से विषाद झाँक-सा रहा है। कितनी उपयुक्त उत्प्रेक्षा है यह!

पुजारिन अपने प्रभु के लिए फलाहार का थाल लाती है। पादपीठ के सम्मुख थाल रखने के लिए मन्दिर में प्रवेश करने से पूर्व एक पल के लिए ठिठक कर कुछ दायें मुड़कर (भरत-पत्नी भरत के बायीं ओर थी अतः उसे भरत की ओर देखने के लिए दायीं ओर को मुड़ना पड़ा) उसने भरत की ओर देख कर अपना मस्तक झुका दिया परन्तु पल भर के इस दर्शन ने उसके हृदय में एक *हिलोर* सी उठा दी। मानव-मनोभावों का चित्रण करने में 'साकेत' का कवि वास्तव में अत्यन्त सिद्धहस्त है।

पाद पीठ के सम्मुख थाल रखने के लिए *हाथ बढ़ाने* और द्वार-देहली पर निज भाल टेकने के लिए *घुटनों के बल होने* की क्रियाएँ भी हमारे कवि की दृष्टि से बची नहीं रह पातीं।

देहली पर मस्तक टेकते-टेकते माण्डवी के नेत्रों से दो-चार बड़ी-बड़ी बूँदें टपक पड़ीं। रत्नों की किरणें उनमें डुबकी मार कर दुगुनी दमकने लगीं। किरणों का प्रकाश पाकर पानी दमकता है परन्तु यहाँ गरिमामयी माण्डवी के नेत्र-विन्दु

अपनी आभा से रत्नों की चमक को भी *द्विगुणित दीप्ति* प्रदान कर रहे हैं।

पति-दर्शन माण्डवी का नित्य कर्म था परन्तु यह कार्य सासों तथा परिवार के अन्य सदस्यों की समुचित सेवा के *उपरान्त* ही सम्पन्न होता था। हिन्दू-आदर्श की कितनी समुचित अभिव्यक्ति है माण्डवी के इस कार्य-क्रम में !

उठ धीरे, प्रिय निकट पहुँच कर ···· ···· ··· हा ! रो पड़ी वधू विकला ।

(स्वर्ण-मन्दिर की द्वार-देहली पर से) धीरे से उठकर तथा प्रिय (भरत) के समीप पहुँच कर माण्डवी ने भरत को प्रणाम किया। (ध्यानावस्था से) चौंक कर तथा सँभल कर उन्होंने भी 'स्वस्ति' कहकर माण्डवी को उचित सम्मान प्रदान किया।

माण्डवी ने भरत से पूछा, "जटा और प्रत्यंचा की उस तुलना का क्या निष्कर्ष निकला ?" यह कहते कहते हँसने (हँसी अथवा विनोद करने) का प्रयत्न करते-करते भी वह बेचैन वधू रो पड़ी।

जटा और प्रत्यंचा की उस तुलना का क्या फल निकला ? कुछ समय पूर्व 'साकेत' का कवि कह चुका है कि :

वाम पाणि में प्रत्यंचा है,
पर दक्षिण में एक जटा !

कवि के इस कथन में ध्वनि यह है कि भरत के सम्मुख दो मार्ग हैं : एक क्षत्रियोचित शासन का पथ है और दूसरा तापसोचित जीवन का । *प्रत्यंचा* शासन की द्योतिका है और *जटा* तपस्या की। माण्डवी भरत की उसी मुद्रा की ओर लक्ष्य करके पूछ रही है कि 'कृपया यह तो बताइए कि आप जो एक हाथ में प्रत्यञ्चा और दूसरे में जटा ले कर दोनों को तोल रहे थे, दोनों की तुलना कर रहे थे, उसका क्या फल निकला (आपका निर्णय प्रत्यंचा के पक्ष में है अथवा जटा के) ? इस प्रकार माण्डवी ने हँसने और हँसाने का प्रयत्न अवश्य किया परन्तु वर्षा काल में सहसा चमक जाने वाली बिजली की भाँति वह हँसी पल भर में ही विलीन हो गयी—और दूसरे ही क्षण *विकला वधू* के नेत्रों से आँसू बरसने लगे।

"यह विषाद भी प्रिये, अन्त में ··· ···· ··· आने को है, आवेगा ।

(विषाद का गुरु भार न सह सकने के कारण माण्डवी का हृदय आँसू बनकर बह निकला था। भरत उसे सान्त्वना दे कर कहते हैं) "प्रिये, यह विषाद भी अन्त में स्मृति-विनोद बन जाएगा (राम-वनवास की अवधि बीत

जाने पर हम इस विषाद की स्मृति कर-करके परस्पर हँसी-मजाक किया करेंगे) अब अपना दिन (सौभाग्य) भी दूर नहीं है, वह आने ही वाला है, अत्यन्त शीघ्र आ जाएगा।"

"स्वामी तदपि आज हम सबके .... आतुर हो हो उठते हैं।"

माण्डवी ने कहा, "स्वामी, फिर भी न जाने क्यों आज हम सबके हृदय रो-रो उठते हैं? न जाने हमारे हृदय आज किसी अविदित वेदना से संतप्त क्यों हुए जा रहे हैं?"

प्रसिद्ध ही है कि आगत घटनाएँ अपना आभास पहले ही से दे देती हैं (Coming events cast their shadows before.) आज ही तो हनूमान् भरत तथा परिवार के अन्य सदस्यों को इन्द्रजीत द्वारा छोड़ी गयी शक्ति से लक्ष्मण के निश्चेष्ट हो जाने का समाचार सुनाने वाले हैं। उनके हृदय पहले से ही बार-बार किसी अज्ञात आशंका से काँपे जा रहे हैं।

"प्रिये, ठीक कहती हो तुम यह ... . कौन अयोध्या आने से?"

भरत ने उत्तर दिया, "प्रिये, तुम यह तो ठीक ही कह रही हो। आशा वास्तव में सदा शंकिनी (भाँति-भाँति की आशंकाएँ उत्पन्न करने वाली) ही है। यह अनेक प्रकार के चित्रों का अंकन करने वाली (तरह-तरह के कल्पना-चित्र नेत्रों के सम्मुख लाने वाली) हो कर भी स्वयं रंकिनी (सर्वथा धनहीन अथवा रिक्त) ही है। आश्चय की बात है कि आखिर इतनी लम्बी अवधि भी समाप्तप्राय हो चली। अब कहीं कोई नई मुसीबत खड़ी न हो जाए (राम राम करके तो यह दीर्घ अवधि समाप्त होने को आई है कहीं ऐसा न हो कि कोई और संकट उपस्थित हो जाए) स्वयं (मेरे हृदय में भी) भयपूर्ण चिन्ता छा रही है। सुनो, नित्य ही मानव-मन की कल्पना नया ही घर बनाती है परन्तु यह चंचला एक पल के लिए भी उस (घर) में रहती नहीं (निरन्तर नये-नये कल्पना के भवन बनाती रहती है) सत्य सदा ही शिव (मंगलमय) होने पर भी कभी-कभी विरूपाक्ष (प्रलयंकर) (मस्तक पर के तीसरे नेत्र के कारण शिव को विरूपाक्ष कहा जाता है। महादेव शिव प्रलय करने के लिए ही अपना यह तीसरा नेत्र खोलते हैं) भी होता है (भाव यह है कि वास्तविक जीवन में जहाँ मंगल है, वहाँ अमंगल भी है। जहाँ सुन्दर है वहाँ असुन्दर भी है) परन्तु कल्पना का मन तो सदा सुन्दर के लिए ही रोता(लालायित होता)रहता है (इसीलिए तो कल्पना और यथार्थ में भेद बना

रहता है) तथापि मुझे अपने प्रभु पर पूर्ण विश्वास है, आर्य (श्री राम) कहीं भी हों, उनके दिये वचन (कि मैं चौदह वर्ष के उपरान्त अवश्य अयोध्या लौटूँगा) मेरे पास (सुरक्षित) हैं। भरत को कौन अपने प्रभु को पाने से रोक सकता है? (कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो भरत को अपने प्रभु को पाने से रोक सके।) रामचन्द्र जी को अयोध्या लौटने से कौन रोक सकेगा ? (कोई भी न रोक सकेगा।")

"नाथ,यही कहकर माँओं को ... ... गये उन्हीं के पास वहाँ ?"

माण्डवी बोली, "नाथ, यही कहकर (यही विश्वास दिला कर) माताओं को तो मैं अत्यन्त आग्रह करके कुछ खिला सकने में सफल हो गयी परन्तु ऊर्मिला बहन को तो मैं (अधिकतम प्रयत्न करने पर भी) आज जल तक न पिला सकी। माताएँ यह कह कह कर रो रही हैं कि न जाने वे (हमारे पुत्र) कहाँ और किस दशा में होंगे ? उन्हें काँटे कसकते होंगे (वे न जाने किन दुःखों का सामना कर रहे होंगे) ? यही कह कह कर वे अधीर हो रही हैं परन्तु बहन के निरन्तर बहने वाले आँसू भी आज सूख गये हैं वरुनी (बरौनी अथवा पलक के किनारे पर के बाल। वरुनी में 'वरुणी' की ध्वनि भी है) के वरुणालय (जल-भंडार) (ऊर्मिला के वे नेत्र जिनमें सदा जल भरा रहता था) आज उसके केशों से भी अधिक शुष्क हो गये हैं । उनके (ऊर्मिला के) मुँह की ओर देखकर तो स्वयं आग्रह भी ठिठक जाता है (आग्रह करना भी असम्भव हो जाता है) कुछ कहने (भोजन करने आदि के लिए अनुरोध करने) की तो बात ही क्या, वह तो (उनके मुख से) कुछ सुनने में भी थकता ही है। (मेरे अनुरोध करने पर) उन्होंने अत्यन्त दीन भाव से (गिड़गिड़ा कर) कहा 'बहन, एक दिन बहुत नहीं है (एक दिन अन्न-जल ग्रहण न करना कोई बड़ी बात नहीं है) बरसों तक निराहार (भोजन के बिना) (प्रिय-दर्शन के बिना) रह कर भी क्या ये आँखें मर गयीं ?' (जब इतने बरस तक अपना भोजन—प्रिय का दर्शन—न पाकर भी ये आँखें जीती रहीं तो फिर एक दिन भोजन न करने से शरीर का भला क्या बिगड़ जाएगा ?) अस्तु, मैं विवश होकर रोती हुई लौट आई और यहाँ यह नैवेद्य लेकर आ गयी। 'मैं अभी आता हूँ', यह कहकर देवर (शत्रुघ्न) भी (बिना कुछ खाए-पिए ही) (ऊर्मिला) के पास उधर चले गये।"

किन्तु बहन के बहने वाले आँसू भी सूखे हैं आज : "रोना इसने (ऊर्मिला ने) स्वयं स्वीकार किया है । उसे कुछ देर के लिए वह तब।

छोड़ती है, जब साधारणतः रोना चाहिए ! जिस दिन लंका में उसके स्वामी को शक्ति लगती है, उस दिन वह रोना छोड़ देती है। फिर भी उसके विषाद अथवा रुदन से किसी की वीरता की हानि हो, तो क्या उसका दायित्व उसी पर है?"*

जिस दिन लंका में लक्ष्मण को शक्ति लगती है उस दिन पतिव्रता ऊर्मिला को, किसी अव्यक्त अन्तः प्रेरणा के कारण ही, सामान्य खान-पान के प्रति भी अरुचि हो जाती है और उसके सदा बहने वाले आँसू भी सूख जाते हैं।

सनिःश्वास तब कहा भरत ने ··· ···· ··· हुई माण्डवी अधिक उदास।

तब भरत ने आह भर कर कहा, "तो फिर आज उपवास ही रहे।"

"परन्तु प्रभु का प्रसाद?"—यह कहकर माण्डवी और भी अधिक उदास हो गयी।

"सबके साथ उसे लूँगा मैं ···· ··· ···· तो धरती ही फट जाती।"

भरत ने उत्तर दिया, "रात बीत रही है तो बीत जावे, मैं भी सबके साथ ही प्रभु का प्रसाद ग्रहण करूँगा। हाय ! केवल मेरे ही लिए यहाँ इतना उपद्रव हुआ। यदि एक मैं ही न होता तो क्या संसार की असंख्यता घट जाती? (क्या इस असंख्य लोक-समाज में कोई विशेष कमी हो जाती?) यदि (यह सब देख-सुन कर) मेरी छाती न फटी तो धरती ही फट जाती (जिसमें मैं समा जाता)!"

हाय! नाथ, धरती फट जाती ···· ··· ··· मुझ को जाते हुए खला!"

(भरत के मुख से इस प्रकार की आत्म-तिरस्कार पूर्ण बात सुनकर माण्डवी बोली) "हाय! नाथ, यदि धरती फट जाती और हम तुम दोनों एक साथ ही (धरती के भीतर) कहीं समा जाते तो हम दोनों किसी फूल में रहकर कितना रस पाते (कितने अधिक प्रसन्न हो जाते)! तब न कोई हमें देखता, न कोई (हमारे सुख-वैभव को देखकर उस पर) ईर्ष्या ही करता। दूसरी ओर, न हम किसी को दुखी देखते और तब हमें भी शोकातुर हो कर न रोना पड़ता। (पाताल में निबिड़ अन्धकार होने के कारण) आपस में एक-दूसरे को न देखकर हम केवल शरीर से ही एक-दूसरे का स्पर्श कर पाते तो भी मैं तो उसे अपने दाम्पत्य-भाव का आदर्श मान लेती (मैं तो उतने से ही सर्वथा सन्तुष्ट हो जाती) (यदि हम धरती के नीचे पड़े होते तो) कौन यह जानता कि किस कोष में हमारे हृदयरूपी दो रत्न पड़े हैं? फिर भी लोग उनकी आशा पर ही तो प्रयत्न किया करते हैं। उसी प्रकार के असंख्य

* गुप्त जी का एक पत्र, गांधी जी के नाम।

यत्नों के फलस्वरूप संसार ने तुम्हें पाया है, तुम्हें इस संसार से भले ही ममता न हो परन्तु उसे तुम्हारे प्रति ममता-माया है। हे नाथ, तुम्हीं बताओ कि यदि तुम न होते तो यह (इतना कठोर) व्रत और कौन निभाता (पूरा करता)? तुम्हारे अतिरिक्त उसे (इस संसार को) राज्य से भी महत्तर तथा श्रेष्ठतर यह धन कौन प्रदान करता? (यह तो बताओ कि) मनुष्यत्व का वास्तविक तत्त्व (रहस्य) (तुम्हारे अतिरिक्त) और किसने समझा-बूझा है? प्राप्य सुख को लात मारकर (क्या) इस प्रकार कोई और दुःख से जूझा (लड़ा) है? (कालान्तर में) खेतों के निकेत बन जाते हैं (खेत अथवा मैदान मकानों में परिवर्तित हो जाते हैं) और निकेतों (मकानों) के फिर खेत (मैदान) बन जाते हैं। वे ऊँचे-ऊँचे महल सदा रहें चाहे न रहें परन्तु तुम्हारा यह साकेत सदा अमर रहेगा। मेरे नाथ, तुम जहाँ भी होते (धरती के ऊपर रहते चाहे धरती के नीचे) वहीं (तुम्हारे साथ रहकर) यह दासी तो सुखी हो जाती परन्तु (तुम्हारी अनुपस्थिति में) संसार की भ्रातृ-भावना तो आश्रयरहित होकर विलाप ही करती रहती (इस संसार में भ्रातृ-भावना का यह अनुपम आदर्श और कौन स्थापित करता)? (तुम न होते) तो यह नर-लोक (संसार) इस प्रकार के उच्च भावों से अपरिचित (वंचित) ही रह जाता जिनके प्रस्ताव मात्र से (पृथ्वी पर) घर-घर में स्वर्ग उतर सकता है। सुख और दुःख तो जीवन में सर्वदा आते-जाते ही रहते हैं (इसमें चिन्तित होने की कोई बात नहीं)। सुख तो सभी भोग लेते हैं परन्तु दुःख तो केवल धैर्यशाली ही सहन कर पाते हैं। मनुष्य दूध पी कर जीते हैं, राक्षस (दूसरों का) लहू पीकर और देवता अमृत पीकर परन्तु इस संसार-सागर का विष तो मंगलमूर्ति शिव ही पीते हैं। हम सब अपने जिस धर्म (के आदर्श) की इस नवीन प्रतिष्ठा (स्थापना) से धन्य हुए हैं इतनी ही अतुलनीय निष्ठा (विश्वास, श्रद्धा तथा लगन) के साथ और कितने कुल इसमें सफल हो सकेंगे! (नहीं हो सकेंगे।) ऐतिहासिक घटनाएँ हमें जो शिक्षा दे जाती हैं (समय समय पर) उसी (शिक्षा) की परीक्षा लेने के लिए वे स्वयं यहाँ लौट-लौटकर आती रहती हैं (इतिहास सदा इस बात की परीक्षा लेता रहता है कि जिन आदर्शों की स्थापना हो चुकी है उनका पालन तथा नये आदर्शों का संस्थापन निरन्तर हो रहा है या नहीं)। अब जब दुःख का यह समय भी बीतने ही वाला है तो फिर भला यह पश्चात्ताप कितने दिन के लिए कर रहे हो? सच कहती हूँ, मुझे तो जाते

हुए (अवधि के उन अन्तिम दिनों में) यह प्रसंग (इस प्रकार की चर्चा) भी अच्छा नहीं लगा।"

"उक्त प्रसंग में हमको महाकवि की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि का परिचय मिलता है। 'साकेत' में माण्डवी की स्थिति बड़ी विचित्र है। न तो वह ऊर्मिला की भाँति वियोगिनी ही है और न सीता अथवा श्रुतिकीर्ति की भाँति संयोगिनी ही। वह ऐसे पति की भार्या है जिसका जीवन गृह-वास और वनवास का संगम है, जो गृही हो कर भी वनवासी है, जिसके जीवन में ग्लानि और परिताप की अग्नि धधक रही है— जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध उस महापराध से है। अतः माण्डवी की जीवन-कहानी सबसे भिन्न है—उसमें अपने पति की गौरव-भावना है। उनके दुःख से वह दुःखी है। उनकी स्थिति पर उसे असन्तोष है। लोगों की ईर्ष्या उसे सह्य नहीं। उसमें स्त्रियोचित लालसाएँ हैं; प्रेम की आग है— परन्तु उसकी भावनाएँ वन्दिनी हैं इसी से तो पहिले वह भरत के शब्दों को सुन कर तड़प जाती है—फिर उसकी गौरव भावना जागृत होती है और वह कहती है:

मेरे नाथ, जहाँ तुम होते, दासी वहीं सुखी होती,
किन्तु विश्व की भ्रातृ-भावना यहाँ निराश्रित ही रोती।

सहृदय पाठक तनिक इन शब्दों की अर्थ-गरिमा और भाव-गाम्भीर्य पर विचार करें। इसमें प्रेम और ममत्व तो है ही—साथ ही स्त्रियोचित गर्व कितना भव्य है—पढ़ते ही हृदय गद्गद् हो जाता है! यहाँ हमने काम के आकर्षण से शून्य स्त्री का स्वरूप देखा है। यहाँ उसमें सहचरी का भाव प्रधान है, उसकी समन्वय वृत्ति की ही प्रमुखता है।"*

नाथ, न तुम होते तो यह व्रत कौन निभाता तुम्हीं कहो ? : गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जप नियम सम दम विषम व्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥†

और 'गीतावली' के हनुमान् का कथन है :

होतो नहि जौ जग जनम भरत को।
तौ, कपि कहत, कृपान-धार मग चलि आचरत बरत को?

---

* डा० नगेन्द्र, साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ३४—३५।

† रामचरितमानस, अयोध्याकांड।

धीरज-धरम धरनिधर-धुरहूँतें, गुर धुर धरनि धरत को?
सब सदगुन सनमानि आनि उर, अघ-औगुन निदरत को?
सिवहु न सुगम सनेह राम पद, सुजननि सुलभ करत को?
*सृजि निज जस-सुरतरु तुलसी कहँ, अभिमत फरनि फरत को?**

"प्रिये, सभी सह सकता हूँ मैं .... देते हैं स्वदैव को दोष।"
भरत ने कहा, "प्रिये, मैं और तो सब कुछ सहन कर सकता हूँ परन्तु तुम सबका दुःख नहीं सह सकता।"

इस पर माण्डवी बोली, "परन्तु, नाथ! यह दुःख क्या हम सबने स्वयं (स्वेच्छापूर्वक) ही स्वीकार नहीं किया है? विधाता ने एक भूल की, हमने उसे सँभाल लिया। अस्तु, यह ज्वाला हमें जला तो अवश्य रही है परन्तु (दूसरों के लिए प्रकाश भी फैला रही है (पथ-प्रदर्शन भी कर रही है) पुण्यात्मा तो (हमारे अतिरिक्त) और भी न जाने कितने हुए परन्तु इतना (हमारी भाँति) यश और किसने प्राप्त किया है? (किसी ने भी प्राप्त नहीं किया।) मैं तो यह कहती (मानती) हूँ कि सौभाग्य-वश ही हमें यह दुःख मिला है। दुःख-परिपूर्ण बातों में ही तो कुछ सार (तत्त्व) भरा रहता है, (ग्रीष्म के) तप (ताप) में तप कर ही तो पृथ्वी वर्षा ऋतु में अधिक उपजाऊ होती है। (यह कहते-कहते माण्डवी को शत्रुघ्न के घोड़े की टापों का शब्द सुनाई दिया। भरत का ध्यान उसी ओर आकृष्ट करके वह बोली) लो, देवर आ गये, ये उन्हीं के घोड़े की टापों की ध्वनि है। तेज़ी से दौड़ते हुए घोड़े के पैरों की टापें पक्के मार्ग पर उसी प्रकार पड़ रही हैं, जैसे द्रुतलय में मुरज (मृदंग) पर (हथेली की) थापें पड़ती हैं। यदि राजनीति (के नियम मेरे यहाँ कुछ समय और ठहरने में) बाधक न हों तो मैं कुछ देर यहाँ ठहर जाऊँ?"

"वह तो कोई बात नहीं, परन्तु प्रिये, तुम्हारे यहाँ ठहरने से सेवकों को अधिक कष्ट होगा"—भरत ने कहा।

माण्डवी ने उत्तर दिया, "हे नाथ, उन्हें (उन सेवकों को) हमारे सुख से बढ़ कर और क्या सन्तोष हो सकता है जो हमारे दुःखों पर अपने भाग्य को कोसते हैं (हमारे दुःखों का दोष अपने दुर्भाग्य के माथे मढ़ते हैं)।

रघु-वंश के सदस्यों ने प्रस्तुत दुःख अपनी इच्छा से—जीवन के महानतम आदर्शों से अनुप्राणित हो कर ही—स्वीकार किया है अतः वे उस दुःख से दुःखी

* गीतावली, लङ्काकाण्ड, पद १२।

हो कर भी उसे दुःख नहीं मानते, अपना *सौभाग्य* ही मानते हैं। उस ज्वाला में यदि *दाह* है तो *प्रकाश* भी तो है। माण्डवी के ये उद्गार भरत के बैठते हुए हृदय को नव-शक्ति प्रदान करते हैं। यदि यह सत्य है (और यह ध्रुव सत्य है ही) कि—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपति काल परखियेउ चारी॥

तो माण्डवी इस परीक्षा में पूर्णाङ्क प्राप्त करती है, शत-प्रतिशत सफल होती है।

राजनीति बाधक न बने तो तनिक और ठहरूँ इस ठौर ? राजनीति के नियमों का पालन राज-परिवार के प्रधान सदस्यों को भी करना पड़ता है। आदर्श राज्य में वे भी राज-धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं कर सकते।

सदा हमारे दुःखों पर जो देते हैं स्वदैव को दोष!" आदर्श रघु-वंश के सेवक भी आदर्श ही हैं!

आकर—"लघु कुमार आते हैं" ... ... आये वे धन्वाधारी।

भीतर प्रवेश करके प्रतिहारी ने झुक कर कहा—"लघु कुमार आते हैं (आना चाहते हैं)"।

"आवें"—भरत ने कहा।

और उसी समय धनुर्धारी शत्रुघ्न भीतर प्रविष्ट हुए।

इन पंक्तियों में एक विशेष गति (Swiftness) है। प्रतिहारी का आकर झुकना, झुक कर शत्रुघ्न के आगमन की सूचना देना, सूचना पाते ही भरत का "आवें" कहना और अनुमति पाते ही प्रतिहारी का प्रस्थान और शत्रुघ्न का तत्क्षण प्रवेश सर्वथा क्रमबद्ध-सा जान पड़ता है। ऐसा लगता है मानो शृंखला की कोई भी कड़ी शिथिल नहीं है, एक पग स्वयमेव ही दूसरे को आगे बढ़ा रहा है।

कृश होकर भी अंग वीर के .... सुख पाया, सन्तोष किया।

(बन्धु-वियोग के कारण) कृश (दुबले) होकर भी वीर (शत्रुघ्न) के अंग ऐसे सुगठित थे मानो वे शाण पर चढ़ चुके हों (सुडौलता में कहीं भी किसी प्रकार की कोई कमी न थी) विनय (विनम्रता) और तेज (ओज अथवा तेजस्विता) उनके सरल मुख पर मिल (फैल) कर और भी अधिक बढ़-से गये थे (शत्रुघ्न के मुख की स्वाभाविक सरलता ने उनके विनय तथा तेज में अभिवृद्धि कर दी थी)। (उनके कंधों पर से लटक कर) दोनों ओर उत्तरीय (दुपट्टा) इस प्रकार उड़ रहा था मानो इस प्रकार उनके शरीर में दो

पंख ही निकल आये थे (तथा जिन पंखों की सहायता) से श्रेष्ठ स्फूर्ति की मूर्ति शत्रुघ्न उड़कर भी अपना लक्ष (अभिलषित वस्तु) ला सकते थे (अपने उद्देश्य में सफल हो सकते थे)। शत्रुघ्न ने आकर भरत तथा माण्डवी को प्रणाम किया। दोनों ने उन्हें शुभाशीष दिया। शत्रघ्न के मुख का (सन्तोष तथा सुखपूर्ण) भाव देख कर वे दोनों भी सुखी तथा सन्तुष्ट हुए।

सुस्फूर्त्ति-मूर्ति शत्रुघ्न का यह चित्र अत्यन्त संक्षिप्त हो कर भी अपने में सर्वथा पूर्ण है।

कोई तापस, कोई त्यागी ··· ··· ··· चित्रकूट का नन्दिग्राम।

माण्डवी ने कहा, "(इस समय) कोई (एक भाई—राम) तपस्वी हैं (वन में तपस्वियों का जीवन बिता रहे हैं), कोई (दूसरे भाई—लक्ष्मण) त्यागी हैं (सब सुख-भोग त्याग कर तथा सेवा-व्रत लेकर भाई के साथ चले गये हैं) और कोई (तीसरे भाई—भरत) वैरागी हैं (वैरागियों की भाँति रह रहे हैं) वस्तुतः घर सँभालने वाले (घर की पूरी तरह देख-भाल करने वाले) तो मेरे बड़भागी (सौभाग्यशाली) देवर (शत्रुघ्न) ही हैं।"

माण्डवी की यह बात सुन कर तीनों ने पल भर के लिए श्रेष्ठ परिहास-जन्य विश्राम (सुख) पाया। उस समय नन्दिग्राम अपने में चित्रकूट का सा अनुभव कर रहा था (भरत, माण्डवी तथा शत्रुघ्न क्रमशः राम, सीता और लक्ष्मण की ही तो प्रतिमूर्त्तियाँ हैं। लक्ष्मण के प्रति ममत्व प्रदर्शित करते हुए सीता चित्रकूट में समय-समय पर ऐसी बातें कहती रहती हैं, जैसी इस समय माण्डवी ने शत्रुघ्न के प्रति कही हैं। तभी तो यह नन्दिग्राम इस समय अपने में उस चित्रकूट का-सा अनुभव कर रहा है)।

"नन्दिग्राम के दुःखश्याम वातावरण में शत्रुघ्न की सेवा शुश्रूषा देख कर माण्डवी का क्षणिक सुख-सन्तोष फूट उठता है! उस विकल वधू के होठों पर क्षण भर के लिए एक मुस्कान की रेखा दौड़ जाती है। दुःख की परवशता में अपनी सेवा करने वाला, अपना साथ निबाहने वाला कितना पास आ जाता है, इसी सत्य का निर्देश माण्डवी की उक्ति में है। माण्डवी और भरत अनेक आर्त-कथाएं कह कर अपने भाग्य की चर्चा कर रहे थे। इतने में ही शत्रुघ्न आकर भरत के सम्मुख राज-काज का ब्यौरा उपस्थित करते हैं। प्रजा सुख समृद्ध है—यह सुनकर भरत को तो सन्तोष होता ही है, उधर माण्डवी का हृदय भी ममता मुग्ध हो कर देवर पर साधुवाद के पुष्प बिखेरने लगता है:

"कोई तापस, कोई त्यागी, कोई आज विरागी हैं।
घर सँभालने वाले मेरे देवर ही बड़भागी हैं!"

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का विनोद दुःख की उस महानिशा में भी कभी-कभी प्रकाश विकीर्ण करता रहा होगा। कवि इसका मूल्य जानता है, तभी तो वह आगे कहता है—

*मुसका कर तीनों ने क्षण भर पाया वर-विनोद-विश्राम।"**
बोले तब शत्रुघ्न भरत से ... . जो कुछ शंकित करते हैं।"

तब शत्रुघ्न ने भरत से कहा, "आर्य, नगर में सब प्रकार कुशल-मंगल है। सबके हृदय में प्रभु के स्वागतार्थ की जाने वाली सजावट की ही लगन है (सब लोग इस समय प्रभु के समुचित स्वागत की तैयारी में ही संलग्न हैं)। (प्रभु के वनवास के कारण) अपने इस नगर की जो आकृति (ढाँचा) मात्र शेष रह गयी थी (नगर भी राम, लक्ष्मण के वियोग के कारण सूख कर ढाँचा रह गया था), उसमें अब (अवधि समाप्तप्राय होने के कारण) फिर नये-नये भव्य रंग भरते जा रहे हैं (नव-जीवन के-से लक्षण परिलक्षित होने लगे हैं)। आपने जिस अनुभूति-विभाग (लोगों के अनुभवों को लिपिबद्ध करने का सरकारी विभाग) की स्थापना की थी, वह नवीन ऐश्वर्य-सा पाकर विकसित हो रहा है और (उस विभाग के अन्तर्गत) लेखक स्थान-स्थान पर जाकर लोगों के अनुभव लिख रहे हैं। ज्ञानवान् व्यक्ति तथा वैज्ञानिक नित्य नये सत्यों की खोज करते हैं, जिन (सत्यों) के फलस्वरूप लोगों के साधारण ज्ञान में अत्यधिक वृद्धि हो रही है। विद्वान् कवि नये-नये छन्दों में नित्य नये-नये गीतों की रचना करते हैं और गायक उन गीतों के लिए नये-नये राग तथा ताल (गायन-प्रणालियाँ) निर्धारित करते हैं। शिल्पकार नये-नये साज-बाज बना रहे हैं, प्रतिभा (प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति) (साधारण अथवा तुच्छ बातों की ओर ध्यान न देकर) गूढ़ (गम्भीर) रहस्यों पर ही अपनी दृष्टि डालते हैं (गम्भीर रहस्यों को सुलझाने में ही रत हैं)। सूत्रधार (नाट्य-मंडलियों के व्यवस्थापक) नित्य नवीन नाटकीय साज सजाते हैं और जादूगर भी नित्य नये-नये खेल (कौतुक) रच रहे हैं। चित्रकार नये-नये दृश्यों को इस प्रकार अंकित करते हैं कि वे (चित्र) प्रसन्नता प्रदान करने से पूर्व शंका ही उत्पन्न करते हैं (उन्हें देख कर सर्वप्रथम यही शंका (भ्रम) होती है कि कदाचित् वे चित्र न होकर वास्तविक दृश्य ही हैं।"

* डा० नगेन्द्र, साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ४७-८।

भारतीय संस्कृति में भुक्ति को भी मुक्ति के समान ही महत्त्व प्राप्त रहा है। हमारे देश का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही हमारा भौतिक वैभव अपरिमित रहा है और हमारी श्रीसम्पन्नता पर दूसरे देशों के वासी ईर्ष्या करते रहे हैं। साकेत नगरी में हम वही वैभव तो देखते हैं! 'साकेत' में इस नगरी के भौतिक ऐश्वर्य का सविस्तर वर्णन है—पहले प्रथम सर्ग में और फिर एकादश सर्ग में। प्रथम सर्ग का यह वर्णन प्रायः वर्णनमात्र है, एकादश सर्ग में उस ऐश्वर्य-विकास में साकेतवासियों के अपने श्रम, अपने प्रयत्नों का भी समावेश हो गया है। राम-वनवास के उपरान्त अयोध्या के प्रजा-जन ने अपने नगर को भाग्य के हाथों में नहीं छोड़ दिया। वियोगग्रस्त होकर भी वे तो निरन्तर उसके विकास में ही लगे रहे और अब, जबकि अयोध्या के वास्तविक नरेश —अयोध्यावासियों के हृदय-सम्राट्—अयोध्या में लौटने वाले हैं तब तो लोगों का वह उत्साह पहले से सहस्र गुणा हो गया है। सब अपनी-अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुसार अपने नगर को—अपने देश को—सुन्दरतम बनाने में प्रयत्नशील हैं।

कहा माण्डवी ने—"उलूक भी ... ... भीषण को निर्जीव कला।"

शत्रुघ्न की बात सुन कर माण्डवी ने कहा, "उल्लू (भद्दी वस्तु) भी चित्र के रूप में (चित्रकार की तूलिका का प्रसाद पा कर) भला (मनोहर) ही लगता है। कला सुन्दर को प्राणवान् बनाती है और भयंकरता (असुन्दरता) को विनष्ट कर देती है।"

यहाँ कवि ने प्रसंगवश अपने कला सम्बन्धी विचार प्रकट कर दिये हैं।

"वैद्य नवीन वनस्पतियों से ... . उनकी पूर्व स्मृतियाँ चारु!

शत्रुघ्न ने कहा, "वैद्य नयी-नयी जड़ी-बूटियों से ऐसे नवीन योग (रसायनिक मिश्रण—Compounds) तैयार करने (ऐसे नवीन रसायनों का अनुसन्धान करने) में लगे हैं जिन्हें छूने अथवा सूँघने मात्र से ही शरीर के विभिन्न रोग नष्ट हो जावें (वैद्य अधिक-से-अधिक सुखप्रद एवं प्रभावशालिनी औषधियाँ तैयार करने में संलग्न हैं)। गंधी (फूलों से इत्र निकालने वाले) प्रभु के लिए नयी-नयी सुगन्धियाँ (इत्र और सुगन्धित तेल आदि) निकाल (तैयार कर) रहे हैं। माली वाटिकाओं में नवीन पौधों का पालन कर रहे हैं। एक ही शाल (एक प्रकार का बहुत बड़ा और विशाल वृक्ष) में भाँति-भाँति के पत्ते और अनेक प्रकार के फल-फूल इसी प्रकार विकसित हो

रहे हैं जैसे एक ही मूल (जड़) वाले इस विश्व-वृक्ष में अनोखी-अनोखी असंख्य शाखाएँ हैं (एक ही परब्रह्म द्वारा उत्पन्न की गयी यह विचित्र तथा विविध सृष्टि है)। जुलाहे भाँति-भाँति के ऐसे नये-नये वस्त्र बुन कर तैयार कर रहे हैं जो रखने (धारण करने अथवा पहनने) में फूलों की पँखुड़ियों के समान (कोमल) हैं और फैलाये जाने पर गन्ध की भाँति फैलते हैं (फैली हुई गन्ध दिखायी नहीं देती, उसका तो केवल अनुभव किया जा सकता है। जुलाहे जो वस्त्र बुन रहे हैं, वे भी इतने बारीक हैं कि स्पर्श द्वारा उनका अनुभव होने पर भी वे गन्ध की भाँति अदृश्य से ही जान पड़ते हैं)। सुनार तरह-तरह से मणियों (हीरे-मोती) का सोने के साथ मेल कर रहे हैं (मणियों तथा सोने के मेल से भाँति-भाँति के मणि-जटित स्वर्ण-भूषण तैयार कर रहे हैं); सब लोग अत्यन्त चाव के साथ (अपने-अपने क्षेत्र में) कोई-न-कोई चमत्कार (अभूतपूर्व अथवा अनोखा कार्य) कर दिखाने में निरत हैं। विभिन्न वस्तुओं के रूप में ढलने के लिए धातुएँ (बड़ी-बड़ी भट्ठियों की आग में) ऐसे जल रही (जलायी अथवा पिघलायी जा रही) हैं मानो वे महानल (प्रलय की आग) में ही जल (तप) कर पिघल रही हों। उधर, टाँकियों (टाँकी उस छेनी को कहते हैं जिसकी सहायता से पत्थरों पर बेल-बूटे आदि बनाए जाते हैं अथवा पत्थरों को भाँति-भाँति के सुन्दर स्वरूपों में काटा जाता है। यहाँ टाँकी का प्रयोग टाँकी की सहायता से पत्थरों को विभिन्न आकार देने वाले कारीगरों के लिए किया गया है) के कौशल (हस्त कौशल अथवा कारीगरी) से पत्थर (जैसे कठोर पदार्थ) भी अत्यन्त कोमल कमल जैसे होते जा रहे हैं (पत्थरों को काट कर बनाये गये कमल वास्तविक कमलों के समान ही जान पड़ते हैं। उन कारीगरों के हस्त-कौशल ने कठोरतम पत्थर को भी मानो कोमलतम कमल बना दिया है)। नीरस (सूखी हुई अथवा प्राणहीन) लकड़ियाँ (लकड़ी पर खोद कर बेल-बूटे आदि बनाने वाले कारीगरों की कला के फलस्वरूप) फूल-पत्तियों से युक्त होकर (पेड़ कटने के कारण लकड़ी पत्र-पुष्प विहीन होकर सूख गई थी। इन कारीगरों ने अपनी कला से उस नीरस लकड़ी को फिर फूल-पत्ते प्रदान कर दिये हैं) एक बार फिर सजीव हो उठी हैं (लकड़ी पर खुदे फूल-पत्ते वास्तविक ही जान पड़ते हैं)। (यह निश्चय करना कठिन है कि) यह कारीगरों के कौशल का फल है अथवा स्वयं लकड़ी (वृक्ष) की ही मनोहर पूर्व-स्मृतियाँ (उस समय की याद जब वह हरी-भरी तथा पत्र-पुष्प से लदी थी) जागृत हो गयी हैं।

अनुसन्धान-कार्य समाज के सम्यक् विकास का मेरुदण्ड, समाज की स्थायी प्रगति का मूलाधार है। प्राप्त ज्ञान का *संरक्षण* आवश्यक है परन्तु उसका *संवर्धन* उससे भी अधिक आवश्यक है। सुख-समृद्धि की स्रोतस्विनी के प्रवाह की गति अबाध रखने के लिए ज्ञान-विज्ञान के *नित नये* स्रोतों की खोज करते रहना अनिवार्य है। एक बात और भी है। समाज के समुचित विकास के लिए *पूरे* समाज को काम करना होगा, *प्रत्येक* व्यक्ति को अपनी योग्यता, शक्ति तथा सामर्थ्य के अनुरूप इस पुनीत कार्य में सहयोग देना होगा।

'साकेत' के अयोध्यावासी इन्हीं दोनों सिद्धान्तों पर ही तो चल रहे हैं, शत्रुघ्न के शब्दों का अन्तर्निहित भाव यही तो है और 'साकेत' के कवि का भी तो अपने समाज, अपने देश, अपने युग के प्रति यही सन्देश है। विशिष्टता (Specialization) के इस युग में समाज की प्रत्येक इकाई को अपने क्षेत्र-विशेष में अधिकतम प्रवीणता अर्जित करके पूरे समाज को अपने प्रयत्नों से लाभान्वित करना होगा। *पूरा* समाज—*समान* रूप से—तभी तो ऊपर उठ सकेगा। वर्ण, वर्ग, जाति तथा धर्म की संकीर्ण परिधियों में आबद्ध मानवता के लिए तो 'साकेत' के कवि का यह सन्देश और भी महत्त्वपूर्ण है।

रखने में फूलों के दल से, फैलाने में गन्ध-समान : ढाका की मलमल हमारे देश के कारीगर ही तो तैयार करते थे!

गल गल कर ढल रही धातुएँ···'मनु के नगर' का वर्णन करते हुए 'प्रसाद' जी ने लिखा है :

वर्षा धूप शिशिर में छाया के साधन सम्पन्न हुए,
खेतों में हैं कृषक चलाते हल प्रमुदित श्रम-स्वेद सने।
उधर धातु गलते, बनते हैं आभूषण औ' अस्त्र नये,
कहीं साहसी ले आते हैं मृगया के उपहार नये।
पुष्पलावियाँ चुनती हैं वन-कुसुमों की अध-विकच कली,
गंध चूर्ण था लोध्र कुसुम रज, जुटे नवीन प्रसाधन ये।···
अपने वर्ग बना कर श्रम का करते सभी उपाय वहाँ,
उनकी मिलित प्रयत्न-प्रथा से पुर की श्री दिखती निखरी।
देश काल का लाघव करते वे प्राणी चंचल से हैं,
सुख साधन एकत्र कर रहे जो उनके संबल में हैं;
बढ़े ज्ञान, व्यवसाय, परिश्रम बल की विस्तृत छाया में,

नर प्रयत्न से ऊपर आवें जो कुछ वसुधा तल में हैं।...
आज स्वचेतन प्राणी अपनी कुशल कल्पनायें करके,
*स्वावलम्ब की दृढ़ धरणी पर खड़ा, नहीं अब रहा डरा।**

वसुधा-विज्ञों ने कितनी ही ···· ··· ···· नव-नव अलंकार-शृंगार।

"भूगर्भ-वेत्ताओं (पृथ्वी के भीतरी भाग के विशेषज्ञों) ने कितनी ही (बहुत सी) नयी खानों का पता लगा लिया है परन्तु इस पर भी अभी न जाने कितने (मूल्यवान्) रत्न (पृथ्वी के गर्भ में) अज्ञात ही छिपे पड़े होंगे। परिश्रमी कृषक (खेती के रूप में) अपने (द्वारा बोए गये) बीजों के विकास का जीवित इतिहास रखते हैं। राजकीय गोशाला में जाकर मैंने आज वहाँ गो-वंश का नया ही विकास देखा (गो-वंश के विकास के नये-नये तरीकों का प्रयोग होता पाया)। सब लोग (प्रभु को भेंट करने के लिए) अपने-अपने उपहार लेकर प्रभु (श्री रामचन्द्र जी के अयोध्या-आगमन) की बाट जोह रहे हैं और (प्रभु को समर्पित करने के लिए अपनी-अपनी कृतियों (अथवा स्वनिर्मित वस्तुओं) को नये-नये ढंगों (उपकरणों) से सजा (कर भेंट करने के उपयुक्त बना) रहे हैं।

श्रमी कृषक निज बीज-वृद्धि का रखते हैं जीवित इतिहास : इतिहास में विगत (अथवा मृत) वंशों के विकास तथा ह्रास का ही लेखा होता है परन्तु यहाँ कृषक अपने बीज की वंश-वृद्धि का जो इतिहास रखते हैं वह मृत न होकर *जीवित* है, विगत न होकर प्रस्तुत अथवा अनवरत ही है।

राज-घोप में देखा मैंने आज नया गो-वंश विकास : धार्मिक तथा आर्थिक दोनों ही दृष्टिकोणों से भारत में गो-वंश का विकास अनिवार्य है।

विभु की बाट जोहते हैं सब, ले लेकर अपने उपहार : 'वाल्मीकि रामायण' में श्री रामचन्द्र जी के आगमन का परमानन्ददायी संवाद सुन, सत्य पराक्रमी भरत हर्षित होकर शत्रुघाती शत्रुघ्न को आज्ञा देते हैं :

दैवतानि च सर्वाणि चैत्यानि नगरस्य च।
सुगन्धमाल्यैर्वादित्रैरर्चन्तु शुचयो नराः॥
सूताः स्तुतिपुराणज्ञाः सर्वे वैतालिकास्तथा।
सर्वे वादित्रकुशलाः गणिकाश्चापि सङ्घशः॥
अभिनिर्यान्तु रामस्य द्रष्टुं शशिनिभं मुखम्।
भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नः परवीरहा॥

---

* श्री जयशङ्कर 'प्रसाद', कामायनी, स्वप्न सर्ग।

विष्टीरनेकसाहस्राश्चोदयामास वीर्यवान् ।
समीकुरुत निम्नानि विषमाणि समानि च ॥
स्थलानि च निरस्यन्तां नन्दिग्रामादितः परम् ।
सिञ्चन्तु पृथिवीं कृत्स्नां हिमशीतेन वारिणा ॥
ततोऽभ्यवकिरन्त्वन्ये लाजैः पुष्पैश्च सर्वशः ।
समुच्छ्रितपताकास्तु रथ्याः पुरवरोत्तमे ॥
शोभयन्तु च वेश्मानि सूर्यस्योदयनं प्रति ।
स्रग्दामभिर्मुक्तपुष्पैः सुगन्धैः पञ्चवर्णकैः ॥
राजमार्गमसम्बाधं किरन्तु शतशो नराः ।....

('नगर के सब कुल-देवताओं के मन्दिरों तथा साधारण देव-मन्दिरों में गन्धमाल्यादि ले, गाजे-बाजे के साथ जाकर और पवित्र होकर लोग पूजा करें। पुराणज्ञ और विरुदावली जानने वाले समस्त सूत तथा समस्त बंदीजन तथा बाजों के बजाने में कुशल बजंत्री लोग और नाचने-गाने वाली वेश्याओं के झुंड-के-झुंड श्री रामचन्द्र जी के चन्द्र समान मुख का दर्शन करने के लिए चलें।' भरत के ये वचन सुन; शत्रुघाती शत्रुघ्न ने कई हज़ार कुली, कबाड़ियों और कारीगरों को आज्ञा दी कि नन्दिग्राम से अयोध्या के बीच सड़क ठीक करें, जहाँ कहीं रास्ता ऊबड़-खाबड़ हो, वहाँ उसे मिट्टी से भर कर बराबर एक-सा कर दें। फिर बर्फ के समान शीतल जल से सड़क पर छिड़काव करें, फिर सड़कों के ऊपर फूल और लाजा बिखेर दें। पुरियों में उत्तम अयोध्यापुरी की सब सड़कों पर झंडियाँ लगा दी जाएँ। सूर्य के निकलने के पूर्व ही नगरी के समस्त भवन फूल-मालाओं और मोती के गुच्छों तथा सुगन्धित पाँच रंग के पदार्थों के चूर्ण से सजा दिए जाएं। राज-मार्ग पर जगह-जगह रंग-बिरंगे चौक पूरे जाएँ और राज-मार्ग पर सैंकड़ों मनुष्य पंक्तिबद्ध खड़े हों।)*

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि रामचन्द्र जी के स्वागत का यह सब प्रबन्ध *सरकारी* (Official) तौर पर ही होता है (लगभग उसी भाँति जैसे आजकल हमारे देश की राजधानी में किसी विशिष्ट विदेशी अतिथि के 'सार्वजनिक' स्वागत के अवसर पर होता है) परन्तु 'साकेत' में तो अयोध्या का *प्रत्येक* वासी *पहले ही से* वनवास की अवधि के दिन गिन रहा है और अवधि समाप्त होने का समय निकट जान कर वे स्वयं ही अपने-अपने उपहार लेकर—अपनी-अपनी रचनाओं को नव-नव अलंकार-शृंगार देकर—स्वागतार्थ प्रस्तुत होकर अपने विभु की बाट

* वाल्मीकि रामायण, युद्ध कांड, सर्ग १३० श्लोक २ से ६।

जोहने लगे हैं।

करा रहे ऊर्जस्वल बल से ··· ···· ··· ··· करते हैं सैनिक जन सिद्ध।"

"बलवान (अथवा पहलवान) नित्य बल के साथ नये कौशल का मेल कर रहे हैं (अनेक पराक्रमपूर्ण नये-नये दाँव-पेंचों का अभ्यास कर रहे हैं) और बड़े-बड़े योद्धा नित्य ही ऐसे नवीन कार्यों की साधना (सिद्धि) कर रहे हैं जो साहसपूर्ण हैं तथा जिन्हें देख कर हृदय में अत्यधिक भय एवं आश्चर्य का उदय होता है। सिपाही लोग नये-नये शस्त्रों से नवीन लक्ष्य बींध कर भाँति-भाँति के युद्ध-कौशल का अभ्यास कर रहे हैं।"

कहा माण्डवी ने—"क्या यों ही ··· ··· ··· लगे कल्पना में हम हैं!"

(शत्रुघ्न की बात सुन कर) माण्डवी ने कहा, "क्या वास्तविक कलह (झगड़े) वैसे ही कम हैं? (भाव यह है कि इस संसार में वास्तविक झगड़े ही बहुत अधिक हैं) हाय! (खेद की बात है कि) हम तब भी (उन सच्चे झगड़ों की उस असंख्यता से) सन्तुष्ट न होकर नये-नये झगड़ों की कल्पना में लगे हैं?"

शत्रुघ्न की लम्बी उक्ति को उचित विश्राम प्रदान करने के साथ ही साथ माण्डवी का यह कथन हिन्दू-वधू की स्वाभाविक शान्तिप्रियता की भी समुचित अभिव्यक्ति करता है। रघुकुल के सदस्यों की प्रस्तुत संतप्त अवस्था में तो झगड़े की कल्पना मात्र से माण्डवी का इस प्रकार आकुल हो जाना और भी स्वाभाविक है।

"प्रिये, तुम्हारी सेवा का सुख ···· ···· ··· स्नेह-दृष्टि का ही चिर गर्व।"

(माण्डवी को उत्तर देते हुए भरत ने कहा) "प्रिये (नये-नये झगड़ों-युद्धों की कल्पना का) यह सारा परिश्रम तो (आहत होने के उपरान्त) तुम्हारी सेवा का सुख पाने के लिए ही है (पुरुष भाँति-भाँति के युद्धों में इसी इच्छा से उलझते हैं कि इस प्रकार जख्मी होने पर उन्हें नारी जाति की सेवा शुश्रूषा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो जाता है)। वीरों के घावों को तो सदा वधुओं की स्नेह-दृष्टि का ही गर्व रहा है।"

युद्ध में आहत होने वाले वीरों को वीरांगनाएँ ही तो शक्ति और उत्साह प्रदान करती हैं। स्वयं युद्ध न करके वे अपनी परिचर्या द्वारा युद्ध के अवसर पर बहुमूल्य सहायता भी पहुँचाती हैं, अतः युद्ध और शान्ति, दोनों में ही नारी पुरुष के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करती है।

"हाय ! हमारे रोने का भी ···· ···· ···· हँसने का है कितना मूल्य !"

माण्डवी ने कहा, "हाय ! पुरुष हमारे रोने का भी इतना अधिक मूल्य रखते (आँकते) हैं।"

भरत बोले, "हाँ भद्रे ! वे यह तो जानते ही नहीं (निश्चित ही नहीं कर पाते) कि तुम्हारे हँसने का कितना (अधिक) मूल्य है !"

"किन्तु नाथ ! मुझको लगती है ···· ··· ···· जहाँ न होती माताएँ ?

माण्डवी ने कहा, "परन्तु नाथ, मुझे तो अपनी (नारी) जाति झगड़े की मूर्त्ति (जड़) ही जान पड़ती है क्योंकि आत्मीयों (परस्पर अत्यधिक स्नेह करने वालों) को भी यहाँ (इस संसार में) हमीं (नारियाँ ही) शत्रु बना देती हैं।"

इस पर शत्रुघ्न ने कहा, "आर्ये, तब क्या तुम्हारे कहने का अभिप्राय यह है कि माताएँ (नारी जाति) इस संसार में न होतीं (तो अच्छा था) ? यदि माताएँ ही न होतीं तो संसार में जो कुछ भी इस समय है, वह कैसे होता ?"

नारी के प्रति हमारे कवि के हृदय में अपार श्रद्धा है। गुप्त जी का विश्वास है कि "कथाओं की अधिष्ठात्री, पवित्र भावों की प्रतिमा और रस की जीवनी तो कुलांगनाएँ ही होती हैं। उन्हीं के पवित्र चरित्र के वर्णन से लेखनी अपने को कृतार्थ समझती है।"* अस्तु, अपने काव्य-ग्रन्थों में, स्थान-स्थान पर गुप्त जी ने नारी के महत्व पर प्रकाश डाला है। इतना ही नहीं 'नारी' के बिना तो हमारे कवि को 'नर' भी ग्राह्य नहीं :

"गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको"

—महाराज शुद्धोदन†

और भगवान् बुद्ध के शब्दों में—

दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी ,
भूत-दया-मूर्त्ति वह मन से, शरीर से··· ।‡

स्वयं नारी भी वस्तुतः अपने इस महत्त्व से अनवगत नहीं :

तुच्छ न समझो मुझको नाथ !
अमृत तुम्हारी अंजलि में तो भाजन मेरे हाथ ।

---

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, गुरुकुल, उपोद्घात, पृष्ठ २८ ।
† " " यशोधरा, पृष्ठ १२६ ।
‡ वही पृष्ठ १४५ ।

तुल्य दृष्टि यदि तुमने पाई
तो हममें ही सृष्टि समाई
स्वयं स्वजनता में वह आई
*देकर हम स्वजनों का साथ।**

नारी का महत्त्व स्वीकार करते हुए 'साकेत' के लक्ष्मण ने भी कहा है :

"भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त्त भी,
शून्यता नभ की, सलिल-आवर्त्त भी,
प्रेयसी, किसके सहज-संसर्ग से,
दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग-से?
जन्मभूमि-ममत्व कृपया छोड़ कर,
चारु - चिन्तामणि - कला से होड़ कर,
कल्पवल्ली - सी तुम्हीं चलती हुई,
बाँटती हो दिव्य-फल फलती हुई।"†

नहीं कहीं गृह-कलह प्रजा में ···· ···· ···· पहले से भी अधिक समृद्ध।"

शत्रुघ्न बोले, "प्रजा में पारिवारिक झगड़े कहीं नहीं हैं। सब लोग (पूर्णतः) सन्तुष्ट और शान्त हैं। उनके सामने तो सदा ही इस दिव्य (देव-तुल्य) राज-कुल का ही आदर्श (उदाहरण) रहता है। प्रभूत मात्रा में अन्न से तृप्त (सन्तुष्ट) होने तथा अनेक प्रकार की कलाओं में प्रवीणता के कारण हमारा प्रत्येक गाँव स्वाभाविक रूप से प्रसन्न होकर मानों एक स्वतंत्र तथा सम्पन्न देश ही (बन गया) है। जो (पड़ोसी) नरेश, हमारी अविचल (डिगायी अथवा हराई न जा सकने वाली) शक्ति देख कर (हमसे मित्रता बनाए रखने के लिए) विवश हो गये थे वे अब (हमारी यह सर्वतोमुखी प्रगति देख कर) हमें साध्य (साधना के योग्य) मानते हैं (हमें आदर्श मान कर हमारे प्रति श्रद्धालु हो गये हैं।) इस प्रकार मित्रता ही क्या, उनके हृदय में तो हमारे प्रति भक्ति उत्पन्न हो गयी है। हे आर्य, आप तनिक अवधि रूपी यह यवनिका (परदा) उठने दें। तब नगर के समस्त वयोवृद्ध देखेंगें कि आप प्रभु (श्री राम) को (उनके अयोध्या लौटने पर) पहले से भी अधिक समृद्ध राज्य सौंपेंगे।

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा पृष्ठ १२८।

† साकेत, सर्ग १।

अन्न वृद्धि से तृप्त......स्वतन्त्र देश सम्पन्न : गाँधी जी ने स्वाधीन भारत की—अपने राम-राज्य की रूप-रेखा में प्रत्येक गाँव को एक *स्वतन्त्र तथा सम्पन्न इकाई* (Unit) बनाने पर ही बल दिया है जो अपनी अन्न-वस्त्रसम्बन्धी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में आत्म-निर्भर हो और छोटे-छोटे कुटीर-उद्योग तथा कला-कौशल जिसकी प्रसन्नता और सम्पन्नता में मुख्य रूप से सहयोग दे सकें। 'साकेत' के कवि ने अपने काव्य की इन पंक्तियों में मानो अपने युग-पुरुष के उसी स्वप्न को चरितार्थ कर दिखाया है।

बाध्य हुआ था....मैत्री क्या भक्ति : शक्ति अथवा बल से दूसरा व्यक्ति भय-भीत हो सकता है, श्रद्धालु अथवा उपासक नहीं बन सकता। किसी को डराने-धमकाने के लिए बल भले ही पर्याप्त हो, परन्तु किसी की *श्रद्धा* अर्जित करने के लिए त्याग, तपस्या, उदारता, आत्म-संयम आदि अनेक सद्गुणों की आवश्यकता होती है। राम-वनवास से लेकर अब तक अयोध्यावासियों ने उन्हीं *श्रद्धोत्पादक* गुणों का विशेष-रूप से संचय किया है। तभी तो पड़ौसी नरेश उनसे *केवल मित्रता* न रखकर उनके *भक्त*, उनके उपासक, उनके साधक बन गये हैं !

अवधि-यवनिका उठे.........पहले से भी अधिक समृद्ध : राम-वनवास और राम के पुनः अयोध्या लौटने के बीच में समय का एक लम्बा व्यवधान—अवधि-यवनिका—है। इस अवधि में अयोध्यावासियों ने अपनी प्रतिभा के नव-चमत्कारों, नये-नये अलंकार-शृंगार से अपने उस नगर को सजाया है अतः अवधि का यह परदा उठने पर पुर के सब वृद्ध देखेंगे कि भरत राम को अयोध्या का राज्य—उनकी धरोहर—*पहले से भी अधिक* समृद्धिशाली बना कर ही सौंपेंगे।

देखेंगे पुर के सब वृद्ध : भरत राम को 'पहले से भी अधिक समृद्ध' राज्य लौटा रहे हैं या नहीं इस बात की साक्षी तो पुर के वे लोग ही दे सकते हैं जिन्होंने वनवास से पहले अपनी आयु का पर्याप्त समय इसी राज्य में व्यतीत किया है और जिनके बाल इसी राज्य की प्रगति देखते-देखते सफेद हुए हैं। पुर के वे वृद्ध ही तो *पहले* और *अब* के राज्य की *तुलनात्मक सफलता* के उचित निर्णायक बन सकते हैं !

सेंतमेंत के यश का भागी ... ... लेना अपने सिर सब दोष।"

(शत्रुघ्न के मुख से राज्य की सुख-सम्पन्नता का सुखद समाचार सुनकर भरत को सन्तोष ही होता है। स्पष्टतः वैरागियों की भाँति नन्दिग्राम

में रहने वाले भरत का इस समस्त प्रगति में कोई हाथ नहीं है तथापि शत्रुघ्न उस समृद्धि का श्रेय भरत को ही देते हैं। इस पर भरत माण्डवी को सम्बोधित करके कहते हैं—) प्रिये, तुम्हारा पति तो व्यर्थ (बिना कुछ किये-धरे ही) (इस समस्त) यश का भागी बन रहा है। तुम्हारे देवर ही यह सब (अनथक परिश्रम) करके मुझे कर्त्ता (ये समस्त कार्य करने वाला) कहते हैं (परिश्रम स्वयं करते हैं, उससे प्राप्त होने वाले यश का भागी मुझे बनाते हैं)।"

इस पर माण्डवी ने कहा, "हे नाथ, मैं तो इस घर में यही देखती हूँ कि सब लोग (परिवार के सब सदस्य) गुण (यश) दूसरों के लिए छोड़कर दोष (का भार) अपने ऊपर लेने में ही सन्तोष का अनुभव करते हैं।"

सम्मिलित परिवार-प्रथा का यह कितना भव्य रूप है ! इस प्रकार की उदात्त भावनाओं का अन्त हो जाने के कारण ही सम्मिलित परिवार-प्रथा आज हमारे लिए एक अभिशाप बन कर रह गयी है।

"*आर्य, तराई से आया है ··· ···· ··· उत्सव-योग्य बना लेंगे।*"

शत्रुघ्न ने कहा, "हे आर्य (हिमालय की) तराई से आज एक अत्यन्त सुन्दर तथा शोभासम्पन्न सफेद हाथी यहाँ आया है। (उसे देखकर तो ऐसा लगता है) मानो उसके बहाने (उस हाथी का रूप धारण करके) स्वयं गिरिराज हिमालय ही प्रभु के स्वागत के लिए यहाँ आ उपस्थित हुआ है। वैसे तो वह स्वभाव से ही (अच्छे लक्षण तथा) अच्छी गति (चाल) वाला है परन्तु (महावत) और भी शिक्षा देकर (सधा कर) प्रभु के यहाँ लौटने तक उसे स्वागतोत्सव के योग्य बना लेंगे।"

श्वेत गज असाधारण शोभाशाली तो होता ही है, मंगलमूलक भी माना जाता है। देवराज इन्द्र का हाथी ऐरावत सफेद ही है और कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध के जन्म के समय उनकी माता ने स्वप्न में जिस हाथी के दर्शन किये थे वह सफेद ही था :

> *जासों लक्षित भयो एक मातंग मनोहर,*
> *बड़ दंतन सों युक्त छीर सम श्वेत कांतिधर।**

'साकेत' में हाथी के श्वेत वर्ण ने कवि-कल्पना को एक और आश्रय प्रदान कर दिया है। यहाँ इस प्रकार उत्प्रेक्षा द्वारा कवि के लिए यह मान लेना सम्भव

---

* श्री रामचन्द्र शुक्ल, बुद्ध चरित, सर्ग १, पृष्ट २।

हो गया है कि हिमालय की तराई से आने वाले उस हाथी के रूप में मानो स्वयं (हिमाच्छादित) हिमालय ही राम के स्वागत के लिए हाथी का रूप धारण करके अयोध्या में आ गया है। (हाथी और हिमालय में ऊँचाई की समानता भी है।)

"अनुज, सुनाते रहो सदा तुम ··· ···· ···· करती है वह विभा-विकास।"

(शत्रुघ्न के मुख से यह समस्त विवरण सुन कर भरत ने प्रसन्न होकर कहा,) "अनुज, तुम सदा ही मुझे इस प्रकार के (सुखद तथा शुभ) समाचार सुनाते रहो। सुनो, हमें (श्वेत शोभन गज के अतिरिक्त) हिमालय का एक नया प्रसाद (पदार्थ) और भी प्राप्त हुआ है। (आज) शाम के समय मानसरोवर के वासी एक योगी यहाँ पधारे थे। जान पड़ता है कि उनका इस प्रकार यहाँ आना स्वयं मृत्युञ्जय (मृत्यु को जीत लेने वाले, शिव) की कृपा का ही फल होगा (संजीवनी बूटी लाने के कारण ही उक्त योगी के अयोध्या-आगमन को मृत्युञ्जय की कृपा कहा गया है) वे (योगी) मुझे एक औषधि दे गये हैं जिसका नाम 'संजीवनी' है; घायल अथवा चोट खाये हुए व्यक्ति को भी पुनः जीवन प्रदान कर देना तो उस (औषधि) का सहज (स्वाभाविक अथवा अत्यन्त सुगम) ही कार्य है। मैंने उसे प्रभु की चरण पादुकाओं के पास ही संस्थापित (प्रतिष्ठित) कर दिया है (रख दिया है)। प्रकाश बिखेरती हुई उसी औषधि की सुगन्ध सब ओर फैल रही है।"

अपने काव्य में स्थान-ऐक्य की रक्षा करने के लिए ही कवि ने कल्पना का आश्रय लेकर भरत के बाण से हनूमान् के आहत होने से पूर्व ही संजीवनी औषधि अयोध्या में मँगा ली है। इस प्रकार हनूमान् का समय बच जाता है और भरत आदि को उनके मुख से राम-लक्ष्मण-सीता के सम्बन्ध में प्रायः सभी आवश्यक बातें पूछने-सुनने का अवकाश मिल जाता है। अस्तु, 'साकेत' के वस्तु-संघटन की दृष्टि से इस उद्भावना का विशेष महत्त्व है।

"आर्य, सभी शुभ लक्षण हैं, पर ···· ··· समुचित था उस खल का दंड।"

शत्रुघ्न ने कहा, "आर्य, (वैसे तो इस समय) सभी शुभ लक्षण दिखायी दे रहे हैं परन्तु फिर भी न जाने मन में क्या खटक-सा रहा है, न जाने क्या (अशुभ शंकापूर्ण भाव) काँटे की तरह निकल-निकल कर भी उसमें (हृदय में) अटक (अटका ही रह) रहा है (सब प्रकार के शुभ लक्षण होने पर भी हृदय रह-रह कर किसी अज्ञात आशंका के कारण विकल होता जा

रहा है)। हमारे नगर के व्यापारी स्नेहपूर्वक दूर-दूर से अपने प्रभु के लिए उपहार ले-ले कर जल तथा स्थल मार्गों से अपने-अपने घर लौट रहे हैं। एक ऐसे ही मनुष्य (व्यापारी) ने मुझे आज यह संवाद (सूचना) दिया है कि प्रभु (श्री राम) ने दक्षिण का वह पथ (दक्षिणापथ) सबके लिए सुगम (सरलता तथा निर्भयता से पार करने योग्य) बना दिया है जो पहले (राक्षसों के आधिपत्य के कारण) अगम (जहाँ जाया न जा सके) ही था। उस प्रदेश में पहले शान्त तथा दयालु मुनियों को दुष्ट राक्षस सताया करते थे। वे (राक्षस) मुनियों के (यज्ञ आदि) धार्मिक कार्यों में विघ्न डाल कर उन्हें खा तक जाते थे। (शत्रुघ्न के मुख से राक्षसों द्वारा मुनि-भक्षण की बात सुन कर माण्डवी सिहर गयी। यह देख कर शत्रुघ्न बोले—) आर्ये, तुम तो यह (संवाद) सुन कर सिहर (काँप) उठीं! परन्तु अब तो उन सब मुनियों की रक्षा हो गई है, प्राण वस्तुतः प्राण देकर अथवा लेकर ही रहते हैं (कुछ लोग दूसरों के प्राण लेने में अपने प्राण लगा देते हैं और अन्य दूसरों को अकाल मृत्यु अथवा आपत्तियों से मुक्त करने के लिए अपने प्राणों की बाज़ी लगा देते हैं।) कुछ ऋषि-मुनियों ने प्रभु की शरण में आकर उन्हें अपनी विपत्तियों तथा कष्टों की समस्त कथा सुनाई। (सब का) भय दूर करने वाले प्रभु इस प्रकार अपना वनवास सफल समझ कर (उनके प्रति दया भाव से) द्रवित हो गये। तब (महर्षि) अत्रि और मुनि-पत्नी अनसूया ने उन्हें आशीर्वाद दिया और (अनसूया ने) आर्या (सीता) को दिव्य वस्त्राभूषण प्रदान करके पुत्री की भाँति विदा किया (माता पुत्री को वस्त्राभूषण देकर ही तो विदा करती है)। प्रभु ने दण्डक वन में जाकर धर्म (धार्मिक कृत्यों) की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। वहाँ पड़े स्वर्गवासी मुनियों की हड्डियों का ढेर देख कर उन्होंने अपने नेत्रों के जल से ही उनका तर्पण किया (उन्हें जलाञ्जलि अर्पित की)। पाखंडी विराध (नामक एक दुष्ट राक्षस) ने (प्रभु के) मार्ग में बाधा डाली। वह आर्या पर झपटा। वास्तव में जीवित धरती में गाड़ देना ही उस दुष्ट की दुष्टता का उचित दंड था।"

स्थान-ऐक्य तथा घटना-ऐक्य की रक्षा के उद्देश्य से ही इन घटनाओं को 'साकेत' में घटित न करके वर्णित ही रखा गया है।

दण्डक वन में जाकर प्रभु ने लिया धर्म-रक्षा का भार : **अध्यात्म-रामायण में—**

श्रुत्वा वाक्यं मुनीनां स भयदैन्य समन्वितम् ।
प्रतिज्ञामकरोद्रामो वधायाशेषरक्षसाम् ॥

(मुनियों के ये भय और दीनतापूर्ण वचन सुन कर श्री रामचन्द्र जी ने समस्त राक्षसों का वध करने की प्रतिज्ञा की ।)❀

और 'रामचरितमानस' में—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।

'साकेत' के राम का लक्ष्य '*राक्षसों का वध*' नहीं है, '*धर्म का रक्षण*' है; अतः वे समस्त राक्षसों का नाश कर देने की प्रतिज्ञा नहीं करते, वे तो धर्म-पथ में बाधा डालने वाली सब शक्तियों का अन्त करने का भार ही अपने ऊपर लेते हैं, 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं' (Hate the Sin, not the Sinner) के सिद्धान्त पर ही चलते हैं ।

दिया अश्रु-जल हत मुनियों को उनका अस्थि-समूह निहार : 'रामचरितमानस' में—

अस्थि समूह देखि रघुराया । पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया ॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाए । सुनि रघुवीर नयन जल छाए ॥†

'साकेत' के राम नयनों में छा जाने वाले इसी जल से *हत मुनियों* का *तर्पण* करते हैं ।

"हाय अभागे !" "सचमुच भाभी ··· ··· पहुँची वहाँ विमोहित सी ।"

"हाय अभागे !"—माण्डवी के मुख से अनायास ही निकल पड़ा । शत्रुघ्न ने कहा, "सचमुच भाभी (उचित तो यही है कि) शत्रु का भी अन्त अच्छा ही हो परन्तु (श्रीराम के हाथों) मुक्ति पाने की इच्छा से विराध ने स्वयं ही यह अत्यन्त कठोर दंड माँगा था । इसके उपरान्त शरभंग तथा सुतीक्ष्ण आदि मुनियों से मिल कर आर्य अगस्त्य मुनि के आश्रम में आये और उन्होंने कौशिक मुनि की भाँति अगस्त्य जी से भी दिव्य अस्त्र प्राप्त किया । इसके पश्चात् प्रभु ने गोदावरी तट पर स्थित दंडक बन में वास किया फलतः वहाँ अपनी (हमारी) उच्च आर्य संस्कृति का निर्बाध विकास (तथा प्रसार) हुआ । राक्षसता (दुष्टता) उन्हें देख कर लज्जा-वश लाल सी हो गयी ।

❀ अध्यात्म रामायण, अरण्यकांड, सर्ग २, श्लोक २२ ।

† रामचरितमानस, अरण्यकांड ।

वहीं रावण की बहिन शूर्पणखा (उनके रूप पर) मुग्ध सी होकर उनके पास पहुँची।

'अच्छा हो अरि का भी अन्त' : शत्रुघ्न के इन शब्दों में स्वयं उनकी गरिमा तथा सदाशयता तो निहित है ही, इस प्रकार भारतीय युद्ध-नीति पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हमारे पूर्वज आततायी शत्रु से युद्ध करके उसका अन्त अवश्य करते थे परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाता था कि वह अन्त बर्बरतापूर्ण अथवा पाशविक न होकर यथासम्भव अच्छा ही हो।

अपनी उच्च आर्य-संस्कृति ने वहाँ अबाध विकास किया : 'साकेत' के राम ने वन में प्रवेश करते ही अपनी यह हार्दिक इच्छा, अपना यह उद्देश्य सीता के सम्मुख प्रकट कर दिया था :

बहु जन वन में हैं बने ऋक्ष-वानर-से,
*मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निज कर से।**

× × ×

मुनियों को दक्षिण देश आज दुर्गम है,
बर्बर कौणप-गण उग्र वहाँ यम-सम है।
वह भौतिक मद से मत्त यथेच्छाचारी,
*मेटूँगा उसकी कुगति-कुमति मैं सारी।**

वास्तव में, स्वयं राम के शब्दों में, उनका तो ध्येय ही यह है :

*मैं आर्यों का आदर्श बताने आया।**

तभी तो राम के दण्डकारण्य वास के साथ ही साथ वहाँ आर्य संस्कृति का निर्बाध विकास होने लगा।

राक्षसता उनको विलोक कर··· : यहाँ 'राक्षसों' के स्थान पर 'राक्षसता' का प्रयोग किया गया है। सद्गुणों अथवा सत्प्रवृत्तियों के लेश-मात्र से भी रहित इन राक्षसों के रूप में तो मानो राक्षसता—पुञ्जीभूत दुष्टता—साकार ही हो गई थी।

हँसी माण्डवी—"प्रथम ताड़का ···· ···· आने वाली है बारी!"

(शूर्पणखा) का नाम सुन कर माण्डवी हँस कर बोली, "पहले ताड़का आयी और फिर यह नारी शूर्पणखा! जान पड़ता है कि अब किसी विड़ालाक्षी की भी बारी आने वाली है!"

---

* साकेत, सर्ग ८।

माण्डवी के इस व्यंग का आधार इन राक्षसियों के भयंकर नाम हैं। एक का नाम है *ताड़का*—ताड़ जैसी लम्बी-तड़ंगी; दूसरी है *शूर्पणखा*—छाज (अथवा तीर) जैसे नाखूनों वाली। इसीलिए माण्डवी हँस कर कहती है कि इनके बाद कदाचित् अब किसी *विड़ालाक्षी*—बिल्ली जैसी आँखों वाली—की बारी आने वाली है।

"उनमें भी सुलोचनाएँ हैं ··· ···· ···· और प्रिये, हममें भी अन्ध।"

(माण्डवी की बात सुन कर भरत बोले) "प्रिये (राक्षस-वंश में केवल कुरूप अथवा भयंकर स्त्रियाँ ही नहीं हैं) उनमें भी सुलोचनाएँ (सुन्दर नेत्रों वाली अथवा मेघनाद-पत्नी, सुलोचना जैसी सच्चरित्रा स्त्रियाँ) हैं और हम लोगों में (समस्त स्त्रियाँ सुन्दर ही नहीं हैं), कुछ अन्धी (असुन्दर अथवा विकलांग) भी हैं।"

सौन्दर्य अथवा सदाचार किसी वर्ग, जाति अथवा राष्ट्र की बपौती नहीं है। प्रत्येक वर्ग अथवा जाति में अच्छे व्यक्ति भी होते हैं और बुरे भी। अतः कुछ *व्यक्तियों* के रूप-गुण के आधार पर *सम्पूर्ण राष्ट्र* को अच्छा अथवा बुरा घोषित कर देना मानसिक संकीर्णता का ही सूचक है।

"नाथ, क्यों नहीं,—तभी न अब ···· ···· गई कटा कर नासा-कर्ण।

भरत की बात सुन कर माण्डवी ने कहा, "क्यों नहीं नाथ, तभी तो अब उनके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ता जा रहा है!—(फिर माण्डवी ने शत्रुघ्न को सम्बोधित करके कहा) हाँ देवर, फिर (इसके उपरान्त क्या हुआ)?"

शत्रुघ्न ने उत्तर दिया, "भाभी, इसके उपरान्त तो उस (शूर्पणखा) का सारा रस-भाव (प्रेम-भाव अथवा प्रेम-लीला) फीकी (बदरंग) पड़ गयी। उसने आर्या को खाने का प्रयत्न किया था परन्तु उसे अपने ही नाक-कान कटा कर जाना पड़ा।

इसके पीछे उस कुटीर पर ···· ···· ··· वर्षा का फिर क्या परिमाण?

शत्रुघ्न ने फिर कहा, "इसके उपरान्त उस (श्री राम की) कुटिया पर युद्ध की घोर घटा घिर आयी। (बादलों की गड़गड़ाहट की भाँति) वहाँ राक्षसों की चीख चिंघाड़ सुनाई पड़ने लगी और बिजली की भाँति शस्त्र चमकने लगे। भयरहित प्रभु ने इन्द्र-धनुष जैसा अपना धनुष चढ़ा कर जब बाण छोड़े तो फिर राक्षसों के रुधिर की वर्षा का भला क्या परिमाण (सीमा)

रह सकता था (फिर तो वर्षा के अपरिमित जल की भाँति राक्षसों का रुधिर बरसने लगा) ?

यहाँ सांग रूपक द्वारा निशाचरों के गर्जन-तर्जन की तुलना बादलों की गड़गड़ाहट के साथ, चमकते शस्त्रों की बिजली के साथ, राम के धनुष की इन्द्र-धनुष के साथ और वर्षा के अपरिमित जल की तुलना राक्षसों के परिमाणरहित रुधिर के साथ करके कवि ने 'घिरी युद्ध की घोर घटा' की सांगोपांग पुष्टि की है।

निज संस्कृति-समान आर्या की ··· ··· ··· रण में रिपु-गण मरते थे।

"अग्रज (लक्ष्मण) अपनी संस्कृति की भाँति (अपार श्रद्धा एवं सावधानी के साथ) आर्या (सीता) की रक्षा करते थे, उधर, प्रभुवर (श्री रामचन्द्र जी) के शस्त्रों (के प्रहारों) से युद्ध-भूमि पर शत्रुओं के दल (कट कर) मर-मर कर गिर रहे थे।

निज संस्कृति-समान आर्या की अग्रज रक्षा करते थे : राम आर्य-संस्कृति के प्रतिष्ठापक हैं। भरत, लक्ष्मण तथा अयोध्यावासी सीता को *'राम-पत्नी'* से अधिक *'भारत-लक्ष्मी'* अथवा *'आर्य-संस्कृति'* के रूप में ही देखते हैं।

वन में सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण ने अपने ऊपर लिया था। गुप्त जी ने 'पंचवटी' में पर्णकुटी के रखवाले लक्ष्मण का बहुत ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है :

पंचवटी की छाया में है सुन्दर पर्ण-कुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर वीर निर्भीकमना,
जाग रहा है कौन धनुर्धर, जब कि भुवन भर सोता है ?
भोगी कुसुमायुध योगी सा बना दृष्टिगत होता है॥
किस व्रत में है व्रती वीर यह निद्रा का यों त्याग किये,
राज भोग्य के योग्य विपिन में बैठा आज विराग लिये।
बना हुआ है प्रहरी जिसका उस कुटिया में क्या धन है,
जिसकी रक्षा में रत इसका तन है, मन है, जीवन है ?✻

बहुसंख्यक भी वैरि-जनों ··· ··· ··· होकर आप अकेले वे।

"प्रभुवर ने कुछ इस ढङ्ग से युद्ध किया कि वे स्वयं अकेले होकर भी उन अनगिनत शत्रुओं में सबको असंख्य तुल्य ही दिखाई दिये।

'साकेत' के राम *दिव्यता* के कारण असंख्य-तुल्य नहीं दिखाई देते, वह तो

अपने *युद्ध-कौशल* विशेष युद्ध-पद्धति के कारण ही सबको *एक* होकर भी *असंख्य* से दिखाई पड़ते हैं।

दूषण को सह सकते कैसे ... ... प्रखर पराक्रम-विस्तारी।

"स्वयं गुण (प्रत्यंचा) से युक्त धनुष धारण करने वाले (अथवा गुण-सम्पन्न) श्री राम भला दूषण (दोष) (नामक राक्षस) (की दुष्टता) को कैसे सह सकते थे? (नहीं सह सकते थे।) खर (नामक राक्षस) खर (अत्यन्त तीक्ष्ण अथवा अमांगलिक) अवश्य था परन्तु उनके तीर तो उससे भी अधिक तीव्र एवं पराक्रमशाली थे।

यहाँ '*दूषण*' और '*सगुण*' शब्दों में श्लेष है। 'दूषण' के अर्थ हैं 'दूषण नामक एक राक्षस' तथा 'दोष' और 'सगुण' के अर्थ हैं 'प्रत्यंचा से युक्त' तथा 'गुणसम्पन्न'। अस्तु, इन पंक्तियों का भावार्थ यह है कि स्वयं गुणों के साकार रूप होकर श्रीराम भला दोष को कैसे सहन करते—प्रत्यंचा से युक्त धनुष को धारण करने वाले राम दूषण (राक्षस) की दुष्टताओं को कैसे सह लेते?

तृतीय तथा चतुर्थ पंक्ति के 'खर', 'खर', 'प्र खर' में यमक है। प्रथम *खर* का अर्थ है खर नामक राक्षस, द्वितीय का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है; इसका अर्थ है तीक्ष्ण अथवा अमांगलिक और '*प्रखर*' का अर्थ है अत्यन्त तीव्र।

व्रण-भूषण पाकर विजय-श्री ... . व्यथा आप ही त्यक्त हुई।

"घावों के (रूप में) भूषण पाकर विजय-लक्ष्मी उन्हीं विनीत (श्री राम) में प्रकट हुई। सब काँटे से निकल जाने पर पीड़ा का तो स्वयमेव ही अन्त हो गया।

जय जयकार किया मुनियों ने .... कर व्रत पर्वोत्सव के ठाठ।

राक्षसराज के पराजित हो जाने पर ऋषि-मुनियों ने (प्रसन्न होकर) श्री राम का जय-जयकार किया। इस प्रकार वहाँ आर्य-सभ्यता प्रतिष्ठित (स्थापित) हो गयी और आर्य-धर्म को आश्वासन (दिलासा) प्राप्त हो गया। अब वहाँ किसी भी प्रकार की बाधा के बिना यज्ञ, जप, समाधि, तप, पूजा और पाठ (आदि धार्मिक कृत्य) होते हैं और मुनि-कन्याएं भली प्रकार व्रत तथा पर्वोत्सव मना कर प्रभु का यशोगान करती हैं।

'साकेत' के कवि ने राम-रावण युद्ध को एक सांस्कृतिक प्रश्न का रूप दे दिया है। यह एक राजा की दूसरे नरेश पर विजय अथवा उससे वैर-शुद्धिमात्र नहीं है, यह तो *आर्य संस्कृति* का *कौणप-संस्कृति* के साथ संघर्ष है। इस संघर्ष का अन्त

आर्य संस्कृति की—कवि की अपनी संस्कृति की विजय में होता है अतः इसका वर्णन करते-करते कवि का हृदय गर्व और उल्लास से फूला नहीं समाता।

"धन्य" भरत बोले गद्गद हो ···· ··· ··· सोने की जिसकी लङ्का।"

भरत ने भाव-विभोर होकर कहा, "धन्य ! विकार और विगुणता (गुणरहितता) का अन्त हो गया और इस प्रकार आज मेरी तपस्विनी माँ का पाप (राम का न्यायोचित अधिकार छीन कर उन्हें वनवास दिलाने का पापपूर्ण कार्य) भी पुण्य बन गया (उस पाप का भी यह अच्छा ही फल निकला)। तब भी (यह सन्तोष होने पर भी) मेरे हृदय में राक्षसों के वैर की नवीन शंका उत्पन्न हो गयी है, क्योंकि सोने की लंका वाला रावण तो अपने छल तथा बल के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है।"

"नाथ, बली हो कोई कितना ··· ··· ···· निष्फल होगा अपने आप।"

(रावण के छल-बल के कारण भरत के हृदय की शंका से अवगत होकर माण्डवी ने कहा) "हे नाथ, चाहे कोई कितना भी अधिक बलवान् क्यों न हो, यदि उसके भीतर (हृदय में) पाप है तो (यह निश्चित ही है कि) वह गज (हाथी) द्वारा भुक्त (भोगे अथवा खाए गए) कपित्थ (कैथ के फल) के समान अपने आप ही निष्फल (असफल अथवा व्यर्थ) हो जाएगा।"

कैथ का फल बिल्व-फल के समान होता है। हाथी वह फल पूरा ही निगल जाता है। मल-विसर्जन के समय वह फल उसी आकार में हाथी के पेट में से निकल आता है परन्तु उसमें तत्व नहीं रहता।

मन का पाप मनुष्य की स्वाभाविक शक्ति का भी अन्त कर देता है, उसके किसी भी प्रयत्न को सफल नहीं होने देता।

माण्डवी के इस कथन में एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सत्य निहित है।

"प्रिये, ठीक है, किन्तु हमें भी ··· ··· आज मुझको भय है।

भरत ने उत्तर दिया, "प्रिये, यह तो ठीक है परन्तु हमें भी तो अपने कर्त्तव्य का विचार करना है क्योंकि दुष्ट ईंधन जलते-जलते भी (दूसरों को हानि पहुँचाने वाले) अपने अंगार छिटका ही देता है। और फिर क्या हमें मरे हुए वैरी को हटाने का भी प्रबन्ध नहीं करना पड़ता ताकि उसका शव सड़ कर दुर्गन्ध न फैला सके? पाप को काटना (पाप का अन्त) पुण्य लाभ करने (पुण्य के संचय) से भी कहीं अधिक कठिन तथा दुष्कर कार्य है, ठीक उसी प्रकार जैसे काँटों से बचना फूल चुनने की भाँति आसान नहीं है। (एक बात और भी है) पूर्व पुण्य (पहले किये गये पुण्य कार्यों का

फल) नष्ट होने तक तो पापी को भी परास्त नहीं किया जा सकता और आज तो मैं सबसे अधिक भयभीत (चिन्तित) सरला-अबला आर्या (सीता) के ही लिए हूँ ।"

मायावी राक्षस—वह देखो !" .... कब शर जोड़ा, कब छोड़ा !

(यह कहते-कहते भरत ने आकाश में एक विचित्र प्राणी उड़ता देखा) उसे देखकर भरत के मुख से अकस्मात् निकल पड़ा, "वह देखो, कोई मायावी राक्षस (उड़ा जा रहा है) !" यह कहकर वीरशिरोमणि भरत ने तनिक चौंककर (सावधान होकर) उधर तीर चलाया। (उन्होंने इतनी शीघ्रता से उस ओर तीर छोड़ा कि) यह पता ही न चल सका कि कब बाण धनुष पर चढ़ाया गया और कब छोड़ा गया !

'रामचरितमानस' में भी—

देखा भरत बिसाल अति, निसिचर मन अनुमानि ।
*बिनु फर सायक मारेउ, चाप श्रवन लगि तानि ॥**

"हा लक्ष्मण ! हा सीते ! .... बोलो भाई तुम हो कौन ?"

(भरत का तीर लगते ही) ऊपर (आकाश में) अत्यधिक करुण स्वर में "हा लक्ष्मण ! हा सीते !" की ध्वनि गूँज गयी और उसी समय (भरत आदि के) सामने ही एक तारा-सा टूट कर गिर पड़ा। सब लोग "हरे ! हरे !" कह कर चौंक उठे। भरत के मुख से निकल पड़ा, "हाय ! मैंने किसे मार डाला !" यह कह कर उस घायल व्यक्ति के (बहते हुए) रुधिर पर ही भरत के आँसुओं की धार बहने लगी। (यह सब देख कर उनकी) दास-दासियाँ उस ओर दौड़ पड़ीं। वह (घायल) व्यक्ति मौन तथा मूर्छित-सा था। भरत उसका शरीर सहला कर पूछ रहे थे "बताओ भाई, तुम हो कौन ?"

'रामचरितमानस' में—

परेउ मुरुछि महि लागत सायक। सुमिरत राम राम रघुनायक ॥
सुनि प्रिय बचन भरत तब धाए। कपि समीप अति आतुर आए ॥
बिकल बिलोकि कीस उर लावा। जागत नहिं बहु भाँति जगावा ॥
*मुख मलीन मन भए दुखारी। कहत बचन भरि लोचन बारी ॥**

और, एक आधुनिक कवि के शब्दों में—

पर्वत उठाये हरहराते, आ रहे थे व्योम से ।
पहचान पाया भरत ने उनको न तम के तोम से ॥

---

* रामचरितमानस, लंकाकांड ।

तृण-बाण से मारा, गिरे, हा, 'राम राम' पुकार के।
सुन रव भरत व्याकुल उठे, निज देह-गेह बिसार के॥
डगमग चले हा दैव काम न राम के मैं आ सका।
जो कुछ किया दुख ही दिया, उनको न सुख पहुँचा सका॥
हे बन्धु, तुम हो कौन तुमको बार बार प्रणाम है।
धिक्कार मेरे बाण को जिसका घृणित यह काम है॥
तुम ज्ञात होते देखने से, राम-भक्त अनन्य हो।
अनुमान मेरा ठीक हो, तुम, राम-धन हो, धन्य हो॥
हे कपिवरेण्य क्षमा करो, अनजान के अपराध को।
*भू से उठो, पूरी करो, आकुल-हृदय की साध को॥**

कहा माण्डवी ने तब बढ़ कर ······ ······ ······ उस आहत जन ने पाये।

तब मांडवी ने आगे बढ़ कर कहा, "हे नाथ, इस अवसर पर उस संजीवनी नामक विशेष औषधि की परीक्षा क्यों न की जाए?" माण्डवी की यह बात सुन कर भरत "साधु-साधु" कह कर स्वयं ही जा कर वह बूटी ले आये। आश्चर्य की ही बात थी, उस औषधि से घायल व्यक्ति ने पुनः नव-जीवन सा प्राप्त कर लिया।

'साकेत' में संजीवनी पहले से ही यहाँ उपस्थित है अतः उसी से हनूमान् को नवजीवन-सा प्राप्त होता है। इसके विपरीत, 'रामचरितमानस' के भरत अपने आत्मिक बल— अपने अनन्य राम-प्रेम—के द्वारा ही यह कार्य सम्पन्न करते हैं—

जौं मोरें मन बच अरु काया।
प्रीति राम पद कमल अमाया॥
तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला।
जौं मो पर रघुपति अनुकूला॥
सुनत बचन उठि बैठ कपीसा।
कहि जय जयति कोसलाधीसा॥ †

आँखें खोल देखती थी वह ······ ······ ······ अब भी है वह दूर प्रभात।

(हनूमान् की) वह विशाल तथा हृष्ट-पुष्ट मूर्ति आँखें खोल कर देख रही थी। उस समय माण्डवी अपना अंचल फाड़ कर उसके घाव पर पट्टी बाँध रही थी।

---

* श्री श्यामनारायण पाण्डेय, तुमुल पृष्ठ ९९—१००।

† रामचरितमानस, लङ्का कांड।

(हनूमान् बोले) "अहा ! मैं कहाँ आ गया ? (मांडवी को सम्बोधित करके उन्होंने कहा) क्या वास्तव में तुम मेरी सीता माता हो ? ये (भरत) प्रभु (श्री राम) हैं और ये भाई लक्ष्मण (शत्रुघ्न) ने ही मुझे गोद में लिटा रखा है ?"

भरत ने कहा, "तात ! भरत, शत्रुघ्न, माण्डवी आदि हम सब उन्हीं (श्री रामचन्द्र जी) के सेवक हैं। तुम कौन हो और खर तथा दूषण आदि राक्षसों का अन्त करने वाले वे प्रभु इस समय कहाँ और कैसे हैं ?"

(हनूमान् ने भरत, माण्डवी और शत्रुघ्न को क्रमशः राम, सीता और लक्ष्मण समझा था। भरत के मुख से यह सुन कर कि वे लोग राम, सीता तथा लक्ष्मण न हो कर उन्हीं के अनुचर भरत, माण्डवी तथा शत्रुघ्न हैं हनूमान को उस कर्त्तव्य का ध्यान हो आया जिसके लिए वह चले थे) अतः वीर (हनूमान्) चौंक कर उठ खड़ा हुआ और उसने पूछा, "अभी कितनी रात शेष है ?" "लगभग आधी" यह उत्तर पाकर हनूमान् ने कहा, "तब भी कुशल ही है, अभी वह प्रभात दूर है (अभी सवेरा होने में विलम्ब है)।

यहाँ कथा-प्रवाह अत्यन्त वेग-युक्त हो गया है। वातावरण की त्वरा शब्दों द्वारा भली भाँति प्रकट है :

चौंक वीर उठ खड़ा हो गया ,
पूछा उसने—"कितनी रात ?"
"अर्द्ध प्राय" "कुशल है तब भी
अब भी है वह दूर प्रभात···

धन्य भाग्य, इस किंकर ने भी ··· ··· ··· योग सिद्धि से उड़ कैलास ।

हनूमान् बोले, "मेरे धन्य भाग्य हैं जो इस सेवक को भी उन (भरत) के दर्शन प्राप्त हो गये जिनकी चर्चा करते समय सदा ही स्वयं प्रभु के नेत्रों में भी आँसू आ जाते थे। तुम मेरे लिए इस प्रकार बेचैन न हो, मेरे पार्श्व का वह घाव अब कहाँ है ? (वह तो अब ठीक हो गया है।) अम्बा (माता) के उस अञ्चल-पट में मेरा शैशव पुलकित हो उठा है। इस आंजनेय (अंजना के पुत्र हनूमान्) को तो स्वामी कार्त्तिकेय से भी अधिक पुण्यात्मा समझो जिसके लिए जहाँ देखो (वहाँ) माताएँ ही माताएं हैं। तथापि इस समय विलम्ब करने में हानि होने का भय है अतः सुनो, मैं पवन पुत्र तथा प्रभु का सेवक हनूमान् हूँ और इस समय संजीवनी बूटी लेने के लिए, योग बल से उड़ कर, कैलाश की ओर जा रहा हूँ।"

'धन्य भाग्य, इस किंकर ने भी उनके शुभ दर्शन पाये, जिनकी चर्चा कर सदैव ही प्रभु के भी आँसू आये' : 'तुमुल' के हनूमान् ने यही भाव इस प्रकार अभिव्यक्त किये हैं :

……है आपकी थी बहुमुखी ॥
जैसे हृदय के सरल हैं, वैसे पराक्रम के धनी ।
सुनता जिसे था देखता, मति, भक्ति के रस में सनी ॥
क्यों राम भजते आप ही को आज ज्ञात हुआ मुझे ।
*प्रभु-हीन भी क्या है निरापद राज ज्ञात हुआ मुझे ॥**

'आंजनेय को अधिक कृती उन कार्तिकेय से भी लेखो, माताएँ ही माताएँ हैं जिसके लिये जहाँ देखो' : स्वामी कार्तिकेय की छः माताएँ थीं। इसीलिए उन्हें 'षाण्मातुर' भी कहा जाता है। हनूमान् के प्रस्तुत कथन का आशय यह है कि कार्तिकेय को तो केवल ६ माताएं प्राप्त थीं परन्तु मेरे लिए तो समस्त नारी-जाति ही माता तुल्य है अतः 'आंजनेय' (मैं) 'कार्तिकेय' से अधिक पुण्यात्मा है।

प्रस्तुत है वह यहीं, उसी से …… हुआ तुम्हारा त्राण ।

(भरत ने कहा) "बन्धुवर, संजीवनी तो तुमें यहीं मिल जावेगी। उसी की सहायता से तो हमने तुम्हारी रक्षा की है।"

"आहा ! मेरे साथ बचाये …… …… हमें पतित जन कहते हैं।"

(भरत की यह बात सुन कर हनूमान् को अपार हर्ष हुआ। वह बोले) "आहा ! तुमने तो (इस प्रकार) मेरे साथ ही लक्ष्मण के भी प्राण बचा लिए (संजीवनी मिल गयी तो अब लक्ष्मण के प्राणों की रक्षा में कोई सन्देह नहीं रहा) अतः अब तुम संक्षेप में खर-दूषण आदि राक्षसों का वध करने वाले प्रभु का कुछ हाल सुन लो। तुम्हें दण्डक वन में रहने वाले प्रभु (श्री राम) का वह पराक्रम तो विदित ही है (जिस प्रकार उन्होंने खर-दूषण को मारा)।

(राक्षसों का अन्त होने के कारण) हलकी होकर वन की हरी-हरी धरती राक्षसों के रुधिर से लाल हो गयी। उधर शूर्पणखा ने लंका में जा कर, रोते हुए, रावण से कहा, "देखो, दो तपस्वी मनुष्यों ने मेरी (नाक-कान काट कर) यह क्या दशा की है। उनके साथ एक इतनी सुन्दर रमणी (स्त्री) भी है जिसके सम्मुख (कामदेव की पत्नी) रति तो सेविका मात्र है। धनुष-बाण धारण करने वाले वे दोनों मनुष्य भरत खण्ड के दण्डक वन में रहते हैं।

* श्री श्यामनारायण पांडेय, तुमुल, पृष्ठ १००—१।

वे स्वयं पवित्र—नहीं नहीं पवित्र बनकर (पवित्र बनने का ढोंग रचकर) हमें नीच कहते (समझते) हैं (शूर्पणखा के मुख से अनायास निकलता है—वे स्वयं पवित्र (हैं)—परन्तु अपना यह वाक्य पूरा न करके तथा स्वाभिमान से प्रेरित होकर वह बात बदल कर कहती है—'नहीं नहीं, पवित्र बनने का ढोंग रचकर वे हमें नीच समझते हैं')।

शूर्पणखा की बातें सुन कर ··· ··· ··· छोड़े उधर छली ने प्राण।

"शूर्पणखा की बातें सुनकर अभिमानी रावण क्रुद्ध हो गया और उस दुष्ट ने शूर्पणखा के साथ किये गये दुर्व्यवहार का बदला लेने के बहाने सीता को हर लाने का निश्चय किया। (अपनी उस योजना में सफल होने के लिए) उसने पहले तो मारीच नामक राक्षस के साथ कुछ कपट-मन्त्रणा की (छल करने की एक योजना बनायी) और फिर वह उसे साथ लेकर साधु का वेश बनाकर दण्डक वन में आ पहुँचा। वहाँ पहुँचकर मायावी मारीच ने सोने के हरिण का रूप धारण कर लिया और सीता जी के सामने जाकर वह नीच उन्हें लुभाने लगा। सब रहस्य समझकर प्रभु ने हँसकर (सीता से) कहा, "सभी सुन्दर चमड़े (सुन्दर शरीर) पर मरते (मोहित होते) हैं। अस्तु, प्रिये इस हरिण को मार कर हम अभी तुम्हारी इच्छा पूर्ण करते हैं। (जाने से पूर्व लक्ष्मण को सावधान करते हुए उन्होंने कहा) "लक्ष्मण, ध्यान से रहना।" यह कह कर और धनुष पर बाण चढ़ा कर प्रभु खिलवाड़-सा करते हुए उस हरिण के पीछे चले गये। बाल-रवि के समान उस तरुण हरिण की किरणों जैसी चाल और (आकर्षक) ग्रीवाभंग (गर्दन मोड़-मोड़ कर देखने की क्रिया) देखकर दया परिपूर्ण होकर नरहरि राम अत्यन्त क्रीड़ा पूर्वक बहुत दूर तक उसके साथ चल गये। (उसके सौन्दर्य तथा ललित ग्रीवा भंग के कारण प्रभु ने अत्यधिक करुणावश बहुत समय तक उस पर अपना बाण न छोड़ा और उसकी वह लीला देखते हुए उसके पीछे-पीछे चलते गये) अन्त में उसका छल समझकर उन्होंने जैसे ही उस पर बाण छोड़ा तो बाण लगते ही (राम की आवाज में) 'हा लक्ष्मण! हा सीते!' कहकर उस कपटी ने अपने प्राण त्याग दिये।

सब सुचर्म पर मरते हैं: श्याम-वर्ण पति द्वारा अपनी पत्नी से कहे गये इन शब्दों में एक तीक्ष्ण परिहास निहित है। राम के शब्दों में कवि ने इस प्रकार *रूप-लिप्सा* पर भी एक तीव्र प्रहार कर दिया है।

अरुण रूप उस तरुण " उसके संग : बार-बार पीछे मुड़कर महाराज दुष्यन्त की ओर देखते हुए तथा लगातार आगे भागते हुए हरिण का वर्णन करते हुए कवि-कुल-गुरु कालिदास ने लिखा है :

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥

(बार-बार पीछे मुड़कर इस रथ को एक टक देखते हुए सुन्दर शरीर वाला हरिण बाण लगने के डर से अपने पिछले आधे शरीर को सिकोड़ कर आगे के भाग से मिलाता हुआ कैसा दौड़ा चला जा रहा है ! थकावट के कारण इसके खुले हुए मुँह से आधी चबाई हुई कुशा मार्ग में गिरती चली जा रही है और देखो ! यह इतनी लम्बी छलाँगें भर रहा है कि इसके पाँव पृथ्वी पर पड़ ही नहीं रहे हैं। ऐसा लगता है मानो यह आकाश में उड़ा जा रहा हो।)*

सुनकर उसकी कातरोक्ति वह ··· ··· ··· कहाँ न कब किसने भोगा ?

(मारीच के) वे विकलता से भरे शब्द सुनकर सीता चौंक कर घबरा गयीं। वह यह सोचकर बहुत अधिक डर गयीं कि न जाने प्रभु पर क्या बीती (प्रभु की क्या दशा हुई)। उन्होंने लक्ष्मण से कहा, "शुभलक्षण लक्ष्मण ! यह कैसी पुकार (सुनाई दी) है ! जाओ, तुरन्त जाकर देखो कि क्या बात है, हाय ! यह स्वर तो बिल्कुल आर्यपुत्र का सा ही जान पड़ता है !"

लक्ष्मण ने सीता को समझाकर कहा, 'भाभी, तुम अपने मन में किसी प्रकार का भय (चिन्ता) न करो। भला तीनों लोकों में किसमें इतनी शक्ति है जो आर्य को थोड़ी भी हानि पहुँचा सके ? तुम कहती हो 'मेरा दायाँ नेत्र फड़क (कर किसी अशुभ बात की सूचना दे) रहा है और आशंका तथा डर से मेरा आतुर हृदय धड़क रहा है' फिर भी (तुम्हारी यह दशा होने पर भी) मुझे अपने प्रभु के प्रभाव (बल तथा सामर्थ्य) पर इतना अपार विश्वास है कि कँकरी अथवा आह की तो बात ही क्या, मेरा तो इस समय केश (बाल) तक भी नहीं हिल रहा (मेरे हृदय में तो लेशमात्र भी भय अथवा आशंका नहीं है)।'

लक्ष्मण की यह बात सुनकर सीता ने क्रोध में भरकर कहा, 'परन्तु

* महाकवि कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अङ्क १, श्लोक ७ ।

तुम्हारे जैसे क्रूर प्राण मैं कहाँ से लाऊँ और तुम्हारे समान पत्थर जैसा कठोर तथा अनुभूतिरहित हृदय मैं कहाँ से प्राप्त करूँ ? (यदि तुम नहीं जाना चाहते तो) तुम घर बैठो (यहीं कुटिया में रहो) मैं जाती हूँ ताकि मैं उस व्यक्ति को कुछ सहायता दे सकूँ जो इस प्रकार मुझे पुकार रहा है। बोलो, क्या मैं क्षत्रिया नहीं हूँ ? (मैं क्षत्रिया हूँ अतः अपने पति की सहायता के लिए स्वयं भी जा सकती हूँ।) परन्तु तुम कैसे क्षत्रिय हो जो सर्वथा निश्चेष्ट होकर भी इस प्रकार अपने भाई से प्रेम करने का (मिथ्या) दावा कर रहे हो !

(यह सुनकर लक्ष्मण ने अत्यन्त दुखी होकर कहा) "हाय आर्ये, तुम इस प्रकार मुझे अपने प्रिय भाई की ही इच्छा (अथवा हित) के प्रतिकूल कार्य करने के लिए कह (विवश कर) रही हो। यदि मैं तुम्हारी इच्छानुसार कार्य करने से इन्कार करता हूँ तो तुम गृहिणी की भाँति (घर में) नहीं रहोगी (स्वयं घर से बाहर जाने को तैयार हो) ! हे देवी, तुम इस बात को क्या समझ सकोगी कि मैं कैसा क्षत्रिय हूँ (मेरे क्षत्रियत्व की परख तुम नहीं कर सकतीं क्योंकि तुम्हारे सामने तो मैं) सदा ही सेवक बना रहा और सर्वदा (तुम्हारे) इन चरणों का सेवक ही बना रहूँगा। (अपने भाई के लिए तो) मैं पिता के भी विरुद्ध उठ खड़ा हुआ (फिर और किसी की तो बात ही क्या है) परन्तु तुम आर्य-पत्नी (श्री राम की पत्नी) हो केवल इसीलिए तुम्हें अबला और पूज्या समझकर क्षमा करता हूँ। अबला (बलहीन) वधुओं (स्त्रियों) का प्रेम केवल अन्धा ही नहीं, बहरा भी होता है (वे अपने हित-अनहित की परख स्वयं तो कर ही नहीं सकतीं, दूसरों के बताने पर भी इस ओर ध्यान नहीं देतीं)। अस्तु, कुछ भी हो, मैं जाता हूँ परन्तु तुम (किसी दशा में भी) इस कुटी से बाहर न निकलना और इस रेखा के भीतर ही रहना। न जाने अब क्या होने वाला है परन्तु मेरा इसमें कुछ भी वश नहीं; कर्मों (भाग्य) का फल भला किसे और कब नहीं भोगना पड़ा है ? (सर्वत्र सबको ही भोगना पड़ता है।)"

'अध्यात्म रामायण' की सीता दुरात्मा मारीच का वह शब्द सुन कर अत्यन्त भय और दुःख से व्याकुल होकर लक्ष्मण से कहती हैं, "लक्ष्मण ! तुम बहुत शीघ्र जाओ, तुम्हारे भाई राक्षसों से कष्ट पा रहे हैं। क्या तुम अपने भाई का 'हा !

जी का नहीं है, किसी राक्षस ने मरते-मरते ये वचन कहे हैं। जो राम जी क्रोधित होने पर—एक क्षण में सम्पूर्ण त्रिलोकी को भी नष्ट कर सकते हैं वे देववन्दित प्रभु भला ऐसा दीन वचन कैसे बोल सकते हैं!" सीता ने नेत्रों में जल भर कर क्रोध-पूर्वक लक्ष्मण जी की ओर देखते हुए कहा—"रे लक्ष्मण! क्या तू अपने भाई को विपत्ति में पड़ा देखना चाहता है? अरे दुर्बुद्धे, मालूम होता है, तुझे राम का नाश चाहने वाले भरत ने ही भेजा है। क्या तू राम के नष्ट हो जाने पर मुझे ले जाने के लिए ही आया है? किन्तु तू मुझे नहीं पावेगा। देख, मैं अभी प्राण त्याग किये देती हूँ। राम तुझे इस प्रकार पत्नी-हरण के लिए उद्यत नहीं जानते हैं। राम के अतिरिक्त मैं भरत या तुझे किसी को भी नहीं छू सकती।" ऐसा कह कर वे अपनी भुजाओं से छाती पीटती हुई रोने लगीं। उनके ऐसे कठोर शब्द सुन लक्ष्मण जी ने अति दुःखित हो अपने दोनों कान मूँद लिये और कहा, "हे चण्डि! तुम्हें धिक्कार है, तुम मुझे ऐसी बातें कह रही हो! इससे तुम नष्ट हो जाओगी।" यह कह कर लक्ष्मण जी सीता को वन-देवियों को सौंपकर दुःख से अत्यन्त खिन्न हो धीरे-धीरे राम के पास चले।"*

'रामचरितमानस' में —

आरत गिरा सुनी जब सीता। कह लछिमन सन परम सभीता॥
जाहु बेगि संकट अति भ्राता। लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता॥
भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहुँ संकट परइ कि सोई॥
मरम बचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥
बन दिसि देव सौंपि सब काहू। चले जहाँ रावन ससि राहू॥†

'साकेत' की सीता वह *कातरोक्ति* सुनकर सर्व प्रथम *चौंकती* और फिर *चंचल* होती हैं। वह यह निश्चय नहीं कर पातीं कि प्रभु को किस संकट का सामना करना पड़ रहा है। इसी भय से वह *महा भीता* हो उठती हैं और अपना यह भय लक्ष्मण के सम्मुख प्रकट कर देती हैं। अत्यधिक भय तथा चिन्ता की उस दशा में भी लक्ष्मण के प्रति 'साकेत' की सीता का सम्बोधन—'*शुभ लक्षण*'—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सीता के हृदय में छिपा लक्ष्मण के प्रति अपार वात्सल्य और अपरिमित विश्वास इस एक ही शब्द द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

लक्ष्मण उन्हें *समझाते हैं*—*पद-सेवी आर्या* को समझाता है। यह परिस्थिति का अनुरोध है, कर्त्तव्य का तकाज़ा है। सीता कहती हैं कि उनका दायाँ नेत्र

---

* अध्यात्म रामायण, अरण्यकांड, सर्ग ७, श्लोक २७ से ३७।

† रामचरितमानस, अरण्यकांड।

फड़क रहा है परन्तु राम पर *असीम विश्वास* होने के कारण लक्ष्मण का तो *केश तक* नहीं हिल रहा। यहाँ सीता को अपनी और लक्ष्मण की अनुभूतियों के इस *अन्तर* को लक्ष्य करके यह कहने का अवसर मिल जाता है :

किन्तु तुम्हारे ऐसे निर्मम
प्राण कहां से मैं लाऊँ ?
और कहाँ तुम सा जड़-निर्दय
यह पाषाण हृदय पाऊँ ?

निस्सन्देह, 'साकेत' की सीता के इन शब्दों में लक्ष्मण के प्रति अकल्पनीय कठोरता है परन्तु यह सब होने पर भी वह आधार-ग्रन्थों की सीता की भाँति कुछ '*मरम वचन*' कह कर लक्ष्मण अथवा भरत के चरित्र पर किसी प्रकार का अनुचित लांछन नहीं लगातीं। वह तो केवल उनके क्षत्रियत्व को ही चुनौती देती हैं ? 'साकेत' की सीता स्वयं भी तो क्षत्रियाणी हैं। तभी तो वह आत्म-हत्या करने के लिये प्रस्तुत न होकर स्वयं राम की रक्षा के लिए जाने को ही तत्पर होती हैं :

घर बैठो तुम, मैं जाऊँ

में क्षत्राणी सीता का बल एवं आत्म-विश्वास भड़क उठता है।

आधार ग्रन्थों के कुत्सित लांछनों से सर्वथा मुक्त होकर भी सीता का उपर्युक्त कथन वीराग्रणी लक्ष्मण के लिए असह्य प्रहार ही बन जाता है। उनका *क्षत्रियत्व* उद्बुद्ध हो जाता है और उसके सम्मुख *अबला* सीता बहुत हलकी पड़ जाती हैं। यहाँ हमारा कवि लक्ष्मण के स्वाभाविक आत्माभिमान और प्रसंगानुकूल विनय-शीलता की एक साथ ही रक्षा करने में सफल हो सका है। पिता के विरुद्ध भी उठ खड़े होने वाले लक्ष्मण इस समय क्रुद्ध होकर भी *आर्य-भार्या* के प्रति कोई '*अरुन्तुद वाक्य*' नहीं कहते। वह तो *अबला* तथा *आर्या* होने के कारण उन्हें *क्षमा* ही कर देते हैं। अतः इस अवसर पर 'साकेत' के लक्ष्मण अपूर्व आत्म-संयम का परिचय देते हैं।

विवश होकर लक्ष्मण सीता को कुटी से बाहर न जाने और (लक्ष्मण द्वारा खींची गयी) रेखा के भीतर रहने के लिए कह कर चले जाते हैं। भाग्य को सदैव चुनौती देने वाले लक्ष्मण के मुख से भी इस समय तो यही निकलता है :

'मेरा कुछ वश नहीं, कर्म-फल कहाँ न कब किसने भोगा ?

'साकेत' की सीता तथा लक्ष्मण प्रस्तुत प्रसंग में आधार-ग्रन्थों से दूर और 'मेघनाद वध' के निकट दिखाई देते हैं। 'मेघनाद वध' में क्रुद्ध सीता लक्ष्मण से कहती हैं :

'अति ही दयावती सुमित्रा सास मेरी है ;
कौन कहता है क्रूर, गर्भ में उन्होंने है
रक्खा तुझे ? तेरा हिया पत्थर का है बना ।
जान पड़ता है, जन्म देके घोर वन में
बाघिन ने पाला तुझे दुर्मति रे ! भीरु रे ।
वीर-कुल-ग्लानि रे ! स्वयं मैं अभी जाऊँगी,
देखूँगी कि कौन, करुणा से, दूर, वन में ।
मुझको पुकारता है ?

और लक्ष्मण का उत्तर है :

'तुम्हें माता-सम मानता हूँ मैथिली !
सहता इसी से यह व्यर्थ भर्त्सना हूँ मैं ।
जाता हूँ अभी मैं, तुम सावधान रहना ;
कौन जानें, क्या हो आज, दोष नहीं मेरा, मैं
*छोड़ता हूँ तुमको तुम्हारे ही निदेश से ।'**

कसे निषंग पीठ पर प्रस्तुत ··· ···· ···· भय से अबला रोती को ।"

पीठ पर तैयार (बाणों से युक्त) तरकश बाँधकर तथा हाथ में धनुष लेकर राम के छोटे भाई लक्ष्मण उसी ओर चले जिधर से वह दुःख भरा शब्द सुनाई दिया था । इधर, रावण सूनी कुटिया में से वैदेही को उसी प्रकार हर कर ले गया जैसे बाज़ कबूतरी को (बलपूर्वक घोंसले में से) उठाकर ले जाता है । अबला सीता भयभीत होकर रो रही थीं !"

कह सशोक "हा !" ···· ··· ··· तुमसे तो ऊर्मिला सनाथ ।

(हनूमान् के मुख से सीता-हरण का समाचार सुनकर भरत ने शोक पूर्वक) "हाय !" शब्द का उच्चारण किया और फिर वे दोनों भाई क्रोध में भरकर अपने हाथ पटकने लगे ।

माण्डवी ने रोकर कहा, "जीजी (सीता) ! तुम्हारी अपेक्षा तो ऊर्मिला ही अधिक सनाथ है !"

इस प्रकार 'साकेत' का कवि फिर सबका ध्यान ऊर्मिला की ओर आकृष्ट कर देता है ।

आगे सुनने को आतुर हो ···· ··· ···· गरज-गरज करता था वृष्टि ।

सबने आगे का वृत्तान्त सुनने के लिए आतुर होने के कारण यह

* माईकेल मधुसूदनदत्त, मेघनाद वध, (अनुवादक श्री 'मधुप') सर्ग ४, पृष्ठ ११० ।

(असह्य) चोट भी (धैर्यपूर्वक) सहन कर ली। हनूमान् ने भी धैर्य धारण करके जल्दी से ही बाकी सब हाल सुनाया।

"सीता घबरा कर बेहोश हो जाने के कारण चिल्ला भी न सकीं परन्तु अपनी लक्ष्मी (शोभा, सम्पत्ति) (सीता) के इस प्रकार छिन जाने के कारण वन भाँय-भाँय करने लगा। वृद्ध परन्तु वीर जटायु ने दुष्ट रावण के सिर पर उड़कर उस पर झपट्टा मारा परन्तु उस पापी ने उसका पंख काटकर केतु की भाँति गिरा दिया। इधर जटायु स्वर्ग में पहुँचा उधर रावण लंका में। विपत्ति अथवा आशंका को आते (उत्पन्न होते) भला देर ही कितनी लगती है? (तनिक भी समय नहीं लगता।) दोनों (राम-लक्ष्मण) ने लौट कर सूने (खाली) पिंजरे जैसे उस आश्रम को देखा। वहाँ देवी सीता के स्थान पर उनका भ्रम मात्र ही शेष रह गया था। (राम ने दुःखी होकर कहा) 'प्रिये, प्रिये, उत्तर दो, केवल मैं ही तुम्हें इस प्रकार लगातार नहीं पुकार रहा हूँ, वन के ये सूने कुञ्ज, पर्वत, गुफाएं तथा गढ़े भी (तुम्हारे वियोग में) मेरे साथ ही तुम्हें बुला रहे हैं।'

"लक्ष्मण जी ने और स्वयं मैंने भी (अनेक बार) यह देखा कि जिस समय सब लोग सो जाते थे उस समय एक बादल (घनश्याम राम) उठकर तथा 'सीते! सीते!' की पुकार (गर्जना) कर-करके बरसा करता था (आँसू बहाया करता था)।

'साकेत' के राम, आधार-ग्रन्थों के राम की भाँति, "*महा विरही अति कामी*" बन कर सीता की खोज नहीं करते, वे तो यथा सम्भव अपने स्वाभाविक शोक को भी छोटे भाई लक्ष्मण तथा अन्य सब लोगों से छिपाते ही हैं—जब सब सो जाते हैं उसी समय एक घन 'सीते! सीते!' कह (गरज) कर बरसा करता है।

उनके कुसुमाभरण मार्ग में .... चले खोज करते वे खिन्न।

"मार्ग में सीता जी के पुष्पाभूषण (फूलों के बने गहने) बिखरे पड़े थे। (श्री राम) उन्हीं को चुनते (उठाते) हुए तथा विलाप करते हुए अत्यन्त दुःखी होकर (उन चिन्हों के सहारे) उनकी (सीता की) खोज करने लगे।

वनवासिनी सीता के आभूषण फूलों के ही हैं।

'जिनके अलंकार पाये हैं .... ढँक न सकेगा, दुखी न हो।'

"(लक्ष्मण राम से कहते थे कि) 'आर्य, तुम्हें वह सीता भी अवश्य प्राप्त

* रामचरितमानस, अरण्यकांड।

होंगी जिनके गहने मिल गये हैं। सोचो तो सही, क्या साधु भरत के भी साधन (तपस्या) विफल हो जावेंगे ? क्या रश्मि राशि (किरणों का समूह) बहुत बड़े ग्रहण के अन्धकार में भी विलीन हो सकती है ? (भाव यह है कि नहीं हो सकती।) हे आर्य, मैं अपनी आर्या को यम से भी उगलवा लूँगा (यदि मृत्यु ने उन्हें निकल लिया होगा तो भी मैं उन्हें पुनः जीवित करा लूँगा।) यह तो बताओ कि संसार के पातिव्रत की रेखा (मर्यादा अथवा आदर्श) को कौन मिटा सकता है ? तुम दुःखी न हो, यह आवरण (अथवा आकाश भी) उस अग्नि-शिखा (आग की लपट) को ढक (छिपा) न सकेगा (आर्या अधिक समय तक हमारे नेत्रों से दूर नहीं रहेंगी)।'

'काल फणी की मणि पर जिसने ···· ··· ··· बोले लक्ष्मण से रघुनाथ।

"रघुनाथ (श्री राम) ने लक्ष्मण से कहा, 'मुझे (अपनी अथवा सीता की कोई चिन्ता नहीं है अपितु) उसी अभागे का दुःख है जिसने काल (मृत्यु) रूपी सर्प की मणि (सीता) पर अपना हाथ फैलाया है।'

कर जटायु-संस्कार बीच में ···· ··· ··· शबरी का आतिथ्य लिया।

"(मार्ग में) जटायु का संस्कार (अन्त्येष्टि) करके राम तथा लक्ष्मण अपने पथ पर आगे बढ़े। आगे चलने पर एक कबन्ध नामक राक्षस ने अजगर की भाँति उन्हें जकड़ लिया। उन्होंने वैरी की भुजायें काट कर उसका अन्त कर दिया परन्तु (मर जाने पर) उसका दाह-संस्कार इस प्रकार किया मानो वह उनका कोई सम्बन्धी ही हो(मृत्यु से पूर्व शत्रु अवश्य शत्रु है परन्तु मर जाने पर उसके साथ भी समुचित व्यवहार करना शिष्टाचार तथा सभ्यता का अनुरोध है)। उसके उपरान्त सदा (भक्ति) भाव के भूखे प्रभु ने शवरी का आतिथ्य स्वीकार किया।

यों ही चल कर पम्पासर का ···· ··· ··· उन पद्मिनी पुनीता को।

"इसी प्रकार आगे चल कर प्रभु पम्पासर पहुँचे और (पम्पासर द्वारा अर्पित) पत्र-पुष्प स्वीकृत किये अथवा मानों परम्पासर के रूप में उन्होंने अपनी ही कृश (वियोग के कारण दुबली) और करुण (दयापूर्ण) मूर्ति का दर्शन करने के लिए उचित दर्पण ही प्राप्त कर लिया। उससे आगे ऋष्यमूक पर्वत पर हम वानर रहते थे। स्वभाव में मनुष्यों से भिन्न होकर भी हम देखने में उनके समान ही थे। हमारे स्वामी का नाम था सुग्रीव। उसके बड़े भाई बलवान् और कामी बाली ने उसके धन तथा उसकी स्त्री का हरण कर लिया था। इसीलिए सुग्रीव मानसिक क्लेशों से संतप्त था। इस सेवक ने (मैंने)

पर्वत (ऋष्यमूक पर्वत) से नीचे उतर कर प्रभु की दया-दृष्टि प्राप्त की। उन्होंने (प्रभु ने) अपनी स्वाभाविक सहानुभूति के कारण सुग्रीव के प्रति भी प्रेम (तथा सहानुभूति) ही प्रदर्शित की। जिस समय रावण रूपी बगुला मछली की भाँति तड़पती सीता को लिए जा रहा था उस समय हमने स्वयं उन पवित्र पद्मिनी को तड़पते देखा—सुना था।

यहाँ रावण को *बगुले* के समान कहा गया है और सीता को पहले *शफरी* और फिर *पद्मिनी* के समान। बगुला प्रायः आँख मूँद कर जल के तट पर बैठा रहता है। मछलियाँ निर्भय होकर उसके पास आ जाती हैं और उसके चंगुल में फँस जाती हैं। रावण भी अपने वास्तविक रूप में सीता के सामने उपस्थित नहीं हुआ था, साधु का वेश धारण करके भीख माँगने के लिए ही गया था। तभी तो सीता उस *बगुला भक्त* के धोखे में आ गयीं।

जल से अलग होकर शफरी का जीवन असम्भव हो जाता है। राम से भिन्न सीता की दशा ठीक वैसी ही हो रही है।

पद्मिनी (कमलिनी) जल (तथा पंक) में रह कर भी उससे अप्रभावित ही रहती है, ठीक इसी प्रकार सीता रावण के चंगुल में फँस कर भी उससे अप्रभावित ही रहीं। '*पद्मिनी पुनीता*' द्वारा यही भाव प्रकट किया गया है।

हिम-सम अश्रु और मोती का ···· ···· ···· हुआ वहाँ प्रभु का उपहार।

"उन्होंने (सीता ने) हमें देख कर झटके से अपने बरफ जैसे आँसुओं और मोतियों के हार दो बार उछाल (फेंक) कर हमें अपना परिचय दिया। उनके आँसुओं की बूँदें तो किरणें यह सोच कर पिरो ले गयीं कि वे आभूषण स्वर्ग के लिए ही उपयुक्त हैं परन्तु सीता का स्मृति-चिन्ह वह टूटा हुआ (मोतियों का) हार यहाँ (पृथ्वी पर) प्रभु का उपहार बना (प्रभु को उपहार रूप में प्राप्त हुआ)।

'साकेत' के एक संस्करण में 'किरणें स्वर्भरण विचार' पाठ है। 'स्वर्भरण' के स्थान पर 'स्वर्गाभरण' शुद्ध पाठ है।

कह सुकण्ठ को बन्धु उन्होंने ···· ···· ···· वहाँ एक ही उनका बाण।

"श्री राम ने सुकंठ (सुग्रीव) को अपना बन्धु घोषित करके तथा उसे प्रेमपूर्वक हृदय से लगाकर कृतकृत्य किया। दूसरी ओर (उसके भाई) बाली को बर्बर (जंगली अथवा असभ्य) पशु (के समान) ठहरा कर उन्होंने एक ही तीर से उसका शिकार (अन्त) किया। प्रभु के अलौकिक बल का प्रमाण तो हमें

इससे पहले ही मिल चुका था जब उनके एक ही तीर ने ताड़ के सात वृक्षों को एक साथ बींध दिया था।

वर्षा-काल बिताया प्रभु ने ··· ··· ··· शरच्चन्द्र का उदय अनूप।

प्रभु (श्री राम) ने (कैलाश पर रहने वाले) शिव की भाँति उसी पर्वत (ऋष्यमूक पर्वत) पर वर्षा-ऋतु बितायी। (वर्षा काल के उपरान्त) सती ('सती' का अर्थ पार्वती भी है। राम शंकर-रूप हैं, सीता पार्वती के समान) सीता (पतिव्रता सीता) के (निर्मल) मुख के समान शरद् ऋतु के अनुपम चन्द्रमा का उदय हुआ।

वर्षा-ऋतु बीत जाने पर आकाश स्वच्छ हो जाता है और चन्द्रमा के प्रकाश में भी एक अद्भुत शीतलता एवं निर्मलता आ जाती है। निर्मलता, पवित्रता तथा शीतलता के इसी प्रतीक—*शरच्चन्द्र* के साथ सीता के मुख की तुलना की गयी है।

भूला पाकर किष्किन्धा का ··· ··· ··· आवेगी किसको न दया।

किष्किन्धा का राज्य और अपनी पत्नी (पुनः) प्राप्त करके सुग्रीव उन्हीं में लीन हो गया (राम के प्रति अपना कर्त्तव्य भूल गया)। जब स्वयं ब्रह्म ही मायामय है तो भला मनुष्य का साधारण जीवात्मा तो उसके सम्मुख महत्व ही क्या रखता है (उसके लिए तो माया का दास होना अनिवार्य हो है)? मित्र का दुःख भूल कर स्वयं शत्रु की भाँति सुखोपयोग करने वाले व्यक्ति को मित्र कैसे माना जा सकता है? अतः सुग्रीव पर क्रुद्ध होकर पवित्र-चरित्र तथा धनुष धारण करने वाले लक्ष्मण (सुग्रीव के) नगर (राजधानी) में पहुँचे (वनवास की अवधि में स्वयं राम नगर में प्रवेश नहीं कर सकते थे)। तब अपनी पत्नी तारा को आगे करके नत (आधीनता स्वीकार करने वाला) वानरपति (सुग्रीव) शरण में आया। दीन अबला (तारा) को सामने देख कर भला किसे दया न आती?

तारा को आगे करके तब नत वानरपति शरण गया : 'अध्यात्म रामायण' में सर्वप्रथम सुग्रीव लक्ष्मण का क्रोध शान्त करने का भार हनूमान् पर डालते हैं, फिर वह तारा से कहते हैं, "हे अनघे! तुम आगे जाकर अपनी मधुरवाणी से वीर-वर लक्ष्मण को शान्त करो और जब वे शान्त हो जायँ तब उन्हें अन्तःपुर में लाकर मुझसे मिलाओ।"···सम्पूर्ण आभूषणों से विभूषिता, मद के कारण कुछ अरुण-वर्ण नेत्रों वाली मधुरभाषिणी तारा लक्ष्मण जी को प्रणाम करके मुसकराती हुई बोली—"आइये देवर! आपका शुभ हो! आप बड़े ही साधु-स्वभाव और भक्त-वत्सल हैं। आपने अपने भक्त और अनुगत वानरराज सुग्रीव पर किस कारण

इतना कोप किया ? " चलिये, अन्तःपुर में पधारिये, वहाँ सुग्रीव अपने पुत्र, स्त्री और सुहृद्गण से घिरा हुआ बैठा है। उससे मिल कर उसे अभयदान दीजिये और अपने साथ ही श्री रामचन्द्रजी के पास ले जाइए।" तारा का कथन सुन कर लक्ष्मण जी का क्रोध ठंडा पड़ गया और वे अन्तःपुर में गये। वहाँ सुग्रीव अपनी भार्या रुमा को गले लगाये पलंग पर पड़े थे। लक्ष्मण जी को देखते ही वे अत्यन्त भयभीत के समान उछल कर खड़े हो गये। उनके नेत्र मद से विह्वल हो रहे थे।❀

'रामचरितमानस' में भय से अत्यन्त व्याकुल होकर सुग्रीव हनुमान् जी से कहते हैं :—

सुनु हनुमन्त संग लै तारा।
करि बिनती समुझाउ कुमारा॥

और—

तारा सहित जाइ हनुमाना।
चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना॥†

'साकेत' के सुग्रीव न तो तारा को भेज कर उसके द्वारा लक्ष्मण को बहलाने-फुसलाने का प्रयत्न करते हैं और न ही सर्वप्रथम स्वयं न जाकर अंगद, हनुमान् और तारा को लक्ष्मण का क्रोध शान्त करने के लिए भेजने की धृष्टता करते हैं यहाँ तो—

तारा को आगे करके तब नत वानरपति शरण गया।

इन ९ शब्दों में ही 'साकेत' के कवि ने आधार ग्रंथों के इस प्रसंग को अत्यन्त भव्य रूप देकर प्रस्तुत कर दिया है और आधार ग्रन्थों के सुग्रीव के चरित्र को बहुत उच्च स्तर पर ला बैठाया है। सुग्रीव अपने मित्र का—उपकारी का—अपराधी है। वह अपने अपराध को जानता तथा स्वीकार करता है परन्तु वह अपनी दुर्बलता से भी भली-भाँति परिचित है। तभी तो वह *तारा को आगे करके* क्षमा याचना करने जाता है—अपनी विनम्रता में अबला के विनयपूर्ण अनुरोध की शक्ति का भी समावेश कर लेता है क्योंकि सुग्रीव के अपराधी तथा दुर्बल हृदय को भी यह विश्वास है कि :

देख दीन अबला को सम्मुख आवेगी किसको न दया ?

गये सहस्र सहस्र कीश तब ··· ···· ···· कार्यसिद्धि करती है वास।

"इसके अनन्तर हजारों वानर देवी की खोज करने के लिए चले।

❀ अध्यात्म रामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग ५, श्लोक ३३ से ५१।

† रामचरितमानस, किष्किन्धा काण्ड।

प्रभुवर ने मुझे (सीता को देने के लिए) अपनी अँगूठी दी और मेरी पीठ पर अपना कमल जैसा हाथ फेरा (आशीर्वाद दिया)। जिसे प्रभु की भक्ति (कृपा) प्राप्त हो उसके लिए भला संसार में कौन-सा कार्य कठिन है ? (अतः प्रभु की अनुकम्पा से ही, मकर आदि जल-जन्तुओं का वास-स्थान) समुद्र मैंने इस प्रकार (इतनी सरलतापूर्वक) पार कर लिया मानो वह एक गोष्पद (गाय के एक खुर द्वारा घेरा जाने वाला स्थान) ही हो। मार्ग में एक-दो बाधाएँ देख कर तो मुझे उलटा यही भरोसा हो गया (मेरा यही विश्वास दृढ़ हो गया) कि किसी कार्य की (वास्तविक) सफलता (सिद्धि) उसके मार्ग में आने वाली रुकावटों में ही तो रहती है। (बाधायें न हों तो सफलता का कोई मूल्य नहीं)

निरख शत्रु की स्वर्णपुरी ···· ···· ··· वह त्रिकूटिनी माया-सी !

"शत्रु (रावण) की स्वर्णपुरी (सोने की लंका) देख कर मुझे दिग्भ्रम-सा हो गया था (और यह निर्णय करना कठिन हो गया था कि) नीले समुद्र में वह लंका थी अथवा (नीले) आकाश में सन्ध्या फूल रही थी। लंका सांसारिक सुख-सम्पत्तियों की निधि (कोष) के समान थी, छवि (शोभा) की छत्रच्छाया के समान थी और यन्त्र, मन्त्र तथा तन्त्र, इन तीनों की त्रिकूटिनी माया के समान थी।

लंका की शोभा तथा वहाँ के भौतिक ऐश्वर्य का उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है :

कनक कोट विचित्र मनिकृत सुन्दरायतना घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारु पुर बहु बिधि बना ॥
गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनै।
बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहिं बनै ॥
बन बाग उपवन बाटिका सरकूप बापीं सोहहीं।
*नर नाग सुर गंधर्व कन्या रूप मुनि मन मोहहीं ॥....**

'साकेत' की लंका—

नील जलधि में लंका थी या
नभ में सन्ध्या फूली थी !

सन्ध्या के समय नीले आकाश पर अस्तोन्मुख सूर्य की अरुण—स्वर्णिम—आभा छा जाती है। नीले समुद्र में सोने की लंका की शोभा भी तो वैसी ही जान

* रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड।

पड़ रही है ! कुछ ही समय में फूली सन्ध्या रात्रि में परिणत हो जाएगी । इसी प्रकार सोने की लङ्का का अस्तित्व भी तो बहुत ही शीघ्र नष्ट होने वाला है !

हमारा कवि लंका को उपमेय बना कर उपमानों की एक माला-सी गूँथ देता है। इन समस्त उपमानों से उसका आशय लंका के भौतिक ऐश्वर्य, शोभा-सम्पन्नता और वहाँ की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता–*जंत्र, मंत्र और तंत्र के संगम*—पर बल डालना ही है। इन्हीं तीनों ने मिलकर तो लंका को यह अनुपम श्री-सम्पन्नता प्रदान की है !

त्रिकूटिनी : जादू अथवा कूट विद्या के तीनों प्रधान अंगों—यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र से युक्त। लंका जिस पर्वत पर बसी हुई है, उसका नाम भी 'त्रिकूट' माना जाता है। वैसे लंका का अस्तित्व ही जंत्र, मंत्र, तंत्र पर है।

उस भव-वैभव की विरक्ति-सी ··· ···· ··· ··· पहँचानी अशोक-वन में ।

"वहाँ मैंने अशोक-वाटिका में उन वैदेही को पहचान लिया जो (लंका के) उस समस्त सांसारिक ऐश्वर्य की विरक्ति के समान अपने हृदय में बेचैन होकर इस प्रकार दुःखपूर्ण जीवन बिता रही थीं जैसे किसी दूसरे देश की लता उस वाटिका में (विकास के अनुकूल वातावरण न पा कर) मुरझा-सी रही हो।

कवि लंका की भौतिक विभूतियों की अतिशयता का उल्लेख कर चुका है परन्तु सीता को उनके प्रति कोई—लेशमात्र भी—आकर्षण नहीं। लंका और सीता के बीच यदि कोई सम्बन्ध है तो वही जो *सांसारिक वैभव* और *वैराग्य* के बीच होता है। स्वेच्छापूर्वक होने के कारण वैराग्य तो शान्तिजन्य ही होता है, परन्तु यहाँ तो यह वैराग्य भी परिस्थितियों की विवशता मात्र होने के कारण व्याकुलता ही प्रदान कर रहा है। एक देश की लता को दूसरे देश की जलवायु तथा मिट्टी नहीं सुहाती। रावण की अशोक-वाटिका में सीता भी तो *भिन्न देश की खिन्न लता* का सा जीवन बिता रही हैं। अशोक-वाटिका-स्थिता सीता का वर्णन करते हुए आचार्य केशवदास ने लिखा था—

*मृणाली मनों पंक तें काढ़ि डारी।**

'साकेत' की सीता भी उसी प्रकार अनुकूल वातावरण से निकाल कर प्रतिकूल वातावरण में डाल दी गयी हैं परन्तु एक ही भाव की अभिव्यक्ति के लिए दो भिन्न व्यक्तियों ने विभिन्न उपकरणों का प्रयोग किया है। दोनों के इन उपकरणों का अन्तर वस्तुतः 'आचार्य' और 'कवि' का ही अन्तर है।

---

* आचार्य केशवदास, रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, प्रकाश १३, पद ५३।

क्षण क्षण में भय खाती थीं वे ··· ···· ··· अग्नि-ताप में अपने आप ।'

"सीता क्षण-क्षण में (प्रतिपल) भय खाती थीं और कण-कण करके (अपने ही) आँसू पीती थीं। आशा की मारी (केवल पुनः अपने पति के दर्शन करने की आशा के बल पर) वह देवी राक्षसों के उस देश में अपने प्राणों की रक्षा कर रही थीं। (जब मैं सीता जी की खोज करता हुआ अशोक वाटिका में पहुँचा) उस समय रात हो गयी थी। मैं छिपकर अपने आँसू पोंछ-पोंछ कर उन्हें देख रहा था। स्वयं काल (मृत्यु) के समान रावण ने वहाँ आकर उन मुमूर्षु (जो मृत्यु के सन्निकट हों) से कहा, 'हे भामिनी, अब भी मेरी बात मान ले और इस लंका की रानी बन जा। कहाँ वह तुच्छ राम और कहाँ सारे संसार को जीतने वाला मैं मानी रावण ?'

"(रावण की यह बात सुन कर सीता बोलीं) 'तू कैसा विश्व-विजेता है जो एक अबला (स्त्री) का (मेरा) मन भी न जीत सका (तू व्यर्थ ही अपने को विश्वजयी मानने का दम्भ कर रहा है वास्तव में तो तुझमें इतनी शक्ति भी नहीं है कि एक स्त्री का हृदय जीत सके)। अरे चोर, तू जिन्हें तुच्छ कह रहा है, उन्हीं से डर इस प्रकार भाग क्यों खड़ा हुआ था ? अरे रावण, (कान खोल कर) सुन ले, मैं वही सीता हूँ जिसके विवाह के अवसर पर खुले स्वयवर का आयोजन हुआ था (प्रत्येक व्यक्ति को अपने बल का परिचय देने का समान अवसर दिया गया था)। अरे दुष्ट, यदि तू वास्तव में मनुष्य (मर्द) था तो उस समय मेरा वरण क्यों न कर लाया ? अरे कायर, तू जिसे (अपने बल से) वर न सका उसे व्यर्थ ही (छल से) यहाँ हर लाया है (इससे तुझे कोई लाभ न होगा)। अरे अभागे, इस आग को तू (स्वयं ही) अपने घर में क्यों ले आया ? तुझसे बातचीत करने के कारण भी कहीं मुझे पाप न लग जाए इसलिए मैं स्वयं ही अपने इस शरीर को अग्नि द्वारा (अग्नि में प्रविष्ट करके) शुद्ध करूँगी।'

'रामचरितमानस' में—

बहुविधि खल सीतहि समुझावा। साम दाम भय भेद देखावा ॥
कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी ॥
तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा ॥
तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवध-पति परम सनेही ॥
सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा ॥

अस मन समुझि कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की॥
*सठ सूने हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहि तोही॥**

विमुख हुई मौनव्रत लेकर ···· ··· ···· परिचय, प्रत्यय, धैर्य दिया।

"यह कह कर पतिव्रता सीता ने मौन धारण करके उस दुष्ट की ओर से (घृणा तथा क्रोधपूर्वक) मुँह फेर लिया। वह नीच उन्हें एक महीने का समय और देकर वहाँ से चला गया और पीड़िता सीता वहीं रहीं। तब मैंने देवी के सामने उपस्थित हो कर उन्हें प्रणाम किया तथा प्रभु की नाम-मुद्रिका (नामांकित अँगूठी) देकर उन्हें (अपना) परिचय, (उस कष्ट से छुटकारा पाने का) विश्वास और धैर्य दिया।

करें न मेरे पीछे स्वामी ··· ··· ···· ···· क्षमा करो मुझको अब तात!'

"(उन्होंने कहा) 'स्वामी मेरे कारण कठिन कष्ट तथा साहसपूर्ण कार्य न करें। दुःखिनी सीता का सुख तो इसी बात में है कि उसके प्रिय राम सदा सुखी रहें। यह अन्धा शत्रु (रावण) भी यह बात जान लेगा कि वे घनश्याम (राम) ही मेरे एकमात्र धन हैं। राम और सीता का सम्बन्ध केवल इसी जन्म के लिए नहीं है। देवर से कह देना कि मैंने (उस समय) जो उनकी बात नहीं मानी उसी अपराध का मुझे यह दण्ड मिला है। उनसे कहना कि अब वे मुझे क्षमा कर दें।"

लक्ष्मण पर, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अधिकतम प्रकाश डालने के लिए 'साकेत' का कवि सर्वदा प्रयत्नशील रहा है।

मैंने कहा—'अम्ब कहिए तो ···· ··· ··· मैं अपने प्रभु को पाऊँ?'

"मैंने (हनूमान् ने सीता से) कहा, 'माँ, कहो तो तुम्हें अभी प्रभु के पास ले चलूँ?' उन्होंने उत्तर दिया, 'क्या मैं चोरी-चोरी ही अपने प्रभु को प्राप्त करूँ?'

वीरांगना सीता अपने प्रभु को तो अवश्य प्राप्त करना चाहती हैं परन्तु उचित रीति से ही, चोरी-चोरी (कायरतापूर्वक) नहीं!

माँग अनुज्ञा मैंने उनसे ···· ···· ···· पानी पर भी प्रभु की लीक!

"उनसे आज्ञा माँग कर मैंने उस वाटिका के फल खाये और अपने (वानरोचित) स्वभाव के कारण उसे उजाड़ भी दिया। वाटिका के जिन रक्षकों ने मेरी स्वाधीनता में बाधा डाली उन्हें मैंने मार दिया। तब रावण का एक पुत्र, अक्ष, कुछ सैनिकों को साथ लेकर वहाँ आया। मैंने पेड़ों से (पेड़ फेंक-फेंक कर) उसके योद्धाओं को मार कर घूँसों से शत्रु की छाती तोड़

* रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड।

दी। इसके उपरान्त प्रसिद्ध इन्द्रजित् (रावण का पुत्र मेघनाद) मुझे नागपाश में बाँध कर (रावण के सामने) ले गया। रावण ने क्रोध में भर कर कहा—"इसे (हनूमान् को) जीवित ही जला दो।" लंका में रावण का ही एक भाई साधु (सदाचारी) विभीषण भी था। वह सदा ही प्रभु का पक्ष लेता रहा परन्तु वह अन्यायी (रावण) विभीषण की बात भला क्यों सुनता? तब शत्रुओं ने (मेरी पूँछ पर) तेल में भीगी धज्जियाँ लपेट कर उसमें आग लगा दी परन्तु उन्होंने उस आग में अपना ही नगर जलता पाया। (वास्तव में) जिस वस्तु से लंका जली थी वह एक सती (सीता) की आहें ही थीं (वास्तव में मेरी पूँछ की उस आग से लंका नहीं जली थी, वह तो सती सीता की आहों से ही जली थी) मैंने तो समुद्र में कूद कर अपनी (पूँछ में लगी) आग बुझा ली (मुझे उससे किसी प्रकार की भी हानि नहीं हुई)। देवी सीता ने (श्री राम को देने के लिए मुझे) अपनी चूड़ामणि दी थी, मैंने वह लाकर प्रभु को दे दी। सीता का समाचार पाकर प्रभु इतने सन्तुष्ट हुए मानो उन्होंने स्वयं सीता को ही प्राप्त कर लिया हो। इसके पश्चात् लंका पर आक्रमण करने के लिए रीछ और वानरों की सेना तैयार हुई और लंका पर धावा बोल दिया गया। (दोनों सेनायें परस्पर इस प्रकार टकरायीं) मानो जल की दो धाराएँ एक दूसरे से मिल कर फेन (झाग) फैलाती हुई उमड़ (बढ़) रही हों। अपनी विशाल तरंगों के रूप में दीवारें-सी उठा कर समुद्र ने (प्रभु की सेना का) प्रवाह (प्रगति) रोकने का प्रयत्न किया परन्तु (इसका परिणाम यह हुआ कि) स्वयं वही बाँध लिया गया (उस पर पुल बना लिया गया)। उत्साह वास्तव में सेतु-रूप (पुल के समान) ही है (बाधाओं के अपार समुद्र को उत्साह रूपी पुल बाँध कर ही पार किया जाता है)। समुद्र नीले आकाश-मण्डल के समान था और (राम द्वारा निर्मित) पुल ठीक छायापथ के समान। (ऐसा जान पड़ता था मानो आकाश की भाँति) पानी पर भी (उस पुल के रूप में) प्रभु की एक अमिट लकीर (प्रभु की शक्ति का एक अमिट प्रमाण) खींच दी गयी थी (सामान्यतः पानी पर खींची गयी लकीर उसी समय मिट जाती है इसलिए स्थायित्व का भाव प्रकट करने के लिए लकीर के साथ 'अमिट' विशेषण जोड़ दिया गया है)।

तुष्ट हुए वे सुध पाकर यों मानो उनको ही पाकर : 'रघुवंश' में :

प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती।
हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत्॥

(सीता जी से मिलने की पहचान के लिए उनसे चूड़ामणि लेकर हनूमान्

राम के पास लौट आये। चूड़ामणि पाकर राम को वैसा ही आनन्द हुआ मानो साक्षात् सीता जी का हृदय ही अपने-आप चला आया हो)।※

उधर विभीषण ने रावण को ··· ··· ··· ···· कहने भर के लिए निमित्त।'

"उधर विभीषण ने फिर प्रेम के कारण रावण को समझाया परन्तु उस साधु पुरुष को उसके बदले (रावण द्वारा) देशद्रोही का पद (उपाधि) प्राप्त हुआ। (विभीषण ने रावण से कहा), 'हे भाई, मैं तो देश की रक्षा का ही उचित (सही) तरीका बता रहा हूँ परन्तु दूसरों पर अन्याय करने वाले देश को तो मैं अपना देश ही नहीं मानता। क्या ये प्राण किसी एक (देश की) सीमा में बँध कर रह सकते हैं ? (नहीं रह सकते)। एक देश क्या, मैं तो सम्पूर्ण संसार की ही रक्षा करना चाहता हूँ। जिन्होंने धर्म (कर्त्तव्य) पर राज्य निछावर करके जंगलों को धूल छानी (वन में रह कर भाँति-भाँति के असह्य कष्ट सहे) "वे" श्री राम ही यदि मेरे वैरी हैं तो फिर मित्र और कौन होगा ? वे (किसी के भी) शत्रु नहीं हैं, वे तो सबके शासक (निर्धारित अनुशासन में रखने वाले) ही हैं अतः आप इस घमण्ड में न रहें। इतना बड़ा हाथी भी क्या छोटे से अंकुश की चोटें सह सकता है ? परायी स्त्री, वह भी पतिव्रता (सीता) और फिर वह भी सीता जैसी त्याग-प्रतिमा, उसी सीता पर, जिसे मैं अपनी माता मानता हूँ, आप इस प्रकार कुदृष्टि डालें ! (मैं यह नहीं सह सकता कि जिन सीता को मैं माता मानता हूँ उन्हें तुम इस प्रकार बुरी दृष्टि से देखो)। राम और लक्ष्मण तो कहने भर के लिए ही कारण होंगे, वास्तव में तो सती (सीता) के साँस (दुःखभरी आह) से ही इस जले हुए देश का बल-वैभव (राख की तरह) उड़ जावेगा।'

पर वह मेरा देश नहीं जो करे दूसरों पर अन्याय : 'साकेत' के विभीषण की इस उक्ति पर गाँधी जी के विचारों की स्पष्ट छाप है। गाँधी जी की भाँति 'साकेत' की राजनीति भी मुख्यतः धार्मिक है जहाँ किसी प्रकार के भी अन्याय अथवा अत्याचार के लिए कोई स्थान नहीं है।

'एक देश क्या, अखिल विश्व का तात चाहता हूँ मैं त्राण' : 'साकेत' की देश-भक्ति किसी एक देश विशेष—स्वदेश—तक ही परिमित नहीं है। यहाँ तो सारा विश्व ही एक परिवार है अतः 'साकेत' की राजनीति का लक्ष्य समस्त विश्व का कल्याण ही है।

※ रघुवंशम्, सर्ग ११, श्लोक ६४।

'उड़ जावेगा दग्ध देश का सती-श्वास से ही बल-वित्त' : भारतीय संस्कृति की एक महान तथा अनुपम सम्पदा है भारतीय नारियों का चरित्र, उनका पातिव्रत धर्म । उनका यही चरित्र उनकी प्रबलतम शक्ति है, इसके बल पर वे असम्भव को भी सम्भव कर सकती हैं । प्रस्तुत पंक्ति में सती की इसी अतुलित शक्ति का प्रतिपादन किया गया है ।

उपचारक पर रूक्ष रुग्ण सा ···· ···· ···· तो है भला यही कम क्या ?'

"विभीषण के समझाने पर रावण उसकी बात मानने के बदले उस पर उसी तरह क्रुद्ध हो गया जैसे रोगी चिकित्सक (इलाज अथवा सेवा-टहल करने वाले) पर क्रुद्ध हो जाता है । उसने कहा—'यहाँ से निकल कर उसी शत्रु की शरण में चला जा जिसके गुणों पर तू इस प्रकार मुग्ध हो रहा है ।' 'जो आज्ञा' कह कर विभीषण उठ खड़ा हुआ और यह कह कर वहाँ से चल पड़ा, 'हे तात मुझे भी इसी में (श्री राम की शरण में जाने में) ही अपने इस पुलस्त्य कुल का कल्याण दीखता है ।' (यदि विभीषण राम की शरण में न जाता तो पुलस्त्य कुल के समस्त वंशजों का नाश हो जाता और इस प्रकार वह वंश ही मिट जाता) । यद्यपि विभीषण वैरी (रावण) का भाई था परन्तु फिर भी प्रभु ने बन्धु के समान ही उसका स्वागत किया और उसे अपनी शरण में आया जान कर अत्यन्त हित (मित्र-भाव) से उसे यथायोग्य आदर प्रदान किया । जब मन्त्रियों ने कुछ कहा (विभीषण के सम्बन्ध में कुछ शंका प्रकट की) तब प्रभु बोले, "क्या हम दुर्बल हैं (जो इस प्रकार की आशंकाओं से भयभीत हो जाएँ) ? और फिर यदि हमारा धर्म ही हमें छल ले (स्वधर्म का पालन करते-करते ही हम छले जावें) तो भला क्या यही कम है ? (हमें तो इस प्रकार छले जाने पर भी सन्तोष ही होगा ।)'

प्रभु ने दूत भेज रावण को ···· ···· ···· बुझते शोणित में अंगार ।

"प्रभु ने रावण के पास दूत भेज कर उसे (शान्ति-सन्धि कर लेने का) एक अवसर और भी दिया परन्तु अज्ञान (अथवा मूर्खता) में पड़ा मनुष्य तो अच्छाई में बुराई और बुराई में ही अच्छाई देखा करता है । सबका नाश कर देने वाली बर्बरता (क्रूरता) भी युद्ध में नाम (ख्याति) पा लेती है (युद्ध काल में बर्बरता का भी महत्त्व तथा मूल्य हो जाता है) राक्षसों को अपने अनुरूप ही (बर्बर अथवा जंगली) रीछ वानरों से काम पड़ा (रीछ वानरों का सामना करना पड़ा) । सत्य तो यह है कि अस्त्र-शस्त्र तो अतिरिक्त (पदार्थ) हैं वास्तविक हथियार तो अपने अंग ही हैं (अपने अंग पुष्ट हों तो हथियार

न होने पर भी शत्रु को परास्त किया जा सकता है और यदि अपने शरीर में ही बल न हो तो हथियार भी व्यर्थ रहते हैं) अस्तु, शत्रु के विरुद्ध एक साथ ही (दोनों ओर) दाँत, घूँसे, नाखून, हाथ और पैर आदि का प्रयोग होने लगा, दोनों दल हुँकार मार-मार कर अपने-अपने स्वामी का जय-जयकार कर रहे थे (आहत व्यक्तियों के) खून की धारा में (विपक्षियों की ओर फेंके जाने वाले) वृक्ष बह रहे थे, पत्थर डूब रहे थे और अंगारे बुझ रहे थे।

निज आहार जिन्हें कहते थे ... ... मारक गुल्म, विदारक शूल !

"अपने घमण्ड में भूल कर राक्षस जिन रीछ-वानरों को अपना भोजन कहा (समझा) करते थे हम वे ही रीछ-वानर उनके लिए अजीर्ण, मार डालने वाले गुल्म और फाड़ डालने वाले शूल के समान सिद्ध हुए।

यहाँ 'अजीर्ण', 'गुल्म' और 'शूल' श्लिष्ट शब्द हैं। अजीर्ण के अर्थ हैं—१. जो जर्जर अथवा दुर्बल न हो और २. बदहज़मी अथवा अपच; गुल्म के अर्थ हैं : १. सेना का एक समुदाय जिसमें ६ हाथी, ६ रथ, २७ घोड़े और ४५ पैदल होते हैं और २. पेट का एक रोग; और शूल के अर्थ है : १. बरछे के आकार का एक प्राचीन अस्त्र और २. वायु के प्रकोप से पेट में होने वाला एक बहुत तेज़ दर्द। अतः इन पंक्तियों का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है :

(१) राक्षस घमण्ड में भूल कर जिन रीछ वानरों को अपना भोजन समझते थे वे ही (वह भोजन ही) उनके लिए अजीर्ण (बदहज़मी) गुल्म और शूल जैसे भयंकर रोगों का कारण सिद्ध हुए।

(२) राक्षस समझते थे कि वे रीछ-वानरों को आसानी से ही निगल जाएँगे (परास्त कर देंगे) परन्तु वे तो उनके लिए दुर्बल अथवा जीर्ण-शीर्ण न हो कर अपरिमित शक्ति एवं उत्साह सम्पन्न ही सिद्ध हुए, यहाँ तक कि उन रीछ-वानरों ने उनके गुल्मों (सैन्य-समुदायों) को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और बरछों की तरह उनके शरीर भी फाड़ डाले।

इन पंक्तियों से कवि के वैद्यक सम्बन्धी ज्ञान पर भी प्रकाश पड़ता है।

रण तो राम और रावण का .... रह न सके क्षण भर भी रुद्ध।

"युद्ध तो राम और रावण के बीच है परन्तु वास्तव में पण (प्रतिज्ञा) लक्ष्मण का ही है (लक्ष्मण ने ही सीता को रावण के चंगुल से मुक्त करने की प्रतिज्ञा की है) (अतः राम-रावण युद्ध में राम और रावण की) शूरवीरता और शक्ति, दोनों से अधिक महत्व उन्हीं शुभलक्षण लक्ष्मण के

साहस को प्राप्त हुआ। मैंने (हनूमान् ने) प्रायः लड़ना छोड़-छोड़ कर (कुतूहलवश) लक्ष्मण का युद्ध (करने का ढंग) देखा। वह शत्रुओं के सैन्य-दल में एक पल के लिए भी रुके बिना इसी प्रकार क्षण में भीतर और दूसरे क्षण बाहर आ रहे थे जैसे सूर्य बादल में छिपता और पल भर के लिए भी वहाँ रुके बिना बाहर निकल आता है।

'साकेत' के चरित-नायक लक्ष्मण का साहस राम और रावण के शौर्य-वीर्य दोनों के ऊपर है। वस्तुतः साकेत के कवि की दृष्टि में तो—

रण तो राम और रावण का,
पण परन्तु है लक्ष्मण का।

तभी तो हनूमान् जैसे अनुपम योद्धा भी प्रायः लड़ना छोड़ कर प्रशंसा भरे नेत्रों से शुभलक्षण लक्ष्मण का युद्ध-कौशल देखते हैं!

शैल-शूल, असि-परसु, गदा-घन ··· ··· ··· होता है हनहन के साथ!

"शैल, शूल, असि, परसु, गदा, घन, तोमर, भिन्दिपाल, तीर, चक्र तथा अनेक प्रकार के तलवारों की कुटिल धाराएँ (धारें) युद्ध में शत्रु का रुधिर बहा रही हैं। 'आ रे, आ, जा रे, जा' कह-कह कर चुनौती दे कर तथा शत्रु को तुच्छ घोषित कर करके दोनों ओर के योद्धा परस्पर भिड़ रहे हैं। शस्त्रास्त्र, रथ वाहन, कोलाहल चीत्कार आदि का घनघन, झनझन, सनसन तथा हनहन का शब्द हो रहा है?

वीर-रस-प्रधान होने के कारण इस अवतरण में प्रसंगानुकूल ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया है।

नीचे स्यार पुकार रहे हैं ··· ··· ···· हा! उनका निश्चेष्ट शरीर।

"नीचे (युद्धभूमि में) स्यार शोर मचा रहे हैं, ऊपर (आकाश में) रक्त मांस के लिए लालायित गिद्ध मँडरा रहे हैं। लोहे (के हथियारों) से बिंध कर सोने की लंका मिट्टी (धूल) में मिल रही है। आकाश पर इतनी अधिक धूल छा गयी है कि सूर्य की किरणें भी उसे नहीं बींध पातीं (उसमें से नहीं निकल पातीं) परन्तु (उस धूल के रहते भी) प्रभु के अमोघ तथा अत्यन्त तीव्र बाण निर्विघ्न शत्रुओं तक पहुँच कर उनका संहार कर रहे हैं। राक्षस-राज रावण को अपने जिन अनगिनत शूरवीरों पर अपार गर्व था वे सब भी आज एक-एक करके मर कर सर्वथा तुच्छ सिद्ध हो गये हैं। राक्षस-राज दाँत पीस कर, ओंठ काट कर अत्यन्त क्रुद्ध हो-हो कर, वार कर रहा है परन्तु

प्रभु पल भर में तथा हँस कर (अनायास ही) उसके उन समस्त प्रहारों को व्यर्थ सिद्ध कर देते हैं। आह! आज (युद्ध-भूमि पर) ही मैंने उन्हें पहली बार कुछ समय तक क्रोध करते देखा (अन्यथा वे सदा ही शान्त दिखायी देते रहे) (उनका वह) क्रोध देख कर तो हम सब भी भय से काँप उठे फिर भला शत्रुओं का हाल कैसे बताऊँ? क्रुद्ध मेघनाद ने बारी-बारी से अपने समस्त शूरवीरों को मृत्यु की भेंट हुआ देख कर मानो लंका की समस्त शक्ति एकत्रित करके लक्ष्मण पर छोड़ी। विधाता ने उस शक्ति को अमोघ (अचूक, अथवा निष्फल न होने वाली) बनाया था परन्तु धैर्यशाली लक्ष्मण (उससे भयभीत होकर सामने से) न हटे (फलतः शक्ति लगते ही वे संज्ञाहीन होकर गिर पड़े और) हाय, इस सेवक ने (मैंने) ही दौड़ कर उनका निश्चेष्ट (गतिहीन) शरीर उठाया।

धैर्य न छोड़ें आप, शान्त हों ··· ··· ··· उऋण प्रथम रिपु के ऋण से।

(हनूमान् के मुख से लक्ष्मण के निश्चेष्ट होकर गिर पड़ने की बात सुन कर भरत माण्डवी तथा शत्रुघ्न आदि सब अधीर हो गये। यह देख कर हनूमान् ने कहा) आप इस प्रकार धीरज का त्याग न करें और शान्त हो जावें। मारने वाले से बचाने वाला अधिक बलवान् है। (लक्ष्मण को इस दशा में देख कर) प्रभु "हा लक्ष्मण" कह कर बादल की भाँति जलयुक्त हो गये (श्याम-वर्ण राम के नेत्रों में आँसू छलक आये) परन्तु उसी समय (उनके नेत्रों में) बिजली-सी चमकने लगी और वे क्रोध में भर कर गरज उठे— 'आज तो केवल युद्ध ही मेरा लक्ष्य है, आज मुझे काल (मृत्यु) से भी युद्ध करना है। रोऊँगा बाद में, पहले तो मुझे शत्रु के ऋण से ही मुक्त होना है।'

"उत्साह का एक और भव्य चित्र हमें लक्ष्मण-शक्ति के उपरान्त राम के आवेग में मिलता है। राम यहाँ विलाप नहीं करते, वरन् उनका शोक-द्रव उत्साह की अग्नि में घृत की आहुति का कार्य करता है। यहाँ वीर और रौद्र का सिन्धु नाद करुणा के सागर में मिल जाता है! वास्तव में इस अतिशय भावपूर्ण क्षण का सृजन करके गुप्त जी ने अपना स्थान स्रष्टा कवियों में अमर कर लिया है।"*

प्रलयानल-से बढ़े महाप्रभु ··· ··· ··· प्रलय-पयोदों के पवि-पात!

"यह कह कर महा प्रभु (राम) प्रलय की अग्नि की भाँति बढ़े और शत्रु उस अग्नि में तिनके की भाँति जलने लगे। (राम का तेजस्वी मुख उस

* डा० नगेन्द्र, साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ६७।

समय) एक ऐसे प्रकाश पुंज के समान था जिसकी चमक सही नहीं जा सकती। राम के उस तेज में तो स्वयं उनकी शकल भी छिप गयी थी। राम का धनुष तीरों के रूप में किरणें उगल-उगल कर सूर्य-मण्डल के समान ही बन गया था। ऐसा जान पड़ता था मानो राम के रूप में स्वयं काल ही क्रोध वश भृकुटि (भौं) चढ़ा कर क्रोध पूर्ण कटाक्ष (तीक्ष्ण दृष्टियाँ) छोड़ रहा हो। देखते ही देखते शत्रु सेना का वह जाल (विस्तार) तहस-नहस हो गया। जिस प्रकार क्रुद्ध नक्र (नाक नामक जल जन्तु, मगरमच्छ) पानी में और विस्फोट (पर्वत का फटना) पर्वत में (पर्वत को फोड़ कर) अपना क्रोध प्रकट करता है ठीक उसी प्रकार श्री रामचन्द्र जी शत्रुओं के समूह पर अनवरत प्रहार कर रहे थे। उस युद्ध में हाथ, पैर, सिर और धड़ ही उड़ते, गिरते तथा पड़ते दिखाई देते थे। कल-कल की मधुर ध्वनि के स्थान पर भल-भल करके रुधिर के स्रोत (धारायें) उमड़ रहे थे। श्री राम के धनुष की टंकार के सम्मुख शत्रुओं की चीख-पुकार भी बार-बार व्यर्थ रह रही थी क्योंकि धनुष की टंकार का शब्द ही इतना अधिक था कि उसने शत्रुओं की पुकार को दबा-सा दिया था। राम द्वारा किये गये प्रहार तो अपनी ध्वनियों से भी आगे जाते थे (अपनी ध्वनि की सीमा से भी आगे तक जाकर संहार कर रहे थे।) ऐसा जान पड़ता था मानो राक्षस-युग के उन अन्तिम क्षणों में प्रलय के बादलों में से बिजलियाँ (वज्र) गिर रही हों।

'साकेत' के प्रस्तुत युद्ध-वर्णन में परम्परागत काव्य-परिपाटी का ही प्राधान्य है। शस्त्रों की चमक दमक, योद्धाओं की उछल कूद, धूल के बादल, खून की नदियाँ, रिपुओं की पुकार और धनुषों की टंकार आदि प्राचीन उपकरणों को ही मुख्यरूप से काम में लाया गया है।

सर्वनाश-सा देख सामने ···· ··· ···· मेरा एक विशिख ही झेल।'

"अपना सर्वनाश-सा सामने (अवश्यम्भावी) देख कर रावण को भी क्रोध आ गया परन्तु दूसरे ही क्षण प्रभु के सम्मुख उसका समस्त बल तथा छल नष्ट हो गया। श्री राम ने रावण से कहा, "अरे रावण, तू मेरे बाणों के सामने न आ, अपने पुत्र की मृत्यु तक जीवित ही रह ताकि मेरे वत्स-शोक (पुत्र-तुल्य भाई पर किये जाने वाले प्रहार से उत्पन्न शोक) का साक्षी यहाँ तेरा ही वक्ष हो सके (तू भी अपने पुत्र की मृत्यु होने पर उसी शोक का अनुभव कर सके)। इन्द्रजीत कहाँ है? परन्तु नहीं, मैं उसे मार कर उस लक्ष्मण

का अपराधी नहीं बनना चाहता जिसने आज इन्द्रजीत को मारने के लिए (उपयुक्त साधना करने के लिए) समाधि लगा रखी है। राक्षस, तेरे तुच्छ बाण क्या हैं ? (उनमें तो कुछ भी तीक्ष्णता नहीं है) मेरे इस हृदय में तो (लक्ष्मण-मूर्छा के कारण) एक शेल (बरछी) घुसा हुआ है।) उसे झेलने से पूर्व (इससे पूर्व कि तेरे पुत्र की मृत्यु हो और तुझे भी वही शेल झेलना पड़े) तू मेरा एक तीर ही झेल कर देख (जब मैंने अपने उर में लगने वाला शेल झेल लिया तो तेरे ये तुच्छ बाण उसके सामने क्या महत्व रखते हैं ? परन्तु तू वह असह्य शेल सहन करने से पहले मेरा एक तीर ही झेल कर देख।)'

राम के हृदय में एक *शेल* लगा है, लक्ष्मण-मूर्च्छा के कारण। उस असह्य पीड़ा को अभिव्यक्त किए बिना ही—उस शोक के लिए आँसू बहाये बिना ही—राम युद्ध-भूमि पर आ गये हैं, रिपु का ऋण चुकाने के लिए। राम चाहते हैं कि रावण कम-से-कम मरने से पूर्व अपने पुत्र का अन्त तो अपनी आँखों से देख ही ले, तभी तो रावण का वक्ष राम के वत्स-शोक का साक्षी बन सकेगा। राम के हृदय में मेघनाद का वध करने की भावना का उदय होता है परन्तु उसी समय उन्हें ध्यान आता है कि वह तो लक्ष्मण का भाग है, उसी का वध करने के लिए तो लक्ष्मण ने यह प्रस्तुत मूर्च्छा के रूप में साधन-समाधि साधी है। अतः उसे मार कर वह लक्ष्मण के *अपराधी* नहीं बनना चाहते।

आधार ग्रन्थों के राम

अनुज देखि प्रभु अति दुख माना।

'साकेत' के राम इस अवसर पर केवल दुःख मान कर सन्तुष्ट नहीं होते। वे तो रोने से पूर्व रिपु ऋण से मुक्त होना चाहते हैं।

अश्व, सारथी और शत्रुभुज ···· ···· ···· अगणित अरि-पशु-मेध किया।

"(राम ने रावण को चुनौती देते हुए कहा था—'तू मेरा एक विशिख ही झेल'। यह कह कर राम ने रावण की ओर एक तीर छोड़ा) उस एक ही बाण ने एक साथ (रावण के रथ के) घोड़े, सारथी और स्वयं रावण की एक भुजा को बींध दिया। इसके उपरान्त, रावण को मूर्च्छित छोड़ कर राम पशु मेध (यज्ञ) में की जाने वाली असंख्य पशुओं की बलि की भाँति अनगिनत वैरियों का संहार करने लगे।

आँधी में उड़ते पत्तों-से ··· ···· ···· ···· आया कुम्भकर्ण मानी।

"राक्षस-सेना के समस्त सेनापति आँधी में उड़ते हुए पत्तों की भाँति

पद-दलित (परास्त) हो गये परन्तु उस मेघनाद के बदले अभिमानी कुम्भकर्ण ही सामने आया।

'भाई का बदला भाई ही!' .... टूट पड़े उसका दल चीर।

(लक्ष्मण का लक्ष्य होने के कारण राम मेघनाद को नहीं मार सकते थे। कुम्भकर्ण को युद्ध-भूमि पर पाकर राम को यह जान कर सन्तोष हुआ कि वह रावण के भाई को मार कर अपने भाई की मूर्च्छा का उचित प्रतिशोध कर सकेंगे अत:) बादल की भाँति गम्भीरतापूर्वक कड़क कर उन्होंने कहा, 'अपने भाई (की मूर्च्छा) का बदला (शत्रु के) भाई से ही लिया जाएगा।' यह कह कर श्री राम कुम्भकर्ण का सैन्य-दल चीर कर उस पर उसी भाँति टूट पड़े जैसे हाथी पर शेर।

'अनुमोदक तो नहीं किन्तु .... समझो मुझको अपना अस्त।'

कुम्भकर्ण बोला, "अपने अग्रज (बड़े भाई रावण) का अनुमोदक (समर्थक) न होने पर भी मैं उनका अनुगत (पीछे चलने वाला) अवश्य हूँ हे राघव, मैं तो सदा ही नींद और लड़ाई में मग्न रहने वाला हूँ। मैं वज्रदन्त, धूम्राक्ष, अकम्पन और प्रहस्त नहीं हूँ (जिन्हें तुमने परास्त कर दिया)। हे राम, स्वयं सूर्य के समान हो कर भी तुम मुझे अपना अस्त (सूर्यास्त) (अन्त) ही समझो।"

'साकेत' के कुम्भकर्ण का यह चित्र संक्षिप्त होकर भी मौलिक एवं अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। कुम्भकर्ण अपने *अग्रज* का *अनुमोदक* नहीं। रावण ने जो मार्ग अपनाया है उसे कुम्भकर्ण उचित नहीं मानता (मति की विभिन्नता कोई अपराध भी नहीं) इस पर भी वह अपने बड़े भाई का *अनुगत* है। कुम्भकर्ण को इस अनुगतता पर अपार गर्व भी है। अनुमोदक न होने पर भी इतनी विश्वासपूर्ण अनुगतता कुम्भकर्ण की अविचल भ्रातृ-भक्ति की साक्षिणी है। रावण की नीति का समर्थक न होने के कारण 'साकेत' के कुम्भकर्ण के हृदय के एक अज्ञात कोने में राम के लिए एक विशिष्ट स्थान अवश्य है ('सूर्य-सम होकर भी' इसका प्रमाण है) परन्तु प्रत्यक्षतः तो अपने भाई के शत्रु से उसे यही कहना है :

समझो मुझको अपना अस्त!

'निद्रा और कलह का कौणप .... उड़ी धज्जियाँ, शर छाये।

राम ने कुम्भकर्ण से कहा, "अरे राक्षस, तू अत्यन्त घमंड के साथ अपने निद्रा और युद्ध-प्रेम का बखान कर रहा है अतः जाग (सावधान हो)

ताकि मैं तुझे सदा के लिए सुला दूँ और तेरी सम्पूर्ण युद्ध-कामना भी सदा के लिए समाप्त कर दूँ।' उत्पात करने वाले उस घन (कुम्भकर्ण) ने बहुत से पत्थर-रूपी वज्र (वज्र की भाँति संहारक बड़े-बड़े पर्वताकार पत्थर) श्री राम की ओर फेंके परन्तु प्रभु के बल की आँधी ने (उसकी) धज्जियाँ उड़ा दीं और (उस पर) तीरों की बौछार कर दी।

गिरा हमारे दल पर गिरि सा .... रावण ही सहृदय है आज !'

मरते-मरते भी कुम्भकर्ण एक भयंकर पर्वत की भाँति हमारे सैन्य दल पर गिरा। उसके इस प्रकार गिर जाने पर प्रभु ने भी तीर-धनुष छोड़ कर तथा अपने दोनों हाथ रावण की ओर बढ़ा कर कहा, आ भाई, वह वैर भूल कर हम दोनों समदुःखी मित्र कुछ समय के लिए एक दूसरे के हृदय से लग जाएं और अपने नेत्र पवित्र कर लें! परन्तु हाय! इससे पहले ही राक्षस-राज बेहोश हो गया और प्रभु भी (उसे संज्ञाहीन देख कर) यह कह कर गिर पड़े (बेहोश हो गये) कि 'आज राम की अपेक्षा रावण ही अधिक सहृदय है!'

आधारग्रन्थों में लक्ष्मण के पुनः संज्ञा प्राप्त कर लेने के उपरान्त राम-कुम्भकर्ण युद्ध होता है और राम कुम्भकर्ण का वध करते हैं। 'साकेत' में राम-कुम्भकर्ण युद्ध तथा कुम्भकर्ण-वध के अवसर पर लक्ष्मण मूर्च्छित हैं और लक्ष्मण की यही मूर्च्छा 'साकेत' के प्रस्तुत करुण चित्रों के लिए समुचित पृष्ठ-भूमि का कार्य करती है। लक्ष्मण के शक्ति लगते ही राम यह कह कर युद्ध-भूमि पर कूद पड़ते हैं कि—

रोऊँगा पीछे, होऊँगा उऋण प्रथम रिपु के ऋण से।

सर्वप्रथम उनके सम्मुख रावण आता है। वह उसे मारना नहीं चाहते ताकि वह अपने पुत्र की मृत्यु तक जीवित रह कर राम के *वत्स-शोक का साक्षी* बन सके। रावण के उपरान्त राम का ध्यान इन्द्रजीत (मेघनाद) की ओर आकृष्ट होता है परन्तु वह तो लक्ष्मण का '*आखेट*' है। उसे मार कर वह लक्ष्मण के *अपराधी* कैसे बनें? तदनन्तर कुम्भकर्ण सामने आता है। राम को *वही* व्यक्ति मिल जाता है जिसकी उन्हें खोज थी और वह तुरन्त गरज उठते हैं—

भाई का बदला भाई ही

अपने हृदय में यह निश्चय कर लेने के उपरान्त राम एक पल का भी विलम्ब नहीं करते और तुरन्त कुम्भकर्ण का दल चीरकर गज पर पञ्चानन समान उस पर

टूट पड़ते हैं। देखते ही देखते प्रभु के प्रभंजन-बल से —

उड़ी धज्जियाँ, शर छाये

राम *रिपु-ऋण* से *उऋण* हो जाते हैं और इस प्रकार सन्तुष्ट हो जाने पर उनका ध्यान एक बार फिर रावण की ओर आकृष्ट होता है। अब वे *समदुःखी* हैं। दोनों के हृदय में भ्रातृ-शोक का शेल लगा है। कितना अच्छा हो, यदि पल भर के लिए ये दोनों समदुःखी मित्र वैर भूल कर एक-दूसरे को गले से लगा लें परन्तु इससे पूर्व ही राक्षस-राज मूर्च्छित हो चुका है। (रामचरित मानस में कुम्भकर्ण का सिर अपने सामने गिरा देखकर रावण—विकल भयउ जिमि फनि मनि त्यागें।) यह देखकर राम का समस्त बल, सम्पूर्ण साहस, पुंजीभूत धैर्य, एक बारगी ही खील-खील हो जाता है। राक्षसराज रावण *राम से भी अधिक सहृदय* निकला, शत्रु ने इस भाव क्षेत्र में उन्हें भी पराजित कर दिया! यही सोचते-सोचते राम—अपराजित राम—सहसा संज्ञाहीन होकर गिर पड़ते हैं।

'साकेत' के कवि की यह एक अत्यन्त भावपूर्ण उद्भावना है।

सन्ध्या की उस धूसरता में ··· ···· ··· ··· दुगुने आँसू भर लाये।

सन्ध्या के उस मटियालेपन में सहसा करुणा का आधिक्य हो गया। फलतः ऊपर तारों के रूप में आकाश के दो-चार आँसू भी छलक-छलक कर ऊपर झलक आये (प्रकट हो गये)। हम सब (हनूमान् आदि) अपने हाथों पर प्रभु को उठा कर अत्यन्त सावधानी से उन्हें शिविर (डेरे) में ले आये परन्तु वहाँ आकर तथा अपने छोटे भाई की वह दशा देखकर तो दयामय श्रीराम के नेत्रों में दुगुने (और भी अधिक) आँसू भर आये।

'सर्वकामना मुझे भेंटकर ···· ··· ···· ···· आज अग्रगामी न बनो!'

श्री राम ने कहा, 'हे पुत्र (लक्ष्मण), अपनी समस्त कामनाएँ मुझे समर्पित करके इस प्रकार कीर्ति (यश) के आकांक्षी न बनो (जब तुमने अपनी समस्त कामनाएँ मुझे भेंट कर दी हैं तो फिर स्वतन्त्र रूप से यश की कामना क्यों कर रहे हो?)। तुम तो सदा ही अनुगामी (पीछे चलने वाले) रहे हो अतः आज इस प्रकार अग्रगामी (आगे चलने वाले) न बनो!

गोस्वामी जी ने इस अवसर पर रामचन्द्र जी की भावनाओं की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है:

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥

सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई ॥
जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू ॥
सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना ॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जिआवै मोही ॥
जैहउँ अवध कौन मुहु लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई ॥
बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं। नारि हानि बिसेष छति नाहीं ॥
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा ॥
निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा ॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी ॥
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई ॥

'साकेत' का कवि यहाँ गोस्वामी जी की लेखनी का मुकाबला करने के असफल प्रयत्न से अपने को बचाकर अत्यन्त संक्षेप में ही राम के हृदयोद्गार प्रकट करके आगे बढ़ गया है।

समझाया वैद्यों ने उनको ···· ··· ···· ··· पावेगी दुःखों से त्राण ?'

वैद्यों ने रामचन्द्र जी को समझाया (सान्त्वना देते हुए कहा), 'आर्य इस प्रकार बेचैन न हों, अभी आशा शेष है अतः सब को ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिए जिससे वह आशा सफल हो सके।'

यह सुनकर राम ने कहा 'तुच्छ रक्त की तो बात ही क्या' कोई मेरे प्राण ही लक्ष्मण के इस शरीर में डाल दो। मुझे इस प्रकार मरा हुआ सुनकर भी जानकी (सीता) अपने दुःखों से छुटकारा ही पावेगी (सुखी ही होगी)।'

बोल उठे सब ··· ··· ··· ···· अब भी अटक रहा है आर्य !'

(राम के मुख से यह बात सुन कर) सब लोग (एक साथ ही) बोल उठे, (यदि किसी दूसरे के प्राण लक्ष्मण के शरीर में डाल कर उन्हें जीवित किया जा सकता है तो हम सबके प्राण लक्ष्मण के लिए प्रस्तुत (हाजिर) हैं, लक्ष्मण इन्हें ले लें। हम सैकड़ों तारे भले ही डूब जाएं परन्तु हमारे इन चन्द्र की रक्षा हो जाए।'

वैद्य जी बोले, 'स्वामी, यदि रात ही रात में संजीवनी भी यहाँ तक लायी जा सके तो भी लक्ष्मण बच सकते हैं और सब बिगड़ी बात बन सकती

है। हे आर्य, पिंजरा तो टूट गया है (लक्ष्मण का शरीर तो अवश्य बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गया है) परन्तु अभी पक्षी अटक ही रहा है। (उनके प्राण अभी शरीर में ही हैं अतः प्रयत्न करके उन्हें बचाया जा सकता है।)'

'पंजर भग्न हुआ, पर पक्षी अब भी अटक रहा है आर्य।' : 'मेघनाद वध' में संज्ञाहीन लक्ष्मण का चित्र इस प्रकार अंकित किया गया है :

प्राण अब भी है बद्ध उसके शरीर में!—
*भग्न कारागार में भी शृंखलित वन्दी-सा है!**

आगे बढ़ बोला मैं ···· ···· ··· ···· किंकर कर लेगा यह कार्य।

(वैद्य की यह बात सुन कर) आगे बढ़ कर (अपने को इस कार्य के लिए स्वयं प्रस्तुत करते हुए) मैंने (हनूमान् ने) कहा, 'प्रभुवर, यह काम तो आपका यह दास ही कर लेगा।'

हनूमान के इन शब्दों में विनय, पुरुषार्थ एवं आत्म-विश्वास का अद्भुत सम्मिश्रण है।

आया इसी लिए मैं ··· ···· ···· ··· निश्चित ही है शुभ परिणाम।"

(हनूमान् ने भरत से कहा) "इसी लिए (संजीवनी लेने के लिए ही तो) मैं यहाँ (इधर) आया था परन्तु (प्रसन्नता की बात है कि) मार्ग में ही वह कार्य सम्पन्न हो गया। अब मुझे आज्ञा दीजिए ताकि मैं लौट जाऊँ। वे गुण-धाम (श्री राम) चिन्ता कर रहे होंगे। रावण मायावी (छली तथा जादूगर) के रूप में प्रसिद्ध है परन्तु श्री राम सत्य की साक्षात् मूर्ति हैं (सत्य माया अथवा छल का अन्त कर देता है) अतः आप अपने मन में किसी भी प्रकार की चिन्ता न करें, यह बात तो निश्चित ही है कि परिणाम (अन्त) शुभ (मंगलमय) ही होगा।"

मारुति ने निज सूक्ष्म गिरा में ···· ···· ···· कह न सके सहकर वह शोक!

पवन पुत्र हनूमान् ने अपनी सूक्ष्म गिरा (संक्षेप) में बीज के समान जो वृत्त (वृत्तान्त) दिया (सुनाया) उसने (उस बीज ने) इस अश्रु-भूमि (भाव-लोक) में आते ही अंकुर का रूप धारण कर लिया। भरत, माण्डवी और शत्रुघ्न मानो एक भयानक स्वप्न सा देख कर चौंक गये और हनूमान् को वह औषधि (संजीवनी) देकर वे उस असह्य शोक को सह कर भी उनसे (हनूमान् से) कुछ कह न सके।

---

* मेघनाद वध, सर्ग ८, पृष्ठ २६६-७।

मारुति ने निज सूक्ष्म गिरा में बीज-तुल्य जो वृत्त दिया : 'रामचरित-मानस' में—

कपि सब चरित समास बखाने।

'साकेत' के हनूमान् भी यह कहकर वृत्तान्त आरम्भ करते हैं—

थोड़े में वृत्तान्त सुनो अब
खर - दूषण - संहारी का

परन्तु इस पर भी यह वृत्तान्त संक्षिप्त—*बीज तुल्य*—न रहकर आवश्यकता से अधिक बढ़ गया है। यह सत्य है कि इस अस्वाभाविकता को दूर करने के लिए हमारे कवि ने अनेक मौलिक उद्भावनाएं की हैं। 'साकेत' में हनूमान् को औषधि अयोध्या में ही मिल जाती है और उन्हें मार्ग में कालनेमि तथा मकरी आदि से उलझकर अनावश्यक रूप से समय भी नष्ट नहीं करना पड़ता। इस प्रकार भरत आदि को समस्त राम-कथा सुनाने के लिए उन्हें पर्याप्त समय—लगभग आधी रात—मिल जाता है। फिर भी प्रस्तुत परिस्थितियों में इतने काव्यमय तथा विस्तृत विवरण को अस्वाभाविकता के दोष से सर्वथा मुक्त नहीं माना जा सकता।

खींचकर श्वास आस पास के ··· ··· ··· ··· दया के निकेतन में।

साँस खींच कर तथा आस-पास के प्रयत्न के बिना (किसी ऊँचे स्थान आदि का सहारा लिए बिना) ही शूर (हनूमान्) सीधा ही ऊपर उठ कर आकाश में पहुँच कर तिरछा हो गया (एक ओर को मुड़ गया)। आग की लपट ऊँची तो अवश्य उठती है परन्तु वह बिना सहारे के नहीं होती (हनूमान् तो किसी प्रकार के सहारे के बिना ही ऊपर उठ कर मानो अग्नि-शिखा से भी बढ़ गये)। सन्ध्याकालीन बादल में भी तलवार का सा वैसा वेग कहाँ होता है (जैसा उस समय हनूमान् में देखा गया)? वानरेन्द्र हनूमान् पृथ्वी पर से उठ कर ऊपर आकाश में ऐसे पहुँच गये मानो लग्न (दिन अथवा समय का वह अंश जिसमें किसी एक राशि का उदय रहता है) में एक नवीन तथा श्रेष्ठ (कल्याणकारी) मंगल (नक्षत्र) प्रविष्ट हो गया हो। हनूमान् आकाश रूपी पटल पर सजीव चित्र की भाँति अथवा दया के निकेतन (घर) में डण्डे से रहित (निराधार) झण्डे के समान प्रकट हो रहे थे।

'रामचरितमानस' के भरत हनूमान् से कहते हैं—

चढ़ु मम सायक सैल समेता।
पठवौं तोहि जहँ कृपा निकेता॥

इस पर हनूमान् भरत को यह उत्तर देते हैं—

तव प्रताप उर राखि प्रभु जैहउँ नाथ तुरन्त।

'साकेत' में शूर (हनूमान्) आसपास के प्रयास के बिना (एकमात्र अपने ही बल पर) श्वास खींचकर सीधे ऊपर उठ जाते हैं (आगे की ओर दौड़ने अथवा ऊपर की ओर उड़ने के लिए प्रायः Start लेना पड़ता है, हनूमान् को उसकी भी आवश्यकता न पड़ी)। अस्तु, शूर सीधा ही उठकर आकाश तक पहुँच कर तिरछा हो गया—एक ओर को मुड़ गया। अग्नि-शिखा भी तो इसी प्रकार ऊपर की ओर उठती है! परन्तु अग्नि-शिखा *निराधार* नहीं होती। इस प्रकार कवि व्यतिरेक के सहारे हनूमान् की उस उड़ान को ऊपर उठने में अग्नि-शिखा के और वेग में सान्ध्य-घन के मुकाबले में विशेषता समन्वित सिद्ध कर देता है (अग्नि-शिखा, सान्ध्य घन और हनूमान् में वर्ण-साम्य भी है)!

आकाश में नक्षत्र हैं। ये नक्षत्र ही तो विभिन्न राशियों में प्रविष्ट होकर मानव-जीवन में सुख अथवा दुःख का कारण बनते हैं। फलित ज्योतिष के ९ ग्रह हैं—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुद्ध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु। उनमें से कुछ क्रूर अथवा पापग्रह हैं और कुछ सौम्य अथवा भद्रग्रह। मंगल एक क्रूर ग्रह है परन्तु विशिष्ट लग्नों में यह कल्याणकारी भी हो जाता है। इसी विशिष्टता की ओर संकेत करने के लिए कवि ने यहाँ भौम—मंगल—के साथ विशेषण के रूप में '*भद्र*' जोड़ दिया है। मंगल के लिए '*भौम*' शब्द का प्रयोग सप्रयोजन भी है। यह *नया* भद्र ग्रह 'भूमि से' ही तो आकाश की ओर गया है। अस्तु, इस नये भद्र भौम का प्रभाव शुभ होगा (संजीवनी पहुँचते ही लक्ष्मण पुनः सचेत हो जाएंगे और बिगड़ी बात बन जाएगी)। (मंगल का रंग भी लाल ही माना जाता है।)

दूसरे ही क्षण कवि की दृष्टि आकाशस्थित हनूमान् को एक और ही रूप में —शून्य (आकाश) पटल पर सजीव चित्र के समान—देखती है। यही *सजीव चित्र* तो पल भर के उपरान्त *चित्र तुल्य* लक्ष्मण को *सजीव* करने वाला है!

प्रस्तुत प्रसंग में हनूमान् के लिए अन्तिम उपमान है '*दंडहीन केतन*'। हनूमान् (लाल) झंडे की तरह तो उड़ रहे हैं परन्तु उसे सहारा देने वाला कोई

डंडा नहीं है। यहाँ 'दंड' श्लिष्ट शब्द है, अर्थ है डंडा और सज़ा। हनूमान् निराधार झंडे की भाँति उड़ रहे हैं; *दया के निकेतन*—क्षमा के लोक—में भी तो दंड—सजा—के लिए कोई स्थान नहीं !

लंकानल, शंकादलन ... . किया गगन भी पार !

लंका को जलाने वाले (लंका के लिए अनल के समान) तथा शंकाओं का अन्त करने वाले (आशंका अथवा चिन्ताओं से मुक्त कर देने वाले) पवन-पुत्र हनूमान् जी, तुम्हारी जय हो जय हो, तुमने (अपार) समुद्र को ही नहीं, (अनन्त) आकाश को भी पार कर लिया (जल, थल तथा आकाश—तीनों लोकों—पर अपनी शक्ति की अमिट छाप छोड़ दी—असम्भव को भी सम्भव कर दिखाया।)

द्वादश सर्ग

ढाल लेखनी, सफल अन्त में ···· ···· ··· मृत्यु के गढ़ पर चढ़ जा !

लेखनी, तू स्याही उँडेल, ताकि अन्त में तेरी यह कालिख भी सफल हो और यह अँधेरी रात तनिक (कुछ देर) और काली हो जाए। रात्रि, अरी कृष्णाभिसारिके, ठहर जा; काँटे, तू निकल जा; संजीवनी, तू आज बढ़ कर मृत्यु के दुर्ग पर चढ़ जा।

द्वादश सर्ग 'साकेत' का अन्तिम सर्ग है। कवि अपने श्रम के फल, अपने लक्ष्य की प्राप्ति, की ओर बढ़ रहा है अतः वह सर्ग के आरम्भ में लेखनी को—अपनी कार्य-सिद्धि के *प्रमुख* साधन को—सम्बोधित करके कहता है, *'सफल अन्त में मसि भी तेरी'*। मसि अथवा लेखनी की सफलता वस्तुतः कवि की ही सफलता है परन्तु कवि की उदारहृदयता वह श्रेय स्वयं न लेकर शिष्टाचारवश लेखनी को ही सौंप देती है। अस्तु, मसि सफल हुई, लेखनी सफल हुई कवि ही सफल हो गया अपने निर्दिष्ट तक पहुँच कर····

परन्तु अन्तिम रूप से वह अभिलषित सफलता प्राप्त कर लेने से पूर्व कवि की लेखनी द्वारा उँडेली जाने वाली उस मसि को एक और कार्य भी सम्पन्न करना है। आज तो उसकी *कालिख* के भी सदुपयोग का सुअवसर आ गया है अतः अब कागज काले करने वाली उस स्याही को बह कर—ढल कर—उस *अँधेरी निशा* को *तनिक और असित* करना है जो इस समय छायी हुई है। उस समय अँधेरी रात को कुछ देर रोके रहने में ही हित है। कारण स्पष्ट है। लक्ष्मण मूर्च्छित पड़े हैं। यदि रात बीत गयी और सूर्योदय से पूर्व संजीवनी न आ सकी तो ·······? नहीं; नहीं; सबको मिलकर उस रात को रोकना ही होगा कुछ समय के लिए। फिर लेखनी से ढलने वाली *मसि भी* उस निशा को तनिक और असित करके इस पुण्य-कार्य में सहयोग क्यों न दे? अपनी कालिमा को सफल क्यों न करे?

संजीवनी—संजीवनी लेकर आने वाले हनूमान्—इस समय मार्ग में हैं। आज संजीवनी को, मृत्यु पर विजय पाकर—मृत्यु के अजेय दुर्ग पर अपना विजय-ध्वज फहरा कर—अपने नाम की सत्यता प्रतिपादित करनी है। कवि उसे सम्बोधित करके कहता है—

बढ़ संजीवनि, आज मृत्यु के गढ़ पर चढ़ जा !

हमारा कवि यहाँ संजीवनी को ठीक उसी प्रकार उत्साहित करता है जैसे, सामने ही दिखाई देने वाले अपराजित शत्रु-दुर्ग को लक्ष्य करके, सेनापति अपने चुने हुए सैनिकों से कहता है—

'Arise, awake and stop not till the Goal is reached.'

(उठो, जागो, और अपने निर्दिष्ट तक पहुँचने से पूर्व विश्राम का सांस न लो।)

अस्तु, वह एक ओर तो (लक्ष्मण के) सहायकों तथा सहयोगियों को नवस्फूर्ति तथा प्रेरणा प्रदान करता है, दूसरी ओर विपक्षियों को आगे बढ़ने से रोकता-टोकता भी है :

ठहर तमी, कृष्णाभिसारिके !

कहावत है कि चोर के पैर नहीं होते। निशा *चोरी चोरी*—अभिसारिका नायिका की भाँति—आगे बढ़ रही है। इस 'चोर' की गति रोकने के लिए तो शोर—डपट—भर ही पर्याप्त है। 'ठहर तमी, कृष्णाभिसारिके' में वही *डपट*, वही *धमकी* तो है !

तमी के तनिक ठहर जाने का अर्थ है हनूमान् का सूर्योदय से पूर्व लक्ष्मण के पास पहुँच जाना—लक्ष्मण का पुनः सचेत हो जाना—और इस प्रकार सब काँटे, सब विघ्न, समस्त संकट ही दूर हो जाना !

झलको, झलमल भाल-रत्न ····· ··· ···· प्राण ! पाओगे, सरसो।

हम सबके भाल-रत्न, तुम झलमल झलमल करके झलको। हे नक्षत्रो, अमृत-भीगे बिन्दुओ, तुम छलक पड़ो, छलक पड़ो। वायु, तुम भी रात ही रात में बढ़ कर (लक्ष्मण के शरीर में) फिर श्वास (जीवन) का संचार कर दो ताकि (मृत्यु की पराजय हो जाय और) जीवन का विजय-ध्वज पूर्व दिशा में (अथवा यथापूर्व) अरुणिम हो (कर लहरा) सके। कवि के दो नेत्रो, तुम भी अग्नि और जल, दोनों की हो वर्षा करो। हे प्राण, तुम्हें (रहने के लिए) लक्ष्मण जैसा शरीर और कहाँ मिलेगा (नहीं मिलेगा) अतः इसी शरीर में प्रवेश करके शोभित हो जाओ।

लक्ष्मण का शरीर अचेत—निर्जीव—पड़ा है। कवि अमृत की बूँद तुल्य नक्षत्रों से अनुरोध करता है कि वे अपना *अमृत* लक्ष्मण पर बरसा दें, वायु से वह लक्ष्मण को *श्वास* प्रदान करने का निवेदन करता है और जीवन के दो अन्य आधार भूत तत्त्वों—*अग्नि और जल*—के लिए वह अपने ही दोनों नेत्रों से

प्रार्थना करता है। इन सबके सहयोग से ही तो जीवन का जय-केतु अरुण हो सकेगा !

'ओ कवि के दो नेत्र, अनल-जल दोनों बरसो' : नेत्रों में *क्रोध की आग* भी होती है और *अश्रु-जल* भी। 'साकेत' के द्वादश सर्ग को सामने रखने पर तो कवि की इस उक्ति में एक और रहस्य भी निहित जान पड़ता है। इस सर्ग में कवि के नेत्रों ने *अनल तथा जल*, दोनों की ही वर्षा की है। *पूर्वार्द्ध* में अयोध्या-वासियों की *रण-सज्जा* का उल्लेख है। *सर्ग के इस खंड में तो मानो शक्ति का* एक अजस्र स्रोत, एक भयंकर ज्वालामुखी ही फूट निकला है। *उत्तरार्द्ध* में कवि के नेत्र ने जल बरसाया है, पूर्वार्द्ध की उस प्रचण्ड अग्नि को शान्त किया है। उत्तरार्द्ध का तो आरम्भ ही कुल-गुरु वसिष्ठ के इन शब्दों से होता है :

"*शान्त, शान्त !*

फलत :

सेना की जो प्रलयकारिणी घटा उठी थी,
अब उसमें नत-नम्र-भाव की छटा उठी थी।
सैन्य-सर्प, जो फणा उठाये फुंकारित थे,
सुन मानो शिव-मन्त्र, विनत, विस्मित, वारित थे।

देखो, वह शत्रुघ्न दृष्टि ···· ···· ···· तुझे चाहिए अब क्या कितना ?"

देखो, उधर शत्रुघ्न की दृष्टि मानो (क्रोध के कारण) जल रही है। दयावान् भरत ! सुनो, माण्डवी यह क्या कह रही है ?—"आर्य पुत्र, जब तुम पुरुष कहला कर भी इस प्रकार विकल हो रहे हो तो हे स्वामी, मुझे यह तो बता दो कि यह अबला क्या करे ? (जब पुरुष हो कर तुम्हारी यह दशा है तो फिर अबला इस आघात को कैसे सह सकती है अथवा इसका प्रतिकार करने के लिए भला क्या कर सकती है ?) परन्तु तुम्हारे पास तो आज इतना भी अवकाश (समय) नहीं है (कि प्रस्तुत वस्तु-स्थिति पर विचार करके इस समस्या का समुचित हल ढूँढ निकालो। तुम तो आज सर्वथा उदासीन बने बैठे हो।) इधर, हमारा भाग्य एक बार फिर हमारी परीक्षा लेने के लिए उद्यत हो गया है। संसार ने भाव (उच्चतम भावों) की इतनी (अपार) सम्पदा हमसे प्राप्त कर ली है परन्तु हाय ! उस भावुक को फिर भी सन्तोष नहीं हुआ ! वह भूखा भिखारी अब भी हमारे सामने हठ करके खड़ा हुआ है। हे नाथ, इस दीन का मुख सूख रहा है अतः इस भिखारी पर दया करो। क्या हम

इस भिक्षुक को और कुछ नहीं दे सकते ? (यदि और कुछ नहीं कर सकते तो) क्या आदरपूर्वक यहाँ इसका स्वागत भी नहीं कर सकते ? क्या इससे यह भी नहीं पूछ सकते कि भाई, तुझे हमसे अब क्या और कितना (भाव धन) और चाहिए (तू हमसे अब और क्या लेना चाहता है) ?

'रामचरितमानस' में हनूमान् के मुख से समस्त वृत्तान्त सुन कर भरत—

भए दुखी मन महुँ पछिताने ॥
अहह दैव मैं कत जग जायउँ ।
*प्रभु के एकहु काज न आयउँ ॥**

परन्त *कुअवसर* जान कर—'रामचरितमानस' के भरत धैर्य धारण कर लेते हैं और इस प्रकार अपने बाण पर चढ़ा कर हनूमान् को *कृपानिकेता* के पास पहुँचा कर भरत अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। भरत के अतिरिक्त राज-परिवार का कोई और सदस्य अथवा कोई प्रजा-जन तो इस समय वहाँ उपस्थित ही नहीं है अतः अयोध्या में घटित होने वाली इतनी महत्त्वपूर्ण घटना के अवसर पर भी अयोध्या में कहीं कोई हलचल, भागदौड़ दिखाई नहीं देती।

'साकेत' में उक्त अवसर पर शत्रुघ्न तथा माण्डवी तो पहले ही से भरत के समीप उपस्थित हैं। हनूमान् के गिरते ही —

दौड़ पड़ीं बहु दास-दासियाँ †

इस प्रकार यह समाचार शीघ्र ही सब लोगों तक पहुँच जाता है। अस्तु, केवल भरत ही नहीं, शत्रुघ्न, माण्डवी तथा अन्य बहुत से लोग हनूमान् के मुख से वह वृत्तान्त सुनते हैं। हनूमान् के विदा होते समय —

चौंक भरत-शत्रुघ्न-मांडवी मानो यह दुःस्वप्न विलोक,
ओषधि देकर भी उनसे कुछ कह न सके सहकर वह शोक।†

हनूमान के चले जाने के उपरान्त वहाँ कुछ समय तक तो सन्नाटा-सा छाया रहता है परन्तु शीघ्र ही कवि शत्रुघ्न की *दहकती हुई* दृष्टि की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर देता है। भरत—*साधु भरत*—अभी *सदय* ही हैं। तभी तो शत्रुघ्न क्रुद्ध होकर भी अभी कुछ बोल नहीं पाते। भरत-पत्नी माण्डवी ही भरत की वह सदयता, वह कातरता, *भंग* करती है।

भाग्य एक बार पहले रघुवंशियों की परीक्षा ले चुका है। *आज फिर* वह

* रामचरितमानस, लङ्का कांड।
† साकेत, सर्ग ११।

उनकी परीक्षा लेना चाहता है। भूखा याचक बन कर संसार उनके सामने खड़ा है। इससे पहले वह उनसे *इतना भाव विभव* पा चुका है परन्तु उस भावुक को उससे सन्तोष प्राप्त नहीं हुआ, वह *कुछ और* चाहता है। क्या उसे कुछ और नहीं दिया जा सकता ? अधिक नहीं तो क्या उसे आदरपूर्वक बैठा कर यह भी नहीं पूछा जा सकता कि अरे तुझे और क्या चाहिए ?

माण्डवी के शब्दों में व्यंग्य है परन्तु वह व्यंग्य भरत की हँसी उड़ाने के लिए न होकर उनकी सदयता—कातरता—उदासीनता भंग करने के लिए ही है। रघुवंश ने संसार को बहुत कुछ दिया है, अभी वह *बहुत कुछ और भी* दे सकता है; राघव अनेक परीक्षाओं में सफल हो चुके हैं, आज भी वे इस परीक्षा में सफल होने की शक्ति रखते हैं ; फिर वे मुँह क्यों छिपायें ? कातर क्यों हों ?

"प्रस्तुत हैं ये प्राण ······ ··· ··· स्वर्णपुरी की शाला-माला।"

भरत ने उत्तर दिया, "प्रिये (इस याचक के लिए तो) मेरे प्राण भी प्रस्तुत हैं परन्तु मेरे इन प्राणों का भार इससे सहा नहीं जाएगा और इन्हें लेकर यह शान्तिपूर्वक न रह सकेगा (ये सदा ही उसे अशान्त बनाए रखेंगे) देखता हूँ, कदाचित् (जल का भण्डार) वह समुद्र इन प्राणों की आग बुझा सके जिसने स्वर्णपुरी के भवनों की माला पहनी हुई है।"

माण्डवी के शब्द भरत के हृदय पर अभिलषित प्रभाव डालते हैं।

"स्वामी, निज कर्त्तव्य करो ··· ··· ··· याद मुझे रह रह आती है।"

माण्डवी ने फिर कहा, "स्वामी, तुम निश्चित मन से (एकाग्रतापूर्वक) अपने कर्त्तव्य का पालन करो। तुम कहीं भी क्यों न रहो, इस दासी से दूर नहीं रहोगे। अब तो दबाया न जा सकने वाला यम भी मुझे नहीं डरा सकेगा। अपनों (अपने इष्ट-मित्रों) के साथ रह कर तो मैं मृत्यु को भी जीवन के समान ही समझती हूँ। दिखाई न देने वाला (भाग्य) ही हमें शंकित करता है (हमारे हृदय में भाँति-भाँति की शंकाएँ उत्पन्न किया करता है); अँधेरे में ही तो तरह-तरह की टेढ़ी-सीधी शकलें दिखायी देती हैं! परन्तु अब मुझे किसी का कोई डर नहीं क्योंकि निराशापूर्ण हृदय तो स्वयं ही अत्यधिक भयंकर हो उठता है। यदि यह संसार हमारे लिए नहीं है तो न सही, जहाँ हम सब साथ होंगे, हमारा स्वर्ग तो वहीं है। भाग्य—भाग्यहीन भाग्य—भला हमारा क्या बिगाड़ सकता है ? (इसके विपरीत) यह समस्त संसार भर-भर कर हमें (युग-युग तक) श्रद्धांजलियाँ अर्पित करता रहेगा।

हवा समाचारों को बहुत ही जल्दी फैला देती है (तभी तो कहा जाता है कि खबरों के पंख होते हैं) मुझे रह-रह कर अन्तःपुर की याद सता रही है। न जाने इन समाचारों का प्रभाव राज-परिवार की महिलाओं पर क्या पड़ा हो, अतः मैं शीघ्रातिशीघ्र अन्तःपुर में पहुँच जाना चाहती हूँ।)

माण्डवी ने एक बार भरत से कहा था :

"हाय ! नाथ, धरती फट जाती, हम तुम कहीं समा जाते,
तो हम दोनों किसी मूल में रहकर कितना रस पाते।"

आज किसी मूल में रह कर रस पाने का समय नहीं है, इस समय तो *कठोर सत्य* भरत को ललकार रहा है, क्रूर भाग्य आज फिर उनकी परीक्षा लेने के लिए सन्नद्ध हो गया है अतः माण्डवी भी भरत को विश्वास दिला रही है कि :

रहो कहीं भी, दूर नहीं होगे इस जन से।

माण्डवी की एक ही कामना है—उसके पति अन्य समस्त चिन्ताओं से मुक्त होकर *केवल* अपने इस कर्त्तव्य का पालन करें। माण्डवी आदि की चिन्ता की इस समय भला क्या आवश्यकता है ! वे लोग तो दुःख-शोक की उस सीमा पर पहुँच चुके हैं जहाँ दुःख की भीषणता स्वयं दुःखी व्यक्ति को दुःख-शोक से भी अधिक भयंकर बना देती है, जिस स्थिति तक पहुँच कर वह साक्षात् यम को भी ललकारने लगता है। फिर अदृश्य से शंकित होने अथवा अन्धकार में बनने-बिगड़ने वाली भ्रममूलक विकृत आकृतियों से डरने का तो प्रश्न ही नहीं उठता !

माण्डवी के ये शब्द तो 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' के आदर्श को भी कुछ पीछे छोड़ते जान पड़ते हैं :

है अपनों के संग मरण जीवन-सम मुझको।
हम सब होंगे जहाँ, हमारा स्वर्ग वहीं है।

तभी तो उसका यह विश्वास सर्वथा उचित है कि :

दैव—अभागा दैव—हमारा क्या कर लेगा ?
श्रद्धांजलि चिरकाल भुवन भर भर कर देगा।

क्या युग-युग से राम-कथा के असंख्य वक्ता-श्रोता इन महद्-चरित्रों के प्रति श्रद्धांजलियाँ अर्पित नहीं कर रहे हैं ?

जाओ, जाओ, प्रिये ··· ··· ··· ··· यहाँ तुम देखो भालो।"

भरत ने कहा, "प्रिये, जाओ, जाओ, तुरन्त अन्तःपुर में जाकर सबको सँभालो। मेरा मुख शत्रु देखें (मैं शत्रुओं का सामना करता हूँ), यहाँ (घर में) सब की देख-भाल तुम करो।"

उठी माण्डवी कर प्रणाम ···· ···· ··· ··· उसे करूँगा आघातों से !"

प्रणाम करके तथा (अपने आँसुओं से) प्रिय (भरत) के चरण भिगो कर माण्डवी उठ खड़ी हुई। यह देख कर शूरवीर शत्रुघ्न ने उनके सामने झुक कर कहा, "आर्ये, क्या तुम इस प्रकार निराश होकर (निराशा साथ लेकर) ही (यहाँ से) जाओगी ? अच्छा जाओ, इस समय तो इसी प्रकार अपने हृदय को धैर्य बँधा लो, परन्तु यह सुनती जाओ कि तुम इस प्रकार व्यर्थ ही निराश हो रही हो। (वास्तविकता तो यह है कि इस समय) अपना (हमारा) ही उदय है और अपनी ही आशा (इस समय विजय हमारी ही होगी) यदि अदृष्ट (भाग्य) मनाने (समझाने) की बातों से और अधिक रूठा (समझाने-मनाने से काम न चला) तो मैं उसे आघातों (प्रहारों अथवा चोटों—अपनी शक्ति के बल पर) सीधा कर लूँगा।"

लक्ष्मणानुज के ये शब्द अनायास ही लक्ष्मण की याद दिला देते हैं।

विजयी हो तुम तात ··· ··· ··· ··· सब ओर अहा ! सब।"

माण्डवी ने शत्रुघ्न से कहा, "हे तात, मैं आज और क्या कहूँ, तुम्हारी विजय हो; परन्तु आशा की यह ऐंठ (अकड़) और कब तक सहन करती रहूँ ? मेरा भी एक विश्वास है अतः मैं भी व्यर्थ ही विचलित क्यों होती रहूँ ? मैं तो आज समस्त चिन्ताओं से मुक्त हो गयी। अब चाहे मुझे कहीं (किसी भी दशा में) क्यों न रहना पड़े। यहाँ (इस संसार में) जो कुछ भी प्राप्य (प्राप्त हो सकने योग्य) है वह सब कुछ मुझे मिल गया है। मेरे हृदय की समस्त ममता-माया (इच्छाएँ, आकाँक्षाएँ) पूर्णतः तृप्त हो गयी हैं। अब मुझे किसी के लिए कोई उलाहना शेष न रहा (अब मुझे किसी से कोई शिकायत नहीं। मैं तो यही चाहती हूँ कि) सब लोगों को मुझ जैसा ही विश्वास प्राप्त हो सके।"

जीवन में एक के उपरान्त दूसरी निराशा ने माण्डवी का धैर्य नष्टप्राय कर दिया है। और कहाँ तक तथा कब तक आशा की वह ऐंठ सही जाए ? अतः शत्रुघ्न के वीरोचित शब्द भी माण्डवी को आवश्यक धैर्य नहीं बँधा पाते। परन्तु उसे एक सन्तोष अवश्य है। संसार में जो कुछ भी *प्राप्य* है, वह सब उसने प्राप्त कर लिया है। आज तो '*जटा और प्रत्यंचा की उस तुलना*' का परीक्षा-फल भी घोषित हो गया है। उसके पति ने शत्रुओं का संहार करने के लिए धनुष उठाकर अपना सहज धर्म स्वीकार कर लिया है। अतः *आज* माण्डवी *निश्चिन्त* है, अब उसे किसी से भी कोई शिकायत-शिकवा नहीं।

देकर निज गुंजार-गन्ध ··· ···· ··· ··· माण्डवी राज-भवन को।

धीरे-धीरे बहती हुई उस सुकोमल हवा को अपनी गुंजार-गन्ध देकर माण्डवी पालकी पर चढ़ कर राज-भवन में चली गयी।

गन्ध का धर्म है फैलना। माण्डवी के चले जाने के उपरान्त भी उसके शब्दों की प्रतिध्वनि—गुंजार—(उसके कथन का प्रभाव) उस मृदु-मन्द पवन में उसी प्रकार रमी रही जैसे फूलों की सुगन्धि हवा में विलीन हो कर सर्वत्र बिखर जाती है।

रहे सन्न-से भरत ···· ··· ···· ···· "आर्य !" लगे दोनों ही रोने।

भरत (कुछ समय तक) स्तब्ध से रह गये। (फिर) उन्होंने कहा—"शत्रुघ्न !"

"आर्य !"—शत्रुघ्न ने उत्तर दिया। (इसके साथ ही) दोनों भाई रोने लगे।

भरत का पहले स्तब्ध रह जाना, फिर शत्रुघ्न को पुकारना और शत्रुघ्न का उत्तर पाते ही सहसा दोनों का फूटकर रो पड़ना कितना स्वाभाविक है, कितना सजीव ! बहुत देर से घिरी हुई वह घटा अकस्मात् बरस पड़ती है। क्रोध की आग भड़कने से पूर्व भरत तथा शत्रुघ्न के हृदय में से कोमल भावनाओं की इस जल-धारा का निकल जाना आवश्यक भी तो था !

"हनूमान उड़ गये पवन-पथ से ··· ··· ··· रहे जैसे के तैसे।

भरत ने फिर कहा, "हनूमान् (देखते-ही-देखते) आकाश-मार्ग से किस प्रकार उड़ गये ?"

शत्रुघ्न ने उत्तर दिया, "(हनूमान् उसी प्रकार उड़ गये) जैसे शफर (मच्छ) अपने पंख समेट कर पानी में सर्र से (सर्राता हुआ) निकल जाता है। (जितने वेग से हनूमान गये हैं) उतने वेग से तो कभी बवंडर भी नहीं उठता। स्वयं आर्य का बाण भी उनकी ओर इतनी तेजी से नहीं गया था !"

भरत ने पूछा, "और (इधर) हम कैसे विवश (लाचार तथा अकर्मण्य) बने बैठे हैं ?"

शत्रुघ्न ने भरत के इस प्रश्न का कोई उत्तर न दिया। वे ज्यों-के-त्यों चुपचाप (खड़े) रहे।

राम-लक्ष्मण की सेवा में हनूमान् की दत्तचित्तता देखकर भरत तथा शत्रुघ्न, दोनों का हृदय उनके प्रति प्रशंसा तथा श्रद्धा से परिपूर्ण हो जाता है परन्तु उनकी

उस कर्त्तव्यनिष्ठा की तुलना में अपने को सर्वथा निष्क्रिय पाकर भरत को अपने से घृणा हो जाती है। वह शत्रुघ्न से भी इसी (घृणा) का समर्थन कराना चाहते हैं परन्तु शत्रुघ्न इस विकट प्रश्न का उत्तर कैसे देते ?

"लोग भरत का नाम आज ··· ··· ··· ··· साधु-पद वे देते हैं।"

भरत ने फिर पूछा, "लोग आज (आजकल अथवा इस समय) भरत का नाम किस प्रकार लेते हैं (भाव यही है कि आजकल मेरे सम्बन्ध में लोगों के विचार क्या हैं) ?"

शत्रुघ्न ने उत्तर दिया, "आर्य, सब लोग (आपके) नाम से पहले 'साधु' शब्द (विशेषण) का प्रयोग करके ही (आपका) नाम स्मरण करते हैं। (लोगों के हृदय में आपके प्रति अपार श्रद्धा तथा असीम विश्वास ही है।)"

राम-लक्ष्मण-सीता की विपत्तियों का समाचार पाकर भरत की ग्लानि यह सोचकर एक बार फिर उभर आती है कि स्वयं भरत ही उस आफ़त की जड़ हैं। इसके साथ-ही-साथ उनके निर्मल हृदय में एक और प्रश्न भी उठता है—उस समय लोगों की उनके प्रति क्या भावना है ? भरत समझते थे कि जनता उन्हीं को राम की समस्त विपत्तियों का *मूल कारण* मानकर उनसे *घृणा ही* कर रही होगी। अतः वे सहसा अपनी उस शंका की पुष्टि करने के लिए शत्रुघ्न से पूछते हैं :

"लोग भरत का नाम आज कैसे लेते हैं ?"

शत्रुघ्न का उत्तर है :

"आर्य, नाम के पूर्व साधु-पद वे देते हैं।"

इस प्रकार शत्रुघ्न भरत की असीम ग्लानि को पूर्णतया समझकर एक ही शब्द—*साधु*—द्वारा उनकी शंका का समाधान इस ढंग से करते हैं कि भरत के लिए कुछ कहने की गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

"भारत-लक्ष्मी पड़ी ···· ··· ··· वे मुझे मिलेंगे भला कहीं तो !"

भरत ने कहा, "भारत की लक्ष्मी (सीता) राक्षसों के बन्धन में फँस कर समुद्र-पार अपने मन में अत्यन्त विकल होकर बिलख रही है और मैं यहाँ अपने मिथ्या 'भरत' नाम को दोष दिये बिना ही यह साधुता का पाखंड धारण किये बैठा हूँ ! (जल में डूब कर) पवित्र जल को मैं (अपने इस कलुषित शरीर से) कैसे कलंकित कर दूँ ? अनुज, मुझे शत्रु का रुधिर चाहिए जिसमें मैं डूब मरूँ और इस प्रकार अपने इस निश्चेष्ट तथा

अकर्मण्य जीवन की लज्जा मिटा सकूँ। अतः हे शूर, तुम इसी समय उठो और समस्त सेना को सुसज्जित कर लो। शेष राज-मण्डल (अन्य मित्र नरेश) बाद में दल-बल के साथ आता रहेगा (हमें तो तुरन्त ही प्रस्थान करना है)। मार्ग में जो मित्र-राष्ट्र हैं, वे भी जल अथवा थलमार्ग से चल कर (शीघ्रातिशीघ्र) वहाँ पहुँचें परन्तु साकेत (की सेना) तो इसी समय सुसज्जित हो जाए। हाँ, इसी क्षण विजय का डंका बजा दिया जाए। अब कहीं किसी रावण की लंका शेष न रह जाए। माताओं से तुम्हीं मेरी ओर से भी विदा माँग लेना और ऊर्मिला से भी (मेरी ओर से) यह कह देना कि मैं लक्ष्मण द्वारा अपनाये गये पथ का ही पथिक बन रहा हूँ। यदि उनके साथ लौट सका तो अवश्य लौटूँगा अन्यथा······नहीं, नहीं, वे कहीं न कहीं तो मुझे मिलेंगे ही!"

शत्रुघ्न का वह उत्तर ("आर्य, नाम के पूर्व साधु-पद वे देते हैं।") सुन कर भरत के रोम-रोम से ग्लानि-प्रेरित उत्साह फूट पड़ता है। भारत-लक्ष्मी राक्षसों के बन्धन में पड़ी सिन्धु पार अपने मन में व्याकुल होकर बिलख रही है और स्वयं भरत *भण्ड साधुता* धारण करके अयोध्या में निष्क्रिय तथा निश्चेष्ट बने बैठे हैं! इससे तो डूब मरना ही अच्छा है परन्तु भरत *निर्मल* जल में डूब कर उसे *कलुषित* कैसे करें? उन्हें तो अपने इस जड़ीभूत जीवन की लज्जा मिटाने के लिए *रिपु-रक्त चाहिए*। इस विचार का उदय होते-होते तो भरत के शब्दों में एक अप्रतिहत वेग, एक अमोघ शक्ति और अभूतपूर्व त्वरा ही आ जाती है—

उठो, इसी क्षण शूर, करो सेना की सज्जा।

भरत को अब पल भर का भी विलम्ब सह्य नहीं। उनके पास तो माताओं से विदा माँगने का भी अवकाश नहीं है। अन्य मित्र-नरेश भी बाद में आते रहेंगे परन्तु साकेत की सेना को तो *अभी* कूच करना होगा—*इसी समय*। भरत का यह अदम्य उत्साह अब कहीं किसी भी रावण की कोई भी लंका शेष न रहने देगा।

युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पूर्व भरतका ऊर्मिला के प्रति सन्देश है—

मैं लक्ष्मण-पथ-पथी

लक्ष्मण ने जो कुछ किया, जिस पथ का अवलम्बन किया, वही *सही* रास्ता था, आदर्श पथ था अतः *अग्रज* भी आज *अनुज* द्वारा अपनाये गए पथ का पथी हो रहा है, उसका गौरव स्वीकार कर रहा है। उस गौरव में *प्रधानतम* भाग है ऊर्मिला का, तभी तो यह सन्देश भी सर्वप्रथम ऊर्मिला तक ही पहुँचाया गया है!

भरत का प्रस्तुत चित्र 'साकेत' के कवि की मौलिकता का ज्वलंत उदाहरण है।

'भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में, सिन्धु पार वह विलख रही है अपने मन में' : 'साकेत' की इन पंक्तियों में कवि के देश-काल का स्पष्ट चित्र है। राक्षसों के बन्धन में पड़ी भारत-लक्ष्मी वस्तुतः *पराधीनता की कड़ियों में जकड़ी भारत माता* ही तो है ! 'पै धन विदेस चलि जात' द्वारा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विदेशियों—म्लेच्छों—राक्षसों—के हाथ में जाने वाले इसी धन—इसी भारत-लक्ष्मी—का तो उल्लेख किया था !

सिर पर नत शत्रुघ्न ··· ··· ··· ··· अश्व पर कूद चढ़े वे।

सादर झुके हुए शत्रुघ्न ने भरत की आज्ञा शिरोधार्य कर ली परन्तु अत्यन्त क्रोध में भरे होने के कारण वह उस समय 'जो आज्ञा' भी न कह सके। भरत के चरण छू कर वे दरवाज़े की ओर बढ़े और कूद कर तुरन्त घोड़े पर इस प्रकार चढ़ गये जैसे सुवास (सुगन्ध) (हवा के) झोंके पर चढ़ जाता है।

भरत-निर्देश को नत होकर शिरोधार्य कर लेने वाले शत्रुघ्न आवेश के कारण मुख से 'जो आज्ञा' भी नहीं कह पाते। शत्रुघ्न के इस चित्र में *आवेश* और *विनय* का अनुपम संगम है।

झोंके पर ज्यों गन्ध अश्व पर कूद चढ़े वे : सुगन्ध को हवा के झोंके पर चढ़ कर फैलने में कुछ भी देर नहीं लगती। शत्रुघ्न भी एक झटके से घोड़े पर चढ़ गये और देखते-ही-देखते उनका घोड़ा हवा से बातें करने लगा।

निकला पड़ता वक्ष फोड़ कर ···· ··· ··· तुरंग-अंग करके आरोही !

वीर शत्रुघ्न का हृदय कलेजा फाड़-फाड़ कर बाहर निकला पड़ रहा था। उधर घोड़ा भी आज पृथ्वी को छोड़ कर उड़-सा रहा था। शत्रुघ्न के क्रुद्ध हृदय में जिस प्रकार का धड़-धड़ शब्द हो रहा था, ठीक उसी प्रकार का पड़-पड़ शब्द उस घोड़े की चाल से उत्पन्न हो रहा था। (यह शब्द सुन कर) पेड़ों पर पक्षी जाग कर फड़फड़ाने लगे। आकाश वल्गा (रास अथवा लगाम) द्वारा नियन्त्रित उस चपल-गति (घोड़े) को लक्ष्य करके अपलक (स्तब्ध) सा हो रहा था, (पलक झपके बिना ही निरन्तर उसकी ओर देख रहा था)। वह शोभा देख कर पल भर के लिए तो स्वयं विधाता को भी यह भ्रम हो गया कि कहीं वह सवार घोड़े के एक अंग के रूप में ही तो निर्मित नहीं हुआ है (घोड़े के शरीर का ही तो एक भाग नहीं है) !

यह उद्धरण ओज गुण का उत्कृष्ट उदाहरण है। अश्व और अश्वारोही की एकरूपता भी ध्यान देने योग्य है। अश्वारोही का हृदय कलेजा फोड़ कर निकल रहा था, उधर अश्व भी धरातल छोड़ कर उड़ा जा रहा था। प्रथम के लुब्ध हृदय में धड़-धड़ शब्द हो रहा था, द्वितीय के वेग में पड़- पड़ शब्द। तभी तो स्वयं आकाश भी पल भर के लिए अपलक हो कर यह अभूत-पूर्व घटना देखने लगा और स्वयं विधाता को भी यह सन्देह हो गया कि कहीं वह आरोही अश्व के साथ ही न सिरजा गया हो !

उठ कौंधा-सा त्वरित ···· ···· ··· न कोई बोला-चाला !

शत्रुघ्न उठ कर तुरन्त बिजली की चमक की भाँति ('कौंध' स्त्रीलिंग शब्द है, अर्थ है बिजली की चमक। शत्रुघ्न के लिए उचित उपमान बनाने के लिए कवि ने यहाँ कौंध को पुल्लिंग रूप दे दिया है) राज-तोरण (राजमहल के मुख्य द्वार) पर आये। सजग (सावधान) प्रहरियों ने उनका सैनिकोचित अभिवादन किया। रणधीर शत्रुघ्न घोड़े पर से कूद पड़े। एक सैनिक ने उनका घोड़ा संभाल लिया। यह सब कुछ बिलकुल चुपचाप ही हो गया। किसी ने मुँह से एक शब्द भी नहीं निकाला।

राज-तोरण पर पहुँच कर शत्रुघ्न घोड़े पर से कूद पड़े। रात्रि के उन प्रहरों में भी, जिस समय साकेत नगरी निद्रा-निमग्न थी, कर्त्तव्य-निरत प्रहरी *सजग* थे—सावधान थे—पूरी सतर्कता के साथ पहरा दे रहे थे। शत्रुघ्न के घोड़े से कूदते ही एक प्रहरी ने आगे बढ़ कर उनका घोड़ा थाम लिया और समस्त प्रहरियों ने उन्हें सैन्य-अभिवादन (Guard of Honour) प्रदान किया। राम-लक्ष्मण के वनवास और भरत के नन्दिग्राम-वास के कारण शासन का भार वस्तुतः शत्रुघ्न पर ही था। वे ही प्रधान सेनापति भी थे। राज्य के उस *सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिकारी* को इस प्रकार *असमय* में वहाँ पाकर प्रहरियों ने (वास्तविक घटनास्थिति से परिचित न होकर भी) परिस्थिति की गम्भीरता का अनुमान भली प्रकार लगा लिया होगा। तभी तो वे यन्त्रयत् अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहे परन्तु उनमें से किसी ने एक भी शब्द मुख से न निकाला। इसके अतिरिक्त प्रहरियों के इस मौन में अपने उस उच्च अधिकारी के प्रति सम्मान भी निहित है और उसकी आकस्मिक उपस्थिति (Surprise Visit) के कारण उत्पन्न होने वाला भय-विस्मय भी।

अन्तःपुर में वृत्त प्रथम ही ··· ··· ··· कँपा कर ठंडी ज्वाला !

अन्तःपुर में तो पहले ही वह समाचार सब जगह पहुँच गया था। फलतः

सबके सम्मुख एक कठोर वज्र सा टूट कर गिर पड़ा था। माताओं की दशा तो ऐसी हो रही थी मानो सूखे पर पाला गिर गया हो (उनके आपद्ग्रस्त जीवन में एक नयी विपत्ति ने प्रवेश कर लिया हो) वह ठंढी आग उन्हें कँपा-कँपा कर जला रही थी (मारे डाल रही थी)!

"अम्ब, रहे यह रुदन .... तुम लो पद-वन्दन।"

शत्रुघ्न ने (माताओं को धैर्य बँधाते हुए) कहा, "हे माता, यह रोना बन्द कर दो। तुम तो वीरों की जननी हो, अतः अपने धर्म का पालन करो। ठहरो, (इस प्रकार रो कर) प्रस्तुत वैर की आग पर पानी न डालो (उसे शान्त न करो)। हमने नेत्रों के जल से प्रेम का समुद्र भर दिया, अब हमारे यह राक्षस शत्रु हमारे क्रोध की आग में जलें (हमारे नेत्रों में यदि अपने मित्रों के लिए प्रेम का अपरिमित जल है तो शत्रुओं के लिए दारुण अग्नि भी है)। हे माता, तुम इस प्रकार अधीर न हो। तनिक धैर्यपूर्वक विचार करो कि तुम किन (कैसे पति) की पत्नी हो और किन (कैसे) पुत्रों की जननी हो। उनकी (तुम्हारे पति की) सहायता से ही तो देवताओं ने भी राक्षसों पर विजय प्राप्त की और उनके (तुम्हारे पुत्रों के) द्वारा ही तो स्वर्गीय (दिव्य) गुण पृथ्वी पर खिंच कर आये (अथवा धरती पर ही स्वर्ग साकार हुआ)! हे माता, तुम्हारे पुत्र तो आज इतने ऊँचे उठ चुके हैं कि समस्त उच्च फल (लक्ष्य) उनके हाथों की पहुँच के भीतर आ गये हैं। यदि कहीं नीच ग्रहों (भाग्य-नक्षत्रों) ने हमारे मार्ग में विघ्न डालने का प्रयत्न किया तो हम पत्थरों पर पटक-पटक कर उन्हें चूर-चूर कर देंगे। स्वयं धर्म ही तुम्हारे पक्ष में है फिर तुम्हें किसका डर है? (धर्म के पथ पर चल कर तो) जीवन में ही नहीं, मृत्यु में भी जय ही होती है। अमर (देवता) मर भले ही जाएं परन्तु उन्हें जी-जी कर (पुनः पुनः जन्म लेकर) जीवन के भोग (सुख दुःख) भोगने पड़ते हैं (पूर्वकृत पुण्यों का क्षय होने पर देवताओं को भी मर्त्यलोक में जन्म लेना पड़ता है—पुण्यं नष्टे मर्त्य लोकं विशन्ति)। दूसरी ओर, मनुष्य यश-रूपी अमृत का पान करके मर-मर कर भी अमर ही रहते हैं। तुमने तो स्वयं हमें (विषम परिस्थितियों से) युद्ध करने के लिए ही जन्म दिया है, फिर इस प्रकार रो क्यों रही हो? तुम्हें तो इस समय गर्व होना चाहिए। (गर्व के इस अवसर पर) तुम व्यर्थ ही इस प्रकार दीन-दुर्बल (असहाय तथा शक्तिहीन) हो रही हो। इस प्रकार दुःख पूर्वक विलाप तो हमारे वैरियों को ही करना

चाहिए। अतः हे माँ, तुम हमें आशीर्वाद दो और हमारा प्रणाम स्वीकार करो।"

"इतना गौरव वत्स, नहीं ··· ··· ··· हाय ! हमारे अन्धे बहरे।"

(माता कौशल्या ने उत्तर दिया) "हे पुत्र, नारी इतना (अधिक) गौरव सह सकने में असमर्थ है। यह (गौरव का) भार बहुत ही भारी है; इसके नीचे (मेरे) ये प्राण पिसते जा रहे हैं। (इस भार के कारण तो) इन प्राणों को निकलने का भी अवकाश नहीं मिल पाता। ये अभागे, ये पुण्यहीन, अब क्या करें और कहाँ जाँय ? (हमने) कौन से व्रत नहीं किये, कौन से जप नहीं जपे ? हम सबने रात दिन कौनसी (कठोरतम) तपस्या नहीं की है ? इस पर भी (इन समस्त साधनाओं, तपस्याओं के उपरान्त भी) क्या ये प्राण यही सुनने के लिए ठहरे हुए थे ? हाय ! हमारे देवता भी अन्धे तथा बहरे हो गये।"

माता कौशल्या के इन शब्दों में असीम निराशा है और अपरिमित तीव्रता; गम्भीर वेदना है और असह्य विवशता !

"अम्ब, तुम्हारे उन्हीं ··· ···· ··· ···· आज तुम्हारा मुँह तकता है।"

शत्रुघ्न ने उत्तर दिया, "हे माता, यह तुम्हारे उन्हीं पुण्य कर्मों (व्रत, जप, तप आदि) का ही तो फल है जो हम सबमें इतनी शक्ति है कि अपने धर्म का पालन (रक्षण) कर सकें। हाय ! आज जब फल पकने का समय आया तो तुम्हारा हृदय थक क्यों रहा है (धैर्य क्यों छोड़ रहा है) ? इसके विपरीत, आज तो देवता भी तुम्हारा मुँह ताक रहे हैं।"

"बेटा, बेटा, नहीं समझती ··· ···· ···· ···· बिलख रो पड़ी रानी भोली।

(माता कौशल्या ने कहा), "बेटा, बेटा, ये सब (ऊँची-ऊँची बातें) मैं नहीं समझती। मैं (पहले ही) बहुत (अधिक) सह चुकी हूँ, अब और नहीं सह सकती। हाय ! जो चले गये वे तो चले ही गये (उन्हें न रोका जा सका) परन्तु जो (यहाँ रह गये हैं वे तो यहीं (मेरे पास ही) रहें। अतः वे चाहे जब आवें परन्तु मैं तुम्हें न जाने दूँगी। अब तक मैं तुम्हीं में उन्हें देख कर सन्तुष्ट रही हूँ, आगे भी रह लूँगी परन्तु तुम्हें भी छोड़ कर (जाने देकर) सर्वथा निराधार (निराश्रय) होकर मैं कहाँ रहूँगी (अपने जीवन का शेष समय कैसे काट सकूँगी) ? देखती हूँ, तुझको मुझसे छीनने के लिए कौन आता है (किसमें इतनी शक्ति है कि तुझे मुझसे अलग कर सके)"—यह

कह कर माता कौशल्या ने शत्रुघ्न को पकड़ कर (खींच कर) उन्हें अपने हृदय से लगा लिया और भोली रानी धाड़ मार कर विलख कर रो पड़ी।

अनिष्ट-भीरु माता कौशल्या ने बहुत कुछ सहा है। उन्हें एक से अधिक अवसरों पर *कर्त्तव्य* की बलि-वेदी पर *वात्सल्य* की बलि चढ़ानी पड़ी है। राम-लक्ष्मण मुनि-यज्ञ-रक्षा के लिए चले थे तो उन्होंने कलेजे पर पत्थर रख कर उन्हें विदा कर दिया था। राम-लक्ष्मण चौदह वर्ष वनवास के लिए उद्यत हुए तो "जो आ पड़ा सहा मैंने" कह कर उन्होंने किसी प्रकार अपने को संभाल लिया परन्तु आज शत्रुघ्न भी विदा माँग रहे हैं। कौशल्या में इतनी शक्ति शेष नहीं कि वे यह *नवीन आघात* भी सह लें। भरत-शत्रुघ्न को देख कर तो उन्होंने राम-लक्ष्मण का अभाव भुलाए रखा परन्तु चार पुत्रों की माता आज अपने शेष दोनों पुत्रों को भी अपने से अलग करके सर्वथा निराधार हो कर कैसे बैठ जाए ? अतः माँ अपनी समस्त शक्ति संचित करके पुत्र को रोकती है, उसे अपने बन्धन में जकड़ लेती है। माता कौशल्या का वात्सल्य संसार की समस्त शक्तियों को चुनौती दे उठता है :

देखूँ, तुझको कौन छीनने मुझसे आता ?

आधार ग्रन्थों में 'साकेत' की उस कौशल्या माता के दर्शन कहीं नहीं होते जो, चारों पुत्रों को समान रूप से अपने अभिन्न अंग मानने के कारण, यह तक कह सकें :

हाय ! गये सो गये, रह गये सो रह जावें,
जाने दूँगी तुम्हें न, वे आवें जब आवें !

पाश छुड़ाती हुई सुमित्रा .... मानिनी ने अंचल से।

कौशल्या के भुज-पाश से शत्रुघ्न को छुड़ाते हुए सुमित्रा ने कहा, "जीजी, जीजी, इसे छोड़ दो, तुम इसे जाने दो और अमर युद्ध (अथवा अमरता दिलाने वाले युद्ध) में जाकर (लड़ कर) इसे भी अपने सहोदर (लक्ष्मण) की ही गति प्राप्त करने दो। (इसे आशीर्वाद दो कि) यह मानी (आत्माभिमानी) नागर (सभ्य) सुखपूर्वक समुद्र पार कर ले; हमारे लिए तो यहाँ सरयू में ही पर्याप्त पानी है। (शत्रुघ्न को सम्बोधित करके माता सुमित्रा ने कहा) जा भैया, तू भी उसी पथ पर चला जा जिधर तेरे आदर्श (लक्ष्मण) गये हैं और इस प्रकार तू आरम्भ से अन्त तक (पूर्ण रूपेण) अपने कर्त्तव्य का पालन कर। जिस विधाता ने मुझे अपना सविशेष प्रसाद (कृपा) प्रदान किया था (माता कौशल्या तथा कैकेयी से एक-एक पुत्र उत्पन्न हुआ था,

सुमित्रा माता से दो) उसे मैं आज वैसा का वैसा (उसी अनुपात में) लौटा भी रही हूँ।" यह कह कर मानिनी (सुमित्रा) ने आँचल से अपने नेत्रों का जल पोंछ लिया।

सुमित्रा के हृदय में मातृत्व तो है परन्तु उस मातृत्व में *मोह की दुर्बलता* न हो कर *कर्त्तव्य की शक्ति* ही है। राम को वन जाते देख कर इस क्षत्रियाणी ने लक्ष्मण से कहा था—

लक्ष्मण ! तू बड़भागी है,
जो अग्रज - अनुरागी है
मन ये हों, तन तू वन में ,
*धन ये हों, जन तू वन में।**

इस समय फिर वैसा ही अवसर आ उपस्थित हुआ है अतः शत्रुघ्न से भी इनका यही कथन है कि

जा, भैया, आदर्श गये तेरे जिस पथ से ,
कर अपना कर्तव्य पूर्ण तू इति तक अथ से।

विधाता द्वारा दिया गया *सविशेष* उसे *वैसा का वैसा* लौटाते समय माता सुमित्रा के नेत्र भर अवश्य आते हैं परन्तु *मानिनी* तुरन्त अपने अंचल से वह नयनाम्बु पोंछ लेती है।

कैकेयी ने कहा रोककर ··· ··· ··· ··· वह क्यों छोड़ेगी ?"

कैकेयी ने बलपूर्वक अपने आँसू रोक कर कहा, "सबसे पहले भरत जाएगा और स्वयं मैं जाऊँगी। ऐसा अच्छा अवसर मुझे भला फिर कब मिलेगा ? (मैं चली जाऊँगी तो मानो) साकार आपत्ति ही अयोध्या से मुँह मोड़ लेगी। इस मूर्त्तिमती आपत्ति (कैकेयी) को जब शत्रु के देश जैसा (उचित) स्थान मिल गया है तो वह भला उसे क्यों छोड़े (इस अवसर से लाभ क्यों न उठाए) ?"

'साकेत' की कैकेयी पर्याप्त परचात्ताप कर चुकी है अपने पाप का; वह गुरुतम दण्ड स्वीकार कर चुकी है अपने अपराध का परन्तु राम-लक्ष्मण की विपत्तियों का समाचार सुन कर, भरत की भाँति, उसके हृदय में भी एक बार फिर यह सोच कर ग्लानि का वेग उमड़ पड़ता है कि वही तो उन समस्त झंझटों की जड़ है। इसीलिए वह भरत के साथ स्वयं इस बार युद्ध भूमि पर जा कर उन विष-वृक्षों को सदा सर्वदा के लिए निर्मूल कर देना चाहती है। कैकेयी, प्रस्तुत प्रसंग में, अपने लिए

* साकेत, सर्ग ४।

'मूर्तिमती आपत्ति' का प्रयोग करती है। उसके हृदय की अपार ग्लानि, असीमित परिताप एवं अतुल परिवेदना इन दो शब्दों से ही स्पष्ट हो जाती है। 'मूर्तिमती आपत्ति' इष्ट-मित्रों के देश में क्यों रहे? इस अवसर से लाभ उठा कर वह शत्रु देश में जा कर क्यों न बस जाए ताकि सगे-सम्बन्धियों का देश निरापद हो जाए और शत्रु देश में आपत्तियों की जड़ जम जाए!

"अम्ब, अम्ब, तुम आत्म-निरादर .... ज्योति-सी जगती थी तुम।"

(कैकेयी का यह कथन सुन कर शत्रुघ्न बोले), "माँ, माँ, तुम इस प्रकार अपने को बुरा-भला क्यों कह रही हो? हमें नया-नया यश देकर भी ऐसी (उस) निन्दा से क्यों डरती हो (जिसके फलस्वरूप हमें नवीन यश प्राप्त हुआ)? क्षमा करना, मुझे भी एक समय (राम बनवास के प्रसंग में) तुम आपत्ति ही जान पड़ती थीं, परन्तु (बाद में इस बात का अनुभव हुआ कि उस समय) तुम मार्ग दिखाने वाली ज्योति की भाँति प्रकाशमान हो रही थीं (हमें अनुपम आदर्श तथा अतुलित कीर्त्ति के पथ की ओर ही प्रेरित कर रही थीं)।"

स्वयं कैकेयी के अतिरिक्त और किसी के हृदय में भी अब उसके प्रति क्रोध अथवा घृणा का भाव शेष नहीं रहा। ('साकेत' के कवि की यह एक महत्वपूर्ण सफलता है।)

"वत्स, वत्स, पर कौन जानता .... पुत्र-संग भी अरि-संगर में।"

कैकेयी बोली, 'अरे बेटे, इस (ज्योति) की (मेरे हृदय की) ज्वाला (वेदना) को कौन जानता है? (कोई नहीं जानता)। उसके (मेरे) माथे तो वह काला-काला धुँवा (कलंक) ही है (मेरे भाग्य में तो अपयश ही बदा है)।"

शत्रुघ्न ने उत्तर दिया, "हे माता, जो जलता है (स्वयं कष्ट उठाता अथवा साधना करता है) वही स्वयं जाग कर दूसरों को भी जगाता (प्रबुद्ध करता) है। हाय! जो व्यक्ति यह बात भी नहीं जानता वह तो अपने आप को भी ठगाता (धोखे में रखता) है।"

कैकेयी ने कहा, "मैं राक्षसों के साथ होने वाले युद्ध में अपने पति के साथ (युद्ध-भूमि पर) गयी थी, अब शत्रुओं के विरुद्ध होने वाले इस युद्ध में पुत्र के साथ जाऊँगी।"

इस प्रकार क्षत्रियाणी कैकेयी का क्षत्रियत्व अवसर पाते ही फिर प्रबुद्ध हो उठता है।

"घर बैठो तुम देवि,...... ...... शत्रुघ्न रहे क्या आज भवन में ?

(कैकेयी को युद्ध में जाने के लिए कटिबद्ध देख कर शत्रुघ्न ने कहा) "देवी, तुम घर बैठो (यहीं रहो) हेम की लंका है ही कितनी ? (उसे पराजित करना तनिक भी कठिन नहीं) वह तो मुट्ठी भर धूल जितनी भी नहीं है। अभी भरत-खण्ड के पुरुष जीवित हैं (अतः स्त्रियों को युद्ध-भूमि पर जाने की आवश्यकता नहीं)। उन (पुरुषों) के वे करोड़ों हाथ कट नहीं गये हैं (उनकी भुजाओं में अभी पर्याप्त बल है) अतः तुम इस प्रकार रोना धोना छोड़ कर उठो और मिल कर मंगल-गीत गाओ। हम लोग विजय प्राप्त करने के लिए जा रहे हैं अतः तुम इस समय हमारे हृदय में (वीरोचित) दर्प की भावनाएं ही जागृत करो। भाई लक्ष्मण रामचन्द्र जी के साथ वन में गये हुए हैं, भरत भी जा रहे हैं फिर (अकेला) शत्रुघ्न क्या घर में ही रह जाए ?

'हेम' की लंका कितनी ? : यहां 'हेम' श्लिष्ट शब्द है, अर्थ हैं सोना और बर्फ। लंका वास्तव में सोने की है परन्तु शत्रुघ्न तो उसे बर्फ की भाँति पल भर में पिघल जाने वाली ही समझते हैं। (सूर्य के ताप से बर्फ पिघल जाती है। शत्रुघ्न *सूर्यवंशी* हैं। इसीलिए उनके लिए उस बर्फ—हेम की लंका—को पिघला देना—नष्ट कर देना—अत्यन्त साधारण बात है।) अस्तु, हमारे कवि ने यहाँ एक ही शब्द 'हेम' द्वारा इन दोनों भावों की अभिव्यक्ति करा दी है।

'भरत खण्ड के पुरुष अभी मर नहीं गये हैं, कट उनके वे कोटि-कोटि कर नहीं गये हैं':इन पंक्तियों में 'साकेत' के कवि के दर्शन 'राष्ट्रकवि' के रूप में होते हैं।

भाभी, भाभी, सुनो, ... मिलेंगे भला कहीं तो !"

(फिर ऊर्मिला को सम्बोधित करके शत्रुघ्न ने कहा) "भाभी, भाभी, सुनो, तुम सब लोग चार दिन धीरज धरे रहना (शीघ्र ही इन समस्त-संकटों का अन्त हो जाएगा)। आर्य (भरत) का (तुम्हारे लिए) यह सन्देश है "मैं भी लक्ष्मण द्वारा अपनाये गये पथ का अवलम्बन कर रहा हूँ। यदि लौटा तो उनके (राम-लक्ष्मण) के साथ ही लौटूँगा और नहीं तो...... नहीं, नहीं, वे मुझे कहीं न कहीं तो मिलेंगे ही !"

"देवर तुम निश्चिन्त रहो .... यहाँ जब मैं जीती हूँ !

(ऊर्मिला ने शत्रुघ्न को उत्तर दिया) "देवर, तुम किसी प्रकार की

चिन्ता न करो; मैं रोती कब हूँ (रो नहीं रही हूँ) परन्तु यह निश्चय करने में अवश्य असमर्थ हूँ कि मैं सो रही हूँ अथवा जाग रही हूँ। चाहे जो भी हो, मैं तो आज आँसू (रोना) छोड़ कर विश्वास का ही पान कर रही हूँ (और उसी विश्वास के बल पर निश्चयपूर्वक यह कह सकती हूँ कि) जब मैं यहाँ जी रही हूँ तो वहाँ वे भी अवश्य जीवित हैं!

'जीते हैं वे वहाँ, यहाँ जब मैं जीती हूँ!' अपने पति की '*सहचरी*' पतिव्रता ऊर्मिला का यह विश्वास सर्वथा स्वाभाविक एवं समुचित ही है। 'जीत' का अर्थ विजय भी होता है अतः इस पंक्ति में यह ध्वनि भी है कि जब यहाँ मैं विषम परिस्थितियों को पराजित कर लेने में सफल हो गयी हूँ तो वहाँ उन्हें भी अपने शत्रुओं पर विजय अवश्य प्राप्त हो गयी होगी। 'जीतो तुम' इसी मान्यता की पुष्टि करता है। विजयी पति की विजयिनी पत्नी अपने देवर को भी विजयी ही देखना चाहती है।

जीतो तुम,—श्रुतिकीर्ति ··· ··· ···· उन अनाथ वधुओं का जैसा।

(शत्रुघ्न को आशीर्वाद देकर ऊर्मिला ने कहा) "तुम्हारी विजय हो!" (फिर श्रुतिकीर्ति को सम्बोधित करके ऊर्मिला बोली) "श्रुतिकीर्ति! तनिक रोली तो लाना; मैं इनके माथे पर तिलक लगा दूँ। बहन, (शीघ्रता करो) इन्हें तुरन्त ही यहाँ से चले जाना है। इस समय मैं जीजी (सीता) के लिए भी उतनी चिन्तित नहीं हूँ जितनी चिन्ता मुझे राक्षस-कुल की उन अनाथ वधुओं की हो रही है (जिनके पति युद्ध-भूमि पर धराशायी होकर गिर रहे हैं)।

'श्रुतिकीर्ति! तनिक रोली तो लाना, टीका कर दूँ, बहन, इन्हें है झटपट जाना' : 'साकेत' के चतुर्थ सर्ग में माता कौसल्या ने सीता को सम्बोधित करके कहा था :

> *"बहू! तनिक अक्षत-रोली,*
> *तिलक लगा दूँ" (माँ बोली)*

प्रस्तुत प्रसंग में ऊर्मिला भी लगभग उन्हीं शब्दों का प्रयोग करती है परन्तु यहाँ श्रुतकीर्ति के प्रति कहे गये ऊर्मिला के इन शब्दों में एक विशेष रहस्य भी निहित है। श्रुतिकीर्ति ऊर्मिला से छोटी है, चारों बहनों में सबसे छोटी है। आज उसका पति युद्ध के लिए प्रस्थान कर रहा है। ऊर्मिला इस प्रकार पहले से ही दुःख शोक से अपरिचिता उस भोली-भाली छोटी बहन को *उस अग्नि परीक्षा* के लिए तैयार

सा कर लेती है, उसके कर्त्तव्य-पथ का निर्देशन कर देती हैं। श्रुतिकीर्ति इस अवसर पर भावनाओं के वेग में न बह जाए इसी लिए ऊर्मिला पहले ही उसे संकेत द्वारा उसका कर्त्तव्य समझा देती है :

बहन इन्हें है झटपट जाना।

'जीजी का भी सोच नहीं है मुझको वैसा, राक्षस कुल की उन अनाथ वधुओं का जैसा' : ऊर्मिला ने विरह का, विरह की *सीमित* अवधि का कठोर दुःख सहा है। वह उसकी वेदना जानती है। तभी तो उसे इस समय सबसे अधिक चिन्ता राक्षस-कुल की उन अनाथ वन्धुओं की है जिन्हें अपने पतियों की मृत्यु के उपरान्त वियोग की *असीमित* अवधि का दारुण दुःख सहना पड़ेगा। ऊर्मिला के चरित्र की यह महानता, उसके हृदय की यह विशालता उसकी अपनी ही अक्षय निधि है।

नीरव विद्युल्लता आज ··· ··· ···घनश्याम से कब तक छूटी !"

"आज यह नीरव (ध्वनि-रहित) बिजली (सीता) लंका पर टूट पड़ी है परन्तु आखिर यह बिजली कब तक अपने घनश्याम से अलग रह सकेगी (शीघ्र ही सीता और राम का मिलन हो जाएगा)।"

सीता स्वभाव से शान्त—'*नीरव*'—हैं परन्तु लंका पर पड़ने वाला उनका (सीताहरण का) प्रभाव बिजली गिरने की भाँति संहारक ही है। इसीलिए यहाँ सीता को '*नीरव विद्युल्लता*' कहा गया है।

स्तम्भित-सा था वीर ··· ···· ···· ···· अन्त में स्थिर हो बोली—

वीर शत्रुघ्न (पल भर के लिए) स्तम्भित (निःस्तब्ध) से रह गये। उनके माथे पर रोली का टीका (शोभायमान हो रहा था) तभी श्रुतकीर्ति उनके चरणों पर गिर कर तथा स्थिर होकर (अपने को सम्हाल कर) बोली—

झोंके पर चढ़ने वाले गन्ध की भाँति घोड़े पर सवार हो कर, *बिजली* की भाँति राज-तोरण पर आने वाला रणधीर युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पूर्व पल भर के लिए *स्तम्भित सा* था। वह माताओं से बिदा ले चुका था, भाभियों से भी आज्ञा माँग चुका था परन्तु अभी एक परीक्षा—कठोरतम परीक्षा—और भी शेष थी; उसे अपनी पत्नी से भी तो बिदा लेनी थी। इस बिदा से सम्बन्धित हृदय के भाव उसे पलभर के लिए *अचल सा* कर देते हैं। उधर श्रुतिकीर्ति में भी इस अवसर पर कुछ *अस्थिरता* आ जाती है परन्तु अन्त में वह *स्थिर* हो कर अपने पति को बिदा करते हुए कहती है—

"जाओ स्वामी, यही माँगती ··· ··· ···· मिले उन्हीं में जीवन-धारा।"

"जाओ स्वामी, मेरी मति (बुद्धि) तो आज यही माँगती (कामना

करती) है कि मेरे लिए भी जीजी (ऊर्मिला) की ही गति उचित है ! जो (लक्ष्मण तथा ऊर्मिला) सदा ही हमें गौरवान्वित करते रहे, मनाते (प्रसन्न करते) रहे तथा लाड़ लड़ाते रहे और छोटे होकर भी हमने जिनसे बड़ा भाग पाया है (स्वयं छोटे होकर भी महान् सौभाग्य तथा यश के भागी हुए हैं) एवं जिनसे यहाँ हमारा भाग दुगुना हो गया है, हम दोनों की जीवन-धारा भी उन्हीं दोनों में मिल जाए (हमारे जीवन भी उन्हीं को समर्पित हो जावें)।"

'साकेत' की श्रुतिकीर्ति बहुत ही कम समय तक हमारे नेत्रों के समक्ष रहती है परन्तु इस अल्प काल में भी वह हृदय पर एक *अमिट* प्रभाव छोड़ जाती है।

"*अर्द्धांगी से प्रिये, ... तत्काल आपको वह संभाल कर।*

(शत्रुघ्न ने पत्नी के इस कथन से सन्तुष्ट एवं प्रसन्न होकर कहा) "प्रिये, मुझे (अपनी) अर्द्धाङ्गिनी से यही (इसी वीरता-धीरता की) आशा थी। शुभे, मैं और क्या कहूँ (केवल यही कामना प्रकट करता हूँ अथवा तुम्हें शुभाशीष देता हूँ कि) तुझे मुँह-माँगा ही प्राप्त हो (तेरी मनोकामना पूर्ण हो जाए)।"

यह कह कर वीर शत्रुघ्न ने चारों ओर दृष्टि डाली और फिर तुरन्त अपने को सँभाल कर चल पड़े।

'*आप को वह संभाल कर*' में शारीरिक की अपेक्षा मानसिक नियन्त्रण का भाव ही प्रधान है।

मूर्च्छित होकर गिरी .... माल्यकोश ज्यों स्वर पर छाया !

इधर कौशल्या रानी मूर्च्छित होकर गिरी, उधर आत्माभिमानी गृह-दीपक (सुपुत्र शत्रुघ्न) अट्ट पर दिखाई दिया (पहुँच गया)। (एक साथ ही) दो-दो सीढ़ियाँ चढ़ कर वह राज-तोरण पर आ पहुँचा, ठीक उसी प्रकार जैसे ऋषभ को लाँघ कर माल्यकोश स्वर पर छा जाता है।

शत्रुघ्न अयोध्यावासियों को जगा कर उन्हें युद्ध के लिए कटिबद्ध करने के लिए ही राज-तोरण की ओर जा रहे हैं। इस समय उनके हृदय में अदम्य उत्साह है और अपरिमित आतुरता। एक साथ *दो दो* सोपान चढ़ना इसी आतुरता का प्रतीक है।

दो-दो सोपान चढ़ कर राज-तोरण पर आने वाले इस वीर की तुलना हमारे

कवि ने *ऋषभ* लाँघ कर स्वर पर आने वाले *माल्यकोश* के साथ की है। *माल्यकोश* अथवा '*मालकोश*' सम्पूर्ण जाति के एक राग का नाम है जिसमें *रौद्र* अथवा *वीर* रस की प्रधानता होती है और जो प्रायः युद्ध के अवसर पर गाया जाता है। इसमें *ऋषभ* (अथवा द्वितीय) और पंचम स्वर नहीं लगते और उन दोनों *कोमल* स्वरों को लाँघ कर सीधे गांधार मध्यम पर जाया जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत तुलना सर्वथा उपयुक्त एवं प्रसंगानुकूल भी है और सार्थक एवं प्रभावोत्पादक भी।

इस अवतरण से कवि के संगीत-ज्ञान पर भी प्रकाश पड़ता है।

नगरी थी निस्तब्ध पड़ी ··· ··· ··· स्वयं थे समझ-बूझकर ।

क्षणदा (रात्रि) की छाया में अयोध्या नगरी निस्तब्ध (अचल अथवा गतिहीन) पड़ी थी। स्वप्न अपनी माया (अपने कल्पना-चित्रों) में सबको भुला (बहका) रहे थे। जीवन और मृत्यु मानों (बहुत समय तक) समान रूप से परस्पर जूझने (प्रतिस्पर्द्धा करने) के उपरान्त स्वयमेव समझ-बूझ कर (समझौता सा करके) रात्रि के उस पिछले पहर में ठहर गये थे (शान्त से हो गये थे) (कुछ समय के लिए जड़ और चेतन का भेद मिट-सा गया था)।

कवि ने अन्यत्र भी कहा है :—

जड़ चेतन एक हो रहे।

पुरी-पार्श्व में पड़ी हुई थी ··· ···· ···· ···· वीर ने उसे निहारा।

नगरी के पार्श्व में सरयू ठीक उसी प्रकार निद्रा-निमग्न सी पड़ी थी, जैसे स्वयं उसके (सरयू के) तट पर हंसों का समूह (सोया) पड़ा था। सरयू का) जल बहता जाता था और बहता आता था (जल आगे बढ़ता जा रहा था और उसके पीछे आता हुआ जल उसका स्थान लेता जा रहा था इस प्रकार जल की गतिशीलता के उपरान्त भी सरयू का प्रवाह खंडित नहीं हो रहा था) अत: किनारा अपनी गोद भरी की भरी ही पाता था (किनारों को जल का अभाव नहीं सहना पड़ता था)। (सरयू के रूप में तो मानो) पृथ्वी पर एक स्वच्छ चादर सी फैल रही थी जो तरंगित होने (निरन्तर मिट्टी पर बहती रहने) पर भी कहीं से (तनिक भी) मैली नहीं हुई थी (चादर प्रयोग में आने से मैली हो जाती है परन्तु इस सरयू रूपी चादर में यह विशेषता है कि यह

❀ साकेत सर्ग १०।

तरंगित होकर भी कहीं से मैली नहीं हुई) वह तो तारों को (हारों की भाँति) धारण करने वाली चाँदी की एक सुन्दर एवं चंचल धारा के समान थी। वीर शत्रुघ्न ने एक आह भर कर उस चाँदी की धारा अथवा सरयू को देखा।

प्रस्तुत अवतरण में सरयू का अत्यन्त सुन्दर चित्र अंकित किया गया है। रात्रि की उस निस्तब्धता में भी सरयू चुपचाप बही जा रही है—बही चली जा रही है। पानी बहता *जाता* है और बहता *आता* है। तट की गोद कभी खाली नहीं होती। जल-प्रवाह के इस वर्णन में अपूर्व प्रवाह है, अद्भुत गति है, विलक्षण प्रभाव है।

सरयू पृथ्वी पर फैली एक *स्वच्छ चादर* जान पड़ती है—एक ऐसी चादर जो निरन्तर तरंगित हो कर भी कहीं से मैली न हुई थी। फिर उसकी तुलना चादर के स्थान पर चारु चपल चाँदी की धारा से ही क्यों न की जाए? तारों का प्रतिबिम्ब उस धारा में उसी प्रकार झिलमिला रहा है जैसे चाँदी के तारों में मोती चमकते हैं।

इतने सुन्दर दृश्य को देख कर आँखें अघाती नहीं परन्तु शत्रुघ्न के पास आज इतना अवकाश कहाँ है कि वे जितनी देर चाहें इस प्राकृतिक रूप छटा को निहारते रहें। आज उनके हृदय पर '*कठोर*' भावनाओं का प्रभुत्व है, क्रोध का प्राबल्य है। आज वे इच्छा होने पर भी इस '*कोमल*' को अपने हृदय में स्थान नहीं दे पाते अतः वे केवल एक *उसास* ले कर रह जाते हैं।

सफल सौध-भू-पटल ··· ···· ··· मृदुल मारुत—गति भरभर।

सौध-भू-पटल (महल की स्वच्छ तथा चिकनी पारदर्शी छतें) आकाश के स्थायी दर्पण बन कर सफल हो रहे थे। उसमें (छतों के रूप में बिछे उन दर्पणों में) तारे टुकुर-टुकुर अपना रूप देख रहे थे (महल की निर्मल छतों पर आकाश स्थित तारों की परछाँई पड़ रही थी)। ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं पर फर फर कर के झंडे फहरा रहे थे और सुकोमल हवा उनमें गति भर-भर कर उनमें मानो गन्ध उँड़ेल रही थी।

स्वयमपि संशयशील गगन ··· ···· ···· सागर या वन था।

गहरा नीला आकाश स्वयं इस संशय में पड़ा था (इस बात का निश्चय नहीं कर पा रहा था कि वह) मीन मकर से युक्त समुद्र है अथवा वृष-सिंह आदि से परिपूर्ण वन।

यहाँ मीन, मकर, वृष, सिंह शब्दों में श्लेष है।

'मीन' के अर्थ हैं—१. मछली और २. बारह राशियों में से अन्तिम राशि।

'मकर' के अर्थ हैं—१. मगर या घड़ियाल नामक जल-जन्तु और २. बारह राशियों में से दसवीं राशि।

'वृष' के अर्थ हैं—१. साँड या बैल और २. बारह राशियों में से दूसरी राशि।

'सिंह' के अर्थ हैं—१. शेर और २. बारह राशियों में से पाँचवी राशि।

आकाश में मीन, मकर, वृष तथा सिंह आदि बारह राशियाँ (तारा-समूह) हैं। अतः कवि श्लेष का सहारा लेकर यह सन्देह उत्पन्न कर देता है कि वह मीन, मकर (आदि राशियों) से युक्त गहरे नीले रंग का आकाश है अथवा मीन, मकर, (मछली तथा मगर आदि जल-जन्तुओं) से भरा गहरे नीले रंग का समुद्र; वृष तथा सिंह (आदि राशियों) से युक्त गम्भीर (और अथाह) आकाश है अथवा वृष, सिंह (बैल तथा शेर आदि वन-पशुओं) से युक्त बीहड़ वन !

गुप्त जी ने 'साकेत' में अनेक स्थानों पर अपने ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान का परिचय दिया है।

झोंके झिलमिल झेल रहे थे ... ... भूमि-भाग्य की, दमको दमको।

आकाश के दीप (तारे) झिलमिला कर (हवा के) झोंके झेल (सह) रहे थे (झिलमिला रहे थे) (हवा के झोंकों से दीपक की लौ हिलती तथा झिलमिलाती है। आकाश के दीपक, तारे, भी ठीक उसी प्रकार झिलमिला से रहे थे); आकाश के वे दीपक खिल-खिल कर प्रेमपूर्वक परस्पर हिल-मिल कर खिलवाड़-सा कर रहे थे। जिस समय शंका (तथा चिन्ता) रहित वे तारे अन्धकार की गोदी में पल रहे थे, उस समय स्नेह (प्रेम और तेल) से भरे नगर (अयोध्या) के दीपक जल कर (प्रज्वलित होकर) प्रकाश बिखेर रहे थे (धरती और आकाश दोनों सर्वथा निश्चिन्त तथा स्नेहपरिपूर्ण थे)। (तारों को सम्बोधित करके कवि कहता है कि) हे उच्च ताराओं (तारको), तुम (नगर के दीपकों के इस उठते) धुएँ की धूप (देव-पूजन में गंध द्रव्यों को जला कर उठाया गया धुँआ) स्वीकार करो और चमकते रहो। पृथ्वी-तल के वासियों के भाग्य की लिपि-मुद्राओं (लिखित अथवा प्रत्यक्ष संकेतों) तुम सदा दमकते-चमकते रहो।

लिपि-मुद्राओं,—भूमि-भाग्य की : यहाँ 'भूमि' का अर्थ, लक्षणा द्वारा, 'पृथ्वीतल के वासी' किया जाएगा, पृथ्वी नहीं । प्रायः नक्षत्रों (की स्थिति) को ही मानव-भाग्य-निर्धारक माना जाता है । इसी भाव से यहाँ तारों को '*भूमि-भाग्य की लिपि मुद्रा*' कहा गया है ।

करके ध्वनि-संकेत शूर ने ··· ···· ··· उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी ।

शूर (शत्रुघ्न) ने ध्वनि-संकेत करके शंख बजा दिया । इस प्रकार (शंख की ध्वनि के बहाने) शत्रुघ्न के भीतर (हृदय) की पुकार (उद्‌गार) बाहर निकल आयी । उनका उच्छ्‌वास (उसाँस) छाती से उभर-उभर कर निकल पड़ा तथा उनके कंठ (स्वर) की अनुकृति (अनुकरण, नकल) करके तो शंख भी कृतार्थ हो गया । (शत्रुघ्न के शंख की ध्वनि सुन कर) भरत ने उसी समय प्रत्युत्तर में शंख बजाया; दो इकाइयाँ मिल कर तो मानो ग्यारह (११) ही हो गयीं ! भरत तथा शत्रुघ्न के शंखों की ध्वनि सुन कर अविलम्ब असंख्य शंखों की ध्वनि गूँज गयी और उसी समय घन-घन नाद करते हुए युद्ध के नगाड़े गरज कर बज उठे ।

अयोध्या नगरी क्षणदा-छाया में *निस्तब्ध* पड़ी थी । अकस्मात् शत्रुघ्न ने शंख बजा कर वह नीरवता—निर्जीवता-भंग कर दी । शत्रुघ्न के अन्तर का आवेश, उत्साह, आह्वान शंख की ध्वनि के रूप में बाहर आ गया । उत्साही नवयुवक का श्वास उसकी छाती में नहीं समा रहा था, वह शंख का माध्यम पाते ही तुरन्त बाहर निकल आया । उत्तर में भरत ने शंख बजाया और पलक झपकते ही वहाँ सब ओर से *असंख्य* शंखों तथा नगाड़ों का शब्द गूँजने लगा ।

'साकेत' की ये पंक्तियाँ पढ़ते-पढ़ते पाठक का ध्यान अनायास ही कुरुक्षेत्र की उस युद्ध-भूमि पर जा पहुँचता है जहाँ—

······· कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥·······
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥

(....कौरवों में वृद्ध, बड़े प्रतापी पितामह भीष्म ने उच्च स्वर से सिंह-नाद के समान गरज कर शंख बजाया। उसके उपरान्त शंख और नगाड़े तथा ढोल, मृदंग और नृसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ। इसके अनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए श्री कृष्ण और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाये।.........उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथिवी को भी गुंजरित करते हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये।)*

परन्तु यहाँ 'साकेत' के प्रस्तुत उद्धरण की एक विशेषता का उल्लेख आवश्यक है। कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि पर इस समय सेनायें लड़ने के लिए सन्नद्ध खड़ी हैं, उन्हें केवल अपने-अपने सेनापति के शंख-नाद की ही प्रतीक्षा है, इसके विपरीत 'साकेत' में

नगरी थी निस्तब्ध पड़ी क्षणदा-छाया में

निश्चिन्त, सपनों से खेलते अयोध्यावासी युद्ध अथवा ऐसी ही किसी अन्य भयंकर स्थिति के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। वे तो अकस्मात् भरत, शत्रुघ्न के शंखों की ध्वनि सुनकर तुरन्त उठ बैठते हैं और पल भर का भी विलम्ब किये बिना ही उस स्थिति का सामना करने के लिए तैयार हो जाते हैं। तभी तो 'साकेत' का

यों ही शंख असंख्य हो गये, लगी न देरी।
घनन घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी॥

हमें

'ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखा.......

से भी अधिक प्रभावित करता है।

काँप उठा आकाश ... ... तरंग-भंग सौ सौ स्वर-सागर।

आकाश काँप उठा, पृथ्वी चौंक कर जाग उठी, नींद डर कर उठ भागी और क्षितिज (पृथ्वी तथा आकाश के मिलन-स्थल) में कहीं जा छिपी। वन में मोर बोलने लगे, नगरों में नागरिक बाहर निकल आये और सैंकड़ों स्वर-सागर परस्पर मिल कर तरंग-भंग करने (टकराने) लगे।

अकस्मात् ही बज उठने वाले शंखों की ध्वनि ने पृथ्वी को जगा दिया, आकाश को कँपा दिया। भयभीत निद्रा कहाँ जा कर जान बचाती? धरती और आकाश, दोनों तो उस ध्वनि के प्रभाव से गूँज रहे थे। अतः निद्रा क्षितिज के किसी कोने में जा छिपी। वन तथा नगर, आकाश तथा पृथ्वी, सबको समान

* श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १, श्लोक १२, १३, १४, १६।

रूप से प्रभावित किया है इस ध्वनि ने ! पशु, पक्षी, मानव सब बोल रहे हैं। एक विचित्र कोलाहल हो रहा है। जान पड़ता है मानो ध्वनियों के उन समुद्रों में परस्पर टकरा-टकरा कर असंख्य स्वर-लहरियाँ भंग हो रही हैं।

उठी क्षुब्ध सी अहा ! .... सोता हुआ यहाँ का सर्प जगाया।

अहा ! अयोध्या की नर-सत्ता (समस्त पुरुष) क्रुद्ध से हो उठे और साकेतपुरी का पत्ता-पत्ता जाग गया (सावधान हो गया)। शूर वीरों के दर्प (अभिमान) ने भय तथा विस्मय को नष्ट कर दिया। (अचानक ही कोलाहल देख-सुन कर पल भर के लिए शूरवीरों के हृदय में भय-विस्मय का सा भाव अवश्य उदित हुआ परन्तु शीघ्र ही उनके गर्व तथा आत्माभिमान ने उस भय-विस्मय का नाश कर दिया) यहाँ का यह सोता हुआ साँप किसने जगा दिया।

सीता-हरण तथा लक्ष्मण-मूर्छा आदि का समाचार सुन कर आधार-ग्रन्थों की साकेत नगरी का *पत्ता भी* नहीं हिलता। इसके विपरीत, इस अवसर पर, 'साकेत' की अयोध्या का *पत्ता-पत्ता* सजग हो जाता है।

'अयोध्या की नर-सत्ता'—शंख-नाद युद्धारम्भ का प्रतीक है। शंखों की तुमुल ध्वनि द्वारा यह निश्चित हो जाने पर कि युद्ध सन्निकट है, अयोध्या की नर-सत्ता क्षुब्ध हो जाती है। जन-तन्त्र के इस युग में रह कर भी यहाँ हमारे कवि ने *'जन-सत्ता'* (जैसे व्यापक शब्द) का प्रयोग न करके *'नर-सत्ता'* को ही क्षुब्ध प्रदर्शित किया है। यह सकारण है। युद्ध-भूमि पर *केवल* पुरुषों को जाना है, स्त्रियों को नहीं। नारियों की किसी दुर्बलता अथवा असमर्थता के कारण उन पर यह प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया, इसका मूल कारण तो कवि का यह विश्वास ही है कि—

भरत खण्ड के पुरुष अभी मर नहीं गये हैं।
कट उनके वे कोटि-कोटि कर नहीं गये हैं॥

अतः युद्ध के लिए कटिबद्ध नर-सत्ता का 'नारी' के प्रति यही सन्देश है कि—

"प्यारी, घर ही रहो ऊर्मिला रानी सी तुम,
क्रान्ति-अनन्तर मिलो शान्ति मनमानी-सी तुम !"

प्रिया-कण्ठ से छूट .... शीघ्र दीपक उकसाया।

(सोते हुए) योद्धाओं के हाथ अपनी प्रियतमाओं के गले से छूट कर तुरन्त शस्त्रों पर आ पड़े, उधर डरी हुई बधुओं के हाथ अपने सरकते तथा

अस्त-व्यस्त वस्त्रों को सँभाल रहे थे। अपने प्रियतम को समीप ही पाकर उन्हें कुछ साहस हुआ और उन्होंने भुजा (हाथ) बढ़ा कर तथा एक पैर नीचे टिका कर तुरन्त दीपक उकसा दिया!

"स्थिर चित्र खींचने में कवि को स्थान के ही अनुपात का ध्यान रखना पड़ता है, परन्तु गतिमय चित्र के अंकन में स्थान और काल, दोनों का महत्त्व है। अतः गति लाने के लिए कवि-कौशल की अपेक्षा अधिक होती है। समर्थ कवि के काव्य में ये सभी बातें अनायास ही उपस्थित हो जाती हैं, उसकी कलामयी दृष्टि में वस्तुओं का यथातथ्य स्वरूप अपने आप अंकित हो जाता है। वह भाव, मुद्रा, गति, आदि को पृथक्-पृथक् लेकर एक स्थान पर समाविष्ट नहीं करता, वरन् सम्पूर्ण को ही ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, शत्रुघ्न और भरत के ध्वनि-संकेत को सुनकर साकेत के निद्रा-विलासी वीर एक साथ चकित होकर उठने लगे। उनके सम्भ्रम का चित्र देखिए—

प्रिया-कण्ठ से छूट सुभट-कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त-वधू-जन-हस्त स्रस्त-से वस्त्रों पर थे।
प्रिय को निकट निहार उन्होंने साहस पाया,
बाहु बढ़ा, पद रोप, शीघ्र दीपक उकसाया।

इस वर्णन में चित्र और चित्र में गति आ गयी है। विलास-रत वीरों के हाथों का सहसा प्रिया के कण्ठों से छूटना और आदत के अनुसार तुरन्त ही शस्त्रों पर जाना, उधर वधुओं का भयातुर होकर खिसकते हुए ढीले अस्त-व्यस्त वस्त्रों को पकड़ना—फिर प्रियतम को समीप देख कर आश्वस्त हो बाहु बढ़ा कर एक पैर नीचे रख कर दीपक को उकसाना अनेक क्रियाओं का अत्यन्त सजीव चित्रण है।"❀

अपनी चिन्ता भूल .... प्रथम ही जिनके तप ने।

माँ (माताएँ) अपनी चिन्ता छोड़ कर उठीं और लपक कर अपने बाल-बच्चों को स्नेहपूर्वक यह कह कर थपकने लगीं, "हमें क्या डर है, जब राम हमारे राजा हैं तो फिर हमें क्या डर है? हमारे राजा राम के तप (तपस्या अथवा कष्टों) ने तो हमें भरत (जैसा श्रेष्ठ फल) पहले ही प्रदान कर दिया है।"

वात्सल्यमयी माताओं को अपनी चिन्ता नहीं, अपने बाल-बच्चों की ही चिन्ता है।

❀ डा० नगेन्द्र, साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ १६४-५।

साकेत की प्रजा के हृदय में राम तथा भरत दोनों के प्रति अपार श्रद्धा तथा विश्वास है।

चरर मरर खुल गये ... . छोड़ ज्यों बाहर आये।

(चरमर ध्वनि करके सहसा खुल जाने वाले किवाड़ों की भाँति) विस्मय तथा उत्साह आदि की ध्वनियाँ सब ओर फैल तो अवश्य गयीं परन्तु फिर भी वे (ध्वनियाँ) उन अजेय योद्धाओं के हृदय रूपी आवरण (बाधा) के कारण अस्थायी रूप से (कुछ समय के लिए) रुँध-सी गयीं (हृदय के ऊपर यदि अस्थि-माँस का यह आवरण न होता तो वे ध्वनियाँ और भी अधिक तीव्र हो जातीं)। सब वीरों ने हृदय को भाने वाले पाँच पाँच शस्त्र बाँधे हुए थे (ऐसा लग रहा था मानों इन वीरों के रूप में) स्वयं पंचानन ही पर्वत की गुफ़ा छोड़ कर बाहर निकल आये थे।

इस अवतरण में '*पंचानन*' शब्द अनेकार्थक है। 'पंचानन' का शब्दार्थ है 'पाँच मुख वाला'। इस शब्द का प्रयोग 'शिव' के लिए भी होता है और 'शेर' के लिए भी। शिव प्रलय के देवता हैं और सिंह वन का स्वामी। अयोध्या के ये पंचानन (पाँच-पाँच आयुध धारण करने वाले योद्धा) सिंह की भाँति भयंकर हैं और प्रलयंकर शिव की भाँति संहारक। शिव के प्रसंग में 'गिरि' का अर्थ 'कैलाश' होगा।

धरने आया कौन आग ... ... दीप धर, खोल झरोखे।

"मणियों के बहाने कौन यहाँ आग रखने चला आया ?"—(यह कह अथवा सोच कर) स्त्रियाँ झरोखे खोल कर तथा उनमें दीपक रख कर (बाहर की ओर) देखने लगीं।

शत्रुघ्न ने भरत से कहा था—

बाध्य हुआ था जो नृप-मण्डल,
देख हमारी अविचल शक्ति,
साध्य मानता है अब हमको,
*रखता है मैत्री क्या, भक्ति।**

अतः प्रत्यक्ष रूप से तो अयोध्या पर किसी के आक्रमण की कल्पना भी न की जा सकती थी। इसीलिए नगर की स्त्रियों के हृदय में इस विचार का उदय होता है कि कहीं कोई शत्रु, मित्र का वेश बना कर—मणियों के बहाने वास्तव में आग रखने—अयोध्या में न आ गया हो।

* 'साकेत' सर्ग ११।

'दीप घर, खोल झरोखे' में स्त्रियोचित भय-विस्मय का सफल अंकन है।

"ऐसा जड़ है कौन ••• ••• ••• यहाँ राम-राघव जन जन में।"

"ऐसा मूर्ख कौन है जो यहाँ भी धावा बोल दे? क्या कहीं कोई ऐसा (उपयुक्त) स्थान है जहाँ अपना यह सैन्य दल चढ़ जाए? (भाव यह है कि कहीं भी कोई ऐसा स्थान नहीं है जो हमारे सैन्य-बल के सम्मुख ठहर सके अथवा जहाँ जा कर हम अपने सैन्य-बल की परीक्षा कर सकें)। क्या कोई लोभी तथा मोही माण्डलिक (नरेश) यह सोच कर सशस्त्र विद्रोह कर उठा है कि राम इस समय घर (अयोध्या) में नहीं हैं? जो मूर्ख उन्हें वन में समझता है उस भाग्यहीन का विनाश अवश्यम्भावी है क्योंकि राम तो यहाँ (प्रत्येक) अयोध्या (वासी के हृदय) में रमे हुए हैं।

अयोध्या के प्रजा-जन को अपने बल-पौरुष पर पूरा भरोसा है, अपने शासक पर अनन्य विश्वास। राम तो उनके रोम-रोम में बस गये हैं। 'साकेत' के कवि का यह कथन सत्य ही है कि अयोध्या में—

*पूर्ण हैं राजा-प्रजा की प्रीतियाँ।**

स्वयं राम ने भी वन जाते समय प्रजा-जन से कहा था—

प्रजा नहीं, तुम प्रकृति हमारी बन गये।†

"पुरुष-वेष में साथ चलूँगी ••• ••• ••• शान्ति मनमानी-सी तुम!"

(वीर पत्नियाँ अपने पतियों से कह रही थीं) 'प्यारे, मैं भी पुरुष-वेष में तुम्हारे साथ (युद्ध में) चलूँगी। जब श्री राम तथा जानकी साथ-साथ (वन में) गये हैं तो फिर हम ही (इस समय) अलग क्यों हों?"

(पति उत्तर दे रहे थे) "प्रिये, तुम ऊर्मिला रानी की भाँति घर ही रहो और (युद्ध के उपरान्त) हमें इसी प्रकार मिलना जैसे क्रान्ति के पश्चात् अभिलषित शान्ति प्राप्त होती है!"

अयोध्या का प्रत्येक परिवार रघुवंश द्वारा प्रस्तुत किये गये आदर्शों से अनुप्राणित है। वीर-पत्नियाँ *सीता की भाँति* (विषम परिस्थितियों में भी) पति के साथ ही रहना चाहती हैं, उधर पतियों का उत्तर है—

प्यारी घर ही रहो ऊर्मिला रानी-सी तुम।

क्या इस उत्तर द्वारा ऊर्मिला के आदर्श को सीता के आदर्श से भी उच्चतर नहीं स्वीकार कर लिया गया?

* साकेत, सर्ग १।

† वही सर्ग ५।

'पुरुष-वेष में साथ चलूँगी मैं भी प्यारे'—'एक भारतीय आत्मा' की *सिपाहिनी* अपने वीर पति से कहती है—

कैसे सेनानी हो ? जो मैं नहीं सैनिका होने पाती ?
कैसे बल हो ? अबलापन को जो मैं नहीं डुबोने पाती ?
आदि पुरुष ने, अपनी माया के हाथों में कौशल सौंपा,
जग के उथल-पुथल कर देने के मस्ताने बल को सौंपा !
मेरे प्रणय और प्राणों के ओ सिन्दूर रक्तिमा लाली !
तुम कैसे प्रलयंकर शंकर ! जो मैं रहूँ न दुर्गा, काली ?
"जौहर" से बढ़कर, घोड़े पर चढ़कर, जौहर दिखलाने दो ।
*चुड़ियाँ हों सुहागिनी, यौवन ! यौवन अपनी पर आने दो ॥**

'क्रान्ति-अनन्तर मिलो शान्ति मनमानी-सी तुम'—'साकेत' के कवि ने *केवल* शान्ति-स्थापन के लिए ही क्रान्ति की उपादेयता स्वीकार की है ।

पुत्रों को नत देख ···· ···· ··· 'राम-काज, क्षण भंग शरीरा ।'

पुत्रों को झुका हुआ (युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पूर्व विदा माँगते) देख कर धैर्यसम्पन्ना माताओं ने कहा, "बेटा, राम-काज के लिए जाओ, यह शरीर तो क्षण भंगुर है (इसकी विशेष ममता करना उचित नहीं) ।"

'साकेत' की संस्कृति पर गाँधी जी की अहिंसा का प्रत्यक्ष प्रभाव है । यहाँ युद्धोत्साह में भी दमन अथवा अत्याचार की अपेक्षा समर्पण एवं त्याग का ही प्राधान्य है—

'जाओ बेटा—राम-काज, क्षण भंग शरीरा ।'

पति से कहने लगीं पत्नियाँ ···· ··· ···· वारती मानस-मोती ।

पत्नियाँ पतियों से कह रही थीं, "हे स्वामी, जाओ, तुम्हारा पुत्र भी तुम्हारे पथ पर ही चले ! जाओ, अपने राम-राज्य की आन (प्रतिष्ठा), अपने वीर-वंश की बान (स्वभाव) और अपने देश के मान (गौरव) की वृद्धि करो ।"

(पुत्र माताओं को आश्वासन दिला कर कह रहे थे) 'माँ, तुम्हारा पुत्र (युद्ध-भूमि पर) पीछे (की ओर) पैर नहीं रखेगा (सदा वीरतापूर्वक आगे ही बढ़ता रहेगा) ।" (पति पत्नियों को विश्वास दिला रहे थे कि) "प्रिये, तुम्हारा पति मृत्यु से भी नहीं डरेगा । परन्तु फिर भी (यह

* हिमकिरीटिनी, पृष्ठ १३६ से ४१ ।

आश्वासन पाने पर भी) तुम बेचैन सी होकर रो क्यों रही हो ?" (इस पर वीर-माताएँ तथा वीर-पत्नियाँ उत्तर देतीं) "हम रो नहीं रही हैं, इस प्रकार तो अपने मन रूपी मानसरोवर के मोती तुम पर निछावर कर रही हैं !"

'साकेत' की इन पंक्तियों में उन असंख्य माताओं तथा पत्नियों के त्याग-बलिदानों के दृश्य छिपे हैं जिन्होंने भारतीय-इतिहास के यवन और आंग्ल कालों में अपने पुत्र तथा पतियों को प्रसन्नतापूर्वक देश के स्वाधीनता-संग्राम में वीरोचित भाग लेने के लिए भेज दिया।

ऐसे अगणित भाव उठे ···· ··· ···· अगर-तगर-से डगर-डगर में।

महाराज रघु तथा सगर आदि के नगर (अयोध्या) में ऐसे ही (उपर्युक्त भावों जैसे) अनगिनत भाव उठ कर गली-गली में अगर और तगर (सुगन्धित लकड़ियों तथा द्रव्यों से उत्पन्न होने वाले धुँए) की भाँति फैल गये।

'*अगर*' और '*तगर*' नामक (पेड़ों की) लकड़ी बहुत सुगन्धिपूर्ण होती है। इस का प्रयोग पूजन आदि के अवसर पर किया जाता है। इसका धुआँ पवित्र भी होता है और सुगन्धित भी। इसी धुएँ की भाँति अयोध्यावासियों के वे असंख्य उच्च भाव, गली-गली तथा घर-घर में प्रकट हो कर, सब ओर बिखर रहे थे।

इन पंक्तियों में '*गर*' की पुनरुक्ति ने एक विचित्र प्रवाह उत्पन्न कर दिया है।

चिन्तित से काषाय-वसन-धारी ··· ···· ···· और झंकार पथों में।

गेरुआ रंग के वस्त्र पहने (वनवासी राम तथा नन्दिग्राम-वासी भरत के मन्त्री भी काषाय-वसन-धारी हैं) तथा कुछ चिन्तित से होकर सब मन्त्री तथा अनेक प्रकार के यन्त्र और तन्त्र चलाने वाले विशेषज्ञ उसी समय वहाँ एकत्रित हो गये। जल तथा स्थल सेना के सेनापति पूरी तत्परता के साथ अपनी सेनाएँ सजा रहे थे और विभिन्न सैनिक बाजे झनझन तथा घन-घन आदि ध्वनियाँ उत्पन्न करके बज रहे थे। पाल उड़ाती हुई नावें मानों अपने पंख फैला कर तैयार खड़ी थीं ताकि वे आदेश प्राप्त करते ही हंसिनियों की भाँति किसी भी ओर तुरन्त उड़ कर जा सकें (पाल उड़ाती हुई नावों की पंख फैलाने वाली हंसिनियों से तुलना अत्यन्त कोमल कवि-कल्पना का फल है)। पंक्तियों में बँट कर (जहाजों के) बेड़े हिलने-डुलने लगे, तरंगें उन पर थपेड़े मार-मार कर उन्हें थपकियाँ सी देने लगीं (प्रोत्साहित करने लगीं) उल्काएँ (मशालें) सब ओर प्रकाश बिखेर रही थीं और नगर

का अन्धकार पी-पी कर जीभ-सी चाट रही थीं (यहाँ कवि का सूक्ष्म पर्यवेक्षण द्रष्टव्य है)। (उन मशालों के सामने तो) आकाश में जड़ी हुई हीरों की कनियों (तारों) की आभा भी फीकी पड़ गयी थी। भालों के आगे के भाग (इतने ऊँचे उठ रहे थे कि यह भय उत्पन्न हो रहा था कि कहीं वे) मोतियों की तरह उन्हें (उन हीरों की कनियों—तारों—को) बींध न डालें। सधी हुई, सर्वथा स्वच्छ और नंगी तलवारें चमचमा रही थीं। तप्त (आवेश के कारण तपे-से हुए) घुड़सवारों के घोड़े भी तमतमा रहे थे और (अपरिमित उत्साह के कारण) कभी तो वे लगामें चाब चाब कर हींस रहे तथा पृथ्वी-तल को खूँद रहे थे और कभी हवा की भाँति उड़ने के लिए कान उठा-उठा कर तथा कूद-कूद कर अपनी आतुरता प्रकट कर रहे थे। (गले में पड़े) घंटों को बजाते हुए, सूंडों में शस्त्र पकड़े अपने जबड़ों में दो दाँतों के रूप में दो-दो मजबूत डंडे दबाए हुए हाथी अपने ही मद की गरमी न सह सकने के कारण अपने कानों को हिला-हिला कर बार-बार पंखा-सा झल रहे थे। लोहा तो योद्धाओं का सोने से भी अधिक प्रिय धन है (इस पंक्ति में यह ध्वनि भी है कि योद्धा सुवर्ण—झूठी तड़क-भड़क की अपेक्षा सार—वास्तविक महत्ता को ही अधिक पसन्द करते हैं) क्योंकि हाथ में लोहा (तलवार अथवा हथियार की ताकत) हो तो सोना तो पैरों में लोटता है। रथ में बैठ कर जाने वाले योद्धा रथों में बैठे थे। वे तो इस प्रकार चल रहे थे मानों अपने घर के साथ (घर में ही बैठ कर) आगे बढ़े जा रहे हों। उनके आगे-आगे (धनुषों की) टंकारें तथा (सैनिक-वाद्यों की) झंकारें गूँज रही थीं।

महाराणा प्रताप की 'भेरी' बजते ही उनके आस-पास एकत्रित हो जाने वाले राजपूतों का वर्णन श्री श्यामनारायण पाण्डेय ने इन शब्दों में किया है—

भेरी प्रताप की बजी तुरत बज चले दमामे धमर-धमर।
धम-धम रण के बाजे बाजे, बज चले नगारे धमर-धमर॥
जय रुद्र बोलते रुद्र सदृश खेमों से निकले राजपूत।
झट झण्डे के नीचे आकर जय प्रलयंकर बोले सपूत॥
अपने पैने हथियार लिये, पैनी-पैनी तलवार लिये।
आये खर-कुन्त कटार लिये जननी सेवा का भार लिये॥
कुछ घोड़े पर, कुछ हाथी पर, कुछ योधा पैदल ही आये।
कुछ ले बरछे, कुछ ले भाले, कुछ शर से तरकश भर लाये॥

रण-यात्रा करते ही बोले राणा की जय, राणा की जय।
*मेवाड़ सिपाही बोल उठे शतबार महाराणा की जय॥**

इस वर्णन में शोर-गुल, भीड़-भाड़ और भाग-दौड़ की तो कोई कमी नहीं है परन्तु इसमें न तो 'साकेत' के विचाराधीन अंश का सा अनुशासन (Discipline) है और न वह *गरिमा* (Dignity)। 'साकेत': में मन्त्री, यन्त्री, तन्त्री, जल-सेनापति, स्थल-सेनापति आदि सब यथास्थान हैं, नावें आज्ञा की बाट जोह रही हैं, बेड़े सैनिक ढंग से पंक्ति-बद्ध हैं, प्रकाश के लिए उल्काएँ हैं, गगन-चुम्बी भाले हैं, तुली-धुली-खुली-चमचमाती तलवारें तथा तल सादियों के साथ ही साथ तमतमाते तुरंग हैं। घोड़े? वे तो घुड़सवारों से भी अधिक आतुर हैं अपने लक्ष्य पर पहुँच जाने के लिए। हाथी? वे तो स्वयं भी अपने मद की ऊष्मा नहीं सह पा रहे। योद्धा? उनका धन लोहा है, तलवार नहीं। और रथ? उनके रूप में तो मानों योद्धाओं के गेह ही युद्ध-भूमि की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। इस प्रकार कवि ने टंकार तथा झंकार से भरे इस वातावरण में देश काल की सीमाओं का अतिक्रमण किये बिना ही अपनी मौलिक प्रतिभा, और काव्यमयी कल्पना-शक्ति के लिए समुचित स्थान निकाल लिया है।

पूर्ण हुआ चौगान ······ जगर-मगर जगमगा रहे थे।

राज-महल के मुख्य प्रवेश-द्वार के सम्मुख वह चौगान पूर्ण हुआ (युद्ध के वे सब साज-बाज एकत्रित हुए)। योद्धा (ललकार कर) कह रहे थे, "हमारे भाग्यहीन शत्रु कहाँ हैं?" असमय (उचित समय से पूर्व) ही जगा दिये जाने के कारण लाल आँखें (क्रोध के कारण) और भी लाल हो गयी थीं। प्रौढ़ तथा जरठ (अधेड़ तथा अधिक आयु वाले व्यक्ति भी) आज तेज के कारण तरुण (नवयुवकों जैसे) हो गये थे। उनके स्थूल तथा मांसल (मोटे ताजे) अंस (कंधे) थे, चौड़ी छाती थी और लम्बी बाँहें थीं। वे चाहते तो अकेले ही शेष-नाग (के मस्तक) का सम्पूर्ण भार (पूरे ब्रह्माण्ड का भार) उठा सकते थे! बालों के गुच्छे उछल-उछल कर उनके कन्धों पर बिखर रहे थे और मजबूत कलाइयों पर रण-कंकण क्रीड़ा-सी कर रहे थे। सूर्य-चिह्नांकित तथा मणियों से निर्मित (जड़े हुए) झंडे झकझका (चमक) रहे थे। वस्त्र धकधका (दहक अथवा भभक) रहे थे और शस्त्र भकभका (चमक) रहे थे। लोग गर्दन उठा (उचक-उचक) कर टक लगा रहे थे (ध्यानपूर्वक देख रहे थे); नगर जगैया जगमग-जगमग करके जगमगा (चमक) रहे थे।

---

* हल्दी घाटी, सर्ग ११, पृष्ठ १२२।

प्रसंग के अनुकूल ही यहाँ भाषा भी अत्यधिक ओजस्विनी हो गयी है।

उतर अरिन्दम प्रथम खण्ड पर ···· ···· ···· स्वर घन-सा—

अरिन्दम (शत्रुघ्न) राज-तोरण से उतर कर प्रथम-खंड (पहली मंज़िल) पर आकर रुक गया। उस समय शत्रुघ्न के दमकते हुए मुख का रंग तपे हुए सोने के रंग की भाँति गहरा था। जैसे ही शत्रुघ्न ने हाथ उठाये (सबको शान्त हो जाने के लिये कहा), सब ओर सन्नाटा छा गया; उस अपार सैन्य-सिन्धु (सेना रूपी सागर) में जहाँ ज्वार (उफ़ान) आ रहा था (कोलाहल हो रहा था) वहाँ अब भाटा (शान्ति) थी। (सूर्य) का प्रकाश सदा गूँगा है (प्रकाश में दीप्ति होती है परन्तु आवाज़ नहीं होती) वह किसी प्रकार का शब्द किये बिना ही फैलता है परन्तु वीर शत्रुघ्न का उदय (वहाँ प्रकट होना) (प्रकाशमान) सूर्य के समान था और स्वर बादल (की गर्जना) के समान (शत्रुघ्न के उस उदय में प्रकाश भी था और ध्वनि भी)। (यहाँ कवि ने व्यतिरेक द्वारा सूर्य के ध्वनिहीन प्रकाश की अपेक्षा शत्रुघ्न के ध्वनिशील प्रकाश का प्राधान्य प्रतिपादित किया है)

"सुनो सैन्यजन, आज एक ···· ··· ···· भूल कर भटकेंगे क्यों?

शत्रुघ्न ने कहा, "सुनो, सैनिक वृन्द, मैंने तुम्हें अकारण ही इस असमय (अनुचित समय) में अचानक नहीं जगाया है, आज एक नवीन अवसर आ उपस्थित हुआ है। एक बात अवश्य है। जो आकस्मिक होता है वही तो अधिक आकर्षक भी होता है। यह तो सर्वमान्य बात ही है कि जो बोता है वही काटता है (जो प्रयत्न करता है उसे ही अपने श्रम का फल प्राप्त होता है)। डरपोक तथा कायर पुरुष तो (देखने में) जाग-जाग कर भी (वास्तव में) सोता ही है परन्तु शूरवीर साका (कीर्ति प्राप्त करने) का अवसर स्वप्न में भी अपने हाथ से नहीं जाने देता। वीरो, साका—वही साका—कीर्ति पाने का वही अवसर आज आ उपस्थित हुआ है। शूरो, अपनी पताका (हमारा झंडा) आज समुद्र के पार उड़ रही है। समुद्र? कहाँ है अब वह समुद्र? अब तो (वह) जल भी स्थल (धरती) जैसा (सुगम) हो गया है (उस सिन्धु पर भी) विशाल पुल बँध गया है। इस प्रकार तो मानो आर्य-वंश का अर्गल (सिटकनी) ही खुल गया है (आर्य पहले सरलतापूर्वक समुद्र-पार नहीं जा सकते थे अब उन लोगों के मार्ग की यह बाधा दूर हो गयी है)! यह सब कार्य किसने किया? उन्हीं पुरुषोत्तम प्रभु श्री रामचन्द्र

जी ने जिन्हें हमने युग-धर्म के रूप में प्राप्त किया है, जो चिरन्तन सत्य की साकार प्रतिमा होकर भी नित्य नवीन हैं, सांसारिक सुखोपभोग का त्याग करके जो दिव्य साधना के लिए वन में गये हुए हैं, जिनकी बाट हम जोह रहे हैं और यह आशा लगाये बैठे हैं कि कब वे यहाँ आवें और इस प्रकार हम अपने उन धैर्यशाली नरेश को प्राप्त करें। अतः वीरो, आओ हम कुछ आगे बढ़ चलें और उनके पीछे जा कर (उनका अनुसरण करके) उन्हें आगे करके (सादर) यहाँ ले आवें। (हमें कोई कठोर प्रयत्न नहीं करना है) हमारा रास्ता तो बना-बनाया है, हमें तो केवल इस (बने-बनायें) पथ पर चलना ही है। उन श्री रामचन्द्र जी ने पहले से ही हमारे लिए यह मार्ग बना दिया है जिन्हें मगर आदि जल-जन्तुओं से भरा समुद्र भी न रोक सका। जब श्री राम ने उस समुद्र को भी स्वच्छ कर दिया तो फिर भला हम क्यों (कैसे) अटकेंगे ? (हमारे मार्ग में भला क्या बाधा आएगी) ? हमारे सामने (इस पथ पर) तो पहले ही प्रभु के चरण-चिह्न बने हुए हैं फिर भला हम रास्ता कैसे भूल जावेंगे ?

दुर्गम दक्षिण-मार्ग समझ कर ···· ···· ···· साधु-वेशी खल छल से।

अपने मन में दक्षिणापथ को दुर्गम (जहाँ जाना कठिन हो) समझ कर ही आर्य (श्री राम) चित्रकूट से दण्डक वन में गये थे (इस प्रकार जान-बूझ कर ही उन्होंने विषम परिस्थितियों में पदार्पण किया था)। धैर्यशालियों की मति वहीं तो है जहाँ शंकाएं है (शंकाओं की उपस्थिति में ही धीर व्यक्तियों के धैर्य तथा बुद्धि की परख होती है) जहाँ आशँकाएं (भय) हैं वास्तव में वही स्थान तो वीरों के बढ़ने के लिए उपयुक्त है। लंका के मांसाहारी जीव (राक्षस) दण्डक वन में आकर विचरण करते थे। उनके कारण भोले-भाले शान्त तथा दयालु ऋषि-मुनियों को मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता था। फिर (ऐसी दशा में) आर्य (मुनियों की रक्षा तथा राक्षसों का संहार करके) अपना वन में आना सफल कैसे न करते ? पुण्य-भूमि पर पापियों का अड्डा कैसे बना रहने दिया जाता ? (यह सत्य है कि) उस भरत-खण्ड (भारतवर्ष) का द्वार समस्त संसार के लिए खुला है जहाँ भक्ति और मुक्ति (ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों) का समुचित संगम है परन्तु जो लोग (इस पुण्यभूमि पर) अत्याचार करने (की इच्छा से) आवेंगे वे लोग नरकों में भी स्थान न पाकर पछतावेंगे।

अस्तु, प्रभु ने दंडक वन में जाकर धर्म-कार्यों में होने वाली समस्त

बाधाएं दूर कर दीं। विजय-लक्ष्मी ने स्वयं ही आकर उनसे भेंट की। इस पर भी दुष्ट राक्षस झुंड बना-बना कर (रामचन्द्र जी का सामना करने के उद्देश्य से) आये परन्तु उनमें से कोई भी जीवित लौट कर न जा सका। शत्रु झाड़-झंखाड़ों की भाँति उड़े परन्तु (प्रभु के तीरों की) अग्नि में पड़ कर (भस्म होकर) ही रह गये। प्रभु के तीर युद्ध-भूमि में ज्वाला के समान ही तो हो जाते हैं! क्या (हवा के) सौ (सैकड़ों) झोंके (मिल कर) भी एक अचल (पर्वत) को हिला सकते हैं? सैंकड़ों साँप भी भला एक गरुड़ का क्या बिगाड़ सकते हैं? आखिर यह सब समाचार उस रावण तक पहुँचा जो हमारे ब्राह्मणों, देवताओं, गौओं तथा धर्म-कार्यों का काँटा (बाधक) है। कहीं माँ (कैकेयी) ने (रावण-रूपी) उसी कुटिल काँटे को निकाल कर संसार (पृथ्वी) का भय दूर करने के लिए ही अपने बड़े पुत्र (राम) को वन में न भेजा हो? राक्षसराज रावण ने विधि-पूर्वक तपस्या करके (विधाता अथवा ब्रह्मा से) (अपरिमित) ऐश्वर्य प्राप्त किया। वही रावण (अनेक) पाप करके (अन्त में) स्वयं राम से (राम के हाथों) मरने के लिए उद्यत हो गया परन्तु वह पापी जब अपने बल से श्रीराम का सामना न कर सका तो साधु का वेश धारण करके उस दुष्ट ने छलपूर्वक अबला सीता का हरण करने का निश्चय किया।

'शंकाएं हैं जहाँ, वहीं धीरों की मति है, आशंकाएं जहाँ, वही वीरों की गति है' : इन पंक्तियों में किंचित विरोध के आधार पर शब्दों को तोल कर इस प्रकार रखा गया है कि उक्ति में एक अपूर्व बल और चमत्कार उत्पन्न हो गया है।

पुण्य भूमि पर रहे पापियों का थाना क्यों?—साकेत के रचना-काल को ध्यान में रख कर देखने पर इस पंक्ति में से यह ध्वनि भी निकलती है कि 'पुण्यभूमि भारत पर पापी अंग्रेजों का आधिपत्य क्यों रहे?'

'भरत खण्ड का द्वार विश्व के लिए खुला है'—भारतीयों की उदारता तथा सहिष्णुता सम्पूर्ण विश्व के इतिहास में अपना अनुपम स्थान रखती है। गुप्त जी ने अन्यत्र भी लिखा है—

आजा हे संसार! खुला है सोने के भारत का द्वार,
प्रहरी नहीं, किन्तु साक्षी है अटल हिमालय उच्च उदार।
किसका भय हो हमें, लोभ ही नहीं किसी का किसी प्रकार,
*जो जिसको लेना हो, ले ले, अक्षय है अपना भण्डार॥**

* स्वदेश संगीत, पृष्ठ ७८।

सुनने को हुँकार सैनिको .... शत्रु-पुरी लंका को लूटो!"

(शत्रुघ्न के मुख से सीता-हरण की बात सुन कर सैनिकों ने एक हुंकार भरी। शत्रुघ्न ने सन्तुष्ट होकर कहा), "सैनिको, तुम्हारी यही हुंकार सुनने के लिए (जिसके आगे—जिसे सुन कर—शत्रुओं के होश-हवास ही उड़ जावें) मैंने इस प्रकार तुम्हें अचानक जगाया है और तुम जागे हो। (यह अभिलषित हुंकार सुन कर मुझे यह निश्चय हो गया है कि) विजय तो पहले ही से हमारे आगे नाच रही है। परन्तु विजय तो (जीवन ही क्या) वीरों की मृत्यु के भी आश्रित है (वीरों की मृत्यु में भी विजय ही है) वीरों के कीर्ति-चरण (युद्ध में उचित ढंग से लड़ कर वीरगति पाने) में भी शाश्वत जीवन है अतः हार-जीत अथवा जीवन-मृत्यु की चिन्ता न करके हमें तो अपने कर्तव्य मात्र का पालन करना है। जिस दुष्ट ने उस पतिव्रता को हाथ लगाया है (जिसने उस नीच का अतुलित धन वैभव ठुकरा दिया) उसके वे पापी हाथ तो स्वयं समर्थ प्रभु काटेंगे। राम के बाण इस समय जागृत हैं वे ही उसके शरीर में प्रवेश करके उसके प्राण चाटेंगे परन्तु प्रतिशोध (बदला) हमें बुला रहा है (जाने के लिए प्रेरित कर रहा है) (भाव यह है कि हम प्रभु को दुर्बल अथवा शक्तिहीन समझ कर उनकी सहायता के लिए नहीं जा रहे हैं, हम तो अबला सीता के अपमान के बदले की भावना से ही उस ओर जा रहे हैं)। हमारा अभिमान स्वयं जाग्रत हो कर हमें भी जगा रहा है। आज ज्ञान ही हमारा ध्यान उस ओर आकृष्ट कर रहा है (हमें वहाँ के समाचार प्राप्त हो चुके हैं अतः प्रभु को सर्वथा समर्थ जान कर भी हम वहाँ जाये बिना रह नहीं सकते) अतः अब तो शत्रु की लंका के सुवर्ण (सोने अथवा सुन्दर वर्णों) से ही हमारा वृत्तान्त लिखा जाए।

हाय! मृत्यु की अपेक्षा जीवन से भयभीत हमारी देवी सीता राक्षसियों से घिरी हुई हैं! वे उस कारागार में खड़ी हमारी बाट जोह रही हैं। वह राज-हंसिनी शिकारी के जाल में फँसी हुई हैं। (एक) अबला (नारी) का अपमान समस्त बलवानों का अपमान है। सती-धर्म का मान (आदर) समस्त मानों (प्रतिष्ठाओं) का मुकुट (शिरोमणि) है (सर्वोपरि है)। वीरो, जीवन तथा मरण तो यहाँ (संसार में) (स्वयमेव ही) आते-जाते रहते हैं परन्तु उनका (जीवन और मृत्यु का वास्तविक) अवसर कहाँ और कितने मनुष्यों को प्राप्त होता है? (जीवन और मृत्यु का

वास्तविक अवसर बहुत ही दुर्लभ है)। अतः वीरो, तुम्हें जहाँ भी अपने वैरी दिखाई दें, वहीं उन्हें मार डालो (यदि इस पुण्य-कार्य में तुम्हारी मृत्यु हो जाए तब भी उनका पीछा न छोड़ो और) मर-मर कर भी प्रेत बन कर उन्हें सताओ। अपनों को छोड़ कर (इष्ट मित्रों के बिना) तो मुक्ति भी हमारे लिए कारागार के समान है परन्तु अपने सगे-सम्बन्धियों के लिए (अथवा उनके साथ रह कर) हमारे लिए नरक भी स्वर्ग-तुल्य है। जो नीच पापी इस पुण्य-भूमि पर पैर रखें और स्वभावतया मद्य (और माँस) के प्रेमी (हमारी) कुल-लक्ष्मी का हरण करें उनका खून भर कर (एकत्रित करके) उससे अपने बन्धु-बान्धवों का तर्पण कर लो और उनका अवशेष मांस जटायु जैसे प्राणियों को समर्पित कर दो! यात्रा में तो उत्साह-योग (समुचित उत्साह) ही मुख्य शकुन है (इसके उपरान्त फिर कोई और शकुन देखने की आवश्यकता नहीं रहती)। हमें (अपने इस प्रयत्न के) फल की चिन्ता नहीं, हमें तो धर्म (कर्त्तव्य) पालन की ही लगन लगी है। केवल मनुष्य ही नहीं, वे देवता भी हमारे कर्म के वश में हैं जो वस्तुतः हमारे मन, बुद्धि तथा हृदय के गुप्त भावों के स्वयं साक्षी हैं। वे वनचारी वानर वास्तव में धन्य हैं जो यह अपमान न सह सके और जो उछल-कूद कर बादलों की तरह गड़गड़ा कर संघर्ष कर रहे हैं। चलो-चलो नर श्रेष्ठो, कहीं वानर ही समस्त यश न ले लें; वे (रावण की) बीस भुजाएँ भले ही ले ले परन्तु उसके वे दस सिर तो हम ही लें। (सैनिकों की ओर से सन्तोष-जनक प्रत्युत्तर पाकर शत्रुघ्न ने कहा) साधु! साधु! मुझे तुमसे यही आशा थी (कि तुम मुझे यही उत्तर दोगे कि) 'अब से हमारा विरोध करने वाले वैरियों का केवल नाम ही बाकी रह जावे, अस्तित्व न रहे।' अस्तु, यह निश्चय हुआ कि "हम उन्हें मार देंगे अथवा स्वयं मर जावेंगे" जब हमें मृत्यु से ही भय न रहा तो फिर भला और किसका डर हो सकता है? हम सब लोग एक ही क्यारी में बोये गये विभिन्न पौधों के समान हैं, माली हमें यहाँ से उखाड़ कर ले चलता है तो हम रोते हैं परन्तु बन्धु, वह (माली) हमें फिर (यहाँ से उखाड़ने के बाद) जहाँ बोयेगा वह स्थान क्या इस भुक्त (भोगे हुए अथवा पुराने घर से अधिक उपयुक्त (अच्छा) ही न होगा? तथापि हम तो आज स्वयं यम को भी चुनौती दे सकते हैं क्योंकि हमारे पास तो संजीवनी नाम की वह प्रसिद्ध एवं आश्चर्यजनक औषधि भी मौजूद है जिसकी परीक्षा अपने ही ऊपर करके हनूमान उसे आकाश

पार करके (भाई लक्ष्मण के लिए) ले गये हैं। लंका की तीक्ष्ण शक्ति आर्य लक्ष्मण ने सहन कर ली थी, उनकी रक्षा का भार उसी विशेष औषधि—संजीवनी—ने ही तो अपने ऊपर लिया। प्रभु ने कुम्भकर्ण जैसे कुख्यात निर्दयी को मार डाला। विभीषण स्वयं ही प्रभु की शरण में आकर (राक्षस-वंश छोड़ कर) मानव-वंश का अनुयायी बन गया। वीरो, अब (देर) क्या है, बस, तीर की भाँति छूट पड़ो और उस शत्रु की स्वर्ण-नगरी लंका को लूट लो।"

'अबला का अपमान सभी बलवानों का है, सती-धर्म का मान मुकुट सब मानों का है' : भारतीयों का विश्वास है कि अबलायें केवल कुल की शोभा ही नहीं, राष्ट्र की कीर्ति, देश की आबरू भी हैं अतः किसी भी एक नारी का अपमान समस्त राष्ट्र का अपमान है। भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक अवसरों का उल्लेख प्राप्त है, जब देश की किसी एक अबला के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र ने सहर्ष अपने को युद्ध की प्रचण्ड अग्नि में झोंक दिया।

'पर अपनों के लिए नरक भी स्वर्ग हमारा' : माण्डवी ने भी तो अन्यत्र कहा है—

है अपनों के संग मरण जीवन-सम मुझको।

और—

हम सब होंगे जहाँ, हमारा स्वर्ग वहीं है।

'पैर धरें इस पुण्य-भूमि···कर दो अर्पण' : यहाँ राष्ट्रकवि का क्रान्तिकारी-रूप ही प्रबल हो उठा है।

'पौधे से हम उगे···भुक्त अजिर से' : विश्व-वाटिका में विभिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न पौधों की भाँति ही तो उत्पन्न हुए हैं। मृत्यु के अवसर पर हमें रोना आ जाता है परन्तु वास्तव में इसमें रोने की कोई बात है नहीं। माली एक स्थान से उखाड़ कर पौधे को दूसरे अधिक उपयुक्त स्थान पर लगा देता है, ठीक इसी प्रकार विश्व-वाटिका का माली स्वरचित पौधों को एक स्थान से—भुक्त अजिर से—(पौधे पृथ्वी में से ही तो अपने खाद्यांश सोखते हैं) हटा कर अधिक उपयुक्त स्थान पर लगा देता है। पुनर्जन्मवाद की कितनी काव्यात्मक मीमांसा है यह!

"नहीं, नहीं"—सुन चौंक पड़े ···· ··· ···· किरण-सा शूल विकट था।

(शत्रुघ्न सैनिकों को शत्रु की स्वर्णपुरी लूट लेने का आदेश दे ही रहे थे कि वहाँ अकस्मात गूँज उठा) "नहीं, नहीं" यह सुन कर शत्रुघ्न

और उनके साथ ही और सब लोग भी चौंक पड़े। उसी समय (रात्रि के उस अन्धकार में) स्वयं ऊषा जैसी ऊर्मिला वहाँ आ गयी। वीणा के तारों पर उतरती तथा चढ़ती अंगुली के समान सती (सीढ़ियाँ) उतर कर तुरन्त (प्रथम खंड पर) पहुँच गयी (वीणा की स्वर-लहरी का साथ देने वाली) ताल (हथेली आदि की ध्वनि) की भाँति ऊर्मिला की सखी उसके साथ ही साथ खिंची आ रही थी। लक्ष्मण की रानी ऊर्मिला शत्रुघ्न के पास आ कर इस प्रकार ठहर गयी मानो (देवताओं के सेनापति) स्वामी कार्त्तिकेय के समीप पहुँच कर भवानी (पार्वती) ठहर गयी हो। उसके लम्बे बाल जटा के बन्धन से मुक्त हो गये थे (ऐसा जान पड़ता था मानो उस) घटा (बालों) में (छिपे) उसके मुख पर सैंकड़ों सूर्य (सूर्यों की दीप्ति) फूट पड़े थे। उसके माथे का सिन्दूर जलते हुए अंगारे के समान था और दुबला हो कर भी उस का शरीर प्रभातकालीन (प्रथम) ताप (सूर्य को प्रथम रश्मियों से उत्पन्न गरमी) के समान पवित्र था। उसका बाँया हाथ शत्रुघ्न की पीठ पर उनके गले के समीप था और दाँये हाथ में स्थूल किरण जैसा (किरणें प्राय: अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। यहाँ शूल की स्थूलता में किरणों की चमक-दमक का भाव प्रकट करने के लिए उसे स्थूल किरण सम कहा गया है) विकट (भयंकर) शूल (भाला) था।

'साकेत' में ऊर्मिला के दर्शन सर्वप्रथम इस रूप में होते हैं—

प्रकट-मूर्तिमती उषा ही तो नहीं?
कान्ति की किरणें उजेला कर रहीं?
यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,
आप विधि के हाथ से ढाली गई।
कनक-लतिका भी कमल-सी कोमला,
*धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला।**

राम-वनवास के अवसर पर उस 'नयी वधू भोली-भाली' को एक अप्रत्याशित स्थिति का सामना करना पड़ता है और उसके स्वर्णिम स्वप्न सहसा नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। उस समय—

उधर ऊर्मिला मुग्ध गिरी,
कहकर "हाय!" धड़ाम गिरी।†

* साकेत, सर्ग १।

† साकेत, सर्ग ४।

नव वय में ही विश्लेष हो जाने के कारण ऊर्मिला को यौवन में ही यति का वेष धारण करना पड़ा । अब उसकी—

मुख-कान्ति पड़ी पीली पीली,
आँखें अशान्त नीली नीली ।
क्या हाय ! यही वह कृश काया,
*या उसकी शेष सूक्ष्म छाया ?**

वियोग की अवधि समाप्त होते-होते वह एक दिन किसी अन्तःप्रेरणा से प्रभावित होकर अन्न-जल छोड़ देती है तथा उसके निरन्तर बहते रहने वाले आँसू भी सूख जाते हैं परन्तु राक्षसों के अत्याचार तथा अपने पति की मूर्च्छा का समाचार पाकर तो वीर क्षत्राणी का वीर पत्नीत्व प्रबुद्ध हो जाता है । उसके मुख पर सैंकड़ों सूर्यों का तेज फूट पड़ता है और माथे का सिन्दूर प्रज्वलित अंगार जैसा हो जाता है । प्रतिशोध के लिए आतुर शत्रुघ्न ने यदि इस अवसर पर स्वामी कार्तिकेय का रूप धारण कर लिया है तो लक्ष्मण की रानी भवानी बन गयी है । अयोध्या-वासियों को युद्ध के लिए सन्नद्ध करने के लिए आतुर शत्रुघ्न यदि ऋषभ लांघ कर स्वर पर छा जाने वाले मात्यकोश की भाँति दो-दो सीढ़ियाँ लाँघ कर राज तोरण पर आते हैं तो लंका को लूटने को आतुर सैन्य जनों को कर्त्तव्य का बोध कराने के लिए त्रिशूलधारिणी ऊर्मिला वीणा के तारों पर थिरकती अँगुली की भाँति चढ़ कर राज-तोरण तक पहुँचती है । सुलक्षणा—ऊर्मिला के दुःख-सुख की संगिनी—यहाँ भी उसके साथ है, ठीक उसी प्रकार जैसे ताल स्वर-लहरी का अनुगमन करती है ।

गरज उठी वह—"नहीं' नहीं ... ... कर्म-फल अधम अभागे !"

ऊर्मिला ने गरज कर कहा, "नहीं, नहीं", पापी का वह सोना यहाँ न लाना, चाहे उसे वहीं समुद्र में भले ही डुबो देना । वीरो, आज तुम्हें धन को तो ध्यान में भी नहीं लाना चाहिए, यदि जा रहे हो तो केवल मान (की रक्षा) का उद्देश्य ही साथ ले कर जाओ (धन-प्राप्ति के लोभ से नहीं) । सावधान ! निकृष्ट धान्य जैसे उस धन को हाथ से छूना भी नहीं, तुम्हें तुम्हारी मातृ-भूमि ही (उससे) दुगुना धन प्रदान कर देगी । यह तो बताओ कि हमारे इन श्रेष्ठ घरों में किस धन का अभाव है (जो हम दूसरों का धन लूटने का पाप अपने ऊपर लें) ? हमारी वाटिकाओं में फल भरे हैं

* साकेत, सर्ग ९ ।

और हमारे खेतों में अनाज। (गाय तथा बछड़ों के रंभाने के शब्दों से) गूँजती हुई हमारी गोशालाएँ दूध से भरी हैं (हमारी इसी भूमि में) सोने जैसी बहुमूल्य धातुओं तथा मणियों (बहुमूल्य पत्थरों) के अनगिनत भण्डार छिपे पड़े हैं। मुख्य रूप से पवित्र हमारी यह पृथ्वी तो देवताओं को भी दुर्लभ है। पुण्य की प्रतिमा-स्वरूपिणी सीता इसी देव-दुर्लभा पुण्य-भूमि की ही तो पुत्री हैं। अतः अपनी इस मातृभूमि की प्रतिष्ठा ही तुम्हारा एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए। लाखों की संख्या में हो कर भी तुम सबका लक्ष (निर्दिष्ट) एक ही होना चाहिए। सीता रानी हमारे भौतिक सुखों की सिद्धि स्वरूपिणी हैं और बलवान् तथा दानशील महाराज राम दिव्य फल के समान हैं। (हमारे देश की) मलय (सुगन्धित) पवन को नीच राक्षसों की यह दुर्गन्ध गन्दा न कर दे; अपनी इस वाटिका में कोई दुष्ट कीड़ा न लग जाए। देखो, हे धीरो, विन्ध्य और हिमालय का मस्तक कहीं झुक न जाए; वीरो, चन्द्र तथा सूर्य वंश की कीर्त्ति-किरणें रुक न जावें। अपने वंश के गौरव, मानी वीरो, सुनो, अपनी गंगा, यमुना, सिन्धु तथा सरयू आदि नदियों का पानी चढ़ कर उतर न जाए। इसी प्राचीन पुण्यभूमि पर तुमने बार-बार आगे बढ़ कर अपने ही बल पर दिग्विजय किये हैं परन्तु यदि तुम्हारे ही कुल की प्रतिष्ठा संकट में हो तो तुम्हारे प्राण व्यर्थ ही शरीर में ठहरे हुए हैं। अपने ही कार्यों से किसका कुल आर्य (श्रेष्ठ) बना है ? (आर्यों ने ही सब को सभ्यता का पाठ पढ़ा कर श्रेष्ठ बनने में सहायता दी है) सम्पूर्ण पृथ्वी पर किस ने आर्यों से (सभ्यता का) पाठ नहीं पढ़ा ? अतः आज शत्रु भी तुम से वह शिक्षा प्राप्त करें जिसके आरम्भ में दण्ड हो और अन्त में दया-क्षमा। देखो, पूर्व दिशा से अपनी ऊषा प्रकट हो रही है (अपना भाग्योदय हो रहा है) संसार की शोभा यही ऊषा हमारी स्वाभाविक पताका है। ठहरो, मैं तुम्हारे आगे-आगे कीर्त्ति की भाँति चलती हूँ। नीच तथा भाग्यहीन शत्रु अपने बुरे कर्मों का फल भोगें !"

"उसका (ऊर्मिला का) यह रूप साक्षात् भारत माता का रूप है। उसके शब्दों में 'साकेत' के युग-प्रतिनिधित्व का सार है। उसका संदेश देश की आत्मा की पुकार है। यहाँ कवि ने उसका महान् (Sublime) स्वरूप अंकित किया है।"*

भाल-भाग्य पर तने हुए थे .... शत्रु पर तरज रहा था।

ऊर्मिला के मस्तक पर तेवर चढ़े हुए थे। (इस प्रकार मानो वह स्वयं

* साकेत, एक अध्ययन, पृष्ट १३।

भाग्य के विरुद्ध अपना क्रोध प्रकट कर रही थी।) यह सब देख-सुन कर देवर (शत्रुघ्न) ने कहा "भाभी, भाभी !" उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया था (रुँध-सा) गया था। सामने ही सैनिकों का वह विशाल समूह समुद्र की भाँति गरज रहा था। (शत्रुघ्न) अत्यन्त नम्रतापूर्वक उस (सैन्य-समूह) को रोक कर (शान्त करके) शत्रु पर क्रोध प्रकट कर रहे थे।

"क्या हम सब मर गये हाय ! .... गीत रच, थाल सँजोओ।"

(अयोध्या के वीर सैनिकों ने ऊर्मिला को सम्बोधित करके कहा—) "हाय ! क्या हम सब मर गये हैं जो तुम जा रही हो ! अथवा तुम आज हमें दीन-दुर्बल पा रही हो ? देवि ! या तो हम शत्रु को विनष्ट कर देंगे अथवा स्वयं ही समाप्त हो जावेंगे। क्या हम अपनी लक्ष्मी (सीता) को लिये (छुड़ाये) बिना घर आ जावेंगे (हम अपनी लक्ष्मी को अपने साथ ले कर ही लौटेंगे) ? (तुम निश्चिन्त रहो) वही होगा (हम वे कार्य ही करेंगे) जो उचित होगा। (जन्म-भूमि की) इस मिट्टी पर तो (राक्षस-भूमि का) वह सोना निछावर है (इस मिट्टी के सम्मुख वह सोना भी तुच्छ है)। अयोध्यापुरी की ज्योति, तुम इस प्रकार अधीर न हो और (हमें विदा दे कर स्वयं) प्रभु के (समुचित) स्वागत के लिए (भाँति-भाँति के) गीत (स्वागत-गान) रच कर स्वागत-थाल सजाओ।"

"वीरो, पर, यह भोग भला .... परों पर रोऊँगी मैं।"

(ऊर्मिला ने उत्तर दिया–) वीरो, (मुझे तुम्हारे बल-पौरुष पर तो पूर्ण विश्वास है परन्तु) भला मैं यह अपूर्व अवसर कैसे हाथ से निकल जाने दूँ ? मैं (युद्ध-भूमि पर तुम्हारे साथ जा कर) अपने ही हाथों से तुम्हारे घाव धोऊँगी, तुम्हें पानी दूँगी, पल भर के लिए भी सोऊँगी नहीं और अपनों की विजय के गीत गा कर दूसरों (के नाश) पर आँसू बहाऊँगी।

ऊर्मिला के ये शब्द अपनी व्याख्या स्वयं ही हैं। आश्चर्य (तथा खेद) की बात है कि क्रीमिया के युद्ध में आहत होने वाले (गिने-चुने) सैनिकों की परिचर्या करने वाली फ्लोरेंस नाइटिंगेल (Florence Nightingale) तो देखते ही देखते 'प्रकाश की देवी' (Lady with the Lamp) कहला कर *विश्व विख्यात* हो गयी परन्तु मानवता और पशुता, सभ्यता और बर्बरता के बीच होने वाले इस संग्राम में अपने हाथों से वीरों के घाव धोने, उन्हें पानी देने, पल भर न सोने, अपनों की विजय के गीत गाने—इतना ही नहीं—शत्रुओं की पराजय पर

भी आँसू बहाने की महानतम आकांक्षा रखने वाली यह गरिमामयी देवी—यह शाश्वत ज्योति—*अपने देश में भी* युग-युग तक अज्ञान के अन्धकार में ही छिपी रही !

"शान्त, शान्त !" गम्भीरनाद ··· ··· ··· हंसनिष्ठ, एकानन विधि-से ।

अकस्मात् वहाँ "शान्त, शान्त !" की गम्भीर ध्वनि सुनाई दी। (ऐसा जान पड़ता था) जैसे आकाश का गरजता हुआ बादल पृथ्वी पर गूँज उठा हो। ("शान्त-शान्त !" कहते हुए) तपोनिधि कुलपति वृद्ध वसिष्ठ वहाँ आ गये। सूर्य-वंश के आत्म-निष्ठ (आत्मरत) गुरु वसिष्ठ एकानन (एक मुख वाले) (हंसारूढ) ब्रह्मा के समान जान पड़ रहे थे।

तप के निधि-से : कुछ ही क्षण पश्चात् वसिष्ठ अपने तपोबल से अयोध्या-वासियों को दूर-दृष्टि प्रदान करके उन्हें वहीं बैठे-बैठे ही लंका में घटित होने वाली समस्त घटनाएँ दिखाने वाले हैं अतः कवि ने *तप के निधि से* कह कर उनकी तपस्विता का समुचित परिचय पहले से ही दे दिया। प्रयुक्त शब्दों का यह पूर्वापर सम्बन्ध कवि की सतर्कता एवं उसके रचना-कौशल का प्रमाण है।

हंस-वंश-गुरु, हंस-निष्ठ, एकानन-विधि से : यहाँ कवि ने वसिष्ठ और ब्रह्मा में साम्य स्थापित किया है। ब्रह्मा (प्रलय के उपरान्त) नवीन सृष्टि की रचना करते हैं, वसिष्ठ प्रस्तुत प्रलयकारिणी सैन्य-घटा को हटा कर उन्हें शान्त कर रहे हैं। ब्रह्मा का वाहन हंस है, वसिष्ठ भी हंसनिष्ठ (आत्म-रत) हैं। वसिष्ठ और ब्रह्मा में एक प्रत्यक्ष अन्तर अवश्य है। ब्रह्मा के चार मुख माने गये हैं (तभी तो उन्हें 'चतुरानन' भी कहते हैं) परन्तु वसिष्ठ का मुख एक ही है। इसी अन्तर को ध्यान में रख कर कवि ने उन्हें *'एकानन विधि-से'* कहा है।

सेना की जो प्रलयकारिणी घटा ··· ·· विनत, विस्मित, वारित थे।

सेना (सैनिकों) की जो प्रलय (शत्रु का सर्वनाश) कर देने वाली (प्रलय के लिए सन्नद्ध) घटा उस समय (वहाँ सब ओर) उठ रही थी, अब (कुलगुरु का गम्भीर नाद सुन कर) उसमें से विनय तथा नम्रता की छटा (शोभा) फूटी पड़ रही थी। सेना (अथवा सैनिक) रूपी सर्प जो अपने फन उठा-उठा कर (क्रोध में भर कर) फुंकारें मार रहे थे वे मानो शिव-मन्त्र सुन कर विनत तथा विस्मित हो कर निछावर-से हो रहे थे।

वसिष्ठ कुल-गुरु हैं। वे रघुवंश के ही नहीं, समस्त अयोध्यावासियों के पूज्य हैं, उनके नेता, पथ-प्रदर्शक तथा विधायक हैं। 'साकेत' के कवि ने इस महत्त्वपूर्ण

व्यक्तित्व से पूरा लाभ उठाया है। सर्वप्रथम वे महाराज दशरथ के हृदय में उत्पन्न होने वाला अस्थैर्य शान्त करके उन्हें धैर्य बँधाते हैं।* इसके उपरान्त वे लोक-कल्याण के लिए राम-लक्ष्मण-सीता को अयोध्या से विदा करते हैं।† राम-वनवास के उपरान्त भरत को ग्लानि और आत्म-भर्त्सना के अथाह समुद्र में से सकुशल निकाल कर उन्हें कर्त्तव्य निरत करने का कठिनतम कार्य तो कदाचित् कुल-गुरु वसिष्ठ के अतिरिक्त किसी और के द्वारा सम्भव ही न था। इसी अवसर पर वे रानियों को भी 'सह-मरण' की अपेक्षा 'आयु भर स्वामी-स्मरण' की शिक्षा देते हैं। यहाँ 'साकेत' के वसिष्ठ अपने भव्यतम रूप में सामने आते हैं।‡ चित्रकूट में "उस सरसी-सी आभरण-रहित सितवसना" माँ को देख कर जब राम सिहर उठते हैं, उस समय—

दी गुरु वसिष्ठ ने उन्हें सान्त्वना बढ़ कर$

इस समय भी एक भयंकर स्थिति उपस्थित है। हनूमान् के मुख से राम-लक्ष्मण-सीता की विपत्तियों का समाचार पाकर साकेतपुरी का पत्ता-पत्ता सजग हो गया है, अयोध्या की नर-सत्ता जाग उठी है। स्थान-ऐक्य की रक्षा के लिए यह अनिवार्य था कि इन सैनिकों को किसी प्रकार सन्तुष्ट करके यहीं रोक लिया जाए। राम की विजय *अपनी आँखों से* देखे बिना भला ये शूर कैसे सन्तुष्ट होते ? अतः कवि का ध्यान एक बार फिर महर्षि वसिष्ठ की ओर गया और इस प्रकार उसने इस विकट समस्या का समाधान भी ढूँढ निकाला। कवि ने समझ लिया कि यदि तपोधन वसिष्ठ अपने योग-बल से अयोध्या में ही राम-विजय का दृश्य दिखा दें तो 'साकेत' का यह क्षुब्ध जन-समुदाय सन्तोषपूर्वक साकेत में ही रोका जा सकता है। अतः उसने इसी माध्यम द्वारा राम-कथा की शेष महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख करके अपने काव्य में स्थान-ऐक्य की भी रक्षा कर ली।

सुन मानो शिव-मन्त्र, विनत, विस्मित, वारित थे : "पहिले सर्पों का विनत होना, फिर विस्मित और अन्त में वारित होना भावनाओं के क्रमिक विकास की ओर संकेत करता है। साधारणतया पहिले हम विस्मित होते हैं, फिर विनत परन्तु जो मदान्ध और दुष्ट-प्रकृति होते हैं, वे पहले विनत होंगे तभी उनकी आँखें खुलेंगी और बाद में वे विस्मित होंगे।"

---

* साकेत, सर्ग २।

† वही, सर्ग ५।

‡ वही, सर्ग ७।

$ वही, सर्ग ८।

प्रस्तुत अवतरण भाव-शान्ति और भावोदय का सुन्दर उदाहरण है। इसमें 'सार' अलंकार भी है।

"शान्त, शान्त ! सब सुनो ··· ···· ··· क्षितिज की ओर निहारो।"

(वसिष्ठ जी ने कहा—) "शान्त-शान्त ! तुम सब कहाँ जा रहे हो ? ठहरो और मेरी बात सुनो। शूरता तथा वीरता के सघन (ठोस) बादलो, तुम इस प्रकार व्यर्थ ही न गरजो। लंका तो लगभग पराजित हो ही चुकी है अतः तुम तनिक धैर्य धारण करो। अच्छा देखो, सब लोग इधर क्षितिज की ओर देखो।"

मन्त्र-यष्टि-सी जहाँ ··· ···· ··· स्वप्न की-सी माया है।

यह कहते-कहते जैसे ही उन्होंने मन्त्र-यष्टि (मन्त्र अथवा जादू की छड़ी) जैसी अपनी भुजा उस ओर उठायी (क्षितिज की ओर संकेत किया) उसी समय समस्त अयोध्यावासियों को एक साथ ही दूर-दृष्टि (दिव्य-दृष्टि) सी ही प्राप्त हो गयी ! उन्होंने देखा कि (लंका का) समस्त दृश्य आप-ही-आप उनके सामने खिंच आया है और इस प्रकार मानो उस अन्धकार में कोई स्वप्न-लोक ही उनके समक्ष प्रकट हो गया है।

महर्षि वसिष्ठ अपने तप के बल से अयोध्यावासियों को दूर दृष्टि प्रदान करके उन्हें अयोध्या में ही लंका के समस्त दृश्य दिखा देते हैं।

लहराता भरपूर सामने ···· ··· ··· घोर-जंगम-जन-वन है।

(अयोध्यावासियों ने देखा कि उनके सम्मुख) भरपूर (जल से भरा) वरुणालय (समुद्र) (वरुण को जल का देवता माना जाता है अतः वरुण का वास-स्थान होने के कारण समुद्र को 'वरुणालय' कहा जाता है) लहरा रहा है जो युग-युग से इस संसार का परीक्षित करुणालय है। उस (समुद्र) में लंका-द्वीप स्वर्ण कमल के समान शोभायमान है और लंका के चारों ओर घोर वन है जो असंख्य प्राणियों (राम की सेना) की उपस्थिति के कारण गतिशील (चेतन) सा हो गया है।

वनवासी होने के कारण राम ने लंकापुरी में प्रवेश न करके उसके चारों ओर के घोर वनों में ही डेरे डाले हुए हैं। राम की असंख्य सेना के कारण वह घोर तथा जड़ वन भी *जंगम* (गतिशील अथवा चेतन) सा जान पड़ रहा है।

राम शिविर में, ···· ··· ··· कल्प जैसे क्षण उनके।

राम (अपने) शिविर में (बैठे) (अपनी) आँखों के जल (आँसुओं) से इस प्रकार भीग रहे हैं जैसे शरत्कालीन बादलों से घिरा नीलाचल

(नीलगिरि अथवा नीला पर्वत) झरने के जल से भीगता है। धातुराग (गेरू) की भाँति लक्ष्मण उनकी (उस नीलाचल की) गोद में पड़े हैं। हाय ! एक-एक क्षण कल्प (सहस्रों वर्ष) की भाँति बीत रहा है।

यहाँ सांगरूपक द्वारा शिविर की एकरूपता शरत्कालीन बादलों के साथ, (दृढ़-हृदय तथा नील वर्ण) राम की नीलाचल के साथ, राम के आँसुओं की नीलाचल पर झरने वाले झरनों के साथ और लक्ष्मण की एकरूपता धातुराग के साथ स्थापित की गयी है।

'मेघनाद-वध' में भी—

····शूर लक्ष्मण पड़े हैं जहाँ पृथ्वी पै;
नीरव पड़े हैं वहीं सीतापति ! आँखों से
अविरल अश्रुजल बह कर वेग से
भ्रातृ - रक्त-संग मिल पृथ्वी को भिंगोता है,
वह गिरि-गात्र पर गैरिक से मिल के
गिरता है पृथ्वी पर निर्झर का नीर ज्यों ! *

जाम्बवन्त, नल-नील ··· ··· ··· हाथ लिए नीरव निश्चल हैं।

श्रीराम के छोटे भाई लक्ष्मण को (उस दशा में) देख कर जाम्बवन्त, नल, नील, अङ्गद आदि समस्त सेनापति पानी-पानी हो रहे हैं। सुग्रीव और विभीषण लक्ष्मण के दोनों पैरों के तलवे सहला रहे हैं और वैद्य लक्ष्मण का हाथ (नब्ज़) अपने हाथ में लिये चुपचाप अचल बैठे हैं।

'साकेत' का यह चित्र अपने में कितना पूर्ण है !

जड़ीभूत से हुए देख ···· ··· ··· मन्द-सा स्पन्दन पाया।

यह दृश्य देख कर साकेतनिवासी जड़ीभूत (सुन्न) से हो गये। बोलने की इच्छा होने पर भी वे मुख से एक शब्द भी न बोल सके। तथापि ऊर्मिला ने प्रयत्न करके अपना हाथ उठाया और उसे अपने हृदय तक ले गयी। हृदय पर हाथ रख कर उसने देखा, उसमें हलका-सा स्पन्दन हो रहा था (उसका हृदय धीरे-धीरे फड़क रहा था) !

'साकेत' का कवि इन पंक्तियों में अयोध्यावासियों की दशा का चित्रण करने में पूर्णतः सफल हुआ है। लक्ष्मण को उस दशा में देख कर अयोध्यावासी सुन्न (निर्जीव) से हो गये। इच्छा होने पर भी (कंठ तथा हृदय सहसा अवरुद्ध सा

---

* माइकेल मधुसूदन दत्त, मेघनाद वध, (अनु० 'मधुप') सर्ग ८, पृष्ठ २३३।

हो जाने के कारण) वे एक शब्द भी न बोल सके। इस गतिहीनता में गति—जीवन—का लक्षण केवल लक्ष्मणमयी ऊर्मिला में ही दिखाई देता है। हाँ, उसे भी अपने हृदय तक हाथ ले जाने के लिए अत्यन्त *प्रयास* करना पड़ता है। अस्तु, ऊर्मिला अपने हृदय पर हाथ रख कर यह देखने का प्रयत्न करती है कि कहीं उसकी गति बन्द तो नहीं हो गयी। वहाँ मन्द-सा स्पन्दन पाकर उसे निश्चय हो जाता है कि—

जीते हैं वे वहाँ, यहाँ जब मैं जीती हूँ।

पति-प्राणा ऊर्मिला का यह आत्म-विश्वास धन्य है!

बोल उठे प्रभु चौंक भरत ···· ··· हनूमान की बाट देख लूँ क्षण भर भाई।[१]

(राम न जाने कब तक उसी प्रकार रोते रहते परन्तु अकस्मात् प्रभात के से लक्षण देख कर) प्रभु ने चौंक कर कहा (भरत ने भी राम के वे शब्द सुने):

"भाई, भाई! उठो, सवेरा होने वाला है। रावण के साथ मेघनाद को मैं मार डालूँगा, जाओ, तुम जाकर इस प्रदेश का राज्य विभीषण को दे आओ। चलो, यथा समय अयोध्या लौट कर सबसे भेंट करें। बधू ऊर्मिला कब से (कितनी देर से) घर पर (तुम्हारी) बाट जोह रही है? तुम हमें सुख देने के लिए ही हमारे साथ यहाँ आये थे (फिर इस प्रकार हमें दुःख क्यों दे रहे हो; शीघ्र ही सचेत हो कर हमें सुखी करो) हम भी यह (इस प्रकार) बदनामी लेने के लिए तुम्हें साथ नहीं लाये थे। सुनो, यदि तुम न जगे तो राम भी (सदा के लिए) सो जाएगा और इस प्रकार (हम दोनों के बिना) सीता का उद्धार असम्भव हो जाएगा। वीर, यह तो बताओ कि (यदि ऐसा हुआ तो) फिर तुम्हारी बात कैसे रहेगी (सीता-उद्धार की तुम्हारी प्रतिज्ञा कैसे पूरी होगी)? हे तात! उठो, क्षत्रियत्व तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। अथवा हे भाई, जब तक रात है तब तक तुम और सुखपूर्वक सो रहो। सवेरा होने पर तो तुम्हें शत्रु तथा मित्र कमल की भाँति खिला हुआ ही देखेंगे। राम का (मेरा) बाण उड़ कर सुधाकर (अमृत का भंडार—चन्द्रमा) में छेद करके उसमें से श्रेष्ठ मधु जैसा अमृत तुम्हारे लिए टपका (गिरा) लेगा और उसी अमृत की सहायता से तुम्हें फिर से जीवित कर लेगा! हे भाई, मैं क्षण भर (कुछ देर) हनूमान् की ओर राह देख लूँ (यदि वह शीघ्र ही संजीवनी ले कर न लौटे तो मैं स्वयं तुम्हें जीवित करूँगा)!"

इस अवसर पर अचेत लक्ष्मण को हृदय से लगा कर 'रामचरितमानस' के राम कहते हैं—

सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता। सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
जौं जानतेउँ बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥
जैहउँ अवध कौन मुँह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥
बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं। नारि हानि बिसेष छति नाहीं॥
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥
निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी॥
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥*

'रामचन्द्रिका' के राम का कथन है :

बारक लक्ष्मण मोहिं बिलोको। मोकहं प्राण चले तजि रोको॥
हौं सुमरो गुण केतिक तेरे। सोदर पुत्र सहायक मेरे॥
लोचन बान तुही धनु मेरो। तू बल विक्रम वारक हेरो॥
तू बिनु हौं पल प्रान न राखौं। सत्य कहौं कछु झूंठ न भाखौं॥
मोहिं रही इतनी मन शंका। देन न पाई विभीषण लंका॥
बोलि उठौ प्रभु को पन पारौ। नातरु होत है मो मुख कारौ॥†

'मेघनाद वध' के राम को इस समय सुमित्रा माता तथा ऊर्मिला बधू का भी ध्यान आता है :

जननी सुमित्रा-पुत्र वत्सला तुम्हारी हा!
सरयू किनारे जहाँ रो रही हैं, जा के मैं
कैसे वहाँ वत्स, उन्हें मुँह दिखलाऊँगा

---

* रामचरितमानस, लंका काण्ड।

† रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, प्रकाश १७, पृष्ठ ३१४।

जाओगे न मेरे संग यदि तुम लौट के?
क्या कहूँगा उनसे मैं, माता जब पूछेगी—
"मेरा नेत्र-रत्न कहाँ अनुज तुम्हारा है
राम भद्र?" ऊर्मिला बधू को समझाऊँगा
कह कर क्या मैं? और पौरजन-वृन्द को
बोलो? उठो वत्स, तुम आज उस भाई से
विमुख क्यों हुए अहो! प्रेमवश जिसके
राज-सुख छोड़ हुए घोर-वनवासी हो? ❀

"समुपस्थित यह दास पास ही .... वैद्य ने व्रण-शोधन-सा।

(राम ने यह कहा ही था कि पल भर और हनूमान् की प्रतीक्षा करलूँ। उसी समय राम के) समीप से ही हनूमान् के ये शब्द सुनाई दिये, "सेवक यहाँ उपस्थित है।" वीर हनूमान् बुरे स्वप्न में उद्बोधन (जागृति) की भाँति आ पहुँचा (जिस प्रकार जाग जाने पर अप्रिय अथवा अशुभ स्वप्न नष्ट हो जाता है उसी प्रकार हनूमान् के वहाँ पहुँचते ही सब लोगों के शोक और उनकी अप्रिय एवं अशुभ आशंकाओं का अन्त हो गया)। (हनूमान् से) औषधि (संजीवनी) लेकर वैद्य ने घाव को साफ (ठीक) सा कर दिया।

बुरे स्वप्न में वीर आ गया उद्बोधन सा : यहाँ कवि ने मूर्त उपमेयों (शोक-संताप और हनूमान्) के लिए अमूर्त उपमानों (क्रमशः स्वप्न और उद्बोधन) का प्रयोग किया है। इन दोनों में स्वतन्त्र रूप से पर्याप्त साम्य है। भक्त-कवि के लिए अखिलेश राम का प्रस्तुत शोक सन्ताप मिथ्या—*स्वप्नवत्*—ही तो है (वैसे रात और स्वप्न का भी परस्पर सम्बन्ध है) और चिर सजग हनूमान् को '*उद्बोधन*' कह कर तो हमारे कवि ने मानो उनका सूक्ष्म भावमय चित्र ही प्रस्तुत कर दिया है।

गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में—

आइ गयउ हनुमान् जिमि करुना महँ बीर रस।

संजीवनी प्रभाव घाव पर .... प्रफुल्लित होता हेरा।

सबने घाव पर संजीवनी का प्रभाव देखा (संजीवनी के प्रभाव से घाव देखते ही देखते ठीक हो गया)। शत्रु ने अपने लोहे (शस्त्र) से

❀ मेघनाद-वध, सर्ग ८, पृष्ठ ३३५-६।

(लक्ष्मण के शरीर पर घाव के रूप में) जो चिह्न अंकित किया था वह (संजीवनी के प्रभाव से) पानी पर बनाये गये चिह्न (लिखावट) की भाँति (नष्ट) हो गया (पानी पर लिखे गये अक्षर का कोई चिन्ह जल पर शेष नहीं रहता, इसी प्रकार शक्ति-प्रहार का चिन्ह लक्ष्मण के शरीर पर से इस प्रकार मिट गया कि उसका कोई आभासमात्र भी शेष न रहा)। (लक्ष्मण का घाव ठीक होते-होते प्रकाश फैल गया (सूर्योदय भी हो गया और राम के शिविर में भी सर्वत्र प्रकाश—उल्लास—छा गया) और (रात्रि अथवा शोक का) अन्धेरा दूर हो गया। सूर्य ने अपना कमल (लक्ष्मण) खिलता हुआ (विकसित) ही देखा।

रवि ने अपना पद्म प्रफुल्लित होता हेरा—सूर्योदय होने के साथ-साथ कमल खिल जाते हैं। यह तो हुआ एक सामान्य प्राकृतिक सत्य परन्तु इस समय तो रवि *अपने* पद्म को—अपने ही एक वंशज को प्रफुल्लित होता देख रहे हैं। अस्तु, एक सामान्य सत्य को कवि ने यहाँ कितनी असाधारणता, कितनी विशिष्टता प्रदान कर दी है!

चमक उठा हिम-सलिल ... ... भ्रान्त भौंरी-सी फेरी।

रात भर निरन्तर बहता रहने वाला पानी (प्रभातकालीन सूर्य के प्रकाश में) चमक उठा। सौमित्रि (लक्ष्मण) रूपी सिंह यह कहते-कहते जाग उठा (सचेत हो गया) : "इन्द्रजीत, तू धन्य है! परन्तु सावधान हो जा, अब मेरी बारी है।" यह कहते-कहते उन्होंने भ्रमित (अथवा व्याकुल) भ्रमरी की भाँति अपनी दृष्टि सब ओर घुमायी (चारों ओर देखा)।

होश में आते ही 'साकेत' के लक्ष्मण सर्वप्रथम अपने पराक्रमी शत्रु की सराहना करते हैं—

धन्य इन्द्रजित!

इसके उपरान्त एक पल विश्राम किये बिना ही उसे चुनौती देकर कहते हैं—

किन्तु सँभल, बारी अब मेरी!

उन्हें हृदय से लगा लिया ... ... इसी जन्म में मैंने पाया!"

प्रभु ने लक्ष्मण को अपनी भुजाओं में भर कर हृदय से लगा लिया। (उस समय ऐसा जान पड़ रहा था) जैसे समुद्र की गोद में चन्द्रमा ही उभर आया हो। राम ने कहा, "भाई, मेरे लिए ही तू फिर भी लौट आया

है। (तेरे इस नव-जीवन के रूप में तो) मैंने जन्म-जन्म (जन्म-जन्मान्तर अथवा अनेक जन्मों का (फल अथवा सुख) इसी जन्म में पा लिया।"

"प्रस्तुत है यह दास ··· ···· ··· वह मेघनाथ प्रतिपक्षी मेरा ?"

लक्ष्मण बोले, "आर्य के (आपके) चरणों का यह दास तो सदा आप की सेवा के लिए उपस्थित है परन्तु मेरा वह प्रतिपक्षी (विपक्षी अथवा शत्रु) मेघनाद कहाँ है ?"

"लक्ष्मण ! लक्ष्मण ! हाय ! ···· ··· ···· विश्राम करो इस अंक-स्थल में।"

(यह सुन कर राम ने कहा) "लक्ष्मण, लक्ष्मण, हाय ! तुम इस प्रकार प्रति पल चंचल (युद्धातुर) न हो और कुछ देर मेरी इस गोद में विश्राम कर लो।"

लक्ष्मण के पुनः संज्ञा-लाभ करते ही 'अध्यात्म रामायण' के राम तुरन्त विभीषण की सम्मति से युद्ध की तैयारी करने लगते हैं* और 'रामचन्द्रिका' में भी—

ठाढ़े भये लक्ष्मण मूरि छिये।
दूनो सुभ सोभ शरीर लिये॥
कोदंड लिये यह बात ररै।
लंकेश न जीवत जाइ घरै॥
श्री राम तही उर लाइ लियो।
सूँघ्यो सिर-आशिष कोटि दियो॥
कोलाहल यूथप यूथ कियो।
लंका दहल्यो दसकंठ हियो॥†

'साकेत' के राम, लक्ष्मण को तुरन्त 'आशिष कोटि' देकर युद्ध के लिए विदा नहीं करते। उनकी तो सर्वप्रथम यही इच्छा है कि—

क्षण भर तुम विश्राम करो इस अङ्कस्थल में।

इस प्रकार 'साकेत' का कवि राम के भ्रातृ-प्रेम की भी अभिव्यक्ति करा सका है और उसे लक्ष्मण की वीरोचित भावनाओं का प्रकाशन करने का भी उपयुक्त अवसर प्राप्त हो गया है।

"हाय नाथ ! विश्राम ? ··· ··· ···· मैं सुगति न पाऊँ !"

लक्ष्मण ने उत्तर दिया "हाय नाथ ! विश्राम ? (यह कैसे हो सकता

---

* अध्यात्म रामायण, युद्धकांड, सर्ग ७, श्लोक ४०।

† रामचन्द्रिका, पूर्वार्द्ध, प्रकाश १७, पृष्ठ ३१८।

है जब कि) अब भी (अभी तक) हमारा शत्रु जीवित है और हमारी पूज्या, देवी सीता, अभी तक कारागार में पड़ी हैं! जब तक मैं संज्ञाहीन था तब तक तो मैं स्वयं ही लाचार हो कर निष्क्रिय पड़ा रहा परन्तु अब तो मैं होश में भी हूँ तथा सब प्रकार स्वस्थ एवं सन्नद्ध भी। यदि अवधि बीत गयी (और तुम यथासमय अयोध्या न लौट सके) तो उस योगी (भरत) की क्या (कितनी बुरी) दशा होगी जो एक युग से तुम्हारा ही ध्यान लगाये बैठा है? माताएँ अपनी दृष्टि तथा गोद फिर से भरने को आतुर हैं और नगर-कन्याएँ तुम पर फूल बरसाने को तैयार बैठी हैं (अतः उचित तो यही है कि) आर्य अयोध्या लौट जावें और मैं शत्रु से युद्ध करने के लिए प्रस्थान करूँ; आप पहले अयोध्या पहुँच जावें, मैं बाद में वहाँ आ जाऊँगा। यदि मैं वैरी को मार कर अपने वंश की लक्ष्मी (सीता) को (छुड़ा कर) न ला सकूँ तो मैं स्वयमेव ही अपने को यह शाप देता हूँ कि मुझे कभी सद्गति (मोक्ष) प्राप्त न हो!"

"ऐसे पाकर तात! तुम्हें कैसे छोड़ूँ मैं?"

राम ने कहा, "हे भाई मैं तुम्हें इस प्रकार (इतने सौभाग्यपूर्वक पुनः) पा कर छोड़ कैसे दूँ?"

राम के इन शब्दों में एक भाई का हृदय छिपा है।

"किन्तु आर्य, क्या आज ··· ··· ··· घुमड़ सौ सौ ज्वारों से।

(इस पर लक्ष्मण ने उत्तर दिया), "परन्तु आर्य, क्या आज मैं शत्रु से मुँह मोड़ लूँ? यदि आप को इस अवसर पर इस प्रकार मोह (ममता) ने घेर लिया है और आप आज (शत्रु के प्रहार का) दुगुना बदला नहीं चुकाते तो मेरा (इस प्रकार फिर से) जीना व्यर्थ ही रहा (इससे तो यही अच्छा था कि मैं मर जाता)। मैं तो शत्रु की शक्ति को भी तिरस्कृत कर के उठने में समर्थ हो गया परन्तु मेरा शेल (प्रहार) सह कर शत्रु नहीं उठ (जी) सकेगा। वानरेन्द्र, (वानरों के सेनापति), ऋक्षेन्द्र (रीछों के सेना-नायक) अपनी अपनी सब सेना तैयार कर लो, शत्रु ने घाव रूपी जिस ऋण का भार मुझ पर डाला है वह मुझे अभी (उसे व्रणी करके) चुकता कर देना है। जय जय राघव राम!"

लक्ष्मण के यह कहते ही समस्त सेना अत्यन्त भयंकर शब्द करके गरज उठी। श्री राम की सेना चारों दरवाजों में से हो कर लंका की ओर

चल पड़ी (मानो) सैंकड़ों ज्वार एक साथ ही उठ आने के कारण प्रलय का समुद्र ही (उस सेना के रूप में लंका की ओर) घुमड़ कर उमड़ पड़ा हो।

चौड़े चौड़े चार वक्ष-से .... प्रेत-से टूट पड़े थे।

राम की सेना ने बढ़-चढ़ कर लंका के किले के वक्ष (छाती) जैसे चार चौड़े-चौड़े दरवाजों के किवाड़ तोड़ डाले। उन दरवाजों के अन्दर जो शत्रु (रक्षक) सावधान खड़े (दुर्ग की रक्षा कर रहे) थे वे पहले तो (राम की सेना के) वेग से बच (कर एक ओर को हट गये) परन्तु दूसरे ही क्षण वे हुंकार भर कर प्रेतों की भाँति अपने शत्रुओं पर टूट पड़े।

दल बादल भिड़ गये .... झाँक उठी आतुरता उर की।

(दोनों पक्षों के सैन्य) दल रूपी बादल (आपस में) भिड़ (टकरा) गये। (उनके टकराने से उत्पन्न होने वाली) धमक (धमाके का शब्द) के कारण पृथ्वी भी नीचे को धँस गयी। उन बादलों की कड़क और तड़क चमक और दमक से क्षय (सर्वनाश अथवा प्रलय) भड़क (उत्तेजित हो) उठा। रण-भेरी (युद्ध के बाजों) की गमक पर शूरवीर नट की भाँति फिरते (उछलते-कूदते तथा भाँति-भाँति के दाँव-पेंच दिखाते) थे और ताल-ताल पर (उस गमक की ताल के रूप में) योद्धाओं के मस्तक तथा शरीर (युद्ध भूमि पर) उठ तथा गिर रहे थे। (सैनिकों के) गले, छाती, माथे, हाथ और कन्धे छिन्न-भिन्न हो अलग-अलग पड़े थे। ऐसा जान पड़ता था मानो क्रोध के कारण दोनों दल अन्धे हो गये थे। (एक दल के सैनिकों का) रक्त (विपक्षी सैनिकों के) रक्त से मिल गया, इस प्रकार उनका वैर-सम्बन्ध (वैर का नाता) प्रतिफलित हो गया। फिर भला वीरवरों के पैर क्यों न धुलते ? जिस ओर भी जैसे ही आगे की पंक्ति (सेना की कतार) (कट कर) गिरती थी उसी समय पीछे की पंक्ति बढ़ कर उसका स्थान ले लेती थी। (ऐसा लग रहा था जैसे) दो धाराएं उमड़-उमड़ कर सामने टकरा रही थीं और एक होकर, उठ कर, गिर तथा चकरा रही थीं। लंकापुरी की गली-गली में खलबली मच गयी और (लंकावासियों के) हृदय की आतुरता उनकी आँखों में आ कर झाँक उठी।

प्रस्तुत अवतरण की शब्दावली प्रसंगानुकूल ओज गुण से परिपूर्ण है तथापि उसमें शब्दों की तड़क-भड़क मात्र न होकर उत्साह का वेग भी है। बादलों की भाँति परस्पर भिड़ जाने वाले सैन्य-दल केवल कड़-कड़ धड़-धड़ ध्वनि करके पृथ्वी तथा आकाश को प्रकंपित ही नहीं कर रहे, क्षय को भी भड़का रहे हैं। युद्ध के

नगाड़ों की ध्वनि योद्धाओं को उसी प्रकार उत्साहित कर रही है जैसे प्रलय के अवसर पर डमरू का नाद प्रलयंकर नटराज को तांडव करने के लिए उकसाता है। पल-पल पर गिरते रुण्ड-मुण्ड इस ध्वनि के साथ पड़ने वाली ताल का काम दे रहे हैं।

विवाह का नाता अटल माना जाता है। वस्तुतः विवाह *रक्त* का *रक्त* से मिलन ही तो है। इसीलिए कवि ने लिखा है :

मिला रक्त से रक्त, वैर-सम्बन्ध फला यों

शत्रुओं का रक्त आपस में मिल कर *वैर* का एक *सम्बन्ध* प्रतिफलित कर रहा है। विवाह के अवसर पर *वर* के चरण धोये जाते हैं, यहाँ भी *वीर-वरों* के चरण (शत्रुओं के रक्त से) धुल रहे हैं (इस पंक्ति में 'वर' श्लिष्ट शब्द है, अर्थ हैं श्रेष्ठ और दूल्हा)। एक पंक्ति के कट कर गिरते ही दूसरी उसका स्थान ले लेती है, इस प्रकार उन सैनिकों की अनुपस्थिति का आभास भी नहीं हो पाता। उमड़-घुमड़ कर बढ़ने वाली जल-धाराओं की भाँति दोनों सेनाएँ एक दूसरे की ओर बढ़ती हैं, परस्पर गुथ जाती हैं और फिर गिर पड़ती हैं। इन अकल्पनीय दृश्यों तथा घटनाओं के कारण लंका भर में खलबली मच रही है; सबकी आतुरता (हृदय में ही सीमित न रह कर) आँखों के झरोखों में से झाँक रही है (ठीक उसी प्रकार जैसे अकस्मात् खलबली मच जाने पर सब लोग खिड़कियों में से झाँक-झाँक कर वास्तविक वस्तुस्थिति का पता लगाने का प्रयत्न करते हैं)।

आया रावण जिधर दिव्य-रथ ···· ··· ··· प्रभु-कर-लाघव थे!

रावण उस ओर आया जिधर दिव्य रथ पर आसीन श्री रामचन्द्र जी थे। प्रभु के फुर्तीले हाथों में आज क्या ही (कितना अधिक) गौरव था (प्रभु अत्यन्त गौरवपूर्ण ढंग से युद्ध में अपने हाथ दिखा रहे थे)!

यहाँ गौरव' और (लाघव) में विरोधाभास है।

गरजा राक्षस, "ठहर, ठहर ···· ···· ··· आखेट-रंग उपजाया मुझमें!"

राक्षस (रावण) ने गरज कर कहा, "अरे तपस्वी! ठहर, ठहर, मैं आ गया। लक्ष्मण ने (पुनः) जीवित हो कर तेरा (तेरी मृत्यु का) शोक ही प्राप्त किया (लक्ष्मण यदि पुनः जीवित न होता तो उसे तेरी मृत्यु का शोक न सहन करना पड़ता परन्तु जान पड़ता है कि वह यही शोक प्राप्त करने के लिए फिर से जीवित हुआ है)। भला पंचानन (शेर) की गुफा के दरवाज़े पर (आकर) किस की रक्षा हो सकी है (कौन बच सकता है)? फिर यह तो सोच कि मैं तो 'दशानन' (के नाम से) प्रसिद्ध हूँ!"

(रावण की यह बात सुन कर) प्रभु ने हँस कर कहा, "तभी ('दशानन' होने के कारण ही) तो तुझ में ('पंचानन' की अपेक्षा) दुगुनी पशुता है ! तू ने (तेरी पशुता ने) ही तो मेरे हृदय में आखेट (शिकार) का कौतुक (युद्ध की इच्छा) उत्पन्न कर दिया है ('रंग' का अर्थ 'कौतुक' अथवा 'खेल' भी होता है और 'युद्ध' भी। राम के कथन का आशय यही है कि अरे पशु ! तेरा शिकार करके ही मैं अपना मनोरंजन करना चाहता हूँ) ।"

'*पंचानन*' का शब्दार्थ है 'पाँच मुख वाला'। इस शब्द का प्रयोग 'शेर' के लिए भी होता है। रावण ने राम से कहा, 'पंचानन' (शेर) के घर पर आकर ही जब कोई नहीं बच पाता तो मैं तो 'दशानन' हूँ (रावण के दश मुख माने जाते हैं) मुझ से बच निकलना तो और भी अधिक कठिन है।' रावण ने इस प्रकार अपने को वन के स्वामी सिंह से भी द्विगुणित बलशाली सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। राम को यह सुन कर हँसी आ गयी। उत्तर-प्रत्युत्तर का वास्तविक चमत्कार तो तभी है जब वक्ता किसी आशय से कोई बात कहे और श्रोता उसके दूसरे ही अर्थ लगा कर ऐसा प्रत्युत्तर दे कि प्रथम वक्ता को मुँह की खानी पड़ जाए। '*दशानन*' के प्रति राम का उत्तर है—

तभी द्विगुण पशुता है तुझ में।

'*पंचानन*' के मुकाबले में '*दशानन*' में दुगुनी पशुता होना स्वाभाविक ही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रावण के लिए यह चोट कितनी करारी सिद्ध हुई होगी।

दशमुख को संग्राम ... ... दशों इन्द्रियों की क्या पीड़ा ?

दशमुख (रावण) के लिए तो वह संग्राम था परन्तु राम के लिए वह खेल मात्र ही था। स्थितप्रज्ञ को दशों इन्द्रियों की (के द्वारा) भला क्या पीड़ा हो सकती है ! (इन्द्रियजन्य सुख-दुःख स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर सकते।)

'स्थित-प्रज्ञ' : गीता के अनुसार—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

(जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ, शुभ तथा अशुभ वस्तुओं को प्राप्त होकर

न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।)*

"धन्य पुण्यजन, धन्य शूरता ··· ···· ··· जिससे ह्रास कहीं है।"

(रावण की शूरवीरता की सराहना करते हुए राम ने कहा—) "हे पुण्यात्मा, तुझ जैसे प्राणी की यह शूरवीरता धन्य (अभिनन्दनीय) है। हे वीर, तू अब भी अपने मन की दुष्टतापूर्ण क्रूरता (कठोरता) दूर करदे। बल (शक्ति) का उपयोग प्रगति के लिए किया जाना चाहिए, विनाश के लिए नहीं। ऐसी शक्ति का तो अस्तित्व ही नहीं रहना चाहिए जिससे किसी प्रकार के पतन (अथवा संहार) की संभावना हो।"

राम के इस कथन को आधुनिक शब्दावली में इस प्रकार कहा जा सकता है : "आणवीय तथा अन्य सब प्रकार की शक्ति (Energy) का प्रयोग *विश्व-कल्याण* के लिए *ही* होना चाहिए, *विश्व-संहार* के लिए नहीं। विनाशकारिणी हो जाने पर तो इन शक्तियों का अन्त ही श्रेयस्कर है।"

"भय लगता है मनुज, तुझे ··· ···· ···· करा सके तो जानूँ तुझको।"

(रावण बोला—) "अरे मानव, तुझे (युद्ध से) डर लगता है तो यहाँ आया ही क्यों था (और अब जब तू आ ही गया है तो युद्ध न करने के बहाने क्यों ढूँढ रहा है) ?

राम ने उत्तर दिया, "अरे राक्षस, मुझे तो तेरी मौत ही यहाँ ले कर आयी है। तेरी रक्षा तथा तेरे प्रति करुणा (दया की भावना) से तो मैं बहुत समय से तेरा परिचित हूँ (बहुत समय से मैं तुझ पर दया करके तुझे विनाश से बचाने की इच्छा करता रहा हूँ) परन्तु मैं तो तुझे (वीर) तब समझूँ जब तू मुझे भय से परिचित करा सके (अपनी शक्ति से डरा सके)!"

रिपु के सौ सौ शस्त्र ···· ···· ··· एक झोंका देता था !

शत्रु (रावण) के सैकड़ों शस्त्र बहुत तेजी के साथ राम की ओर आ रहे थे परन्तु वे मार्ग में ही (राम के बाणों से) कट जाते थे अतः उन्हें छू भी न पाते थे। घिरे हुए (युद्ध के) बादलों में वे (शस्त्र) बिजली की एक चमक-सी उत्पन्न कर देते थे परन्तु पवन (राम) उसे एक ही झोंका (देकर) विनष्ट कर देता था !

---

* श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ५७–८।

पूर्व अयन पर कौन ··· ··· ··· इष्ट-समाराधन करता था ।

पूर्व द्वार पर राम के छोटे भाई लक्ष्मण को भला कौन रोक सकता था ? श्रेष्ठ (अथवा बलवान्) भुजाओं वाले लक्ष्मण तो वस्तुतः राक्षस रूपी उस (भयंकर) रोग के लिए सिद्ध-योग के समान ही थे । मेघनाद निकुम्भला में साधना करके (श्री राम पर) विजय प्राप्त करने के लिए अपने इष्ट (साध्य) को प्रसन्न कर रहा था ।

पूर्व अयन पर कौन रोकता रामानुज को : 'अयन' का विशेष अर्थ है 'चक्रव्यूह में प्रवेश करने का मार्ग' । लक्ष्मण निकुम्भला में प्रवेश करके शत्रु द्वारा आयोजित, एक चक्रव्यूह में ही तो प्रविष्ट हो रहे थे ! अतः यहाँ 'अयन' अपने सामान्य अर्थ 'मार्ग' के साथ-ही-साथ इस अर्थ विशेष का भी बोध कराता है ।

हुए सुभुज वे सिद्ध-योग-से राक्षस-रुज को : भयंकर रोगों के लिए अत्यन्त प्रभावशालिनी दवाइयाँ तैयार करने के लिए रसायनों को सिद्ध किया जाता है ।

नल-वन-सम दल शत्रु जनों ··· ···· ···· हुए वे, उत्कट उनके ।

अपनी भुजाओं के बल से, कमल-वन के समान, शत्रुओं को दल कर लक्ष्मण समुद्र में (प्रविष्ट होने वाले) बड़वानल (समुद्र की आग) की भाँति लंकापुर में प्रविष्ट हुए । अपनी ही इच्छा से अंगद आदि जो योद्धा उनके साथ गये थे, वे उन्हीं लक्ष्मण (बड़वानल) के उड़ते हुए अंगारों के समान थे ।

हलचल सी मच गई ···· ···· ··· हमें चाहिए आज, कहाँ वह ?"

सब ओर हलचल-सी मच गयी । समस्त नगर में कोलाहल हो रहा था । शत्रुओं की सेना भाग कर पीछे भी न जा सकी क्योंकि पीछे (सामने) प्रभु (श्री राम) की सेना थी । रावण ने वापिस लौट कर लक्ष्मण को घेरना चाहा परन्तु उसी समय प्रभु ने गरज कर कहा, "अरे कायर, यदि तू मुझे पीठ दिखाए तो तुझे धिक्कार है । तू यह बात भली प्रकार समझ ले कि आज तू (पहले की भाँति) भाग भी न सकेगा ।"

यह सुन कर रावण ने गरज कर कहा, "ठहर, मैं भी देखता हूँ कि तू कहाँ तक (मेरे सम्मुख) ठहर पाता है । मुझे भय ही क्या है ? पक्षी (लक्ष्मण) तो स्वयं ही पिंजरे (लंकापुर) में प्रविष्ट हो गया है । तू भी यहाँ मार्ग में बैठा-बैठा उसकी दशा देखियो ।"

उस ओर हनूमान् की यह हुंकार सुन कर नगरनिवासी डर के मारे दहल गये: "मैं वही (हनूमान्) हूँ जो पहले लंका जला गया था। परन्तु आज तो हमें केवल मेघनाद की आवश्यकता है। वह कहाँ है ?"

पहुँचे सब निज यज्ञ-लग्न ... . कलित कूजन करता था।

सब लोग वहाँ पहुँचे जहाँ मेघनाद मग्न हो कर अपने यज्ञ में संलग्न था। अहा! अत्यन्त भयंकर होकर भी उस योद्धा की वह मूर्त्ति (छवि) कितनी भली जान पड़ रही थी (ऐसा जान पड़ रहा था मानो वह मूर्त्ति (अथवा मेघनाद का शरीर) रक्त तथा मांस के बदले धातु को ढाल कर उसी से बनायी गयी थी! वह वेदी (जिसमें यज्ञ की ज्वाला जल रही थी) भट्टी बन गयी थी और वह स्वयं ही उसे (मेघनाद को) मन को मोहित करने वाली माला पहना रही थी! बली (बलवान् मेघनाद) पशु-बलि दे कर शस्त्रों की पूजा कर रहा था; उसके मुख से अनवरत उच्चरित होते हुए मन्त्रों के कारण वहाँ एक मधुर ध्वनि व्याप्त हो रही थी।

'साकेत' के कवि ने पक्षपातरहित होकर अपने समस्त—भले और बुरे—पात्रों का समान रूप से यथोचित चित्रांकन किया है। मेघनाद का प्रस्तुत चित्र इसका प्रमाण है।

मेघनाद यज्ञ-निरत है। तन तथा मन से *निज यज्ञ* में संलग्न होने के कारण वह स्वयं भी एक मूर्त्ति जैसा जान पड़ रहा है—एक ऐसी मूर्त्ति जो रक्त मांस की न होकर धातु की है ('धातु' में दृढ़ता का भाव है)। धातु की मूर्त्ति ढालने के लिए उसे भट्टी में तपाया जाता है। यज्ञ-वेदी यहाँ वह कार्य कर रही है। इस ज्वाला में तप कर उसके शरीर की आभा निखर आयी है। मेघनाद का *अस्फुट मन्त्रोच्चार* उसकी अविचल तन्मयता का सूचक है।

माइकेल मधुसूदनदत्त ने यज्ञ-निरत मेघनाद का चित्रण इस प्रकार किया है:

बैठ के कुशासन के ऊपर, अकेले में,
पूजता है इन्द्रजित वीर इष्टदेव को;
पट्ट वस्त्र-उत्तरीय धारण किये हुए।
भाल पर चन्दन की बिन्दी और कंठ में
फूल-माला शोभित है, धूप धूपदानों में
जलती है, चारों ओर पूत-घृत-दीप हैं
प्रज्वलित; गन्ध-पुष्प राशि राशि रक्खे हैं;
खड्ग-शृंग निर्मित भरे हुए हैं अरघे,

गङ्गे, पाप-नाशक तुम्हारे पुण्य तोय से !
हेम-घंटा आदि वाद्य रक्खे हैं समीप में,
नाना उपहार स्वर्ण-पात्रों में सजे हुए;
द्वार है निरुद्ध; बैठा एकाकी रथीन्द्र है,
मानों चन्द्रचूड़ स्वयं तप में निमग्न हैं
*योगिराज, कैलासाद्रि, तेरी उच्च चूड़ा पै !**

ठिठक गये सब एक साथ ···· ··· ···· शूर सर्प-सा आयुध लेकर।

(मेघनाद को उस रूप में देख कर) सब एक साथ ही पल भर के लिए अविचल (स्तब्ध) से खड़े रह गये। तब सौमित्रि ने दावानल (जंगल की आग) की भाँति भड़क कर कहा, "अरे इन्द्रजित्! देख, तेरे द्वार पर (तेरे सामने) शत्रु खड़ा है, उससे विमुख हो कर (उसका सामना न करके) तू यह कौनसा बड़ा (महान) कार्य कर रहा है (भाव यही है कि इस समय तो शत्रु का सामना करना ही तेरा प्रधानतम धर्म है। उससे विमुख हो कर तू यह किस कार्य में लगा है)? जिसके सिर पर शत्रु (खड़ा) हो, उसका तो एक मात्र धर्म है शत्रु से युद्ध करना परन्तु नीच, तू आर्य-सभ्यता के इस रहस्य को भला कैसे समझ सकता है!"

शत्रु (मेघनाद) (यह सुन कर) चौंक कर आभाहीन-सा हो गया और बोला, "तू यहाँ कैसे आ पहुँचा? (हमारे) घर का वह भेदी कौन है जो तुझे यहाँ ले आया है?"

लक्ष्मण ने उत्तर दिया, "अरे, काल (मृत्यु) के लिए कौनसा मार्ग नहीं खुला है? अन्त (मृत्यु) तो अपने-आप ही सब जगह पहुँच जाता है। मैं युद्ध का भूखा तेरा अतिथि हूँ। ला, कुछ तो धर्म कर ले, आ और अतिथि का समुचित सत्कार कर!"

मेघनाद बोला, "लक्ष्मण, तुझ जैसा अतिथि देख कर मैं भला डरता कहाँ हूँ (डरता नहीं हूँ) परन्तु यह तो बता कि क्या यह धर्म नहीं है जो मैं (इस समय) कर रहा हूँ?"

लक्ष्मण ने कहा, "यह भला कौनसा धर्म है कि शत्रु सामने खड़े हुंकार रहे हैं और तू (उनसे छिप कर) अपने शस्त्रों से दीन पशुओं का वध कर रहा है?"

---

* मेघनाद-वध, सर्ग ६, पृष्ठ १७७—८।

"मैं तो इस प्रकार शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए ही उपयुक्त साधना कर रहा हूँ," मेघनाद बोला।

लक्ष्मण ने उत्तर दिया, "यदि यह बात है तो तेरा यह देव-पूजन छल मात्र है। ठहर, ठहर, इस प्रकार व्यर्थ ही अग्नि (यज्ञ) का ढोंग न कर; केवल अपने कर्त्तव्य का पालन कर और फल की चिन्ता छोड़ दे (निष्काम भाव से कर्त्तव्य-पालन कर)।"

मेघनाद ने कहा, "लक्ष्मण, क्या तू मेरी शक्ति अभी (इतनी जल्दी) भूल गया? तू मरते-मरते फिर जीवित हो गया, क्या इसी कारण अकड़ रहा है?"

लक्ष्मण ने उत्तर दिया, "हाँ, हाँ, तेरी वह शक्ति भी मैंने देखली। तू उस पर इतना घमंड कर रहा है परन्तु उसे तो मेरी एक जड़ी ने ही समाप्त (प्रभावहीन) कर दिया। तू मुझे यह बतला कि तेरे पास भी कोई ऐसा साधन है जिससे तू अपना कटा हुआ सिर फिर से जोड़ कर जीवित हो सके? अस्तु, यह तो हँसी की बात हुई परन्तु हे भाई (वास्तव में) मैं तुझे उसी (शक्ति) के लिए बधाई देने आया हूँ। अनोखे शस्त्र (शक्ति) धारण करने वाले, तू इस समय इस प्रकार छिप कर क्यों बैठा है? उठ, तैयार हो और देख, अब मेरी वारी है।"

"आज (इस यज्ञ में) तेरी बलि दे कर यह यज्ञ पूरा करूँगा (इस यज्ञ में पूर्णाहुति डालूँगा)—" यह कह कर वीर इन्द्रजित्, साँप जैसा शस्त्र उठाकर खड़ा हो गया।

मेघनाद को यज्ञ-निमग्न देख कर लक्ष्मण दावानल की भाँति भड़क कर उसे चुनौती देते हैं। शत्रु उन्हें वहाँ देखकर चौंक जाता है। आखिर लक्ष्मण वहाँ तक पहुँचे कैसे? घर का वह भेदी कौन है जो लक्ष्मण को वहाँ तक ले आया? आधार-ग्रन्थों में मेघनाद विभीषण को लक्ष्मण के साथ वहाँ देख लेता है और उसे 'घर का भेदी' घोषित करके उसकी अत्यधिक निन्दा भी करता है। 'साकेत' में मेघनाद विभीषण को देखता नहीं, अन्तःप्रेरणा से अनायास ही उसके हृदय से यह प्रश्न उठता है—

घर का भेदी कौन—यहाँ जो तुझको लाया?

वास्तव में घर का भेदी—विभीषण—ही लक्ष्मण को अपने साथ लेकर वहाँ आया था। लक्ष्मण इस सत्य से अवगत हो कर भी अपनी स्थिति की रक्षा करने के

लिए ऐसे अनोखे ढंग से प्रसंग ही बदल देते हैं जिससे शत्रु को मुँह की खानी पड़ती है :

अरे, काल के लिए कौन पथ खुला नहीं है ?

× × ×

कर ले कुछ तो धर्म, 'अतिथि-देवो भव'—आ तू ।"

मेघनाद जिस यज्ञ को अपना धर्म समझ रहा है, वह धर्म नहीं है—*अनल की वृथा वंचना* है । इस समय तो शत्रु का सामना करना ही उसका *एकमात्र* धर्म है ।

मेघनाद लक्ष्मण को अपनी शक्ति का स्मरण कराता है परन्तु इस शक्ति को तो लक्ष्मण की एक (जड़) जड़ी ने ही छितरा दिया था और यदि वह वास्तव में अपने को दिव्य—अनोखे—शस्त्रों का स्वामी समझता है तो अब फिर मैदान में क्यों नहीं उतर आता ?

लक्ष्मण और मेघनाद के इस संवाद में संवाद के तीनों प्रमुख गुण—*प्रत्युत्पन्नमति, सौजन्य* और *संगति* प्रभूत मात्रा में पाये जाते हैं ।

हुआ वहाँ सम-समर ··· ··· ··· चढ़ी, बढ़ी काली मतवाली !

इसके उपरान्त वहाँ अनोखे साज सजा कर मेघनाद तथा लक्ष्मण के बीच समान (रूप से) युद्ध हुआ । दोनों अपने हाथ (में पकड़ी) तलवारें बजा-बजा कर पैरों से ताल दे रहे थे (उनके पैर इस प्रकार पड़ रहे थे मानों तलवार के उस स्वर पर ताल पड़ रहे हों) ! एक वीर के शब्द दूसरे वीर के शब्दों से, एक के शस्त्र दूसरे के शस्त्रों से और एक के घाव दूसरे के घावों से समान भाव से स्पर्द्धा करने लगे (होड़ लगाने लगे) । वे दोनों वीर-श्रेष्ठ मानो एक प्राण हो कर दो (भिन्न-भिन्न) शरीरों को अपना-अपना दूषण (बाधा) मान रहे थे (शरीरों का वह अन्तर मिटा डालने को आतुर थे) ! दोनों लक्षी (शत्रु को अपना लक्ष बनाने वाले) प्राणों की बाज़ी लगा कर अपने (प्राण रूपी) पक्षियों को उड़ा-उड़ा कर परस्पर लड़ा रहे थे । वहाँ तो जीवन और मृत्यु का खेल-सा हो रहा था; युद्ध-भूमि मानो रस-पान के लिए रंगस्थली ही बन गयी थी । क्रमशः दोनों वीरों की लाली (क्रोध) बढ़ने लगी । (प्रलयंकर) महादेव शिव ताली बजा-बजा कर नृत्य कर रहे थे । व्रणों (दोनों वीरों के शरीर पर होने वाले घावों) की माला जपा (जवा) पुष्पों की डाली बन कर रण-चण्डी पर चढ़ी; मतवाली काली (दुर्गा) बढ़ चली ।

लक्ष्मण और मेघनाद *समान* वीर हैं, उनमें से कोई भी दूसरे से कम नहीं अतः अनोखे (दिव्य) साज सजा कर दोनों ने युद्धारम्भ कर दिया। दोनों वीरों की तलवारें बज उठीं; दोनों के पैर समान रूप से ताल देने लगे। इतना ही नहीं, दोनों के *शब्द*, *शस्त्र* और *घाव* भी परस्पर स्पर्द्धा करने लगे—उनमें इस बात की होड़ लग गयी कि कौन दूसरे से अधिक सिद्ध होता है। कवि को इतना ही कह कर सन्तोष नहीं होता, वह इससे भी आगे बढ़ता है :

हो कर मानों एक प्राण दोनों भट-भूषण,
दो देहों को मान रहे थे निज निज दूषण।

डा० नगेन्द्र के शब्दों में इन पंक्तियों में "उत्साह की अद्भुत व्यंजना है—सर्वथा नवीन और मौलिक। यह वीरता की अन्तिम अवस्था है। दोनों वीरों का व्यक्तित्व अन्तर्हित हो गया है—उनकी वीरात्माएं भिड़ कर एक हो गई हैं। शरीर तो एक प्रकार से विघ्न डाल रहे हैं—इसीलिए दोनों वीर उनसे मुक्त होना चाहते हैं।"

लक्ष्मण तथा मेघनाद के *समान* बल-पौरुष का उल्लेख महर्षि वाल्मीकि ने इस प्रकार किया है:—

उभावपि सुविक्रान्तौ सर्वशस्त्रास्त्रकोविदौ।
उभौ परमदुर्जयावतुल्यबलतेजसौ॥
सुसंप्रहृष्टौ नरराक्षसोत्तमौ
जयैषिणौ मार्गणचापधारिणौ
परस्परं तौ प्रववर्षतुर्भृशं
शरौघवर्षेण बलाहकाविव॥
अभिप्रवृद्धौ युधि युद्धकोविदौ
शरासिचण्डौ शितशस्त्रधारिणौ।
अभीक्ष्णमाविव्यधतुर्महाबलौ
महाहवे शम्बरवासवाविव॥

(दोनों ही पराक्रमी थे और दोनों ही सब प्रकार के अस्त्र और शस्त्रों को चलाने और रोकने में निपुण थे। दोनों ही परम दुर्जेय और अतुलित बलवान् एवं तेजस्वी थे। वे दोनों अत्यन्त उत्साही और जयाभिलाषी नरश्रेष्ठ वीर, हाथों में धनुष लिये हुए एक दूसरे के वध का अवसर ढूँढते हुए एक दूसरे के ऊपर वैसे ही असंख्य बाणों की वर्षा कर रहे थे; जैसे मेघ जल की वर्षा किया करते हैं।

दोनों ही युद्ध-विद्या में निपुण थे अतः दोनों ही के पास बड़े-बड़े प्रचण्ड बाण, खड्ग और पैने-पैने शस्त्र थे। वे दोनों महाबली एक दूसरे को घायल करते हुए वैसे ही लड़ रहे थे, जैसे शम्बासुर और इन्द्र लड़ते थे।*

हुए सशंकित देव ··· ···· ···· यही शेष पौरुष-साधन है !"

(मेघनाद और लक्ष्मण का वह सम-समर देख कर) देवताओं को यह शंका होने लगी कि न जाने आज (इन दोनों योद्धाओं में से) किसे विजय का वरदान प्राप्त होगा ? (उनके हृदय में इस सन्देह का उदय होने लगा कि) क्या आज भी धर्म अपनी क्षति पूर्त्ति न कर सकेगा ? (क्या आज भी पाप का अन्त और धर्म की विजय न हो सकेगी ?) हँस कर तथा ब्रह्मा की ओर देख कर विष्णु ने कहा, "कहो क्या इच्छा है ? (देवराज इन्द्र को तो मेघनाद हरा ही चुका है अब तो) यही शेष (लक्ष्मण) (लक्ष्मण को शेषनाग का अवतार माना जाता है) देवताओं के बल-पौरुष का साधन है (अथवा 'देवताओं' के पौरुष का तो अब यही साधन अवशिष्ट है)!"

'साकेत' के देवता लक्ष्मण मेघनाद युद्ध में आधार ग्रन्थों की भाँति सक्रिय योग तो नहीं देते, परन्तु वे इस निर्णयात्मक युद्ध से उदासीन भी नहीं हैं।

इधर गरज कर मेघनाद ··· ··· ···· तू पड़ा आज राक्षस के पाले !

इधर (पृथ्वी पर) मेघनाद ने गरज कर लक्ष्मण से कहा, "तू ने प्राणों की बाजी लगा कर अपनी मनुष्य लीला की है। तेरे जैसा पुरुषत्व (बल-पौरुष) तो अमरपुर में भी दुर्लभ है परन्तु अरे (नाशवान) मनुष्य, तू आज राक्षस के पाले पड़ा है (आज तेरा वास्ता राक्षस से पड़ा है अतः तेरा पौरुष तुझे बचा न सकेगा) !"

"मेघनाद, है विफल ···· ···· ··· वंश का भी घातक है।

लक्ष्मण बोले, "हे मेघनाद, तू इस प्रकार जो विष उगल रहा है, वह व्यर्थ है (मुझ पर उसका तनिक भी प्रभाव न होगा)। तू मेरे बहाने (मेरी वीरता तथा मेरे बल पौरुष की प्रशंसा के बहाने) अपनी बड़ाई (अपना महत्व स्थापित करने का प्रयत्न) न कर। जीवन क्या है ? मनुष्यों द्वारा किया जाने वाला संघर्ष ही तो जीवन है। और मरण ? वह प्राचीन का नव जन्म है परन्तु तेरे पिता ने अपना जन्म इतनी बुरी तरह बिगाड़ लिया है (इस जीवन में इतने अधिक पाप किये हैं) कि (उनके फलस्वरूप) तुझे भी यह

* वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, सर्ग ८८, श्लोक ३६, ३९, ४०।

पैतृक रोग (पिता को पुत्र से प्राप्त होने वाला कुफल) इसी प्रकार (अपने पिता की ही भाँति) भोगना होगा (मानो यह पाप स्वयं तेरा ही किया हुआ हो)। यह बात भी समझ लेनी आवश्यक है कि पाप (एक ही जन्म के लिए नहीं अपितु) जन्म-जन्मान्तर के लिए केवल पापी के लिए ही नहीं अपितु उसके परिवार के सदस्यों के लिए भी घातक सिद्ध होता है।

यहाँ कवि ने लक्ष्मण के रूप में अपने कुछ विचार-विशेष की अभिव्यक्ति का साधन ढूँढ निकाला है। हमारा कवि पुनर्जन्मवाद में विश्वास रखता है—पूर्वजन्म के कर्म-फल पर भी उसकी उतनी ही आस्था है; तभी तो उसका यह विश्वास दृढ़ है कि इस जन्म में किये जाने वाले पाप का कुफल जन्मजन्मान्तर तक सहना पड़ता है और पाप का फल केवल पापी (कर्त्ता) को ही नहीं; उसके आश्रितों अथवा सगे सम्बन्धियों को भी भोगना पड़ता है। जहाँ तक जन्म अथवा मृत्यु का सम्बन्ध है वह तो एक शाश्वत शृंखला की दो कड़ियाँ हैं। जीवन की—संघर्ष की—परिणति मृत्यु में हो जाती है और मृत्यु का परिणाम होता है पुनः जीवन—पुरातन का नया जन्म। अतः जीवन अथवा मृत्यु किसी के लिए भी अनुचित हर्ष अथवा शोक करना व्यर्थ है, जीवन के प्रति अनावश्यक मोह अकारण है और मृत्यु का भय निस्सार। जीवन संघर्ष अथवा कर्त्तव्य-पालन के लिए विषम परिस्थितियों से जूझने के लिए ही प्राप्त हुआ है अतः मनुष्य को दत्तचित्त होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।

यदि सीता ने एक राम को ···· ··· ··· पाप-पूर्ण हाटक-घट फूटा।

(मेघनाद की ओर प्राण-घातक बाण छोड़ते हुए लक्ष्मण ने कहा) "यदि सीता ने केवल राम को ही अपना वर (पति) माना है और यदि मैंने केवल ऊर्मिला को ही अपनी वधू (पत्नी) माना है (पत्नीव्रत धर्म का पालन किया है) तो, बस, अब तू सँभल, मेरा यह बाण छूट रहा है और इसके छूटते ही रावण का यह पाप-पूर्ण हाटक-घट (सोने का घड़ा) फूट जाएगा!" (मेघनाद की मृत्यु का अर्थ था लंका का ही पतन)!

महर्षि बाल्मीकि के लक्ष्मण "ऐन्द्रास्त्र के मंत्र से अभिमन्त्रित करके मेघनाद की ओर बाण छोड़ते हैं।"* 'अध्यात्म रामायण' में लक्ष्मण ऐन्द्र बाण निकाल कर उसे मेघनाद की ओर लक्ष्य बाँध कर धनुष पर चढ़ाते हैं और उस कठोर धनुष को कर्ण पर्यन्त खींच कर वीरवर लक्ष्मण जी हृदय में भगवान् राम के चरण-

* वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, सर्ग ६१, श्लोक २।७

कमलों का स्मरण करके कहते हैं :

धर्मात्मा सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यदि ।
त्रिलोक्यामप्रतिद्वन्द्वस्तदेनं जहि रावणिम् ॥

यदि दशरथनन्दन भगवान् राम परम धार्मिक सत्य की मर्यादा रखने वाले और त्रिलोकी में प्रतिद्वन्द्वी से रहित हैं तो, हे बाण तू मेघनाद को मार डाल ।)"

वीरवर लक्ष्मण यह कह कर उस बाण को कान तक खींच कर उसे इन्द्रजीत की ओर छोड़ देते हैं ।❀

'रामचरितमानस' में—

लछिमन मन अस मंत्र दृढ़ावा ।
एहि पापिहि मैं बहुत खेलावा ॥
सुमिरि कोसलाधीस प्रतापा ।
सर संधान कीन्ह करि दापा ॥
छाड़ा बान माझ उर लागा ।
मरती बार कपटु सब त्यागा ॥†

'साकेत' के लक्ष्मण का सबलतम बल है उनका *एक पत्नीव्रत* । इसी लिए वह इस अवसर पर सीता के पतिव्रत और अपने एकपत्नीव्रत की ही दुहाई देते हैं । लक्ष्मण की इस दर्पोक्ति में दिव्य सात्विक ओज है ।

हुआ सूर्य सा अस्त ···· ···· ···· प्राप्त कर रही थी दीपाली ।

सूर्य की भाँति लंकापुर के (सूर्य) इन्द्रजित् का अस्त हो गया (मेघनाद का जीवन-सूर्य अस्त हो गया) (फलतः) आकाश-रूप (आकाश की भाँति) रावण के हृदय पर शून्यता (सन्नाटा अथवा रिक्तता) का भाव छा गया ! इधर (अयोध्या में) फूली (गर्व एवं उल्लास भरी) सन्ध्या जैसी, ऊर्मिला वधू के मुख पर फैल जाने वाली लाली दीवाली प्राप्त कर रही थी (आभामयी हो रही थी) !

लंका की शक्ति का मुख्य आधार था मेघनाद । अतः मेघनाद की मृत्यु होते ही लंका के सौभाग्य-सूर्य का ही अस्त हो गया । सूर्यास्त हो जाने पर आकाश पर एक विचित्र सन्नाटा सा छा जाता है । रावण के हृदय की भी वही दशा थी ! हाँ, लंका में होने वाले इस सूर्यास्त का प्रभाव अयोध्या पर इससे सर्वथा भिन्न होता है । अयोध्या वासी दूर दृष्टि से यह सब कुछ देख रहे हैं । ऊर्मिला ने तो

❀ अध्यात्म रामायण, युद्ध काण्ड, सर्ग ६, श्लोक ४२—४६ ।

† रामचरितमानस, लंका काण्ड ।

मानों इस समय अपने प्राणों का ही पता लगा रखा है अतः मेघनाद रूपी (लंका के) सूर्य का अस्त होते ही यह सन्ध्या फूल उठती है—ऊर्मिला के गर्व तथा उल्लास की सीमा नहीं रहती और फलस्वरूप इस कुल-वधू के मुख पर लज्जा की लाली दौड़ने लगती है, ठीक इसी प्रकार जैसे सूर्यास्त के समय सन्ध्या का रंग अरुणिम हो जाता है। इतना ही नहीं, इस सन्ध्या के लिए तो यह एक पर्व का अवसर है, कदाचित् जीवन के महानतम पर्व का। आज उसके पति ने इन्द्रजित् को परास्त किया है, लंका का सौभाग्य-सूर्य सदा के लिए डुबा दिया है और वैदेही के उद्धार के लिए एक सुनिश्चित एवं अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है; फिर वह *फूली सन्ध्या दीवाली* कैसे प्राप्त न करती, उसके रोम-रोम से गर्व एवं उल्लास फूट कैसे न पड़ता ?

जग कर मानो एक बार ···· ··· ···· प्रत्यक्ष अधिष्ठात्री क्या ये ही ?

सब लोग (समस्त अयोध्यावासी) मानो एक बार इस स्वप्न से जाग कर तथा जय जयकार करके फिर चुप-चाप स्वप्न निमग्न हो गये। इस बार उन्होंने अशोक वाटिका में वैदेही के दर्शन किये। जान पड़ता था कदाचित् सीता के रूप में करुणा की अधिष्ठात्री देवी ही अशोक वाटिका में बैठी थीं।

दो चार पल के लिए साकेतवासियों का वह स्वप्न टूटता है और उनके मुख से अनायास ही श्री राम तथा लक्ष्मण का जय-जयकार निकल पड़ता है परन्तु किसी अत्यन्त रोचक नाटक को देखने वाले दर्शक की भाँति वे लोग भी दूसरे ही क्षण अपने को नाटक के दूसरे दृश्य के लिए प्रस्तुत कर लेते हैं—एक बार फिर चुपचाप उसी स्वप्नलोक में निमग्न हो जाते हैं।

स्वयं वाटिका बनी विकट थी ··· ···· ···· सात्विकी वृत्ति पुनीता।

स्वयं (अशोक) वाटिका उस समय विकट झाड़ी जैसी जान पड़ रही थी (जिसमें सीता घिरी हुई थी) सीता के आस-पास बैठी राक्षसियाँ घनी तथा कंटकपूर्ण बाड़ी (वाटिका) के समान थी। उन दोनों (उस झाड़ी तथा बाड़ी) के बीच में देवी सीता इसी प्रकार घिरी हुई थीं जैसे राजसिक तथा तामसिक वृत्तियों के बीच में पवित्र सात्विकी वृत्ति घिरी हो।

एक विभीषण-वधू उन्हें धीरज ···· ···· ····. शोक-मुक्त करते उनके शर।

केवल विभीषण की पत्नी सरमा उन्हें (सीता को) (उस सर्वथा प्रतिकूल वातावरण में) धैर्य बँधा रही थीं अथवा इस प्रकार सरमा प्रतिमा (सीता)

का पूजन करके स्वयं वरदान प्राप्त कर रही थीं (सीता तथा राम के प्रति क्रमशः सरमा तथा विभीषण की भक्ति के फलस्वरूप ही उन्हें लंका का राज्य प्राप्त हुआ था)। सरमा ने सीता से कहा—"हे देवी, अब तो तुम अपने आपको अपने प्रभु के समीप ही समझो। मेघनाद क्या मरा है, इस प्रकार तो मानो रावण ही मर गया है। मेघनाद-वध का समाचार सुन कर समस्त लंका सिर धुन-धुन कर रो रही है। शुभे, रावण तो यह समाचार सुन कर रथ में ही मूच्छित हो गया। (इस प्रकार रावण को मूच्छित देख कर) प्रभु श्री रामचन्द्र जी ने कहा—"अरे रावण, उठ जाग, मेरा बाण तैयार है, मैं अब तेरा दुःख (पुत्र-शोक) नहीं सह सकता (अतः तुझे मौत के घाट उतार कर इस प्रस्तुत पुत्र-शोक से मुक्त कर देना चाहता हूँ)। (सरमा ने फिर कहा) हे देवी, मेरे स्वामी (विभीषण) धन्य हैं जिन्होंने उन प्रभु श्री राम की चरण-सेवा स्वीकार कर ली जो शत्रु का भी दुःख नहीं सह सकते। यदि रावण पल भर तक भी युद्ध-भूमि पर सचेत (सावधान) रहता (तुरन्त बेहोश न हो जाता) तो श्रीराम उसे आज ही (मृत्यु की गोद में सुला कर) शोक-मुक्त कर देते।"

आधार-ग्रन्थों में सीता की "*विपत्ति संगिनी* त्रिजटा ही अशोक-वाटिका में सीता को धैर्य बँधाती है। 'साकेत' के कवि ने यह कार्य सरमा से कराया है। कदाचित् 'साकेत' के कवि को यह सहन न हो सका कि विभीषण राम की शरण में आकर राम-रावण संघर्ष में इतना महत्त्वपूर्ण भाग ले और लंका की भावी महारानी (सरमा) इस समस्त घटना-चक्र में एक तटस्थ दर्शिका मात्र बनी रहे।

तब सीता ने कहा पोंछ-आँखों का ··· ···· ····यहाँ जिन्होंने अग्नि-परीक्षा।

(सरमा की ये सब बातें सुन कर) सीता ने आँसू पोंछ कर कहा, "सरमे, मैं (तुम्हारे इस उपकार के बदले) तुम्हें क्या वस्तु भेंट में दूँ ? लंका की रानी, (मेरी तो यही शुभ कामना है कि) तुम बहुत समय तक सुखपूर्वक जीवन बिताओ।"

सरमा ने उत्तर दिया, "हे साध्वी (देवी), तुम पर तो समस्त पृथ्वी का राजत्व (स्वामित्व) निछावर है (फिर भला लंका के इस तुच्छ राज्य का महत्व ही क्या ?) (मेरी तो यही आकांक्षा है कि) तुम्हारे उन्हीं चरणों की माध्वी (मदिरा) मुझे मस्त बनाए रहे (मैं सदा उन्हीं चरणों की उपासिका बनी रहूँ)। शम (अन्तःकरण तथा बाह्य इन्द्रियों का निग्रह) तथा दम

(इन्द्रिय-निग्रह) की साक्षात् दीक्षा स्वरूपिणी तथा सतीत्व (पातिव्रत) की साकार स्वर्ण-प्रतिमे ! तुमने तो यहाँ (लंका में) रह कर स्वयं ही अपनी अग्नि-परीक्षा दे दी है।"

सरमा (तथा विभीषण) द्वारा प्रदर्शित सहानुभूति के बदले सीता सरमा को उपहार-स्वरूप कुछ देना चाहती हैं परन्तु उस कारागार की बन्दिनी सीता उस स्थिति में सरमा को क्या दें ? अपनी इस विवशता पर सीता को हार्दिक दुःख होता है। वह इतना ही कहती हैं—

जियो लंका की रानी ।

इस प्रकार तो मानों (राम द्वारा) विभीषण को राज्य प्राप्त होने से पूर्व ही राम-पत्नी सीता विभीषण-पत्नी सरमा को लंका का राज्य सौंप देती हैं।

···परन्तु सरमा का विश्वास है कि केवल लंका तो क्या, साध्वी सीता के चरणों पर तो *समस्त वसुधा* का राज्य भी निछावर है। इसी विश्वास के आधार पर वह सीता से यही निवेदन करती है :

रक्खे मुझको मत्त इन्हीं चरणों की माध्वी !

सरमा ने लंका (अशोक-वाटिका) में सीता को अत्यन्त निकट से देखा है। इस विषम वातावरण में रह कर भी सीता ने जिस धैर्य एवं साहसपूर्वक अपने धर्म की रक्षा की है वह वास्तव में अनुपम है। तभी तो सरमा के शब्दों में मानों युग-युग से संसार यह स्वीकार करता चला आ रहा है कि :

तुम सोने की सती मूर्त्ति, शम दम की दीक्षा ,
दी है अपनी यहाँ जिन्होंने अग्नि - परीक्षा ।

सीता शम-दम में *दीक्षित* न होकर स्वयं शम-दम की *दीक्षा* स्वरूपिणी हैं। सोने की इस पवित्र प्रतिमा ने लंका के विषैले वातावरण में रह कर तो मानो *अग्नि-परीक्षा* दी है ! असली सोने की परख करने के लिए उसे आग में तपाया जाता है। लंका की विषम परिस्थितियों की आग में तपकर सीता का पवित्र चरित्र ठीक उसी प्रकार निखर आया है जैसे सोने में तप कर पवित्र सोना निखर आता है।

भर कर श्वासोच्छ्वास अयोध्यावासी ··· ··· ··· पाओ फिर फिर ।"

एक लम्बी साँस (आह) भर कर अयोध्यावासी जाग गये। उन सबने अपने सामने गुरुदेव को खड़ा पाया। मुनि ने कहा—"सब लोग अपने

मन्दिर (भवन) सजाओ और (सदा उन मन्दिरों में निवास करने वाली) अपनी उस मूर्त्ति (राम) को पुनः पुनः प्राप्त करो (उनके स्वागत के लिए तैयार हो जाओ)।"

गूँजा जय जय नाद ... ... बाट जोहनी होगी अब तो।"

(मुनि वसिष्ठ के मुख से यह शुभ समाचार सुन कर) प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में घमंड भर गया और (श्री राम के) जय-जयकार का शब्द सब ओर गूँज गया। अयोध्यावासियों का वह उमड़ा हुआ उत्साह अब (अपने प्रभु के) स्वागत की तैयारी में लग गया। (युद्ध-भूमि पर जाने की आवश्यकता शेष न रहने के कारण) सैनिकों ने मन मार कर (विवशतापूर्वक) अपनी फेंट (पेटी) खोल डाली (युद्ध के साज उतार दिये)। वीर-पत्नियों ने हँस कर (विनोदपूर्वक) (अपने पतियों से) कहा "क्यों, उमंग निकली नहीं? (तुम अपने हृदय की इच्छा पूर्ण न कर पाये?) (राम की सहायता करके) समस्त यश वानरों ने ही प्राप्त कर लिया (उसमें तुम भी सहभागी न हो सके)!"

वीर पतियों ने उत्तर दिया, "प्रिये सब कुछ (अपने ही नेत्रों से) देख तो लिया है। (शत्रुओं को पराजित करके यश प्राप्त करने की आकांक्षा पूर्ण करने के लिए तो) अब अश्वमेघ की बाट जोहनी होगी (उस अवसर की प्रतीक्षा करनी होगी जब अयोध्या-नरेश श्री राम अश्वमेध यज्ञ करेंगे)।"

मज्जन पूर्वक सुधा नीर से ... ... देखती थी पथ पति का!

(राम के स्वागतार्थ) अयोध्या नगरी ने अमृत जल से स्नान करके रंग बिरंगे सुन्दर वस्त्र धारण कर लिये। स्थान स्थान पर अनेक स्वागत वाक्य लिख कर और इस प्रकार राम के प्रति अपने अनन्य प्रेम का भली प्रकार परिचय दे कर अयोध्या नगरी वासक सज्जा (नायिका) बन कर अपने पति (श्री राम) की बाट जोहने लगी।

वासकसज्जा नायिका वह होती है जो वस्त्र शृंगारादि से सज-धज कर प्रसन्नतापूर्वक अपने पति के आगमन की प्रतीक्षा करती है।

आया, आया, किसी भाँति ... ... सब के उर में।

आखिर किसी प्रकार (जैसे तैसे करके) वह (श्री राम के अयोध्या लौटने का) दिन भी आ ही गया। यही वह दिन था जब संसार को अपना

ऐश्वर्य और घर (अयोध्या के राज-परिवार) को अपना गौरव (पुनः) प्राप्त हो गया। पहले पवन-पुत्र हनूमान् जी पूर्व-प्रसाद के रूप में नगर में प्रविष्ट हुए, उनके उपरान्त वे प्रभु श्री रामचन्द्र जी प्रकट हुए जो सबके हृदय में छिपे हुए थे।

किसी भाँति—दिन पर दिन और रजनी पर रजनी गिन कर—अवधि पूरी हुई और राम अयोध्या लौटे। आततायी रावण का अन्त करके, धर्म-रक्षा और अधर्म-नाश के कर्त्तव्य का पालन करने के उपरान्त श्री राम का अयोध्या लौटना एक नवीन युग का सूचक था—एक ऐसे युग का सूचक जिसमें *संसार* को *ऐश्वर्य* प्राप्त हुआ और *गेह* को *गौरव* (महाराज दशरथ के सत्य-पालन, राम की पितृ-भक्ति, सीता के पातिव्रत, लक्ष्मण की भ्रातृ-भक्ति तथा ऊर्मिला, भरत, माण्डवी, शत्रुघ्न आदि की अनुपम कर्त्तव्य-परायणता ने रघुवंश के गौरव में अत्यधिक वृद्धि कर दी)। राम अयोध्या में पधारे, नहीं, सत्य तो यह है कि अब तक वे अयोध्यावासियों के हृदयों में छिपे हुए थे, अब नेत्रों के सम्मुख प्रकट हो गये थे, मानो वे कभी अयोध्या छोड़ कर गये ही न थे।

'वाल्मीकि रामायण' के राम अयोध्या में प्रविष्ट होने से पूर्व हनूमान् को यह समझा कर भरत के पास भेजते हैं कि "कपिराज सुग्रीव और राक्षसराज विभीषण सहित मेरा (लौट कर) अयोध्या के समीप आना आदि समस्त वृत्तान्त धीरे-धीरे तुम भरत जी से कहना। इन सब बातों को सुन कर भरत के चेहरे का रंग कैसा होता है अथवा उनकी मेरे प्रति कैसी भावना है—ये सब बातें तुम जान लेना .. और भरत की चेष्टाओं पर विशेष ध्यान देना।"❀

'रामचरितमानस' में—

राम विरह सागर मँह भरत मगन मन होत।
विप्र रूप धरि पवन सुत आइ गयउ जनु पोत॥†

'साकेत' में भी हनूमान् राम से पहले अयोध्यापुरी में आते हैं परन्तु वे भरत के मन के भाव जानने के लिए जासूस बनकर अथवा विरह-सागर में डूबते भरत को बचाने के लिए पोत की भाँति नहीं आते। यहाँ तो सर्वथा स्वाभाविक ढंग से—

आये पूर्व-प्रसाद-रूप-से मारुति पुर में।
अपनों के ही नहीं ··· ··· ···· आदर्श रूप घट घट के वासी।

केवल अपनों के ही नहीं, परायों के प्रति भी धर्म (कर्त्तव्य) का (भली

❀ वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, सर्ग १२८, श्लोक १० से १३।
† रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड।

प्रकार) पालन करने वाले, पुण्यात्मा, प्रवृत्ति (सांसारिक विषयों का ग्रहण तथा निवृत्ति (मोक्ष) मार्ग (इहलोक तथा परलोक) की मर्यादा का मर्म (रहस्य) जानने वाले, राजा हो कर भी गृहस्थी (अथवा यात्री) और गृहस्थी हो कर भी संन्यासी (की भाँति वन में रहने वाले), आदर्श-स्वरूप तथा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में निवास करने वाले श्री रामचन्द्र जी प्रकट हुए।

पाया, हाँ, आकाश-कुसुम ... ... लाख तरंगों से लहराया।

हाँ, हाँ, हमने आकाश-कुसुम भी प्राप्त कर लिया (असम्भव-सी जान पड़ने वाली बात—अवधि का अन्त—सम्भव सिद्ध हो गयी)। पुष्पक (यहाँ 'पुष्पक' श्लिष्ट शब्द है। इसका सामान्य अर्थ है 'फूल'। यहाँ यह शब्द उस विमान के नाम के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है जिसमें बैठ कर श्री राम-लक्ष्मण आदि लंका से अयोध्या लौटे थे) आकाश में अपनी सुगन्धि फैलाता हुआ अयोध्या पहुँचा। (पुष्प की ओर आकृष्ट होने वाले) अनगिनत नेत्र रूपी भ्रमर उस (पुष्पक की) ओर उड़े और सब ओर प्रभु के गुण-गान का शब्द गूँज उठा। मनुष्यों का वह मानसरोवर (अपरिमित जन-समूह) लाख तरंगों में लहराने (प्रवाहित होने) लगा (अथवा उस समय प्रस्तुत मनुष्यों के मन में लाखों—असंख्य—भाव-लहरियाँ उठने लगीं (हर्ष एवं उल्लास-परिपूर्ण भावनाओं का प्राबल्य हो गया)।

'मानुष-मानस' में पुनरुक्तिवदाभास है।

'अगणित नेत्र-मिलिन्द उड़े' : महर्षि वाल्मीकि के अयोध्यावासी

ददृशुस्तं विमानस्थं नराःसोममिवाम्बरे।

(विमानस्थित श्री रामचन्द्र जी की ओर वैसे ही देखने लगे जैसे लोग आकाश-स्थित चन्द्रमा को देखते हैं।)*

इस प्रकार यहाँ दर्शक और दृश्य के बीच एक अपरिहार्य अन्तर बना रहता है। 'साकेत' के अयोध्यावासी पृथ्वी पर बैठे-बैठे दूर से उस चन्द्रमा का सौन्दर्य देखकर ही सन्तुष्ट नहीं होते, उनके नेत्र-भ्रमर तो उस 'पुष्पक' तक पहुँच कर मानो आकाश तथा पृथ्वी के बीच का वह अन्तर भी मिटा देते हैं।

भुक्ति विभीषण और मुक्ति ... ... लक्ष्मणाग्रज घर आये।

विभीषण को भुक्ति (सांसारिक सुख-वैभव अथवा लंका का राज्य) और रावण को मुक्ति (सद्गति) प्रदान करके, विजय रूपी सखी के साथ पवित्र सीता को (साथ) लेकर, दक्षिण में स्थित लंका के स्वामी विभीषण के

* वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, सर्ग १३०, श्लोक ३४।

रूप में, मन को भाने वाले अतिथि को साथ ले कर राम अयोध्या लौटे। जान पड़ता था मानो अयोध्या में (उस विशिष्ट अतिथि) विभीषण का समुचित स्वागत करने के लिए लक्ष्मण के बड़े भाई राम स्वयं ही आतिथेय बनने के लिए घर लौट आये।

भरत और शत्रुघ्न नगर-तोरण ··· ··· ··· प्रथम ही उनके आगे।

भरत तथा शत्रुघ्न (स्वागतार्थ) नगर के प्रमुख द्वार के बाहर खड़े थे। जान पड़ता था मानो राम-लक्ष्मण के वहाँ पहुँचने से पूर्व ही भरत तथा शत्रुघ्न के रूप में क्रमशः राम तथा लक्ष्मण के प्रतिबिम्ब वहाँ दिखायी दे रहे थे।

'साकेत' के कवि ने राम और भरत तथा लक्ष्मण और शत्रुघ्न की एक-रूपता पर अनेक स्थानों पर प्रकाश डाला है—

जान कर क्या शून्य निज साकेत,
लौट आये राम अनुज-समेत?
या उन्हीं के अन्य रूप अनन्य,
*ये भरत-शत्रुघ्न दोनों धन्य?**

× × ×

देखी सीता ने स्वयं साक्षिणी हो हो—
प्रतिमाएँ सम्मुख एक एक की दो दो!†

× × ×

"अहा! कहाँ मैं, क्या सचमुच ही तुम मेरी सीता माता?
ये प्रभु हैं, ये मुझे गोद में लेटाये लक्ष्मण भ्राता?"‡

कहा विभीषण ने सुकण्ठ से ··· ··· ···· आज दुगुने-से होकर?"

विभीषण ने (राम और भरत तथा लक्ष्मण और शत्रुघ्न की यह अनुपम एकरूपता देख कर) अपनी सुध-सी खो कर (भाव-मग्न हो कर) सुग्रीव से कहा, "भाई (लक्ष्मण) के सहित श्री राम आज दुगुने से हो कर प्रकट हो रहे हैं।"

---

* साकेत, सर्ग ७।

† वही, सर्ग ८।

‡ वही, सर्ग ११।

वर विमान से कूद ... . भरत, मैं पाकर रोया !"

(अपने वाहन) गरुड़ पर से उतरने वाले पुरुषोत्तम (विष्णु) के समान श्री राम ने उस श्रेष्ठ विमान से कूद (उतर) कर भरत से उसी प्रकार भेंट की जिस प्रकार क्षितिज में सिन्धु और आकाश का सम्मिलन होता है। राम ने भरत से कहा, "उठ भाई, राम (तेरे सामने) खड़ा (प्रस्तुत) है, वह तेरी तुलना न कर सका। आज तेरा ही पलड़ा बड़ा (भारी) होने के कारण पृथ्वी पर पड़ा है! (तराजू का भारी पलड़ा नीचा रहता है) चौदह वर्ष बीत गये। इस अवधि में मैंने पर्वत, वन, तथा सिन्धु-पार स्थित लंका की युद्ध-भूमि पर विचरण किया परन्तु मैं इस (इतनी दूर-दूर तक) भ्रमण से भी थका नहीं था, परन्तु आज तुझे इस प्रकार सब से अलग एकान्तवास-सा करते देख कर मैं थक गया। हे भाई भरत! उठ, मुझ से मिल और मुझे अंक में भर ले। मैं वन में जा कर हँसा (प्रसन्न हुआ) था परन्तु घर लौटने पर (मुझे तेरी यह दशा देख कर) रोना पड़ रहा है। हे भरत! खो कर तो सब लोग ही रोया करते हैं, मुझे तो (घर-बार, प्रजा-परिवार सब को पुनः) प्राप्त करके रोना पड़ रहा है!"

राम *शीघ्रातिशीघ्र* अपने इष्ट मित्रों (विशेषतः भरत) से मिलना चाहते हैं। इसी आतुरता के कारण वह विमान पर से उतरते नहीं, कूदते हैं और तुरन्त भरत को हृदय से लगा लेते हैं। हमारे कवि के शब्दों में, श्री राम और भरत का यह सम्मिलन ठीक वैसा ही है जैसा क्षितिज में समुद्र और आकाश का होता है। यह तुलना अत्यन्त स्वाभाविक एवं समीचीन है। राम और भरत नील-वर्ण हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे सिन्धु और गगन नील-वर्ण हैं। यह तो हुई बाह्य समानता परन्तु प्रस्तुत तुलना में एक आन्तरिक साम्य भी है। राम स्वभाव से ही शान्त, गम्भीर—स्थितप्रज्ञ हैं अतः उनका उपमान शान्त, गम्भीर तथा निर्मल गगन है, उधर भरत का व्यक्तित्व इस समय समुद्र की भाँति उमड़ रहा है, उस गगन के साथ एकाकार हो जाने के लिए। गगन (राम) में यदि *विशालता* है तो सिन्धु (भरत) में *अगाधता*।

भरत की तुलना में राम अपने को हलका पाते हैं। भरत का त्याग तथा संयम उन्हें पराभूत-सा कर देता है। जंगलों में भटक कर, घने वनों को पार करके, ऊँचे पर्वत तथा विशाल समुद्र लाँघ कर भी न थकने वाले मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री राम भरत को *एकान्त-रूप-सा* पाकर थक जाते हैं। चौदह वर्ष की इसी एकान्त तपस्या के उपरान्त आज भरत की—अनुज भरत की—गोद इतनी बड़ी हो गयी है

कि आज राम उसमें बैठ सकते हैं, बैठ जाना चाहते हैं। प्रस्तुत परीक्षा में सफल हो कर तो भरत मानों राम से भी आगे बढ़ गये, अनुज ने मानो अग्रज को भी पीछे छोड़ दिया। अयोध्या में रहने वाले वनवासी (भरत) ने चौदह वर्ष तक जितना कठोर जीवन व्यतीत किया है, उसके प्रमाण अपने ही नेत्रों से देख कर राम का हृदय भर-भर आता है। तभी तो उनका हृदय इन शब्दों द्वारा अभिव्यक्त हो जाता है—

मैं वन जाकर हँसा, किन्तु घर आकर रोया,
खोकर रोते सभी, भरत, मैं पाकर रोया।

"आर्य, यही अभिषेक ... . आज कृतकृत्य भरत का।"

भरत बोले, "आर्य, तुम्हारे दास भरत का तो यही अभिषेक है (कि उसने तुम्हें पुनः प्राप्त कर लिया) आज भरत का (मेरा) अन्तर तथा बाह्य पूर्णतः कृतकृत्य हो गया है।"

पूरी भी थीं युगल मूर्त्तियाँ ... ... झूम रही थीं घूम घटाएँ।

अब तक (प्रस्तुत सम्मिलन से पूर्व) वे (राम तथा भरत की) मूर्त्तियाँ (व्यक्तित्व) (अपने में सर्वथा) पूर्ण हो कर भी मानो अधूरी ही थीं। अब (इस अवसर पर) परस्पर मिल कर तथा एक (एकाकार) हो कर भी वे प्रसन्नता-पूर्ण तथा द्विगुणित हो गयीं (उनके व्यक्तित्व में द्विगुणित महानता आ गयी)। दोनों की जटाएं हिल-हिल कर आपस में लिपट कर परस्पर मिल गयीं। (ऐसा जान पड़ रहा था मानो उन जटाओं के रूप में) घटाएँ ही, घूम-घूम कर (राम तथा भरत के) मुख-चन्द्रों पर घूम रही थीं।

राम तथा भरत के व्यक्तित्व अपने में सर्वथा पूर्ण थे तथापि जैसे उनमें अभी तक किसी वस्तु का—किसी विशेषता का—अभाव था। उनके प्रस्तुत सम्मिलन ने न केवल उस कमी को पूरा कर दिया अपितु उनके व्यक्तित्व को द्विगुणित भी कर दिया (यहाँ 'पूरी' और 'ऊनी' तथा 'एक' और 'दूनी' का विरोधाभास भी द्रष्टव्य है)। वन से लौट कर आने वाले राम और नगर में ही वनवासी की भाँति रहने वाले भरत की जटाएँ परस्पर मिल गयीं—दोनों एक दूसरे में विलीन हो गये। उन जटाओं ने राम तथा भरत के मुख अपने में उसी प्रकार छिपा लिये जैसे घटायें निर्मल चन्द्रमा को अपने में छिपा लेती हैं।

'हिल-हिल कर मिल गयीं परस्पर लिपट जटाएँ': "यहाँ केवल एक पंक्ति है। जटाओं के मिलने का दृश्य सामने आते ही मन में अनेक धुँधले चित्र घूम जाते हैं। युवराज राम का मुकुट उतार कर जटा-बन्धन करना, वन में चौदहों

वर्षों तक रूखी जटाओं का बढ़ते रहना, उधर भरत का भी नव वय में वैराग्य धारण करना और साधन होते हुए भी तपस्वी वेष ले लेना—फिर इतने दिनों बाद दोनों राजकुमारों का तापस-वेष में सम्मिलन, यह सभी कुछ सामने आ जाता है।"*

साधु भरत के अश्रु गिरें .... सर्वदा सबने लूटा।

चरणों पर गिरने से पूर्व ही साधु भरत के आँसुओं को सीता ने अपने नेत्रों में भर लिया। (इस प्रकार) लता के मूल में सींचा (डाला) जाने वाला वह जल फूलों (उल्लास) के रूप में फूट पड़ा (प्रकट हो गया) और इस प्रकार (उन फूलों के विकास के फलस्वरूप) वही सरस सुगन्ध फैल गयी जो सदा सब के लिए उपभोग्य (आनन्दप्रद) है।

देवर-भाभी मिले .... बन्धु-सम्बन्ध हमारा तुम में रह कर।"

देवर तथा भाभी एक दूसरे से मिले, सब (चारों भाई) परस्पर मिले (उस समय) पृथ्वी पर फूल बरस रहे थे और ऊपर (आकाश अथवा स्वर्ग में) जय-जयकार का शब्द छा रहा था। भरत ने सुग्रीव तथा विभीषण से यह कह कर भेंट की, "तुममें (तुम्हारे साथ) रह कर हमारा बन्धु-सम्बन्ध सफल हो गया।"

भरत के इन शब्दों में सुग्रीव तथा विभीषण के प्रति हार्दिक कृतज्ञता निहित है।

पैदल ही प्रभु चले .... भीड़ अमाई उली उली!

प्रभु ने पैदल ही उस (अपार) जन-समूह के साथ नगर में प्रवेश किया। आज इस पुरी में (अत्यधिक भीड़ के कारण) लोगों के शरीर आपस में रगड़ खा रहे थे। अहा! अयोध्या आज फूली न समा रही थी। तब (उस समय—राम के अयोध्या-प्रवेश के अवसर पर) तो (अथवा तभी तो) भीड़ अत्यन्त गर्वपूर्वक (इतरा-इतरा कर) उमगी (उमड़ी) पड़ रही थी!

गोस्वामी जी के शब्दों में—

समाचार पुरबासिन्ह पाए।
नर अरु नारि हरषि सब धाए।....
जे जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं।
बाल बृद्ध कहँ संग न लावहिं॥†

* साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ १६७।

† रामचरितमानस, उत्तर काण्ड।

पुर कन्याएँ खील-फूल-धन ···· ··· ··· लोक में हमने पाये।"

नगर की कन्याएँ (राम-बन्धुओं का स्वागत करती हुई उन पर) खीलें, फूल तथा धन बरसा रही थीं, कुल वधुएँ जल-परिपूर्ण मंगल-घट लिये खड़ी स्वागत-गीत गा-गा कर कह रही थीं: "हमारे राम आज फिर हमारे घर लौट आये (हमने पुनः अपने राम को प्राप्त कर लिया), (इस प्रकार) हमने इसी लोक (संसार अथवा जीवन) में चारों फल (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) प्राप्त कर लिये (अब कुछ भी पाने की इच्छा शेष नहीं रही)।"

'रामचरितमानस' में—

दधि दुर्वा रोचन फल फूला।
नव तुलसी दल मंगल मूला।
भरि भरि हेम थार भामिनी।
*गावत चलिं सिंधुरगामिनी॥**

द्वार द्वार पर भूल रही थीं ···· ··· ··· चौंर शत्रुघ्न धरे थे।

प्रत्येक द्वार पर शुभ (मंगल-सूचक) (पुष्प-) मालाएं भूल (लटक) रही थीं। शील-सम्पन्ना शालायें (वे भवन अथवा निवास-स्थान जिनमें सुशील पुरुषों तथा सच्चरित्रा स्त्रियों का ही वास था। 'शील-शीला शालाएँ' में अनुप्रास भी है) मानो अपनी ध्वजाओं (भवनों के ऊपर लहराते झंडों) के रूप में पंखे झल रही थीं (और इस प्रकार) मानों वे राम के यात्रा-जन्य श्रम को दूर करने का प्रयास कर रही थीं। राज-मार्ग में (पर) फूलों से भरे पाँवड़े (पायदान) पड़े थे। भरत (राम के ऊपर) छत्र उठाये हुए थे और शत्रुघ्न ने चँवर हाथ में ले रखा था।

माताओं के भाग आज ···· ··· ··· उठा उठा उन प्रणति-युतों को।

आज (राम लक्ष्मण तथा सीता के पुनः सकुशल अयोध्या लौट आने के कारण) माताओं (कौशल्या आदि) के प्रसुप्त भाग्य जाग गये थे। राम (बढ़ते-बढ़ते) राज-तोरण के सामने जा पहुँचे (जहाँ माताएँ तथा उनके परिवार के अन्य सदस्य राम-लक्ष्मण-सीता के स्वागत के लिए एकत्रित थे)। (पुत्रों तथा पुत्र-वधू को पुनः अपने सम्मुख पा कर सहसा भाव-विभोर हो जाने के कारण) माताएँ (मुख से) कुछ कह (बोल) भी न सकीं और (आँखों

* रामचरितमानस, उत्तर काण्ड।

में आँसू छलक आने के कारण) वे पुत्रों को भली प्रकार देख भी न सकीं। प्रणाम करते हुए प्रिय पुत्रों को उठा-उठा कर वे उन से लिपट गयीं।

'रामचरितमानस' में—

कौसल्यादि मातु सब धाई।
निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई॥
जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृहँ चरन बन परबस गईं।
दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुँकार करि धावत भईं॥
अति प्रेम प्रभु सब मातु भेटीं बचन मृदु बहु बिधि कहे।
*गइ बिषम बिपति बियोग भव तिन्ह हरष सुख अगनित लहे॥**

काँप रही थीं हर्ष-भार से ···· ··· ··· आज वारती थीं तीनों पर।

तीनों माताएँ हर्षातिरेक के कारण थर-थर काँप रही थीं। वे तीनों भर-भर कर (जी भर कर) हीरे-मोती लुटा रही थीं। माताएं तीनों (राम, लक्ष्मण तथा सीता) की आरती उतार रही थीं। ऐसी भला कौन सी वस्तु थी (ऐसी कोई भी वस्तु न थी) जिसे वे उन तीनों पर निछावर करने के लिए प्रस्तुत न थीं!

गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में—

सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं।
मंगल जानि नयन जल रोकहिं॥
कनक थार आरती उतारहिं।
बार बार प्रभु गात निहारहिं॥
नाना भाँति निछावरि करहीं।
*परमानन्द हरष उर भरहीं॥**

दिन था मानों यही ···· ··· ···· वही उसको देने का।

(उस समय माताओं का चाव तथा उत्साह देख कर ऐसा जान पड़ता था) मानो पुत्र तथा पुत्र-वधू की (वर तथा वधू के रूप में) अगवानी करने और सब को मनचाही अथवा मुँहमाँगी वस्तु (भेंट अथवा दान-स्वरूप) प्रदान करने का वही दिन था।

विवाह के उपरान्त जब पुत्र (वर) अपनी नव-विवाहिता पत्नी को साथ लेकर प्रथम वार अपने घर में प्रवेश करता है तो माता अपने पुत्र तथा पुत्र-वधू की

* रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड।

अगवानी करती है, उनकी आरती (अथवा आरता) उतारती है, (यथा सामर्थ्य) धन निछावर करती है और याचकों आदि को यथेच्छ वस्तुएँ प्रदान करती है। कौसल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी भी तो आज यही सब कर रही हैं अतः यह कल्पना स्वाभाविक ही है कि कदाचित् राम तथा सीता की अगवानी का वास्तविक अवसर आज ही उपस्थित हुआ था। 'साकेत' की इन पंक्तियों के साथ 'रामचरितमानस' की निम्नलिखित पंक्तियों की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि '*दिन था मानों यही वधू वर के लेने का*' कितना सत्य है। 'रामचरितमानस' में विवाह के उपरान्त राम के प्रथम बार पत्नी सहित गृह-प्रवेश के अवसर पर माताएँ —

करहिं आरती बारहिं बारा।
प्रेमु प्रमोदु कहै को पारा॥
भूषन मनि पट नाना जाती।
करहिं निछावरि अगनित भाँती॥
बधुन्ह समेत देखि सुत चारी।
परमानन्द मगन महतारी॥

और —

जाचक जन जाचहिं जोइ जोई।
प्रमुदित राउ देहिं सोइ सोई॥
सेवक सकल बजनिआ नाना।
*पूरन किये दान सनमाना॥**

'*बहू, बहू, वैदेहि ···· ···· ···· इसी गोद में पलता आऊँ।*"

(सीता को सम्बोधित करके माता कौसल्या ने कहा—) "बहू, बहू, वैदेहि! तू ने (विगत १४ वर्षों में) बहुत अधिक कष्ट पाये (सहे) हैं।"

(इस पर सीता ने उत्तर दिया—) "माँ. (सत्य तो यह है कि चौदह वर्ष के इस वनवास के उपरान्त) आज मेरे सुख (पहले से भी) द्विगुणित हो गये हैं!"

(कौसल्या माता ने राम से कहा—) "राम! ऐसा लग रहा है मानो तू फिर से मेरी कोख में आ गया है" (फिर लक्ष्मण को लक्ष्य करके माँ ने कहा) "लक्ष्मण! (मेरी तो यही इच्छा है कि) मेरी गोद सदा ही तेरी शिशु-शैया (क्रीड़ा-स्थली) बनी रहे।"

* रामचरितमानस, बाल काण्ड।

(श्री राम ने कौसल्या माता से कहा—) "माँ! (मेरी भी यही हार्दिक आकांक्षा है कि) मैं जन्म-जन्मान्तर तक यही (तुम्हारी) कोख प्राप्त करूँ (तुम्हारे ही गर्भ से जन्म धारण करूँ)।"

(इसी प्रकार लक्ष्मण ने उत्तर दिया—) "माँ! मेरी तो यही कामना है कि मैं सदा तुम्हारी इसी गोद में पलता रहूँ।"

सुप्रभ प्रभु ने कहा ··· ··· ··· कामना फिर किस फल की?"

श्रेष्ठ प्रभा (दीप्ति) वाले प्रभु (श्री रामचन्द्र जी ने) झुक कर (आदर-पूर्वक) सुमित्रा माता से कहा, "माँ, मैंने लक्ष्मण को (एक बार) खो कर फिर से प्राप्त किया है। हाय! तुमने मुझे जो (लक्ष्मण) सौंपा था, उसकी मैं (समुचित रीति से) रक्षा न कर सका; तुम्हारा पुण्य धन्य है जिस के कारण इस पौधे (लक्ष्मण) ने फिर प्राण (जीवन) पा लिया (मेरी असावधानी के कारण तो यह मृत्यु के मुख में चला ही गया था परन्तु तुम्हारे सत्कर्मों के फलस्वरूप यह फिर से जीवित हो गया)।"

(सुमित्रा माता ने कहा—) "राम, इसे (लक्ष्मण को) तो मैं तुम्हें ही सौंप चुकी हूँ फिर जो वस्तु मैं स्वयं ही दे (त्याग) चुकी हूँ (समर्पित कर चुकी हूँ) उसे फिर वापिस किस प्रकार ले सकती हूँ? (लक्ष्मण का भार तुमने अपने ऊपर ले लिया है) अन्य (मेरे दूसरे पुत्र शत्रुघ्न) का भार भरत ने अपने ऊपर ले लिया है। अतः मैं सर्वथा हलकी (निश्चिन्त) हो गयी हूँ। अब जब मैंने तुम्हें भी (पुनः) प्राप्त कर लिया है तो फिर भला और कौन से फल की इच्छा शेष रह गयी (भाव यह है कि मुझे और किसी भी फल की इच्छा नहीं रही)?"

समझी प्रभु ने कसक ··· ··· ··· भरत को पाया मैंने।"

प्रभु (श्री राम) ने भरत की माता (कैकेयी) के मन की कसक (टीस) समझ ली। (उन्होंने कैकेयी से कहा—) "माँ! सुयश (वन जाने के कारण प्राप्त होने वाले यश) के इस उपवन की मूल शक्ति तुम्हीं हो। अपने सिर पर धूल लेकर (स्वयं अपयश और संसार भर का तिरस्कार स्वीकार करके) तुमने जो मधुर फल प्रदान किये (तुम्हारी वर-याचना के परिणामस्वरूप जो सुफल हुए) उनके समक्ष तो अमृत के घड़े भी सीठे ही सिद्ध हो गये।"

कैकेयी बोली, "हे वत्स रघुवर राम, तुम समस्त संसार के भागी (दुःख-सुख में समान रूप से भाग लेने वाले) हो। तुमने कैकेयी के (मेरे) दोषों को भी गुण के रूप में ही स्वीकार किया है।

मैंने तो (व्यर्थ ही) अपना यह भार-तुल्य जीवन (अथवा जीवन का भार) ढोया (बिताया) और (दूसरों पर भी) सदा दुःख ही ढाया (दूसरों को भी सदा दुःख ही दिया) परन्तु तुम्हें पा कर तो मैंने भरत को ही प्राप्त कर लिया है (तुम न मिलते तो भरत भी आजीवन मुझ से अलग ही रहता)।"

'समझी प्रभु ने कसक भरत-जननी के मन की' : 'रामचरितमानस' में भी—

प्रभु जानी कैकई लजानी ।
प्रथम तासु गृह गए भवानी ॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा ।
*पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा ॥**

मिल बहनों से हुई चौगुनी ··· ···· ··· भाग्यशालिनि, इस भू पर !"

अपनी (अन्य तीनों) बहनों (माण्डवी, ऊर्मिला तथा श्रुतिकीर्ति) से मिल कर सीता वास्तव में चौगुनी हो गयी। उधर, प्रभु (श्री राम) ने वधू ऊर्मिला का गुणगान करते हुए कहा, "हे भाग्यशालिनी, तूने तो इस पृथ्वी पर सहधर्मचारिणी (सहचरी) के धर्म से भी उच्चतर धर्म (आदर्श) की स्थापना कर दी है !"

ऊर्मिला का चरित्र 'साकेत' के राम के इस कथन के प्रत्येक वर्ण की सत्यता का ध्रुव-साक्षी है।

मानों मज्जित हुई पुरी ··· ···· ··· पी लिया मानों घन ने !

(श्री राम के) जय-जयकार की ध्वनि में मानो समस्त अयोध्या डूब-सी गयी। इधर अयोध्यावासी तथा इष्ट मित्र श्री राम के राज्याभिषेक की तैयारी में संलग्न हो गये, उधर श्री राम को प्राप्त करके राज-भवन ने उसी प्रकार नवीन शोभा प्राप्त कर ली मानो बादल ने समुद्र का माधुर्य पी लिया हो !

बादल समुद्र का माधुर्य पी लेता है और क्षार उसी में छोड़ देता है। तभी तो बादलों द्वारा बरसने वाला वर्षा का जल मीठा होता है और समुद्र का जल खारी।

पाकर अहा उमंग ··· ···· ··· कसक मिटाऊँ, बलि बलि जाऊँ !"

अहा ! उमंग पाकर (मनोकामना पूर्ण होने के कारण) ऊर्मिला के अंग

* रामचरितमानस, उत्तर काण्ड।

फिर भरे (विकसित हो) गये थे। उसकी सखी ने हस कर (विनोदपूर्वक) कहा—"(यह तो बताओ कि) ये रंग (रूप एवं यौवन) कहाँ भरे (छिपाये) हुए थे? आज का प्रभात वास्तव में शुभ है, स्वप्न की माया सत्य सिद्ध हो गयी परन्तु जब श्रोता (सुनने वाला) स्वयं यहाँ आ गया है, तब तुम्हारे वे गीत कहाँ चले गये! तुम्हारा बायाँ नेत्र फड़क रहा है, हृदय में उच्छ्वास उठ रहे हैं, हे कोमलांगी, अब भी क्या कोई संशय अथवा भय शेष रह गया है? आओ, आओ, तनिक तुम्हारा शृंगार करके बरसों की कसक (आकांक्षा) पूरी कर लूँ और तुम पर अपने को वार दूँ।"

ऊर्मिला की सखी दुःख तथा सुख में समान रूप से उसके साथ रही है। चौदह वर्ष दुःख-शोक के वातावरण में रहने के उपरान्त आज हर्ष एवं उल्लास का अवसर आया है अतः सखी की हृदय-कारा में बन्दी विनोद एवं परिहास भी आज सहसा मुक्त हो गया है। प्रिय के आगमन का समाचार पाकर ऊर्मिला के अंग-अंग में से एक नवीन सौन्दर्य फूट पड़ा है। सखी उसी को लक्ष्य करके कहती है—

कहाँ ये रंग भरे थे?

आज सुप्रभात है। क्यों? इसलिए कि विरह की उस अंधेरी रात में ऊर्मिला ने जो स्वप्न देखे थे, द्विगुणित—अपरिमित—गौरव लेकर अपने पति के सकुशल लौट आने की जो कल्पना की थी, वह आज सत्य सिद्ध हुई। इससे अधिक सुखद प्रभात भला और कौनसा हो सकता है! परन्तु श्रोता के आ जाने पर वे गीत—वे शिकायत-शिकवे, वे उपालम्भ— न जाने कहाँ चले गये! फड़कता हुआ बाँया नेत्र और उच्छ्वसित हृदय प्रिय-मिलन का सन्देश दे रहा है फिर भला संशय अथवा भय के लिए अवकाश ही कहाँ!

सखी के हृदय में बरसों से एक कसक—एक आकांक्षा—रही है कि ऊर्मिला के पति के सकुशल लौट आने पर वह अपने *ही हाथों* ऊर्मिला का शृङ्गार करके उसे पति-दर्शन के लिए भेजेगी। आज वह अवसर आ गया है। अतः सखी के हृदय की वह गुप्त अभिलाषा अनुरोध बन कर अभिव्यक्त हो जाती है—

आओ, आओ, तनिक तुम्हें सिंगार सजाऊँ,
बरसों की मैं कसक मिटाऊँ, बलि बलि जाऊँ।

"हाय! सखी, शृंगार? ··· ···· ··· हृदय पर ही होती है।"

(ऊर्मिला के प्रियतम १४ वर्ष के वनवास के उपरान्त आज घर लौटे हैं। सखी इस अवसर पर ऊर्मिला को सजा कर ही उसके पति के समक्ष

उपस्थित करना चाहती है। ऊर्मिला का उत्तर है—) "हाय ! सखी, शृंगार ? (तू शृंगार करना चाहती है ?) क्या मुझे अब भी शृंगार सुहावेंगे (अच्छे लगेंगे) ? क्या वे (मेरे पति) केवल गहने-कपड़ों के कारण ही मुझ पर मोहित होंगे ? मैंने 'दग्ध-वर्त्तिका' शीर्षक के अन्तर्गत जिस चित्र की रचना की है, क्या आज तू उसमें शिखा उठाने (उसकी लौ को फिर से प्रज्वलित कर देने) का प्रयत्न कर रही है (मैंने तो पहले ही प्रियतम के प्रेम-यज्ञ में अपने रूप-यौवन की आहुति चढ़ा दी है, अब तू फिर मेरे इसी रूप-यौवन को फिर से जागृत करना चाहती है) ? नहीं, नहीं, प्राणेश कहीं इस प्रकार मुझी से न छले जावें ! मेरे नाथ मुझे वैसी पावें जैसी मैं वास्तव में हूँ (मैं वस्त्रालंकार में अपनी वास्तविकता छिपा कर एक कृत्रिम रूप में प्रियतम के सम्मुख आ कर उन्हें धोखा नहीं देना चाहती, भली-बुरी जैसी भी हूँ वैसी ही उनके सामने जा खड़ी होना चाहती हूँ)। मैं कोई शूर्पणखा तो हूँ नहीं (जो अपने कृत्रिम साज शृंगार से मोहित करने का प्रयत्न करूँ)—हाय, हाय, तू तो रो रही है ! अरी, हृदय का प्रेम हृदय के प्रति ही होता है (रूप-रंग अथवा साज-शृंगार के प्रति नहीं)।"

"इन पंक्तियों में कवि ने नारी-हृदय का, अथवा यों कहिये, पत्नी के हृदय का बड़ा सच्चा चित्र अंकित कर दिया है। प्रत्येक प्रेमी को यह विश्वास होता है—उसकी सबसे बड़ी साध होती है —कि उसका प्रिय उससे उसके अपने व्यक्तित्व के कारण प्रेम करता है, किसी आनुषङ्गिक कारणवश नहीं ! उसकी वेश-भूषा या वाह्य प्रसाधन इसका हेतु नहीं, यदि हो भी तो उसे सह्य नहीं। इसीलिए तो ऊर्मिला कहती है—"*क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे ?*"—इस कथन में एक और ध्वनि है। ऊर्मिला को अपने यौवन की क्षति पर भी कुछ दुःख है—परन्तु यह दुःख अपने लिए नहीं, *लक्ष्मण के लिए* है क्योंकि यौवन उसकी अपनी वस्तु नहीं थी—वह तो प्रियतम की धरोहर थी—'*एक प्रिय के हेतु उसमें भेंट तू ही लाल !*' अतः उसे शङ्का है कि कहीं लक्ष्मण को इस कारण निराशा न हो ! बस वह अपना वास्तविक स्वरूप ही प्रियतम के सम्मुख रखना चाहती है। '*शूर्पणखा मैं नहीं*' में ऊर्मिला का सुख-गर्व उसकी उभरती हुई ईर्ष्या को दबा कर और पुष्ट हो जाता है। मिलन के समय कवि ने शूर्पणखा का प्रसङ्ग छेड़ कर स्त्री के हृदय को पहिचाना है।"*

* डा० नगेन्द्र, साकेत, एक अध्ययन, पृष्ठ ३२।

किन्तु देख यह वेश ··· ··· ···· पूरे हुए सभी मेरे मन चीते।

(सखी ने कहा—) "परन्तु तुम्हारा यह (प्रस्तुत) वेश देख कर उन्हें कितना दुःख होगा (बहुत अधिक दुख होगा।) ?

(ऊर्मिला बोली—) "(यदि यह बात है) तो ला, वे समस्त वस्त्राभूषण ले आ जो तू मुझे इस समय पहिनाना चाहती है परन्तु (यह तो बता कि गहने-कपड़े पहिन लेने पर भी मैं वह (पहले का सा) यौवन-उन्माद (यौवन का नशा अथवा मस्ती) अब कहाँ से लाऊँगी ? हे सखि, मैं अब अपना वह खोया धन (यौवन-उन्माद) फिर कहाँ से (कैसे) प्राप्त करूँगी ?"

(सखी ने उत्तर दिया—) "आज तुम्हारा वही यौवन-उन्माद तो अपराधी की भाँति फिर तुम्हारे पास चला आ रहा है, वर्षों का तुम्हारा वह दैन्य (दीनता) आज सदा के लिए चला जा रहा है। तुम कल (तक) रो रही थीं (रो-रो कर शीघ्रातिशीघ्र प्रिय से मिलने की आतुरता अभिव्यक्त कर रही थीं), आज (वह अवसर वास्तव में आ उपस्थित होने पर) मान कर रही हो ! भला यह (मान का) कौन सा नया राग है जिसे इस समय गाना चाहती हो ? सूर्य को प्राप्त करके कमलिनी आप-ही-आप (अनायास) प्रफुल्लित हो जाती है परन्तु ओस बिन्दुओं के बिना वह शोभा कहाँ पाती है ?"

(इस पर ऊर्मिला ने कहा—) "सखी, क्या मेरी इन आँखों में अब आँसू नहीं हैं ? ऐसी बड़ी आँखें भी फूट जावें (फूट जाने योग्य है) जिनमें पानी (आत्म-गौरव अथवा आत्म-प्रतिष्ठा की भावना) न हो !"

(सखी बोली—) "तुम ने अब तक सीपी बन-बन कर प्रीति रूपी स्वाति (नक्षत्र) का जल पिया है, हे राजहंसिनी, हे रानी, अब तुम रीति रूपी मोती चुगो !"

(ऊर्मिला ने उत्तर दिया—) "विरह का समय रोते-रोते व्यतीत हो गया, (मैं तो यही चाहती हूँ कि) मिलन के इस अवसर पर भी रोती ही रहूँ। मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मैं तो केवल अपने आँसुओं से उनके चरणों पर लगी धूल ही धोना चाहती हूँ। हे सखी, मैं जब उनकी रानी थी तब थी, वर्षों की वह बात आज तो बहुत पुरानी हो गयी ! अब तो मैं (रानी न रह कर) सदा अपने स्वामी की—दासी ही बनी रहना चाहती हूँ; आज मैं शासन के बदले सेवा की ही प्यासी हूँ। हे सखी, शरीर से ऊर्मिला चाहे युवती हो अथवा बालिका परन्तु यह तो वह स्वयं भी नहीं जानती कि वह

मन से (मानसिक रूप से) क्या है (युवती है अथवा बालिका)। यह तो बता कि आज मैं अपने स्वप्न को प्रत्यक्ष (अपने नेत्रों से तथा जी भर कर देखूँ) अथवा (स्वयं यह दुर्लभ दृश्य न देख कर) सज बन कर स्वयं अपना ही प्रदर्शन करूँ? सखि, मेरे लिए तो यही धुली धोती पर्याप्त है। मेरी लज्जा उनके हाथ है फिर तू व्यर्थ ही चिन्ता कर रही है। मेरा हृदय (हर्षातिरेक के कारण) उछल रहा है (आपे से बाहर हो रहा है), इसे अपनी गोद में भर ले, तनिक तू आज इस धृष्ट सन्ध्या की यह लाली तो देख! मैं भला आज क्या मान करूँगी? मान करने के दिन तो समाप्त हो चुके, परन्तु फिर भी मेरी समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण हो गयी हैं।

ऊर्मिला चाहती है कि "*जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें।*" इस पर ऊर्मिला की सखी कहती है कि उसे उस दशा में देख कर उसके पति को अत्यधिक दुःख होगा। ऊर्मिला अपने पति को दुःख नहीं देना चाहती। यदि सखी की यह धारणा सत्य है तो वह सखी की इच्छानुसार समस्त वस्त्राभूषण पहन लेने के लिए तैयार है, अपने पति की प्रसन्नता के लिए। परन्तु वस्त्राभूषण पहन लेने पर भी यौवन का वह चांचल्य, युवावस्था की वह मादकता वह कहाँ से लाएगी? यह अमूल्य धन तो वह पहले ही खो चुकी है, यह अब उसे कैसे प्राप्त होगा? सखी का उत्तर है—

अपराधी-सा आज वही तो आने को है।

असमय में ही ऊर्मिला को छोड़ कर चला जाने वाला यौवन-उन्माद अपराधी है, उसने अत्यन्त भयंकर अपराध किया है अतः आज वह क्षमा-याचना करने के लिए मानो स्वयं ऊर्मिला की सेवा में उपस्थित हो रहा है। प्रिय-आगमन का समाचार सुन कर ऊर्मिला के हृदय में फिर यौवन का वही उन्माद—वही चांचल्य—उभरता आ रहा है। अतः ऊर्मिला को इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। परोक्ष रूप से वस्त्राभूषण की आवश्यकता पर प्रकाश डाल कर सखी उसे समझाती है कि यह तो सत्य है कि रवि का उदय होते ही पद्मिनी फिर स्वयमेव ही प्रफुल्लित एवं विकसित हो जाती है परन्तु ओस बिन्दुओं (रूपी रत्नों—आभूषणों) के बिना उसकी शोभा अपूर्ण ही बनी रहती है।

यदि 'शोभा' के लिए बूँदें अनिवार्य हैं तो ऊर्मिला की बड़ी-बड़ी आँखों में भी तो आँसू की बूँदें हैं परन्तु ऊर्मिला की सखी तो आज यही चाहती है कि सीपी बन-बन कर प्रीति रूपी स्वाति नक्षत्र का जल-पान करने वाली ऊर्मिला अब राजहंसिनी तथा रानी बन कर रीति रूपी मुक्ता चुने (राज कुलोचित रीतियों का पालन करे)। ऊर्मिला को सखी का यह प्रस्ताव नहीं सुहाता। वह तो मिलन के

समय भी अपने आँसुओं के जल से अपने प्रियतम के धूलि-धूसरित चरण ही धोना चाहती है। एक समय था जब ऊर्मिला अपने पति की *रानी* थी (स्वयं उसी के शब्दों में—"*किन्तु सीता की बहन है ऊर्मिला*"

उस समय वह दासी बनने को तैयार न थी :

दास बनने का बहाना किस लिए?
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए?
देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
*और देवी ही मुझे रक्खो, अहो!**

परन्तु अब तो वह बहुत पुरानी बात हो गयी है; अब तो ऊर्मिला *केवल* अपने स्वामी की *दासी* ही बन कर रहना चाहती है, *शासन* के स्थान पर *सेवा* ही की आकांक्षिणी है। अतः आज वह अपना प्रदर्शन करने के स्थान पर अपने स्वप्न को प्रत्यक्ष—अपनी वर्षों की साध को पूर्ण होता हुआ देखना चाहती है। जीवन के इस मधुरतम अवसर पर उसका हृदय बेकाबू हो रहा है, सन्ध्या उसे ढीठ जान पड़ती है और उस संध्या की लाली? वह तो ऐसी पहले कभी हुई ही नहीं। आज ऊर्मिला की सम्पूर्ण कामनाएं पूर्णहो गयी हैं—सम्पूर्ण। उसे और कुछ भी नहीं चाहिए......

टपक रही वह कुंज-शिला .... सुमन की भेंट भली वह!"

(चौदह वर्ष की दीर्घ अवधि के उपरान्त प्रियतम लौटे हैं। इस अवसर पर उन्हें कुछ भेंट भी तो देनी चाहिए। यही सोच कर ऊर्मिला सखी से कहती है—) कुंज-शिला वाली वह शेफाली टपक (फूल) रही है अतः तू नीचे जा कर शेफाली के दो-चार फूल चुन कर डाली तैयार करके ले आ! वनवासी के लिए सुमन ('सुमन' में श्लेष है, अर्थ हैं 'फूल' और 'अच्छा मन') की वह भेंट अच्छी (उपयुक्त) रहेगी!"

'साकेत' की ऊर्मिला *'वनवासी'* के लिए *'सुमन'* की भेंट उपयुक्त समझती है। सिद्धि प्राप्त करके आने वाले पति के लिए उपयुक्त भेंट पर विचार करती हुई गुप्त जी की यशोधरा अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति इस प्रकार करती है :

प्रिय, क्या भेंट धरूँगी मैं?
यह नश्वर तन लेकर कैसे स्वागत-सिद्धि करूँगी मैं?
नश्वर तनु पर धूल! किन्तु हाँ, उन्हीं पदों की धूल,
कर्म-बीज जो रहें मूल में, उनके सब फल—फूल—

---

* साकेत, सर्ग १।

अर्पण कर उबरूँगी मैं।
प्रिय, क्या भेंट धरूँगी मैं ?
जीवनमुक्त भाव से तुमने किया अमर-पद-लाभ,
पर उस अमरमूर्ति के आगे ओ मेरे अमिताभ!
सौ सौ बार मरूँगी मैं!
*प्रिय क्या भेंट धरूँगी मैं ?**

"*किन्तु उसे तो कभी पा चुका ... ... ऊर्मिला हाथों पर थी !*

(ऊर्मिला सखी से सुमन चुन लाने के लिए कह ही रही थी कि लक्ष्मण यह कहते हुए वहाँ प्रविष्ट हो गये कि) "प्रिये, यह अली (भौंरा) वह (सुमन) तो बहुत पहले प्राप्त कर चुका है !"

प्रियतमा ने चौंक कर (आश्चर्य के साथ) प्रिय को देखा। सखी न जाने कहाँ जा चुकी थी और प्रियतम के चरणों पर गिरती हुई ऊर्मिला उनके हाथों पर थी (प्रियतम को पाकर ऊर्मिला ने उनके चरणों पर मस्तक रख देने का प्रयत्न किया परन्तु लक्ष्मण ने उसे बीच ही में रोक कर हाथों पर उठा लिया)!

"*सखी किधर थी* का संकेत अत्यन्त नाटकोपयुक्त है। इसमें गार्हस्थ्य जीवन का एक मधुर अनुभव निहित है ! पति के प्रविष्ट होते ही सखी का तुरन्त भाग जाना इस अवसर पर एक विशेष अर्थ रखता है ! इस संयोग में भावनाओं का सागर उमड़ रहा है।"

लेकर मानो विश्व-विरह ... ... गये क्यों नये अहेरी !'

ऐसा जान पड़ रहा था मानों ऊर्मिला तथा लक्ष्मण (अपने) उस अन्तःपुर में सारे संसार का विरह लेकर एक दूसरे के हृदय में समा रहे थे। उधर, दासी वाचाल मैना को रोक रही थी (परन्तु रोकने पर भी मैना ने यह कह ही दिया कि) 'यह नये शिकारी हत हरिणी छोड़ क्यों गये थे ?'

"*नाथ, नाथ, क्या तुम्हें ... ... आज उसे तुम अपना स्वामी।*"

(ऊर्मिला ने पूछा) "नाथ, नाथ, क्या सममुच मैंने तुम्हें प्राप्त कर लिया है ?"

(लक्ष्मण ने उत्तर दिया) "प्रिये, प्रिये, हाँ आज—आज ही वह दिन

* श्री मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा, पृष्ठ १२७–८।

आया है (जब हमने एक दूसरे को प्राप्त किया है)। मेरी यह छाती मेघनाद की शक्ति सहने के उपरान्त भी क्या तुम्हारे इन पाद-पल्लवों का स्पर्श पाकर शीतल न होती ? सत्य तो यह है कि जिस दिन (वन में) आर्या के बिना आर्य का हृदय रोया था उसी दिन खोया खोया (आत्म-विस्मृत) सा हो कर भी मैं तुम्हें प्राप्त हो गया था। सुनो, तुम्हें पूरी तरह मैंने उस समय प्राप्त किया था जब हनूमान् ने आर्य के सम्मुख आर्या का विरह वर्णन किया था। अब तक मानों तुमने मुझे वेश-भूषा (वस्त्राभूषण अथवा वाह्य उपकरणों में टाल दिया था परन्तु आज तो तुमने स्वयं अपने आप को ही मुझे सौंप दिया है। (अपने रूप-रंग के कारण) अभी तक कदाचित् तुम मेरी आँखों में ही बसी हुई थीं परन्तु आज तुम मेरे हृदय के अन्तरतम में अपना अचल आसन समझ सकती हो। परिधि (प्रकाश का घेरा अथवा सीमा) रहित चन्द्रमा के समान, समस्त दुःख क्लेशों को दूर करने वाला, धूल (मैल) रहित (निर्मल), बरफ जैसा स्वच्छ और सुमन की भाँति नेत्रों को भाने वाला, आडम्बर-विहीन तथा अपनी ही आभा से उदित (प्रकाशित) तुम्हारा जो प्रत्यक्ष (निरावरण) स्वाभाविक स्वरूप मेरे सामने आज प्रकट हुआ है वह वास्तव में धन्य है। जो लक्ष्मण केवल तुम्हारा ही लोलुप तथा कामी (तुम्हारे शरीर अथवा रूप-यौवन पर लुब्ध) था उसे आज तुम अपना स्वामी कह सकती हो।"

श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के शब्दों में "साकेत में मैंने, कालिदास की प्रेरणा से, उस प्रेम की एक झलक देखने की चेष्टा की है, जो भोग से आरम्भ होकर, वियोग झेलता हुआ, योग में परिणत हो जाता है। प्रथम सर्ग में ऊर्मिला और लक्ष्मण का प्रेम भोग-जन्य किंवा काम-जन्य है। उसी को योग-जन्य अथवा राम-जन्य देखने के उद्योग में 'साकेत' की सार्थकता है। लक्ष्मण ने अपने प्रेम को तप की अग्नि में तपा कर शुद्ध किया है, जैसा कि चित्रकूट में वे ऊर्मिला से कहते हैं:—

> *"वन में तनिक तपस्या करके,*
> *बनने दो मुझको निज योग्य,*
> *भाभी की भगिनी, तुम मेरे*
> *अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।"*

वे सफल हुए हैं और अन्त में ऊर्मिला से कह सके हैं :

> *आँखों में ही रही अभी तक तुम थीं मानो,*
> *अन्तस्तल में आज अचल निज आसन जानो।*

जो लक्ष्मण था एक तुम्हारा लोलुप कामी,
कह सकती हो आज उसे तुम अपना स्वामी।"※

स्वामी, स्वामी, जन्म जन्म के .... आज वह चढ़ती वेला ?"

(ऊर्मिला ने कहा) "स्वामी, स्वामी, मेरे जन्म-जन्मान्तर के स्वामी! अब वे (पहले के से) रात दिन, साँझ सवेरे कहाँ हैं? हाय! अपनी वह खिल खिल खेला (हास-परिहास परिपूर्ण जीवन) कहाँ खो गयी? प्रिय, जीवन की वह चढ़ती बेला (उठता यौवन) अब कहाँ है?"

"उन्हीं (प्रियतम) के लिए बेचारी (ऊर्मिला) ने चौदह वर्ष तक उसको (यौवन को) सहेजने का प्रयत्न किया। आज मिलन के समय उसे न पाकर विरहिणी का दीन होना स्वाभाविक ही था! अतः

प्रिय जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती वेला

आदि वाक्य उसके मुँह से सुन कर समीक्षकों को चकित होने की आवश्यकता नहीं। यह तो अपनी हीनता का अनुभव मात्र है और शीघ्र ही लक्ष्मण के आश्वासन द्वारा शान्त हो जाता है। यहाँ ऊर्मिला के हृदय की स्त्री ही बोल रही है जो आज १४ वर्ष बाद प्रियतम को पाकर अपने वास्तविक रूप में उनके सम्मुख खड़ी हुई है।"†

काँप रही थी देह-लता ... . आदर्श ही ईश्वर है हमारा।"

ऊर्मिला को देह-लता रह रह कर काँप रही थी और आँसू उसके गालों पर से बह बह कर टपक रहे थे। (लक्ष्मण ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा) "प्रिये, वर्षा की वह बाढ़ (अस्थायी दुःख-सन्ताप) चली गयी (उतर गयी) उसे जाने दो (अब उसका स्मरण करके अपने को दुखी न करो और शरद् की यह (प्रस्तुत) पवित्र गम्भीरता (प्रस्तुत अपार हर्ष) आने दो (इसका उपभोग करो) समस्त पृथ्वी को राम-राज्य का जय-जयकार करने दो। समय (भाग्य) प्रेमपूर्वक जो कुछ भी लाता है, लाने दो। सुनो, अपना आराध्य अपने से कभी दूर नहीं होता। आओ, हम यथाशक्ति उसी की साधना करें जो वास्तव में इसी जीवन का साध्य (सिद्ध किया जाने योग्य) है। अलक्ष (जो दिखाई न दे अथवा अप्रस्तुत) की बात तो अलक्ष ही जानें

※ गुप्त जी का एक पत्र, गांधी जी के नाम।

† साकेत एक अध्ययन, पृष्ठ ७५–७६।

(हम इस सम्बन्ध में कोई वाद-विवाद नहीं करना चाहते) परन्तु हम प्रत्यक्ष को ही स्वीकार क्यों न करें ? अतः (प्रत्यक्ष) आदर्श ही हमारा ईश्वर है, वहीं (इसी के चरणों में) हमारी प्रेम-सरिता सदा प्रवाहित होती रहे।"

विरह की दारुण घड़ियों के चित्र ऊर्मिला के नेत्रों में झूल झूल कर उसे रुला रहे थे। लक्ष्मण उसे समझाते हैं कि वे (विरह के दिन) तो वर्षा की बाढ़ के समान थे। जिस प्रकार वर्षा की बाढ़ अकस्मात् आकर भयंकर उथल-पुथल करने के उपरांत यथासमय स्वयं शान्त हो जाती है उसी प्रकार आकस्मिक विषम परिस्थितियों का वह वेग—वह अदम्य प्रवाह—भी अब शान्त हो गया है। अतः अब उसका स्मरण करके दुखी होना व्यर्थ है।

वर्षा के उपरान्त शरद्-ऋतु आती है जिसमें एक विचित्र निर्मलता और अनुपम पवित्रता होती है। लक्ष्मण तथा ऊर्मिला के जीवन में आने वाली विषम-परिस्थितियों की परिणति जिस वातावरण में हुई है उसमें भी वैसी ही निर्मलता एवं पवित्रता है। अतएव बीती बातों को भुला आज तो प्रस्तुत *शुचि गभीरता* पर गर्व करना ही उचित है। आज लक्ष्मण का, अपनी प्रियतमा पत्नी के प्रति, एक ही सन्देश है :

आओ, हम साधें शक्ति भर,
जो जीवन का साध्य है।
अलक्ष की बात अलक्ष जानें,
समक्ष को ही हम क्यों न मानें?
रहे वहीं प्लावित प्रीति-धारा,
आदर्श ही ईश्वर है हमारा।

लक्ष्मण की इस उक्ति में मानव-जीवन की सफलता का महानतम रहस्य—विश्व-धर्म का आधारभूत सिद्धान्त—निहित है। *अलक्ष* के स्थान पर यहाँ *प्रत्यक्ष* की उपासना है। *आदर्श* सम्मुख है, हमें केवल उसका *पालन* मात्र करना है, *नेता* हमारे सामने है, हमें केवल उसके सच्चे *अनुयायी* बनना है······और ऐसे आदर्श,—ऐसे नेता—प्रत्येक देश और काल में प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त हो सकते हैं—परस्पर 'धर्म-युद्ध' किये बिना, 'धर्म' के नाम पर पाखण्ड, अनाचार और अनीति के पथ पर चले बिना ही।

स्वच्छतर अम्बर में छन कर ··· ···· ···· दिव्य दीप वाला व्योम !

स्वाद, मधु (मिठास) और गन्ध (सुगन्ध) से युक्त समीर रूपी सोम

(रस) अत्यन्त स्वच्छ अम्बर (यहाँ 'अम्बर' श्लिष्ट शब्द है; अर्थ हैं 'वस्त्र' और 'आकाश'। पेय वस्त्र में छाने जाते हैं, समीर रूपी सोम आकाश रूपी स्वच्छ वस्त्र में छन रहा है) में छन कर आ रहा था। प्रेम-यज्ञ के व्रती (संलग्न) वे त्यागी तथा पुण्यात्मा पति-पत्नी (लक्ष्मण तथा ऊर्मिला) (प्रेम-यज्ञ में) अपने अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का होम करके (आहुति दे कर) (सर्वथा एकाकार होकर) परस्पर गलबाहीं डाले उस समीर रूपी सोम रस का पान कर रहे थे। पृथ्वी पर तुच्छ कास तथा कुश जैसे साधारणतम पदार्थों से लगाकर समुद्र (जैसे विशालतम पदार्थों) तक किसका रोम रोम आज प्रसन्न न था (सबका रोम रोम प्रमुदित था)। चन्द्रमा प्रसन्न होकर उन (ऊर्मिला तथा लक्ष्मण) पर किरणों का चँवर डुला रहा था और दिव्य दीप (तारों) वाला आकाश (उनकी) आरती उतार रहा था!

आधार-ग्रन्थों में राम-कथा के अन्त में श्री राम के राज्याभिषेक तथा राम-राज्य आदि का वर्णन किया गया है। 'साकेत' राम-काव्य होकर भी वस्तुतः 'लक्ष्मण-ऊर्मिला काव्य' अथवा *ऊर्मिला-काव्य* ही है अतः 'साकेत' का अन्त *अभिषेक* के साथ तो अवश्य होता है परन्तु यह अभिषेक श्रीराम तथा जानकी जी का राज्याभिषेक न होकर समस्त प्रकृति—जड़ एवं चेतन—द्वारा किया जाने वाला प्रेम-याग के व्रती, त्यागी एवं पुण्यात्मा पति-पत्नी—*लक्ष्मण-ऊर्मिला*—का ही अभिषेक है।

वियोग की लम्बी अवधि में ऊर्मिला और लक्ष्मण एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं और वह अवधि समाप्त होने पर तो ऊर्मिला ने

अपने को ही आज मुझे तुमने दे डाला

चौदह वर्ष पूर्व यदि दोनों में कोई अन्तर था भी तो वह मिट चुका है; अतः आज लक्ष्मण एवं ऊर्मिला के दर्शन इस रूप में नहीं होते—

चूमता था भूमि-तल को अर्द्ध विधु-सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बनकर बाल।
*छत्र-सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ।**

अब तो ये जायापति *प्रेम याग में आपा होम* चुके हैं और सर्वथा एकाकार होकर—*गल बांह दिये*—समीर-सोम का पान कर रहे हैं। *आँखों में ही* बसी रहने वाली ऊर्मिला रानी ने अब अपने पति के *अन्तस्तल में अचल आसन* जमा लिया है

* साकेत, सर्ग १।

और लक्ष्मण ? अब वे भी *लोलुप कामी* नहीं रहे अपितु अपने को सही अर्थों में ऊर्मिला का *स्वामी* मान कर कृतकृत्य हो गये हैं। *'वन में तनिक तपस्या करके'* वे *'भाभी की भगिनी'* के योग्य बनने के लिए जो योग्यता अर्जित करना चाहते थे वह उन्हें प्राप्त हो गयी है। ऊर्मिला और लक्ष्मण—लक्ष्मण और ऊर्मिला—दोनों ही अपने जीवन-लक्ष्य—*आदर्शरूपी ईश्वर*—तक पहुँच गये हैं। आज वे *विजयी* हैं, *पूर्ण* हैं, *एक* हैं और उनकी इस विजय की शंखध्वनि प्रकृति के कण कण में व्याप्त होकर उसे पुलकित कर रही है, उनकी पूर्णता एवं एकता की प्रशस्ति जड़ तथा चेतन सभी की स्वर-लहरी में गूँज रही है।

पृष्ठानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या		पृष्ठ संख्या		पृष्ठ संख्या		पृष्ठ संख्या	
साकेत	साकेत सौरभ	साकेत	साकेत सौरभ	साकेत	साकेत सौरभ	साकेत	साकेत सौरभ
१४६	१८५	१७४	२२६	२०२	२७४	२३१	३२३
१४७	१८७	१७५	२२८	२०३	२७४	२३२	३२५
१४८	१८९	१७६	२२९	२०४	२७८	३३३	३२६
१४९	१९१	१७७	२३१	२०५	२७९	२३४	३२६
१५०	१९४	१७८	२३२	२०६	२८१	२३५	३२८
१५१	१९७	१७९	२३३	२०७	२८२	२३६	३३०
१५२	१९९	१८०	२३४	२०८	२८३	२३७	३३२
१५३	२०१	सप्तम सर्ग		२०९	२८४	२३८	३३५
१५४	२०२	१८१	२३६	२१०	२८५	२३९	३३६
१५५	२०३	१८२	२३९	२११	२८७	२४०	३३९
१५६	२०४	१८३	२४०	२१२	२९१	२४१	३४२
१५७	२०७	१८४	२४३	२१३	२९२	२४२	३४३
षष्ठ सर्ग		१८५	२४५	२१४	२९४	२४३	३४४
१५८	२०८	१८६	२४७	२१५	२९७	२४४	३४६
१५९	२०९	१८७	२४७	२१६	२९८	(२)	
१६०	२११	१८८	२४९	२१७	२९९	२४५	३५०
१६१	२१२	१८९	२५०	अष्टम सर्ग		२४६	३५१
१६२	२१४	१९०	२५२	२१९	३००	२४७	३५४
१६३	२१४	१९१	२५३	२२०	३०१	२४८	३५९
१६४	२१५	१९२	२५४	२२१	३०२	२४९	३६१
१६५	२१६	१९३	२५७	२२२	३०७	२५०	३६२
१६६	२१७	१९४	२५९	२२३	३०९	२५१	३६५
१६७	२१७	१९५	२६२	२२४	३११	२५२	३६६
१६८	२१८	१९६	२६४	२२५	३१२	२५३	३६८
१६९	२२०	१९७	२६५	२२६	३१४	२५४	३६९
१७०	२२१	१९८	२६७	२२७	३१५	२५५	३७०
१७१	२२३	१९९	२६९	२२८	३१७	२५६	३७१
१७२	२२४	२००	२७१	२२९	३१९	२५७	३७२
१७३	२२५	२०१	२७२	२३०	३२१	२५८	३७५

पृष्ठ संख्या	
साकेत	साकेत सौरभ
३८५	५८६
३८६	५८६
एकादश	सर्ग
३८७	५९०
३८८	५९०
३८९	५९२
३९०	५९३
३९१	५९३
३९२	५९५
३९३	५९६
३९४	५९७
३९५	५९८
३९६	५९८
३९७	५९९
३९८	६०१
३९९	६०१
४००	६०२
४०१	६०४
४०२	६०४
४०३	६०५
४०४	६०६
४०५	६०८
४०६	६११
४०७	६१२
४०८	६१४
४०९	६१५
४१०	६१६
४११	६१७
४१२	६१८
४१३	६२०

पृष्ठ संख्या	
साकेत	साकेत सौरभ
४१४	६२१
४१५	६२२
४१६	६२३
४१७	६२४
४१८	६२५
४१९	६२६
४२०	६२७
४२१	६२८
४२२	६२९
४२३	६२९
४२४	६३२
४२५	६३३
४२६	६३४
४२७	६३४
४२८	६३५
४२९	६३६
४३०	६३८
४३१	६४०
४३२	६४०
४३३	६४१
४३४	६४२
४३५	६४२
४३६	६४३
४३७	६४३
४३८	६४४
४३९	३४५
४४०	६४६
४४१	६४७
४४२	६४८
४४३	६४८

पृष्ठ संख्या	
साकेत	साकेत सौरभ
४४४	६४९
४४५	६५०
४४६	६५२
४४७	६५३
४४८	६५४
द्वादश	सर्ग
४४९	६५८
४५०	६६०
४५१	६६२
४५२	६६४
४५३	६६५
४५४	६६८
४५५	६७०
४५६	६७१
४५७	६७२
४५८	६७४
४५९	६७५
४६०	६७८
४६१	६८०
४६२	६८२
४६३	६८६
४६४	६८८
४६५	६९०
४६६	६९१
४६७	६९२
४६८	६९३
४६९	६९४
४७०	६९५
४७१	६९६
४७२	६९७

पृष्ठ संख्या	
साकेत	साकेत सौरभ
४७३	६९९
४७४	७००
४७५	७०१
४७६	७०२
४७७	७०५
४७८	७०६
४७९	७१०
४८०	७११
४८१	७१२
४८२	७१५
४८३	७१६
४८४	७१८
४८५	७१९
४८६	७२०
४८७	७२३
४८८	७२५
४८९	७२७
४९०	७२९
४९१	७३२
४९२	७३४
४९३	७३६
४९४	७३८
४९५	७३९
४९६	७[illegible]२
४९७	७४२
४९८	७४५
४९९	७४७
५००	७४८